

THE  
KASHI SANSKRIT SERIES  
178  
\*\*\*\*\*

# YĀJÑAVALKYASMṚTI

Of

YOGĪSHWARA YĀJNAVALKYA

*With the Mitaksara Commentary*

Of

VIJÑĀNĒSHWAR

Edited with

*The 'Prakāsh' Hindi Commentary*

By

**DR. UMESH CHANDRA PĀNDE'**

*M A, Ph D Sahityaratna*

Preface by

**ŚRĪ NĀRĀYANA MIŚRA, M A**

*Bhārat Mahāvīdyālaya B H U, Varanasi*

THE

**CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE**

VARANASI-1

1967

First Edition

1967

Price Rs. 20-00

*Also can be had of*

**THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN**

Publishers & Antiquarian Book-Sellers

Post Box 69, Varanasi-1 ( India )

Phone : 3076

# प्रस्तावना

श्री नारायण मिश्र

संस्कृत तथा पालि विभाग -

भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रुति स्मृती षष्ठुषी द्वे द्विजानां न्याय वर्त्मनि ।

मार्गे मुह्यन्ति तद्धीनाः प्रपतन्ति पथश्च्युताः ॥

( बृहस्पति-स्मृति, संस्कार-काण्ड, श्लो० ११ )

इस अमर आत्मा को जन्म-जन्मान्तर तक अत्यन्त कठोर तपस्या करने के बाद मानव-शरीर में प्रवेश और उस शरीर के माध्यम से अपने को इस प्रपञ्च से विमुक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु वेद का विषय है कि मानव शरीर में गर्भाशय से निःसरण के साथसाथ ही इस (आत्मा) की कर्त्तव्य वृद्धि विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाती है। जिस उद्देश्य से यह आत्मा मानव-शरीर के अधिगम के लिए कठोर प्रयास करती रहती है उस उद्देश्य की पूर्ति आकाश पुष्पायित हो जाती है। इसी कारण से जन्म लेते ही जीवात्मा को पुनः रोना ही पड़ता है। अपने कर्त्तव्य के विस्मरण के कारण जीवात्मा के विलाप का निम्न-लिखित पद्य में बहुत ही मार्मिक रूप में प्रतिपादन किया गया है—

जातो मृतञ्च कतिधा न कति स्तनानां

पीतम्पयो न कलिता कति मातरो न ।

उरपाय बन्ध-विधृतावधुना यतिष्ये

इत्यस्य विप्लवमुपैति पदिमंतीषा ॥

कर्म चक्र में इस प्रकार अनादि काल से परिभ्रमण शील जीवात्मा की उपर्युक्त परिदेवना से आर्द्र हृदय वाले परमर्षियों ने अपने ज्ञान दीप में प्रतिभासमान परम्परागत अलण्ड ज्ञान राशि स्वरूप वेद को जीवात्मा के कर्त्तव्य के परिज्ञान के लिए अभिव्यक्त किया। परन्तु वेद भी कुछ ही विवेकी पुरुषों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ न कि सर्व-साधारण के लिए। अतः कठना प्रवण मनु आदि महर्षियों ने अपने वैदिक विज्ञान को सर्व-साधारणोपयोगी बनाने के लिए धर्मशास्त्र का निर्माण किया। इस धर्मशास्त्र में धर्म शास्त्रक ऋषि के द्वारा प्रायेण वैदिक ज्ञान की ही स्मृति होने के कारण इसे (धर्म शास्त्र को) स्मृति शब्द से भी अभिहित किया जाता है (धर्म शास्त्रानु वै स्मृति-मनु० २।१०)।

यद्यपि स्मृति-ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो वर्तमान वेद में उपलब्ध नहीं होते तथापि उन शब्दों के वैदिक ज्ञान पर ही निर्भर होने का अनुमान किया जाना है। यद्यपि धर्म के प्रतिष्ठित व्याख्याता जैमिनि ने यह भी माना है

१. द्रष्टव्य—“श्रुति स्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।” —ज्वालाक स्मृति

“मुत्या सर विरोधे तु बाध्यते विषय विना।” —मविष्य पुराण

—मनु २।१३ की व्याख्या में कुस्तुल्यमृद्वा दाता वरुणः।

कि यदि स्मृति में वही वेद विरुद्ध विषय हो तो उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए ( 'विरोधे त्यनपेक्षम्' ज० सू० १।३।३॥ ) तथापि विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि यदि वर्तमान वेद में अनुपलब्ध परन्तु अविरुद्ध स्मार्त मत के मूल भूत वैदिक विधि या अनुमान हो सकता है तो क्या वर्तमान वेद विरुद्ध स्मार्तसिद्धान्तों से उनके मूल-भूत वेद का अनुमान नहीं किया जा सकता है ? वेदोक्तियों में आपस परस्पर विरोध तो विद्वेष में ही पर्यवस्य होता है न कि उससे वेद पर कुछ आक्षेप माना जाता है, जैसा मनु ने भी कहा है—

श्रुति-द्वैध तु यत्र स्यात् तत्र धर्माद्युभौ स्मृती ।

उभावपि हि तौ धर्मो सम्यगुक्तौ मनीषिभि ॥ ( मनु० २।१४ )

स्मृति ( धर्म शास्त्र ) का प्रतिपाद्य विषय

धर्म शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का सकेत आङ्गिरस स्मृति में इस प्रकार किया गया है—

“यत्पूर्वस्मृतिभि प्रोक्तधर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।

सधर्माण-तु सर्वेषोऽलोक-धर्मानुवर्णनम् ॥” (आङ्गिरस स्मृति १।८)

इसका तात्पर्य यह है कि माह्यण,<sup>१</sup> क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र षण्ण वर्ण सङ्घ के आजीवन कर्त्तव्य या अनुविधान ही धर्मशास्त्र का लक्ष्य है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि कि 'धर्म शास्त्र' शब्द में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का अर्थ क्या है।

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में धर्म का विभाजन निम्न लिखित रूप में किया है—“अत्र च धर्मशब्द षड्विध स्मार्त-धर्म-विषय । तद्यथा—वर्ण धर्म, आश्रम-धर्म, घर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म निमित्त धर्म, साधारण धर्मश्चेति । ( मिताक्षरा—१।१ ) ।

( १ ) वर्ण धर्म का निर्देश भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट रूप में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ब्राह्मण वर्ण के धर्म ये हैं—

शमो दम तप शौच सान्तिरार्जुनमेव च ।

ज्ञान विशानमास्तिक्य ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता—१।८।४२)

श्रीमद्भागवत ने ब्राह्मण वर्ण के धर्म का परिमाण निम्नोक्त रूप में किया है—

शमो दम तप शौच सन्तोष सान्तिरार्जुनम् ।

१ 'भगव' सर्व-वर्णानां यथावदनुपूर्वश ।

अन्तर प्रमवाणां च धर्मान्नां वस्तुमद्भि ॥' —मनु० स १।२

'वर्णा माह्यण क्षत्रिय वैश्य शूद्रा । तेषाम् अन्तर प्रमवाणां च सङ्कीर्णं ब्राह्मिणां चापि अनुष्ठीय प्रदिलोमनाना च अम्बष्ठ श्चतुर्कर्म प्रभृतीनां यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य तेन प्रकारेणाह्वीत्यनेन आश्रम धर्मादीनामपि प्रदत्त ।”

—मन्वर्थ मुक्तावली १।२

'वर्णाधमेतराणां हि भूद्धि धर्मानशेषत' । — या० स्मृ० १।२

ज्ञानं दद्यात्प्रयुतात्मत्वं स यश्च ब्रह्मलक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत-७।१।२१ )

मनु का कथन निम्न-लिखित है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानमप्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ( मनु० १।८८ )

श्रिय धर्म का गीतोक्त स्वरूप निम्न निदिष्ट है—

शौर्यं तेजो धृतिः दानश्च युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वर भागश्च चात्र कर्म स्वभावजम् ॥ ( गीता-१।८।१३ )

श्रीमद्भागवतोक्त चात्र धर्म अधोलिखित हैं—

शौर्यं-वीर्यं धृतिरनेत्र- त्यागश्चात्म-जयः क्षमा ।

ब्रह्मव्यता प्रसादश्च सत्त्वश्च चक्षु लक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत-७।१।२२ )

मनुक्त श्रिय-धर्म का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिरथ श्रियाणां समासतः ॥ ( मनु० १।८९ )

वैश्य-धर्म का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है—

कृपि गौरव्य वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम् ॥

( गीता-१।८।४३ क ख )

श्रीमद्भागवत में वैश्य-धर्म का विवरण निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है—

देव-गुर्वच्युते भक्तिस्त्रि-वर्गं परिपोषणम् ।

आस्तित्वमनुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्य-लक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत ७।१।२३ )

मनु प्रतिपादित वैश्य धर्म का स्वरूप निम्न निदिष्ट है—

पशूना रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ( मनु० १।९० )

शूद्र धर्म का वर्णन भी गीता में है—

परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ( गीता-१।८।४४ ग घ )

सया—

शूद्रस्य सलनिः शौच सेवा-स्वामिन्यमायया ।

अ मन्त्र यज्ञो हारतेयं सत्य गो-विप्र-रक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत-७।१।२४ )

१. श्रीमद्भागवत के सभी श्लोक अक्षेप टा० सिद्धेश्वर मधुवार्य जी के 'The Philosophy of the श्रीमद्भागवत' से उद्धृत किए गये हैं, जिनमें से उनका ऋणी हूँ।

मनु ने शूद्र के धर्म का विवरण इस प्रकार किया है—

पुण्यमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् ।

पतेपामेव वर्णानां शुध्यामनसूयया ॥ ( मनु० ११९१ )

वर्णसङ्कर के धर्म का सचित्र रूप में सङ्कलन श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

यृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुल-कृता भवेत् ।

अ चौराणामपापानामन्यभान्तयावसायिनाम् ॥

( श्रीमद्भागवत ७।१।१७ )

याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्ण धर्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

इत्याश्रयणदानाति वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥

प्रधान क्षत्रिये कर्म प्रजानाम्परिपालनम् ।

कुसीद-शुषि वाणिज्य पाशुपाल्य विश स्मृतम् ॥

शूद्रस्य द्विज-शुश्रूषा तथाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।

द्विहोषैर्वा विविधैर्जविद्द्विजाति हितमाधरन् ॥

( याज्ञ० स्मृ० १।१।१८-२० )

( २ ) आश्रम धर्म का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है । द्विजाति की जीवनावधि को चार भागों में विभक्त किया जाता है । इन आश्रमों के यथाक्रम नाम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वान प्रस्थ, सन्यास ।

ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययनादि धर्म माने गये हैं । ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि का निरूपण मनु ने निम्न लिखित पद्य में किया है—

पट्त्रिंशद्वाब्धिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकमतम् ।

तदर्धिकम्पादिकं वा ब्रह्मणान्तिकमेव वा ॥ ( मनु० ३।१ )

तीन वेद के अध्ययन के लिए ३६ वर्ष अर्थात् प्रतिवेद के अध्ययन के लिए चारह बारह वर्षों की अवधि अपेक्षित होती है । अथवा १८ वर्षों तक ( प्रतिषद के अध्ययन के लिए छ छ वर्षों की अवधि ), किं वा नौ वर्षों ( १ वेद के लिए तीन वर्ष ) तक अथवा वेदाध्ययनसमाप्ति पर्यन्त ब्रह्मचर्य ब्रह्म का पालन करना चाहिए । याज्ञवल्क्य ने कुछ विशेष पतलाया है—

प्रतिवेदम्ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पत वा ।

ब्रह्मणान्तिकमित्येके

॥ ( या० स्मृ० १।३६ )

ब्रह्मचर्याश्रम के समापन के अनन्तर द्विजाति के कृत्य का वर्णन याज्ञवल्क्य में निम्नलिखित रूप में पाया जाता है—

गुरवे तु वरन्दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेद भृतानि वा पार नीचा ह्यभयमेव वा ॥

- अविप्लुत ब्रह्म चर्यो लक्षण्या स्त्रियमुद्धरेत् ॥

( या० स्मृ० १।५१-५२ क ख )

इसी द्वितीय आश्रम को गृहस्थाश्रम कहा जाता है। इसे गृहस्थाश्रम कहने का कारण मनु के श्यारयाकार कुल्लुकभट्ट ने बतलाया है—

“कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः, गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्” (मन्वर्थ-मुक्तावली-३१२)

इस आश्रम का मुख्य धर्म है—पञ्च महायज्ञ<sup>१</sup>। इस प्रसङ्ग में मनु का निम्न लिखित पद्य स्मरणीय है—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्य कर्म तथा विधि ।

पञ्च यज्ञ विधानञ्च पक्वि चान्वाहिकीं गृही ॥ ( मनु० ३१६० )

पञ्च महा यज्ञ तथा अन्यान्य गृहस्थ धर्म के विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि का अवलोकन करना चाहिए ।

गृहस्थ तथा गार्हस्थ्य का महत्त्व सभी आश्रमियों तथा आश्रमों से अधिक है, जैसा मनु ने कहा है—

यथा वायु समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व-जन्तवः ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्तेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात्पञ्चैवाश्रमो गृही ॥

( मनु० ३१००-०८ ) इत्यादि ।

इस आश्रम की अवधि<sup>२</sup> आरम्भ वार्षिक्य-सम्प्राप्ति तथा पौत्रोत्पत्ति आदि मानी जाती है। यद्यपि साधारणतः यह प्रतीत होता है कि पूरी जीवनावधि को समान-समान चार भागों में विभक्त कर प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य में तथा द्वितीय भाग को गार्हस्थ्य में पर्यवसन्न करना<sup>३</sup> चाहिए तथापि आयु की अवधि के दुर्जेय होने के कारण ब्रह्मचर्य की पूर्व प्रतिपादित षट्त्रिंशद् वर्ष आदि एव गृहस्थाश्रम की आरम्भ वार्षिक्य आदि अवधि ही शास्त्र सिद्ध होती है। अत एव कुल्लुकभट्ट का भी कथन है—

‘आश्रमिभ्युक्तमन्त्रज्ञ चर्यं कालोपलक्षणार्थम्, अनिश्चित परिमाणत्वादायुष चतुर्थ भागस्य दुर्ज्ञानत्वात् । गृहस्थस्तु यदा परयेत् ( मनु० ६।२ ) इत्यनियतत्वात् द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्य-कालमेव ॥’

( मन्वर्थ-मुक्तावली-३११ )

इस प्रसङ्ग में एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि कुल्लुकभट्ट आदि ने मनु के श्लोक ( ६।२ ) में ‘अपत्यस्यैव चापत्यम्’ पाठ मान कर आरम्भ-वार्षिक्य तथा पौत्रो

१ गृहस्थधर्मवेत्ति पञ्चयज्ञानाम्प्रकृत धर्म स्थापनाधर्मवर्णनैर्देशः ।

—मन्वर्थ-मुक्तावली ५१२६९

२ गृहस्थस्तु यदा परयेदलो पठितमारमन् ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽऽरभ्य समाभवेत् ॥ —मनु ६।२

३ चतुर्थमायुषो माण्डूकित्वाऽऽय गुरो दिञ्च ।

द्वितीयमायुषो माण्डूकित्वाऽऽय गुरो दिञ्च ॥ —मनु ४।२

स्पृष्टि में समुच्चय सा प्रस्तुत किया है परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि पौत्रोत्पत्ति अनिश्चित है, अतः विकल्प ही मानना चाहिए। मनु के 'अपत्यस्यैव चापत्यम्' में च के स्थान में 'वा' पढ़ना चाहिए, यही मत मिताक्षराकार का भी है—

“अयं च वन-प्रवेशो जराजर्जर कलेवरस्य आत-पौत्रस्य वा।

यथाऽऽह मनुः ( ६।२ )—

गृहस्थास्तु यदा परयेडली-पलितमात्मनः ।  
अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाधयेत् ॥”

( मिताक्षरा-३।४५ )

गृहस्थाधम के अनन्तर ही अवस्था का नाम 'वान प्रस्थ' है। वन-प्रवेश करने का प्रकार निम्नलिखित मनु तथा याज्ञवल्क्य के एकवाक्यत्व से स्पष्ट हो जाता है—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ॥

( मनु० ६।३ क ए )

मुत-विन्यस्त-पत्नीकस्तया वानुगतो वनम् ।  
वान-प्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो ब्रजेत् ॥

( या० स्मृति० ३।४५ )

इस आधम के धर्म मिताक्षरा ( ३।४५ ) में उद्धृत यज्ञिष्ठ-स्मृति में इस प्रकार वर्णित किए गये हैं—

“वानप्रस्थो जदिलः क्षीराजिन-वासा न फाल कृष्टमधितिष्ठेत् ( कृष्ट-चेत्रस्योपरि न निवसेत्—मिताक्षरा ) ; अकृष्टं मूल-फलं सञ्चिन्वीत, ऊर्ध्वं रैताः समाशयो दद्यादेव न प्रतिगृहीयात् ऊर्ध्वं पञ्चम्यो मालेभ्यः ध्रावणकेन ( वैदिकेन मार्गेण न लौकिके-नेत्यर्थः—मिताक्षरा ) अग्निभाधाय आहिताग्निः शृण-मूलको दद्यात् देव-पितृ-मनुष्येभ्यः स गच्छेत् स्वर्गमाप्तव्यम् ।”

इस आधम के धर्म का विशद वर्णन तो मनुस्मृति आदि में देयना चाहिए।

वान-प्रस्थ आधम की अवधि राण-राय है। इस विषय में मनु का कथन निम्न निर्दिष्ट है—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥ ( मनु० ६।३३ )

इसकी व्याख्या में कुल्लूक-भट्ट ने स्पष्ट किया है—“अनियतपरिमाणवा-धायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात् तृतीयमायुषो भागमिति राणशुवावधि वान प्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । अत एव शङ्खलित्तिष्ठी—वन वासादूर्ध्वं दान्तस्य परिगतवयसः पारिप्राज्यम्—इत्याचरयतुः ।” अतएव विश्वनेपर ने भी कहा है :—“वाचता कालेन सीम-तप-शोषित-वयुषो विषय-व्याय परिपानो

१. वने प्रकपेण नियमेन च तिष्ठति चरति इति वन प्रस्थः, वन प्रस्थ एव वान प्रस्थः । संशया देर्ष्यम्—मिताक्षरा ३।४५

२. ब्रह्म-चारी = ऊर्ध्वरैताः, साग्निः = वैतानाग्नि सदितः । —मिताक्षरा



भवति पुनश्च मदोद्गाऽऽशङ्का नोद्गायते तावत्काले च न घासे कृत्या .....  
( मिताक्षरा ३।५६-५७ )

इस तृतीय आश्रम के अनन्तर काल में—

‘चतुर्थमायुषो भाग स्वश्रया सहान्परियजेत् ।’

( मनु० ६।३३ )

इस परित्राजकाश्रम में केवल ब्राह्मण का अधिकार है। दूसरे मत के अनुसार सभी द्विजातियों का अधिकार माना जाता है ( मिताक्षरा ३।५६-५७ )। प्रयजन के बिना मोष के अभाव को मानने वाले मिताक्षराकार ( ३।५५ ) द्वितीय मत को ही अच्छा समझते हैं— ऐसा प्रतीत होता है।

इस आश्रम के धर्मों का दिग्दर्शन याज्ञवल्क्य के अधोलिखित पद्य में होता है—

सर्वं भूत द्वित दान्तस्त्रिदण्डी सकर्मण्डलु ।

एकाराम परिप्राज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥ ( या० स्मृ० ३।५८ )

इस आश्रम धर्म का सम्बन्ध केवल द्विजातियों से है। साथ ही सभी आश्रमों में इतना नहीं होता है, हीं, उल्लङ्घन हो सकता है। इस विषय में भागवत के विशिष्ट विचार का अवलोकन डा० मिश्रवर भट्टाचार्यकृत ‘The Philosophy of the श्रीमद्भागवत’ ( पृ० ३४ ) में करना चाहिए। श्रीमद्भागवत के विचार का मूल तो मनुस्मृति में ही है, जिसका अन्वेषण मनीषियों के लिए असाध्य नहीं है।

( ३ )-वर्णाश्रम धर्म का अर्थ है वर्ण विशेष के आश्रम विशेष से सम्बद्ध धर्म।  
उदाहरणार्थ—

ब्राह्मणो वैश्य-पालाशौ श्रियो घाट स्त्रिरी ।

पैलवीदुम्बरी घैरयो दण्डानर्हन्ति धर्मत ॥ ( मनु० २।४५ )

आदि को लिया जा सकता है।

( ४ ) गुण धर्म का अर्थ विश्वानेवर के शब्दों में इस प्रकार किया गया है—

“शास्त्रीयाभिपेरादिगुण-युक्तस्य राज्ञ प्रजा परिपालनादि” ( मिताक्षरा ३।१ )

( ५ ) निमित्त धर्म का अर्थ प्रायश्चित्त होता है।

( ६ ) साधारण धर्म का वर्णन मनु ने इस प्रकार किया है—

एति समा दमोऽऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दानम धर्म उच्यते ॥ ( मनु० १।१२ )

बृहस्पति ने मनु-सम्मत कुछ अन्य साधारण-धर्म का उल्लेख किया है :—

चक्षुर्दान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च स्मृताम् ।

एष साधारणो धर्मः चातुर्वर्ण्योऽऽनीन्मनुः ॥

( बृ० स्मृ० संस्कारकाण्ड, श्लो० ३१३ )

याज्ञशक्य के अनुसार साधारण-धर्म ये हैं—

अ हिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय-निग्रह ।

दान धर्मो दया चान्तिः सर्वेषांधर्म साधनम् ॥

( या० स्मृ० १।१२२ )

बृहस्पति ने साधारण-धर्म का निर्देश निम्न-निर्दिष्ट पद्य में किया है—

‘दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।

अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वं साधारणानि तु ॥’

( बृ०स्मृति० संस्कारकाण्ड, श्लो० ४८९ )

बृहस्पति ने इस श्लोक के प्रत्येक पद को व्याख्या भी की है, परन्तु उसका उपस्थापन संबंधित भूमिका में उचित नहीं है। अतः जिज्ञासुओं को संस्कार-काण्ड के श्लोकों ( ४९० से ५०१ तक ) को देखना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि स्मृति का लक्ष्य प्रवृत्त कर्म का ही विवरण है तो इस का शास्त्रत्व ही लुप्त हो जाता है, क्योंकि कोई भी प्रबन्ध तभी शास्त्र कहलाने योग्य होता है यदि वह मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट अंगुष्ठ्य ( = मोक्ष ) का प्रसाधक हो ( शास्त्रत्वं हित शासनात् )। प्रवृत्त कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष की अधिगति तो सम्भव ही नहीं है। अतः प्रवृत्त कर्म का विधान करने-वाला धर्म शास्त्र घटत-शास्त्र नहीं है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि स्मृति में प्रवृत्त कर्म का प्रतिपादन है तथापि स्मृति का तात्पर्य प्रवृत्त कर्म में नहीं है अपि तु प्रवृत्त कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि पर निवृत्ति-मार्ग की अधिगति में ही। अत एव मनु ने कहा है—

विद्वद्धि-सेवित सद्विनीत्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनान्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ ( मनु० २।१ )

यदि राग-द्वेष-हीन होकर मनुष्य किसी भी कर्म का अनुष्ठान करता है तो वह कर्म वस्तुतः प्रवृत्त नहीं है। यदि कथमपि उसे प्रवृत्त भी कहा जाय तब भी उससे निवृत्ति की अधिगति तो निर्बाध ही है। प्रवृत्त कर्म का अनुष्ठान तो निवृत्त-कर्म की पूर्ण पीठिका है। अतः गीता का भी उपदेश है—

न कर्मणामनारम्भान्नेकम्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च मय्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

स्मृतिकार का भी प्रवृत्त-कर्म के अनुविधान में यही उद्देश्य है। याज्ञ-यक्य ने तो स्पष्ट रूप में कहा है—

इत्याचार दमाहिंसा दान स्वाध्याय-कर्मणाम् ।  
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म दर्शनम् ॥

( या० स्मृ० ११८ )

अत उपर्युक्त आशेष निराधार है ।

धर्म शास्त्र प्रवर्तक ऋषि

याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्म शास्त्र प्रवर्तक ऋषियों का नाम निर्देश निम्न लिखित श्लोकों में किया गया है—

मन्यन्त्रि विष्णु-हारीत याज्ञवल्क्योऽज्ञानोऽङ्गिरा ।

यमापस्तम्ब-सवर्ता कार्त्वायन बृहस्पती ॥

पराशर व्यास शङ्ख लिपिता दक्ष गौतमौ ।

शातातपो वसिष्ठश्च धर्म शास्त्र प्रवर्तका ॥ (या० स्मृति० ११४ ५)

इसकी व्याख्या में आदि-य वेच ने एक गौतम सूय को उद्धृत किया है—

अत्र 'गौतम'—स्मृतिधर्म शास्त्राणि, तेषाम्प्रणेताः मनु विष्णु दक्षा ङ्गिरोऽङ्गि  
बृहस्पत्युशान् आपस्तम्ब-गौतम सवर्त आत्रेय-कार्त्वायन शङ्ख लिखित पराशर व्यास  
शातातप प्रचेतो याज्ञवल्क्यादयः ।

( अपराकर्मव्याख्या या० स्मृ० ११४-५ )

शङ्ख लिखित के कथनानुसार धर्मशास्त्र प्रणेताओं की सूची निम्न लिखित है—  
'तथा च शङ्ख लिखितौ—स्मृतिधर्म शास्त्राणि, तेषाम्प्रणेताः मनु विष्णु  
यम दक्षाङ्गिरोऽङ्गि बृहस्पत्युशान् आपस्तम्ब वसिष्ठ कार्त्वायन पराशर व्यास शङ्ख  
लिखित सवर्त गौतम शातातप हारीत याज्ञवल्क्य प्राचेतसादयः ॥'

( धीरमित्रोदय या० स्मृ० ११४-५ तथा वी० मि० परिभाषाप्रकाश पृ० १९ )  
पर तु बालगम्भी में 'शखरश्च' प्रतीक के अन्तर्गत जो उद्धरण है उसमें मनु,  
विष्णु यम, दक्ष तथा अङ्गिरा का उल्लेख नहीं है । प्राचेतसादय में प्रयुक्त 'आदि'  
शब्द से ब्राह्म ऋषियों का निवरण बालगम्भी में इस प्रकार है—

"आदिना शुभ द्रव्यं सुमन्तु-जमध्वनि विधामिन्न प्रपति पंटीनसि पितामह  
वीधायन शङ्गागलेय जापाट ध्यवन मरीचि करयपा " ॥ ( बालगम्भी पृ० ९ )

वेचल का निर्देश इस प्रकार है—

मनुयमो वसिष्ठोऽङ्गिर्दक्षो विष्णुस्तथाऽङ्गिरा ।

उशान् वापतिर्यास आपस्तम्बोऽथ गौतम ॥

कार्त्वायनो नारदश्च याज्ञवल्क्यः पराशर ।

सम्वर्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो लिखितस्तथा ॥ ( बालगम्भी पृ० ९ )

१ वर्तमान गौतम-धर्म-शास्त्र में यह अंग उपलब्ध नहीं है ।

२ कृत्य रत्नाकर में 'सोम' का नाम इससे अधिक है । कृ० र० पृ० २९

३ कृत्य रत्नाकर ( पृ २९ ) में 'यम' प्रतीक का अर्थ वे ही श्लोक अविच्छेद रूप में  
दिये गए हैं ।

मार्कण्डेय स्मृति में मनु, गौतम, कश्यप, पराशर, वेद व्यास, शङ्ख, लिखित तथा कात्यायन का निर्देश किया गया है।

( भा० स्मृ० स्मृति-सन्दर्भ भाग ६, पृ० ६३, कलकत्ता )

'चतुर्विंशतिमत' में याज्ञवल्क्य निर्दिष्ट २० ऋषियों में से कात्यायन तथा लिखित को छोड़कर अन्य १८ तथा गार्ग्य, नारद, चौघायन, वस, विश्वामित्र एव शार ( शाखायन ? ) का निर्देश है।

( म० म० वाणे—'History of Dharmashashtra' पृ० १३३ )

आपस्तम्बने १० धर्म शास्त्राचार्यों का निर्देश किया है—एक ( किसी ऋषि विशेष के लिए निर्दिष्ट है ), कण्व, काण्व, जुगिप, कुस, कौत्स, पुष्यरसादि, पार्ष्णिगणि, श्वेतकेतु तथा हारीत। चौघायन ने हारीत के साथ साथ भीषजहनि, वात्स्य, काश्यप गौतम, मजापति, मनु तथा भौहृष्य का उल्लेख किया है।

( Introduction to the गृहस्पतिस्मृति, P. 88, Footnote-3 )

भारद्वाजस्मृति में भी दिग्दर्शन क्रम में निम्नलिखित ऋषियों का उल्लेख किया गया है—

शुभुरश्चिन्मिण्डश्च शाण्डिल्यो रोहित मनु ।  
हरितो (हारीतो ?) गौतमो गर्ग शङ्ख बालातपोऽङ्गिरा ॥  
मार्कण्डेयश्च माण्डव्य कपिलो नारद शुक ।  
जमदग्निर्याज्ञवल्क्यो विश्वामित्र पराशर ॥  
एतेषाञ्जपि मुनयो धर्मज्ञा धर्मतपरा ॥

( भा० स्मृ० १३-५ )

पराशर स्मृति का विवरण भी निम्न लिखित है—

भ्रता मे मानवा धर्मा वासिष्ठा काश्यपास्तथा ।  
गार्गीया गौतमीयाश्च तथा चौघानसा स्मृता ॥  
अत्रेविष्णोश्च सबर्षाहृषादाङ्गिरसस्तथा ।  
शानानपाश्च हारीतात् याज्ञवल्क्यास्तथैव च ॥  
आपस्तम्बवृता धर्मा शङ्खस्य लिखितस्य च ।  
कात्यायनकृतारथैव तथा भाचेतसान्मुने ॥

( पराशरस्मृति-११२ १६१ )

गरुड-पुराण ( ९३।४-६ ) में याज्ञवल्क्य के स्थान में अहम् (= गरुड ) को रखकर अतिरिक्त ऋषियों का निर्देश याज्ञवल्क्यस्मृति के समान ही किया गया है। अग्निपुराण में तो याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही ( यत्र तत्र क्रम-परिवर्तन के साथ ) रूपान्तर मिलता है—

मनुःत्रिपुण्यर्षिःशङ्खो हारीतोऽत्रियमोऽङ्गिरा ।  
वासिष्ठ-दृष्ट-सवर्च-शातातप-पराशरा ॥  
जापस्तम्बोशनो-व्यासा कात्यायन-गृहस्पती ।  
गौतम शङ्ख-लिखितौ धर्ममेते यथाऽनुवन् ॥

( अग्निपुराण अ० १६२, श्लो० १-२ )

वर्तमान सगृहीत बृहस्पति स्मृति ( बहौदा ) में यथावसरं मनु ( पृ० १९, ३९, ८४ आदि ), गौतम ( पृ० २०८ ), कात्यायन ( पृ० १०६ ), उशना ( पृ० ३०१ ), बृहस्पति ( पृ० ३०३, ५५० आदि ), अङ्गिरा ( पृ० ३७८ ), आपस्तम्ब ( पृ० ३७८ ), गर्ग ( पृ० २८३ ), जीव ( पृ० २६० ), देवेन्द्रगुहं ( २८९ ), पद्म शिख ( पृ० २३१ ), पराशर ( २३३ ), पाराशर ( पृ० ३२६ ), पितामह ( पृ० ९१ ), प्रजापति ( पृ० ३५८ ), मार्गव ( पृ० २३३ ), वसिष्ठ ( पृ० १०३ ) व्यास ( पृ० ३२० ), शङ्ख लिखित ( पृ० २३३ ), शाकटायन ( पृ० ३६३ ), ईशानक ( पृ० १२७ ), स्वयम्भू ( पृ० ३०४ आदि ) तथा भृगु ( पृ० ६६ ) का निर्देश किया गया है। इन नामों में कुछ का पर्याय भी सम्भावित है। जैसे—बृहस्पति, जीव, देवेन्द्रगुह शब्द प्रायश एक ही व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट हुए हैं। इसी प्रकार पितामह तथा प्रजापति शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं। परन्तु निर्णित रूप में कुछ कहना कठिन है।

पैठीनसि ने ३६ स्मृतिकारों का निर्देश किया है—

तेषां म-वङ्गिरो-व्यास-भौतमाऽयुक्तमो-यमा ।  
 वसिष्ठ दक्ष सप्तै शातातप-पराशरः ॥  
 विष्वापस्तम्ब-हारीता शङ्ख कात्यायनो भृगु ।  
 प्रचेता नारदो योगी र्शुधायन पितामहौ ।  
 सुमन्तु करषपा यशु पैठीनो व्यास एव च ।  
 सत्य व्रतो भरद्वाजो गान्ध काष्ठाङ्गिभिस्तथा ॥  
 जायालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्गण्य सम्भव ।  
 इति धम प्रणेताः पट्त्रिंशदप्यस्तथा ॥

( स्मृति-चन्द्रिका पृ० १, वी० मि० परि० प्र० पृ० १५ )

ये छत्तीस ही स्मृतिगण हैं वा स्मृति कार हैं ऐसी बात नहीं है। यह तो उपलक्षण है। अतः स्मृतिचन्द्रिकाकार का कथन है—

“मनु वेद्यम् परिसंख्या? मैवम्, तथा सति वसु मरीचि देवल पाररकर मनु-शुक्लशुक्ल शिवर छागलेयात्रेयादीनां धर्म शास्त्र प्रणेत्व म स्यात्” ।

( स्मृ० च० पृ० १ )

धीर मित्रोदय में प्रयोग पारिजात के कुछ श्लोक उद्धृत हुए हैं जिनमें ३१ स्मृतिगणों का वर्गीकरण स्मृतिगणों तथा उपस्मृतिगणों में हुआ है—

मनुबृहस्पतिर्दक्ष गौतमोऽथ यमोऽङ्गिरा ।  
 योगीश्वर प्रचेताश्च शातातप पराशरौ ॥  
 सवर्तोदानसौ शङ्ख-लिखितावत्रिरेव च ।  
 विष्वापस्तम्ब-हारीता धम नास्य प्रचर्त्वा ॥  
 एते द्वादश प्रोक्ता मुनया नियत-व्रता ।  
 जायालिर्नाचिकेतश्च स्व-दो लौगाक्षि-काश्यपी ॥  
 व्यास सनत्कुमारश्च सुमन्तुश्च पितामह

व्याघ्र काष्ठांजिनिरश्चैव जातूकर्णं कपिश्रुल ॥  
 दौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।  
 पेंटीनसिर्गोभिलश्च वपस्मृति विधायका ॥

यद्यपि उपस्मृति विधायकों की नामान्तली का उपसंहार यहाँ प्रतीत होता है तथापि और भी २१ स्मृति-कारों का नाम निर्देश तीन श्लोकों में किया गया है—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुरश्च पितामह ।  
 वप्र काष्ठांजिनि सत्य व्रतो गार्भ्यश्च देवल ॥  
 जमदग्निर्भरद्वाज पुलस्त्य पुलह ऋतु ।  
 आत्रय छागलेयश्च मरीचिवत्स एव च ॥  
 पारस्कर श्रव्यश्रुतौ वैजयापस्तथैव च ।  
 इत्येये स्मृति कर्तार एकाविंशतिरीरिता ॥

यद्यपि पाल्शकव्य स्मृति (श्लोक० ११०-५) की व्याख्या में मित्र मिश्र इन स्मृतियों को स्पष्टतः उपस्मृति नहीं कहते हैं तथापि 'परिभाषा प्रकाश' (पृ० १८) में इन सभी श्लोकों के बाद 'एते एवोपस्मृतिकर्तारो मदनरत्ने-पुष्पा' कह कर इन सब को उपस्मृति मानने के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं। परन्तु 'जावालिनोचिकेतश्च' आदि में परिगणित सुमन्तु, पितामह तथा काष्ठांजिनि का 'वसिष्ठो नारदश्चैव' आदि श्लोकों द्वारा परिगणित २१ स्मृति कर्ताओं में पुनरुल्लेख है। अतः उपस्मृतिकारों की संख्या ३६ होनी चाहिए। एक ही स्थान में पुनरुक्ति का आधार समस्त में नहीं आता।

किन्तु उपर्युक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है, इसे केवल दिग्दर्शक समझना चाहिए, कारण इनके अतिरिक्त स्मृतिकारों का भी उल्लेख धर्मशास्त्र निबन्धों में मिलता है। उदाहरणार्थ 'निर्णयसिन्धु' में लगभग १२५ से भी अधिक स्मृतिकारों के बचन उद्धृत हैं। अभिव्यपुराण में भी स्मृतियों की संख्या का निर्देश अस्पष्ट रूप में स्मृतियों के आनन्त्य का ही प्रतिपादक प्रतीत होता है। 'स्मृति मुक्ताफल' में तो ८८००० ऋषियों को धर्मप्रवर्तक बतलाया गया है—

अष्टाशीति सहस्राणि गुणयो गृहमेधिन ।

पुनरावर्तिनो बीज भूता धर्म प्रवचका ॥ (स्मृति मुक्ताफल, पृ० ८)

इस विविध परिस्थिति में सभी स्मृतिकारों का नाम निर्देश तो असम्भव-प्राय ही है। डा० काणे ने स्मृति परस्परा का यथासम्भव विद्वद् वर्णन अपने ग्रन्थ 'History of Dharma-Shastra' में किया है। इस ग्रन्थ से बहुत स्मृतिकारों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

## याज्ञवल्क्य-स्मृति

### ( क ) याज्ञवल्क्य परिचय

याज्ञवल्क्य-स्मृति शब्द से साधारणतः यह प्रतीत होता है कि यह स्मृति याज्ञवल्क्य के द्वारा बनाई हुई है। महाभारत के द्वाविंशतः के ३१२वें अध्याय

में, शतपथब्राह्मण (१४।१।३३) तथा भागवत (१०।६।११-१४) में यह बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य थे। वैशम्पायन से उन्होंने विद्या-प्रहण, विशेषतः यजुर्वेद का अध्ययन, किया था। परन्तु एक समय गुरु-शिष्य में मतभेद के कारण याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु की विद्या को वान्त ( Vomitted ) कर दिया और पुनः भगवान् सूर्य की आराधना कर मध्याह्नकाल में सूर्य से यजुर्वेद का अध्ययन किया। इसी यजुर्वेद को 'शुक्ल यजुर्वेद' तथा मध्यदिन में सूर्य से अधिगत होने से 'माध्यन्दिन-संहिता' भी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह जनक के गुरु के रूप में भी याज्ञवल्क्य का वर्णन विस्तृत रूप में पाया जाता है। बृहदारण्यक के तृतीय अध्याय में यह बतलाया गया है कि विदेह जनक ने अपने यज्ञ में सभी प्रदेशों के ब्रह्म-ज्ञानियों को आमन्त्रित किया था। सभी के उपस्थित होने पर जनक ने उन सब के समक्ष अपना विज्ञापन किया— "यो यो ब्रह्मिष्ठः स प्ताः गाः उद्व्रताम्"। जनक के विज्ञापन को सुन कर सभी मौन हो गए थे। कुछ समय के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से उन गायों को ले जाने के लिए कहा। इस पर सभी क्रुद्ध हो गये और याज्ञवल्क्य के साथ इन सबों का प्रमनाः कान्धार्यं ( मरु के विषय में ) हुआ। इस कान्धार्य का स्वरूप वस्तुतः 'जल्प' ( विजिगीषुहृदयस्य कथा जल्पः ) था। जैसा कि जल्प के लक्षण से ही स्पष्ट है, इस कथा में उचित-अनुचित का विवेक नहीं सा रहता है। याज्ञवल्क्य भी इस अपरूप से रहित नहीं रह सके। उन्हें भी समय-समय पर प्राप्त-प्रदर्शन, शाप-दान भादि करना पड़ा। इन्हीं अपकर्षों के कारण विद्यारण्य स्वामी ने अपने जीवन्मुक्ति-विवेक ( पृ० २५७-२६१ ) में याज्ञवल्क्य के विषय में यह उपसंहार किया है—

"तस्मात् किम्यदुना ? ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामस्यैव मलिन-यासनाऽ-  
नुवृत्तिः ।" ( जी० सु० वि० पृ० २६२ )

### ( ष ) प्रकृत स्मृति का कर्ता

प्रकृत स्मृति के कर्ता उपर्युक्त याज्ञवल्क्य ही हैं या कोई अन्य व्यक्ति—यह प्रश्न कुछ जटिल सा है। प्राचीन परम्परा के अनुसार बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य ही इस स्मृति के प्रणेता माने जाते हैं। आदित्य देव ने लिखा है— "अस्याश्च संहितायाः याज्ञवल्क्य प्रणेतेति व्याख्यातृणां स्मृतिरेव प्रमाणम्" ( अपरार्क १११ )। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी एक श्लोक है जो स्पष्टतः इस स्मृति के कर्ता के रूप में बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य को ही प्रस्तुत करता है—

ज्ञेयं चारण्यकमह यदादित्यादवासवान् ।

योग-शास्त्रञ्च मन्त्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ( या० स्मृ० ३।११० )

परन्तु मिताचर्याकार ने प्रथम श्लोक के अवतरण में लिखा है— "याज्ञवल्क्य-  
शिष्य कश्चिद्वरनोत्तररूप याज्ञवल्क्य-अणीतं धर्मं शास्त्रं कथयामास"। इस कथन

१. अस्ति हि याज्ञवल्क्यस्य \* \* \* मूयान् विद्यामदः । तैः सर्वैरपि विजिगीषु-  
कथायाग्रवृत्त्याद । — जीवन्मुक्तिविवेक पृ. २५७ ( आनन्दप्रथम संस्कृत ग्रन्थमाला )

के आधार पर प्रो० काणे इस स्मृति को याज्ञवल्क्य-प्रणीत नहीं मानते । उनकी दृष्टि में उपर्युक्त 'ज्ञेयं चारण्यकम्' आदि श्लोक भी रचयिता का कपट प्रबन्ध मात्र सा प्रतीत होता है । प्रो० काणे ने अपने मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

This ( ज्ञेय चारण्यकमहम् ) is simply put in to glorify the याज्ञवल्क्य-स्मृति as the work of a great and ancient Sage, Philosopher and Yogi. From the style and doctrines of the स्मृति it is impossible to believe that it was the work of the same hand that gave to the world the उपनिषद् containing the boldest philosophical speculation couched in the simplest yet the most effective language. Even orthodox Indian opinion was not prepared to admit the unity of authorship in the case of the स्मृति and the चारण्यक.

( History of Dharmasāstra, P. 169, Vol. I )

यद्यपि मेरा दुराग्रह नहीं है कि प्राचीन-परम्परा ही सत्य है, तथापि डॉ० काणे द्वारा उपस्थापित युक्तियों में कुछ प्रपलना नहीं हो सकती है । यदि याज्ञवल्क्य से भिन्न किसी व्यक्ति की यह रचना है तो उस व्यक्ति का नाम इस स्मृति से सर्वथा विलुप्त क्यों हो गया—यह एक समस्या हो जाती है । किसी प्रपलन कारण के अभाव में अपनी रचना को दूसरे महा-पुरुष के नाम से प्रसिद्ध कराने में लेखक की प्रवृत्ति को मनो-विज्ञान से समर्थन नहीं सा मिलता है । भाषा के आधार पर दोनों में भेद मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से भाषा का सम्बन्ध स्वत्ति से होता है न कि देश से । अवस्था भेद के अनुसार एक व्यक्ति की भाषा तथा रीति में परिवर्तन के उदाहरण भी कम नहीं हैं । यदि विज्ञानेश्वर के कथनानुसार याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य को ही इस स्मृति का प्रणेता मान लिया जाय तब भी धर्मेय प्रो० काणे द्वारा अभिप्रेत भाषा-तारतम्य, रीति-तारतम्य तथा वस्तु-तारतम्य का उचित समाधान प्रायः असम्भव ही है । दूसरी बात यह भी है कि स्वयम् विज्ञानेश्वर भी इस निषय में व्यामुग्ध ( Confused ) से प्रतीत होते हैं कि इस स्मृति के प्रणेता कौन हैं । पहले तो उन्होंने मान लिया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने इस स्मृति की रचना की थी, परन्तु ४-५ श्लोकों की व्याख्या में उन्होंने ने दो बार "याज्ञवल्क्य प्रणीतम्" तथा "याज्ञवल्क्य-प्रणीतम्" कहा है । परन्तु विज्ञानेश्वर के आधार पर कुछ निर्णय करना तो वाञ्छनीय नहीं होना चाहिये । इसके अतिरिक्त आचारारण्यक के द्वितीय श्लोक में— "मिथिलास्य स योगीन्द्र" कहा गया है जिससे भी प्राचीन-परम्परा का ही समर्थन होता है । सभी श्लोकों को प्रसिद्ध या विद्विष्ट मान कर कुछ निर्णय कर लेना नहीं तर्क न्याय्य है—यह विचारणीय है ।

अतः जब तक कुछ सबूत न मिले तब तक केवल हेतुभास के आधार पर ही निगमन नहीं करना चाहिये प्रस्तुत इस स्मृति के कर्ता के निषय में उपस्थित



समस्या का उपसंहार सन्देह में ही करना उचित है। योगि-याज्ञवल्क्य आदि, प्राचीन की दृष्टि में, इस याज्ञवल्क्य से अभिन्न परन्तु नवीनों की दृष्टि में भिन्न, माने जाते हैं।

( ग ) याज्ञवल्क्य स्मृति की श्लोक सरया

याज्ञवल्क्य-स्मृति की श्लोक-सरया के विषय म विश्वरूपाचार्य, विज्ञानेश्वर तथा अपरादि-य वर मत एक नहीं है। विश्वरूप के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति में १००३, विज्ञानेश्वर के मत में १००९ और अपरादित्य की व्याख्या में १००६ श्लोक पाये जाते हैं। व्याख्या में अनुपलब्ध परन्तु कुछ मूल पुस्तकों में उपलब्ध—“श्लोकानामपि विशेष सहस्र चतुरस्रम्” के आधार पर तो मूल श्लोकों की सरया १००४ प्रतीत होती है। मित्र मिश्र ने विज्ञानेश्वर का ही अनुसरण किया है। शूलपाणि ने अपनी व्याख्या म १०१० श्लोक माने हैं।

व्याख्यात श्लोकों में विषमता क अतिरिक्त कुछ ऐसे भी श्लोक हैं जिनका सङ्केत केवल मूल पुस्तक में है, किसी भी व्याख्या में नहीं। उदाहरणार्थ, आचार्याध्याय में और भी कुछ श्लोक अधिक उपलब्ध होते हैं—२३३ पृ २३४ श्लोकों के मध्य में अर्ध श्लोक है—“अपहृता इति निलान् विकीर्य च समस्ततः ।” इसी प्रकार ३०८ तथा ३०९ श्लोकों के मध्य म एक श्लोक है—

प्रहाणामिदमातिष्यं पुपात् सवत्सरादपि ।

आरोग्य-बल-सम्पन्नो जीवेत्स शतम् ॥

व्यवहाराध्याय के अन्त म भी मूल पुस्तक में निम्न लिखित तीन श्लोक अधिक हैं—

- ( १ ) राजभिर्दत्त-दण्डास्तु कृत्वा पापानि मानया ।  
निर्मला स्वर्गमायान्ति सप्त मुकृतिनो यथा ॥
- ( २ ) पृथमुदघतदण्डानां विदुश्चि पापकर्मिणाम् ।  
स्व धर्म-स्थापनाद्गाना प्रज्ञाम्यो धर्ममरनुते ॥
- ( ३ ) यत्र दण्ड विधिर्नास्ति सर्वैरेव महारमभिः ।  
देश कालादि सञ्चिन्त्य तत्र वृषो निधीयते ॥

इसी प्रकार प्रायश्चित्ताध्याय के अन्त में भी कुछ श्लोक पाये जाते हैं—

- ( १ ) विप्रेष्वपि विशेषेण धार्यां चाजसनेयिकैः ।  
इच्छाद्वा येयसि फलमिह लोके परत्र च ॥
- ( २ ) यदवाप्त मया देवादादित्याद्भिः सनातनात् ।  
तद्भिः सर्वमिदमोक्तं श्रुति स्मृत्यग्निसम्मतम् ॥
- ( ३ ) नि धेयस-वर मृणा शास्त्र देवर्षि-सेवितम् ।  
ज्ञात्वा ये ज्ञाप्यवस्यन्ति तेऽन सयान्ति वै पुन ॥

( य तीन श्लोक मिताशरा के ३२३ तथा ३२८ श्लोकों के मध्य म पाये जाते हैं । )

( १४ ) क्षम्युपेक्षाशुभ्रपा-( Negligence of promised service ) प्रकरण ( श्लो० १८२-१८४ ),

( १५ ) संविद्धतिक्रम-( Breach of contract ) प्रकरण ( श्लो० १८५-१९२ ),

( १६ ) वेतनादान-प्रकरण ( श्लो० १९३-१९८ ),

( १७ ) घृत समाह्वय<sup>१</sup>-( Gambling ) प्रकरण ( श्लो० १९९-२०३ ),

( १८ ) धानपारुष्य-( Defamation ) प्रकरण ( श्लो० २०४-२११ ),

( १९ ) दण्ड-पारुष्य-( Assault ) प्रकरण ( श्लो० २१२-२२९ ),

( २० ) साहस-( Aggressive act ) प्रकरण ( श्लो० २३०-२५३ ),

( २१ ) विक्रीयाऽसंग्रहान-( Non-delivery of the sold ) प्रकरण ( श्लो० २५४-२५८ ),

( २२ ) सम्भूय-समुत्थान-( Joint dealing ) प्रकरण ( श्लो० २५९-२६५ ),

( २३ ) स्तेय ( Theft ) प्रकरण ( श्लो० २६६-२८२ ),

( २४ ) स्त्री-संग्रहण-( Seduction ) प्रकरण ( श्लो० २८३-२९४ ) तथा,

( २५ ) प्रकीर्णक-( Miscellany ) प्रकरण ( श्लो० २९५-३०७ ) ।

प्रायश्चित्ताध्याय में ५ प्रकरण हैं—

( १ ) अशौच प्रकरण ( श्लो० १-३४ ), ( २ ) आपद्धर्म-प्रकरण ( श्लो० ३५-४४ ), ( ३ ) धानप्रस्थ धर्म-प्रकरण ( श्लो० ४५-५५ ), ( ४ ) यति-धर्म-प्रकरण ( श्लो० ५६-९०५ ), ( ५ ) प्रायश्चित्त-प्रकरण ( श्लो० ९०६-३३४ ) ।

प्रायश्चित्त-प्रकरण में महा पातक उप-पातक आदि का स्वरूप निर्देश तथा प्रायश्चित्त विधान आदि दिए गए हैं ।

याज्ञवल्क्य स्मृति का महत्त्व

पूर्व निर्दिष्ट सभी धर्म-शास्त्र प्रवर्तक-सूत्रियों में मनु के सर्व प्रथम निर्देश होने के कारण यह तो स्पष्ट है कि स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है । इसी लिए गृहस्पति का कथन है—

वेदार्थ-प्रतिषद्धत्वात् प्रामाण्यन्तु मनोः स्मृतम् ।

मन्यर्थं विपरीता तु या स्मृतिः सा न क्षस्यते ॥

( घृ० स्मृ० सं० का० श्लो० १३ )

अत्रिराने भी मनु को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है—

वत्पूर्वं मनुना प्रोक्तधर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।

न हि तत्समतिक्रम्य वचनं हितमाश्रयः ॥

( Dr. Jha : Hindu Law in its Sources, P. 44 )

उपर्युक्त पृथरपति वाक्य से यह स्पष्ट है कि किसी भी स्मृति को प्रतिष्ठित होने के लिए यह आवश्यक है कि वह मनु के मत से समर्थित हो । प्रकृत धान्यव्यवस्था-स्मृति भी आश्रय मनु के मत से जोत-प्रोत है । नीचे कुछ श्लोक मनु-स्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति के दिये जाते हैं जहाँ बेजल अर्थ साम्य ही नहीं अपि तु सत्य-साम्य भी है—

## मनु स्मृति

(१) वेद स्मृति सदाचार  
स्वस्य च प्रियमात्मन ।  
पुतस्तुविधिग्राह  
साक्षाद्दर्शनस्य लक्षणम् ।

२११२४

(२) निपेकादिश्मशानान्तो  
मन्त्रैर्वस्योदितो विधिः ॥

२११६।

(३) गर्भाष्टमेऽथै कुर्वीत  
ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥

२१३१॥

(४) भाषोदृशाद्ब्राह्मणस्य  
सावित्री नातिरुते ।  
आज्ञाविंशत् सत्रयन्धो  
आचतुर्विंशतेर्विश ॥  
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते  
यथाकालमसहृता ।  
सावित्री-पतिता भ्रात्या  
भवन्पार्ष्णि विगहिता ॥

२१३८-३९॥

(५) न स्मृत्युते न ह्यथते  
न विनश्यति कर्हिचिद् ।  
धरिष्ठमग्नि होत्रेभ्यो  
ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ।

७८४४

(६) अलब्धश्चैव लिप्सेत  
लब्ध रसेऽप्यसत ।  
रक्षित वर्धयेच्चैव  
वृद्ध पात्रेषु नि क्षिपेत् ॥  
अलब्धमिच्छेदण्डेन  
लब्ध रसेदवेक्षया ।  
रक्षित वर्धयेद्वृद्धभ्या  
वृद्धय पात्रेषु नि क्षिपेत् ॥७९९,१०१

## याज्ञवल्क्य स्मृति

(१) श्रुति स्मृति सदाचार  
स्वस्य च प्रियमात्मन ।  
सम्यक्सकल्पत्र कामा  
धर्मगूलमिद स्मृतम् ॥

११७६

(२) निपेकाद्या श्मशानान्ता  
लेपा चै मन्त्रस्त क्रिया ॥

१११०॥

(३) गर्भाऽष्टमेऽष्टमे वाग्दे  
ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥

१११४॥

(४) आ पोऽशादाद्वाविंशत्  
चतुर्विंशत् च वत्सरात् ॥  
ब्रह्म चर विद्या फल  
आपनायनिक पर ॥  
अत ऊर्ध्वं एतस्यते  
सत्रधर्मं बहिष्कृता ।  
सावित्री पतिता भ्रात्या  
ब्राह्मणस्तोमाहते ऋतो ॥

११३७-३८ ॥

(५) अस्कन्धमयथश्चैव  
प्रायश्चित्तैरदृपितम् ॥  
अग्ने सकाशाद्दिग्गामौ  
हुत श्रेष्ठमिहोप्यते ॥

१११९॥

(६) अलब्धमीहेद्धमण  
लब्ध यत्नेन पालयेत् ।  
पालित वर्धयेद्दीप्या  
वृद्धपात्रेषु नि क्षिपेत् ॥

११३१०॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में किये गये मनु-स्मृति के रूप के कुछ निदर्शन निम्न-  
लिखित हैं—

ग० स्मृ०

- (१) प्राज्ञाभिवर्धनात् पुंसो  
जातकर्म विधीयते ।  
मन्त्रव्यादानं चास्य  
हिरण्य-मधु-सर्पिणाम् ॥  
नामधेय दशम्यान्तु  
द्वादश्या वास्य कारयेत् ।  
पुण्ये तिथी मुहुर्त्ते वा  
नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥  
चतुर्थे मासि कर्त्तव्यम्  
शिरोनिष्क्रमण गृह्यात् ।  
पष्ठेऽङ्गप्राशन मासि  
पथेष्ट मङ्गल ह्युभे ॥  
शूद्राकर्म द्विजातीना  
सर्वेषामेव धर्मत ।  
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा  
कर्त्तव्यं धृति षोडश्यात् ॥

११९-२०, २४-३५ ॥

- (२) हीन जाति स्त्रिय मोहात्  
उद्बहन्तो द्विजातय ।  
कुलान्वेष नयन्वाशु  
स-सन्तानानि श्रुताम् ॥  
शूद्रा शयनमारोप्य  
प्राहणो वासधोगतिम् ॥  
जनयित्वा सुत धरया  
प्राहण्यादेव हीयते ॥ ३१५, १०॥

- (३) सुवासिनी कुमारीश्च  
रोगिणी गर्भिणी स्त्रिय ।  
अतिघिम्योऽप्र पत्नैतान्  
भोजयेदविचारयन् ॥  
भुक्तवत्स्यथ त्रिमेतु  
रवपु भृत्येषु चैव हि ।  
भुङ्क्षीयाता तन पश्चात्  
अघनिष्टन्तु दम्पती ॥ ३१९४, ३६॥

या० स्मृति०

- (१) एते जातकर्म च ॥  
अहन्येकादशे नाम  
चतुर्थे मासि निष्क्रम ।  
पष्ठेऽङ्ग प्राशन मासि  
चूडा कार्या यथाकुरुम् ॥

११९-१२॥

- (२) यदुप्यते द्विजातीना  
शूद्राहारोपसग्रह ।  
नैतन्मम मत यस्मात्  
तत्राय जायते स्वयम् ॥ ३१५॥

- (३) बाल स्ववासिनी वृद्ध-  
गर्भिण्यातुर कन्धका ।  
सम्भोज्यातिथि मृत्याश्च  
दम्पत्यो दोष-भोजनम् ॥ ३१९०॥

स्थल विशेष में याज्ञवल्क्य में मनु के मत का कुछ परिवर्तन भी किया गया है। उसके कुछ अष्टान्त अधो-लिखित हैं—

म० स्मृ०

(१) गर्भाष्टमेऽष्टमे कुर्वीत  
प्राज्ञणस्योपनायनम् ॥२॥३६

(२) एकोऽस्तुऽथस्तु साची इत्यान्  
८१७७॥

(३) अकामतः कृतस्यापं  
वेदाभ्यासेन शुभ्यति ।  
कामतस्तु कृतं मोहान्  
प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ १११४६॥

(४) रेतः-सेकः स्वयोनीषु  
कुमारीष्वन्यजासु च ।  
सद्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु  
गुरुतपसमं त्रिभुः ॥ १११५८॥

या० स्मृ०

(१) गर्भाष्टमेऽष्टमे याऽष्टे  
प्राज्ञणस्योपनायनम् ॥११४॥

(२) उभयानुमतं साची  
मयत्येकोऽपि धर्मवित् ॥ ११७२॥

(३) प्रायश्चित्तैरपेत्येनो  
यदज्ञानकृतमभवेत् ।  
कामतो व्यवहार्यस्तु  
यचनादिह जायते ॥ ११२२६॥

(४) सति-भार्या कुमारीषु  
स्वयोनिष्वन्यजासु च ।  
मगोत्रासु सुरा स्त्रीषु  
गुरुतप्य समं त्रिभुः ॥  
पितुः स्वसारं मातुश्च  
मातुलानीं हनुषामपि ।  
मातुः सपत्नीं भगिनीम्  
आचार्यतनयो तथा ॥  
आचार्य-पत्नीं स्व-सुतां  
गर्भस्तु गुरु-तपसाः ॥

११२३१-३३॥

कुछ स्थान में मनु में साधारण वैभवं भी है। उदाहरण के लिए 'ब्रह्म हत्या-सम' तथा 'सुरा-पान-भ्रम' कथों में मनु तथा याज्ञवल्क्य के परस्पर विभिन्न कथन को देते—

म० स्मृ०

(१) अनृतं च मसुरकथं  
राज-नामि च पैशुनम् ।  
गुरोर्ध्यालीक निबन्धः  
समाप्ति ब्रह्म हत्याया ॥ १११५०॥

(२) ब्रह्मोऽज्ञता वेदं निन्द्या  
कौट-नास्यं गुरुद्वयम् ।  
गर्हितानास्योर्जग्धः  
सुरापान-भ्रमानि च ॥ १११५६

या० स्मृ०

(१) निबिद्ध-भ्रमण जैष्ठ्यम्  
उत्कर्षं च यथेऽनृतम् ।  
रजस्यटा-गुण्यारवाद-  
सुरापान-समाप्ति तु ॥ ११२२९॥

(२) गुरुणामप्यधिसेषो  
वेदनिन्द्या गुरुद्वयम् ।  
ब्रह्म हत्या समं श्रेयम्  
अर्थातरस्य च नाशनम् ॥ ११२२६॥

इतनी समता या साधारण विषमता के अतिरिक्त दोनों में असाधारण विषमता भी दृष्ट-समाह्वय प्रायश्चित्त आदि में स्पष्ट उपलब्ध है। परन्तु देव-काल के अनुसार ही याज्ञवल्क्य स्मृति में यह परिचर्तन हुआ है—यही प्रतीत होता है। अतः परमाथत याज्ञवल्क्य स्मृति को मनुस्मृति का विप्रतीप कहना उचित नहीं है।

मनुस्मृति से अतिरिक्त अग्याम्य प्राचीन धर्मशास्त्र के मत का भी यथोचित साक्षिवेश याज्ञवल्क्य स्मृति में हुआ है, परन्तु विस्तर मग से यहाँ उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं। बहुत से उदाहरण तो याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्याओं के अवलोकन से भी स्पष्ट हो जाते हैं दोनों की तुलना करने पर तो कुछ कहना ही नहीं है।

विषय विन्यास की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य स्मृति बहुत ही प्रशस्त है। सर्वेषु में अधिक अर्थ को अभिव्यक्ति इसको विशेषता है। जहाँ मनुस्मृति में १७०० श्लोक हैं वहीं या० स्मृ० में केवल १००९ ( मिताशरा कार के अनुसार ) श्लोक हैं। मनुस्मृति का विषय विन्यास स्पष्ट होने पर भी यहूधा सङ्गीत ही गया है जब कि या० स्मृ० में सङ्गीतता का सर्वथा अभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। मनुस्मृति में वर्णन के प्रसङ्ग में निदर्शन आदि का पुट अधिक है जो या० स्मृ० में प्रायश नहीं मिलता है। सृष्टि प्रक्रिया आदि कुछ विषयों की तो या० स्मृ० में कोई खया ही नहीं है जब कि म० स्मृ० में पूरा प्रथम अध्याय सृष्टि प्रकार के वर्णन में ही पर्यवसन्न हुआ है। मनुस्मृति में पुनरुक्ति भी बहुत है। कुछ निदर्शन निम्न लिखित हैं —

- १ वेदोऽखिलो धर्म मूल स्मृति-शीले च तद्विदाम् ।  
आचारर्षेय साधुनाम् आत्मनस्तुष्टिरय च ॥ २।१६ ॥  
वेद स्मृति सदाचार स्वस्थ च प्रियमात्मन ।  
पुत्रशतुर्बिधमग्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ २।१२४

तथा,

- अलब्ध चैव लिप्सेत लब्ध रक्षेत्प्रयत्नत ।  
रक्षित धर्मैश्चैव शृद्धिपात्रेषु नि क्षिपेत् ॥ ७।१९९ ॥  
अलब्धमिच्छेत् ०५ न लब्ध रक्षेदवक्षया ।  
रक्षितधर्मैश्चैव शृद्धिपात्रेषु नि क्षिपेत् ॥ ७।१०१ ॥

अतः विषय में मन्वर्धानुगामिनी तथा प्रतिपादन में सचित किन्तु पुनरुक्त-सारिणी तथा देव-काल पात्र की ध्यान में रक्षक निर्णय करने वाली या० स्मृ० का मनी स्मृतियों में विदित स्थान है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति क व्याख्याकार

विश्वरूप—( ७।०—१००० इ० )

याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकारों में सर्वप्रसिद्ध तथा सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्याकार विश्वरूपार्य हैं। इनकी व्याख्या का नाम 'वाग्मीदा' है जिसका

प्रकाशन महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के द्वारा 'त्रिवेन्द्रम सरकृत ग्रन्थमाला' से हुआ है। यह व्याख्या दो भागों में प्रकाशित हुई है। व्याख्या की भाषा अत्यन्त मनोहर है। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को, विशेषत आचार तथा प्रायश्चित्त अध्यायों में, विश्वरूप ने विश्वरूप बना दिया है। इसीलिष्ट मिताचराकार ने प्रारम्भ में ही इनका ससम्मान निर्देश किया है—

“याज्ञवल्क्य मुनि भाषितम्मुद्गु विश्वरूप विकटोक्तिविरचुतम्” ॥

( मिताचरा० आचार० श्लो० २ )

याज्ञवल्क्य के समर्पण के लिए ( यत्र तत्र अपने विमत के समर्पण के लिए भी ) विश्वरूप ने वेदों से तथा अनेक स्मृतियों एवम् गृह्यसूत्रों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। स्थान स्थान पर मिताचराकार का मत भी इनसे भिन्न है। यद्यपि इन्होंने 'अ-ने', 'अ-पर', 'यत्तु' आदि शब्दों से अपने से प्राचीनतर व्याख्याकारों का भी निर्देश किया है तथापि किसी का नाम स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ है। विश्वरूप की प्रवृत्ति भीमासा की ओर अधिक है। अनेकदा वैमिनि के सूत्रों का इन्होंने उद्धरण किया है। इनका समय महामहोपाध्याय काणे के अनुसार ७५० ई० से लेकर १००० ई० तक माना गया है।

विज्ञानेश्वर ( १०००—१११५ )

विज्ञानेश्वर की ऋजु मिताचरा समस्त धर्म-साहित्य में अद्वितीय है। महामहोपाध्याय काणे का कथन है—

Its position is analogous to that of the महाभाष्य of पतञ्जलि in grammar or to that of the काव्य प्रकाश of मम्मट in poetics

( History of Dharma P. 287 )

भारतशासन काल में तो मिताचरा का बड़ा ही महत्व था। इसी के आधार पर न्यायालय में दायभाग आदि का निर्णय किया जाता था। यदि यह कहा जाय कि मिताचरा के कारण याज्ञवल्क्य-स्मृति का भी महत्व कुछ अधिक हो गया तो अत्युक्ति न होगी। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को परिष्कृत करने के लिए इन्होंने अनेक स्मृतियों, पुराणों तथा वैदिक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। स्मृतिकारों का निर्देश तो विश्वरूप की तुलना में ऋजुगुण है—ऐसा बड़ा या सफ़ता है। ये भीमासा के बड़े ही प्रकृष्ट पण्डित प्रतीत होते हैं। यस्तुत धर्मशास्त्र के मर्म को जानने के लिए भीमासा का विशद ज्ञान अनिवार्य है। इन्होंने 'यथाकामी भवेद्वापि' ( या० ब्र० ११८१ ) श्लोक की व्याख्या में विधि का विमर्श बहुत ही तार्किक युक्ति से भीमासा शास्त्र के अनुसार प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार ११८६, २११४, २१२६ आदि श्लोकों की व्याख्या में भी उनके भीमासा राष्ट्रीय धैर्य का उत्कर्ष देता आ सकता है।

इनका जन्म भारद्वाज गोत्र में हुआ था। इन्होंने अपने पिता का नाम परनाम भट्टोपाध्याय बतलाया है। गुरु के विषय में इनका निर्देश है—

उत्तमोपपदस्यैय निप्यस्य श्रुतिराभन ।

इस श्लोक के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनके गुरु का नाम उत्तमात्मा अथवा आत्मोत्तम रहा होगा।

इन्होंने अपनी मिताक्षरा में विक्रमादित्य देव को अपने आश्रयदाता के रूप में निर्दिष्ट किया है। विक्रमादित्य देव का वर्णन 'विक्रमाशुदेव-चरित' महाकाव्य में महाकवि विश्वरूप द्वारा विशद रूप में वर्णित है। "विक्रमाशुदेव-चरित" के सम्पादक म० म० पं० रामावतार पाण्डेयजीने अपनी भूमिका में चालुव्यवशीय विक्रमादित्य का समय १०७६ से १११६ ई० के बीच माना है। अतः विज्ञानेश्वर का भी समय वही होना चाहिए।

### अपरादित्य ( द्वादश शतक-पूर्वार्ध )

या० स्मृ० पर तीसरी व्याख्या अपराक है। यह व्याख्या मिताक्षरा से विस्तृत तथा धर्म-शास्त्र के सिद्धान्तों का आधार है। भातन्दाधर्म संस्कृत ग्रन्थावली, पूना से १९०३-४ में दो भागों में यह प्रकाशित हुई है। इस व्याख्या में पुराणों से बहुत ही उद्धरण किये गए हैं। पुराणों से अतिरिक्त गौतम आदि धर्म-शास्त्रों से भी बहुत प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। इनका जन्म-समय १११५ से ११३० ई० के मध्य में माना जाता है। इनके पिता का नाम अनन्त देव तथा पितामह का नागार्जुन था। ये जीमूतवाहन के वंश में उत्पन्न हुए हैं, जैसा या० स्मृ० की व्याख्या के अन्त में इनके लेख से स्पष्ट होता है—'इति श्री-विद्याधरवशमभवश्रीशिलाहार नरेन्द्र-जीमूतवाहनाम्बयप्रसूत धीमदपरादित्य देव'.....'। एक दूसरे अपरादित्य देव भी हुए हैं जिनका जन्म समय ११८४-११८७ ई० काणे के कथनानुसार या० स्मृ० के व्याख्याता प्रथम अपरादित्य देव ही है। कहीं-कहीं इनका नाम केवल आदित्यदेव भी पाया जाता है। भातर्वाह के व्याख्यान पर भी इनकी एक शृङ्खला—व्याख्यान-वली है, जो १९११ ई० में मद्रास से प्रकाशित हुई है। इनके विषय में विशेष विवरण के लिए डा० काणे का History of Dharmas'astram ( PP. 325-334 ) देखना चाहिए।

### शूलपाणि ( १२०५-१४९० ई० )

शूलपाणि पत्राल के धर्म शास्त्रीय-नियन्त्रण-कारों में प्रमुख माने जाते हैं। इन्होंने या० स्मृति की टीका लिखी। इस टीका का नाम 'दीप-चलिका' है। यह व्याख्या अत्यन्त-सविष्ट होने पर भी प्रामाणिक है। यही कारण है कि वीर-मिश्रोदय तथा अष्टाधिकाति-रूप आदि प्रामाणिक नियन्त्रणों में इनके मत का उल्लेख है। ये साहुदियाल वंश के यज्ञीय ब्राह्मण थे। प्रो० काणे के निर्देशानुसार, यदलालसेन के राज्य-काल से राष्ट्रीय ब्राह्मणवर्ग के निम्न-तर वर्गीय ब्राह्मण ही साहुदियाल कहलाते हैं। यदधर के द्वारा 'गौड़ीय' शब्द से निर्दिष्ट होने के कारण इनका यज्ञीयत्व माना जाता है। इनका समय प्रो० काणे तथा जगन्नाथ रघुनाथ धारपुरे के अनुसार १४ शतक के अन्त तथा १५ शतक के मध्य के बीच



## मित्र-मिथ ( १८०० ई० )

मित्र मिथ के नाम से प्रसिद्ध 'वीरमित्रोदय' व्याख्या विशाल-काय तथा प्रमेय बहुल है। मित्र मिथ का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है, क्योंकि आनन्द चम्पू में इन्होंने इसके निर्माण-काल का उल्लेख किया है—

'मीनारोहिणि-रोहिणी-सहचरे कृत्वाऽन्तिके रेवतीं  
याते चण्ड-मरीचि-मालिनि तुला घारे च वाचस्पते ।  
शाके द्याङ्गुगतर्तुभू ( १९९० ) परिमिते आनन्दकन्दामिषां  
चम्पूरूपरितवान् सित-स्मर-तिथौ धीमित्र-मिथ. कृती ॥'

अतः इनका समय यदि १८ शतक का मध्य-भाग माना जाय तो कुछ अनुपपत्ति नहीं दीयती है।

इनकी व्याख्या में अनेक स्मृति तथा पुराणों का उद्धरण तथा विवेचन मिलता है, जिनसे इनके विद्या-बैभव का पता चलता है। परन्तु यह विषय ध्यान देने योग्य है कि यह व्याख्या इनकी अपनी लिखी हुई नहीं है अपितु किसी सदानन्द नाम के जिद्वान् ने मित्र मिथ के अनुरोध से इसका सम्पन्न किया था और मित्र मिथ के नाम से ही इसे प्रकाशित किया। इसके सम्बन्ध में धी० मि० ( या० स्मृ० व्याख्या ) में उद्धरित निम्नलिखित श्लोक है—

उत्तमस्तीरगुप्ते अग्लि-युध-गुरु धीसदानन्दपीमान्  
धीमात्रो मित्रमिथाऽऽगदुपहृतये विभ्रव्देवदीपम् ।  
जागानान्दैग्य-दोषापहमवलि-भय वाञ्छवक्षयोक्तिरोशात्  
दृष्ट्वा स्मृत्यर्षसारां समपिनुत यतो धर्म-रूपमी-विहारम् ॥

( या० स्मृ० व्या० भा० अ० मङ्गल श्लो० ११ )

जो कुछ भी हो, वीर मित्रोदय व्याख्या के महत्व का अपलाप तो कथमपि नहीं किया जा सकता। धर्मशास्त्र-ज्ञान में परिभ्रमण करने की इच्छा रखने वाले साधन के लिए तो यह व्याख्या विशेषतः उपयोगी है।

## प्रस्तुत-संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में आधुनिक युग के नियोग को ध्यान में रखकर मूल स्मृति का हिन्दी-अनुवाद समन्वित कर दिया गया है, जिससे सस्कृत के प्रगाढ़ ज्ञान से रहित जिज्ञासुजन का भी अभिप्राय पूर्ण हो सके। साथ ही जिज्ञानेतरपरी की मिताक्षरा, जिसका महत्त्व प्रायः तथा पाश्चात्य-दोनों ही दृष्टियों से अनुपम है, का समावेश कर दिया गया है जिससे प्राचीन तथा मपीन का सह-योग प्रकाशित होता रहे।

भाषा है विद्वज्जन इस नवीन संस्करण का यथोचित स्वागत कर चौखम्बा प्रकाशन के अप्यक्ष को प्रोत्साहित करेंगे जिससे ये इसी तरह संस्कृत तथा संस्कृतज्ञ की सेवा में स्रोत्साह तत्पर रह सकें।

मति-यान्धादनुचिताः सम्भवन्ति पदे पदे ॥

तथापि ते नहि पदं लभन्ते महतां हृदि ॥ १ ॥

तुच्छोऽप्यवस्थातुमर्हः प्रकाशः सवितुर्मुखे ॥

अन्धं तमो महदपि न कदाचिदपीत्यलम् ॥ २ ॥

—श्री नारायणमिश्रः

# भूमिका

## स्मृति साहित्य

भारतीय धर्मशास्त्र में वैदिक धर्मसूत्रों के उपरान्त स्मृतियों आती हैं। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित आचार को धर्म बताया गया है (श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः, यज्ञियधर्मसूत्र, १. ४-६) श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है और स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ईश्वरप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट यादृश्य से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। उपर्युक्त अर्थ में धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ हैं। ("श्रुतिस्तु वेदो विशेषो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः", मनु० २. १०)। श्रुति श्रवण, मनन और अध्यापन का विषय है; स्मृति स्मरण का विषय है और परम्परागत धार्मिक साहित्य है। संकीर्ण अर्थ में स्मृति और धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।

वैदिक साहित्य में हम सूत्रों के अन्तर्गत श्रौतसूत्र या श्रुति पर आधारित सूत्रों का विभाजन पाते हैं। "श्रौतसूत्रों के साथ ही साथ हम दूसरे प्रकार के यज्ञसूत्र भी पाते हैं, जिन्हें गृह्यसूत्र कहा गया है। ये गृहस्थजीवन की उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं जो जन्म, जन्म के पूर्व, विवाह, मृत्यु और मृत्यु के बाद के अवसरों पर की जाती हैं। इन रचनाओं की उत्पत्ति उनके नाम से ही पर्याप्त रूप में प्रकट हो जाती है, कारण गृह्यसूत्र के अतिरिक्त उनका नाम स्मार्त-सूत्र या स्मृति पर आधारित सूत्र भी है। स्मृति का अर्थ वह है जो यादृ क्रिया जाने योग्य हो। इस प्रकार हम स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण के विषय से स्पष्ट रूप से भेद कर सकते हैं, कारण, स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर दृष्टि डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।"

इसी विद्वान् ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय लोग विधि का व्यवहार "स्मृति द्वारा ही" "अथो ग्नीमिस" किया करते थे।<sup>१</sup>

संयुक्त अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। मनुस्मृति सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गई थी। अन्य स्मृतियाँ ४०० से १००० ई० के बीच की हैं। स्मृतिकारों की संख्या विस्तृत है।

१. भारतीयसाहित्य, मनु० उदयचन्द्र पाण्डेय, पृ० ११।

२. वही, पृ० १४

स्मृतियों प्रायः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से स्मृतियों धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। स्मृतियों की भाषा लौकिक है। विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियों धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं।

मुख्य स्मृतिकार १८ हैं—मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशनस्, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत।

इनके अतिरिक्त उपस्मृतियों के भी लेखकों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः शौनकः क्रतुः ।  
 घौषायनो जातुकर्ष्यो विश्वामित्रः पितामहः ॥  
 जायालिनाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाचिकश्यपौ ।  
 श्यासः सनत्कुमारश्च शास्त्रमुज्ज्वलस्तथा ॥  
 श्यामः कार्यायनश्चैव जातुकर्ष्यः कविञ्जलः ।  
 यौषायनश्च कणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।  
 वैटीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः ॥

वीरमिश्रोद्भव, परिभाषा प्रकरण के अनुसार स्मृतिकारों की संख्या २१ है और वे हैं—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।  
 विष्णुः कार्णाजिनिः सायमतो गार्ग्यश्च देवलः ॥  
 जमदग्निभारद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।  
 आश्रेयश्च गवेयश्च भरीचिर्यत्स पृथ च ॥  
 पारशरश्चर्ष्यश्चैव वैजयापस्तथैव च ।  
 हत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः ॥

वर्षों स्मृतिकारों ने दूसरे स्मृतिकारों का उल्लेख किया है और उनकी संख्या का अपने ज्ञान के अनुसार निर्देश किया है। मनु ने ६ के, याज्ञवल्क्य ने २० के, पराशर ने १९ के नाम गिनाये हैं। स्मृतियों की संख्या के विषय में भिन्न प्रकार की सूचनाएँ मिलती हैं। जैसा कि प्रो० वाणे ने निष्कर्ष निकाला है—'यदि बाद में आनेवाले निबन्धों, यथा निर्णयसिन्धु, भीष्मक, एवं वीरमिश्रोद्भव की मधुल सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या १०० हो जायगी।'।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जो स्मृतियों उपलब्ध हैं उनकी संख्या अपेक्षाया कम है। अनेक स्मृतियों की केवल व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। साथ ही स्वरूप तथा शैली की दृष्टि से भी वे स्मृतियों भिन्न हैं।

### याज्ञवल्क्यस्मृति

स्मृति साहित्य में मनुस्मृति के बाद दूसरी महत्वपूर्ण स्मृति है याज्ञवल्क्य-स्मृति। कुछ दृष्टि से तो—याज्ञवल्क्यस्मृति का मनुस्मृति की अपेक्षा भी अधिक

व्यावहारिक महात्त्व है। याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है यह बात विषयवस्तु के कारण तो स्पष्ट है। हों और भी अनेक विशिष्ट तथ्यों के कारण भी स्पष्ट है। इसमें विषयवस्तु का विधिवत् विभाजन किया गया है। गणेश और प्रहो की पूजा भी इस स्मृति की विशेषता है। दान से सबद कर्मों का ताम्रपत्र

लिखित विचार व्यक्त किये हैं 'जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं, और विशिष्ट उदाहरणों में, जहाँ दोनों में दोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्ट वाद के समय का है।'

मनु ने व्यवहार के जितने प्रमाण गिनाये हैं उन्हीं अपेक्षा याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखित ताम्रपत्र अधिक गिनाया गया है। मनु ने दिव्यों के अन्तर्गत अग्नि और जल के दो दिव्यों का वर्णन किया है जब कि याज्ञवल्क्य ने पाँच दिव्यों का वर्णन किया है। दार्शनिक विषयों के विवेचन में याज्ञवल्क्य और मनुस्मृति में समानता है, किन्तु भ्रूणविज्ञान याज्ञवल्क्यस्मृति में नर्थात विषय है, जिसे कथि ने किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ से लिखा हुआ माना है।

याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा छोटी है। मनुस्मृति में २००० श्लोक हैं, जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति में लगभग एक हजार श्लोक हैं। शैली की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति सजिप्त है और प्रयादमय है। प्रो० काणे ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के रचयिता के सामने रचना करने समय मनुस्मृति रही होगी, कारण अनेक श्लोको पर दोनों स्मृतियों में समान वाक्य पाये जाते हैं।

किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है याज्ञवल्क्य एक मौलिक विचारक और धर्मशास्त्रकार हैं। ये पहले के आचार्यों का विष्टपण मात्र नहीं करते, अपितु देशकाल के परिवर्तनों के साथ परिवर्तित मान्यताओं को प्रस्थापित करते हैं और अपने पूर्ववर्ती मनु से कई श्लोको पर सहमत नहीं होते। भाषा की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति पाणिनि के नियमों का पालन करती है। एकाध वाक्य अपवाद भी मिल जाते हैं।

पूर्ववर्ती साहित्य से संयोग—

याज्ञवल्क्यस्मृति में वेद, वेदांगों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, इतिहास, मारांसी के साथ-साथ स्वयं याज्ञवल्क्यप्रणीत शृद्धारण्यक और योगशास्त्र का उल्लेख है। आरम्भ में उन्नीस धर्मशास्त्रकारों के नाम गिनाये गये हैं।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रात्मिका ।

वेदा रथनानि विद्यानां धर्मस्य च अनुर्दश ॥

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाशुवल्क्ययोशनोऽङ्गिराः ।

यमापस्तम्बसंवर्ता. कात्यायनबृहस्पती ॥

पराशरग्यासश्दुलिखिता दशगौतमौ ।

शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ १. ३-५ ।

आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शनशास्त्र एवं दण्डनीति का उल्लेख भी हुआ है—

स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।

विनीतरत्नश्च वार्तायां ऋष्यां चैव नराधिपः ॥ १. ३११ ।

सूत्रों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों का नामतः उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु सामान्यतः इनकी चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति में मिलती है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति में शुक्लयजुर्वेद की याज्ञसनेयी-संहिता के अनेक मन्त्रों का उल्लेख है और विवेचित विषयों की दृष्टि से पारस्करगृह्यसूत्र से भी इसका संबन्ध है । पौ० काणे के अनुसार “स्मृति के कुछ अंश गृहदारण्यकोपनिषद् के केवल अन्वय मात्र हैं ।” इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति का संबन्ध याज्ञवल्क्य के नाम से रचात रचनाओं के साथ तथा शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा के साथ भी दिखाई पड़ता है ।

गरुडपुराण और अग्निपुराण में याज्ञवल्क्यस्मृति के समान बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं । शंखलिलितधर्मसूत्र में भी याज्ञवल्क्य का उल्लेख है । विद्वानों का विचार है कि याज्ञवल्क्यस्मृति का मुख्य स्मृतिभाग ७०० ई० से अपरिवर्तित चला आ रहा है ।<sup>१</sup>

याज्ञवल्क्यस्मृति का समय—

याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में घेरेर का मत है : “इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ई० के आसपास की मानी जा सकती है, कारण, इसमें मुद्रा के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग है और जैसा कि विद्वान ने अनुमान किया है यह शब्द घनेकिक के सिक्कों से लिया गया है, जिसने ४० ई० में दाखल किया था । दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठी या सातवीं शताब्दी रची जा सकती है, कारण, विद्वान के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत में अनेक भागों में शिलालेखों में उद्धृत किया गया है ।<sup>२</sup>

दाकोवी ने याज्ञवल्क्यस्मृति का समय बारह शतों की संख्या के आधार पर षण्ठे शताब्दी ई० के बाद माना है ।<sup>३</sup>

पौ० काणे ने याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके अनुसार इस स्मृति के समय की निचली सीमा नहीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती । कारण—

२. काणे, बही, पृ० ५२ ।

१. भारतीय साहित्य, अनु० उदयचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७८ ।

३. बही, पृ० २७८, टिप्पणी २ ।

- १ टीकाकार विश्वरूप नवीं शताब्दी के हैं ।
२. विश्वरूप ने अपने पहले के कई आप्ताकारों का उल्लेख किया है, जिन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीकाएँ लिखी हैं ।
३. शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति ३. २२६ का निर्देश किया है ।

अतः 'याज्ञवल्क्यस्मृति' को हम ई० पू० पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के बीच कहीं रख सकते हैं ।'

वर्णित विषय—

याज्ञवल्क्यस्मृति का आरम्भ मुनियों के प्रश्न से होता है । योगीश्वर याज्ञवल्क्य मिथिला को सुनोभित कर रहे थे । मुनियों ने उनकी पूजा की और कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरे (अनुलोम, प्रतिलोम, संकर जातियों) का धर्म हमें पूरी तरह से समझाइये ।

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।

धर्माश्रमेतराणां सो ब्रूहि धर्मानुपेतः ॥ ११॥

और तब याज्ञवल्क्य उस देश में किये जाने वाले धर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिस देश में काले मृग स्वच्छन्द विचरण करते हैं ।

परिमन् देतो मृगः कृन्मरत्तरिमन्धर्मास्त्रिवोधत ॥

इस उपक्रम के बाद याज्ञवल्क्यस्मृति आरम्भ होती है, और बीच-बीच में पृथ्वाल्ह मुनिगण शब्द करते हैं जिनका समाधान याज्ञवल्क्य करते चलते हैं । यह स्मृति लगभग समान विस्तार के तीन अध्यायों में विभक्त है ।

संक्षेप में इस स्मृति में वर्णित विषयों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

आचाराध्याय—चौदह विधाय, एवं धर्म के उपादान । संस्कार-जन्म से विवाह तक । उपनयन और उसका समय । ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं निषिद्ध कर्म । विवाह, विवाह की योग्यता, सविष्ट संबन्ध का नियम । अन्तर्जातीय विवाह, भाट प्रकार के विवाह । पेत्रञ्ज पुत्र और पुनर्विवाह । गृहस्थ के कर्तव्य । पंच महायज्ञ, भतिषि सात्कार, मधुपर्क । चारों वर्णों के कर्तव्य । आचार के दस सिद्धान्त, गृहस्थ की जीवनवृत्ति । इनातक के कर्तव्य । अनध्याय, भ्रष्टाचार का नियम, पवित्रीकरण के नियम । दान के नियम, पात्र एवं वस्तुएँ । द्याद के नियम, इसका समय, द्याद में सुलाने जाने योग्य प्राहाण, भ्रातृ की विधि एवं दग्निता । प्रद क्षान्ति । राजधर्म और दण्ड ।

श्वभद्राध्याय—न्याय करने वाले व्यक्ति, न्याय करने वाली परिपद् के सदस्य । जमानत, ब्याज की दर, ऋण, धन्यक के प्रकार । साक्षी की पात्रता, दापय, लेगप्रमाण । दिव्य । धन का विभाजन, दूरी का भाग, पुत्रों के प्रकार और

उनमें विभाजन के नियम, स्त्रीधन, स्वामी और श्रृत्य के विवाद, दास्य के नियम । मजदूरी । जुवा, मानहानि और प्यभिचार आदि जैसे अपराधों का दण्ड ।

प्रायश्चित्ताध्याय-अशौच के नियम, श्रुत के संस्कार, तर्पण । जन्मविषयक अपवित्रता । विपत्ति में आचार और जीविका निर्वाह । वानप्रस्थ के नियम, यति के नियम । गर्भ में दिशु का विचार और मानव शरीर रचना, आत्मा का जन्म क्यों ? योगी की अमरता का रहस्य । आत्मज्ञान के साधन । रोगव्याधियों, नरक, महापातक, उपपातक और इनके प्रायश्चित्त । दस 'यम एवं नियम । सान्त्वयन, महासा-तपन, ऐतच्छुष्य, पराक, चान्द्रायण, एवं अन्य व्रत ।

**टीकाकार और संस्करण—**

याज्ञवल्क्यस्मृति पर मुख्य चार टीकाकारों की टीकाएँ हैं, वे हैं : विवररूप, विज्ञानेश्वर, अपराकं और शूलपाणि । विवररूप की याल्क्रीडा नाम की टीका गणपतिशास्त्री ने त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित की है । मिताक्षरा में इस टीका का उल्लेख है । विवररूप का समय ७५० ई० तथा १००० ई० के बीच का है । विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । इसके विषय में म० म० काने ने टीका ही कहा है : "यह ग्रन्थ जतना ही प्रभावशाली माना जाता रहा है जितना व्याकरण में पतंजलि का महाभाष्य एवं साहित्यशास्त्र में मम्मट का काव्यप्रकाश । विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के उदाहरण दो सहस्र वर्षों से चले आये हुए मतों का सारतत्त्व ग्रहण किया और ऐसा रूप सजा किया जिसके प्रकाश में अन्य मतों और सिद्धान्तों का विकास हुआ ।" इस टीका की रचना का समय १०७०-११०० ई० का माना जाता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर तीसरी प्रमुख टीका अपरादित्य की है । यह जानन्दाश्रम प्रेस पूना से प्रकाशित है और अपराकं-धर्मशास्त्र-निबन्ध नाम से अभिहित है । मिताक्षरा की अपेक्षा यह यही है और इसमें अन्य धर्मग्रंथों एवं स्मृतियों से बहुत अधिक उद्धरण लिए गये हैं और पुराणों के अन्त भी उद्धृत किये गये हैं । अपराकं की तिथि ११००-१२०० ई० के बीच होने का अनुमान किया जाता है । शंगाल ३ धर्मशास्त्रकार शूलपाणि की टीका है दीपकलिका, जो छोटे आकार की है । इसमें मिताक्षरा और विवररूप के मतों का उल्लेख है । शूलपाणि का समय चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद से आरम्भ कर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच माना जा सकता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक संस्करण हुए हैं । प्रमुख हैं : निर्णयसागर संस्करण, त्रिवेन्द्रम संस्करण और जानन्दाश्रम संस्करण । इन संस्करणों में श्लोकों की संख्या में कुछ भिन्नता है ।

### याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्यस्मृति का अन्वय याज्ञवल्क्य ऋषि से है । वैदिक ऋषियों की परम्परा में याज्ञवल्क्य का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके अनुसार याज्ञवल्क्य



मुम्बयत शास्त्रज्ञसुवेन्द और शतपथब्राह्मण के दृष्टा हैं। शतपथब्राह्मण में भी याज्ञवल्क्य के विषय में अनेक ओखियाँ आवे हैं और इनमें याज्ञवल्क्य के विचारों की मान्यता ही गयी है। १११३।१२ में व जनक को अग्निहोत्र यज्ञ समझाते हैं और स्वयं जनक से गूढ़ यज्ञिय क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। १११६।३ में याज्ञवल्क्य और द्वापत्यय क शाखार्थवियाद का वर्णन है, जिसमें देवताओं की सकृदा के विषय में विचार किया गया है और अन्त में याज्ञवल्क्य के पक्षेश्वर-पाद के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। परन्तु याज्ञवल्क्य अपने प्रतिद्वन्द्वी शारदय को उनकी दृग्भूमि के कारण क्षीण गुरु प्राल वरने का शाप देते हैं। याज्ञवल्क्य को अनेक यज्ञों का उद्घोषण माना गया है। शतपथब्राह्मण के अनिर्दिष्ट याज्ञवल्क्य का नाम किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ में नहीं आता। शाखापत्त आरण्यक में दो स्थलों पर याज्ञवल्क्य का उल्लेख है किन्तु उन जगहों को 'विद्वानां' में शतपथब्राह्मण से उद्धृत माना है।

याज्ञवल्क्य सुबल सुवेन्द, शतपथब्राह्मण तथा गृहदारण्यकोपनिषद् के प्रणेता या उद्घोषक थे इन विषय में प्रायः सम्बद्ध स्पष्ट किया गया है। दृष्टल पञ्चवेद की सहिता याज्ञसनेवी-सहिता कहलाती है और यह नाम याज्ञवल्क्य की उपाधि याज्ञसनेय के आधार पर पडा है। यदि याज्ञवल्क्य इस सहिता के उद्घोषक न भी हों तो भी उन्हें सकलानन्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण का भी प्रचुर अन्त सीधे याज्ञवल्क्यरचित है और शेष अन्त को आधुनिक रूप देने के लिए उनका नाम सबद्ध कर दिया गया है, ऐसी सम्झना की जाती है। अन्त जमा कि ज्ञ० ब्राह्मण में कहा है, "यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि शतपथब्राह्मण की रचना उनके अधीनस्थ या उनके शिष्यों द्वारा की गयी थी।"

शतपथब्राह्मण से सबद्ध गृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य पून पदक्रिया के आचार्य की अपवा दानानि क रूप में दिखायी पड़ते हैं। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्यीय कण्ठ नाम का अन्त विशय रूप में उल्लेखनीय है जिसमें याज्ञवल्क्य की प्रशंसा है और उनके अहमविषयक शान्तिक विचारों का समग्र है। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का पितृ प्रशार उल्लेख किया गया है इससे स्पष्ट है कि यह अनेक याज्ञवल्क्य की रचना न होकर उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा भी रचित है। विद्वानिस्त का इस विषय में यह मत है कि स्वयं गृहदारण्यकोपनिषद् में अन्य आचार्यों का भी उल्लेख है। इसके अनिर्दिष्ट याज्ञवल्क्य और सत्यचिन्तनप्रपञ्च इतने विभिन्न मतों को याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध किया गया है कि उन्हें इन सबका उद्घोषक स्वीकारना कठिन प्रतीत होता है।<sup>१</sup>

१ मैकडालन बर कीथ, वैदिक ब्राह्मण, भाग २, पृ० १८५।

२ ए एम्बेदकर कि। उनरी अफ हिंदू क एथोलोजी, पृ० १०२।

३ रिशरी अफ इन्डियन लिटरेचर, भाग २ पृ० २२६ रिप्ली।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।५।३ में उन्होंने मैत्रेयी को आत्मा के विषय में तथा अमरता के बारे में जो व्याख्यान दिये हैं वे भारतीय दर्शन में उत्कृष्ट बोटि के चिन्तन के परिचायक हैं। इस उपनिषद् के तीसरे और चौथे अध्यायों के प्रायः सभी ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य किसी न किसी आचार्य से दार्शनिक विवेचन करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जैसे जनक, भरवल, आर्तभाग, मुग्धु, कोहल, मार्गी, आरुणि या शाकल्य से।

महामारत में याज्ञवल्क्य युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित दिखाये गये हैं, यह कुछ विचित्र प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य-रचित एक योगशास्त्र का भी उल्लेख दूर्मपुराण १।२५-२० में मिलता है और विण्टरनिस्स का विचार है कि यह याज्ञवल्क्यगीता का निर्देश करता है जिसमें योग की व्याख्या की गयी है।

प्रश्न उठता है : क्या वैदिक परम्परा के ऋषि याज्ञवल्क्य ही प्रस्तुत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता हैं ? प्रश्न सकारण है। वैदिक ग्रन्थों की भाषाशैली से स्मृति की भाषा और शैली नितान्त भिन्न है और इनमें समय की दृष्टि से सामीप्य नहीं है, और शायद इसी तथ्य को दृष्टिगत करके मिताशरा टीका के लेखक विश्वानेधर ने स्पष्ट संकेत किया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संहित करके वर्तमान रूप प्रदान किया है। परन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य-स्मृति ( ३. ११० ) में इस बात की घोषणा की गई है कि इस स्मृति के प्रणेता आरण्यक अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् के रचयिता हैं और उन्हें पूर्व ज्ञान प्रदान किया, तथा वे योगी थे—

श्रेयं आरण्यकमहं यदादित्वाद्वाप्तवान् ।

योगशास्त्रं च मन्त्रोक्तं श्रेयं योगमभीप्सता ॥

याज्ञवल्क्य के साथ इस स्मृति का संबन्ध संभवतः इसे महत्ता प्रदान करने के लिए जोड़ा गया है। किन्तु एक बात निर्विवाद है और वह यह कि शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा से इस स्मृति का संबन्ध है, इस तथ्य पर यहाँ हमने याज्ञवल्क्यस्मृति का परिचय देते समय प्रकाश डाला है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१५ में याज्ञवल्क्य को उद्दालक आरुणि का शिष्य बताया गया है और राजा जनक के साथ इनके सवन्धों के कारण इन्हें विदेह का निवासी कहते हैं, किन्तु मैकडानल और कीथ के मत में यह सन्देहास्पद है—

‘Despite the legend of Jataka’s patronage of him, his association with Uddalaka, the Kaur Pancaśā reads this doubtful’

—वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १८९  
शतपथब्राह्मण के अन्त में ( १४।१।३।२९ आदि ) आचार्यों की जो सूची दी गयी है उसमें याज्ञवल्क्य ४९ वें स्थान पर आते हैं और उसमें भी उनके गुण का

नाम उद्दालक आरुणि है । जहाँ तक याज्ञवल्क्य के समय का प्रश्न है वे परवर्ती सहिताओं और ब्राह्मणों के काल के ऋषि हैं ।

किसी भी स्थिति में वे पाणिनि के पहले के हैं । याज्ञवल्क्यविषयक ब्राह्मणीय आख्यानो का विवेचन प्रस्तुत लेखक ने अपने शोधग्रन्थ 'द लेजेण्ड्स इन द शतपथब्राह्मण' में किया है ।

योगियाज्ञवल्क्य एव बृहद् याज्ञवल्क्य नाम की याज्ञवल्क्य की रचनाओं के विषय में डा० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में डेकन कालेज सम्प्रदाय की पाण्डुलिपियों का हवाला दिया है, जिनमें प्रथम में १२ अध्याय और ४९५ श्लोक हैं तथा दूसरे में १२ अध्याय और ९३० श्लोक हैं । बृहद्याज्ञवल्क्य नाम की स्मृति का भी उल्लेख मिलता है । इससे विरवरूप ने अपनी टीका में उद्धरण किए हैं । मिताक्षरा में भी इसका उल्लेख आया है ।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

# विषयानुक्रम

( टीका में विवेचित महत्त्वपूर्ण विषयों का भी निर्देश इस

विषयानुक्रम में किया गया है )

## १. आचाराध्याय

### ( १ ) उपोद्घातप्रकरण

मुनियों की जिज्ञासा	१
छः प्रकार का स्मार्त धर्म	२
धर्म के चौदह स्थान	३
धर्मशास्त्रकार ऋषि	४
धर्म के कारक हेतु	५
धर्म के श्रापक हेतु	६
देश आदि कारक हेतुओं का अपवाद	७
हेतुविषयक सन्देह का निर्णय	८

### ( २ ) ब्रह्मचारिप्रकरण

वर्ण	५
गर्भधान आदि संस्कार	६
सरकार करने का कल	७
स्त्रियों के संस्कार	८
उपनयन का समय	९
गुरु के धर्म	१०
शौच के नियम	११
प्राजापत्य आदि तीर्थ	१२
आचमन की विधि	१३
प्राणापान	१४
सावित्रीजप की विधि	१५
अग्निकार्य	१६
अभिवादन की विधि	१७
अभ्यापन के योग्य व्यक्ति	१८
दण्ड इत्यादि का धारण	१९
भिक्षाचरण की विधि	२०
भोजन का नियम	२१

ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध कर्म	१३
गुरु, आचार्य आदि के लक्षण	१४
उपाध्याय, ऋत्विक् के लक्षण	१५
ब्रह्मचर्य की अवधि	१६
उपनयन की समपत्तीमा	१७
द्विभारव का कारण	१८
वेदाध्ययन का फल	१९
काम्यब्रह्मचर्याध्ययन का फल	२०
पद्ममहायज्ञ का फल	२१
नैष्ठिक ब्रह्मचारी के धर्म	२२

### ( ३ ) विवाहप्रकरण

गुरुदक्षिणा के पूर्व का स्नान	२३
कन्या के लक्षण	२४
सपिण्ड का विचार	२५
कन्यावरण का नियम	२६
कन्यादान में घर के नियम	२७
द्विजातियों के लिए शूद्रा से	२८
विवाह वा निषेध	२९
अमुलोमविवाह	३०
आठ प्रकार के विवाह	३१
सवर्णा से विवाह में विशेषता	३२
कन्यादान देने वाले	३३
कन्याहरण का दण्ड	३४
कन्या के दोष का गोपन	३५
नियोग की विधि	३६
व्यभिचारिणी के लिए दण्ड	३७
स्त्रियों की पवित्रता	३८
दूसरे विवाह के हेतु	३९

पतिव्रता की प्रशंसा	३०	जीवनवृत्ति का चुनाव	५४
अधिवेत्ता के टिप्पण	"	श्रौतकर्म	५५
स्त्री के धर्म	"	यज्ञ के लिए हीनमिष्टा का निषेध	५६
शास्त्रानुसार दारसमूह का फल	३१	आर्थिक अवस्था का विचार	"
श्रतुकाल का समय	"	( ६ ) स्नातकधर्मप्रकरण	
स्त्रोगमन के लिए निषिद्ध दिन	"	स्नातक के घट	५७
श्रतुकाल के अतिरिक्त स्त्रोगमन	३२	स्नातक का राजादि धन लेना	५८
स्त्रियों का आदर	३५	शारीरिक पवित्रता	५९
स्त्रियों के कर्तव्य	"	स्नातक के औपचारिक कर्म	६०
प्रोपितपतिरा का कर्तव्य	३४	दान देने में दोष	६१
पतिहीना का कर्तव्य	३८	उपाकर्म का समय	"
अनेक परिणयों में सहधर्मिणी	"	उत्सर्जन का समय	६४
पत्नी की मृत्यु पर दूसरा विवाह	३९	अनप्याय के अरसर	"
( ४ ) घर्षजातिविवेकप्रकरण		औपचारिक कर्तव्य	६७
सजातिपुत्र	"	धर्माचरण का आधार	६९
अनुलोमविवाह से उत्पन्न पुत्र	४०	विवाद के परिणाम का फल	"
प्रतिलोमविवाह से उत्पन्न पुत्र	४१	दान का नियम	७०
जाति के उत्कर्ष का नियम	४१	दूसरे की वस्तु के उपयोग का निषेध	"
( ५ ) गृहस्थधर्मप्रकरण		अभोग्य अन्न	"
स्मार्त और श्रौतधर्म की अग्नि	४४	अन्नग्रहण के नियम का अपवाद	७२
गृहस्थ के धर्म	"	( ७ ) भद्र्याभक्ष्यप्रकरण	
योगवेम के लिए राजाश्रय	४५	निषिद्ध अन्न	७२
वेद आदि का जप	४६	कतिपय खासी खाद्य वस्तुएँ	७३
पञ्चमहायज्ञ	"	अपेय दूध	७४
भोजन कराने का क्रम	४७	मासभक्षण के लिए निषिद्ध पत्नी	७५
अतिथियों को भोजन कराने में	"	प्याज आवि का निषेध	७७
घर्ष का विचार	४८	मासभक्षण का अरसर	७८
पेड़पारी का सरकार	४९	यज्ञ के अतिरिक्त परशुध का फल	७९
मधुपर्क के पात्र	"	मास न खाने का फल	"
सायकालीन कर्तव्य	५१	( ८ ) द्रुठप्रशुद्धिप्रकरण	
धर्म, अर्थ, काम का संतुलन	"	सोने के पात्रों की शुद्धि	८०
मान्य व्यक्ति	५२	यज्ञिय पात्रों की शुद्धि	८१
मार्ग देने योग्य व्यक्ति	"	ऐपदुष्क पात्रों की शुद्धि	"
द्विजातियों के कर्तव्य	"	यज्ञों की सफाई	८२
गृह के कर्तव्य	५३	धृष्या की शुद्धि	८४
साधारण धर्म	५४	अन्न की शुद्धि	"

जल और मांस की शुद्धि का विचार	८७
पशुओं के मुख की शुद्धि-अशुद्धि	८८
मुत्र की शुद्धि	८९
आचमन के अक्षर	९०

## ( ६ ) दानप्रकरण

ब्राह्मणों का महत्त्व	९०
दान की वस्तुएँ	९१
दान के पात्र	९२
गोदान और उसका फल	९३
उभयतोमुखी गोदान	९४
गोदान के मुख्य कर्म	९५
दान न लेने की प्रशंसा	९६
अयाचित वस्तु को स्वीकार करना	९७
दाता के चरित्र का विचार	९८
वृत्तिनिर्वाह के लिए नियमापवाद	९९

## ( १० ) श्राद्धप्रकरण

श्राद्ध का अर्थ	१००
पार्वणश्राद्ध का स्वरूप	१०१
श्राद्ध के ब्राह्मण	१०२
श्राद्ध में वर्जित ब्राह्मण	१०३
पार्वणश्राद्ध का प्रयोग	१०४
आग्नीकरण	१०५
ब्राह्मण भोजन की विधि	१०६
पिण्डदान	१०७
अष्टश्रोतकदान	१०८
स्वधावाचन	१०९
ब्राह्मणप्रार्थना और विसर्जन	११०
वृद्धिश्राद्ध	१११
एकोद्दिष्ट कर्म	११२
सपिण्डीकरण	११३
एकोद्दिष्ट का समय	११४
भोग्यवस्तुओं का विशिष्ट फल	११५
श्राद्ध की तिथि के अनुसार फल	११६
नक्षत्र के अनुसार श्राद्ध का फल	११७
श्राद्ध के देवता	११८

## ( ११ ) गणपतिकल्पप्रकरण

विघ्न के कारक हेतु	१२६
विघ्न के ज्ञापक हेतु	१२७
विघ्न के प्रत्यक्ष लक्षण	१२८
विघ्न की शान्ति के लिए कर्म	१२९
स्नपन की विधि	१३०
उपस्थान के मन्त्र	१३१
ग्रहपूजा	१३२
महागणपति की पूजा का फल	१३३

## ( १२ ) महेशान्तिप्रकरण

ग्रहयज्ञ	१३४
नव ग्रहों के नाम	१३५
ग्रहों की मूर्तियों की धातुएँ	१३६
ग्रहपूजा की विधि	१३७
ग्रहपूजा के मन्त्र	१३८
ग्रहपूजा की समिधाएँ	१३९
नवग्रहों के भोजन	१४०
ग्रहपूजा की वस्त्राणा	१४१
हुष्टग्रहों की पूजा	१४२

## ( १३ ) राजधर्मप्रकरण

अभिषिक्त राजा का धर्म	१४३
राजा का मन्त्री	१४४
राजा का पुरोहित	१४५
राजा द्वारा ब्राह्मणों का सत्कार	१४६
राजा का लक्ष्य	१४७
भूमिदान का लक्ष्यकरण	१४८
लक्ष्यकरण की विधि	१४९
राजा का निवासस्थान	१५०
विभाग्य अर्घ्यकों की नियुक्ति	१५१
युद्ध में उपद्रव धन का दान	१५२
युद्ध में वीरगति	१५३
युद्ध में अवध्य व्यक्ति	१५४
राजा का दैनिक कार्यक्रम	१५५
राजा का विशेष व्यक्तियों से विशेष व्यवहार	१५६
प्रजापालन का फल	१५७
पीडित प्रजा की रक्ष	१५८

धर्मपूर्वक कोश की वृद्धि	१५१
दूसरे राष्ट्र की विजय का फल	"
परानित देश की मर्यादा का पालन	१५२
मन्त्रणा का गोपन	"
पड़ोसी राज्यों से सतर्कता	१५३
साम दान आदि उपाय	"
सन्धि और, विग्रह	१५४
आक्रमण करने का समय	"
द्वैव और पौरुष	"
मित्र की प्राप्ति की श्रेयता	१५५
राज्य के अङ्ग	१५६
दण्ड और धर्म	"
दण्डधरण की योग्यता	"
अनुचित दण्डप्रयोग का अधर्म	१५७
शास्त्रानुसार दण्डप्रयोग का फल	"
अधर्मा स्वजन भी दण्ड्य	"
उचित दण्डप्रयोग का पुण्य	१५८
असुरेणु, लिङ्गा, राजसर्प, गौरसर्प, मध्यमयव, कृष्णल, माप, सुवर्ण और पल का परिमाण	१५९
हयमाप, भरण, पल, निष्क, कर्प, पग	१६०
उत्तम, मध्यम, अधम साहस के लिए नार्थिक दण्ड की मात्रा	१६१
दण्ड के प्रकार	१६२
दण्डव्यवस्था के निमित्त	"

## २. व्यवहाराध्यायः

### ( १ ) साधारणव्यवहारमातृका प्रकरण

व्यवहार के मन्त्रासत्रों की योग्यता	१६४
राजा की अनुपस्थिति में धर्मज्ञ ब्राह्मण की नियुक्ति	१६५
धर्मविरुद्ध सभासदों को दण्ड	१६६
व्यवहार के विषय	१६६
व्यवहार की कार्यवाही	१६९
चार प्रकार का विवाद	१७४

### ( २ ) असाधारणव्यवहारमातृका- प्रकरण

प्रत्यभियोग	१७५
कलह और साहस के अपराध में अभिप्रयोग	१७६
अभियोग को छिपाने पर दण्ड	१७७
तत्कालिक निर्णय वाले वाद	१७८
दुष्ट साक्षी के लक्षण	१७९
साक्षियों का क्रम	१८०
सपणविवाद का निर्णय	१८१
दो धर्मशास्त्रवचनों में विरोध की स्थिति	१८३
लिखित, मुक्ति, साक्षी प्रमाण	१८४
दूसरे का कटजा होने पर अधिकार निर्णय	१८६
इसका अपवाद	१८९
लेख और भोग का विचार	१९२
आगम या लेख का उपयोग	१९३
व्यवहार देखने वाले अन्य व्यक्ति	१९४
पुनर्विचार के योग्य व्यवहार	१९५
असिद्धव्यवहार	१९५
ज्योती वस्तु के विषय में विचार	१९७
घोड़ों से छीने गये धन	१९९

### ( ३ ) शृणादानप्रकरण

श्याम की दर	१९९
शृण की वापसी	२०२
शृण भुगतान में जाति का विचार	२०३
शृण दिलवाने में रात्ता का अर्थ	२०३
शृण न लौटाने पर जाति के अनुसार कार्य	२०४
श्याम न लगने की स्थिति	"
शृणी की मृत्यु पर शृण भुगतान	२०५
न लौटाये जाने वाले दूसरे के शृण	"
श्रियो द्वारा लिखा गया शृण	२०६
श्री द्वारा देय शृण	"
पुत्र और पौत्र द्वारा देय शृण	२०७
प्रातिभाष्य का अर्थ	२११

अनेक प्रतिभू द्वारा ऋण भुगतान	२१३	लेख्य के ऋण की वापसी की	
प्रतिभू द्वारा स्त्री का धादान-प्रदान	२१४	आधि	२३८
वन्धक रस्ती वस्तु के प्रणष्ट होने का		दूसरा लेख्य लिखने की स्थिति	२३९
समय	२१५	सन्दिग्ध लेख्य की शुद्धि	२४०
व्याज न देने की स्थितियाँ	२१६	ऋण भुगतान पर लेख्य	२४१
आधिनाश पर दूसरी आधि की		( ७ ) दिव्यप्रकरण	
व्यवस्था	२१७	दिव्य और उसके भेद	२४२
वन्धक वापस न देने पर दण्ड	२१९	दिव्य के प्रयोग के पात्र और	
भोग्य आधि के त्रिपथ में त्रिचार	२२०	अवसर	२४३
( ४ ) उपनिधिप्रकरण		तुलादिव्य के लिए अयोग्य व्यक्ति	२४५
उपनिधि की परिभाषा	२२१	तत्काल, विष, तुलादिव्य की	
उपनिधि छौटाने के नियम का		अवस्था	२४७
अपवाद	२२२	तुलादिव्य के प्रयोग की विधि	
उपनिधि के भोग का दण्ड	"	और मंत्र	२४८
( ५ ) साक्षिप्रकरण		अग्निदिव्य के प्रयोग की विधि	
साक्षी के स्वरूप का निर्णय	२२३	और मन्त्र	२५३
साक्षी के भेद और योग्यता	२२४	जलदिव्य के प्रयोग की विधि और	
साक्षी होने के अयोग्य व्यक्ति	२२५	मन्त्र	२५६
साक्षी के विषय में नियम का		विषदिव्य की विधि और मन्त्र	२५९
अपवाद	२२६	कोशविधि	२६१
साक्षियों को उद्बोधन या उपदेश	२२७	तण्डुलविधि, तप्तमाषकविधि	२६२
झूठे साक्षी के लिए दण्ड	२२८	धर्मांधर्मेविधि	२६२
साक्षियों के वचनों में विरोध की		( ८ ) दायविभागप्रकरण	
स्थिति	२२९	दायसम्बन्ध का अर्थ	२६५
साक्षियों की सत्यता के त्रिपथ में		दाय के दो भेद	२६५
विचार	२३०	पिता द्वारा किया गया सम, विषम	
झूटसाक्षियों के दण्ड	२३२	विभाग	२७०
साक्षी का असत्य भाषण विहित		माता पिता की मृत्यु के बाद विभाग	
होने की स्थिति	२३४	की विधि	२७१
असत्य भाषण का प्रायश्चित्त	२३५	अविभाज्य धन	२७३
( ६ ) लेख्यप्रकरण		अविभाज्य धन के अपवाद	२७६
लेख्य के दो प्रकार	२३६	पौत्र का अक्ष	"
लेख्य में व्यक्ति और समय का		पितामह के धन में अक्ष	२७६
विस्तृत लेखन	"	माता का अक्ष	२७९
ऋणदाता और ऋणी साक्षियों और		असंस्कृत भाइयों के सरदार या	
लेखक के हस्ताक्षर	२३७	दायित्व	"
स्वयं लिखा गया लेख्य	२३८	अनेक वर्णों की कई परिनियों के	
		पुत्रों का भाग	२८१



द्विपा कर रखे हुए धन का विभाग	२८३	( १० ) स्वामिपालविवादप्रकरण	
नियोगज पुत्र का भाग	"	दूसरे का खेज चराने पर दण्ड	३१३
औरसपुत्र और पुत्रिकासुत	२८५	अधिक अपराध होने पर दूना दण्ड	३१४
गृहज और कानीन पुत्र	"	चरवाहे और पशु के स्वामी को	
पौनर्भव और दत्तक पुत्र	२८६	दण्ड	३१५
मीत और कृत्रिम सहोदज पुत्र	"	चेत्रविशेष के विषय में भ्रषवाद	"
अपविद्ध पुत्र	२८७	पशुविशेष के संबन्ध में दण्ड का	
दामीपुत्र का अंश	२८९	अभाव	३१६
पुत्रहीन के धन का अधिकारी	"	चरवाहे का पशुस्वामी के प्रति	
यागप्रस्थ, यति, ब्रह्मचारी की		दायित्व	"
संपत्ति	२९७	पशुनाश पर चरवाहे को दण्ड	३१७
सम्पत्ती को धम का विचार	२९९	चरागाह की व्यवस्था	"
विभाग में अक्षमति के लिए अयोग्य		चरागाह की भूमि और रक्षण	३१८
व्यक्ति	३००	( ११ ) अस्थामिविक्रयप्रकरण	
इस नियम का भ्रषवाद	"	अस्थामिविक्रय का लक्षण	३१८
अयोग्य सदस्यों की शिष्टियों की		कममूल्य पर क्रय का निषेध	"
स्थिति	३०१	खोई वस्तु देखने पर कर्तव्य	३१९
स्त्रीधन	"	लेन्य और उपभोग द्वारा खोई	
स्त्रीधन का उत्तराधिकारी	३०२	वस्तु	३२०
पागदसा का धन, उसके हरण		स्वयं अपनी भ्रषद्ध वस्तु लेने पर	
का दण्ड	३०४	दण्ड	३२१
रति द्वारा स्त्रीधन न लौटाने की		राजा को अर्पित खोई वस्तु का	
स्थिति	३०४	निर्णय	"
दो परिणयों में पहली पत्नी का		खोये हुए पशु की प्राप्ति पर राजा	
स्त्रीधन	३०५	को देय धन	३२२
पर और खेत का विभाग	"	( १२ ) दत्ताप्रदानिकप्रकरण	
( ६ ) सीमाविवादप्रकरण		दत्ताप्रदानिक का स्वरूप	"
सीमाविवाद का निर्णय	३०६	दत्तानपाक्रम के स्वरूप	"
सीमानिर्णय के साधन	३०८	चार प्रकार का दत्तानपाक्रम	"
ग्राम सामग्ना आदि	३०८	दान कितना दे, क्या न दें ?	३२३
शटे घेरने वाले सामग्नादि के		दान सपके स्वामने लेना चाहिए	"
दण्ड	३०९	दत्तादत्त का स्वरूप	३२४
मर्यादा लोढ़ने का दण्ड	३११	अदत्त का प्रकार	"
खेत छीन लेने का दण्ड	"	( १३ ) क्रीतानुशयप्रकरण	
दूसरे के खेत में बूट, खेतु का		क्रीतानुशय	३१५
निर्माण	३१२	क्रीतानुशय का स्वरूप	"
खेत को जौन की व्यवस्था	३१३		

प्रत्यर्पणीयनिर्णय	३२५
बीजा आदि स्त्रीदान में परीक्षावधि	"
सोना, चाँदी, पीतल, शीशा, तौषा, छोहा की परीक्षा	३२६
कम्यल और सूती कपड़े के यजन	"
कसीदाकारी आदि से घख के भार में कमी	३२७
द्रव्य के नाश होने पर निर्णय	"

## ( १४ ) अभ्युपेत्याशुध्याप्रकरण

अभ्युपेत्याशुध्या का स्वरूप	३२७
षोडश प्रकार के शुभपत्रक	३२८
चार प्रकार के कर्मकर	"
दो प्रकार के कर्म	"
तीन प्रकार के श्रुतक	"
दासों के भेद	"
दासता से मुक्ति का समय	३२९
सन्पास से च्युत व्यक्ति राजा का दास	३३०
दास अपने से निम्नवर्ण का होता है	"
अन्तेवासी का धर्म	"

## ( १५ ) सविद्वयतिक्रमप्रकरण

सविद्वयतिक्रम का लक्षण	३३१
धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मण की स्थापना	"
सामयिक और राजा द्वारा निर्दिष्ट धर्म का पालन	३३२
गण के व्यक्तियों के अनुसरण का नियम	"
समूह के कार्य के लिए आये हुए व्यक्तियों का राजा द्वारा संस्कार	३३३
समूह के कार्य से प्रेषित व्यक्ति को प्राप्त धन	"
कायचिन्तकों के लक्षण	"
श्रेणी, नैगम, पाखण्डी, गण के विषय में नियम	३३४

## ( १६ ) वेतनादानप्रकरण

वेतनादान का स्वरूप	३३४
वेतन लेकर काम छोड़ने पर दण्ड	"
बिना वेतन लिए कार्य करना स्वीकार करके कार्य न करने पर दण्ड	३३५
श्रुतियों को लाभान ( पौनस ) का विधान	३३५
श्रुत्य के कार्य से हानि और लाभ तथा उसका वेतन	"
दो श्रुतियों के एक कार्य करने पर वेतन	३३६
भार ढाने वाले श्रुत्य के विषय में निर्णय	"
मार्ग में कार्य छोड़ने वाले की मजदूरी	"

## ( १७ ) श्रुतसमाह्वयप्रकरण

श्रुत की बाजी का स्वरूप	३३७
श्रुतसभा के अधिकारी का अंश	३३८
श्रुताधिकारी या कर्तव्य	"
राजा का समिकों के प्रति कर्तव्य	"
श्रुत में हारजीत का निर्णय	३३९
कपटपूर्वक श्रुता खेलने वाले का दण्ड	"
श्रुत के निषेध के लिए दण्ड	"
श्रुताध्यक्ष की नियुक्ति	"
प्राणिश्रुत का नियम	३४०

## ( १८ ) वाक्यपारुष्यप्रकरण

वाक्यपारुष्य का लक्षण	३४०
वाक्यपारुष्य के तीन प्रकार	"
त्रिभुज आक्रोश का दण्ड	"
गाली देने का दण्ड	३४१
गाली देने के दण्ड में वर्ण का विचार	"
वर्णों की प्रतिश्लेषता के आधार पर दोष लगाने का दण्ड	३४२

अंग तोड़ने की धमकी का दण्ड	३४३
धमकी के सम्बन्ध में शक्ति का विचार	"
तीव्र आक्रोश का दण्ड	"
दोष लगाने पर दण्ड का विधान	३४४

## ( १६ ) दण्डपारुष्यप्रकरण

दण्डपारुष्य का स्वरूप	३४४
दण्डपारुष्य के तीन भेद और पाँच विधियाँ	"
दण्डपारुष्य के सन्निह्य रश्चरूप का निर्णय	३४५
साधन के अनुसार दण्ड	"
घर्ष की प्रतिलोमता के अनुसार दण्ड	३४६
समान जाति वाले को मारने पर दण्ड	३४७
पैर, केश, वस्त्र, हाथ पकड़ कर खींचने का दण्ड	"
लकड़ी आदि से मारने का दण्ड मारकर खून निकालने पर दण्ड	३४८
अंग तोड़ने पर दण्ड	"
कई व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति के पीटे जाने पर दण्ड	३४९
दूसरे की दीवाल तोड़ने पर दण्ड	"
दूसरे के घर में कौंटा, त्रिप, सर्प छोड़ने पर दण्ड	३५०
पशुओं को मारने पर दण्ड	"
घृशों को हानि पहुँचाने पर दण्ड	३५१
लताओं को हानि पहुँचाने पर दण्ड	"

## ( २० ) साहसप्रकरण

साहस का लक्षण	३५२
साहस के तीन प्रकार	"
प्रथम, मध्यम और उत्तम साहस	"
दूसरे का धन लेने पर दण्ड	३५३
अपराध कराने वाले का दण्ड	"
विशेष प्रकार के साहसिक	"

बिना नियोग के विधवा संभोग, भयानुर की रक्षा के लिए न दौड़ने, उच्च वर्गों के स्पर्शवर्ण के अयोग्य कर्म करने वाले, झूठी शपथ लेने, पशुओं को वधिया करने, दासी का गर्भपात, निर्दोष सम्बन्धी का श्वाग करने का दण्ड	३५४
घोषी के विषय में दण्ड व्यवस्था	३५५
पिता और पुत्र के बलह में साक्षी के लिए दण्ड	"
तौलने आदि में धूर्तता का दण्ड	३५६
छोटा सिक्का चलाने वाले का दण्ड	"
अवपज्ञानी वैद्य का दण्ड	"
अध्वन के अयोग्य व्यक्ति का दण्ड	३५७
नापने, तौलने में धूर्तता करने का दण्ड	"
मिलावट करने पर दण्ड	"
घटिया वस्तु अधिक मूल्य पर विक्रय का दण्ड	३५८
डगी और बनाउटी कस्तूरी बेचने का दण्ड	"
शिविषयों को पीड़ित करने वाले व्यापारियों को दण्ड	३५९
आयातित वस्तु को अनिशिक्त मूल्य पर बेचने का दण्ड	"
राजा द्वारा मूल्य का निर्धारण	"
विक्रय में लाभ का अंश	३६०
मूल्य के निर्धारण का आधार	"

## ( २१ ) विक्रीयासंप्रदानप्रकरण

विक्रीयासंप्रदान का स्वरूप	३६०
विक्रीयासंप्रदान के दो भेद	"
मूल्य लेकर सौदा न देने वाले का दण्ड	३६१
मेला के सौदा न लेने पर दूसरे के हाथ विक्रय	"

सौदा देते समय क्रेता के दोष से वस्तु में हानि	३६१	यद्यपि पुराने वाले और गिरहकट का दण्ड	३७२
राजकृत या दैवकृत उत्पात से हानि	३६२	उधक्के के द्वारा अपराध का दण्ड	"
दोपयुक्त वस्तु के विक्रय का दण्ड	"	दण्डनिर्धारण का आधार	"
सौदे की फेराफेरी करने पर दण्ड	३६३	सुद्र द्रव्य के विषय में दण्ड का नियम	३७३
( २२ ) संभूयममुत्थानप्रकरण		धान्य पुराने पर दण्ड	"
सामूहिक व्यापार में लाभ-हानि का विचार	३६३	सोना पुराने का दण्ड	"
हानि करने वाले हिस्सेदार को दण्ड	३६४	विशेष द्रव्य का दण्ड	३७४
सुरक्षित रखने वाले को दत्तमांसा की प्राप्ति	"	चोर की सहायता करने वाले के लिए दण्ड	"
विक्रयकर और निषिद्धवस्तु विक्रय	"	हुष्टा स्त्री को हुवाने का आदेश हत्यारिणी स्त्री के अङ्ग मङ्ग का दण्ड	"
विक्रयकर में बेईमानी करने का दण्ड	३६५	हत्यारे का पता लगाने की विधि	"
नौका की फेरी	"	दूसरे की फसल, घर, यादिना, गौंय आदि जलाने वाले के लिए दण्ड	३७६
योग्य प्राक्षकों को श्राद्ध में न बुलाने पर दण्ड	"	राजपत्नी के साथ व्यभिचार का दण्ड	"
विदेशगत या मृत हिस्सेदार का धन	३६६	( २४ ) स्त्रीसंग्रहप्रकरण	
बेईमान हिस्सेदार के प्रति व्यवहार	३६७	स्त्रीसंग्रहण के तीन प्रकार	३७६
( २३ ) स्तेयप्रकरण		परायी स्त्री के साथ व्यभिचार के चिह्न	३७७
स्तेय का लक्षण	३६७	छेड़खानी करने का अपराध	"
चोर पकड़ने के उपाय	३६८	निषिद्ध भाषण की दशा में बोलने पर दण्ड	३७८
सम्बद्ध में दूसरों को भी पकड़ने का नियम	"	धारणछी से व्यभिचार में दण्ड का अभाव	"
सम्बद्ध में पकड़े गये लोगों में चोर की पहचान	"	माता आदि से सभोग का दण्ड	"
निर्दोषता में प्रमाणित करने वाले को दण्ड	३६९	सजातीय परछी से व्यभिचार का दण्ड	"
चोर को शारीरिक दण्ड	"	हीन वर्ण की परछी से व्यभिचार का दण्ड	३७९
ब्राह्मण चोर के लिए दण्ड	३७०	नीच वर्ण के प्ररुण से व्यभिचार का स्त्री को दण्ड	"
गौंय में चोरी का दोषी	"	यामदत्ता सवर्णा कन्या का अपहरण	"
चोरी का दण्ड कौन दे ?	३७१		
विशेष अपराध के लिए विशेष दण्ड	"		

उच्च जाति की कन्या का अपहरण	३७९	राजा का कोश चुराने वाले का दण्ड	३८८
कन्या की सहमति, असहमति का विचार	३८०	शव के ऊपर की वस्तु बेचने वाले का दण्ड	३८९
कन्यादूषण का दण्ड	"	पिता या आचार्य को पीटने वाले का दण्ड	"
कन्या का वास्तविक दोष कहने का दण्ड	३८१	राजसिंहासन पर बैठने का दण्ड	"
पशुमैथुन, हीनस्त्रीसंभोग, गो-मैथुन का दण्ड	"	औंस फोड़ने, राजा के अनिष्ट का प्रचार करने, ब्राह्मण का वेश बनाने पर दण्ड	"
साधारण स्त्रीगमन का दण्ड	"	राग, लोभ से व्यवहार में पक्षपात करने पर दण्ड	"
वेश्या जाति की प्रार्थीनता	३८२	साधियों का दोष होने पर दण्ड	३९०
पद्मचूडा नाम की अप्सराएं	"	सभासदों द्वारा दत्ते गये अधर्मपूर्ण व्यवहार पर विचार	"
दासी-संभोग का दण्ड	"	निर्णय व्यवहार के प्रयावर्तन का दण्ड	"
स्वैरिणी दासियों के बलात् संभोग का दण्ड	३८३	पराजय न स्वीकारने वाले का दण्ड	"
घेतन छेदने वाली वेश्या के मुक्कने पर दण्ड	"	राजा द्वारा अन्याय से लिये गये धन की उपयोगविधि	३९१
असामान्य स्त्रीमैथुन का दण्ड	३८४		
चाण्डाली-संभोग का दण्ड	"		
( ४५ ) प्रकीर्णकप्रकरण			
स्त्रीपुंसोपग नाम का व्यवहार उसका लक्षण	३८४		
स्त्री पुंस्य को अपने मार्ग में स्थापित करना	३८५		
प्रकीर्ण व्यवहार का लक्षण	"		
अपराध विशेष का दण्ड	"		
द्विज की अभिषय से दूषित करने का दण्ड	"		
चोटा मोना और निषिद्ध मांस बेचने का दण्ड	३८६		
सावधान करने पर चोट लगने में दोषाभाव	३८७		
दुर्घटना से हिंसा होने में दोषाभाव	"		
उपेक्षा करने पर पशु के स्वामी का दण्ड	"		
जार को छोड़ देने पर दण्ड	३८८		
राजा की निन्दा करनेवाले का दण्ड	"		
		<b>३. प्रायश्चित्ताध्यायः</b>	
		(१) आशीर्षप्रकरण ।	
		आशीर्ष शब्द का अर्थ	३९२
		शव के गाड़ने और जलाने का विचार	"
		शवानुगमन	"
		चाण्डाल आदि अग्नि का निषेध	३९३
		उदकदान के विचार	३९४
		अग्नितामिनी की मृत्यु पर विशेष नियम	"
		शूद्र द्वारा लाये गये अग्नि आदि	३९४
		ब्रह्मचारी और पतित द्वारा उदकदान का निषेध	३९६
		सपिण्डों में उदकदान के लिए प्रतिषिद्ध व्यक्ति	"
		पापगुणी आदि के मरनेपर आशीर्ष	"
		विशेष प्रकार की मृत्यु से आशीर्ष का निषेध	३९८

पतितों के विषय में रोने का निषेध ३९७	मृत्युविशेष की स्थिति में आशौच	
आत्महत्या करने वाले का आशौच ३९८	का अपवाद	४१५
नारायण यति	युद्ध में, विदेश में, मरने पर आशौच	"
नागयति	विमाता की मृत्यु पर आशौच	"
शोक को दूर करने के लिए इतिहास ४००	वर्णानुसार आशौच के दिन	४१६
मनुष्य की निःसारता	आयु के अनुसार आशौच	४१७
रोने का निषेध	आयु के अनुसार स्त्रियों का	
प्रेतदाह के नाद वापस आना	आशौच	४१८
घर में अवेश की विधि	शुद्ध, मामा की मृत्यु पर आशौच	४२०
सकाल शुद्धि का उपाय	पिता की मृत्यु पर विवाहित	
ब्रह्मचारी के दस की अव्यवस्था	कन्या का आशौच	"
आशौचियों के नियम	शशुर आदि की मृत्यु पर आशौच	४२१
प्रेतपिण्डदान	अनीरस पुत्र की मृत्यु का आशौच	"
पिण्डदान देने वाला	पराश्रित परम्वी की मृत्यु का	
पिण्ड की संख्या और काल	आशौच	"
शिव्या आदि में जलदान	शव के साथ जाने पर आशौच	४२२
अस्त्रिसंधयन का समय	राजा आदि की मृत्यु पर आशौच	
वपन	का अभाव	"
अग्निहोत्र के विषय में विचार	दास आदि की मृत्यु पर आशौच	४२३
सूतक में सम्बन्धोपासना	अस्त्रियम् आदि की मृत्यु पर	
आशौच का समय	अपवाद	"
सपिण्ड आदि का आशौच	ब्रह्मचारी और संन्यासी के	
वालकों आदि का आशौच	विषय में	४२४
जन्मसंबन्धी आशौच	आशौच के अन्त में स्नान	"
प्रसूतिका का आशौच	रजस्वला वृत्ता, चाण्डाल, पक्षियों के	
पुत्रजन्म के समय दान का अधिकार,	स्पर्श पर अशुद्धि	४२६
पट्टीपूजन	शुद्धि के हेतु और साधन	४२९
आशौच के बीच दूसरे आशौच का	( २ ) व्यापद्धमपकरण	
संपात	आपत्ति के समय दूसरी वृत्ति	
मातापिता की मृत्यु के आशौच का	धारण करने का नियम	४३१
संपात	वैश्यवृत्ति वाले ब्राह्मण द्वारा	
गर्भस्राव में आशौच का निर्णय	अविक्रिय वस्तुएँ	४३२
रजस्वला की शुद्धि के विषय में	निषिद्ध वस्तुओं में अपवाद	४३३
विचार	निषिद्ध कर्म करने का दोष	४३४
रजस्वला और सूतिका की मृत्यु का	आपत्ति काल में दान लेने पर	
आशौच	दोषाभाव	"
आदितानि की मृत्यु पर विशेष	आपत्ति काल में जीविका के साधन	"
नियम		४३४

कृषि आदि से जीविका न होने पर अन्य साधन	४३५	शरीर के अंगों, अस्थियों की संख्या	४५५
राजा द्वारा वृत्ति निर्धारण	"	इन्द्रियों के विषय-गन्धादि	४५८
( ३ ) वानप्रस्थप्रकरण		कर्मेन्द्रियों	"
वानप्रस्थ के धर्म	४३६	प्राणों के स्थान	"
स्वयं प्राप्त फल द्वारा पंचमहायज्ञ	४३७	प्राणस्थानों के विस्तार	४५९
द्रव्यसंचय का नियम	४३८	स्नायु, धमनी, पेशियों की संख्या	४६०
स्नान, स्वाध्याय और दान	४३९	बालों और रोओं की संख्या	४६१
वानप्रस्थ के भोजन का नियम	"	शरीर में रसों का अनुपात	४६२
आन्द्रायणादि धत का नियम	"	शरीर में आत्मा की स्थिति	४६३
पञ्चाग्निमेवम आदि	४४०	'बृहदारण्यक' तथा योगशास्त्र का निर्देश	"
समरुष्टि होने का नियम	४४१	आत्मा के ध्यान की विधि	४६४
भैकाचरण	"	सर्वद मन्त्र की उपासना	"
शरीर त्याग का नियम	४४२	मुक्ति के मार्ग सामानान, बीणा वादन आदि	४६५
( ४ ) यतिधर्मप्रकरण		यतिज्ञ की योनि	"
यतिधर्म का निरूपण	४४२	आत्मा से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति	४६६
यति के धर्म	४४४	मुनियों का प्ररम	"
भिषाडन	४४५	वज्र से प्रजासृष्टि	"
यति के पात्र और उनकी वृद्धि	४४६	आत्मा द्वारा सुख-दुःख का भोग क्यों ?	४६७
इन्द्रियसंयम और अनिष्टमय संसार	४४७	आदिदेव से चार वर्णों की उत्पत्ति	४६८
ध्यान और महादर्शन	४४८	मुनियों की शंका	४६९
धर्म के लिए आश्रमविशेष	"	कर्मानुसार योनि की प्राप्ति	४७०
आवरणक नहीं	"	कर्मों के फल की प्राप्ति का समय	"
सत्य, अहंतेय आदि धर्म	"	कैसे व्यक्ति किसी योनि में जन्म लेता है	४७१
महा से अनेक जीवात्मा की उत्पत्ति	४४९	सत्त्वादि गुण का परिणक	४७२
आत्मा द्वारा किया गया कर्म	"	आत्मा को पिछले जन्म का बोध क्यों नहीं होता	४७३
आत्मा का शरीरधारण	४५०	आत्मा का समष्टि, व्यष्टि भेद	४७४
शरीरधारण की प्रक्रिया और अवस्थाएँ	४५१	वायु और आत्मा से जगत् की उत्पत्ति	"
गर्भ में शरीर का विकास और शारीरिक गुणों के उद्भव का क्रम	४५३	जगत् के सृजन की प्रक्रिया	४७५
दोहद का महत्त्व	"	आत्मा के विषय में प्रमाण	४७६
गर्भ के महीनों में विकास की दशाएँ	४५४		
प्रसव का समय	४५५		

आत्मा का अज्ञान और बलेश	४७९	उपपातक	५०८
मुक्ति कौन पाता है ?	४८८	जाति अंश के कारणभूत पाप	"
मोक्षप्राप्ति का हेतु	४७९	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त की	
कर्मफलभोग के लिए शरीरधारण		विधि	५१३
आत्मा को नष्ट से उपमा	"	ब्रह्मबध के विषय में विरोध नियम	५१४
मोक्ष का मार्ग, स्वर्गमार्ग संस्करण-		प्रोत्साहक आदि के लिए वृण्ड-	
मार्ग	४८१	प्रायश्चित्त	५१६
आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण	४८३	बालक और वृद्ध के लिए भाधा	
प्रेमज्ञ या स्वरूप	४८४	प्रायश्चित्त	५१७
बुद्धि आदि की उत्पत्ति	"	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त की अवधि	५१८
गुणस्वरूप	४८५	ब्रह्महत्या का दूसरा प्रायश्चित्त	५२१
स्वर्गमार्ग, पितृयान	४८९	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का	
पितृयान के मुनियों का वर्णन	४८७	अनिर्देश	५२५
ज्ञान के हेतु	"	आग्नेयी की हत्या का प्रायश्चित्त	५२६
आत्मज्ञानी और देवयान	४८८	आग्नेयी का उत्सव	"
उपासना की विधि	४८९	सुरापान प्रायश्चित्त	५२७
धारणात्मक योगाभ्यास का		सुरा के विषय में विचार	५२८
प्रयोजन	४९०	एकादश मद्य	५२९
योग की सिद्धि के उत्सव	४९१	सुरापान का दूसरा प्रायश्चित्त	५३०
कर्मों के त्याग से मुक्ति	"	सुरापानक शुष्पास के भक्षण का	
गृहस्थ के लिए भी मुक्ति संभव	"	प्रायश्चित्त	"
( ५ ) प्रायश्चित्तप्रकरण		सुरापान में जल पीने का	
कर्मविपाक का निरूपण	४९२	प्रायश्चित्त	५३१
महापातकी का पुनः पुनः जन्म	"	मद्यपान का प्रायश्चित्त	५३२
कर्म से अनुसार शरीरधारण	४९३	द्विजाति की स्त्री के विषय में	
पतित होने का कारण और		सुरापान प्रायश्चित्त	५३४
आवश्यकता	४९७	सुवर्णस्तेय का प्रायश्चित्त	"
प्रायश्चित्त का अधिकारी	"	क्षत्र के विचार	५३५
प्रायश्चित्त न करने पर दोष	४९९	सुवर्ण शब्द का अर्थ	५३६
इष्कीस नरक	५००	सुवर्णस्तेय का दूसरा प्रायश्चित्त	५३७
प्रायश्चित्त का फल	५०१	गुरुनक्षत्रगमन का प्रायश्चित्त	५३९
महापातकी	५०२	गुरु शब्द का अर्थ	"
ब्रह्महत्या के समान पाप	५०५	गुरुतत्त्वगमन का दूसरा प्रायश्चित्त	५४२
सुरापान के समान पाप	"	महापातकीयों के साथ संसर्ग का	
सुवर्णस्तेय के समान पाप	५०६	प्रायश्चित्त	५४६
गुरुनक्षत्र के समान पाप	"	इस विषय में नियम का अपवाद	५४९
गुरुतत्त्वगमन	५०७	शूद्रादि के विषय में प्रायश्चित्त	५५०
		गोवध का प्रायश्चित्त	५५१



अवस्था के अनुसार प्रायश्चित्त का नियम	५५३	स्वाध्यायत्याग का प्रायश्चित्त	५८९
गोपालक की उपेक्षा से मोहत्या का प्रायश्चित्त	५५५	अग्नित्याग का प्रायश्चित्त	"
स्त्रियों के प्रायश्चित्त के विषय में विशेष नियम	५५६	आश्रम में न रहने का प्रायश्चित्त	५९०
पुरुषों के विषय में प्रायश्चित्त के विशेष नियम	५५७	समुद्रयात्रा का प्रायश्चित्त	५९१
उपपातकों के प्रायश्चित्त	५५८	वेरयागमन का प्रायश्चित्त	"
स्त्री, शूद्र, विट्, चण्ड के वध का प्रायश्चित्त	५६१	प्याज भादि खाने पर प्रायश्चित्त	५९३
स्त्रीवध का प्रायश्चित्त	५६३	संधिनी गाय का दूध पीने पर प्रायश्चित्त	५९४
अनुपपातक प्राणिवध के विषय में प्रायश्चित्त	५७०	गहित मांस खाने का प्रायश्चित्त	"
बिहली मारने पर प्रायश्चित्त	५७१	अपवित्र द्रव्य से स्पृष्ट वस्तु खाने का प्रायश्चित्त	५९५
बृषादि काटने पर प्रायश्चित्त	५७३	जुरे विचार से प्रदत्त भक्ष खाने का प्रायश्चित्त	५९६
कुंखली, चानर के वध का प्रायश्चित्त और उनके स्पर्श से हृदि का उपाय	५७५	बासी भोजन करने का प्रायश्चित्त	"
वीर्यखलन का प्रायश्चित्त	५७६	गुणदुष्टशुक्त भादि के भक्षण का प्रायश्चित्त	६००
ब्रह्मचारी द्वारा स्त्रीभोग का प्रायश्चित्त	५७८	कियादुष्ट अन्न के भक्षण का प्रायश्चित्त	"
स्वप्न में वीर्यपातद्वैके प्रायश्चित्त का मन्त्र	५८०	शुद्धाहादि श्राद्धभोजन का प्रायश्चित्त	६०३
संन्यास से भ्रष्ट होने पर प्रायश्चित्त	"	अपुत्रादि के अन्नभक्षण का प्रायश्चित्त	६०४
अन्य अनुपातक का प्रायश्चित्त	५८१	जातिभ्रष्ट करने वाले पाप का प्रायश्चित्त	६०४
गुरु के लिए प्रायश्चित्त का विधान	५८२	( ६ ) प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि	
सब प्रकार की हिंसा का प्रायश्चित्त	५८३	निषिद्ध दान छेने का प्रायश्चित्त	६०४
शूद्रा दोष लगाने पर प्रायश्चित्त	"	गुरु की भर्त्सना का प्रायश्चित्त	६०५
आत्मजायागमन का प्रायश्चित्त	५८५	विप्र को मारने के लिए उद्यत होने पर दण्ड	६०६
रजस्वला पत्नी के संभोग का प्रायश्चित्त	"	पादप्रहार का प्रायश्चित्त	"
अयाग्य व्यक्ति का यज्ञ कराने का प्रायश्चित्त	५८७	मनु द्वारा बताये गये प्रकीर्णक-प्रायश्चित्त	"
पेदविच्छादन का प्रायश्चित्त	५८८	नित्य, औतादि कर्म न करने पर प्रायश्चित्त	"
		इन्द्रधनुष देखने का प्रायश्चित्त	६०७
		यज्ञोपवीत बढ़ाये बिना मलमूत्र-त्याग का प्रायश्चित्त	"

घोर और पतित के साथ मोजन करने का प्रायश्चित्त	६०७	सान्तपन नाम के द्रव्य	६२५
नीलरगे वस्त्र धारण करने का प्रायश्चित्त	६०८	महासान्तपन वन	६२६
देशविशेषगमन का प्रायश्चित्त	६०९	पणकृच्छ्रमतः	६२७
पतित के घबरा फोड़ने की विधि	६१०	पादकृच्छ्र	६२८
पतित को समाज में मिलाने की विधि	६११	प्राजापत्यकृच्छ्र	६२९
पतिश्रावण की विधि का अतिदेश	६१२	अतिकृच्छ्र	६३०
श्रियों का विशेष रूप से पतित होना	६१३	कृच्छ्रतिकृच्छ्र	६३१
चरितद्रव्य के विषय में विशेष जाति में मरिमलित करने की दूसरी विधि	६१४	पगकृच्छ्र	६३२
रहस्यप्रायश्चित्त	६१५	सौम्यकृच्छ्र	६३३
दूसरा प्रायश्चित्त	६१६	मुलापुरपकृच्छ्र	६३४
सुरापान का रहस्यप्रायश्चित्त	६१७	शान्द्रायणव्रत	६३५
सुवर्गश्लेष का प्रायश्चित्त	६१८	दूसरे प्रकार का शान्द्रायण	६३६
शुकथप का प्रायश्चित्त	६१९	कृच्छ्र और शान्द्रायण का	६३७
उपपातक का रहस्य प्रायश्चित्त	६२०	साधारणत आचरण	६३८
सौ बार प्राणायाम का नियम	६२१	प्रायश्चित्त में कृष्ण का विषय	६३९
अपवित्र वस्तु मुस में डालने का प्रायश्चित्त	६२२	अनादिए पाप का प्रायश्चित्त	६४०
अज्ञानवश किये गये पाप का प्रायश्चित्त	६२३	व्रत न कर सकने पर मादान् आदि	६४१
साधारण पवित्र मन्त्र यम और नियम	६२४		६४२
		पुन पाप करने पर पुनः प्रायश्चित्त	६४३
		व्रत न कर सकने पर शान्द्रायण भोजन	६४४
		कृच्छ्र और शान्द्रायण का फल	६४५
		इस शास्त्र में अध्ययन और श्रमण का फल	६४६
		टिप्पणी ( नोट्स )	६४७
		पद्यापानुक्रमणिका	६४८

॥ श्रीः ॥

# याज्ञवल्क्यस्मृतिः

‘मिताक्षरा’ सहितहिन्दीव्याख्योपेता

आचाराध्यायः ॥ १ ॥

उपोद्घातप्रकरणम्

धर्माधर्मौ तद्विपाकास्तयोऽपि वल्लेशा पञ्च प्राणिनामायतन्ते ।  
परिमन्नेतैर्नो परामृष्ट ईशो यस्तं वन्दे विष्णुमोकारवाच्यम् ॥ १ ॥  
याज्ञवल्क्यमुनिभाषितं मुहुर्विश्वरूपविकटोक्तिविस्तृतम् ।  
धर्मशास्त्रशृङ्गुभिर्मिताक्षरेर्वाल्लेषोपविधये विविच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चिदप्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशा-  
स्त्रसिष्य कथयामास—यथा मनुप्रणीतं शृणु । तस्मै चावमाद्यलोकः—

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽद्भुवन् ।

धर्माश्रमेतराणां नो गृही धर्मानशेषतः ॥ १ ॥

योगिनां सनकादीनामीश्वरः । श्रेष्ठंस्तं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मनोवाक्पाप-  
कर्मभिः पूजयित्वा मुनयः सामंश्रय प्रभृतयः श्रवणधारणयोग्या अभुवन् उक्त-  
वन्तः धर्माश्रोऽस्मभ्यं गृहीति । कथम् ? अशेषतः कारस्म्येन । केपाम् ? धर्माश्र-  
मेतराणाम्, वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमाश्रमधारिप्रभृतयः, इतरेऽनुलोमप्रतिलोम-  
जाना मूर्धावसिक्तादयः । ‘इतर’शब्दस्य ‘इन्द्रे च’ ( पा. १।१।३१ ) इति  
सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । अत्र च ‘धर्म’शब्दः पट्टिधर्मोत्तर्धर्मविषय । तद्यथा-  
वर्णधर्मं, आश्रमधर्मं, वर्णाश्रमधर्मं, गुणधर्मं, निमित्तधर्मं, साधारणधर्मंश्चेति ।  
तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणः नित्यं मद्यं वज्रवेदिर्योर्दि । आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैर-

१. पाठान्तरम्—मनुनेकं । २. प्रभुत्वं । ३. सोमधवादयः ।

४. गृही कथयेति । ५. स्मार्तकर्मविषय । ६. वज्रवेदिति ।

## याज्ञवल्क्यस्मृतिः

चर्चादिः । वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्योप्येवमादिः । गुणधर्मः शास्त्री  
 यामिपेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः । निमित्तधर्मो विहितकारण  
 प्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम् । साधारणधर्मोऽर्हिसादिः । 'न हि स्वार्थं  
 भूतानि' इत्याचण्डालं साधारणो धर्मः । 'शौचाचारांश्च शिष्ययेत्' इत्याचार्यकरण  
 विधिप्रयुक्तवाद्दर्मशास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनादिक्यनेनातीवोपमुच्यते । तत्र चा  
 षडमः—प्रागुपनयनारंभकामचारकामवादकाममत्ताः । ऊर्ध्वमुपनयनारंभेदाध्यय  
 नोपश्चमादर्मशास्त्राध्ययनं, ततो धर्मशास्त्रविहितयमनियमोपेतस्य वेदाध्ययनं  
 सत्तरतर्थाभिज्ञासा, तत्तरतर्थाभुष्टानमिति । तत्र यद्यपि धर्मार्थकाम  
 मोक्षाः शास्त्रेणानेन प्रतिपाद्यन्ते, तथापि धर्मस्य प्राधान्याद्दर्मग्रहणम्  
 प्राधान्यं च धर्ममूलत्वादितरेषाम् । न च वक्तव्यं धर्ममूलोऽर्थोऽर्थमूलो धर्म  
 इत्यथितोप इति । यतोऽर्थमन्तरेणापि यत्परतीर्थयाप्रादिना धर्मनिष्पत्तिः  
 अर्थलक्षणेऽपि न धर्ममन्तरेणेति । एवं काममोक्षावपीति ॥ १ ॥

भाषा—( किसी समय ) योनियों में श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य की पूजा करने  
 ( सोमधवस आदि ) मुनियों ने कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरों  
 ( अनुलोमज-प्रतिलोमज संकर जातियों ) का धर्म हमें वर्णरूप से  
 बताइए ॥ १ ॥

एवं वृष्टः किमुवाचेत्याह—

मिथिलास्यः स यो गीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽप्रयीन्मुनीन् ।

यस्मिन्देसो मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥ २ ॥

मिथिला नाम नगरी तत्र स्थिताः स याज्ञवल्क्यो यो योश्वरः, वर्णं ध्यात्वा  
 किंचिदकालं मनः समाधाय पृथे अत्रगाधिकारिणो विनयेन पृच्छन्तीति युक्तं मे-  
 तेभ्यो यस्तुमिदमुक्तवान्मुनीन् । किम् ? 'यस्मिन्देसो मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्नि-  
 बोधत'— इति । कृष्णसाधो मृगो यस्मिन्देसो स्वच्छन्दं विहरति तस्मिन्देसो  
 यत्प्रमाणलक्षणा धर्मो अनुष्ठेया नान्यत्रैवमिप्रायः ॥ २ ॥

भाषा—मिथिला नगरी में विराजमान उस योश्वर ने योदी देर  
 अपने मन में विचार करके मुनियों से कहा कि जिस देश में काले  
 मृग ( स्वच्छन्द ), विहारण करते हैं उस देश में ( अनुष्ठेय ) धर्मों को  
 समझिए ॥ २ ॥

१. सर्वगूतानि इति । २. सुयुक्तौचाचारान् । ३. अपतीर्थयात्रा ।

## आचाराध्यायः

'शौचाचारश्च शिष्येत्' इत्याचार्यस्य धर्मशास्त्राध्यापनविधिः । शिष्येण सद्भ्ययनं कर्तव्यमिति कुतोऽवगम्यत इत्यत आह—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिच्छिताः ।  
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ ३ ॥

पुराणं ब्रह्मादि, न्यायस्तर्कविद्या, मीमांसा वेदवाक्यविचारः, धर्मशास्त्रं ज्ञानवादि, अङ्गानि व्याकरणादीनि पठ्य, एतैरुपेताश्चत्वारो वेदाः, विद्याः पुरुषार्थ-  
साधनानि, तामो स्थानानि च चतुर्दश, धर्मस्य च चतुर्दश स्थानानि हेतवः ।  
एतानि च श्रैवणिकैरभ्येतव्यानि । तदन्तर्भूतत्वाद् धर्मशास्त्रमप्यभ्येतव्यम् । तत्रै-  
तानि ब्राह्मणेन विद्याप्राप्तये धर्मानुष्ठानाय चाधिगमनव्यानि । उग्रिष्वैश्याभ्यां  
धर्मानुष्ठानाय । तथा च शब्देन विद्यास्थानान्मुपपन्नम्योक्तम्—'एतानि ब्राह्मणोऽ-  
धिदुरुने स च वृत्तिं दर्शयतीतरणम्' इति । मनुषि द्विजातीनां धर्मशास्त्राध्य-  
यनेऽधिकारः, ब्राह्मणस्य प्रवचने मान्यस्येति दर्शयति ( २ । १६ ) 'निषेका-  
दिरमशानाप्तो सम्प्रेयस्त्वोदितो विधिः । तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्नेषो मान्य-  
स्य कर्हिषित् ॥ विदुषा ब्राह्मणेनेदमभ्येतव्यं प्रयत्नतः । शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं  
सम्पद् मान्येन केनचित् ॥' इति ॥ ३ ॥

भाषा—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और ( व्याकरण आदि )  
अङ्गों सहित ( चारों ) वेद चौदह विद्या के और धर्म के स्थान या  
कारण हैं ॥ ३ ॥

अस्तु धर्मशास्त्रमभ्येतव्यं, याज्ञवल्क्यप्रणीतस्यास्य शास्त्रस्य किमापोतमि-  
त्यत आह—

मन्यत्रिष्यिष्णुहारीतयांजवल्क्योशनोऽक्षिराः ।

यमापस्तम्यसंयताः कास्यावनवृहस्पती ॥ ४ ॥

पराशरव्यासशङ्खलिपिता वृक्षगीतमौ ।

शातातपो यसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ ५ ॥

'उशनः' शब्दपर्यन्तं इन्द्रैकवक्त्रावः । याज्ञवल्क्यप्रणीतमिदं धर्मशास्त्रमभ्येत-  
व्यमित्यभिप्रायः । नेर्य परिसङ्ख्या, किन्तु प्रदर्शनायमेतत् । अतो धीधायनादेरपि  
धर्मशास्त्रप्रथमविरहम् । एतेषां प्रत्येकं नामाभ्येऽपि साकाङ्क्षानामाकाङ्क्षापरिपूरण-  
मंग्यतः क्रियते । विरोधे विकल्पः ॥ ४-५ ॥

१. पुरुषार्थज्ञानानि, पुरुषार्थसाधनज्ञानानि । २. तदन्तर्गतत्वात् ।  
३. तत्र ब्राह्मणेनैतानि । ४. कस्यचित् । ५. अक्षिराः । ६. प्रवक्तव्यं ।

भाषा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशनस्, अङ्गिरस्, यम, आपस्तम्ब, संवत, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शुक, लिखित, दक्ष, गौतम, शाकल्य और बसिष्ठ—ये धर्मशास्त्रों के प्रणेता हैं ॥ ४-५ ॥

इदानीं धर्मस्य कारणहेतूनाह—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।

पात्रे प्रदीयते यत्तत्सफलं धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥

देशो 'यस्मिन्देशे मृतः कृष्ण' ( ३१२ ) इत्युल्लक्षणं, कालः संक्रान्त्यादिभिः, उपायः पारोक्षिककर्तव्यताकलापः, द्रव्यं प्रतिग्रहादिलक्षणं गवादि, श्रद्धा आसिक्त्यबुद्धिः, तदन्वितं यथा भवति तथा । पात्र 'न रिचया केवला' ( आचार. १।२०० ) इत्येवमादिवचनमागलक्षणम् । प्रदीयते यथा न प्रत्यावर्तते तथा परस्वत्वापायवसानं त्यज्यते । एतद्धर्मस्योत्पादकम् । किमेताद्देव नेश्याह— सकलमिति । अन्यदपि शास्त्रोक्तं जातिगुणहोमनागादि तत्सकलं धर्मस्य कारणं जातिगुणद्रव्यक्रियाभावार्थस्मरं चतुर्विधं धर्मस्य कारणमित्युक्तं भवति । तच्च समस्तं व्यस्तं वा यथाशास्त्रं द्रष्टव्यम् । श्रद्धा सर्वत्रानुरतं एव ॥ ६ ॥

भाषा—( पवित्र ) देश में ( उपयुक्त ) समय पर विधिपूर्वक जो भी ( स्वर्णादि ) द्रव्य योग्य व्यक्ति को दान दिया जाता है वह सब धर्म का लक्षण है ॥ ६ ॥

इदानीं धर्मस्य शापकहेतूनाह—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक्संकरूपज्ञः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

श्रुतिर्वेदः, स्मृतिर्धर्मशास्त्रम्, तथा च मनुः ( २।१० ) 'श्रुतिस्तु धेवो रिक्षेयो धर्मशास्त्रं तु मी स्मृतिः' इति । सदाचारः मता शिष्टानामाचारोऽनुष्ठानम्, स्वस्य चात्मनः प्रिय, वैकल्पिकं निपत्ये यथा—'धर्माद्येऽप्ये वाच्ये' ( आचार. २।१४ ) इत्यादावात्मैश्च नियामिका । सम्यक्संकरूपज्ञात् कामः शास्त्रविदो यथा—'मया भोजनस्यतिरेकेणोदकं न पातय्यम्' इति । एते धर्मस्य मूलं प्रमाणम् । एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य यत्नियस्त्वम् ॥ ७ ॥

भाषा—वेद-धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपने आत्मा के अनुकूल ( उचित ) कार्य तथा विकल्पपूर्ण संस्कार से उत्पन्न हुई इच्छा—ये सब धर्म का मूल कहे गये हैं ॥ ७ ॥

१. विरोधे तु । २. सुष्ठानं नाशिष्टानाम् । ३. इत्यत्रात्मेऽप्येव-  
इत्यादिप्राप्तेः । ४. शास्त्रातिरुद्धः कामो यथा ।

## आचाराध्यायः

देशादिकारकहेतूनामपवादमाह—

इत्याचारदमाहिसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

इत्यादीना कर्मणामयमेव परमो धर्म यद्योगेन वाद्यचित्तवृत्तिनिरोधेनात्मनो दर्शनं याथातथ्यज्ञानम् । योगेनात्मज्ञाने देशादिनियमो नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं 'यत्रैकाग्रता सत्राविशेषात्' ( ब्र सू ४।१।६।१० ) इति ॥ ८ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान, आचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दान, वेदाध्ययन और ( पुण्य ) कर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है कि योग कर्मात् वाद्य चित्त-वृत्ति के निरोध द्वारा आत्मा का याथातथ्य बोध हो । ॥ ८ ॥

कारकहेतुषु ज्ञापकहेतुषु वा सदेहे तु निर्णयहेतुमाह—

चत्वारो वेदधर्मज्ञा परंप्रैविद्यमेव वा ।

सा मूले यं स धर्म स्यादेका याऽध्वारमयित्तमः ॥ ९ ॥

चत्वारो ब्राह्मणा वेदधर्मज्ञाश्च परंत्वं । तिस्रो विद्या अधीयन्त इति त्रैविद्या, तेषां समूहश्चैविद्यम् । धर्मज्ञानस्य स्वमयाप्यनुवर्तते, तद्वा परंत्वं । सा पूर्वोक्ता परंत्वं य मूले स धर्मः । अध्वारमयानेषु निपुणतमो धर्मज्ञोऽप्यस्य एकोऽपि वा य मूले सोऽपि धर्मः ॥ ९ ॥

भाषा—वेद और धर्म को जानने वाले चार पुराणों की या तीन विद्याओं के ज्ञाता तीन ही पुराणों की प्रपत्तु होती है । यह ( परंत्वं ) जो भी कहे वह धर्म होता है । अध्वारमयान में निपुणतम एक ही व्यक्ति जो कुछ कहता है वह धर्म होता है । ॥ ९ ॥

इत्युपोदात्तप्रकरणम् ।

ब्रह्मचारिप्रकरणम्

पूजैर्नैवमि श्लोके सकलशास्त्रावेदात्तमुक्त्वा इदानीं वर्गादेशेनां धर्मांस्वपुं प्रथमं तावद्गुणमाह—

ब्रह्मक्षत्रियविद्वद्ब्राह्मणा धर्मास्त्वाचारयो द्विजाः ।

निवेशाद्या श्रमशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रिया ॥ १० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवर्षरथशूद्राध्वारो वर्गा वक्ष्यमाणलक्षणान्तेषाम्-चाद्ययो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजाः, -विद्वर्जितान् इति विद्वजः, शेषे द्विजान् वै १० वे शूद्राश्च-

१. पातञ्जले । २. ब्रह्मशास्त्रधर्मज्ञा । ३. वेदधर्मशास्त्रज्ञ । ४. सोऽपि धर्म एव । ५. न शूद्राणां ।

पृतेन शुद्धरयामग्रकाः क्रिया इत्युक्तं भवति; 'शुद्धोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः' इति यमोक्ते । निषेकाद्याः निषेको गर्भाधानमाद्यो यासां तास्तथोच्यते । रममाणं पितृवग तासंबन्धि कर्म भन्ते यासां ताः क्रिया मन्त्रैर्भवन्ति ॥ १० ॥

भाषा—ग्राहण, अग्निव, वैश्य और शुद्ध-ये ( चार ) वर्ग हैं, इनमें शारम के तीन द्विज हैं । गर्भाधान से लेकर अमर्येष्टि तक की इन की सभी क्रियाएँ मन्त्रों द्वारा सम्पादित होती हैं ॥ १० ॥

इदानीं ताः क्रिया अनुक्रामति—

गर्भाधानमृतौ पुंसः सवर्नं स्पन्दनात्पुरा ।

पष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मान्येते जातकर्म च ॥ ११ ॥

अहन्येकावशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।

पष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम् ॥ १२ ॥

गर्भाधानमिश्रयुगतार्थं कर्मनामधेयम् । एष वक्ष्यमाणान्यपि । तद् गर्भाधान-मृतौ शतुकाले वक्ष्यमाणलक्षणे । पुंसवनवक्ष्य कर्म गर्भघटनान्पूर्वम् । पष्ठेऽष्टमे वा मासि सीमन्तोन्नयनम् । पृते च द्वे पुंसवन-सीमन्तोन्नयने चेत्प्रसंस्कारकर्म-श्चासकृदेव कार्यं, न प्रतिगर्भम् । यथाह देवलः—'महृषे सस्कृता नारी सर्व-गर्भेषु सरकृता । यं य गर्भं प्रसूयेत स सर्वं / सरकृषो भवेत्' इति । यद्वा-पृते वा इते भागते गर्भकोवाऽजाते कुमारं जातकर्म एकादशेऽहनि नाम । तच्च पितामहनाशमहादिसवद् कुलदेवतासवद् वा । यथाह शङ्ख ( २११४ )—'कुलदेवतासवद्दु पिता नाम कुर्यात्' इति । चतुर्थे मासि निष्क्रमणलक्षणं सूया-वेक्षणं कर्म । पष्ठे मास्यन्नप्राशनं कर्म । चूडाकरणं तु यथाकुलं कार्यमिति प्रायेक संबद्धवते ॥ ११-१२ ॥

भाषा—गर्भाधान संस्कार ( गर्भधारण के ) समय पर होता है और पुंसवन गर्भघटन के पहले होता है; सम्म लेने पर जातकर्म, स्यारहवें दिन नामकरण, चौथे मास में निष्क्रमण, संस्कार करे । छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करे और चूडाकरण संस्कार कुल की रीति के अनुसार करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

पृतेषां निर्यात्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलमाह—

एवमेव शर्म याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।



एवमुक्तेन प्रकारेण गर्भाधानादिभिः सस्कारकर्मभिः कृत्रैरेण पाप क्षम  
याति । किंभूतम् ? धीजगर्भसमुद्भव शुक्रशोणितसंबद्ध ग्राह्याधिसक्रान्तिनि-  
मित्त वा, न तु पतितोत्पन्नत्वादि ॥—

स्त्रीणां विशेषमाह—

तूष्णीमेता क्रिया, स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक\* ॥ १३ ॥

एता जातकर्मादिका क्रिया स्त्रीणां तूष्णीं विनैव मन्त्रैर्यथाकाल कार्या ।  
विवाह पुन समन्त्रक कार्यं ॥ १३ ॥

भाषा—इस प्रकार से (इन सस्कारों द्वारा) शुक्र और गर्भ से संबद्ध पाप  
क्षान्त होता है । ये (जातकर्मादि) स्त्रियों के लिये विना मन्त्र के किये  
जाते हैं और विवाह सस्कार मन्त्रों के साथ होता है ॥ १३ ॥

उपनयनकालमाह—

गर्भाष्टमेऽष्टमे चाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

दाशमेकादशे सैके विशामेक यथाकुलम् ॥ १४ ॥

गर्भाधानमादिं कृत्वा जनन चाष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायन उपनयनमेयोप  
नायनम् । स्वार्थे अण् । 'श्रुतानुसारात्, छन्दोभङ्गात् । आर्षं वा दीर्घत्वम् ।  
अष्ट्रेऽद्यथा विरुषप, । राजामेकादशे । विशां वैश्यानां सैके एकादशे । द्वादशे  
हृष्यर्षं । 'गर्भं प्रहण सर्वप्राणुवर्तते । समासे गुणभूतस्यापि 'गर्भ'शब्दस्य शुद्धयो  
विभक्त्योभयप्राप्त्यनुवर्तनं कार्यम् । 'गर्भादिकादशे राज्ञो गर्मादि द्वादशे विशा'  
( शत २।७ ) इति स्युध्यन्तरदर्शनात् । यथा अथ शब्दानुशासन, केषां  
शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानामिति । अत्रापि कार्यमिष्यनुवर्तते । कुल  
शिष्या केचिदुपनयनमिच्छन्ति ॥ १४ ॥

भाषा—गर्भकाल से आठवें अथवा नवम से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उप-  
नयन सस्कार होता है । इसी प्रकार कुल के अनुसार क्षत्रिय के लिए ग्यारहवें  
वर्ष में और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में यह सस्कार विहित है ॥ १४ ॥

गुरुवर्मानाह—

उपनीय गुरु\* शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।

वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ १५ ॥

एवमुक्तेन विधिनोपनीय गुरु\* शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकं वेदमध्यापयेत् ।  
महाव्याहृतयश्च भूरादिसंस्थाता सह । पद्य वा गौतमामिनायेण । ऋषि

१ अर्षं हृष्य लज्जानो । २ प्रकरणानुसारम् । ३ यज्जनात् ।  
४ शब्दानामिति । ५ शिष्य गुरु ।

शौचाचारांश्च वचयमाणलक्षणान् शिष्यवेत् । 'उपनीय शौचाचारांश्च शिष्येत्'  
इत्यनेन प्रागुपनयनारकामचारो दर्शितो यर्धमर्नवर्जविरवा । स्त्रीगामप्येतत्स-  
मानं पिपाहावर्षाक् ; उपनयनस्वानीयत्वाद्धिवादस्य ॥ १५ ॥

भाषा—गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे महाभाहृतियों के  
साथ वेद पढ़ावे और शौच के नियमों की शिक्षा दे ॥ १५ ॥

शौचाचारागाह—

द्विसंख्यासु कर्णस्थग्रहसूत्र उद्धमुखाः ।

कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखाः ॥ १६ ॥

कर्णस्थं ग्रहसूत्रं यस्य स तयोक्तः । कर्णश्च दक्षिणः, 'पवित्रं दक्षिणे कर्णे  
कृत्वा विष्णुसूत्रसूत्रे' इति लिङ्गात् । असावहनि संध्योश्च उद्धमुखो मूत्र-  
पुरीषे कुर्यात् । अत्राज्ञात्समाधिरहिते देशे । रात्रौ तु दक्षिणामुखाः ॥ १६ ॥

भाषा—यज्ञोपवीत काम पर अदाकर दिन में पूर्व सन्ध्या को उत्तर की  
ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिण की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष का  
त्याग करे ॥ १६ ॥

गृहीतशिरसश्चोत्थाय मृत्निरभ्युद्धृतैर्जलैः ।

गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रिता ॥ १७ ॥

किंच, अत्राज्ञात् शिरसं गृहीत्वोत्थायोद्धृताभिरद्रिर्वचयमाणलक्षणाभि-  
मृत्निश्च गन्धलेपयोः क्षयकरं शौचं कुर्यात् । अतन्द्रितोऽनलसः । उद्धृताभिर-  
निरिति जलाभ्य-शौचनिषेधः । अत्र 'गन्धलेपक्षयकरम्' इति सर्वाश्रमिणां  
साधारणमिदं शौचम् । मृतसकयानिधमसंबद्धार्थः ॥ १७ ॥

भाषा—शिरस को पकड़ कर और उठाकर, अलग छिये गये जल और  
मिट्टी द्वारा ( मल के ) गन्ध एवं लेप को नष्ट करने वाला शौच आलस्यरहित  
होकर करे ॥ १७ ॥

अन्तर्जानु शुचौ देशे उपविष्ट उद्धमुखः ।

प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

शुचौ अशुचिद्रव्यासंस्पृष्टे । देश इत्युपानन्दयनासनदिनिषेधः । उपविष्टो  
न स्थितः शयानः प्रहो गच्छन्वा । उद्धमुखः प्राङ्मुखो वेति दिगन्तरनिवृत्तिः ।  
'शुचौ देशे' इत्येतस्मात्प्रादमचालनप्राप्तिः । ब्राह्मेण तीर्थेन वचयमाणलक्षणेन  
द्विजो न शुद्धादिः । नित्यं सर्वकालमाश्रमान्तरगतोऽपि । उपस्पृशेदाचामेत् ।  
पथम् । अन्तर्जानु जानुनोर्मध्ये हस्तौ कृत्वा दक्षिणेन हस्तेनेति ॥ १८ ॥

भाषा—ब्राह्मण प्रतिदिन दोनों घुटनों के बीच हाथ-रखकर, पवित्र स्थल पर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठे और ब्राह्मतीर्थ से आचमन करे ॥ १८ ॥

प्रजापत्यादितीर्थान्याह—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।

प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुकृमात् ॥ १९ ॥

कनिष्ठापास्तजंन्या अङ्गुष्ठस्य च मूलानि करस्याग्रं च प्रजापतिपितृब्रह्मदेव-  
तीर्थानि यथाक्रमं वेदितव्यानि ॥ १९ ॥

भाषा—कनिष्ठा, तर्जनी और अंगूठे के मूलभाग तथा हाथ का अग्रभाग-  
ये सब क्रमशः प्रजापतितीर्थ, पितृतीर्थ और देवतीर्थ कहे जाते हैं ॥ १९ ॥

आचमनप्रकारः—

त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य ज्ञान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ।

अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनयुद्बुदेः ॥ २० ॥

वारत्रयमप' पीत्वा मुक्षमङ्गुष्ठमूलेन द्विरुन्मृज्य ज्ञानि द्विजाणि ऊर्ध्वकाय-  
गतानि प्राणादीनि अद्भिस्तु स्पृशेत् । अद्भिर्द्विष्पाश्रतरासंस्पृष्टाभिः । पुनरद्भिरिष्य-  
चग्रहण प्रतिषिद्धद्रुद्रकस्पर्शनार्थम् । स्मृत्यन्तरात्—'अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं  
चैव मुप' स्पृशेत् । अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुः श्रोत्रं पुनः पुनः ॥ कनिष्ठाङ्गु-  
थोर्नाभिं हृदयं ॥ तलेन चै । सर्वाभिस्तु शिरः पश्चादाह चाम्रेण संस्पृशेत् ॥'  
इति । पुनस्ता एव विशिनष्टि—प्रकृतिस्थाभिः गन्धरूपरसस्पर्शान्तरमप्राप्ताभिः ।  
फेनयुद्बुदरहिताभिः । तु शब्दाद्वर्षधारामताना शृङ्गापावर्मितानां च  
निषेधा ॥ २० ॥

भाषा—तीन बार जल पीकर, ( अंगूठे के मूलभाग से ) दो बार मुख  
धोकर, नाक, कान, भौंल और मुँह का जल से स्पर्श करे । यह जल स्वच्छ  
होना चाहिए, उसमें फेन एवं बुलबुले न होंवे ॥ २० ॥

दृक्कण्ठतालुगामिस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ।

शुष्येरन्स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ २१ ॥

दृक्कण्ठतालुगामिरद्भिर्यथाक्रमेण द्विजातयः शुष्यन्ति । स्त्री च शूद्रश्च  
अन्ततः अन्तर्गतेन तालुना स्पृष्टाभिरपि । 'सकृत्' इति वैश्याद्विशेषः । च  
शब्दादनुपनीतोऽपि ॥ २१ ॥

भाषा—द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल के पहुँचने पर शुद्ध होते हैं। स्त्री और शूद्र तो तालु से एक ही धार जल स्पर्श कराने पर शुद्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

स्नानमन्द्देवतैर्मन्त्रैर्मांजनं प्राणसंयमः ।

सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥ २२ ॥

प्रातःस्नानं यथाशास्त्रमन्द्देवतैर्मन्त्रैः 'भाषोहिष्ठा' इत्येवमादिभिर्मांजनम् । प्राणसंयमः प्राणायामो वक्ष्यमाणलक्षणः । ततः सूर्यस्योपस्थानं सौरमन्त्रेण गायत्र्याः । 'तास्त्रिविधैरेष्वम्' इत्याद्यौषाः प्रतिदिषत्सं जपः कार्यः । 'कार्य'-शब्दो यथालिङ्गं प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ २२ ॥

भाषा—स्नान, अन्द्देवत मन्त्र द्वारा मांजन, प्राणायाम, ( तदुपरास्त ) सूर्योपस्थान और गायत्री का जप प्रतिदिन करे ॥ २२ ॥

प्राणायामविचारः—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम् ।

प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥ २३ ॥

गायत्रीं पूर्वोक्ताम्, 'भाषोभ्योति.' इत्यादिना शिरसा संयुक्तां उक्तव्याहृति-पूर्विकीं प्रतिव्याहृति प्रणवेन संयुक्तां ओम् ओम्भुवः ओम्स्वरिति श्रीग्वाराभ्युक्त-गायिकासंचारिवायुं निरुन्धन् मनसा जपेद्विषयं सर्वत्र प्राणायामः ॥ २३ ॥

भाषा—शिरोमन्त्र और महाव्याहृति ( का जप करने ) के उपरान्त ( प्रत्येक महाव्याहृति में ) प्रणव जोड़ते हुए गायत्री का तीन धार ( मुख और नासिका की ) स्वासवायु रोककर जप करने पर एक प्राणायाम होता है ॥ २३ ॥

सावित्रीजपप्रकारः—

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाम्द्देवतेन नु ।

जपद्वासीत् सावित्रीं प्रत्यगागारकोदयात् ॥ २४ ॥

संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेद्वा सूर्यदर्शनात् ।

प्राणायामं पूर्वोक्तं कृत्वा तृचेनाम्द्देवतेन पूर्वोक्तेनात्मानमग्निः संप्रोक्ष्य सावित्रीं जपन् प्रत्येकमप्यामोभ्योत् । अर्थात् 'प्रत्यङ्मुख' इति लभ्यते । आ तारकोदयात् तारकोदयात्प्रधि । प्राक्संध्यां प्रातः समये एवं पूर्वोक्तविधिमाचरन् प्राङ्मुखः सूर्योदयावधि तिष्ठेत् । अहोरात्रयोः संधौ या क्रिया विधीयते सा संध्या । तत्र

अहं सपूर्णदिश्यमण्डलदर्शनयोग्य कालः, तद्विपरीता रात्रि । यस्मिन्काले  
खण्डमण्डलस्योपलब्धिः स सधि ॥ २४ ॥

भाषा—प्राणायाम के उपरान्त माज्जन के मंत्र से सिर पर जल छिड़क-  
कर ( सन्ध्या को ) पश्चिम की ओर मुख करके तारागण का उदय होने तक  
सावित्री का जप करे ॥ २४ ॥

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरुभयोरपि ॥ २५ ॥

ततः सन्ध्यापासनानन्तर द्वयोः सन्ध्योरग्निकार्यं अग्नौ कार्यं समिश्रणे-  
पादि यत्तत्कुर्यात् स्वगृहोक्तेन विधिना ॥ २५ ॥

भाषा—इसी प्रकार प्रातः काल सूर्य के उदय होने तक पूर्व दिशा को  
करके मुख जप करे । इसके उपरान्त दोनों सन्ध्याओं में ( साय एव प्रातः )  
अग्निहोत्र करे ॥ २५ ॥

ततोऽभिवाद्येद्बुद्धानसावहमिति ज्ञवन् ।

तदनन्तर बुद्धान् गुरुममृतीमभिवाद्येत् । कथम् ? असी देवदत्तशर्माऽह-  
मिति एव नाम कीर्तयन् ॥—

गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः ॥ २६ ॥

आहूतश्चाप्यधीयीत लब्ध चास्मै निवेद्येत् ।

द्वितं तस्याचरेन्मिश्य मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २७ ॥

तथा गुरु वक्ष्यमाणलक्षणमुपासीत तत्परिचर्यापरस्तदधीनस्तिष्ठेत् । स्वा-  
ध्यायार्थमभ्ययनसिद्धये समाहितोऽविक्लिप्तचित्तो भवेत् । आहूतश्चाप्यधीयीत  
गुर्वाहूत एवाधीयीत, ॥ स्वयं गुरु प्रेरयेत् । यच्च लब्ध तत्सर्वं गुरवे निवेद-  
येत् । तथा तस्य गुरोर्द्वितमाचरेत् । निश्य सदा । मनोवाक्कायकर्मभिः न प्रति-  
कूलं कुर्यात् । अपिशब्दाद्गुरुदर्शने गौतमोक्तं कण्ठप्राप्त्यादि वैर्जयेत् ॥ २६-२७ ॥

भाषा—तब 'मैं अमुक हूँ' ऐसा कहते हुए श्रेष्ठ स्वत्तियों को प्रणाम  
करे । अभ्ययन के लिए दत्तचित्त होकर गुरु की परिचर्या करे । ( गुरु द्वारा )  
बुलाये जाने पर ही अभ्ययन करे और जो कुछ प्राप्त हो वह सब गुरु को  
भर्पित करे । मन, वाणी, शरीर और कार्यों द्वारा उनके अमुक कार्य  
करे ॥ २६-२७ ॥

अध्याप्यानाह—

कृतज्ञाद्गोहिमेधाविशुचिकल्पानसूयका ।

अध्याप्या धर्मत साधुशक्तान्प्रज्ञानवित्तदा ॥ २८ ॥

न्य तस्मै । २ कल्याणसूचका । ४ अध्याप्या साधुशक्ता-

त्प्रायदा धर्मतस्त्वमे ।

कृतमुपकारं न विस्मरतीति कृतज्ञः । अद्रोही दयावान् । मेधावी ग्रन्थ-  
ग्रहणधारणशक्तः । शुचिर्वाङ्मायन्तरशौचवान् । कल्पः आधिद्याधिरहितः ।  
अनसूपको दोषानाविष्करणेन गुणविष्करणशीलः । साधु- वृत्तवान् । शक्तः  
शुद्धपापात् । आसौ बन्धु- । ज्ञानदो विद्याप्रद- । वित्तदोऽर्पणपूर्वकमर्थप्रदाता ।  
पुत्रे गुणा- समस्ता ष्वस्ताश्च यथासंभवं द्रष्टव्याः । पुत्रे च धर्मत- शाखातु-  
सारेण अध्याप्याः ॥ २८ ॥

भाषा—कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र आधिग्याधि में मुक्त, पर-  
दोषाग्नेषण से धिरत, सदाचारी, ( सेवा में ) समर्थ, बन्धु, विद्याप्रद एवं  
धनदाता—ये ही शास्त्र के अनुसार अध्यापन योग्य होते हैं ॥ २८ ॥

दण्डादिधारणमाह—

दण्डाजिनोपधीतानि मेक्षसां चैव धारयेत् ।

तथा स्त्रुत्यन्तरप्रसिद्धं पालाशादिदण्डं, अजिनं च कौर्णादि, उपवीतं  
कार्पासादिनिर्मितं, मेखलां च मुञ्जादि, प्राह्वणादिर्महाचारी धारयेत् ॥—

भैक्षचर्याप्रकारः—

प्राह्वणेपु चरेद् भैक्षमनिन्द्येभ्वारमवृत्तये ॥ २९ ॥

आदिमध्याधसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता ।

प्राह्वणक्षत्रियविशां भैक्षचर्यां यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

पूर्वोक्तदण्डादियुक्तो महाचारी प्राह्वणेष्वनिन्द्येषु अभिदास्तादिशक्तिरिक्तेषु  
स्वकर्मनिरतेषु भैक्षं चरेत् । आर्यवृत्तये आरममो जीवनाय न परार्थं भाषासं-  
सज्जार्थापुत्रभ्यतिरेकेण । निवेद्य गुरवे तदनुज्ञातो भुञ्जीत । 'तदभावे तत्पुत्राहा'  
इति नियमात् । अत्र च 'प्राह्वणं'ग्रहणं संभवे सति विद्यमार्थम् । यत्तु 'साध-  
वर्णिकं भैक्षचरणम्' इति, तत्रैवर्णिकेविययम् । यद्य 'वातुर्वर्ष्यं चरेन्नैचम्'  
इति, तदापद्विषयम् । कथं भैक्षचर्यां कार्या ? आदिमध्याधसानेषु भवच्छब्दोपल-  
क्षिता 'भवति भिषां देहि', 'भिषां भवति देहि', भिषा देहि भवति  
इत्येवं वर्णक्रमेण भैक्षचर्यां कार्या ॥ २९-३० ॥

भाषा—पलाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, वस्त्रोपवीत और मूँज की मेखला  
धारण करे । जीवन निर्वाह के लिए पवित्र ( अर्थात् अपने कर्म में रत रहने  
वाले ) प्राह्वणों के घर- भिक्षायाचन करे । प्राह्वण, क्षत्रिय और पैरय क्रमशः  
आरम, मध्य और अन्त में 'भवत्, चब्द का प्रयोग करते हुए भिषा की  
याचना करे ॥ २९-३० ॥

१. अर्पणपूर्वक । २. कौर्णाजिनादि । ३. भैक्ष । ४. सति । निय-  
मार्थ । ५. वैवर्णिकप्राप्त्यर्थम् ।

## आचाराध्यायः

भोजनप्रकारः—

कृताग्निकार्यो भुञ्जीत चाग्न्यतो गुर्वनुद्धया ।

आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तेन विधिना भिचामाहृत्य गुरवे त्रिवेद्य तदनुद्धया कृताग्निकार्यो वास्यतो मीनी अन्नं सरसृत्य संपूज्य अकुत्सयन्ननिन्दन् आपोशानक्रिया 'अमृतोपरतरणमसि' इत्यादिकां पूर्य कृत्वा भुञ्जीत । अत्र पुनः अग्निकार्यग्रहण संध्याकाले कथंचिदकृताग्निकार्यस्य कालान्तरविधानार्थं न पुनस्तृतीयप्राण्यधर्मम् ॥ ३१ ॥

भाषा—( हवनादि ) अग्निकार्यं करके गुरु की आज्ञा पाकर, आचमन करके, अन्न का संस्कार करके और ( अन्न की ) मित्रता न करते हुए मौन होकर भोजन करे ॥ ३१ ॥

ब्राह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।

ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मचर्ये स्थित एकान्न नाद्यादनापदि व्याप्याद्यभावे । ब्राह्मणः पुनः श्राद्धेऽभ्यर्धितः सन् काममश्नीयात् । व्रतमपीडयन् मधुमांसपरिहारेण । अत्र 'ब्राह्मण'ग्रहणं च त्रिधादेः श्राद्धभोजनव्युदासार्थम् । 'राजस्यवैश्ययोरचैत्र नैतत्कर्मं प्रथचते' इति स्मरणात् ॥ ३२ ॥

भाषा—ब्राह्मचर्याधम में रहते हुए, रोगादि विपत्ति से मुक्त दशा में किसी एक ही ( व्यक्ति के ) अन्न का भोजन न करे; श्राद्ध भोजन के अवसर पर ब्राह्मण अपने व्रत का उल्लंघन न करते हुए ऐसा कर सकता है ॥ ३२ ॥

मधुमांसादिष्वर्ज्यान्वाह—

मधुमांसाज्जनोच्छिष्टशुक्लस्त्रीप्राणिर्हिंसनम् ।

भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

मधु सूत्रं, न मद्यम् ; तस्य 'नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति निषेधात् । मांसं द्वागादेरपि । अजंनं घृतादिना गात्रस्य, कज्जलादिना च्वापणो । उच्छिष्ट-मगुरो । शुषतं निष्ठुरवाक्यं, नोञ्जरसः ; तस्याभक्ष्यप्रकरणे निषेधात् । स्त्रिय-मुपभोगे । प्राणिर्हिंसनं जीववधः । भास्करस्योददास्तमयावलोकनम् । अश्लील-मसार्थभाषणम् । परिवादः सदसद्रूपस्य परदोषस्य कथापनम् । 'आदि' शब्दात् स्मृत्यन्तरोक्तं गन्धमाद्यादि गृह्यते । पृतानि ब्राह्मचारी वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

१. कालान्तरं मध्याह्नादि । २. एकान्नमेकस्वामिकम् । ३. कामं यथे-  
ष्टम् । ४. न रसादि । ५. भास्करस्य चालोकनं । ६. शुद्धभाषणं ।

भाषा—मधु, मांस, छेप और अंजन (गुरु के अतिरिक्त क्षण्य का) जूठा भोजन, कठोर घषन, स्त्री, जोषहिंसा, (उदय और अस्त के समय) सूर्यदर्शन, अश्लील (और असत्य) भाषण तथा दोषान्वेषण इत्यादि से पाहेज रखे । ॥ ३३ ॥

गुर्वादिलक्षणमाह—

स गुरुर्व्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।

उपनीय ददद्देदमाचार्यः स उदाहृतः ॥ ३४ ॥

योऽसौ गर्भाधानाद्या उपनयनपर्यन्तः क्रिया यथाविधि कृत्वा वेदमस्मै ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति स गुरुः । यः पुनरुपनयनमात्रं कृत्वा वेदं प्रयच्छति स आचार्यः ॥ ३४ ॥

भाषा—वह गुरु होता है जो (उपनयन तक की) क्रियाएँ परके इस (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान देता है । केवल उपनयन संस्कार करके वेद प्रदान करने वाले को आचार्य कहा गया है ॥ ३४ ॥

उपाध्यायवर्तिलक्षणम्—

एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग्यसकृदुच्यते ।

एते माम्था यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥ ३५ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्र ब्राह्मणयोरेकं अह्नानि वा योऽध्यापयति ॥ उपाध्यायः । येः पुनः पाकपश्यादिकं पृष्ठः करोति स ऋत्विक् । एते च गुर्वाचार्योऽवापायवर्तिभ्यो यथापूर्वं यथाक्रमेण माम्थाः पूज्याः । एभ्यः सर्वेभ्यो माता गरीयसी पूज्यतमा ॥

भाषा—(वेद के) एक भाग या अह्न की शिक्षा देने वाला उपाध्याय होता है, और पशुकर्म कराने वाले को ऋत्विक् कहते हैं । ये (गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज्) क्रमानुसार पूज्य होते हैं, और माता इन सब से अधिक पूजनीय होती है ॥ ३५ ॥

वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यावधिमाह—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।

ब्रह्मणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे ॥ ३६ ॥

'यदा विवाहासंभवे वेदानधीत्य वेदा वा वेदं वा' इति प्रवर्तते तदा प्रतिवेदं वेदं वेदं प्रति ब्रह्मचर्यं पूर्वोक्तं द्वादशवर्षाणि कार्यम् । अशक्यं पञ्च । 'ग्रहणा-  
न्तिकं' द्वापेके वर्णयन्ति । केशान्तः पुनर्गोदानाख्यं कर्म गर्भादारभ्य षोडशे वर्षे



प्राह्मणस्य कार्यम् । एतच्च द्वादशवार्षिके वेदव्रते योद्धव्यम् । इतरस्मिन्पक्षे यथा  
संभव द्रष्टव्यम् । राजन्व वैश्ययोस्तुपनयनकालवद् द्वाविंशो चतुर्विंशो वा द्रष्ट  
व्यम् ॥ ३६ ॥

भाषा—प्रत्येक वेद के लिए बारह अथवा पाच वर्षों का ब्रह्मचर्यकाल  
होता है कि तु कुछ लोग विद्याप्रदण के अन्त तक ब्रह्मचर्य बताते हैं ।  
केशान्त या गोदान नाम का कर्म ( यर्मकाल से ) सोलहवें वर्ष में करना  
चाहिए ॥ ३६ ॥

उपनयनकालस्य परमावधिमाह—

आ षोडशादा द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च षट्सरात् ।  
ब्रह्मक्षत्रविशा काल औपनायनिक पर ॥ ३७ ॥  
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मवहिकृता ।  
सावित्रीपतिता आत्या द्रात्यस्तोमाहते क्रतो ॥ ३८ ॥

आषोडशादूर्ध्वोदशावर्षं यावत् आ द्वाविंशादा चतुर्विंशादूर्ध्वं ब्रह्मक्षत्रविशां  
औपनायनिक उपनयनसम्बन्धी पर काल । नात परमुपनयनकालोऽस्ति,  
किंतु अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मवहिकृता सर्वधर्मेष्वनधिकारिणो भवति ।  
सावित्रीपतिता पतितसावित्रीका भवन्ति । सावित्रीदानयोग्या न भवति ।  
आत्या सस्कारहीनाश्च द्रात्यस्तोमाहृत्तोर्विना कृते तु तस्मिन्-उपनयनाधिका  
रिणो भवन्ति ॥ ३७-३८ ॥

भाषा—सोलह, बारह और चौबीस वर्ष तक क्रमशः प्राह्मण, क्षत्रिय  
वैश्य के लिए उपनयन सस्कार की आखिरी अवधि होती है । इस समय के  
बाद ( यज्ञोपवीत न होने पर ) वे सभी धर्मों से रहित होकर प्युत,  
सावित्रीदान के अयोग्य और द्रात्यस्तोम यज्ञ के बिना द्रात्य अर्थात् सस्कार  
हीन हो जाते हैं ॥ ३७-३८ ॥

‘आद्यास्यो द्विजा’ ( आचार २०१ ) इत्युक्तं, तत्र हेतुमाह—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिवन्धनात् ।  
प्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजा स्मृता ॥ ३९ ॥

मातु सकाशात्प्रथम जायन्ते मौञ्जिवन्धनाच्च द्वितीय जन्म परमात्  
स्मादेते प्राह्मण क्षत्रिय वैश्या द्विजा उप्यन्ते ॥ ३९ ॥

१ या यथासंभव । २ त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृता । ३ प्राह्मणश्च  
त्रियविशा ।

भाषा—प्राहण, पुत्रिय और वैश्य पहले माता से जन्म लेते हैं; मीजि मेवला के बंधे जाने पर (उपनयन के समय) इन सब का दूसरा जन्म होता है; अतः इन्हें द्विज कहा जाता है ॥ ३९ ॥

वेदग्रहणाध्ययनफलमाह—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।  
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥ ४० ॥

यज्ञानां शीत-रमातीनां, तपसां कायसंतापस्वाणां चान्द्रायणादीनां, शुभानां च कर्मणां उपनयनादिसंस्कारानां भवयाद्यकरणेन वेद एव द्विजातीनां परो निःश्रेयसकरो मान्यः । 'वेद एव' इति तन्मूलकत्वेन स्मृतेरप्युपलक्षणार्थम् ॥ ४० ॥

भाषा—यज्ञों, तपस्याओं और (उपनयनादि) शुभ कर्मों का भवबोधन होने से वेद ही द्विजातियों के लिए परम उपकारक होता है दूसरा नहीं ॥ ४० ॥

ग्रहणाध्ययनफलमुख्येदानीं काम्यमतमहायज्ञाध्ययनफलमाह—

मधुना पयसा चैवं स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।

पितृन्मधुघृताभ्यां च ऋषींऽधीते च योऽन्वहम् ॥ ४१ ॥

यजूंषि शक्तितोऽधीते योऽन्वहं स घृतामृतैः ।

प्रीणाति देवानाज्येन मधुना च पितृस्तथा ॥ ४२ ॥

स तु सोमघृतैर्देवांस्तर्पयेद्योऽन्वहं पठेत् ।

सामानि वृत्तिं कुर्याच्च पितॄणां मधुसर्पिणा ॥ ४३ ॥

योऽन्वहघृतोऽधीते ॥ मधुना पयसा च देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति । यः पुनः शक्तितोऽन्वहं यजूंष्यधीते स घृतामृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति । अथ सामाभ्यन्वहमधीते स सोमघृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिण्यां प्रीणाति । ऋषादिग्रहणं सामान्येन ऋषादिर्मात्रप्राप्त्यर्थम् ॥ ४१-४३ ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन ऋषाओं का अध्ययन करता है, वह मधु और दूध से देवताओं के लिये तथा मधु और घृत से पितरों के लिये तर्पण करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति यजुस् मन्त्रों का अध्ययन करता है वह घृत और जल से देवताओं का तथा आज्य एवं मधु से पितरों को प्रसन्न करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन सामवेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह सोम और घृत से देवताओं के लिए तर्पण करता है, और मधु तथा घृत द्वारा पितरों को वृत्ति प्रदान करता है ॥ ४१-४३ ॥

१. परो मोक्षकरो । २. काम्यग्रह । ३. हि यो । ४. पितृंश्च मधुना द्विजः । ५. प्रीणाति । ६. मंत्र ।

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरस पठन् ।<sup>१</sup>

पितृश्च मधुसर्पिभ्यामन्वहं शक्तितो द्विज ॥ ४४ ॥

वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः ।

इतिहासांस्तथा विद्यां शक्त्याधीते हि योऽन्वहम् ॥ ४५ ॥

मांसशरीरोदनमधुतर्पणं स दिवोकसाम् ।

करोति तृप्तिं कुर्याच्च पितृणां मधुसर्पिणा ॥ ४६ ॥

ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।

यः पुनः शक्तितोऽन्वहं अथर्वाङ्गिरसोऽधीते स देवाग्मेदसा पितृश्च मधुसर्पिभ्यां तर्पयति । यस्तु वाकोवाक्यं प्रश्नोत्तररूपवेदवाक्यम् । पुराणं ब्राह्मणादि । चकारार्मानवादिधर्मशास्त्रम् । नाराशंसीश्च रुद्रदेवस्यान्मन्त्रान् । गाथा यज्ञगाथेन्द्रगाथाद्याः । इतिहासान् महाभारतादीन् । विद्याश्च वारुणाद्या विद्याः । शक्तितोऽन्वहमधीते । स मांसशरीरोदनमधुसर्पिर्भिर्देवान् पितृश्च मधुसर्पिभ्यां तर्पयति ॥ ते पुनरतृप्ताः सन्तो देवाः पितरश्च पुनः स्वाध्यायकारिणं सर्वकामफलैः शुभैरनभ्योपघातलक्षणैस्तर्पयन्ति ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन यथाशक्ति—अथर्वाङ्गिरस पढ़ता है वह देवों का मेद द्वारा पूज पितरों का मधु और घृत द्वारा तर्पण करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति वाकोवाक्य पुराण, नाराशंसी, गाथा इतिहास तथा (वारुणादि) विद्याओं का अध्ययन करता है वह मांस दूध, ओदन और मधु द्वारा देवताओं के लिए तर्पण करता है और पितरों को मधु तथा घृत द्वारा तृप्त करता है । वे (देवता और पितर) तृप्त होकर इन (स्वाध्याय के अधिकारी) को सभी शुभ अमीष्ट फलों द्वारा सुखी बनाते हैं ॥

प्रणवार्थमाह—

यं ॥ क्रतुमधीते ॥ च तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ॥ ४७ ॥

त्रिविंशत्पूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते ।

तपसश्च परस्येह नित्यं स्वाध्यायवान्द्विजः ॥ ४८ ॥

पश्य पश्य क्रतोः प्रतिपादक वेदैकदेशमन्वहमधीते तस्य तस्य क्रतो फलमवाप्नोति । तथा त्रिविंशत्पूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते । त्रि विंशत् पूर्ण पृथिवीदानस्य फल परस्य

१. पितृश्च मधुसर्पिणा । सतर्पयेद्यथाशक्ति योऽथर्वाङ्गिरसीः पठेत् । २. विद्या योऽधीते शक्तितोऽन्वहम् । ३. च तथा । ४ मधीयीत; मधीतेऽसौ । ५ तपसो यत्परस्य । ६ नित्यं ।

तपसंश्चान्द्रायणादेशकं तदपि नित्यं स्वाध्यायवानाप्नोति । 'नित्य' ग्रहणं काम्यस्यापि सतो नित्यतः ज्ञापनार्थम् ॥ ४७-४८ ॥

भाषा—वह जिस-जिस यज्ञ का अध्ययन करता है, उस-उस यज्ञ का फल प्राप्त करता है । घनधान्य से पूर्ण पृथिवी का तीन बार दान करने से एवं ( चान्द्रायणादि ) संकृष्ट तपस्याओं से जो फल होता है वही का भोग नित्य स्वाध्यायवत् द्विज करता है ॥ ४७-४८ ॥

पुत्रं सामान्येन ब्रह्मचारिधर्मानभिघायाद्युना नैष्ठिकस्य विशेषमाह—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु यत्सेवाचार्यसन्निधौ ।

तद्भावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ ४९ ॥

अनेन विधिना देहं सांद्रयन्विजितेन्द्रियः ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेद्वाजायते पुनः ॥ ५० ॥

अनेनोक्तेन प्रकारेणान्मानं निष्ठां उत्क्रान्तिकालं जयतीति नैष्ठिकः स याप-  
उत्तीवमाचार्यसमीपे यसेत् । न वेदं ग्रहणोत्तरकालं स्वतन्त्रो भवेत् । तद्भावे  
सत्पुत्रसमीपे, तद्भावे तद्भार्यासमीपे, तद्भावे वैश्वानरेऽपि । अनेनोक्तविधिना  
देहं सांद्रयन् विजितेन्द्रियः इन्द्रियजये विशेषप्रयत्नवात्नह्यचारी ब्रह्म-  
लोकममृतत्वमाप्नोति । न कदाचिद्दिह पुनराजायते ॥ ४९-५० ॥

भाषा—नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के समीप निवास करे, उनके न होने पर उनके पुत्र के समीप भयवा ( पुत्र के अभाव में ) उनकी पत्नी के या ( गृह पत्नी के न होने पर ) अग्निहोत्र की अग्नि के निकट निवास करे । इस विधि द्वारा शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय कर वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है और इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता ॥ ४९-५० ॥

इति ब्रह्मचारिप्रकरणम् ।

### विवाहप्रकरणम्

यः पुत्रवैवाह्यस्तस्य विवाहार्थं स्नानमाह—

गुरवे तु धरं दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेदं मतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥ ५१ ॥

१. साधयन् [ अस्मिन्पाठे विपरीतलक्षणा बोध्या । ] २. न चेद् जायते ।

३. उत्कृष्टकारेण ।

४. ग्रहणकालोत्तर ।

५. स्वोपास्यग्निनिधौ ।

६. प्राथीत ।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण वेदे मन्त्रग्राह्यगारमकम्, यन्नानि, ब्रह्मचारिधर्माननुष्ठा-  
तान् । उभयं वा, पारं नीत्वा समाप्य, गुरवे पूर्वोक्त्याय धरमभिलषितं  
रथादाक्ति दत्ता स्नायात् । अतर्त्तौ तदनुष्ठया अदत्तवरोऽपि । एतेषां च पश्चात्  
गच्छिष्याण्येवेत्युया श्यत्रस्था ॥ ५१ ॥

भाष्या—वेद ( वा अध्ययन ) या धर्मों को समाप्त कर अधवा वेदाध्ययन  
एवं धर्म दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथादाक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा  
से ( समावर्तन ) समाप्त करे ॥ ५१ ॥

स्नानानन्तरं किं कुर्यादित्यत आह—

अविप्लुतप्रह्वचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यथायसीम् ॥ ५२ ॥

अविप्लुतप्रह्वचर्योऽस्यलितप्रह्वचर्यः । लक्षण्यां याज्ञान्यन्तरलक्षणैर्युक्ताम् ।  
ग्राह्यानि 'तनुलोमभेदोद्गनाम्' इत्यादीनि ( ३१० ) अनुभोक्तानि । आभ्य-  
तराणि 'अष्टौ पिण्डाभृत्वा' इत्याद्याश्लेषानोक्तविधिना ज्ञानभ्यानि । स्त्रियं  
तपुंसकश्चनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् । अनन्यपूर्विकां दानेनोपभोगेन वा  
पुण्यान्तराऽवरिगृहीताम् । कान्तौ-कमनीयां बौद्धर्मनोपमानम्कारिणीम् ।  
यस्यां मनश्चक्षुरेर्निर्दग्धरतस्यागृह्णिः' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । एतच्च म्यूनाधि-  
ताह्वारिवाद्यशेषाभावे । अमपिण्डां समान एकः पिण्डो देहो यस्याः सा  
रपिण्डा, न सपिण्डा अमपिण्डा ताम् । सपिण्डता च एकशरीरावयवान्मयेन  
यति । तथा द्वि-पुत्रश्च वितृशरीरावयवान्मयेन विप्र्रां सौहेकपिण्डता । एवं  
वंतामहादिभिरपि वितृहारेण तच्छरीरावयवान्मयात् । एवं मातृशरीरावयवान्म-  
येन माता । तथा मातामहादिभिरपि मातृहारेण । तथा मातृत्वमृनातृश्रादिभि-  
ष्येकशरीरावयवान्मयात् । तथा वितृभ्य वितृत्वश्रादिभिरपि । तथा एवा  
ह पश्या एकशरीरावयवकतया । एवं भ्रातृमावाणामपि परस्परमेकशरीरावयवैः  
द्विकशरीरावयवकत्वेन । एवं यत्र यत्र 'सन्निह'सन्निहसन्निह सन्निह सन्निह  
॥ एकशरीरावयवान्मयां वेदितव्यः । यद्येवं मातामहादानामपि 'दत्ताहं दत्ता  
गौशं सपिण्डेषु विधीयते' इत्यादिश्लेषेण प्राप्नोति । स्वयदेतत्, -यदि तत्र  
प्रणानामितरे कुपुं' इत्यादिविशेषयत्न न स्यात् । अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेष-  
धर्मं मारिण तत्र 'दत्ताहं दत्तामानीयम्' इत्येतद्भ्रमनमवतिष्ठते । अथर्वं  
एकशरीरावयवान्मयेन सपिण्डत्वं धर्मनीयम् । 'आमा द्वि जज्ञ आभन.'  
त्यादिश्रुतेः । तथा 'प्रजापतु प्रजापते' इति च । 'न एवाथ तिरुद. प्रपपे गो-

१. वेदादीनि अनुभोक्तानि । २. मह सान्निह्य । ३. एकशरीरावयवैः ।

१ १ ५

पलभ्यते, दृश्यते चापि सारूप्यम् । देहत्वमेवान्यत् इत्यापस्तम्बवचनात्च ।  
 तथा गर्भोपनिषदि—‘पृतत् पाटकौशिक शरीरं त्रीणि पितृनस्त्रीणि मातृन ।  
 अस्थिरनायुमज्जानं पितृतस्त्वच्छासरधिराणि मातृन’ इति तत्र तत्राप्यवा-वय  
 प्रतिपादनात् । निर्वाप्यपिण्डान्वयेन च सापिण्ड्ये अतृसताने भ्रातृपितृव्यादिषु  
 च सापिण्ड्ये न स्यात् । समुदायशक्यद्वीकारेण रुडिपरिमहेऽत्रयवशात्तस्त्र  
 तत्राप्यगम्यमाना परिस्थक्ता स्यात् । अस्त्ववयवार्थेषु योऽन्यत्रार्थे प्रयुज्यते ।  
 तत्रानन्यगतित्वेन समुदाय प्रसिद्धयति । एव परम्परयैकशरीरावयवान्श्वयेन तु  
 सापिण्ड्ये यथा नातिमसहस्तथा वक्ष्याम । यत्वीयसी वयसा प्रमाणतश्च न्यूना  
 उद्गहेत् परिणयेत् स्वगृहोक्तेन विधिना ॥ ५२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्यं से च्युत न होकर शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह  
 करे, जो पहले किसी अन्य पुरुष को प्रदत्त या किसी द्वारा भुक्त न हो, सुन्दरी  
 हो, असपिण्ड हो तथा (आयु एवं शरीर प्रमाण में) अपने से छोटी हो ॥५२॥

विशेषान्तरार्णवाह—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्पणोन्नजाम् ।

अरोगिणीं अचिकित्सनीयस्याभ्यनुवच्छाम् । भ्रातृमतीं पुत्रिकाकरणश-  
 क्तानिवृत्तये । अनेनापरिभाषितापि पुत्रिका भवतीति गम्यते । असमानार्पणोन्नजा  
 ऋषेरिदमार्पं नाम प्रवर इत्यर्थं । गोत्र वसपरम्पराप्रसिद्धम् । भार्यं च गोत्रं च  
 भार्यगोत्रे, समाने भार्यगोत्रे वस्वासी समानार्पणोन्नतस्माज्जाता समानार्पणोन्नजा,  
 न समानार्पणोन्नजा असमानार्पणोन्नजा ताम् । गोत्रप्रवरौ च पूवकपृषपवर्षुवासे नि-  
 मितम् । तेनासमानार्पणोन्नतसमानगोत्रजामित्यर्थं । तथा च ‘असमानप्रवरैर्विवाह’  
 ( गौ सृष्ट ४१५ ) इति गौतम । तथा ‘असपिण्डा च या मौतुरसपिण्डा च या  
 पितु । सा प्रसस्ता द्विजातीना दारकर्मणि मैथुने ॥’ इति ( ३१५ ) मनु ।  
 तथा मातृगोत्रामप्यपरिणेषां केचिद्विच्छन्ति, ‘मातृराय सुतामृत्वा मातृगोत्रां  
 तर्षव च । समानप्रवरां चैव गौरा चाम्द्रायण चरेत् ॥’ इति प्रायश्चित्तस्मरणात् ।  
 अत्र च ‘असपिण्डाम्’ इत्यनेन पितृवश्च मातृवश्चादिदुहितृनिषेध । तथा  
 ‘असगोत्राम्’ इत्यनेनासपिण्डाया अपि भिन्नसन्तानजाया समानगोत्राया  
 निषेध । तथा ‘असमानप्रवराम्’ इत्यनेनाप्यसपिण्डाया असगोत्राया अपि

१ पिण्डनिर्वाणयुक्त्या निर्वाप्यसपिण्डा । २ भ्रातृपुत्रादिषु । भ्रातृव्य  
 पितृव्या । ३. प्रमाणेन च । ४ असमानगोत्रा असमानार्पणामित्यर्थं ।  
 ५. असगोत्रा च । ६ ‘सगोत्रा मातृरप्येके नेच्छन्त्युद्गाहकर्मणि । जन्मनाऽनोर-  
 विज्ञाने तुद्देहदयिनाङ्कित ॥’ इति व्यास । ७ एवमवा ।

समानप्रवरादा निषेधः । तथा च 'असपिण्डाम्' इत्येतरसार्धवर्गिकम् ; सर्वत्र सापिण्ड्यमज्ञावान् । 'असमानार्धगोत्रजाम्' इत्येतरत्रैवर्गिकविषयम् । यद्यपि राजन्यत्रिणां प्रीतिरिजन्मोत्राभावात्प्रवराभाजस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरी घेदितव्यौ । तथा च 'यजमानस्याप्येवान्प्रवृणीते' इत्युक्त्वा 'पौरोहित्यान् राजन्यविदां प्रवृणीते' इत्याहाश्रलायनः ( धी. सू अ ६ स १५ ) । सपिण्डासु समानगोत्रासु समानप्रवरामु भार्यात्वमेव नोत्पद्यते । रोगिण्यादिषु तु भार्याये उत्पन्नेऽपि दृष्टविरोध एव ॥—

भाषा—असाध्य रोग से अटूनी हो, भाई वाली हो, और समान गोत्र एवं प्रवर की न हो ।

'असपिण्डाम्' इत्यत्रैकदारीरावपवान्वयद्वारेण साक्षात्परम्परया वा सापिण्ड्यमुक्तं, तथा सर्वत्र सर्वस्य यथाकथञ्चिदनादौ समारंभभवतीत्यतिप्रसङ्ग इत्यत्र आह—

पञ्चमास्तमादूर्ध्वं मातुः पितृत्तन्तया ॥ ५३ ॥

मातुः मातुः मताने पञ्चमादूर्ध्वं पितृत्त पितुः संताने सप्तमादूर्ध्वं, 'सापिण्ड्यं निवर्तते' इति शेषः । अतश्चायं 'सपिण्ड'शब्दोऽवयवदाशर्यां सर्वत्र प्रवर्तमानोऽपि निर्मम्य पञ्चमादिशब्दव्यतिरिक्तविषय एव । तथा च विप्रादयः पट् सपिण्डा, पुत्रादयश्च पट्, आत्मा च सप्तमः, संतानभेदेऽपि यत्. संतानभेद-रत्नमाहाय गगयेद्यावत्सप्तम इति सर्वत्र योजनीयम् । तथा च मातरमारभ्य तरिप-तृपितानमाहादिगगनायां पञ्चमैसतानवर्तिनी मातुः पञ्चमीसुपचयंते । एव पितर-मारभ्य तरिपत्रादिगगनायां सप्तमपुरुषसतानवर्तिनी पितृत्त. सप्तमीनि । तथा च 'भगिन्धोर्भगिनीभ्रात्रोभ्रातृपुत्रीपितृम्यथो । विवाहे द्वयोर्दिभूतत्वाच्चाग्राभेदोऽय-गण्यते ॥ यद्यपि वनिष्टेनोक्तं 'पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातुः पितृत्तन्तया' इति, 'शान्तीरव मातुः पञ्चमीरव च पितृत्त' इति च पैटीनमिना, तदप्यर्थाद्विनिषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः । एतच्च समानजातीये द्रष्ट-व्यम्, विजातीये तु विदोषः । यथाह द्वादश — 'यद्येकजाता बहवः पृथक्चेप्राः पृथक्जना । एवपिण्डाः पृथक्शीलाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ॥ एवममादमाहगादे-जाता एवजाता । पृथक्चेप्राः मितजातीयामु खीषु जाता । पृथक्जनाः समानजातीयामु मिजामु खपु जातारते एवपिण्डा, सपिण्डा किंनु पृथक्-

१. गोत्रप्रवर्तकत्वात्प्रवरावयवप्रयुक्तत्वमत्र प्रीतीश्वरत्वम्. प्रीतीश्वरगोत्रा-  
भावात्तथापि । २. दृष्टदोषविरोधः । ३. इत्येते च मेऽवयवः । ४. यद्य-  
दाशर्या प्रवर्तः । ५. पञ्चमपुरुषवर्तिनी । ६. उपदि । ७. गगण्यते ।  
८. एवपिण्डाः सपिण्डाः ।

श्रीवाः । पृथक्श्रीचमाश्रीचप्रकरणे वक्ष्यामः । 'पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु त्रिपुरूपमेव सापिण्डवमिति ॥ ५३ ॥

भाषा—तथा माता के कुल में पाँच पीढ़ी से ऊपर एवं पिता के कुल में सात पीढ़ी से ऊपर हो ॥ ५३ ॥

दशपूरुषवित्याताच्छ्रोत्रियाणां मद्वाकुलात् ।

पुरुषा एव पूरुषाः, दशभिः पुरुषैर्मवृत्तः पञ्चभिः पितृभ्यः पञ्चभिर्वित्यातं तदकुलं तस्मात् । श्रोत्रियाणामधीतवेदानाम् अध्ययनमुपलक्षणं धृताभ्ययनसंपन्नानाम् । महच्छ तदकुलं च महाकुलं पुत्रपौत्रपशुदासीप्रामादितसृष्टं, तस्मात्कर्मका आहर्ताभ्येति नियम्यते ॥

भाषा—जिस उच्च कुल के पुरुष दस पीढ़ियों से प्रख्यात वेद पाठी हों, उस कुल की कन्या प्रहण करे;

यथे सर्वतः प्राप्सौ सरथामपवाद्माह—

स्कीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात् ॥ ५४ ॥

स्कीतादिति । संचारिणो रोगाः श्वित्रकुष्ठापस्मारप्रभृतयः शुक्रशोणितद्वारेणानुप्रविशन्तो श्लेषाः पुनः हीनक्रियनिःपौरुषाद्यादयो मनुजोक्ताः । यतैः समन्वित्यास्कीतादपि पूर्वोक्तामहाकुलादपि नाहर्ताभ्यः ॥ ५४ ॥

भाषा—किन्तु यदि महान् कुल में भी संसर्गज रोग हों तो उससे कन्या न ले ॥ ५४ ॥

एवं कन्याप्रहणनियममुक्त्वा कन्यादाने चरनियममाह—

एतैरेव गुणैर्गुणैः सवर्णः श्रोत्रियो चरः ।

चरनारपरीक्षितः पुंस्रथे युवा धीमान्जनप्रियः ॥ ५५ ॥

एतैरेव पूर्वोक्तैर्गुणैर्गुणैः दोषैश्च वृत्तितो चरो भवति । तस्यायमपरो विशेषः—सवर्णं उच्यते वा, न हीनवर्णः । श्रोत्रियः इत्यं च श्रुताभ्ययनसंपन्नः । यानात् प्रयत्नेन पुंस्रथे परीक्षितः । परीक्षोपायश्च नारादेन दर्शितः—'यस्याप्सु पश्यते कीजं ह्लादि मूर्धं च फेनिलम् । पुमान्स्वाह्वल्लक्षणेभैर्जिपरीक्षेस्तु पण्डकः ॥ इति । युवा न वृद्धः । धीमान् लौकिकवैदिकव्यवहारेषु निपुणमतिः । जनप्रियः 'सितपूर्वमुद्गभिभाषणादिभिरसुरक्तजनः ॥ ५५ ॥

भाषा—चर भी इन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त, सवर्ण और विद्वान् होना चाहिए उसके पुरुषत्व की चरनपूर्वक परीक्षा की गई हो और वह युवक, विवेकशील और प्रिय होवे ॥ ५५ ॥



रति पुत्र धर्मार्थवेन त्रिवाहसिद्धि । तत्र पुत्रार्थे द्विविध नित्य,  
 काम्यश्च । तत्र नित्ये प्रजायै 'सवर्णः श्रोत्रियो वर' ( आचार ५५ ) इत्यनेन  
 सवर्णा मुरया दर्शिता । इदानीं काम्ये नित्यसयोगे चानुक्तयो वक्ष्य्य इत्यत  
 आह—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राहारोपसंग्रह ।  
 नैतन्मम मतं यस्मात्तत्राय जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

यदुच्यते 'सवर्णाग्ने द्विजातीना प्रशस्ता दारकर्मणि । कामतस्तु प्रवृत्ताना-  
 मिमा स्तु क्रमशोऽवरा ॥' इत्युपक्रम्य-ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या, श्रित्रियस्य  
 तिस्र, वैश्यस्य द्वे इति द्विजातीना शूद्रावेदनमिति नेतृत्वात्प्रवृत्तस्य मतम् ।  
 यस्मादथ द्विजानिस्तत्र स्वय जायते । 'तज्जाया जाया भवति यदुर्वा जायते  
 पुन' इति श्रुते । अत्र च 'तत्राय जायत स्वयम्' इति हेतु वदता नैत्यकपुत्रो-  
 त्पादनाय काम्यपुत्रोत्पादनाय वा प्रवृत्तस्य शूद्रापरिणयननिषेध कुर्वता नैत्यक  
 पुत्रोत्पादानानुसङ्गे काम्ये च पुत्रोत्पादने ब्राह्मणस्य श्रित्रिवर्षस्ये, श्रित्रियस्य च  
 वैश्या भार्यानुज्ञाता भवति ॥ ५६ ॥

भाषा—द्विजातियों को शूद्रवर्ण से स्त्री ग्रहण करने की जो बात कही  
 गई है वह मुझ मा-य नहीं है, कारण, स्त्री में स्वय (पुरुष का भासा) ही  
 जन्म लेता है ॥ ५६ ॥

इदानीं रतिकामस्योपपन्नपुत्रस्य वा विगृह्यभार्यस्याधमान्तरानधिकारिणो  
 गृहस्थाश्रमावस्थामात्राभिकाङ्क्षिण परिणयनक्रममाह—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका ययाक्रमम् ।  
 ब्राह्मणशत्रियविशा भार्या स्या शूद्रजन्मन ॥ ५७ ॥

वर्णक्रमेण ब्राह्मणस्य तिस्रो भार्या । श्रित्रियस्य द्वे । वैश्यस्यैका । शूद्रस्य  
 तु स्वैव भार्या भवति । सवर्णा पुन सर्वेषां मुख्या स्थितैव । पूर्वस्या पूर्वस्या  
 अभावे उत्तरोत्तरा भवति । अयमेव च प्रमो नैत्यकानुक्तये काम्ये च पुत्रोत्पा-  
 दनविधौ । अतश्च यच्छूद्रापुत्रस्य पुत्रमप्य परिगणन विभागसकीर्तन च, तथा  
 'विमा-मूर्धावसिद्धी हि' इत्युपक्रम्य 'विधास्वप त्रिधि स्मृत' इति च तत्  
 रतिकामस्योपपन्नपुत्रस्य वा नान्तरायजनयोत्पन्नस्य ॥ ५७ ॥

१. शूद्रादशोप । २. तत्रात्मा जायते । ३. वैश्यामनुज्ञा ।

४. अन्योद्देशकस्यापारनिर्वर्त्य, यम-नरा नोद्देशसिद्धिस्तत्त्वं वा मान्त-  
 रीयकत्वम् ।

भाषा—वर्ण की अनुलोमता से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की क्रमशः तीन, दो और एक पत्नियाँ होती हैं। शूद्र की अपनी ही (जाति की) एक भार्या होती है ॥ ५० ॥

विवाहानाह—

ग्राह्यो विवाह आहूय दीयते शक्यलंकृतः ।

तत्रः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ ५० ॥

स ग्राह्याभिधानो विवाहः यस्मिन्नुक्तवचनैः यथाशास्त्रेण यथाशास्त्रेण कन्या दीयते उक्तपूर्वकं, तस्यां जातः पुत्र उभयतः विंशतिम्दा प्रतीक्ष्य दातु, आश्रमानं चैव विंशति पुनानि सवृत्तश्चेत् ॥ ५० ॥

भाषा—ग्राह्यविवाह वह होता है जिसमें (वर को) मुलाकर (उसे) यथाशक्ति भाभूषणादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है; ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र (भपने पूर्व की दस; आगे आने वाली दस तथा भपनी पीढ़ी को मिलाकर) इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५० ॥

दैवविवाहो—

यदास्थ श्रित्विजे दैव आदायार्पस्तु गोद्वयम् ।

चतुदश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च पट् ॥ ५१ ॥

स दैवो विवाहो यस्मिन्नुत्तरजाने विंशते श्रित्विजे यथाशास्त्रेण कन्या दीयते । यत्र पुनर्गोमिधुनमादाय कन्या दीयते स आर्पः । प्रथमजो दैवविवाह-जतुर्दश पुनाति सप्तपरान् सप्त परान् । उत्तरजो आर्पविवाहजः पट् पुनाति त्रीन्पूर्वान् त्रीन्परान् ॥ ५१ ॥

भाषा—पशुनुष्ठान के समय श्रित्विजे को (यथाशक्ति अलंकृत करके) कन्या दी जाय तो वह दैव विवाह होता है; जब दो गायें लेकर कन्या दी जाती है तब वह आर्पविवाह होता है। इसमें दैवविवाह से उत्पन्न पुत्र (नात पहले की और सात बाद की दस प्रकार) चौदह पीढ़ियों को और आर्प विवाह से उत्पन्न पुत्र (नात पहले की और सात बाद की) छ पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५१ ॥

प्राजापत्यविवाहश्चमम्—

इत्युपस्था नरतां धर्मं सह या दीयतेर्षिणं ।

स कायः पाथयेत्तत्रः पट् पथयेत्तत्रः सहात्मना ॥ ६० ॥

'सह धर्मं चात्ताम्' इति परिभाष्य कन्यादानं स प्राजापत्यः । तत्रः पट् पूर्वान्पट् परान् आत्मना सहोत्थेवं प्रबोधन पुनानि ॥ ६० ॥

१. सहोमी । २. धर्ममियुक्ताया । ३. सह आत्मनः ।

भाषा—साथ रहकर धर्म का आचरण करो, ऐसा कहकर जब कन्या रिवाजेंद्रु पुरष को प्रदान की जाती है तब कायविवाह होता है; हमसे टरपत्र पुत्र अपनी पीढ़ी को और छ. पहले पुत्र छ. चाद की पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ६० ॥

आसुरगान्धर्वादिविवाहत्पुमानि—

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समपान्मियः ।

राशसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाउलात् ॥ ६१ ॥

भाषा—पुनर्द्रविणादानात् । गान्धर्वस्तु परस्परानुरागेन भवति । राशसो युद्धेनापहरणात् । पैशाचस्तु कन्यकाउलात् दुष्टेन दुष्टना स्वापापराधत्प-  
दहरणात् ॥ ६१ ॥

भाषा—अधिव धन लेकर कन्या प्रदान की जाय तो यह आसुर विवाह होता है, परस्पर प्रेम होने पर जो विवाह होता है वह गान्धर्व कहलाता है । युद्ध में हरी गई कन्या से विवाह राशसविवाह होता है और कन्या को दुष्टपूर्वक पुमलाकर किया गया विवाह पैशाच होता है ॥ ६१ ॥

सधर्मादिवरिण्येन विज्ञेयमाह—

पाणिमोष्टः सधर्मास्तु गृहीयात्सधिया शरम् ।

वैश्या प्रतोद्मदाद्यात्तदने त्वंप्रजन्मनः ॥ ६२ ॥

सधर्मास्तु विवाहे स्वगृहोक्तविधिना पाणिरेव प्राद्यः । सधिवकन्या तु शरं गृहीयात् । वैश्या प्रतोद्मदाद्यात् । उगृह्येदने गृह्णा पुनर्धर्मनरथ  
द्वयम् । यथाह मनुः ( ३।४४ )—'वधमस्य दद्या प्रद्या गृह्णवो/गृह्येदने'  
इति ॥ ६२ ॥

भाषा—अवनी जानि का कन्या से विवाह करने समय उलका हाथ पकड़ना चाहिए, प्रहसन सधिया से विवाह करे तो सधिया बाल पकड़े, वैश्या प्रतोद् या पैना पकड़े ॥ ६२ ॥

कन्यादान्दृष्टमाह—

पिता पितामहो भ्राता ससुभ्यो जननी तथा ।

कन्याप्रदः पूर्वनाथो महनिम्य परः परः ॥ ६३ ॥

कन्याप्रदः पूर्वनाथो महनिम्य परः परः ॥ ६३ ॥

गम्यं स्थभावे दानुषां कन्या पुण्यांशुयं परम् ॥ ६४ ॥

एतेषां विप्रादीनां पूर्वस्यामावे परः परः कन्याप्रदः प्रकृतिस्थश्चेत् यद्युन्मा-  
दादिदोषवाञ्छ भवति । अतो यस्याधिकारः सोऽग्रयच्छन् अणुहरयागृतावृता-  
वाप्नोति । एतच्चोक्तलक्षणवरसंभवे वेदितव्यम् । यदा पुनर्दातृणामभावस्तदा  
कन्यैव गम्य नमनार्हमुक्तलक्षणं वरं स्वयमेव वरयेत् ॥ ६३-६४ ॥

भाषा—पिता, पितामह, भाई, कुल का कोई पुरुष और माता—इनमें  
क्रमशः पहले वाले के अभाव में धारो वाला यदि प्रकृतिस्थ अर्थात् उन्मादादि  
रोग से मुक्त हो तो कन्यादान दे । ( यदि कन्यादान का अधिकारी व्यक्ति )  
कन्यादान नहीं करता तो कन्या के प्रत्येक क्रतुकाल में उसे भूणहरया का  
पाप लगता है । यदि कन्यादान देने वाला कोई भी न हो तो कन्या योग्य  
वर का स्वयं धरण कर लेना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

कन्याहरणे दण्डः—

सहृद्वेव कन्या प्रदीयते कन्या हरस्तां चोरदण्डभाक् ।

सहृद्वेव कन्या प्रदीयते इति शास्त्रनिषेधः । अतस्तां दाया अपहरन् कन्यां  
चोरदण्डव्यः ॥

भाषा—कन्या एक ही बार ( विवाह में ) दी जाती है; अतः ( उसे  
फिर पुनः ) उसका अपहरण करने वाला चोर के समान दण्ड का भागी  
होता है ।

एवं सर्वत्र प्रतिषेध मातेऽपवाचमाह—

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्भर आम्रजेत् ॥ ६५ ॥

यदि पूर्वस्माद्दाराष्ट्रेयांश्चैवामिच्छनाद्यतिशयशुक्लो वर भाग्यद्विति, पूर्वस्य  
। पातकयोगो दुर्बलत्वं वा, तदा दत्तामपि हरेत् । एतत्त्व सप्तमपदाः प्राग्-  
स्यम् ॥ ६५ ॥

भाषा—किन्तु यदि पहले वर से अर्थात् कोई दूसरा वर मिल जाय तो  
। हुई कन्या का भी हरण कर ले ॥ ६५ ॥

अनारयाय ददद्दोषं दण्ड्य उत्तमसाहसम् ।

अदुष्टां तु त्वजन्दण्ड्यो दूपयस्तु मृया शतम् ॥ ६६ ॥

यः पुनश्चदुर्मासं दोषमनासवाय कन्यां प्रयच्छति असायुत्तमसाहसं दण्ड्यः ।  
त्तमसाहसं च ( भाषा० ३६६ ) वच्यते । अदुष्टां तु प्रतिगृह्य स्वजन् उत्तम-

साहसमेव दण्डव । य पुनर्विवाहात्प्रागेव द्वेषादिना असन्निर्दोषैर्दोषैर्गोमादिभि  
कन्यां दूषयति स पणाना वक्ष्यमाणलक्षणानां शत दण्डव ॥ ६६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति ( दिसाई पदने वाले ) दोषों को बिना घताए ही  
कन्या का दान करता है उसे उत्तमसाहस का दण्ड मिलना चाहिए । निर्दोष  
कन्या का ग्रहण करके पुन उसका त्याग करने वाले को भी यही दण्ड  
मिलना चाहिए और ( विवाह के पूर्व ) कन्या में मिथ्या दोष यताने वाले को  
सौ पणों का दण्ड देना चाहिए ॥ ६६ ॥

‘अन-वपूर्विकाम्’ ( श्लो. ५२ ) इत्यत्रानन्वपूर्वा परिणयोक्ता, तत्रान्वपूर्वा  
कीदशीत्याह—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भू, संस्कृता पुन ।

१८

स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामत थयेत् ॥ ६७ ॥

अन्वपूर्वा द्विविधा—पुनर्भू, स्वैरिणी चेति । पुनर्भूरपि द्विविधा—क्षता  
चाक्षता च । तत्र क्षता सस्कारात्प्रागेव पुनरपसवन्धदूषिता । अक्षता पुन  
सस्कारदूषिता । या पुन कौमार पतिं त्यक्त्वा कामत सवर्णमाश्रयति सा  
स्वैरिणीति ॥ ६७ ॥

भाषा—कन्या का किसी पुरुष से शरीरसम्बन्ध हुआ हो चाहे न हुआ हो  
दूसरी बार विवाह होने पर वह पुनर्भू कहलाती है । जो स्त्री पति को छोड़ कर  
अपनी इच्छा से अपनी जाति के किसी दूसरे पुरुष को स्वीकार करती है वह  
स्वैरिणी होती है ॥ ६७ ॥

पव सवर्णप्रकारेणान्वपूर्वावधुंदासे प्राप्ते विशेषमाह—

अपुत्रां गुर्वनुष्ठातां देवत पुत्रकाम्यया ।

सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋताधियात् ॥ ६८ ॥

आ गर्भसंभवाद्गच्छेत्पतितस्त्वग्यथा भवेत् ।

अनेन विधिना जात क्षेत्रज्ञोऽस्य भवेत्सुत ॥ ६९ ॥

अपुत्रामलम्बपुत्रा पित्रादिभि पुत्रार्थमनुष्ठातो देवरो भर्तुं कनीषान् भ्राता  
सपिण्डो वा उत्कलक्षण सगोत्रो वा, एतेषां पूर्वस्याभावे पर पर घृताभ्यक्त-  
सर्वाङ्ग, शतानेव वक्ष्यमाणलक्षणे ह्याद्गच्छेत् आ गर्भोत्पत्ते । उर्ध्वं पुनर्गच्छन्  
अन्येन वा प्रकारेण तदा पतितो भवति । अनेन विधिनोत्पन्न पूर्वपरिणेतु  
क्षेत्रज्ञ पुत्रो भवेत् । एतच्च वारदत्ताविषयम्

१ क्षेत्रज्ञ स भवेत् ।

याया साधे हूने पतिः । तामनेन विधानेन निजो जिन्देव देवः ॥' इति  
( १।६९ ) मनुस्मरणात् ॥ ६८-६९ ॥

भाषा—जिम स्त्री के ( अपने पति से ) पुत्र न हुआ हो उसके पास  
पिता इत्यादि गुरुजनो की आज्ञा से शत्रुकाल में समी धर्मों में घृत का लेप  
करके देवर, सृष्टिपिण्ड या समान गोत्र का पुरुष पुत्र प्राप्ति की इच्छा से गर्भ  
स्थिति के समय तक ही जाय, अन्यथा ( उसके उपरान्त भी ) गमन करने  
पर ) वह पतित हो जाता है । इस विधि से उत्पन्न पुत्र वैश्वानर कहलाता  
है ॥ ६८-६९ ॥

व्यभिचारिणीं प्रत्याह—

हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ।

परिभूतामथ शक्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥ ७० ॥

या व्यभिचरति तां हृताधिकारां भृत्यभरणाद्यधिकाररहिताम् । मलिनां  
अजनाभ्यजनाशुभ्रव्याभानशून्यां पिण्डमात्रोपजीविनीं प्राणयात्रामात्रभोजनम् ।  
धिष्ठारादिभिः परिभूतां, भूतलजायिनीं स्ववेशमन्येष वासयेत् वैश्वानरजनार्थं,  
न पुनः शुद्धयर्थम् । 'यत्पुंसः परदारेषु तत्पत्नैनां चारयेद्व्रतम्' ( मनु. ११।१७६ )  
इति वृथवमापश्चित्तोपदेसात् ॥ ७० ॥

भाषा—व्यभिचारिणी स्त्री को सभी ( भरणपोषण आदि ) अधिकारों  
से वञ्चित करके, ( अजन, शुभ्रवन्न न देकर ) मलिन बनाकर, केवल जीवन  
धारण योग्य भोजन देकर, तिरस्कारपूर्वक भूमि पर मुलावे ॥ ७० ॥

तस्या भरणप्रापश्चित्तार्थमर्थवादमाह—

सोमः शीर्षं र्ददायासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।

पायकः सर्वमेभ्यस्त्वं मेभ्यां वै योषितो ह्यतः ॥ ७१ ॥

परिणयनोत्पूर्वं सोम गन्धर्वं बह्वपः स्त्रीभुक्त्वा वधाकर्म तासां शीघ्रमपुत्र-  
वचनसर्वमेभ्यस्त्वानि दत्तवन्तः । तस्मात् प्रियः सर्वत्र स्वर्शालिङ्गनादियु मेभ्याः  
शुद्धा रम्यताः ॥ ७१ ॥

भाषा—सोम देवता ने ( नारी को ) पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर  
घाणी दी, अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी, अतएव स्त्रियां  
( सर्वत्र ) पवित्र होती हैं ॥ ७१ ॥

न च तस्यास्तर्हि दोषो नास्तोर्यास्तङ्कनीयमित्याह—

व्यभिचाराहतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।

गर्भभर्तृवधादौ च तथा मदति पातके ॥ ७२ ॥

अप्रकाशितान्मनोव्यभिचारात्पुरुषा तरसभोगसकृत्पापदपुण्य तस्य ऋतौ रजोदर्शने शुद्धिः, शुद्धते तु गर्भे त्याग । मनु ( ९११५५ ) 'ब्राह्मणश्चप्रिय- विशां भार्या शुद्धेण सगता । अप्रजाता विशुद्धवन्ति प्रावृत्तिने नंतरा ॥' इति स्मरणात् । तथा गर्भवधे भर्तृवधे महापातके च, ब्रह्महत्यादौ आदिग्रहणा- ण्डिप्यादिगमने च त्याग । 'चतसस्तु परित्याज्या शिष्यगा गुरगा च या । पतिव्रती च विशेषेण लुद्धितोपगता च या ॥' ( वसिष्ठ २११० ) इति व्दास्स्मरणात् । लुद्धित प्रतिलोमञ्जर्मकारादि । त्यागश्लेषभोगधर्मकार्यो, न तु निष्कासनं शुद्धात्तस्या । 'निष्कृत्वादेकवेरमनि' इति नियमात् ॥ ७२ ॥

भाषा—अतुकाल होने पर व्यभिचार ( अर्थात् पर पुरुषगमन ) के दोष की शुद्धि होती है, दूसरे का गर्भ रह जाने पर स्त्री के त्याग का विधान है गर्भ की हत्या, पतिवध आदि सं और ( ब्रह्महत्यादि ) महापातक करने पर स्त्री का त्याग विहित है ॥ ७२ ॥

द्वितीयपरिणयने हेतुनाह—

सुरापी व्याधिता धूर्ता घ्नन्व्यार्थं प्रियंवदा ।

स्त्रीप्रसूत्याधिचेत्तद्या पुरुषद्वेषिणी तथा ॥ ७३ ॥

८ सुरां पिबतीति सुरापी शुद्धाऽपि । 'पतत्स्थं शरीरस्य वरस्य भार्या सुरा पिबेत्' इति सामान्येन प्रतिषेधात् । व्याधिता दीर्घरोगग्रस्ता । धूर्ता वित्त- वाद्भिन्नी । घ्नन्व्या निष्फला । अर्थवना अर्थनाशिनी । अप्रियवदा निष्ठुरभाषिणी । स्त्रीप्रसू स्त्रीजननी । पुरुषद्वेषिणी स्वप्रतिहितकारिणी । 'अधिचेत्तस्या' इति प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अधिचेदन् भार्यान्तरपरिग्रह ॥ ७३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाली, दीर्घ रोग से ग्रस्त, धूर्त, वास्त, धन का नाश करने वाली, कठोर वचन बोलन वाली, पुत्रियों को ही जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिए ॥ ७३ ॥

अधिविद्या तु भर्तृव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।

यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ॥ ७४ ॥

किंच, सा अधिविद्या पूर्ववदेव दानमानसकारैर्भर्तृव्या । अन्यथाऽभरणे महदपुण्यं वक्ष्यमाणो दृष्टश्च । न च मरणे सति केवलमपुण्यपरिहार । यत यत्र दंपत्योरानुकूल्यं चित्तैव तत्र घमोर्भकामानां प्रतीतिर्दमभिवृद्धिश्च ॥ ७४ ॥

१. सर्वत्र सम्बध्यते ।

भाषा—किन्तु उस दोषों वाली प्रथम विवाहिता पत्नी का भी पालन-पोषण करना चाहिए, अन्यथा घोर पाप होता है। जहां स्त्री पुरुष दोनों परस्पर अनुकूल होते हैं वहां धर्म, धर्म और काम तीनों की प्रतिदिन वृद्धि होती है ॥ ७४ ॥

स्त्रियं प्रायाह—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति ।

सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चांमया सह ॥ ७५ ॥

भर्तारि जीवति मृते वा या चापस्याह्नयं पुरुष नोपगच्छति सेह लोके विपुला कीर्तिमवाप्नोति । उमया च सह मोदते, पुण्यप्रभावात् ॥ ७५ ॥

भाषा—पति के जीवन काल में वा मर जाने पर भी जो स्त्री किसी दूसरे पुरुष के समीप नहीं जाती वह हम ससार में कीर्ति तो पाती है और ( मृत्यु के बाद पुण्य के प्रभाव से ) उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है ॥ ७५ ॥

भिक्षादानकारणाभावे अधिवेत्तार प्रत्याह—

आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसु प्रियवादिनीम् ।

रयज्जन्दाप्यस्तृतीयांशमग्र्यां भरणं स्त्रियाः ॥ ७६ ॥

आज्ञासंपादिनीमदेनाकारिणीम्, दक्षां क्षीप्रकारिणीम्, वीरसु पुत्रवतीम्, प्रियवादिनीं मधुरभाषिणीं यस्याग्र्यां अधिविन्दति, स राज्ञा स्वधनस्य तृतीयांशं दाप्यः । निर्धनस्तु मरण प्रासादाद्दानादि दाप्यः ॥ ७६ ॥

भाषा—जो आज्ञाकारिणी, कुशल, वीर पुत्रों को जन्म देने वाली और मधुरभाषिणी पत्नी का त्याग करता है ( जयवा उसके जीवित रहते दूसरी पत्नी ग्रहण करता है ) तो ( राजा ) उससे धन का तृतीयांश दिलावे और यदि निर्धन हो तो और भोजन वस्त्र दिलवावे ॥ ७६ ॥

स्त्रीधर्मानाह—

स्त्रीभिर्मर्त्यवच्च कार्यमेव धर्मः परः स्त्रियाः ।

आ शुभेः सप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ॥ ७७ ॥

स्त्रीभिर्मर्त्यावच्च कार्यम् । यस्मादयमेव पर उच्छृणो धर्मः ; स्त्रीणां स्वर्गहेतुत्वात् । यदा तु महापातकदूषितस्तदा धा शुभे संप्रतीक्ष्य, न तत्पारतन्त्र्यम् । उत्तरकाठ ॥ पूर्वदेव तत्पारतन्त्र्यम् ॥ ७७ ॥

भाषा—स्त्रियों का वह कर्तव्य है कि पति को आज्ञा का पालन करे,



बही स्त्रियों का परम धर्म है । यदि ( पति को ) महापातक का दोष लगा हो तो ( स्त्री को ) उसकी शुद्धि तक प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ ७७ ॥

शास्त्रीयदारसमूहस्य फलमाह—

लोकानन्त्यं दिव प्राप्ति पुत्रपौत्रप्रपौत्रकै ।

यस्मात्तस्मात्स्त्रिय सेव्या कर्तव्याश्च सुरक्षिता ॥ ७८ ॥

लोके आनन्त्य वशादशविच्छेद लोकानन्त्य, दिव प्राप्तिश्च, दारसमूहस्य प्रयोजनम् । कथमित्याह—पुत्र पौत्र प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः । यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्द्वयं भवति तस्मात् स्त्रिय सेव्या उपभोग्या प्रजाधर्मम् । रक्षितव्याश्च धर्मार्थम् । तथा चापस्तम्बेन 'धर्मप्रजासपत्ति प्रयोजन दारसमूहस्योक्तं धर्मप्रजासपत्नेषु दारेषु नाम्नां कुर्वति' इति वदता । इतिफल तु लौकिकमेव ॥ ७८ ॥

\* भाषा—पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक में वश अविच्छिन्न धन रहता है और स्वर्ग की प्राप्ति होती है । चूंकि ये दोनों कार्य स्त्रियों से सिद्ध होते हैं अतः ये उपभोग्य होती हैं और ( धर्म के लिये ) उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ७८ ॥

'पुत्रोत्पत्तयर्थं स्त्रिय सेव्या' ( श्लो० ७८ ) इत्युक्तं, तत्र विशेष आह—

षोडशर्तुनिशा स्त्रीणां तस्मिन्पुग्मासु संविशेत् ।

ब्रह्मचार्येष पर्वाण्याद्याश्रतस्तु वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

स्त्रीणां गर्भधारणशोभावस्थोपलक्षित काल ऋतु । स च रजोदर्शनदिवसा-दारभ्य षोडशाहोरात्रतस्मिन् ऋतौ पुग्मासु समासु रात्रिषु । 'रात्रि'ग्रहणादि वसप्रतिषेध । संविशेत् गच्छेत्पुत्रार्थम् । 'पुग्मासु' इति बहुवचन समुच्चयार्थम् । अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु पुग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत् । एव गच्छन् ब्रह्मचार्येष भवति । अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादी चोदित तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यं खल्वेन दोषोऽस्ति । किंच पर्वाण्याद्याश्रतस्तु वर्जयेत् । 'पर्वाणि' इति बहुवचनादाद्यार्वावगमादष्टमीचतुर्दशयोर्ग्रहणम् । यथाह मनु ( ४।१।५५ )—'अमावास्यामष्टमी च पौर्णमासी चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भरेन्नियमप्युतौ रनातको द्विज ॥' इति । अतोऽमावास्यादीनि रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो रात्रौश्च वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

भाषा—छियों के ( गर्भधारण योग्य ) ऋतुकाल को सोलह रात्रियां होती हैं, इनमें से ( पुत्र के लिये ) युग्म रात्रियों में समोय करना चाहिए । ह्य प्रशार स्त्रीगमन करने वाला बह्वारो ही होता है, किन्तु ( भ्रमाख्या, भट्मो, पौर्णमासी और चतुर्दशी ) चार रात्रियों में गमन न करे ॥ ७९ ॥

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।

सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्ष्ण्यं जनयेत्पुमान् ॥ ८० ॥

किंच, एवमुक्तेन प्रकारेण स्त्रियं गच्छन् क्षामा गच्छेत् । क्षामता च तस्मिन्काले रजस्वलाप्रतेनैव भवति । भय चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमवशात्स्त्रियं भोजनान्दिना । 'पुमान्पुसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिकं स्त्रियः' इति वचनात् । यदा पुत्रमायामपि रात्री शोभिताधिक्यं तदा ह्येव भवति कृत्वाकृतिः । अयुग्मायामपि शुक्राधिक्ये पुमानेव भवति ह्येवाकृतिः, ह्येवाकृतिरनेमित्तयात् । शुक्रशोभितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्रायवयात् । तस्मात्क्षामा कर्तव्या । मघा मूलनक्षत्रे वर्जयेत् । अग्ने चैकादशादिशुभस्यागते चकाराद्युत्तरे शुभयोगलक्षादिसपत्नी सहदेकर्यां रात्री न द्विस्त्रिणां । ततो लक्ष्णैर्पुत्रं प्र जनयति । पुमानमतिहतपुस्व ॥ ८० ॥

भाषा—मघा और मूल नक्षत्र को छोड़कर चन्द्रमा ( ग्यारहवें भादि ) इन स्थान में स्थित होने पर जो बुधकी स्त्री के निकट पुरुषार गमन करता यह पुरुष शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

पुत्रमृती नियममुपावा इदानीमनृती नियममाह—

यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां धरन्मुस्मरन् ।

स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्षया यत स्मृता ॥ ८१ ॥

भाषा—इच्छानतिक्रमेण प्रवृत्तिरस्यास्तीति यथाकामी भवेत् । 'या' इदो नियमान्तरपरिग्रहार्थं, ॥ पूर्वनियमनिवृत्त्यर्थं । स्त्रीणां यामिन्द्रदण्डमुस्मरन् 'भवतीनां कामविह्वला पावती रयात्' इति । यथा 'ता भ्रमुषु पर धृणीर्मेहा अश्वियाप्रजां विन्दामहे कामया विन्नितो लभवामेति तस्मादश्वियात् स्त्रियं प्रजा विन्दन्ते कामया विन्नितो संभवन्ति यैरे वृन्दस्यानाम्' इति । अथ च स्वदारेभ्यो निरतः नितरां रतस्तन्मनसः, 'भवेत्' इत्यनुवृत्तते । पृथकारेण मृपन्तरगमनं विवर्तयति, प्रायश्चित्तस्मरणम् । उभयत्रापि हृदयवोजनमाह—स्त्रियो रक्षया यतः स्मृता इति । यस्मात्स्त्रियो रक्षया स्मृता उक्ता

१ पौर्णमासी । २ बह्वारो । ३ वृषीमेहे । ४ त्रिं पृथं तासी । ५ उत्तरे पूर्वं ७८ श्लोके ।

'कर्तव्याश्च सुरक्षिता'—( आचार ७८ ) इति । तच्च सुरक्षण यथाकामित्वेन स्वयन्तरागमनेन च भवतीति । अत्राह—तस्मिन्पुत्रमासु र्मविशेत्'—( आचार ७९ ) इति, किमयं विधिर्नियमः परिसरण्या वा ? उच्यते,—न तावद्विधिः, प्राप्तार्थत्वात् । नापि परिसरण्या दोषप्रयत्नमात्मके । अतो नियम प्रतिपेदिरे न्यायविदः । कः पुनरेषा भेदः ? अत्यन्तापाप्तप्रापण विधिः, यथा 'अग्निहोत्र जुहुयात्' 'अष्टका कर्तव्या' इति । पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तपञ्चान्तरप्रापण नियमः, यथा 'समे देशे यजेत' 'दर्शपूर्णमासाभ्या यजत' इति याग कर्तव्यतया विहितः । स च देशमन्तरेण कर्तुमशक्य इत्यर्थाद्देशे प्राप्तः । स च समो विषयश्चेति द्विविधः । यदा यजमानः समे विषयते तदा 'समे यजेते'ति वचनमुदाहृते, स्वार्थस्य प्राप्तत्वात् । यदा तु विषये देशे विद्यते तदा 'समे यजेते'ति स्वार्थं विधत्ते, स्वार्थस्य तदानीमप्राप्तत्वात् । विषयदेशनिवृत्तिसर्वार्थिकी । शोदितदेशेनैव यागनिष्पत्तेरशोदितदेशोपादानेन यथाशास्त्रं यागो नावृत्तिरुच्यते इति । तथा प्राहमुख्योऽनानि मुञ्जीत' इति । इदमपि स्मार्तमुदाहरणपूर्वेण व्याख्यातम् ॥ एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निर्द्वयार्थमेकत्र पुनर्वचनपरिसरण्या । तद्यथा—'इमामगृह्णन्नशानामृतस्यैवश्वामिधामामीमादत्ते' इत्यथ मन्त्र स्वयामन्वर्षादश्वामिधा-या गर्दभामिधान्याश्च शशानाया ग्रहणे विनियुक्तः, पुनरश्वामिधामीमादत्त इत्यनेनाश्वामिधान्यां विनियुक्तमानो गर्दभामिधा-या निवर्तते । यथा पञ्च पञ्चनन्वा भवया' इत्यत्र हि यद्वक्ष्याया शशादिषु श्वादिषु च भक्षणं प्राप्तं पुनः शशादिषु भूयमाणं निवर्तते इति ॥ किं पुनरत्र युक्तम् ? परिसरण्यादः । तथा हि—कृतदारसग्रहस्य स्वैच्छयैवर्तौ गमनं प्राप्तमिति न विधेयं त्रिषपः । नापि नियमस्य गृह्यस्मृतिविरोधात् । ५४ हि स्मरन्ति गृह्यकाराः—'दारसग्रहानन्तरं विरात्रं द्वादशरात्रं स्वस्वरं वा ब्रह्मचारी स्यात्' इति तत्र द्वादशरात्राः स्वस्वराद्वा पूर्वमेवर्तुस्तभव श्रुती गच्छेदेवेति नियमाद्ब्रह्मचर्यं स्मरणं शक्यते । अपि च प्राप्ते भावार्थं वचनं विशेषणपरं युक्तं, प्राप्तं चर्तौ भावार्थगमनं निवृत्तयैव, अतो यदि गच्छेत्तावदेति वचनं यन्त्रियुक्ता । किं च नैयमिकाणुश्लेषनिविधेरेव श्रुती गमनं निवृत्तयैव इति श्रुती गच्छेदेवेति नियमो मर्थकः स्यात् । नियमे चादृष्टं कल्पनीयम् । किं च श्रुतौ गन्तव्यमेवेति नियमे असिद्धितस्य व्याख्याधिना असमर्थत्वानिच्छेदोपपन्नयोऽर्थं उपदिष्टं स्यात् । त्रिषपनुवादविरोधश्च नियमे । तथा हि—एक शब्दः सकृदुच्यते इत्येवमेवार्थं

१ विष्वाद्यश्च—पृथिवीधरस्यन्तमप्राप्तौ नियमं पौचकं सीत । तत्र 'आ' यत्र वा प्राप्ते परिसरण्या निगद्यते' इति । २ दोषप्रयासके । ३ प्राप्तार्थत्वात् । ४ स्वार्थं विदधा । ५ निवर्तयति । ६ भावार्थेच्छुपैव ।

पक्षेऽनुवदति पक्षे च विद्यते चेति । तस्मात्तानेव गच्छेन्नान्यत्रेति परिसरयैव युक्तः । तद्विदं भौचिविधिरुपादयो नानुमन्वन्ते । अतो नियम एव युक्तः पक्षे स्वार्थविधिसभवात्, आगमने दोषश्रवणात् च । ऋतुस्नातां तु यो भार्या सतिषी नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते मात्र सशय ॥' (पराशर ) इति । न च विध्यनुवादविराध अमुवादाभावाद्भिष्यर्थात्वाच्च वचनस्य । तत्र हि विध्यनुवादविशेषो यत्र विधेयात्राधितया तदेवानुग्रहितस्य, न प्राप्ततयैऽन्यो द्देशेन विधातव्यं च । यथा वाजपेयाधिकरणपूर्वपक्षे 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति वाजपेयस्मृत्युक्तविधानाच्चिन्नेन यागोऽनुवदितव्यः, स एव स्वाराज्यस्मृत्युक्तोद्देशेन विधातव्यश्चेति । न चानुवादेनेह कृत्वमस्ति । पक्षु— नियमेऽष्ट कक्षमिद्युक्तः, तत्परिसरपापामपि समानम्, अनृची गच्छतो दोष स्तपनात् । यत्तु नैयमिकपुत्रोत्पादनविध्याद्येवैव ऋतौ निषेधगमनप्राप्तेर्न नियम इति,—तद्वत्, स एवाय नैयमिकपुत्रोत्पादनविधि स्यान्मतम् । 'एव गच्छन् श्रियं चामा लक्ष्यं पुत्रं जनयत्' इति स्वयमिगमनातिरिक्तं पुत्रोत्पादनविधिरिति,—तत्र, गमनकरणिकाया भावनाया एव पुत्रोत्पत्तिकर्मता प्रहरयते । एव गच्छन् लक्ष्यं पुत्रं जनयेदित्यनेन यथाग्निहोत्रं सुहृत् स्वर्गं भाषयेदिति । न चासनिहितादेशकथार्थविधिप्रसङ्गः । सचिहितशक्तयोरेवोपदेशात् 'ऋतुस्नाता तु यो भार्या सतिषी नोपगच्छति' । 'य स्ववाराज्योत्पत्त्यात्सव्यं सन्नोपगच्छति' ( देवलः ) इति विशेषोपादानात् । अतिश्यानिष्टुत्सु नियमविधानादेव । न च विशेषणपरतापि । पक्षे भाषार्थविधिसभवात् । नापि सूत्रस्मृतिविरोधः । सर्वस्तरापूर्वमेवर्तुर्दर्शने सविदातो न ब्रह्मचर्यदण्डमदोषो यथा श्राद्धादिषु । तस्मात्स्वार्थानिपराभकक्षपना प्राप्तयाचलक्षणदोषत्रयवती परिसरवा न युक्तः । अथ 'एव पन्ननत्वा भवया' इत्यत्र यद्यपि शशादिषु भक्षणस्य पक्षे प्राप्तेर्नियम शशादिषु, श्रादिषु च प्राप्ते परिसरयैऽनुभवसम्भवः, तथापि नियमपक्षे शशाद्य भक्षणे दोषप्रसङ्गः, श्रादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गेन 'प्रायश्चित्तस्मृतिविरोध इति परिसरयैवाधिता । एतेन 'सायप्रातर्हिजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्' इत्यत्रापि नियमो क्वाश्यात् । 'ना-तरा भोजनं कुर्यात्' इति च पुनरुक्तं स्वपरिसरयैऽन्याम् । एव च नियमे सति ऋतावृत्ताविति शेषो लभ्यते, 'विमितावृत्तौ नैमिस्त्रिकस्योपवर्त्ते' इति न्यायात् । 'यथाकामी मजेत्' इत्यवमपि नियम एव । अनृतावपि स्त्रीकामनाया मत्या स्त्रियमभिरमयेदेवेति । 'ऋतावृत्तेयारसर्वत्र वा प्रतिपिद्ववर्जम्' इत्येतदपि गौतमीय (५११-२) सूत्रद्वयं नियमपरमेव । अतो

१ भागुरि । २ तथा एलोद्देशेन । ३ तदमदिति । नास्ति ।

४ यतस्तच्च गमनम् । ५ प्रायश्चित्तविरोधः । ६ श्रुतिचोदितम् ।

७ यदि क्वयार्थं तस्माच्चिन्नेमपरमेवेति ।

सुपेयादेव । अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्या प्रतिपिद्धवर्जमुपेशदेवैष्वलमति-  
प्रसन्नेनेति ॥ ८१ ॥

भाषा—स्त्रियों के ( इन्द्र द्वारा दिये 'तुम्हारे काम को तृप्त न करने वाला  
पातकी होवे' इस ) वर का स्मरण करते हुए उसकी इच्छा देख कर समोग  
करे और अपनी ही रत्नी में रत रहे, क्योंकि स्त्रियों की रक्षा का विधान किया  
गया है ॥ ८१ ॥

भर्तृभ्रातृपितृशानिश्चश्रुश्वशुरदेवरैः ।

यन्धुभिश्च स्त्रियं पूज्या भूपणाच्छादनाशनै ॥ ८२ ॥

किंच, भर्तृप्रभृतिभिः पूर्वात्ता साध्य स्त्रियो यथाशक्यलकारवसनभोजन-  
पुष्पादिभिः समाननीया । यस्मात्ता पुमिता धर्मार्थं कामाग्लवर्धयति ॥

भाषा—पति, भाई, पिता, जाति के लोग, सास, श्वशुर, देवर और  
श-धुवर्ग द्वारा स्त्रियां आभूषण, बस्त्र एव भोजनादि से सम्मान करने योग्य  
होती हैं ॥ ८२ ॥

तथा पुन समर्पितगृहभ्यापारया क्रियेतया भवितव्यमित्यत आह—

संयतोपस्करा दक्षा दृष्टा श्ययपराङ्मुखी ।

कुर्याच्छुश्रूष्यो पादवेन्दनं भर्तृतरपरा ॥ ८३ ॥

सयत स्वस्थाननिवेशित, उपस्करो गृहोपकरणवर्गो यथा सा तथोक्ता ।  
यथोल्लवळमुमलशुषादि कण्डनस्थाने, दपदुपलयोरविद्योगेन पेयणस्थान इत्यादि ।  
यथा गृहभ्यापारकुशला दृष्टा सदैव प्रहसितानना, श्ययपराङ्मुखी न श्यय-  
शीला, 'स्थात्' इति सर्वत्र शेष । किंच, श्रधुश्च श्वशुरश्च श्वशुरी । 'श्वशुर  
श्रध्वा' ( पा० १।२।७१ ) इत्येकशेष, तयो पादवेन्दन मित्य कुर्यात् ।  
'श्वशुर' प्रहण माभ्यान्तरोपलक्षणार्थम् । भर्तृतरपरा भर्तृवशवर्तिनी सती पूर्वोक्त  
कुर्यात् ॥ ८३ ॥

भाषा—घर की वस्तुओं को यथास्थान संभाल कर रखने (गृहकार्य में)  
कुशल हो, सदैव प्रसन्न रहे, अधिक श्यय न करे, सास श्वशुर को शरण छुकर  
प्रणाम करे एवं पति क वश में रहे ॥ ८३ ॥

भर्तृसन्निधावुक्तम्, प्रोषितभर्तरि तथा किं कर्तव्यमित्यत आह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।

दास्यं परंगृहेयानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

देशा-तरगतभर्तृका क्रीडां कन्दुकादिभिः शरीरसंस्कारमुद्गर्तनादिभिः,

१ सुपेयादेवानृतावपि ।

समाप्तो जनसमूहः । उत्सवो विवाहादिः । तपोदर्शनं, हास्यं विजृम्भणं परगृहे  
गमनम् । 'त्यजेत्' इति प्रायेकं संवध्यते ॥ ८४ ॥

भाषा—त्रित स्त्री का पति विदेत गया हो वह खेलना, शृङ्गार करना,  
जनसमूह ( मेले आदि ) में और उत्सव में जाना, हँसी-मुजाक और दूसरे के  
घर जाना—इन सब से परहेज रखे ॥ ८४ ॥

रक्षेत्कन्यां पिता विद्वां पतिः पुत्रास्तु वार्धने ।

अभाये ज्ञातयस्तेषां न स्यात्तदयं क्वचिरिह्ययाः ॥ ८५ ॥

किंच, पाणिग्रहणारम्भे पिता कन्यामकार्यकरणाद्भवेत् । तत ऊर्ध्वं भर्ता ।  
तदभाये पुत्रः पृथभावे च सेषामुक्तानामभावे ज्ञातयः, ज्ञातीनामभाये राजा,  
'पथद्वयाचनाने तु राजा भर्ता' प्रमु. शिष्याः' इति यथेनात् । अतः क्वचिदपि  
स्त्रीणां नैव स्वातन्त्र्यम् ॥ ८५ ॥

भाषा—कुमारी की रक्षा पिता करे, विवाहिता होने पर पति और  
पृथ्वावस्था में ( पतिके न होने पर ) पुत्र रक्षा करें । इन सबके न होने पर  
जाति के लोग उसकी रक्षा करें । स्त्रियों को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना  
चाहिए ॥ ८५ ॥

पितृमातृसुतश्चातृश्रद्धभ्यश्चुरमातुलैः ।

हीना न स्याद्विना भर्ता गर्हणीयाऽन्यथा भवेत् ॥ ८६ ॥

किंच, भर्ता विना भर्तृरहिता पित्रादिरहिता वा न स्यात् । यस्मात्तद्विहाता  
गर्हणीया निःश्या भवेत् । एतच्च ब्रह्मचर्यवशे ।—'भर्तृरि प्रेते ब्रह्मचर्यं तदन्वयांसिदणं'  
वा' ( २५।१४ ) इति विष्णुस्मरणात् । अन्वयोहमे महाबभूवुयः । तथा च  
श्यामः कृपेति काश्यालश्यावेन दक्षितयान्—'पतिव्रता संमदीष्वं प्रविशेत् हुता-  
दानम् । तत्र चित्राद्दधरं भर्तारं सान्द्रपद्यत् ॥ ततः स्वर्गं गतः पत्नी भार्यया  
सह संगतः । कर्मणा पृथितस्तत्र रेमे च सह भार्यया ॥' इति । तथा च  
शङ्खाद्विरसी-तिष्ठः कोट्योऽर्धकोटी च यानि छोगानि मानुषे । तावत्कालं  
वसेत्त्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥' इति प्रतिपाद्य तयोरविभोग दर्शयतः—  
'ष्यात्प्राही' तथा 'तप' अलापुस्तने, 'विहात्', 'जट्टदुदुष्ट' सा नारी सह तत्रैव  
मोदते ॥ तत्र सा भर्तृपरमा ह्युद्यमानाऽप्मरेगणैः । छोदते पतिना मार्यं पाव  
दिग्दाह्यतुर्दा ॥' इति । तथा—'ब्रह्मणो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भरोपतिः ।  
पुनार्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या ॥ मृते भर्वरि या नारी समारोहेद्दुषुता-

१. विद्वां=पविणीताम् । २. पतिः शिष्याः । ३. तद्विहाता पित्रादिरहिता ।

४. वाथ मित्राः कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा सुरापो वा ।

ज्ञानम् । सारुघतीसमाचारा स्वगलोके महीयते ॥ यावन्नाम्री मृते पर्यौ स्त्री-  
नास्मान प्रदाहयेत् । तावन्न मुच्यते मा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन ॥' इति ।  
हारीतोऽपि 'मातृक पैतृक चापि यत्र चैव प्रदीयते । कलत्रय पुनात्यथा भर्तार  
यानुगच्छति ॥' इति, तथा- आर्तार्ते मुदिते दृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।  
मृते श्रियेत या पर्यौ मा स्त्री ज्ञेया पतिमता ॥' इति । अयं च सकल एव  
सर्वासा स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाच्छण्डाल साधारणो धर्म 'भर्तार  
याऽनुगच्छति' इत्यविशेषोपादानात् । यानि च ब्राह्मण्यनुगमननिषेधपराणि  
वाक्यानि— मृताऽनुगमन नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात् । इतरेषु तु वर्णेषु तप  
परममुच्यते ॥ जीवती तद्धित कुर्या मरणादात्मघातिनी । या स्त्री ब्राह्मण  
जाताया मृत पतिमनुमज्जेत् ॥ सा स्वगमासम्घातेन नास्मान न पतिं नयेत् ॥'  
इत्येवमादीनि तानि पृथक्चिर्यधिरोहणविषयाणि, 'पृथक्चरितं समारह्य न  
त्रिप्रा ग तुमर्हति इति विशेपेस्मरणात् । जनेन चत्रियादिलीणा पृथक्चिर्यभ्य  
नुज्ञा गम्यते । यत्तु कैश्चिदुक्त पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यात्महननस्य प्रतिषिद्धत्वा  
दतिप्रवृद्धस्वर्गामिलापाया प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामत्या भयमनुगमनोपदेश श्येन  
वत् । यथा श्येनेनाभिषर यजेत इति तीव्रकोषात् तस्यै-तस्य प्रतिषेधशास्त्र  
मतिक्रामत श्येनोपदेश इति-तदुक्तम् । ये तावत् श्येनकरणिकायां भावनाया  
भाष्यभूतहिंसाया विधिसस्पर्शाभावत् प्रतिषेधसस्पर्शात्कलत्रद्वारेण श्येनस्यानर्धनं  
वर्णयन्ति, तथा मत्त हिंसाया एव स्वर्गार्थतया अनुगमनशास्त्रेण विधीयमानत्वा  
त्प्रतिषेधसस्पर्शाभावाद्भाष्योमीयवत्स्पर्शमेवानुगमनस्य श्येनवैपश्यम् । यत्तु मत्त-  
हिंसा नाम मरणानुकूलो व्यापार श्येनस्य परमरणानुकूलव्यापाररूपत्वाद्धितैव,  
कामाधिकारे च करणाशं रागत प्रवृत्तिसभवेन विधेःप्रवर्तकत्वात् । रागप्रवृत्त-  
हिंसारूपत्वात् श्येन प्रतिषिद्ध स्वरूपैवानर्थकर इति, तत्राप्यनुगमनशास्त्रेण  
मरणस्यैव स्वगमाधनतया विधाना मरणे यद्यपि रागत प्रवृत्तिस्तथापि मरणा  
नुकूले व्यापारेऽप्रवृत्तेश्चादिति कर्तव्यत्वरूपे विविक्त एव प्रवृत्तिरिति न  
निषेधस्यावकाश 'वाच्यं श्वेतमालभेत् भूतिकाम' इतिवत्, तस्मात्स्पर्शमेवा-  
नुगमनस्य श्येनवैपश्यम् । यत्तु 'तरमादुह न पुरायुष स्वै कामी प्रेयात्' इति  
श्रुतिविरोधादनुगमनमपुष्कमिति, यच्च 'तदुह न स्व काम्यायुष प्राह न  
प्रेयात्' इति स्वगफलोद्देशेनायुष प्रागायुष्ययो न कर्तव्यो मोक्षार्थिना, यस्मा

१ नय सर्वासा । २ भाच्छण्डालाना । ३ चिर्य पारोहण ।  
४ विशेषोपादानात् । ५ प्रतिषिद्धशास्त्र । ६ कर्तव्यतापुरुष । ७ स्वर्ग  
काम । ८ प्रयादिति ।

दायुष दोषे सति निरत्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानर्ह्यपितान्त ऋणकलङ्करय धवणमन-  
ननिदिष्यासनसपत्नौ सरयमासमञ्जानेन निरत्यनिरतिशयान-दमलप्राप्तिलक्षणमोक्ष-  
प्राप्तिलक्षणमोक्षसम्ब । तस्मादनिरत्याद्यपसुत्तरूपस्वर्गार्थमायुर्व्ययो न कर्तव्य  
इत्यर्थ । अतश्च मोक्षमनिच्छन्त्या अनित्याद्यपसुत्तरूपस्वर्गार्थिन्या अनुगमन  
युक्तम् , इतरकाम्यानुष्ठानवदिति सर्वमनवद्यम् ॥ ८६ ॥

भाषा—पति न हो तो पिता, माता, पुत्र, भाई, साम, समुद्र से दूर न  
रहे अन्यथा वह ( स्त्री ) निन्दनीय होती है ॥ ८६ ॥

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया ।

सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य शानुत्तमां गतिम् ॥ ८७ ॥

किञ्च, प्रियमनवद्यत्वेन मनसोऽनुकूलम् , आचर्यां यच्छ्रेयस्कर तद्वितम् ,  
प्रिय च तद्वित च प्रियहितम् । पायु प्रियहितं पतिप्रियहित तस्मिन् युक्ता  
निरता । स्वाचारा शोभन आचारो यस्या सा तथोक्ता । शोभनस्वाचारो  
द्विहित शब्देन—'नानुक्त्वा गृहान्निर्गच्छेत्तानुत्तरीया न स्वरित प्रवेक्ष परपुरषम-  
भिभाषेताभ्यत्र षण्णिसप्रयजितपृथ्वीद्येभ्यः , न नाभिं दर्शयेत् , आगुषकाद्वास  
परिदध्यात् , न रतनौ विदृती कुर्यात् , न हसेदप्रावृता भर्तारं तद्वन्धू-वा न  
द्विष्यात् शणिकाधूर्ताभिमारिणीप्रयजिताप्रेक्षिकामावामूलकुहककारिकाडु शी-  
लादिभि सहैकग्र तिष्ठेत् , सम्मर्षेण हि कुलस्त्रीणा चौरिभ्र दुष्यति' इति ।  
विजितेन्द्रिया विजितानि लयमितानि इन्द्रियाणि शोभ्रादीनि वागादानि च मन  
सहितानि यथा सा इह लोके कीर्तिम् प्ररयाति परलोक चोत्तमां गतिं प्राप्नोति ।  
अथ च सकल पुत्र स्त्रीधर्मो विद्याहादूर्ध्वं वेदितव्यः । 'प्रागुपनयनात्कामचार-  
कामधात्कामभक्ता' इति स्मरणत् । 'वैवाहिको विधि स्त्रीणाऽप्रीयनायनिक  
स्मृत' इति च ॥ ८७ ॥

भाषा—पति के अनुकूल एवं श्रेयस्कर कार्य में तत्पर, सुन्दर वाचरण  
करने वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियों को बश में रखने वाली स्त्री इस सत्तार में  
कीर्ति पाती है और परलोक में उत्तम गति ॥ ८७ ॥

अनेकभार्य प्रवाह—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत् ।

सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न चिनेतरा ॥ ८८ ॥

सवर्णाया सत्यामन्यामसवर्णां न च धर्मकार्यं कारयेत् । सवर्णास्त्वपि



। बह्वीषु धर्म्यं विधौ धर्मानुष्ठाने ज्येष्ठया विना ज्येष्ठो मुख्या इतरा मध्यमा कनिष्ठा वा न नियोज्यया ॥ ८८ ॥

भाषा—सवर्णा ( अपनी जाति की ) पत्नी के जावित रहते दूसरी पत्नी से धर्मकार्य न करावे । यदि सवर्णा पत्नियों अनेक हों तो ज्येष्ठा पत्नी को छोड़ दूसरी से ( धर्मकार्य ) न करावे ॥ ८८ ॥

प्रमीतपतिकाया विधिमुक्त्वा इदानीं प्रमीतभार्यं प्रत्याह—

दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः ।

आहरेद्विधिवद्वारानग्नीध्वेषाविलम्बयन् ॥ ८९ ॥

पूर्वोक्तपृक्तवर्णी आचारवती विपश्चां त्रिषमग्निहोत्रेण श्रोतेनाग्निना तद्भावे श्मार्त्तन दाहयित्वा पतिः भर्ता अमुष्पादितपुत्रोऽनिष्टयज्ञो वा भाधमा श्तरेष्वभधिकृतो वा सपत्तराभावे पुनर्दारान् अग्नांश्च विधिवदाहरेत् । अविलम्बयन् शीघ्रमेव ।—‘अनाश्रमी न तिष्ठेन दिनमेकमपि द्विजः’ इति वचस्मरणान् । एतावत्पापानेन महाधिकृताया एव, जल्पयथा । यस्तु—द्वितीयां चेषथो भार्यां वेहेहेतानिकाग्निभिः । जीवन्त्या प्रथमाया हि सुरापानसमं हितत् ॥’ इति, तथा—‘मृताया तु द्वितीयाया योऽग्निहोत्रं समुत्सृजेत् । ब्रह्मसंस्त विजानीयात्तश्च कामात्ममुत्सृजेत् ॥’ इत्येवमादि, तदाधानेन सहानधिकृताया अग्निदाने वेदितव्यम् ॥ ८९ ॥

भाषा—यदि उत्तम आचार वाली पत्नी की मृत्यु हो जाय तो पति अग्निहोत्र की अग्नि में उसका दाहसंस्कार करके ग्याशीघ्र विधि पूर्वक दूसरी पत्नी ग्रहण करे और पुनः अग्निहोत्राग्नि का आधान करे ॥ ८९ ॥

इति विवाहप्रकरणम् ।

### अथ वर्णजातिविवेकप्रकरणम्

ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या भवन्ति, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, द्युश्वैका, इत्युक्त्वा, तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम् । इदानीं कस्यां कस्मात् कः पुत्रो भवतीति विवेकमाह—

सवर्णस्य सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।

अनिष्टेषु विवाहेषु पुत्रा सनानवर्धना ॥ ९० ॥

सवर्णस्यो ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मणादिषु सजातयो मातृपितृसमानजानीयाः पुत्रा भवन्ति । ‘विन्नास्वप विधि र्द्युत’ (२९) इति सर्वशेषे-

नोपसंहारात् विन्नासु, 'सवर्णासु' इति संख्यते । 'विष्व'शब्दस्य संबन्धिशब्द-  
 तद्धेतुभ्यः' सवर्णस्य इति लभ्यते । एकः 'सवर्ण'शब्दः स्पष्टार्थः । अतश्चाप-  
 मर्थः संवृतः—उक्तेन विधिनोद्घायां सवर्णायां चोद्गुः सवर्णादुत्पत्त्यास्तरमात्ममान-  
 जातीया भवन्ति ॥ अतश्च कुण्डगोलककानोत्सहोदजादीनामसवर्णत्वमुक्तं  
 भवति । ते च सवर्णस्योऽनुलोमप्रतिलोमेष्वथ भिद्यमानाः साधारणधर्मैर्हिंसादि-  
 भिरधिक्लियन्ते ।—'शुद्धाणां तु सधर्मणः सर्वेऽप्यस्यजाः स्मृताः' इति स्मर-  
 णात् । अस्वसजा ध्वनिधारजाताः शुद्धधर्मैरपि द्विजशुद्धेषु भिभिरधिक्लियन्ते ।  
 ननु कुण्डगोलकयोरेवप्राक्षणत्वात् आद्ये प्रतिषेधोऽनुपपन्नः न्यायविरोधश्च । यो  
 यजातीयाद्यजातीयासुस्पष्टः स तर्जनीतीय एव भवति,—यथा 'गोर्गवि गो',  
 अथोद्दिष्टवायामश्वः । तरमाद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मणवामुत्पद्यो ब्राह्मण इति न विरुद्धम् ।  
 तथा कानीनपौनर्भवादीननुष्य—'सजातीयेभ्यः प्रोक्तस्तनवेषु मया विधिः'  
 ( स्प. १३६ ) इति यथ्यमाणवचनविरोधश्च । नैतत्साम् । ब्राह्मणेन  
 प्राक्षण्यामुत्पद्यो ब्राह्मण इति अनिष्टार्थः आद्ये प्रतिषेधः । यथाऽऽद्यन्तम-  
 प्रासस्य पतितस्य आद्ये प्रतिषेधः । न च न्यायविरोधः । यत्र प्रत्यक्षगत्या  
 जातिर्भवति तत्र तथा । ब्राह्मणादिजातिस्तु स्मृतिलक्षणा यथास्मरण भवति ।  
 यथा समानेऽपि प्राक्षणे कुण्डिनो वंसिष्ठोऽत्रिगोतम इति स्मरणलक्षण गोत्रम्,  
 तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि प्राक्षणादिजातिः स्मरणलक्षणा । मातापितृभ्योऽप्येव  
 ज्ञानिलक्षणम् । न, चान्यथा । अनादिस्वात्ससारस्य, सत्यार्थस्यपहारवत् ।  
 'सजातीयेभ्यः प्रोक्तस्तनवेषु मया विधिः' ( स्प. १३३ ) इति चोक्तानुवादा-  
 त्वाद्यथात्मनवे वंशवयाह्यते । क्षेत्रज्ञस्तु मातृममानजानीय ; नियोगस्मरणात्,  
 क्षिप्तममप्यारोच । यथा धनराष्ट्रपाण्डुविदुरा, क्षेत्रज्ञाः सन्तो मातृममानजानीया  
 ह्येवमतिप्रमद्वेनुः । किंच, अग्निष्वेषु ब्राह्मणदिविवाहेषु पुत्राः सन्मानवर्धना  
 अरोतिगो दीर्घायुषो धर्मप्रज्ञासपत्न्या भवन्ति ॥ ९० ॥

भाषा—शुद्ध वर्ण के पुरुषों द्वारा सवर्णा स्त्रियों से उत्पन्न विवाह के  
 उपरान्त उत्पन्न पुत्र सवर्ण अर्थात् माना गिना की शुद्ध जाति के होते हैं ।  
 और ॥ सन्तान की वृद्धि करते हैं ॥ ९० ॥

सवर्णानुवादा इदानीमनुलोमानाह—

धिप्रान्मूर्ध्यावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः क्षियाम् ।

अथ्यष्टः दृष्ट्वां निवादी जातः पारशयोऽपि या ॥ ९१ ॥

प्राह्मणाश्चत्रियाणां विष्णावामुत्पन्नो मूर्धावसिक्तो नाम पुत्रो भवति ।  
 वैश्यकन्यकायां विष्णावामुत्पन्नोऽम्बष्ठो नाम भवति । शूद्राणां विष्णाणां  
 निपादो नाम पुत्रो भवति । निपादो नाम कश्चिन्मत्स्यघातोपजीवी पतिलोमजः,  
 स मा भूदिति पारशवोऽयं निपाद इति संज्ञाविकल्पः । 'त्रिपात्' इति सर्वत्रा-  
 नुवर्तते । यत्तु—'प्राह्मणेन चत्रियावामुत्पादितः चत्रिय एव भवति, चत्रियेण  
 वैश्यावामुत्पादितो वैश्य एव भवति । वैश्येन शूद्रावामुत्पादितः शूद्र एव  
 भवति' इति दादुस्मरण, तश्चत्रियादिधर्मप्राप्त्यर्थम्, न पुनर्मूर्धावसिक्ता-  
 दिजातिनिराकरणार्थं, चत्रियादिज्ञानिप्राप्त्यर्थं वा । अतश्च मूर्धावसिक्तादीनां  
 चत्रियादेरर्कैरेव दण्डाजिनोपवीतादिनिवृत्तयनादिकं कार्यम् । प्रागुपनयना-  
 रकामचारादि पूर्ववदेव वेदिनस्यम् ॥ ९१ ॥

भाषा—प्राह्मण द्वारा विवाहिता चत्रियाः पत्नी से उत्पन्न पुत्र मूर्धावसिक्त  
 कहलाता है और वैश्य जाति की पत्नी से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ । शूद्रा पत्नी  
 से ( प्राह्मण द्वारा ) उत्पन्न पुत्र निपाद वा पारशव कहलाता है ॥ ९१ ॥

वैश्यादाद्भ्योऽस्तु राज्ञ्याम्माहिष्योऽप्री सुतौ स्मृतौ ।

वैश्यात्तु करणः शूद्राणां विघ्नस्येप विधिः स्मृतः ॥ ९२ ॥

वैश्यायां शूद्राणां च विष्णायां राज्ञ्याम्माहिष्योऽप्री पदाक्रमं पुत्री  
 भवति । वैश्येन शूद्राणां विष्णायां करणी नाम पुत्री भवति । एष सर्वण-  
 मूर्धावसिक्तादिसंज्ञाविधिः विष्णामुदासु स्मृत उक्तो वेदितव्यः । एते च मूर्धा-  
 वसिक्ता अम्बष्ठ-निपाद-माहिष्योऽप्री करणाः पञ्चमुलोमजाः पुत्रा वेदितव्याः ॥ ९२ ॥

भाषा—चत्रिय पुरुष द्वारा विवाहिता वैश्या और शूद्रा पत्नियों से  
 उत्पन्न पुत्र क्रमशः माहिष्य और उग्र कहे जाते हैं । वैश्य शूद्रा पत्नी उत्पन्न  
 पुत्र करण कहलाता है । विवाहित पत्नियों के सम्बन्ध में यही कहा गया है ।

( ये पञ्च अमुलोमज पुत्र हैं ) ॥ ९२ ॥

पतिलोमजाताह—

प्राह्मण्यां चत्रियात्सूतो वैश्याद्वेदेहकस्त्वया ।

शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मवहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

प्राह्मण्यां चत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता यथाक्रमं सूत-वैदेहक चण्डालानवाः  
 पुत्रा भवन्ति । तत्र चण्डालः सर्वधर्मवहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

१. विष्णावामुत्पन्नो ।

२. शूद्राणां निपादो ।

३. शूद्र इति ।

४. वेदेहिक ।

भाषा—ब्राह्मण स्त्री से रुत्रिय द्वारा उत्पन्न पुत्र मृत, वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र वैदेहक तथा शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र चण्डाल कहलाता है, जो सभी धर्मों में बहिष्कृत होता है ॥ ९३ ॥

क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च ।

शूद्रादायांगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥ ९४ ॥

किंच, रुत्रिया योषि वैश्याम्मागध नाम पुत्र जनयति । सैव शूद्रात्क्षत्तार पुत्र जनयति । वैश्ययोषिच्छूद्रादायागव पुत्र जनयति । एते च सुत वैदेहक-चण्डाल मागध कुत्राऽथागवा पट् प्रतिलोमजा । एतेषा च वृत्तव भीक्षनमे मानव च द्रष्टव्या ॥ ९४ ॥

भाषा—रुत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र मागध और शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षत्तार होता है । वैश्य जाति की स्त्री शूद्र से आयोगव नाम के पुत्र को जन्म देती है ॥ ९४ ॥

सकीर्णसकरे जात्यन्तरमाह—

माहिष्येण करण्यां तु रथकार प्रजायते ।

असत्सन्तस्तु विनेया प्रतिलोमानुलोमजा ॥ ९५ ॥

रुत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो माहिष्य । वैश्वेण शूद्रायामुत्पादिता करणी मर्या माहिष्येणोत्पादिता रथकारे नाम ज्ञाया भवति । तस्य योपनयनादि सर्वं कार्यम्, वचनात् । यथाह शङ्ख — 'रुत्रियवैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो यो रथ कारस्तस्येऽप्याद्रोपनयनसंस्कारमिया भद्रप्रतिष्ठारथसूत्रास्तुत्रियाप्ययनपृथिता च' इति । एवं ब्राह्मणरुत्रियोत्पन्नमूर्धावसिक्तमाहिष्यादनुलोमसकरे जात्यन्तरता उपनयनादिमासिश्च वदितव्या, तथाहिनैतिरात् । सजास्तु स्मृत्यन्तरात्, द्रष्टव्या । एतच्च मदर्शनमात्रमुक्तम्, सकीर्णसकरजातानामानन्त्याद्भक्तमदावप-त्वात् । अत एतावदप्य विवचित—असन्त प्रतिलोमजा, सन्तानुलोमजा ज्ञातव्या इति ॥ ९५ ॥

भाषा—( रुत्रिय द्वारा वैश्या से उत्पन्न ) माहिष्य पुरुष द्वारा ( वैश्य पुरुष एवं विवाहिता शूद्रा पत्नी से उत्पन्न ) करणी स्त्री से रथकार जन्म लेता है । इनमें अनुलोमज ( श्रेष्ठ जाति के पुरुष द्वारा निम्न वर्ग की स्त्री से उत्पन्न ) पुत्रों को उत्तम और प्रतिलोमज ( श्रेष्ठ जाति की स्त्री और निम्न वर्ग के पुरुष से उत्पन्न ) पुत्रों को निन्दित समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

'सवर्णेषु सवर्णासु जायन्ते' ( १० ) इत्यादिना वर्णप्राप्तौ कारणमुक्तम्, इदानीं कारणा-न्तरमाह—

जात्युत्कर्षो युगे द्वेष्ये सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ।  
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ॥ १६ ॥

जातयो मूर्धावसिक्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिर्जात्युत्कर्षो युगे जग्मनि सप्तमे पञ्चमे, 'अपि'शब्दात्पठे वा बोद्धव्य । व्यत्ययश्चाय विक्षय । एवमथा च—ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी, सा ब्राह्मणेनोहा दुहितर कांचिज्जनयति, सापि ब्राह्मणेनोहाऽम्बा जनयतीत्यनेन प्रकारेण पृथी मसम ब्राह्मण जनयति । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता अम्बुष्ठा । सात्पनेन प्रकारेण पञ्चमी पठे ब्राह्मण जनयति । मूर्धावसिक्तात्पनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चम ब्राह्मणमेव जनयति । मूर्धावसिक्तात्पनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चम ब्राह्मणमेव जन यति । एवमुपा अत्रियेनोहा माहिष्या च यथाक्रम अत्रिय पठे, पञ्चम जगयति । तथा करणी वैश्योहा पञ्चम वैश्यमिति, एवमन्वत्राप्युदनीयम् । शिष्ट, कर्मणां व्यत्यये चतुर्थीनां कर्मणां व्यत्यये विपर्ययि यथा ब्राह्मणो मुंशयथा वृथा अजी वन् अत्रियेण कर्मणा त्रीवेदित्यनुकल्प । तेनात्पजीवन् वैश्यवृथा तथात्पजीवन् शूद्रवृथा । अत्रियोऽपि स्वकर्मणा जीवनाथेमाजीवन् वैश्यवृथा शूद्रवृथा वा । वैश्योऽपि स्ववृथा अजीवन् शूद्रवृथानि कर्मणा व्यत्यय । तस्मिन् व्यत्यये सति यथापद्धिमोचेऽपि तां यति न परित्यजति तदा सप्तमे पठे पञ्चमे वा जग्मनि साम्य पश्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तस्मान्जातित्व भवति । तद्यथा ब्राह्मण शूद्रवृथा जीवस्तामपरित्यजन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तप्यैव वृथा जीव-पुत्रान्तरमित्येव पुत्रपरम्परया सप्तमे ज-मनि शूद्रमेव जनयति । वैश्यवृथा जीवन् पठे वैश्यम् । अत्रियवृथा जीवन् पञ्चमे अत्रियम् । अत्रियोऽपि शूद्र वृथा जीवन् पठे शूद्रम् । वैश्यवृथा जीवन् पञ्चमे वैश्यम् । वैश्योऽपि शूद्र वृथा जीवन्तान्परित्यजन्पुत्रपरम्परया पञ्चम ज-मनि शूद्र जनयति । पूर्व वच्चाधरोत्तरम् । अर्थार्थ —वर्णसन्तरे अनुलोमजा प्रतिलोमजाश्च दर्शिता । सकीर्णकरजाताश्च श्वकारनिदर्शनन दर्शिता । इदानीं वर्णवकीर्णकरजाता प्रदर्यन्ते—अधरे च उत्तरे च अधरोत्तरम्, यथा मूर्धावसिक्तायां अत्रियवैश्य-शूद्रैरुत्पादितस्तथाऽम्बुष्ठाया वैश्यशूद्राभ्या निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधरा प्रति लोमजास्तथा मूर्धावसिक्तावद्वहानिषादीषु ब्राह्मणेनोत्पादिता, माहिष्योऽम्बुष्ठा

१ पञ्चमे सप्तमेऽपि । २ सप्तम । ३ ब्राह्मणवृथा । ४ पञ्चमे पठे सप्तमे ।  
५ पुनरप्येव । ६ वर्णसकरजाता ।

णेन चत्रियेण घोषादिताः, करण्यां ब्राह्मणेन चत्रियेण वैश्येन घोषादिताः उत्तरे अनुलोमजाः । पृथमन्यत्राप्यूहनीयम् । षुतदधरोत्तरं पूर्ववदसस्मृति चोद्धृत्यम् ॥ ९६ ॥

भाषा—मूर्धावसिक्त आदि जातियों का मातव्ये या पौत्रव्ये जन्म है (अर्थात् किसी जाति की कन्या अपनी से बड़ी जाति के पुरुष के साथ व्याही जाय, उससे उत्पन्न कन्या भी उससे बड़ी जाति में व्याही जाय, इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में) जाति का स्वरूप होता है । आपत्काल में दूसरी निम्न जाति का कर्म स्वीकार करने पर, आपत्काल समाप्त होने पर भी जो उस वृत्ति को नहीं छोड़ता उसकी जाति पौत्रव्ये या सातवीं पीढ़ी में बड़ी हो जाती है ( जिसका यह कर्म करता वही होना है ) इन वर्ण संस्कारों में निम्न पतिलोमज होते हैं और उत्तम अनुलोमज ॥ ९६ ॥

इति वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ।

### गृहस्थधर्मप्रकरणम्

श्रीतस्मार्तानि कर्माणि अग्निसाध्यानि दक्षविष्यन् करिष्यन्मौ किं कर्तव्य-  
निश्चाह—

कर्म स्मार्तं विद्याहाग्नी कुर्वीत प्रत्यहं गृही ।

वायकालाहृते चापि श्रीतं, वैतानिकाग्निषु ॥ ९७ ॥

गृहस्थ धर्मप्रकरणम्, लौकिक च यत्प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि, गृहस्थो विद्याहाग्नी विद्याहसंस्कृते कुर्वीत । दायकाले विभागाकाल आहृते वा 'वैश्यकुलादग्निमागीष' इत्यादिनोक्तसंस्कारसंस्कृते । 'अपि' सन्वामेते वा गृह-पनावाहृते संस्कृते एव । तत्रैव कालत्रयातिममे प्रायश्चित्तिवते । शुश्रूषतमग्नि होमादिकं कर्म वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु कुर्वीत ॥ ९७ ॥

भाषा—गृहस्थ प्रतिदिन ( यत्विश्वेश्वदेव आदि ) स्मार्त कर्म विद्याहाग्नि में वा विभाजन के समय आहित अग्नि में करे तथा ( अग्निहोत्र आदि ) श्रीत कर्म आहवनीय आदि अग्नि में करे ॥ ९७ ॥

गृहस्थधर्मानाह—

शरीरचिन्तां निर्यत्यै कृतदौर्घविधिर्विजः ।

प्रातःसंध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥ ९८ ॥

शरीरचिन्तामावरणकादिकी 'दिवासाभ्यासु कणस्थमङ्गलसूत्र उदङ्मुख' इत्याद्युक्तविधिना निर्वर्य 'गन्धलेपयकरम्' ( आचार २।१७ ) इत्यादिनोक्तेन विधिना कृतशौचविधिद्विज दन्तधावनपूर्वकं प्रातः सभ्यामुपासीत । दन्तधावन-विधिश्च—'कण्ठविघ्नोरृचोत्थ द्वादशाङ्गुलममितम् । कनिष्ठिकाप्रवत्सूल पर्वार्धं कृतकूर्चकम् ॥ दन्तधावनमुद्दिष्ट शिहोलेखनिका तथा ॥' (आचार. १६) इति । अत्र 'वृत्तोत्थम्' इत्यनेन वृणलोष्ठाद्गुह्यादिनिषेधः । पलाशाश्रथादिनिषेधश्च रसुत्पन्तरोक्तो द्रष्टव्यः । दन्तधावनमन्त्ररच—'आयुर्वल वशो वचं प्रजा पशु वसूनि च । द्रष्ट प्रजां च मेधां च त्व नो देहि<sup>३</sup> वनस्पते ॥' इति । द्रष्टाचारि प्रकरणोक्तस्यापि सभ्यावन्दनस्य पुनर्वचनं दन्तधावनपूर्वकत्वप्रतिपादनार्थम्, 'दन्तधावनमृत्युगीतादि द्रष्टाचारी वर्जयत्' इति लक्षिपेयात् ॥ ९८ ॥

भाषा—द्विज मलमूत्रोत्सर्गं ते निवृत्त होकर, शौच करके एव दातीन करने के बाद प्रातः सभ्या की उपासना करे ॥ ९८ ॥

हुत्वाग्नीसूर्यदेवत्यान्जपेन्मन्त्रान्समाहितः ।

वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ॥ ९९ ॥

प्रातः सभ्यावन्दनान्तरं भगवानाहवनीयादीन् यथोक्तेन विधिना हुत्वा औपासनाग्निं वा । तदनन्तरं सूर्यदेवायान् 'उदुत्थ जातवेदसम्' ( ऋ १।४।७।८ ) इत्यादीन्मन्त्रान्जपेत् । समाहितोऽविविचिन्तयति । तदनन्तरं वेदार्थानि रहस्यवा करणैश्चिद्वशेनाधिगच्छेज्जानीयात् । अकारादधीत चाम्यमेत् । विविधानि च शास्त्राणि मीमांसाप्रभृतीनि धर्मार्थशौचप्रतिपादकान्यधिगच्छेत् ॥ ९९ ॥

भाषा—इसके अनन्तर ( आहवनीय आदि अग्नियों में ) अग्निहोत्र कर्म करके ध्यान लगाकर सूर्य देवता के ( 'उदुत्थ जातवेदसम्' आदि ) मन्त्र का जप करे । इसके बाद वेद के अर्थ को तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे ॥ ९९ ॥

उपेयाद्दीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये ।

स्नान्वा देवान्पितृञ्चैव तर्पयेदर्चयेत्तथा ॥ १०० ॥

तदनन्तरं मीश्वरमग्निपैकादिगुणयुक्तमन्य वा श्रीमन्तमकुस्मित योगक्षेमार्थ-सिद्धये । अलव्यलामो योग, लब्धपरिपालनं चैव, तदर्धमुपेयादुपासीत । 'उपेयात्' इत्यनेन मेवां प्रतिपेधति । 'वेतन'ग्रहणेनाज्ञाकरण सेवा, तस्या

१ आवरणका दिवा । २ नो देहि । ३ करणादींश्च अथवेनाधि ।  
४ सेमस्तदर्धं ।

श्वृत्तित्वेन निषेधात्, ( सेवां श्वृत्तिराख्याया तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति मनु-  
स्मरणात् ) । ततो मध्याह्ने ज्ञास्रोक्तविधिना नद्यादिषु स्नात्वा देवान् स्वगृहो-  
क्तान् पितृंश्च, चकारादप्येकं, देवादितोर्धेन तर्पयेत् । तदनन्तरं गन्धदुष्पाद्यैः  
दरिहरदिरण्यगर्भप्रभृतीनामन्यतमं यथावासनशृग्वज्जु साममन्त्रैस्तत्प्रकाशकैः  
स्वनामभिर्वा चतुर्व्यन्तैर्नमस्कारपुष्पैराराधयेद्यथोक्तविधिना ॥ १०० ॥

भाषा—योग ( अन्नस वस्तु की प्राप्ति ) एवं जेम ( उपलब्ध वस्तु की  
रक्षा ) के लिये राजा या स्वामी के पास जाये । ( मध्याह्न को ) स्नान करके  
देवताओं एवं पितरों का तर्पण करे और उनकी पूजा करे ॥ १०० ॥

वेदार्यपुराणानि सेतिहासानि शक्तिः ।  
जपयज्ञमिद्वयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥ १०१ ॥

तदनन्तरं वेदार्यवेतिहासपुराणानि समस्तानि व्यस्तानि वा साध्या-  
त्मिकीं च विद्यां जपयज्ञमिद्वयर्थं यथोक्तेन विधिना यथाशक्ति जपेत् ॥ १०१ ॥

भाषा—जपयज्ञ की विधि के लिए वेद, अथर्व, मन्त्रों, पुराणों एवं  
इतिहासों का यथाशक्ति जप करे ॥ १०१ ॥

बलिर्कर्मस्वघाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।

भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामयाः ॥ १०२ ॥

बलिर्कर्म भूतयज्ञः, स्वघा पितृयज्ञः, होमो देवयज्ञः, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः,  
अतिथिसत्क्रिया मनुष्ययज्ञः । एते पञ्च महायज्ञा अहरह कर्तव्याः । निय-  
न्वात् । यस्तुनरेषां कलक्षयणं तदेषां पावनस्यैवार्थं, न कायव्यमनि-  
शङ्कनाय ॥ १०२ ॥

भाषा—बलिवैश्वदेव आदि भूत यज्ञ, स्वघा ( तर्पण एवं धाद ) पितृ-  
यज्ञ होम देवयज्ञ, धर्मग्रंथों का अध्ययन ब्रह्मयज्ञ और अतिथियों का सत्कार  
मनुष्ययज्ञ होता है ये ही महायज्ञ हैं ॥ १०२ ॥

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेपाद्भूतबलिं हरेत् ।

अन्नं भूमौ श्वसाश्चालिषायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ १०३ ॥

स्वगृहोक्तविधिना वैश्वदेव<sup>३</sup> होमं कृत्वा तद्वशित्तेमान्नेन भूतेभ्यो बलि  
दरेत् । 'अध्र' प्रहणमपक्रयुदासार्थम् । तदनन्तरं यथाशक्ति भूमाम्भ्यं स्वघा-  
हालिषायमेभ्यो निक्षिपेत् । चशदशाहूमिषायपरोषिपतिमेभ्यः । यथाह मनुः  
३।९२ )—'शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोषिताम् । चापसानां कृमाणां

१. सेधेत्पाठविहं । २. अर्घपुराणेतिहासादीनि कृत्वा । ३. श्वदेवं कृत्वा ।



च शनकैर्मिच्छिपेद्भुवि ॥' इति । एतच्च सायंप्रात कर्तव्यम् । 'अथ सायंप्रात सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' ( १।२।१ ) इत्याद्यलयावसरणात् । हह केचिद्दे श्वदेवाण्यस्य कर्मणः—पुरुषार्थस्वप्नसत्कारकर्मत्वं चेच्छुद्धि—'अथ सायंप्रात सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' इत्यसत्कारकर्मकता प्रतीयते । 'अथात पञ्च यज्ञा' ( गृ सू ३।१।१ ) इत्युपराक्रम्य तानेता-यज्ञानहरह कुर्वत' ( ३।१।४ ) इति नित्यत्वाभिधानात्पुरुषार्थत्वं चावगम्यते' इति,—तद्युक्तम् , पुरुषार्थत्वेऽसत्कारकर्मत्वात्पुत्रपत्ते । तथा हि—द्रव्यसत्कारकर्मत्वेऽप्येता-नैर्धत्ता वैश्वदेवकर्मणः, पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवकर्मार्थता द्रव्यस्येति परस्परविरोधात्पुरुषार्थ स्वमेव युक्तम् ।—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च प्राज्ञीय जियते ननु' इति । तथा— 'वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते घघ-योऽनिधिरामनेत् । तस्मा अ न यथाशक्ति प्रवृत्तान बलिं हरेत् ॥' इति ( ३।१०८ ) मनुस्मरणात् । पुरुषार्थत्वे-वैश्वदेवाण्य कर्म न प्रतिपाकमावर्तनीयम् । तस्मात् 'अथ सायंप्रातः' इत्यादिनोत्पत्तिप्रयोगी दृशितौ, 'तानेता-यज्ञानहरह कुर्वत' ( गृ सू अ ३ ए १ ) इत्यधिकार 'धिधिरिति सर्वमानवद्यम् ॥ १०३ ॥

भाषा—देवताओं के लिए ( वैश्वदेव ) होम करने के उपरान्त अवशिष्ट अन्न से भूतों के लिये बलि दे । कुत्ता, चाण्डाल और कौनों के लिए ( यथा शक्ति ) पृथ्वी पर अन्न फेंकना चाहिये ॥ १०३ ॥

अने पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम् ।

स्वाध्याय सततं कुर्यान्न पचेद्ममारमने ॥ १०४ ॥

प्रथममन्न पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति देयम् । अन्नाभाव क दमूलफला दि, तस्याप्यभाव जल देयम् , अपि शब्दात् । स्वाध्याय सतत कुर्यादिति स्म रणार्थम् । न पचेद्-ममारमने इति 'अन्न' ग्रहण मकलादनीयद्रव्यप्रवेशनार्थम् । कथं तर्हि ? देवताद्युद्देशेनैव ॥ १०४ ॥

भाषा—प्रतिदिन पितरों और मनुष्यों का भी अन्न दे ( अन्न के अभाव में ) जल दे । सतत स्वाध्याय करे । कबल अपने लिए ही भोजन न बनावे ॥

वास्तस्ववासिनी-पुद्गमिण्यातुरकन्यका ।

संमोज्यातिथिभृत्याश्च दम्पत्यो शोषभोजनम् ॥ १०५ ॥

परिणीता पितृगृह स्थिता स्वयंभ्रिनी । शोषा प्रसिद्धा । बालादीनतिथि भृत्याश्च समेज्य भोजयित्वा दम्पत्यो शोषभोजन कर्तव्यम् । प्राणाग्निहोत्रविधि

१ पुत्रेन काश्यपमपि प्रतिपादित भवति । २ चा-वह कुर्यात् । ३ मामे त्याद्यधिक ।

नारनीयादद्यमनापदि । मर्ते विपक्षं विहितं भक्षणं श्रुतिपूर्वकम् ॥ १०५ ।

भाषा—बालक, ( पिता के घर में रहने वाली ) विवाहिता स्त्री, वृद्ध, गर्भवती, रोगी, फन्धा, अतिथि और सेवकों के भोजन कराने के बाद शेष भोजन पति-व्यानी ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

आपोशनेनोपरिष्ठादधस्तादशनाद्येन कर्मणाक्रममग्नममृतं

अनग्रममृतं चैव कार्यमन्नं द्विजन्मना ॥ १०६ ॥

मुज्ञानेन द्विजन्मना उपरिष्ठादधस्तात्चापोशनाद्येन कर्मणाक्रममग्नममृतं च कार्यम् । 'द्विजन्म' ग्रहणमुपगवममृतिसर्वाश्रमसाधारण्यार्थम् ॥ १०६ ॥

भाषा—भोजन करते समय द्विज को ऊपर और नीचे आपोशय ( मन्त्र पढ़कर आचमन ) काके अन्न को भक्षण और अमृत करना चाहिए ॥ १०६ ॥

अतिथित्येन वर्णानां देयं शक्त्यानुपूर्वशः ।

अग्रणोद्योऽतिथिः सायमपि चाग्रमृत्योदकैः ॥ १०७ ॥

वेरवदेशानन्तरं वर्णानां प्राज्ञाणादीनामतिथित्येन युगपत्प्राज्ञानां ब्राह्मणाद्यानु-  
पूर्व्येण यथाशक्ति देयम् । सायंकालेऽपि यद्यतिथिरामच्छति तदाऽमाचग्रणोद्योऽ-  
ग्रयात्वेय एव । यद्यप्यदनीयं किमपि नास्ति, तथापि वाग्भूतोदकैरपि  
सत्कारं कुर्यात् । यथाह मनुः ( ११०१ )—'तृणानि भूमिरुदकं वाश्चतुर्धा  
च सूत्रता । पृतान्मपि सती गेहे नोन्विद्यन्ते कदाचन ॥' इति ॥ १०७ ॥

भाषा—यदि ब्राह्मणादि कई वर्णों के अतिथि हों तो वर्ण क्रम से यथा  
शक्ति भोजन देना चाहिए । यदि सायंकाल भी अतिथि आ जाय तो उसे  
निराश नहीं करना चाहिए अपितु मधुर वचन, भूमि, सुण और जल से  
सत्कार करना चाहिए ॥ १०७ ॥

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुव्रताय च ।

भोजयेच्चामतान्काले सखिसंयन्धिवान्धवान् ॥ १०८ ॥

भिक्षवे सामान्ये भिक्षा दातव्या । सुव्रताय प्रसन्नचरिते चतये च सत्कृत्य  
रास्तिवाच्य 'भिक्षादानमपूर्णम् ( गौतम ) इत्यनेन त्रिभिर्ना भिक्षा दातव्या ।  
भिक्षा च प्राप्तसमिताः । ग्रामञ्च ग्रयूराण्डपरिमाणः, 'प्राप्तमात्रा भवेद्विधा  
पुष्कलं तच्चतुर्गुणम् । हंतस्तु त्रैश्वर्यमिदं स्यादग्र तत्रियुगं भवेत् ॥' इति शातात-  
पस्मरणात् । भोजनकाले चाग्रतान्सपिसंयन्धिवान्धवान् भोजयेत् । सत्प्रियो

मित्राणि, सन्धिघ्नो येभ्य बन्धा गृहीता दत्ता वा, मातृपितृ बन्धिघ्नो बान्धवा ॥ १०८ ॥

भाषा—भित्तारी को और ब्रह्मचारी को सत्कारपूर्वक भिक्षा देनी चाहिए । ( भोजन के ) समय पर भाये हुए मित्र, सन्धी और धान्धव को भोजन करावे ॥ १०८ ॥

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपरूपयेत् ।  
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वाहु भोजनं सूनुतं वचः ॥ १०९ ॥

महान्तमुच्छ्राण धीरैश्च महाज वा श्रोत्रियायोपरूपयेत् 'भषद्-  
र्थमयमस्मामि परिकल्पित' इति । तत्प्रार्थय, ननु दानाय स्वापादनाय वा,  
यथा सर्वमेतन्नवशेषमिति ; प्रतिश्रोत्रियमुच्छ्रायमवात्, अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्ट  
धर्म्यमप्याचरेन्नतु' ( भा १५३ ) इति निषेधाच्च । तस्मात्सत्क्रियाद्येव कर्तं  
व्यम् । सत्क्रिया स्वागतयत्नवासनपाद्यार्थाचमनादिदानम् । तस्मिन्नुपविष्टे  
पश्चाद्गुपवेशनमन्वासनम्, स्वाहु भोजनं मिष्टमन्नम्, सूनुतं वच 'धर्म्या वय-  
मद्य भवदागमनात्' इत्येवमादि । अश्रोत्रिय पुन 'अश्रोत्रियस्योद्कासने'  
( ५।३।१ ) इति गौतमोक्तं वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

भाषा—श्रोत्रिय ( वेदपाठी ) अतिथि के लिए बड़ा बैल या बड़ा बकरा  
उसके सम्मुख प्रस्तुत करे । ( उसके उपरान्त ) उसका ( पाद्याभ्यं, आचमन  
आसन आदि से ) स्वागत करे, ( उसके बैठने पर ) निकट बैठे, मधुर भोजन  
करावे और प्रिय वचन बोले ॥ १०९ ॥

प्रतिसंवत्सरं स्वर्ष्यां स्नातञ्चार्यपार्थिवा ।  
प्रियो विद्याह्यश्च तथा यज्ञं प्रस्यृत्विजः पुनः ॥ ११० ॥

स्नातको विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, विद्याव्रतस्नातक इति । समाप्य  
वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातक, समाप्य व्रतमसमाप्य वेद  
यः समावर्तते स व्रतस्नातक, उभय समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्ना-  
तक । आचार्यं उक्तलक्षणः, पार्थिवो वक्ष्यमाणलक्षणः, प्रियो मित्रम्, विद्याह्यो  
आमातु । चकाराच्छुशुरपितृभ्यमातुलाना ग्रहणम् । 'ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमा  
दरेस्नातकायोपस्थिताय राज्ञे चाचार्यश्चशुशुरपितृभ्यमातुलादीनां च' इत्याद्यल-  
यन ( गृ सू अ १ ए ४ ) स्मरणात् । एते स्नातकादयः प्रतिसवत्सर  
गृहमागता नर्ष्या मधुपर्केण पूज्या बन्दिताभ्या । 'अर्घ्यं शब्दो मधुपर्कं लक्षयति ।  
ऋत्विजश्चोक्तलक्षणा, सवत्सरादर्वाणामपि प्रतियज्ञं मधुपर्केण मपूज्या ॥ ११० ॥

१. सधन्दा बान्धवा । २. याद्येन कर्तव्यम् ।

भाषा—स्नातक, भ्रातृव्य, राजा, प्रिय मित्र और दामाद का प्रतिवर्ष ( भरणे घर गुलाबर ) अर्घ्य ( मधुपर्क ) द्वारा मरकार करे तथा शत्रुज की प्रत्येक वस्तु के समय मधुपर्क से पूजा करे ॥ ११० ॥

अचनीनोऽतिथिर्देवः श्रोत्रियो वेदपारगः ।

मान्यावेतौ गृहस्थस्य ब्रह्मलोकमभीप्सतः ॥ १११ ॥

शत्रुजि वर्तमानोऽतिथिर्वेदितथ्यः । श्रोत्रियवेदपारगावश्चति वर्तमानौ ब्रह्मलोकमभीप्सतो गृहस्थस्य मान्यायतिथी वेदितथ्यौ । यदप्यध्ययनमात्रेण श्रोत्रियपन्नथापि श्रुताध्ययनसंपन्नोऽत्र श्रोत्रियोऽभिधीयते । एकशाय्याध्यापन-  
चनो वेदपारगः ॥ १११ ॥

भाषा—पवित्र को भतिथि मद्रज्ञना चाहिए । श्रोत्रिय ( अर्थात् वेद पाठी ) और वेद का पंडित ( यदि पवित्र हों तो ) ब्रह्मलोक प्राप्ति की कामना करने वाले गृहस्थ के लिये ये दोनों मान्य अतिथि होते हैं ॥ १११ ॥

परपाकवृश्चिर्न स्यादग्निधामन्प्रणाहते ।  
वाक्पाणिपादुचापव्यं वर्जयेत्त्वातिभोजनम् ॥ ११२ ॥

परपाके वृश्चिर्न स्यात् । परपाकवृश्चिः, वैद्य परपाकवृश्चिः स्यात् । अग्निधे-  
नामन्प्रणं विना; 'अग्निधेगमन्प्रितां नापक्रानेत्' ( कात्यायन ) इति स्मर-  
णात् । वाक्पाणिपादुचापव्यं—वाक्प पाणि च पादौ च वाक्पाणिपादं तस्य  
चापव्यं, वर्जयेत् । वाक्चापव्यममग्यानुतादिमापणम्, पाणिचापव्यं ब्रह्मना-  
स्कोट्यादि, पादुचापव्यं ब्रह्मनोऽप्यवनादि । चकाराग्नेश्रादिचापव्यं च वर्जयेत्;  
'न क्षिरनोद्वरपाणिपादुचव्युर्वाचपादुचानि कुर्यात्' ( ५५० ) इति गौतमस्मर-  
णात् तथा अतिभोजनं च वर्जयेत्; अनाराग्यादिदेहेत्यात् ॥ ११२ ॥

भाषा—धेठ व्यक्ति के निमन्त्रण के बिना दूसरे के भोजन की इच्छा न करे । ( भोजन के समय ) वाणी, हाथ और पैर की अपहता न करे और चापव्यकता से अधिक भोजन न करे ॥ ११२ ॥

अतिथि श्रोत्रियं तृप्तमासीमान्तमनुभजेत् ।  
अहर्ज्ञेयं सहासीत शैष्टीरंष्ट्य बन्धुभिः ॥ ११३ ॥

पूशकं श्रोत्रियातिथिं वेदपारगातिथिं च भोजनादिषा तृप्तं सीमान्तं पाद-  
नुभजेत् । ततो भोजनानन्तरमहर्ज्ञेयं क्षिप्रैरितिहासपुराणादिष्वेदिभिः, इष्टैः  
हास्यकथाप्रवचनैः, मधुमिश्रानुकूटालापकुशलैः सहासीत ॥ ११३ ॥

भाषा—श्रोत्रिय ( वेदपाठी एव वेद के पबिद्धत ) अतिथि को ( भोजन द्वारा ) दूध करके ( गाव की ) सीमा तक पहुँचावे । ( भोजन के बाद ) दिन का शेष समय मग्न्य जनों एवं इष्ट ( काव्यकथा में चतुर ) वन्धुओं के साथ बैठकर बितावे ॥ ११३ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां हुत्वाग्निस्तानुपास्य च ।

भृत्यैः परिवृतो मुफ्त्या नातितृप्याथ संविशेत् ॥ ११४ ॥

तत्र पूर्वोक्ते विधिना पश्चिमां संध्यामुपास्य, आहुवनीयादीनग्नीर्गर्भिन वा हुत्वा तानुपास्योपरधाय, भृत्यै पूर्वोक्ते स्ववामिन्त्यादिभिः परिवृतो नातितृप्याथ सुवत्या, चकारात् भाव उपधादिगृह्यविन्ता निर्वाहानन्तर संविशेत्स्वप्यात् ॥ ११४ ॥

भाषा—( तत्र पूर्वोक्त विधि से ) सायंकालीन सन्ध्यापासना करके, ( आहुवनीय आदि ) अग्नियों में दहन करके उन अग्नियों की उपासना करे, तत्र भृत्यों के साथ भोजन करे किन्तु तृप्ति से अधिक भोजन न करे और तदुपराप्त सवक करे ॥ ११४ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदारमनो हितम् ।

धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत् ॥ ११५ ॥

ततो ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय पश्चिमेऽर्धपररे प्रसुद्धवाग्मनो हितं कृतं करिष्यमाणं च, वेदार्थसंशयाद्य चिन्तयेत् तदानीं चित्तस्वात्पाकुलार्वेन तत्प्रतिभानयोग्यत्वात् । ततो धर्मार्थकामान्स्वेकाले यथाशक्ति न परिश्वजेत् । यथासमर्थं सेवेतेऽर्थं, पुरुषार्थत्वात् । यथाह शौतम ( १।४६ ४७ )—‘अपूर्वाह्नमप्याह्नापराह्नानकलाङ्कुर्यात् धर्मार्थकामेभ्यः’, ‘तेषु धर्मोत्तरं स्यात्’ इति । अत्र पद्येतेषां सामान्येन सेवनमुक्तं, तथापि कामार्थवोधर्मविशोधेनानुष्ठान तयोर्धर्ममूलात्वात् । एव प्रतिदिनमनुष्ठेयम् ॥ ११५ ॥

भाषा—ब्राह्म मुहूर्त में बैठकर अपने ( किए गए एवं किये जाने वाले ) हित का विचार करे । धर्म, अर्थ और काम को उनके उचित समय पर यथाशक्ति परित्याग ॥ करे ( अपितु उनका सेवन करे ) ॥ ११५ ॥

विद्याकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम् ।

एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति ॥ ११६ ॥

विद्या पूर्वोक्ता, कर्म श्रौत स्मार्तं च, वय आत्मनोऽतिरिक्त सत्त्वा वा ऊर्ध्वं, बन्धु स्त्रजनसपत्ति, वित्त ग्रामरत्नादिकम्, एतैर्युक्ता क्रमेण मान्या

१ नातितृप्याय । २ अग्निमग्नीन्वा । ३. प्रतिपासन । ४. वन्धु-  
र्वहस्वजन । ५. पक्षद्वार ।

पूजनीयाः । एतैर्विद्याकर्मवन्धुवित्तैः प्रभूतैः प्रवृद्धैः समस्तैर्गर्भैर्वा युक्त-  
शूद्रोऽपि वार्धकं ज्योतिरूपं मानमर्हति; 'शूद्रोऽप्यशीतिको वा' ( ११७ ) इति  
गौतमस्मरणात् ॥ ११६ ॥

भाषा—विद्या, कर्म, आयु, बन्धुओं और धन से युक्त अनुभूय क्रमानुसार  
माननीय होते हैं । इन सब से ( या किसी एक से ) पक्षा होने पर वृद्धावस्था  
में शूद्र भी भादरणीय होता है ॥ ११६ ॥

वृद्धभारिन्नुपस्नातस्त्रीरोगिवरचक्रिणाम् ।

पन्था देयो स्रपस्तेषां मान्यः स्नातश्च भूपतेः ॥ ११७ ॥

वृद्धः पक्षकेशः प्रसिद्धः, भारी भाराक्रान्तः, नृपो भूपतिः न क्षत्रियमात्रम्,  
स्नातो विद्याप्रतोभवस्नातकः, स्त्री प्रसिद्धा, रोगी व्याधिताः, वरः विवाहोद्यतः,  
चक्रो शाकटिकः । चकारान्तो-मत्तादीनां ग्रहणम्, 'बालवृद्धमत्तोन्मत्तोपहत-  
द्वैभाराक्रान्तस्त्रीस्नातकप्रमज्जितेभ्यः' इति शत्रुस्मरणात् । पृथयः पन्था देयः ।  
एतेष्वभिमुत्पायानेषु स्वयं पक्षोऽप्यक्रामेत् । वृद्धादीनां राजा सह पथि समवाये  
राजा मान्य इति तस्मै पन्था देयः । भूपतेरपि स्नातको मान्यः, 'स्नातक'ग्रहण  
स्नातकमात्रमात्रपर्यन्तं, न ब्राह्मणाभिप्रायेण, तस्य सर्वेषु गुणेषु । पथाह शब्दः—  
'अथ ब्राह्मणायास्रे पन्था देयो राज्ञ इत्येके । तच्चानिष्टं गुरुर्गर्ह्यश्च ब्राह्मणो राजा-  
नमतिशेते तस्मै पन्था' इति । वृद्धादीनां परस्परं पथि समवाये वृद्धेतराद्येवैव  
विद्यादिभिर्वा विरोधो दृश्यः ॥ ११७ ॥

भाषा—वृद्ध, बाला होने वाले, राजा, स्नातक ( महाशरी ), स्त्री, रोगी,  
वर और चक्र ( सुराकार ) के लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये । इन सब  
में राजा सर्वाधिक मान्य होता है और स्नातक राजा के लिये भी पूज्य  
होता है ॥ ११७ ॥

इत्याप्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको विभ्रे याजनाभ्यापने तथा ॥ ११८ ॥

वैश्यस्य क्षत्रियस्य च, चकाराद् ब्राह्मणस्य द्विगानुलोभागां च, पाताप्ययन-  
दानानि साधारणानि कर्माणि, ब्राह्मणस्याधिकानि प्रतिग्रहर्थाजनाभ्यापनानि ।  
तथेति । स्मृत्यन्तरोक्तवृत्तुषुसप्तमः । यथाह गौतम ( १०१५-६ )—'वृत्तिवा-  
जिज्ये वा स्वयं कृते' 'कु-सीद् च' इति । यथापन तु क्षत्रियवैश्ययोर्ग्राह्य  
मेरितयोर्भवति, न स्वैच्छया, 'वापारुत्तान्ते ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः',

१ स्नातकः । २ नृपो राजा न । ३. श्वाभिमुत्पायानेषु । ४ याजना-  
पतिग्रहः ।

अनुगमनं शुभ्रूपा, समाप्ते ब्राह्मणो गुर' ( ७११, २१२ ) इति गौतमस्मरणात् ।  
 एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट् कर्माणि । तत्र श्रीणीज्यादीनि धर्मार्थानि, श्रीणि  
 प्रतिग्रहादीनि वृत्त्यर्थानि, 'पण्णा तु कर्मणामस्य श्रीणि कर्माणि जीविका ।  
 याजनाध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रह ॥' इति ( १०१६ ) मनुस्मरणात् ।  
 अत इत्यादीन्यवरय कर्तव्यानि न प्रतिग्रहादीनि, 'द्विजातीनामभ्ययनमिज्या  
 दान', 'ब्राह्मणस्याधिका प्रवचनयाजनप्रतिग्रहा', 'पूर्वेषु नियम' ( १०१३ )  
 इति गौतमस्मरणात् ॥ ११८ ॥

भाषा—यज्ञ करना, ( वेदादि का ) अभ्ययन और दान—ये कर्म  
 क्षत्रिय और वैश्य को करने होते हैं । ब्राह्मण के लिये दान लेना, यज्ञ करना  
 और अध्यापन ये कर्म ( क्षत्रिय और वैश्य से ) अधिक होते हैं ॥ ११८ ॥

१ प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजामां परिपालनम् ।  
 कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशाः स्मृतम् ॥ ११९ ॥

क्षत्रियस्य प्रजापालन प्रधान कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । वैश्यस्य कुसीद-  
 कृषिवाणिज्यपाशुपालनानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि । कुसीदं वृत्त्यर्थं द्रव्यप्रयोग,  
 लाभार्थं कृषिकृषी वाणिज्यम् । शोष प्रतिग्रह, 'सखास्यभृत्य सत्रस्य षणिकृ-  
 शुभ्रूपा विशा । भाजीवनार्थं धर्मस्तु दानमभ्ययन यज्ञि ॥' इति ( १०१७ )  
 मनुस्मरणात् ॥ ११९ ॥

भाषा—प्रजा का पालन करना क्षत्रिय का प्रधान कर्म है । वैश्य के  
 लिये इयाज लेना, कृषि, वाणिज्य और पशु पालन ( वृत्त्यर्थक ) कर्म बताए  
 गये हैं ॥ ११९ ॥

शूद्रस्य द्विजशुभ्रूपा तयाऽजीव्यनिम्नयेत् ।  
 शिशुपैर्वा विधिर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥ १२० ॥

शूद्रस्य द्विजशुभ्रूपा प्रधान कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । तत्र ब्राह्मणशुभ्रूपा  
 परमो धर्म, 'विप्रसेवेव शूद्रस्य विशिष्ट कर्म कीर्त्यते' ( १०११२ ) इति  
 मनुस्मरणात् । यदा पुनर्द्विजशुभ्रूपाया जीवितु न शक्नोति तदा षणिकृष्या  
 जायेत् । नानाविधैर्वा शिशुपैर्द्विजातानां हित कुर्वन् । चादृशे कर्मभिर्द्विजातिशु-  
 भ्रूपायामयोऽथ न भवति तादृशानि कर्माणि कुर्वन्निवर्त्य । तानि च देवलो-  
 कानि—शूद्रधर्मो द्विजातिशुभ्रूपा पापवर्जनं कलादिपोषणकर्षणपशुपालनमारो  
 द्दहनपण्यव्यवहारविश्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदद्रवादनादीनि ॥ १२० ॥

भाषा—शुद्ध के लिये द्विजातियों की सेवा प्रधान कर्म है; उससे जीविका न चलने पर वणिग्वृत्ति का आश्रय ले अथवा द्विजातियों के अनुकूल आचरण करते हुए, अनेक प्रकार के शिल्पों द्वारा जीवन निर्वाह करे ॥ १२० ॥

भार्यारतिः शुचिभृत्यभर्ता आहृत्क्रियारतः ।

नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न ज्ञापयेत् ॥ १२१ ॥

किंच, भार्यायामेव न साधारणस्त्रीषु परस्त्रीषु वा रतिरभिगमनं यस्य स तथोक्तः । शुचिः साहाय्यन्तरशौचयुक्तः द्विजवत्, भृत्यादेर्भर्ता, आहृत्क्रियारतः, आह्वानि निष्यन्नेमित्तिककाम्यानि, क्रियाः स्नातकव्रतान्यविरुद्धानि, तेषु रतः । 'नम' इत्यनेन मन्त्रेण पूर्वोक्तापञ्चमहायज्ञानहरहरं हापयेत्श्रुतिष्येत् । नमस्कारमन्त्रं च केचित्—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिन्य एव च । नमः स्वाहायै स्वधायै निष्यमेव नमो नमः ॥' इति वर्णयन्ति । 'नम.' इत्यन्ये । तत्र वैश्वदेवं लौकिकेऽग्नी कर्तव्यं, न वैवाहिकेऽग्नादित्याचार्याः ॥ १२१ ॥

भाषा—अपनी पत्नी में ही रत रहे. ( द्विजों के समान ही ) पवित्र रहे, भृत्यों का पालन-पोषण करे, आहूत कर्म करे, तंत्रों नमस्कार के, मन्त्र के साथ पञ्च महायज्ञों को न छोड़े ॥ १२१ ॥

इदानीं साधारणधर्मानाह—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

हिंसा प्राणिपीडा, तस्या अकरणमहिंसा । सत्यमवगिणीहाकरं यथार्थवचनम्, अस्तेयमदत्तानुपादानम्, शौचं साहाय्यन्तर च, बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां नियतविषयवृत्तितेन्द्रियनिग्रहः । यथादात्ति प्राणिनामन्त्रोद्वादिदानेनार्तिपरिहारो दानम् । अन्तःकरणसंयमो दम । आपन्नरक्षणं दया । अपकारेऽपि धित्त्वाधिकारः क्षान्तिः । इत्येते सर्वेषां दुःखानां प्राणनाशाद्यप्यदोहान्तं धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

भाषा—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, दान देना, ( अन्तःकरण का ) संयम, ( दुःखियों पर ) दया और धैर्य धारण करना—ये सभी व्यक्तियों के लिये धर्म के साधन हैं ॥ १२२ ॥

ययोवुद्धयर्थ्याग्येपथुतामिज्जन्कर्मणाम् ।

आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्वामश्टां तथा ॥ १२३ ॥



वयो बाल्ययौवनादि बुद्धिर्नैतर्गिको लौकिकवैदिकव्यवहारेषु अर्धो वित्त  
गृह्येरादि वाक कथनम्, वेपो ब्रह्ममास्वादिविन्यास, श्रुत पुरुषार्थशास्त्रप्रव-  
णम्, अभिजन कुलम्, कर्म वृत्त्यर्थं प्रतिग्रहादि, एतथा वय प्रभृतीनां सदसी  
मुचिता वृत्तिमाचरण आचरेत्स्वीकुर्वात् । यथा बृद्ध स्वोचितां न यौवनोचि-  
ताम् । एव बुद्ध्यादिष्वपि योज्यम् । अत्रिह्यामवक्राम्, अशगममत्सराम् ॥ १२३ ॥

भाषा—भायु, बुद्धि, धन, वाणी, वेप, शास्त्रज्ञान एव कर्म क उपयुक्त  
येमी जीवन वृत्ति म्धीकार करनी चाहिए, जो टेढ़ी और मत्सर युक्त न  
होये ॥ १२३ ॥

एव समाप्तानि कर्माण्यनुक्रमयेदानीं धीतानि कर्माण्यनुक्रामति—

त्रैवापिकाधिरान्नो य स द्वि स्तमं पियेद् द्विज ।

प्राक्सौमिकी क्रिया कुर्याद्यस्यान्नं चार्पितं भवेत् ॥ १२४ ॥

त्रिवर्षत्रैवमप्याप्त त्रैवार्पिक अधिक वा अन्न यस्य स एव सोमपान  
कुर्वाणातोऽवधम, ( मनु १११८ )—‘अत्र स्वशीघ्रति, द्रव्ये च सोम  
पिबति एतच्च काश्याभिषाषण निश्चय्य चाउरथकर्तव्यत्वान्न नियम । यस्य  
वर्षत्रैवमप्याप्तमन्न भवति स प्राक्सौमिकी सोमात्प्राक् प्राक्सोम, प्राक्सोम  
भाउ प्राक्सौमिषय । इति १ अभिनहोत्रदशपूर्णमासांप्रयणपशुचातुर्मास्यानि  
काश्यानि कर्माणि तद्विकाराश्च । ता क्रिया कुर्यात् ॥ १२४ ॥

भाषा—तान वर्षं तक पान स अधिक अन्न रगने बाला द्विज सोमपान  
करे । जिसक यहाँ कवल एक वर्ष क लिये अन्न हो वह ( अग्निहोत्र, वर्षपूर्ण-  
माम, आश्रयण पशु चातुर्मास्य आदि ) सोम पशु से पहले बी जाने वाली  
क्रियाएँ करे ॥ १२४ ॥

एव काश्यानि श्रीतानि कर्माण्यभिषायेदानीं ण्या वाह—

प्रतिसंवत्सरं सोम पशु प्रत्ययनं तथा ।

कर्तव्याप्रयणेष्टिश्च चातुर्मास्यानि चैव द्वि ॥ १२५ ॥

सवत्सरे सवत्सरे सोमयाग कार्यं । पशु प्रत्ययन अयने अयने दक्षिणोत्त  
रसञ्जिते निरुद्ध पशुयाग कार्यं । तथा प्रतिवत्सरं वा पशुना सव मरे सव  
मरे यत्न पशु पशु वा मासेष्टि येक' इति वीघायनस्मरणात् । आश्रयणे  
ष्टिश्च सप्तोत्पत्ती, कर्तव्या । चातुर्मास्यानि च प्रतिवत्सरं कर्तव्यानि ॥ १२५ ॥

१ यवहारेषु ज्ञान । २ वचनम् । ३ स मयाग । ४ पूर्णमाम  
पशु । पूर्णमासचातुर्मास्यानि । ५ मास्यानि कर्मानि ।

भाषा—प्रतिवर्षं सोमयज्ञं कृते, अयन-अयन (दक्षिणायन भीर उत्तरायण) में निरूढपशुयाग कृते । (नये अन्न की उत्पत्ति पर) भाग्यनेष्टि कृते भीर पशुभारयज्ञ प्रतिवर्षं करना चाहिए ॥ १२५ ॥

१२५. एषामसंभवे कुर्यादिष्टि-वैश्वानरी द्विजः—

हीनकरूपं ॥ कुर्वीत सति द्रव्ये फलप्रदम् ॥ १२६ ॥

एषां सोमप्रभृतीनां पूर्वोक्तानां नित्यानां कथंचिदसंभवे तदकाले वैश्वानरी मिष्टि कुर्यात् । किंच योऽयं हीनकरूप उक्तः, सति द्रव्येऽसौ न कर्तव्यः । यद्य फलप्रदं काम्यं तद्धीनरूपं न कुर्वीत न रत्नंयमिति ॥ १२६ ॥

भाषा—यदि ये (सोमयाग आदि) संभव न हो सकें तो द्विज को वैश्वानरी इष्टि करनी चाहिए । धन रहने पर यह हीनकरूप नहीं करना चाहिए तथा काम्य हीनकरूप तो करना ही नहीं चाहिए ॥ १२६ ॥

१२६. चाण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात् ।

यज्ञार्थं लभ्यमद्दद् भासः काकोऽपि वा भवेत् ॥ १२७ ॥

यज्ञार्थं शूद्रधनयाचनेन स क्रमान्तरे चाण्डालो जायते । या दुर्गर्भशार्थं चाक्षितं नै सर्वं प्रयच्छति न त्यजति, न भासः काकोऽपि वा यत्सत्तं नयेत् । यथाह मनुः (१११२५)—'यज्ञार्थं सर्वं मिच्छित्वा यः सर्वं न प्रयच्छति । स याति भासतां विप्रः पाकतां वा सत्तं समाः ॥' इति । भासः शकुन्तः । काकः प्रसिद्धः ॥ १२७ ॥

भाषा—यज्ञ के लिए शूद्र से धन मांगने पर (द्विज) दूधरे जन्म में चाण्डाल होकर जन्म लेता है । यज्ञ के लिये प्राप्त सम्पूर्ण धन को न देने वाला भास (पक्षी) या काका होता है ॥ १२७ ॥

१२७. कुशूलकुम्भीधाम्यो वा ज्योत्स्निकोऽथ्वस्तनोऽपि वा ।

कुशूल कोष्ठं, कुम्भी उद्भिका, कुशूलं च कुम्भी च कुशूलकुम्भी, ताम्ब्या परिमित धान्यं परयत् न तपोत्तः कुशूलधाम्यः स्वाद, कुम्भीधाम्यो वा । तत्र स्वकुशूलधाम्येण द्वादशाहमाग्रयणं धान्यं चर्यादिन्यत् कुशूलधाम्यः । कुम्भीधाम्यस्तु स्वकुशूलधाम्येण पचदमाग्रयणं धान्यः । इदं पर्याप्त धान्यम-स्वास्तमित्यदिहः । श्यामं चान्यत्पि चर्यादिन्यत्, च चर्यादिन्यत् चर्यादिन्यत् चर्यादिन्यत् ॥

कुशूलधाम्यादिसंभवावगाद—

जीयेद्वापि शिलोऽष्टेन धेयानेषां परः परः ॥ १२८ ॥

शाखादिनिपतितपरिष्वक्तवल्लीप्रहणं शिलम्, एकैकस्य परिष्वक्तस्य  
 ऋणस्योपादानमुच्छ्रित्वा शिलं चोन्मूल्य शिलोन्मूल्यम्, तेन शिलेनोच्छ्रितेन वा ।  
 कुशूलधान्यादिभृतुविधो गृहस्थो जीवेत् । एषा कुशूलधान्यादीनां ब्राह्मणानां  
 गृहस्थानां क्षत्रुणां पर पर पश्चात्पश्चात्पठित श्रेयान् प्रशस्यतम् । एतच्च  
 पद्यपि द्विज प्रकृतस्तथापि ब्राह्मणस्यैव भवितुमर्हति, विद्योपशमादियोगात् ।  
 तथा च मनुना ( ४१२ )—'अद्रोहणैव भूतानामक्षयप्रदोहेण वा पुनः । सा  
 वृत्तिरतां समास्थाय विप्रो जीवदनापदि ॥' इति विप्रमेव प्रस्तुत्य मनु ( ४१७ )—  
 कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा' इत्याद्यभिहितम् । एतस्यानि-  
 त्तयत्त वायावर प्रयुज्यते, न विप्रमात्राभिप्रायण । तथा सनि—'त्रैवापिवादि  
 फालो य स् हि सोम विवेद् द्विज' ( भा १२६ ) इत्यनेन विरोधः । तथा च  
 गृहस्थानां द्वैविध्यं नत्र तत्रोक्तम् । यथाह देवल — द्विविधो गृहस्थो यायावर  
 शास्त्रीप्रहणं तयोर्वायावर प्रवरो याजनाभ्यापनप्रतिग्रहविक्रमचयवर्जनात् ।  
 गृहस्थोऽपि प्रेष्यत्तुःपद्गृहस्थामधनधान्ययुक्तो लोकानुवर्ता शास्त्रीन' इति  
 शास्त्रीनोऽपि चतुर्विध — याजनाभ्यापनप्रतिग्रहविक्रमचयवाद्युपायैः पदिभर्जा  
 शयक, याजनादिभिक्षाभिर-य, याजनाभ्यापनाभ्यामपर, चतुर्धरवभ्यापने-  
 त्तम् । तथाह मनु ( ४१९ )—'वृकर्मको भवत्येषां त्रिभिर-य प्रवर्तत ।  
 द्वाभ्यामेकश्चतुर्धरुः प्रहसत्रेण जीवति ॥' इति । अत्र च 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे'  
 ( भा ११८ ) इत्यादिना शास्त्रीनस्य वृत्तयो दक्षिता । वायावरस्य 'जीवेद्वापि  
 शिलोच्छ्रितेन' इति ॥ ११८ ॥

भाषा—कोटिली भर ( चारह दिन क लखे भर ) भ-न वाले, घट भर  
 ( दस दिन क लखे भर ) भ-न वाले, तान दिन के लखे भर अन्न वाले, दिन भर  
 क भोजन घोष्य भ-न वाले और रतों में गिरे हुए भ-न को खीन कर जीवन  
 निर्याह करन वाल इत्यर्थो में पहले वाल से बाद वाले उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होत हैं ॥

इति गृहस्थधर्मप्रकरणम् ।

### अथ स्नातकधर्मप्रकरणम्

एष धीत स्नानानि कर्माभ्यभिषायादीनां गृहस्थस्य स्नानादारभ्य ब्राह्मण  
 स्यात्पर्यक्तस्यानि विधि प्रतिषेधात्मकानि सामान्यकृत्वरूपाणि न्यानकर्मणा  
 याह—

॥ मन्वाध्यायविरोध्यर्थमीहेत न यत्तन्मत ।

न विद्वत्प्रसङ्गेन संतोषी च भवेत्सदा ॥ १२९ ॥

१ शाखादिनिपतित । २ ब्राह्मणानां क्षत्रुणां । ३ श्रेयानुवृत्तम् ।  
 ४ प्रकृत प्रकरणप्राप्तं प्राह्यन । ५ पुरस्कार्य । ६ नयतिमपक्षमपत् ।

म्राह्मणस्य प्रतिग्रहादयोऽर्घ्यप्राप्त्युपाया दर्शिताः तत्र विशेष उच्यते—  
 स्वाध्यायविरोधिनमर्थमपतिविद्वमपि नैहेत भान्विच्छेत् । न यतस्ततः न धतः  
 कुतश्चिद्विदिताचारात् । विरुद्धप्रसङ्गेन विरुद्धमयाज्ययाजनादिप्रसङ्गो नृत्वमी-  
 तादिः । विरुद्धं च प्रसङ्गश्च विरुद्धप्रसङ्गं तेन । नार्थमार्थेतेति संवद्वयते । नञ  
 आनृत्तिः प्रसङ्गं पर्युदासार्था । सर्वत्राप्यस्मिन्स्यातकप्रकाणे नञ्शब्दः प्रत्येक  
 पर्युदासार्थं पृथ । किंचिदर्थालाभेऽपि संतोषी परितृप्तो भवेत् । चकारात्सपतश्च  
 'सतोषं परमास्थाय मुष्यार्थो संयतो भवेत्' ( ४१३ ) इति मनुस्मरणात् ॥

भाष्य—अपने स्वाध्याय के विरोधियों से धन भंगित करने की इच्छा  
 न करे, इधर-उधर भविचारित रयान से या ( अपने कर्म के ) विरुद्ध कार्य  
 ( जैसे नृत्य-गीत आदि ) द्वारा धन कमाने की अभिलाषा न करे । सदैव  
 संतोष रखे ॥ १२९ ॥

कुतश्चिद्विद्वानम्विच्छेदित आह—

राजान्तेवासियाज्येभ्यः सीदन्नच्छेद्धनं क्षुधा ।

वृत्तितैत्तुकपापण्डितकृत्तुंश्च वर्जयेत् ॥ १३० ॥

क्षुधा सीदन् पीठ्यमानः स्वातकः राज्ञो विदितवृत्तान्तात्, अन्तेवासिनो  
 षष्पसाणलक्षणत्वात्, याज्यात् याजनाहार्त्थं, धनमावर्त्तित । 'क्षुधा सीदन्' इत्य-  
 नेन विभागादिप्रसङ्गकुटुम्बपोषणपर्याप्तधनो न कुतश्चिद्वर्धमन्विच्छेदिति गम्यते ।  
 किंच वृत्तितैत्तुकादीन् सर्वकार्येषु वर्जयेत् । चकाराद्विकर्मस्थवैदालप्रतिज्ञात्ता-  
 तात् । यथाह मनुः ( ४१३० )—'पात्यण्डिनो विकर्मस्थवैदालप्रतिज्ञात्ता-  
 तैत्तुकाद्यकृत्तुंश्च वाहमात्रेणापि मार्जयेत् ॥' इति । लोकजनार्थमेव कर्मानुष्ठानं  
 इत्थी, युक्तिश्लेन सर्वत्र सहायकारी हेतुकं, त्रैविद्यविरुद्धपरितृहीताभ्रमिग-  
 पाण्डितः । यकवदस्य वर्तनमिति यकवृत्तिः । यथाह मनुः ( ४११९९ )—  
 'अथोद्यतैर्द्धैतिकः स्वार्थसाधनतत्परः । दातो मिदवाचिनीतस्य यकवृत्ति-  
 द्दाहवतः ॥' इति । प्रतिपिद्धसेविनो विकर्मस्थाः । विदालो माशरत्नस्य प्रतं  
 स्वभावो वस्यासौ वैदालप्रतिकः । तस्य लक्षणमाह मनुः ( ४११९५ )—'धर्म-  
 स्वजी सदा लुब्धरक्षाप्रियो लोकदम्भकः । वैदालप्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभ्रम-  
 धरः ॥' इति । शठ=सर्वत्र यकः । एतैः संसर्गनिषेधादेव स्वयमेवंभूतो न  
 भवेदिति गम्यते ॥ १३० ॥

भाष्य—मूय से स्वाकुल होने पर राजा, अन्तेवासी और पञ्च कराने  
 योग्य व्यक्ति से धन प्राप्ति की इच्छा करे, परन्तु अहकारी, संताप की दृष्टि

- १. कुतश्चिद्वानम्विच्छेत् । २. वृत्तितैत्तुकात् । ३. नैवृत्तिकः ।

रम्यने वाले, पाखंडी, और बगुलाभगत के निकट ( धन की हृष्टा से ) न जावे ॥ १३० ॥

शुभलाम्बरधरं नीचकेशश्मश्रुनखं शुचिः ।  
न भार्यादर्शनेऽशनीयान्नैकवासा न संस्थितः ॥ १३१ ॥

किंच, शुक्ले धीते भग्ने वाससी धरतीति शुभलाम्बरधरः । केशाश्च रम-  
श्रुणि च मलाश्च केशरमश्रुनखम्, नीचं निरुक्तं केशरमश्रुनखं यस्यासी तथोक्तः ।  
शुचिरन्नसंबन्धिश्च स्नानानुलेपनधूपस्नानादिभिः सुगन्धिश्च भवेत् । यथाह गीतमः  
( १५२ )—'स्नानको निरय शुचि सुगन्धिः स्नानशीलः' इति । सुगन्धिव-  
विधानादेव निगोष्ठमाह्वयश्च निषेधः । तथा च गोभिलः—'नागन्धां स्रज  
धारयेद्दम्यश्च द्विरप्यरत्नस्रजः' इति । सदा स्नानक एवभूतो भवेत् । एतच्च सति  
सभवे, 'न जीर्णमण्ड्यासा भवेच्च त्रिभवे सति' ( मनु. ४।३४ ) इति स्मरणात् ।  
न च भार्यादर्शने तस्यां पुरतोऽवस्थितानामरनीयात् ; अशनीयं यत्परिपोषितं  
भवात् । तथा च शुचिः—'जायाया भग्ने नारमोवादर्थायैवदपरमं भवति' इति ।  
अनस्तथा नह भोजन दूरादेव निरस्तम् । न चैकवासा, न संस्थितः 'नरनी-  
यात्' इति नवप्यते ॥ १३१ ॥

भाषा—रवण्ड वस्त्र धारण करे, केश, दाढ़ी-मूँछ और नखों को काट कर  
छाटा रख, ( स्नान एव सुगन्धलेप द्वारा ) पवित्र रहे । पत्नी क सामने, एक  
दर एक पहन कर और नवदा होकर भोजन न करे ॥ १३१ ॥

न संशयं प्रपद्येत नाकम्मादप्रियं वदेत् ।  
नाहितं नानृतं चैव न स्तेन स्यान्न वार्धुषी ॥ १३२ ॥

किंच, कदाचिदपि सकामं प्राणविपत्तिमशयात्कर्म न प्रपद्येत न कुप्यात् ।  
यथा स्यान्नचौराद्युपहतदशात्स्मरणादि । अकस्मात्प्रियकारणं किञ्चिदपि परप  
अप्रियं उद्वेगकरं च वा न वदेत् । न नाहितं, नानृतं च प्रियमपि, चकारात्  
अमर्यं भीमामकरं च, अकस्मात्त वदेदिति सवध्यते । एतच्च परिहासादि-  
स्वतिकेण, 'गुरुजापि मम हास्य कर्तव्यं कुटिलं विना' इति स्मरणात् । न च  
स्तेनः अन्यदीपस्यादत्तरथ प्रहीता न स्यात् । न वार्धुषी स्यात् । प्रतिविद्-  
वृत्त्युपपत्ती वा र्धुषी ॥ १३२ ॥

भाषा—जिस कार्य में प्राणों का सशय हो उस कर्म में प्रवृत्त न होवे;  
अकस्मात् ( विना कारण के ) अप्रिय वचन न बोलें, अहितकारी और अमर्य

१. संस्थित उच्यते । २. कश्चिदपि पुत्रव्यप्यमप्रियः ।

( तथा भरलील ) वचन भी न बोले; घोर न बने एवं ( निषिद्ध ) त्याग से वृत्ति न चलावे ॥ १३२ ॥

दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री वेणुमान्सकमण्डलुः ।

कुर्यात्प्रदक्षिणं देवमृद्गोविप्रवनस्पतीन् ॥ १३३ ॥

किञ्च, दाक्षायणं सुवर्णम्, तदस्यास्तीति दाक्षायणी । ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं तदस्यास्तीति ब्रह्मसूत्री, वेणुमण्डलमात्रं, कमण्डलुमान्, 'स्यात्' इति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । अत्र च ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि यज्ञोपवीतस्य पुनर्वचनं द्वितीयप्राण्यर्थम् । यथाह वसिष्ठः—'स्नातकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम् । यज्ञोपवीते ह्ये यष्टिः सोदकञ्च कमण्डलुः ॥' इति । अत्र च दाक्षायणीति सामान्याभिधानेऽपि कुण्डलधारणमेव कार्यम् ; 'वेणुवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च द्युमे रीचमे च कुण्डले ॥' ( ४।३६ ) इति मनुस्मरणात् । तदा देवं देवप्रतिमाम्, मृद सीर्षाद्बुद्धतां, गौं, ब्राह्मणं, वनस्पतिं अश्वधादिकं प्रदक्षिणं कुर्यात् । एतामृदक्षिणतः कृत्वा प्रवनेदिश्वर्यः । एवं चतुःस्पधादीनपि 'मृदं गौं देवतां विप्रं पृतं मधु चतुःस्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥' ( ३।३९ ) इति मनुस्मरणात् ॥ १३३ ॥

भाषा—सदैव दाक्षायण ( सोने का कुण्डल ),- यज्ञोपवीत, ढंडा और कमण्डलु लिये रहे । देवमूर्ति, ( तीर्थ की ) मिष्ट, गाय, ब्राह्मण और ( वृषल भादि ) वृष्टों की परिक्रमा करे ॥ १३३ ॥

न तु मेहेन्नदीछायावर्मणोष्णभुभस्मस्तु ।  
न प्रत्यग्वर्कगोसोमसंध्यान्मुखीद्विप्रन्नमनः ॥ १३४ ॥

नद्याविषु न गेहेत् न मूर्धपुरीषोऽसर्गं कुर्यात्, एवं रमजानादावपि । यथाह ब्राह्मः—'न गोमवहृष्टोत्सङ्गाद्बलचितिरमदानवशमीकवोमंखरगोष्ठयिष्टपर्वततुलिनेषु मेहेत्, भूताधारशत्रात्' इति । तथाग्वादीनप्रति अग्न्यादीनामभिमुखं न मेहेत्, नाप्येतान्परयन् । यथाह गौतमः ( ९।१९ )—'यथास्थानविमादिश्वार्यो देवतागाथ प्रतिपश्यन्वा मूर्धपुरीषामेभ्यान्मुख्युदस्येत्, न देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत्' इति । एतद्देशव्यतिरेकेण भूमिमवन्निर्गैरुत्तरैरन्तर्धाय मूर्धपुरीषे कुर्यादिति । यथाह वसिष्ठ—'परिपेक्षिततारा भूमिमवन्निर्गैरन्तर्धाय मूर्धपुरीषे कुर्यात्' इति ॥ १३४ ॥

१. तद्दान् ; सकारणम् । २. एवं देवं देवतायां । ३. प्रदक्षिणतः ।  
४. प्रायर्कक्षिणोः । ५. रमजानपवमीक । ६. नैतान् प्रति । ७. मेहन कार्यं ।

भाषा—नदी, छाया, भाग, गोशाला, जल और मरुत में मूत्र एवं मल का त्याग न करे । अग्नि, सूर्य, गाय, चन्द्रमा, संध्या, जल, स्त्री और द्विज की ओर मुँह कर भी ( मूत्र एवं पुरीष ) न करे ॥ १३४ ॥

नेष्टेतर्कं न नम्रां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम् ।

न च मूर्धं पुरीषं वा नाशुची राहुतारकाः ॥ १३५ ॥

नैवाकंमीक्षेतेति यद्यप्यत्र सामान्यनोक्तं, तथाप्युदवास्तमयराहुमस्तोदक-  
प्रतिविम्बमप्याहुवर्तिन एवादिषयावेक्षणं निदिश्यते, न सर्वदा । यद्योक्तं मनुना  
( ४।३७ )—‘नेष्टेतोद्यन्तमादित्यं नाग्न यन्तं कदाचन । मोपसृष्टं न वारिरथं  
न मर्षं नभसो गतम् ॥’ इति । उपभोगादप्यत्र नम्रां स्त्रियं नेष्टेत । न नम्रां  
स्त्रियमीक्षेताप्यत्र मैथुनात्’ इत्याश्रयात्पनः । संसृष्टमैथुनां कृतोपभोगाम् ।  
उपभोगाग्ने नम्रामपि नेष्टेत । चकराद्गजनादिकमाचरन्तीम् । तथा च मनुः  
( ४।४३ )—‘नाश्रुनीवाद्गार्थया सार्धं नैनामीक्षेत चारनतीम् । कुवती जूम्भ-  
माणां च न व्वासीनां यथासुखम् ॥ नाश्रुवर्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्षामनासृ-  
ताम् । न परदेष्टमवन्ती च भेदरकामो द्विजोत्तमः ॥’ इति । मूत्रपुरीषे च न  
परयेत् । तथा अशुचिः मन् राहुतारकाश्च न परयेत् । चकराद्बुदके स्वप्रति-  
विम्बे न परयेत् । ‘न कोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारया ( मनु. ४।३८ )  
इति यथेनात् ॥ १३५ ॥

भाषा—( उदय, भरत, राहुमस्त, जल में प्रतिविम्बित एवं मरुत-  
कालीन ) सूर्य को, ( उपभोग के अतिरिक्त अप्यत्र ) नगी स्त्री को, जिसके  
साथ सद्यः मैथुनविषया गवा हो ऐसी ( अनग्ना ) स्त्री को, मूत्र तथा पुरीष  
को और अपवित्र रहते समय राहु एवं तारी को न देखे ॥ १३५ ॥

अथं मे वज्र इत्येष सर्वं मन्त्रमुदीरयेत् ।

वर्षस्यप्राप्तो गच्छेत्स्थपेरप्रत्यक्षिशरा न च ॥ १३६ ॥

वर्षति मति ‘अथं मे वज्रं वाप्मानमपहन्तु’ इति मन्त्रमुच्चारयेत् । वर्षति  
अप्राप्तोऽनाच्छादितो न गच्छेत् ‘धावेत् । ‘न प्रधावेत् वर्षति’ इति प्रति-  
वेद्यात् ; नच प्रवर्षिशराः स्वप्यात् । चकाराद्यसो न शयीत । एकस्य द्वाव्यवृष्टे  
नच मानः क्षीतेति । ‘वैकः सुप्राप्यव्यवृष्टे’ ( ५।५७ ) मनुस्मरणम् ॥ १३६ ॥

भाषा—वर्ष होने पर ‘अथं मे वज्रं वाप्मानमपहन्तु’ मन्त्र का उच्चारण  
करे । ( वर्षी मे ) क्षाता आदि से आप्लावित हुए विना शरीर न लाने ।  
परिषम की ओर शिर करक ( और नगा ) न लाने ॥ १३६ ॥

प्रीवनासृक्शंक्रन्मूर्तरताम्येषु न निक्षिपेत् ।

पादो प्रतापयेन्नाश्री न चैनमभिलङ्घयेत् ॥ १३७ ॥

१ मुद्गिरणम्, अस्क् रक्त शक्यत् पुराण प्रतिदम्, पता येषु न  
नाशयत् । ध्वं गुपादीनवि । यथाह शङ्ख—'गुपकेनपुरीपभस्मादिधरलेष्म  
नललोमान्येषु न निक्षिपेत् पादेन वाग्मिना वा जलमभिह-यात् इति । भग्नी  
श्च पादी न प्रतापयेत् । नाप्यग्निं लङ्घयेत् । चकारात् प्रीवनादी-पानी न  
निक्षिपत् । सुम्नोपधमनादि च्वाग्ननें कुर्यात् । तथा च मनु ( ४।५३ )—नाग्निं  
मुखेनोपधमेत्यना मसेत् च खियम् । नामेभ्य मक्षिपेदग्नी ऽ च पादीं प्रताप  
येत् ॥ अधस्तातोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् । न चैनं पादनं कुर्यात् प्राणि  
धंधमाचरेत् ॥' इति ॥ १३७ ॥

भाषा—वृक, रक्त पुरीप मूत्र एव धीर्यं जल में न फेंकः । अग्नि में परो  
हो न सेंक पीर न उसे लॉवे ॥ १३७ ॥

१ जल पिबेनाञ्जलिना न शयान प्रबोधयेत् ।

१० नास्ते क्रीडेन धर्ममैर्याधितैर्या न सविशेत् ॥ १३८ ॥

१० जलमञ्जलिना सहताभ्या इस्ताभ्या न पिबेत् । नञ् प्रहणं पियमात्राव  
रक्षणम् । विद्य विभिरात्मनोऽधिकं ज्ञायान न प्रबोधयेन्तोत्थापयेत् । 'श्रयास  
प्रबोधयेत्' इति विशेषस्मरणम् । अथादिभिर्न क्रीडेत् । धर्ममैर्या पशु  
रभनादिभिर्न कृतेत् । व्याधितैर्ज्वराद्यभिभूतै सहैकत्र न सविगे न दयात् ॥

भाषा—अञ्जलि में जल न पिब और न सोये हुए व्यक्ति को जगाव ।  
शुभा न खेले ( पशु हिसक आदि ) धर्मप्रद व्यक्तिवों क साथ न खेले और  
न रोगी व्यक्ति के पास सोय ॥ १३८ ॥

११ धिक्कं वर्जयेत्कर्म प्रेतधूमं नदीतरम् ।

केशभस्मतुपाङ्कारकपालेषु च सस्थितिम् ॥ १३९ ॥

जगत्प्रमाणवलाचारविरुद्धं कर्म वर्जयेत् । प्रेतधूमं वाहुष्वां नदानरण  
च वर्जयेदिति सवदर्थते । कशादिषु च सस्थितिं वर्जयेत् । चकारादिपक्षा-  
सामेयेषु च ॥ १३९ ॥

भाषा—( जगत्प्रद गौर और कुत्त क ) विरुद्ध कर्म न करे । प्रेतधूम  
रेवर्श और तैर कर नदी पार करना कार्य न करे । कशा भस्म, भूसी अगार  
और कपाल पर न बैठे ॥ १३९ ॥

१ मनुलङ्घयेत् । २ मतिलङ्घयेत् । ३ प्राणावाप ।



नाचक्षीत ध्यन्तीं गां नाद्वारेण विशेषकचित् ।

न राक्षः प्रतिगृह्णीयात्लुब्धस्याच्छास्त्रवर्तिनः ॥ १४० ॥

परस्य क्षीरादि<sup>१</sup> पिबन्तीं गां परस्मै नाचक्षीत नच निव्रतयेत् । भद्रां कापथेन षचिदपि नगरे ग्रामे मन्दिरे वा न प्रविशेत् । नच वृषणस्य नाद्यां क्रमकारिणो राक्षः स्वकाशात्प्रतिगृह्णीयात् ॥ १४० ॥

भाषा—वीनी हुई या ( चढ़दे को ) पिलाती हुई गाय को भलग न । क्षीर न उससे विषय में कहे । वही ( गांव या मन्दिर में ) उचितमार्ग । जोड़कर किसी और मार्ग से प्रवेश न करे । लोभी, शास्त्र के विपरीत आचरण करने वाले राक्षस का दान न ग्रहण करे ॥ १४० ॥

प्रतिग्रहे सुनिचक्रिः प्रजिवेश्यानराधिपाः ।

दुष्टा ददागुणं पूर्वात्पूर्वादेतं यथाक्रमम् ॥ १४१ ॥

प्रतिग्रहे साधये सृग्यादयः प्रथमं पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परः परो ददागुणं दुष्टः । सुना प्राणिहिंसा साऽऽस्वास्तीति सुनी प्राणिहिंसापरः । चञ्चली तैलिकः । ध्वजो सुराविक्रवी । शंभवाः पण्डुच्छी । नराधिपोऽनन्तरोक्तः ॥ १४१ ॥

भाषा—दाम लेन में अधिक, तेली, कुलाड, येरवा और रासायन यथाक्रम अपने, पहले पाल स दम दम गुना अधिक दोषा होते हैं ॥ १४१ ॥

अध्यायनधर्मानाह—

अध्यायानामुपाक्रमे अधवर्णा ध्रुवणेन वा ।

दस्तेनौपधिभाषे वा पञ्चम्यां अधवणस्य तु ॥ १४२ ॥

अधीयन्त ह्यध्यायानां वेशः, तेषामुपाक्रमे उपक्रममोपधीनां प्रादुर्भावे सति आरणमासस्य षीर्णमासयो, अधवणनक्षत्रयुते वा दिने, हस्तेन पुनायां पञ्चम्यां वा, स्वगृहोक्तविधितः कुर्यात् । यदा तु आरणे मामि भोपपयो न प्रादुर्भवति, तदा भाद्रपदे मामि अधवणनक्षत्रे कुर्यात् । तत् ऊर्ध्वं सार्धं चतुरो मामान्वेशनधी-वीत । तथा च मनु ( ७१९ )—'आधवर्णां प्रीष्टवतां जाऽऽवुपाहृष्य यदाशिवि । युक्तदन्दांस्पर्धापीत मासाऽन्विषोऽर्धपञ्चमान् ॥' इति ॥ १४२ ॥

भाषा—( वेदों के ) अध्यायन का उपाक्रम ( आरम्भ ) धनरत्नियों के उग भाने पर अधवण महरीने को पूर्णमासी को आधवणनक्षत्र से युक्त दिन को अधवा दहननक्षत्र से युक्त अधवण को पंचमी को करे ॥ १४२ ॥

१. क्षीरादि ध्यन्तीं गां । २. प्रतिग्रहेषु माधवेषु ।

वासर्जनकालः—

पौषमासस्य रोहिण्यामएकायामर्घ्यापि वा ।—

जलान्तं छन्दसां कुर्याद्भूतसर्गं विधिगृह्णति ॥ १४३ ॥

पौषमासस्य रोहिण्यामएकाया वा ग्रामाद्दिर्जलसमापे छन्दसा वेदान्त-  
स्वगृहोक्तविधिनोरसर्गं कुर्यात् । यदा पुनर्भाद्रपदे मासि उपाकर्मं तदा माघ-  
शुक्लप्रथमदिवसे उत्सर्गं कुर्यात् । यथोक्त मनुना ( ४।९६ )—'पुष्ये ॥ छन्द-  
सां कुर्याद्दिर्हरत्सर्जनं द्विज । माघशुक्लस्य वा ग्रामे पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥'  
इति । तदनन्तर पश्चिमीमहोरात्र वा विरम्य शुक्लपक्षेषु वेदान् कृष्णपक्षेष्वह्ना-  
म्यधीधीत । यथाह मनुः ( ४।९७ )—'यथाशास्त्रं ॥ कृष्णपक्षसर्गं छन्दसा  
गृह्णति । विमेषपश्चिमीं रात्रिं यद्वाऽप्येकमहर्निशम् ॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दसि  
गृह्णेषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पौष मास की रोहिणी या अष्टमी को ( गाँव से ) बाहर जाकर  
लक्ष्मण के निकट वेदों का ( अपने गृहस्थ में उक्त ) विधि के अनुसार  
सर्ग करे ॥ १४३ ॥

अनध्यायानाह—

अथहं प्रेतेऽनध्याय शिष्यत्विग्गुरुवन्धुषु ।

उपाकर्मणि घोरसर्गं स्वशास्त्राधोत्रिये तथा ॥ १४४ ॥

इत्येन मागेनाधीमानस्य द्विजस्य शिष्यत्विग्गुरुवन्धुषु प्रेतेषु मृतेषु स्व-  
मनध्यायकीमहोरात्रानध्यायनं वर्जयेत् । उपाकर्मणि उत्सर्गायमे च कर्मणि  
कृते अथहमनध्यायः । उत्सर्गं तु मनुकपत्तिष्वहोरात्राभ्यां सहास्य विरम्य ।  
स्वशास्त्राधोत्रिये स्वशास्त्राध्यायिनि च प्रेते अथहमनध्यायः ॥ १४४ ॥

भाषा—शिष्य, ऋत्विज, गुरु और बन्धु ( समाति ) के मरणे पर,  
उपाकर्म ( एवं वेदोत्सर्गं कर्म ) के उपरान्त तथा अपनी शास्त्र का अध्याय  
करने वाले किसी व्यक्ति की मृत्यु पर तीन दिनों तक अनध्याय  
होता है ॥ १४४ ॥

संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।

समाप्य वेदं पुनिशमारण्यकर्मघातय च ॥ १४५ ॥

संध्यापां मेघावनौ, निर्घाते आकाशे—उत्पातध्वनौ, भूमिध्वने, उत्पा-  
तने, मन्त्रस्य प्राद्वणस्य वा समाप्तौ, आरण्यकावयने च पुनिशमहोरात्र-  
नध्यायः ॥ १४५ ॥

भाषा—सन्ध्या समय मेघ का गर्जन होने पर, आकाश में उरपात की श्रुति होने पर, भूकम्प, उलकापात ( तारा टूटकर गिरने पर ), वेद के मन्त्र या ब्राह्मण भाग की समाप्ति पर और भारण्यक का अध्ययन पूरा कर लेने पर एक दिन और रात का 'अनध्याय होता है ॥ १४५ ॥

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके  
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा धार्द्रिकं प्रतिगृह्य च ॥ १४६ ॥

पञ्चदश्यामष्टम्यां राहुसूतके अन्वसूर्यो-  
परान्ते च पुनिशमनध्यायः । यत्तु—'इहं न कीर्तयेद्महा राज्ञो राहोश्च सूतके'  
( मनु. ५।११० ) इति सद्ग्रस्तास्तविषयम् । ऋतुसंधिगतासु च प्रतिपत्सु  
आदिकभोजने तत्प्रतिग्रहे च पुनिशमनध्यायः । एतच्चैकोद्दिष्टव्यतिरिक्त-  
विषयम् । तत्र तु त्रिराश्रमं मनुः ( ३।११० )—'प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य  
केतनम् । इहं न कीर्तयेद्महा' इति स्मरणात् ॥ १४६ ॥

भाषा—अमावस्या, पूर्णमासी, चतुर्दशी, अष्टमी को अन्वग्रहण एवं  
सूर्यग्रहण के समय ऋतुओं के आरम्भ की प्रतिपदा को, धार्द्र का भोजन  
करने पर तथा दान लेने पर ( एक दिन रात का अनध्याय होता है ) ॥ १४६ ॥

पञ्चमण्डूकनकुलध्यादिमाज्जरमूपकैः  
कृतेऽन्तरे स्वहोराश्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये ॥ १४७ ॥

अध्वेनृणां पञ्चाशित्तिरान्तरागमने कृते शक्रपञ्चमस्यापरोपणदिवसे, उन्व-  
यदिवसे चाहोराश्रमनध्यायः । पुनिशमिति प्रकृते पुनः 'अहोराश्रं ग्रहणं संध्या-  
गर्जितनिर्घातभूम्भोद्दकानिपातेष्वाकालिकस्वज्ञापनार्थम् ; 'आकालिकनिर्घात-  
भूम्भपराहुदर्शनोत्सकाः' ( १६।२२ ) इति गौतमवचनात् । निमित्तकालादार-  
भ्यापरोपुर्वावस्त एव कालरतावरकाल अकालः, तत्र भव आकालिकोऽनध्यायः ।  
एतच्च प्रातःसंध्यास्तनिते । स्यात्संध्यास्तनिते शु रात्रिमेव, 'सार्धसंध्यास्तनिते  
तु रात्रिः, प्रातःसंध्यास्तनितेऽहोराश्रम्' इति हारीतस्मरणात् । चापुनर्घातमे-  
भोक्तं ( १।७९ ) 'अनकुलसर्पमण्डूकमाज्जरान्णान्तरागमने इवह्युपवासी विप्र-  
वासश्च' इति तत्प्रथमाध्वयनविषयमेव ॥ १४७ ॥

भाषा—अध्ययन करने वालों के बीच किसी यज्ञ, मेदक, नेवला, साड़ी,  
बिन्दी या सूहा के आजाने पर, इन्द्रधनुष उड़ने पर तथा बापव के समय  
एक दिन-रात ( अनध्याय होता है ) ॥ १४७ ॥

१. उरपातविषये । २. संध्यामहोरात्र । ३. माज्जरानां इव ।  
४. एवयनविषय एव ।

श्वक्रो एगर्दमोत्कसामयाणार्तेनि स्वने ।

अमेव्यवाचवाद्गान्त्र्यश्रमशानपतितास्तिके ॥ १४८ ॥

श्री सुर्वकुर, कोष्टा श्रमाल, गर्दभो रासभ, उल्लुको घूक, साम सामानि, पाणो वंस, आर्तो दु गित, एषां आदीनां नि स्वने तावकात्मनध्याय । एव चीणादिनि स्वनेऽपि ।—'वेणुवीणाभेरीमृदङ्गगन्धर्वार्तशब्देषु' ( १६१७ ) इति गीतमन्त्रध्याय । गन्धी शकटम् । अमेव्यादीनां सनिधाने तावकात्तिकोऽनध्याय ॥ १४८ ॥

भाषा—कुशा, सिंघार, गदहा उल्लु, सामगान, वंस और दु गित इति इवकि श्री स्वर सुमाई पक्षने पर तथा अपवित्र वस्तु वाच, मृद अन्वय, श्रमशान या पतित इवकि के निष्कट होने पर ( उस स्थिति की अवधि तक अनध्याय होता है ॥ १४८ ॥

वेशेऽशुचाचारमनि च विपुयुत्तनितसंस्वये ।

मुफ्त्यार्द्रपाणिरभोन्तरघरात्रेऽतिमाकते ॥ १४९ ॥

अशुची वेशेऽशुचाचारमनि च । तथा विपुयुत्तनितसंस्वये पुन पुनविद्योत-मानायां विपुनि, स्तनितसंस्वये महारद्वय पुन पुनमेषधोपे तावकात्तिकोऽनध्याय । मुफ्त्यार्द्रपाणिर्नाधीयोत । अलमध्वे च । अर्घरात्रे महानिशाद्ये मन्त्र-मन्त्रद्वये, अतिमाकतेऽहन्वपि तावकात्क नाधीयोत ॥ १४९ ॥

भाषा—मपवित्र स्थान पर, श्वय अशुच होने पर बार बार बिजली की चमक होने, मेष के बार बार गर्जन के समय भोजन के उपरान्त गीले हाथ रहने पर जल के भीतर भाषी रात की और तीव्र वायु चलने पर डतने समय तक ( अन्वय नहीं करना चाहिए ) ॥ १४९ ॥

पांसुप्रतर्पे दिग्दाहे संख्यानीह्वारभीतिषु ।

धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥ १५० ॥

भीतिपतिके इमोयर्प, दिग्दाहे यत्र ज्वलिता इव विशो हरयन्ते । सप्ययो, नीहारे धूमिकायां, भीतिषु चौरराजादिकृतासु तावकात्मनध्याय । धावतश्च रित गच्छतोऽनध्याय । पूतिगन्धे कुलितगन्धे अमेव्यमयादिगन्धे । शिष्टे च ओषियादी गृह प्रोक्षे तदनुज्ञावचनध्याय ॥ १५० ॥

भाषा—भूल मरी अँधी उठने पर, दिशाओं के जलती हुई सी दिशाई पक्षने पर, दोनों सन्ध्याओं के समय पुषले में और ( चोर या राता से ) भय होने पर ( तत्काल अनध्याय होता है ) । दौड़ते समय, अपवित्र वस्तु की

गन्ध धाने पर और ( छोत्रियादि ) सिद्ध व्यक्ति के घर धाने पर ( अनुष्वाय होता है ) ॥ १५० ॥

१५१ ॥

१। सावकालमन-

श्याय । एवं 'ब्रह्मकोट्यर्द्धम-' इत्यस्मादात्म्य सप्तत्रिंशद्वन्ध्यायानेतास्ताः कालि-  
काग्निमित्तसमकालान्विबहुरनेष्वावविधिज्ञाः । 'विदुः हायनेन' रम्ययत्तरोक्तान-  
श्यायानपि सगृह्णाति । यथाह मनुः ( ४।१।३२ )—'ज्ञानानः प्रोढवाद्ब्रह्म कृश्वर  
शैवावसविधेकाम् । नाधीवीतामिपंजग्वा सूतकानाद्यमेव च ॥' हायादि ॥ १५१ ॥

भाषा—गदहा, ऊँट, रथ, हाथी, घोडा, नौका, घुष पर चढ़ने और ऊसर  
भूमि या महत्फल में चलने पर अनुष्वाय होता है । इन सैतीस अनुष्वायों का  
समय इनके निमित्त की सजा रहने तक समसना चादिपु ॥ १५१ ॥

पुषमनश्यायानुश्रवा प्रकृतानि स्नातकप्रताम्पाह—

देवस्थिफस्नातकाचार्यराज्ञां छायां परस्त्रियाः ।

नाकामेद्रक्तविष्मूत्रघृतीयनोद्धर्तनादि च ॥ १५२ ॥

देवानां देवार्चानामृशिवस्नातकाचार्यराज्ञां परस्त्रियाश्च छायां नाकामेजा  
पितिष्टेच लहयेद्व्युद्विपूर्वम् । यथाह मनुः ( ४।१।३० )—'देवतानां गुरो राज्ञ  
स्नानाचार्यवोस्तथा । नाकामेकामतरश्चावरं बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥' इति  
बभ्रुणो मङ्गलवर्णस्य यस्य कस्यचिन्नोद्वयस्य वा श्यामोदेः, 'बभ्रुण' इति नपुंसक  
लिङ्गनिर्देशात् । रक्षादीनि च नापितिष्टेत् । 'आदि' प्रहणारस्नानोदकादेर्महणम्  
( मनु. ४।१।३२ )—'उद्धर्तनमपरनामं विष्मूत्रे रक्तमेव च । रक्तोमनिष्टपत  
वाग्दानि नापितिष्टेत कामतः ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—देवता, अश्विन्, स्नानक, आचार्य, राजा और पर स्त्री च  
छाया न लीये । श्विर, विष्टा, मूत्र, रक्तार, उद्धर्तन ( उबरन की सीधी  
( तथा स्नान करने पर गिरे हुए जल ) को भी न लीये ॥ १५२ ॥

यिमादिसत्रियात्मानो नावहेयाः कदाचन ।

आ मृत्योः श्रियमाकाहक्षेत्र कञ्जिग्मूर्मणि रपृशेव् ॥ १५३ ॥

विमो बहृभुतो ब्राह्मण, आदिः सर्वं, सत्रियो नृपतिः, एते कदाचिदि  
मायमन्तव्याः । आत्मा च इदं नावमन्तव्य । आसृणोर्षावज्जीव श्रिय

१. ऊपर । २. रथयन रथायन । ३. कुशावसविषक उरुषामवधि  
गत । ४. सोमादे ।

मिच्छेत् । न कथंचित् पुरुषं मर्मेण स्पृशेत् कस्यचिदपि मनं दुःखरितं न प्रकाशयेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—( वेदज्ञ ) ब्राह्मण, साँव, उग्रिय ( या राजा ) तथा अपने आत्मा का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए । किसी भक्ति का हृदय न दुखाते हुए जीवनपर्यन्त सुख सम्पत्ति की आकांक्षा रखे ॥ १५३ ॥

दूराद्दृष्टिश्चिद्विषमभूत्रपादाग्भांसि समुत्सृजेत् ।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् नित्यमाचारमाचरेत् ॥ १५४ ॥

भोजनाद्युविद्युष्टं विण्मूत्रे पादप्रक्षालनोदकं ॥ गृहाद्दूरात्समुत्सृजेत् ।  
श्रीतं स्मार्तं चाचारं निष्यं सम्पद्युतिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

भाषा—( भोजन का ) उच्छिष्टांश, मूत्र-मूत्र तथा पैर धोने से दूषित जल को घर से दूर फेंकना चाहिए । श्रुति एवं स्मृति में बताया गये नियमों का प्रतिदिन भलीभाँति पालन करे ॥ १५४ ॥

गोप्राह्वणानलापानि मोक्षिल्यो न पदा स्पृशेत् ।

न निन्दाताडने क्षुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् ॥ १५५ ॥

गो प्राह्वणमग्निं अन्नमदमीयं, विशेषतः एकमशुचिर्न स्पृशेत् । पादेन स्व-  
शुचिद्युष्टेऽपि । यद्वा पुनः प्रमादात्स्पृशति तदा आचमनोत्तरकारम्—'स्पृष्टानां-  
शुचिर्नित्यमग्निः प्राणानुपरस्पृशेत् । शास्त्राणि चैव सर्वानि शर्मिणि पाणितलेन तु ॥'  
इति ( १११३१ ) मन्त्रं कार्यम् । एवं प्राणादीनुपरस्पृशेत् । कस्यचिदपि  
निन्दाताडने न कुर्वीत् । एतत्स्थानपकारिणि । मनुः ( ४११६० )—'अनुप्यमान-  
द्योःपाद्यं ब्राह्मणस्यासुग्राह्यतः । दुःखं क्षुमहदाप्नोति प्रेषामाश्रयतः । नराः ॥'  
इति । पुत्रशिष्यौ शिष्यार्थमेव ताडयेत् । अकारादामाक्षीनपि । ताडनं च रक्षा-  
दिनोत्तमाह्वयतिरेकेण कार्यम् ; 'शिष्यशिष्ययथेनाशकी रज्जुवेषुविबुधान्यां  
समुन्वाम्भवेन रत्नं राज्ञा प्रास्वते' ( ११३२, ३१३ ) इति शौतमवचनात् ।—'पृष्ठ-  
तश्चु शरीरस्य मोक्षमाहो कथंचन' इति ( ८१२०० ) मनुष्यवचनम् ॥ १५५ ॥

भाषा—शाप, ब्राह्मण, अग्नि और अन्न को अशुद्ध रहने पर न छुए और  
न इन्हें पैर से छुए । किसी को निन्दा नहीं करनी चाहिए और न किसी को  
मारना-पीटना चाहिए, किन्तु पुत्र और शिष्य को ( पकाले समय ) मारना  
चाहिए ॥ १५५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।

अस्वर्ग्यं लोकविक्षिप्तं धर्म्यमप्याचरेन्न तु ॥ १५६ ॥

धर्मणा कायेन यथाशक्ति धर्ममनुतिष्ठेत् तमेव मनसा ध्यायेत् वाचा च धरेत् । धर्मं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशास्त्रिनजनन मधुपर्कं गोवधादिकं नाचरेत् । यदमादस्वर्ग्यमैतनीपोभीयवस्वर्गसाधनं न भवति ॥ १५६ ॥

भाषा—धर्म, मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करे, धर्म विहित होने पर भी लोकविद्विष्ट कर्म हो और उससे स्वर्ग की प्राप्ति न हो तो उसे नहीं करना चाहिए ॥ १५६ ॥

मातृविभ्रतिविभ्रासृजामिसम्यन्धिमातुलै ।

पृथुयास्तानुराचार्यैद्यसभितयान्धवै ॥ १५७ ॥

श्रतिवफपुरोहितापर्यमार्यावाससनाभिभि ।

विधादं धर्जयित्वा तु सर्वांस्लोकाम्जयेद्वृष्टी ॥ १५८ ॥

माता जननी, पिता जनक, अतिविस्वनीन, भ्रातरो भिन्नोदरा अपि । जामयो विद्यमानमर्तुका द्विय, सचन्धिनो वैवाद्या मातुलो मातुभ्राता, पृथु सप्तपुत्ररत्नवरक, बाल भा चोदसाह्वर्षत्, भातुरो रागी, आचार्य उपनेता, वैद्यो विद्वान् मिषग्वा, सभित उपजीवी, बान्धवा वितृपचदा मातृ-पचदाश्च, मातुलश्च पृथगुपादानमादर्शयम् । ऋषिवावाज्जका, पुरोहित सामवादे कर्ता, भवाय पुत्रादि, भार्या सहधर्मचारिणी, दास कर्मकर, सनाभय सोदरा, भ्रातृभ्य पृथगुपादानमामिमिगिनीप्राप्तवचम् । एतैर्मात्रादिभि सह बाष्कलह परिदाय सर्वमात्रापावादाद् लोका प्राप्नोति ॥ १५७-१५८ ॥

भाषा—माता, पिता, अतिथि, भाई, सुहायिन की, सहधर्मि, मामा, पृथु, बालक शोरी, आचार्य, वैद्य, अभितजन, ( पिता एवं माता पच क ) बान्धव, श्रतिवज, पुरोहित, पुत्र, परनी, दास और सोदर भाइयो क साथ विवाह न करक गृहस्थ सभी लोकों की प्राप्ति करता है ॥ १५७-१५८ ॥

पञ्च विण्डाननुद्धस्य न ध्यायात्परधारिषु ।

आयाधदीदेवघातहृद्प्रक्षयणेषु च ॥ १५९ ॥

परधारिषु वसवन्धिषु सर्वपरवादेभनारवन्धेषु तदोपाधिषु पञ्च विण्डान नुद्धस्य न रनायात् । अनेनारमोथोत्पृष्टाश्चनुज्ञातेषु विण्डोदारमर्तैरापि रनायम ष्यनुज्ञातम् । मद्यारिषु कथं तर्हीत्याह—रनायाधदीति । साक्षात्परम्परया वा सनुद्धता कश्चको मज्ज, श्रेष्ठान् श्रेष्ठिभिः प्रुक्तादि, उरुदृष्टाभिराग कुलमज्जो महानिष्ठमदेशो हृद्, पर्वभाषुधमदसायमनुभवक प्रचरणम्, एतेषु पञ्चविण्डानुद्धानेनैव रनायात् । एतच्च निन्दनानाविवच्य सति समर्थ मनुः

( ४१२०३ )—'नदीषु देवरातेषु सद्योपु सरःसु च । स्नानं समाचरे द्विर्यं  
गर्तमप्रपणेषु च ॥' इति 'निरव'ग्रहणात् । शौचाथर्थं तु यथासंभवं परिवारिषु  
पिण्डानुद्धरणे सर्वस्य निषेधः ॥ १५९ ॥

भाषा—दूसरे के चोखरे में पांच मुट्ठी मिट्टी निकाले बिना स्नान न  
करे । नदी, प्राकृतिक जलाशय ( पुष्कर आदि ), जलपुच्छ और झरने में  
( बिना मिट्टी निकाले ही ) स्नान करे ॥ १५९ ॥

परशय्यासनोद्यानगृहयानानि वर्जयेत् ।  
अदत्तान्यग्निहीनस्य नाम्नमघादनापदि ॥ १६० ॥

शय्या कृत्रिपु, आसनं पीठादि, उद्यानमाम्नादिवनम् । गृहं प्रसिद्धम्,  
यानं रथादि, परसंवन्धीष्वेतान्यदत्तान्यननुज्ञातानि वर्जयेत् नोपशुकीत । अमो-  
घ्यान्नाम्नाह—अग्निहीनस्येति । अग्निहीनस्य श्रौतस्मार्तान्याधिकाररहितस्य  
शुद्धस्य प्रतिलोमजस्य च अधिकारवतोऽप्यग्निरहितस्यात्मनापदि न शुक्रीत,  
न प्रतिगृहीयात्च । तस्मात्प्रशस्तानां स्वकर्मशुद्धजातीनां ब्राह्मणो शुक्रीत  
प्रतिगृहीयात्च' ( १७:१,२ इति श्रौतमन्वचनात् ॥ १६० ॥

भाषा—दूसरे की शय्या, आसन, उद्यान, घर और सवारी का उसकी  
अनुमति के बिना उपयोग न करे । आपत्काल न हो तो ( श्रौतस्मार्त अग्नि  
के अधिकार से वञ्चित ( शुद्ध एवं प्रतिलोमज ) अग्नि का आधान न करने  
वाले व्यक्ति का भक्षण न ग्रहण करे ॥ १६० ॥

कदर्यो बद्धचोराणां क्लीववरक्लावतारिणाम् ।  
वैणाभिः शस्तघार्धुष्यगणिकागणदीक्षिणाम् ॥ १६१ ॥

कदर्यो लुब्धा; 'आत्मानं घमंहरमं' च पुत्रदारंश्च पीडयेत् । लोभाच्च पितरौ  
श्रयान्त्र कदर्यं इति स्मृतः ॥' ( वेबल ) इत्युक्तः । बद्धो निगडादिना वाचा  
संनिरुद्धश्च, चोरो ब्राह्मणसुपर्णान्यतिरिक्तपरस्वापहारी, क्लीवो नपुंसकः, रक्ताव-  
तारी नटचारणमह्लादिः, घेणुज्वेदभीषी, वैणः अमिशस्तः पतनीयैः कर्मभियुक्तः,  
घार्धुष्यो निषिद्धहृदयुपजीवी, गणिका पण्यस्त्री, गणदीक्षी बहुयाजकः । पृतेपा-  
मन्नं नाभीयादित्यनुवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—लोभी, ( बेदी आदि से ) बद्ध, चोर, नपुंसक, नट, चारण, मल्ल  
आदि रक्तावतारी, वैण, पातक कर्मों से युक्त मनुष्य का, ( अनुचित ) रयाज  
लेनेवाले वैश्या और बहुयाजक का ( अन्न नहीं खाना चाहिए ) ॥ १६१ ॥



चिकित्सकापुरस्कृतपुंश्चलीमत्तविद्विषाम् ।  
 क्रूरोप्रपतितद्रास्यदाग्निमिकोच्छिष्टभोजिनाम् ॥ १६२ ॥

चिकित्सको भिषग्वृष्युपजीवी, आनुरो महारोगोपसृष्ट, 'वातस्याप्यरमरी-  
 कुष्ठमेहोदरभगन्दराः । अर्शासि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिता' इति ।  
 क्रुद्ध कुपितः, पुञ्जली व्यभिचारिणी, मत्तो विद्यादिना गर्वितः विद्विष्ट शत्रुः,  
 क्रूरो द्वाभ्यन्तरकोप, वाङ्मायव्यापारेणोद्वेगक उग्र, पतितो ग्रहहादि, प्रापः  
 पतितसावित्रीकः, दाग्निमिको वस्त्रक, उच्छिष्टभोजी परमुक्तोऽभिज्ञताशो, एतेषां  
 चिकित्सकादीनामग्न नाभीयात् ॥ १६२ ॥

भाषा—चिकित्सक, रोगी, कोधी, व्यभिचारिणी, ( विद्या आदि के )  
 अभिमान्नी, शत्रु, क्रूर, उद्धत, पतित, ( सावित्रीदान से श्युत ) प्राप, घोखे-  
 बाज और जुड़ा भोजन करने वाले व्यक्ति का ( अग्न नहीं खाना चाहिये ) ॥

अधीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजितप्रामयाजिनाम् ।  
 शस्त्रविक्रयिकर्मारतन्तुवायम्बवृत्तिनाम् ॥ १६३ ॥

अधीरा स्त्री स्वतन्त्रा—व्यभिचारमन्तरेणापि । पतिपुत्ररहितेत्यर्थ । स्वर्ण-  
 कारः सुवर्णस्य विकारान्तरहृत्, स्त्रीजितः सर्वत्र स्त्रीवशवर्ती, प्रामयाजी  
 प्रामस्य धाम्यादिकर्ता, बहुनामुपनेता वा । शस्त्रविक्रयी शस्त्रविक्रयोपजीवी,  
 कर्मारो लोहकारः तन्त्राविद्य, तन्तुवाय सूचिशिखोपजीवी । अभिर्षुचित्वर्तनं  
 जीवन्मर्यादास्तीति श्वपृच्छी, एतेषामग्न नाभीयात् ॥ १६३ ॥

भाषा—कुलटा ( स्वतन्त्र रहने वाली स्त्री ) स्वर्णकार, ( सर्वत्र ) स्त्री के  
 वश में रहने वाले, गांव भर के लिए पशु करने वाले ( या अनेक व्यक्तियों का  
 उपनयन करने वाले ), शस्त्र बेचनेवाले, लोहार, तन्तुवाय ( जुटाहा तथा  
 र्जी ) और कुत्तों के सहारे वृत्ति चलाने वाले का ( अग्न नहीं खाना चाहिये ) ॥

नृदांसराजरजककृतप्रवधजीविनाम् ।  
 चैलघायसुराजीवसहोपपतियेश्मनाम् ॥ १६४ ॥

पिन्धुनानृतिनोऽथैय तथा चाक्रिक्यन्दिनाम् ।

एषामग्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा ॥ १६५ ॥

' नृदांसो निर्दय, राजा भूपति, तस्मादश्वर्षन्तुतेहितम् । यथाह शत्रुः—  
 नीतावगीतददिनाः श्वन्दिताः श्वपृच्छधिनपरिभुज विरिमनोन्मत्तावधूनराश्रुतेहिता-  
 ऽनि वर्जयेत्' इति । रजको वस्त्राधीना भीष्टादिरामकारक, कृतक उपनयन-  
 यता वधजीवी प्राणिनां वधेन वर्तकः, चैलघायो वधनिर्णेकनहृत्, सुराजीवो  
 मध्यविक्रयजीवी, उपपतिर्जातः । सहोपपतिना बेशम यस्यामी सहोपपतिबेरमा ।

१. नीवपादिरामकर ।

विशुनः परदोषस्य वपापकः, अनृनी मिथ्यावादी, चाक्रिकस्तैलिकः, शाकटिक-  
श्रेयके । 'अभिदास्तः पतितश्चाक्रिकरतैलिक' इति भेदेनाभिधानात् । चन्दिनः  
रतावकाः, सोमविक्रयो मोमलताया विक्रेता, पत्तेयामर्षं न मोक्षयम् । सर्वे  
चैने कदर्यादयो द्विधा एव कदर्यावादिदोषदुष्टा भोज्यावासाः । इतरेषां प्राण्यमा-  
यावाशिपूर्वकावाद्य निषेधस्य ॥ १६३-१६५ ॥

भाषा—निर्दंभी, राजा, रंगरेज, कृतघ्न, अधिक, छोटी, मद्य वेचने वाल  
कुलाल, गिमके घर में आर निवास कर रहा हो उस पुद्ग का, दूमरे का दोष  
पैलाने वाले, झूठ बोलने वाले, सेली या गाड़ीवान, चन्दीजन एव मोमलता  
के विक्रेता का भय नहीं जाना चाहिये ॥ १६४-१६५ ॥

'अग्निहीनस्य काष्ठमद्यादकापदि' ( भाष्य- १६० ) हायत्र शुद्धस्याभोज्या-  
वाद्यमुक्तं, तत्र प्रतिप्रसवमाह—

शुद्धेषु दासगोपीलकुलमिश्राधर्षीरिणः ।  
भोज्याया नापित्तश्चैव यश्चारमानं निवेद्येव ॥ १६६ ॥

दासा गर्भदासादयः । गोपालो गर्भं पालनेन यो जीवति । कुलमिश्रं  
पितृपितामहादिक्रमायातः । अर्षसीरी हलपर्यायसीरोपलक्षितकृषिकलभा-  
गप्राही । नापित्तो शुद्ध्यापारकारयिता, नापित्तश्च । यश्च वाह्यनः कायकर्मभि-  
दात्मानं निवेद्यति तवाहमिति । एते दासादयः शुद्धानां मन्वे भोजयान्ताः ।  
अकाराङ्गुभकारश्च; 'गोपनापित्तकुम्भकारकुलमिश्राधिकमिदेवित्तात्मानोभोज्यावासा'  
इति वचनात् ॥ १६६ ॥

भाषा—शुद्धी में दास, अहीर या ग्वाला, कुल के मिश्र ( गिनसे पिता,  
पितामह के समय से मिश्रता का व्यवहार हो ), साक्षे पर खेती करने वाले  
का, माई का लया ( बाणी, मन, शरीर एवं कर्म से ) आत्मनिवेदन करनेवाले  
व्यक्ति का ( तथा कुम्भकार का ) भग्न लाने योग्य होता है ॥ १६६ ॥

इति स्नातकधर्मप्रकरणम् ।

### भस्याभक्ष्यप्रकरणम्

'न स्वाध्याय निरोध्यर्थम्' ( भाष्य- १२० ) हायत्र अत्यन्त आह्वयस्य  
स्नातकमतान्यभिषामेदानीं द्विजातिधर्मानाह—

अनर्चितं वृथामांसं केशकीटसमन्वितम् ।  
शुक्तं पर्युपितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितैक्षितम् ॥ १६७ ॥

१. प्रतिषेधस्य । २. गवां पालकः गवां पालनेन । ३. कर्मस्थापी ।

उदक्यास्पृष्टसघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत् ।

गोप्रातं दातुनोच्छिष्टं पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ १६८ ॥

अनर्पित अर्थाहाय यद्वज्रया दीयते । पृथामां यद्यमानप्राणाद्यदादि  
 इतिरेकेण देवाद्यर्चनावनिष्ट च यन्न भवति आरामार्थमेव वासाधितम् ।  
 केनकीटादिभिश्च समन्वित सयुक्तम् । यद्वज्रयमनम्ल केवल कालपरिवासेन  
 प्रत्यान्तरममरांशालपरिवामाभ्यां वाशीभवति तद्युक्त दृष्यातिथ्यतिरेकेण  
 'न पशोयसोऽन्नमभीषाम्न द्वि पक्ष, न शुक्ल न पर्युषित, अम्यत रागसाण्डव-  
 सुक्लरधिगुहगाधूमयवविष्टविकारैर्य' इति शङ्खस्मरणात् । पर्युषित राशयन्त  
 रिमम् । उरिदष्ट भुक्तान्नम्, अस्पृष्ट घृणा स्पृष्टम्, पतितेक्षित पतित्तादि  
 भिरीषितम्, उदक्या रजस्वला तथा स्पृष्टम्, 'उदक्या'ग्रहण चण्डालाद्युपल-  
 चनार्थम्, 'अमेत्यपतिनचण्डालपुषकसरजस्वलाकृतलिङ्गुष्टिवस्पृष्टान्नं वर्जयेत्'  
 इति शङ्खस्मरणात् । 'को मुक्ते' ? इति पदापुष्य दीयते तामघुष्टान्नम् ।  
 अम्यस्रवन्म्यस्रवदेक्षेण यदायते तत्पर्यायान्नम्, यथा— ब्राह्मणान्न यद्वज्र  
 शृङ्गान्न ब्राह्मणो हृत् । उभावेतावभोऽयानो मुखात्वा आद्रायण चरेत् ॥'  
 इति । 'पर्यायान्नम्' इति पाठ परिगतमाचान्त गण्डूपग्रहण यस्मिन् तत्पर्या  
 यान्नं, तन्न भोक्तव्यम् । एतद्युक्त भवति— गण्डूपग्रहणादूर्ध्वं आचमनप्राक्  
 न भोक्तव्यमिति । 'पर्यायान्नम्' इति पाठे एकस्वी पद्वती पार्श्वे आचान्ते  
 न भाक्तव्यमस्मादकादिविष्णुदेन विना । 'वर्जयेत्' इति प्रत्येक सवधयेत ।  
 तथा गोप्रात गवा प्रातम् । दातुनोच्छिष्टं शकुनेन काकादिना भुक्तमाखादितम् ।  
 पदा स्पृष्टं बुद्धिपूर्वं पादेन स्पृष्टं वर्जयेत् ॥ १६७-१६८ ॥

भाषा— भवता के साथ दिया गया अन्न ( देवता के लिए नहीं, अपितु  
 अपने लिए पकाया गया ) वेकार प्राप्त, जिस अन्न में बाल या कीड़े पड़े हों,  
 खटा हो गया हो, बामी, जूटा, कुत्ते द्वारा छुआ गया, पतित व्यक्ति द्वारा देखा  
 गया, रजस्वला स्त्री द्वारा छुआ गया, 'कौन व्यावसाय ?' ऐसा पुकार करके दिया  
 गया, दूसरे के लिए बनाकर किसी और को दिया गया, गाय द्वारा सूँघा  
 गया, किसी पक्षी द्वारा जूटा किया गया और जानवृक्ष कर पैर से छुआ गया  
 अन्न नहीं खाना चाहिए ॥ १६७-१६८ ॥

पर्युषितस्य पतिप्रसवमाह—

अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम् ।  
 अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रिया ॥ १६९ ॥

१ सन्तुपाचकतेल ।

अन्नमदनीयं पर्युपितं घृतादिस्नेहसंयुक्तं चिरकालसंस्थितमपि भोजयम् ।  
गोधूमयवगोरसविक्रियाः मण्डकसक्तुकिलाट्कृत्तिकादयः अस्नेहा अपि चिरका-  
लसंस्थिता भोज्या, यदि विकासन्तरमनापन्नाः; 'अपूपधानाकरम्मसक्तुधोव-  
क्तैलपायसशाकानि शुक्तानि वर्जयेत्' ( १४३० ) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥

भाषा—घृत आदि चिकनाई से युक्त देर से भी रखा हुआ भोजन खाना  
चाहिए । गेहूँ, जौ और दूध से बनाया गया भोजन यदि चिकनाई से युक्त न  
भी हो तो, भी ( चिरकालोपरान्त भी ) ग्रहण किया जा सकता है ॥ १६५ ॥

संधिन्वनिर्देशाद्यन्तसामोपयः परियर्जयेत् ।

औष्ट्रमैकशफं क्षेणमारण्यकमथाविकम् ॥ १७० ॥

गौः या घृणेण संधीयते सा संधिनी । 'वशां वन्धां विज्ञानीयाद्बृषाक्रान्तां  
' च संधिनीम्' इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । या चैकां वेलासतिक्षय्यं दुहते, या च  
'सासान्तरेण संधीयते सा संधिनी । प्रसूता सस्यनतिक्रान्तवशाहा अनिर्देशा,  
मृतवशा अवरशा, संधिनी च अनिर्देशा च अवरशा च संधिन्वनिर्देशानवशा-  
स्ताश्च गावश्च तासां पयः क्षीरं परियर्जयेत् । 'संधिनी' ग्रहणं संधिनीयमल-  
सुयोत्पलक्षणार्थम् । यथाह गौतमः ( १०१२५ )—'एवन्दिनीयमसूंसंधिनीनां  
' इति । अवरपयःस्तनी एवन्दिनी, यमलसूर्यमलप्रसविनी, एवमजामहिषोष्वा-  
निर्देशयोः पयो वर्जयेत्, 'गोमहिषजानामनिर्देशानाम्' ( १४३५ ) इति  
वसिष्ठस्मरणात् । पयोग्रहणात्तद्विकाराणामपि दध्यादीनां निषेधः । महि मांस-  
निषेधे तद्विकाराणामनिषेधो युक्तः । विकारनिषेधे तु प्रकृतेरनिषेधो युक्तः ।  
पयोनिषेधाच्चकृमूत्रादेरनिषेधः । उष्ट्राज्जातमौष्ट्रं पयोमूत्रादि । एकशफ  
वश्यादयः, ताप्रभवं एकशफम् । स्त्रीभवं स्त्रीणम् । 'स्त्री'ग्रहणमज्ञाप्यतिरिक्तक-  
लद्विस्तनीनामुत्पलक्षणार्थम् ।—'सर्वासां द्विरतनीनां क्षीरमभोजयमज्ञावर्ज्यम्'  
इति शङ्खस्मरणात् । अरण्ये अवा आरण्यकास्तदीयमारण्यकं क्षीरं महिपर्यति-  
रेकेण । 'आरण्यानां च सर्वेषां शृगानां माहियं विना' ( मनु ५।९ ) इति  
वचनात् । अवेर्जातमाविकम् । 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबन्धते । औष्ट्रमि-  
यादिविकारप्रत्ययनिर्देशात्तद्विकारमात्रस्य पयोमूत्रादेः सर्वदा निषेधः, 'निष्प-  
त्राविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च' ( १०१२४ ) इति गौतमस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—संधिनी ] ( वरदाई हुई, एक जून दूध देने वाली, दूसरी गाय  
हे चढ़ते से दुही जाने वाली ), दस दिन से कम पहले की दवाई हुई गाय  
हा तथा जिनका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय का दूध नहीं पीना चाहिए ।

ऊटनी, एक खुवाली पशुमादा ( घोड़े भादि ), जगली पशु और भेड़ का भी दूध न पीये ॥ १७० ॥

देयतार्थं हवि शिशु लोहितान्वक्षणांस्तथा ।

अनुपाकृतमांसानि विद्वज्जानि कवकानि च ॥ १७१ ॥

देवतार्थं बल्युपहारनिमित्त माधितम् । हवि हवनार्थं सिद्ध प्राक् होमात् । शिशु सोभाजनं, लोहितान् वृषनिर्यामान् । यज्ञनप्रभवान् वृषच्छेदनजातान् लोहितानपि । यथाह मनु — ( ५।६ ) । 'लोहितान्वृषनिर्यासा-यज्ञनप्रभवा-स्तथा' इति । 'लोहित'ग्रहणात् द्विक्रुकरादीनामनिषेध । अनुपाकृतमांसानि पशोऽहुतस्य पशोर्मांसानि, विद्वज्जानि मनुष्यादिजन्मबीजपुरीषोत्पन्नानि तण्डु-लीयकप्रभृतीनि च, कवकानि दुग्धाकाणि, 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभि-सव्यते ॥ १७१ ॥

भाषा—देवता के लिए साधित बलि, हवन सामग्री, सोभाजन, गौं, वृष के काटने पर निकले हुए दूध, यज्ञ में आहुत पशु का मांस, विद्या के स्थान पर उरपन्न अग्नि और कुकुरमुत्ता भादि का भोजन न करे ॥ १७१ ॥

क्रव्यादपक्षिदात्यूहशुकप्रतुदट्टिभान् ।

सारसैकशकान्हंसान्सर्वाश्च ग्रामवासिन ॥ १७२ ॥

क्रव्यादा भाममांसादनशीला, पक्षिणो गृध्रादयः, दात्यूहश्चातक, शुकः कीर । चञ्चवा प्रतुष भक्षयन्तीनि प्रतुदा श्येनादयः, टिट्ठिमस्तच्छङ्खानुकारी, सारसो लपमण, एकशका भवाद्य, हसा प्रसिद्धा, ग्रामवासिनः पारावत-प्रभृतयः, एतांक्रव्यादादीन्वर्जयेत् ॥ १७२ ॥

भाषा—शव का मांस खाने वाले गृध्र भादि पक्षी, चातक, तोता, चोंच से मोचकर खाने वाले बाज भादि पक्षी, सायस, एक खुर वाले पशु ( घोड़े भादि ), हस और ग्राम में रहने वाले सभी पक्षियों का ( भक्षण न करे ) ॥ १७२ ॥

कोयष्टिप्लवचकाह्वलाकावकविष्किरान् ।

वृषाकृसरसंयाधपायसाऽपूपशकुलो ॥ १७३ ॥

कोयष्टि कौष्ठ, प्लवो जलकुवकुटः, चकाह्वश्चकावक, बलाकावको सिद्धी, नखैर्विकीर्यं भक्षयन्तीति विष्किराश्चकोरादय एव गृह्यन्ते, लावकः, यूरादीनां भक्षयात्, ग्रामकुवकुत्स्य ग्रामवासित्वादेव निवेधात्च । एतांको-ष्टयादीन्वर्जयेत् । वृषा देवतादुदुदेशमन्तरेण साधिता वृसरसवाधपायसाऽ-

पूपसक्कुलीर्वर्जयेत् । कृसरं तिलमुद्गसिद्धं भोदनः । संयावः क्षीरगुहपृतादिकृत  
 उरकरिकाण्यः पाकविशेषः । पायसं पयसा मृतमद्यम् । अपूपोऽस्नेहपको  
 गोधूमविकारः । शक्कुली स्नेहपको गोधूमविकारः । 'न पचेदन्नमात्मने' इति  
 कृसरादीनां निषेधे सिद्धे पुनरभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १०३ ॥

भाषा—कौंध, अल कुचकूट, चक्रवाक, यलाका, बगुला, मख से छील कर  
 खाने वाले चक्रोर भादि पक्षी, देवता के लिये न बनाये गये ( तिल और मूंगे  
 का ) कृसर ( दूध, घृत और गुह से बनाये गये ) संयाव, गीर, पूद और  
 पूरी को भोजन के लिये नहीं भक्षण करना चाहिए ॥ १०३ ॥

कलविद्धं सकाकोलं कुररं रज्जुदालकम् ।  
 जालपादाञ्जलीदानघाताञ्च मृगविजान् ॥ १०४ ॥

कलविद्धी प्रामचटकः, प्रामनिवासित्वेन प्रतिषेधे सिद्धे सद्युभयपारिवा-  
 हुमुमर्षचनम् । काकोलो श्लोककाकः, कुरर उल्लोकाः, रज्जुदालको वृचकुहकः,  
 जालपादो जालाकारपादाः, अजालपादा अपि हंसाः सन्धीति हंसानां पुनर्षच-  
 नम् । खलरीटः खज्जनः, जालितो धे भक्षता मृगाः पक्षिणश्च, पुनात्कलविद्धा-  
 दीर्षवर्जयेत् ॥ १०४ ॥

भाषा—कलविद्ध ( प्रामचटक ), काकोल ( श्लोककाक ), कुरर, रज्जु-  
 दालक ( कठफोड़वा ), जालीदार पैरों वाले पक्षी, खज्जन और भक्षता जाति  
 वाले पशु पक्षियों के भक्षण से परहेज रखे ॥ १०४ ॥

घापाञ्च रक्तपादाञ्च सौनं बद्धुरमेघ च ।

मत्स्याञ्च कामतो जम्ब्या सोपयासरज्यहं यसेत् ॥ १०५ ॥

घापाः किर्कीदिवघः रक्तपादाः काश्यपप्रमृतयः, सुनिना एकं सौनं  
 घातस्थानभयं मांसं भक्षणात्प्रवि, बद्धुरं शुष्कमांसम्, मत्स्या मीनाः, एता-  
 द्घापादीर्षवर्जयेत् । चकाराशालिकाशणद्ध्राककुसुममादीन्, 'नालिकाशणद्ध्रा-  
 ककुसुममालासुविट्भवान् । कुम्भीकन्दुकवृन्ताककोविदारश्च वर्जयेत् ॥' इति तथा-  
 ऽकालप्रकृदानि पुष्पाणि च फलानि च । विकारवत्त्व चरिक्वित्प्रदानेन विवर्ज-  
 येत् ॥ 'तथा घटप्लुताकान्यर्धपिचनीपमानुसिद्धफलानि वर्जयेत्' इति स्मरणात् ।  
 एतान्मन्थिनीर्षाप्रमृतीननुकान्ताम्कामतो भक्षयित्वा विरात्रमुपचयेत् । अका-  
 मतरावहोरात्रम् । 'नोपेषुपवसेदहः' ( ५२० ) इति मनुस्मरणात् । घापुनः  
 शत्रुनोक्तम्—'बल्यलाकाहंसप्लवक्रत्राककारण्डवगुहचटककपोतपारावतपाण्डु-  
 शुकसारिकासारतरिदिभोद्धककृरक्तपादाश्चापभासवायसकोकिलशास्त्रलिङ्गकूट-

‘हारीतभक्षणे द्वादशरात्रमनाहारः, पिबेद्वेदोमूत्रवाचकम्’ इति तद्वहुकालाभ्यासे मतिपूर्वे समस्तभक्षणे वा वेदितव्यम् ॥ १७५ ॥

भाषा—चाप, रक्तपाद (कादम्ब आदि), वधिक द्वारा मारे गये पशु का मांस, सूया मांस और मल्ली का भक्षण न करे। इन सबका जानवृत्त कर भक्षण करने पर तीन दिन तक उपवास करे ॥ १७५ ॥

पलाण्डुं विह्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम् ।  
लशुनं गृजनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७६ ॥

पलाण्डुः स्थूलकन्दनालो लशुनानुकारी, विह्वराहो ग्रामसूकर, छत्राकं सर्पछत्रम्, ग्रामकुक्कुटः प्रसिद्ध, लशुन रसोमं सूक्ष्मरवेतकन्दनालम् । गृजनं लशुनानुकारिलोहितसूक्ष्मकन्दम्, एतानि पट्टं सकृत्कामतो जग्ध्वा भक्षयिष्या चान्द्रायणं वक्ष्यमाणलक्षणं चरेत् । ग्रामकुक्कुट-छत्राकयोः पूर्वप्रतिवेधितयोरिहाभिधानं पलाण्डुवादिसमानप्रायश्चित्तार्थम् । मतिपूर्वं चिरतराभ्यासे तु ‘छत्राक विह्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डु गृजनं चैव मर्या जग्ध्वा पतेद्विज’ इति ( ५।१९ ) मन्त्रकम् । भ्रमतिपूर्वाभ्यासे—‘भ्रमत्येतानि पट्टं जग्ध्वा कृष्टं सान्तपमं चरेत्’ ( ५।१९ ) तृतीयाध्याये, वक्ष्यमाण ‘यतिचान्द्रायणं वापि’ इति द्रष्टव्यम् । भ्रमतिपूर्वाभ्यासे तु शब्दोक्त—‘लशुनपलाण्डुगृजनविह्वराह-ग्रामकुक्कुटकुम्भीकभक्षणे द्वादशरात्र पयः पिबेत्’ इति ॥ १७६ ॥

भाषा—प्याज, ग्रामसूकर, छत्राक ( कुकुरमुत्ता ), ग्रामकुक्कुट, लशुन, और गृजन ( गाजर या लालजम ) का ( जानवृत्त कर ) भक्षण करने पर चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७६ ॥

भक्ष्याः पञ्चनखाः सोधामोधाकच्छपशैल्लका ।  
शशश्च भस्त्रेष्यपि द्वि सिद्धतुण्डफरोहिताः ॥ १७७ ॥  
तथा पाठीनराजीवसशकश्च द्विजातिभिः ।

सोधा श्वावित्, सोधा कृकलासानुकारिणी महती, कच्छपः, कूर्मः, शल्लकः शल्लकी, शशः प्रसिद्धः, पञ्चनखादीनां श्वमाश्रयानरादीनां मध्ये एते मेधा-द्वयो भक्ष्याः । शकारास्त्रज्ञोऽपि । यथाह शौतमः ( १०।२० )—‘पञ्चनखाः शशशल्लकश्चाविद्वेष्टासङ्गकच्छुपा’ इति । यथाह मनुरपि ( ५।२८ )—‘श्वविषं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशस्तथा । भक्षयान्पञ्चनखेष्वानुरनुप्रायैकतोदतः ॥’ इति । यत्पुनर्वसिष्ठेन ‘खड्गे तु विवदन्ति’ ( १४।४० ) इत्यभक्षयवमुक्तं, तच्छ्राद्धादन्वयत्र, ‘खड्गमांसंवेदितमपत्यं पितृकर्मणि’ इति आद्ये फलश्रुति-

१ दधित्य । २. प्रतिविद्यो । ३. शक्यका । ४. शालक-पाली । ५. शक्यक ।

दर्शनात् । तथा मत्स्यानां मध्ये सिंहतुण्डादयो भक्ष्याः । सिंहतुण्डः सिंहमुखः,  
रोहितो लोहितवर्णः, पाठीनध्वन्द्रकाण्डः, राज्ञीवः पद्मवर्णः, सह शल्कैः शुक्रपा-  
कारैर्युक्त इति सप्तशकः । एते च सिंहतुण्डादयो नियुक्ता एव भक्ष्याः । 'पाठीन-  
रोहितापाथौ नियुक्तौ हृष्यकर्म्ययोः । राज्ञीवाः सिंहतुण्डाश्च सप्तशकारचैव  
सर्वशः ॥' इति (५१३६) मनुस्मरणात् । 'द्विजाति'ग्रहणं शुद्धशुदासाध्यम् ॥ १७७ ॥

भाषा—सेधा ( सेंधुआर ), गोधा ( गोद ), कसुभा शक ( साही )  
और परगोदा ये पञ्चनख ( पंजे वाले ) जीव भक्षण करने योग्य होते हैं ।  
मछलियों में भी सिंही, रोहित ( रोहू ) पाठीन, राज्ञीव ( पद्म के समान रंग  
वाली ) और सप्तशक ( शुक्ति के आकार वाली ) द्विजातियों के लिये भक्ष्य  
होती है ॥ १७७ ॥

'अमर्षितं पृथामांसम्' ( भा. ३६७ ) इत्यारभ्य द्विजातिधर्मानुक्तेर्दानो  
चातुर्वर्ण्यधर्मात्—

अतः शृणुष्व मांसस्य विधिं भक्षणवर्जने ॥ १७८ ॥

मांसस्य प्रोक्षितादेर्मर्षणे तद्वपतिरिक्तस्य वा विविद्धस्य वर्जने प्रोक्षितादि-  
वपतिरेकेण मांसं न भक्षयामीत्येवं संक्षयस्त्वेन विधिं सामर्थ्यः प्रमृतयः हे  
मुनयः । शृणुष्वम् ॥ १७८ ॥

भाषा—अथ मांस के भक्षण एवं त्याग का नियम सुनें ॥ १७८ ॥

तत्र भक्षणे विधिं दर्शयति—

प्राणास्यये तथा धात्रे प्रोक्षिते द्विजकर्म्यया  
देवान्पितृन्समम्यर्च्यं क्षौद्रमांसं न क्षापयत् ॥ १७९ ॥

अन्नाभावेन व्याघ्रभिन्नेन वा मांसभक्षणमन्तरेण यदा प्राणबाधो भवति,  
सदा मांसं नियमेन भक्षयेत् । 'सर्वतं पृथामानं गोपावेत्' इत्यारम्भवि-  
धानात् । 'संक्षमादुह न पुरायुषः स्वः कामी प्रेयात्' इति मरणनिषेधात् च ।  
तथा श्राद्धे मांसं निमग्नितो नियमेन भक्षयेत् । अभक्षणे दोषध्वजनात्, 'यथा-  
विधिं नियुक्तस्तु यो मांसं नास्ति मानवः । स प्रेत्य पशुनां वाति संभवानेक-  
विंशतिम् ॥' ( ५१३५ ) इति मनुस्मरणात् । प्रोक्षणाद्यधीतसत्कारसकृतस्य  
पशोर्भागार्थस्वाग्नीषोमीयादेर्हुतावशिष्टं मांसं प्रोक्षितं तद्वक्षयेत् ; अभक्षणे  
यागान्पत्तेः । द्विजकर्म्यया ग्राह्यगर्भोजनार्थं देवपित्र्यं च यत्साधितं तेन  
तानम्यर्च्यं शिष्टं भक्षयन्न दोषभागभवति । एव मृत्यमरणावशिष्टमपि ; 'यज्ञार्थं  
ग्राह्यौर्वाभ्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः । मृत्यानां चैव वृत्त्यर्थं भगवतो ह्याचरन्तुरे ॥'

१. नियुक्तश्चैव । २. चातुर्वर्ण्यं प्रत्याह । ३. तस्मादिह । ४. अभ-  
क्षणाद्यागा । ५. ह्यचरत्तथा ।



इति (५।२२) मनुस्मरणात् । 'न दोषमाक्' इति दोषाभावमात्रं वदता भति-  
 च्याद्यर्चनावशिष्टस्याभ्यनुज्ञामात्रं न प्रोक्षितादिवस्त्रियम इति दर्शितम् । एवम-  
 प्रतिविद्धानामपि ज्ञानादीनां प्राणात्स्यव्यतिरेकेणाभक्ष्यत्वावगमात् शूद्रस्यापि  
 मांसप्रतिषेधः सर्वविधिनियेषाधिकारोऽवगम्यते ॥ १७९ ॥

जघ ( भस्म के अभाव में या रोग में ) मांस के बिना प्राण बचाना कठिन  
 हो, आद में, प्रोक्षण नाम के ( धौत सरकार ) में देवताओं की आहुति से  
 अवशिष्ट, ब्राह्मण के भोजन या देवता या पितर के लिये बनाये गये मांस  
 को देवता और पितरों की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं  
 होता है ॥ १७९ ॥

इदानीं प्रोक्षिताव्यतिरिक्तस्य वृयामासमित्यनेन प्रतिषिद्धस्य भक्षणे  
 निष्कार्थत्वाद्माह—

वसेत्स नरके घोरे दिनाति पशुरोमभिः ।

संमितानि दुराचारी यो हृष्यविधिना पशून् ॥ १८० ॥

• भविधिना देवताद्युद्देशमन्तरेण यः पशून् हन्ति स तस्य पशोर्वावन्ति  
 रोमाणि तावन्ति दिनाति घोरे नरके वसेत् । 'हन्ति' इत्यष्टविधोऽपि घातको  
 गृह्यते । यथाह मनु ( ५।५१ ) 'अमुमन्ता विशसिता निहृता ह्यविक्रयी ।  
 सरकर्ता चोपहर्ता च वादकश्चेति घातकाः ॥' इति ॥ १८० ॥

भाषा—जो दुराचारी व्यक्ति बिना विधि के ( देवता या पशु के लिये  
 नहीं भवित्तु स्वयं अपने लिये ) पशुका बध करता वह उतने  
 दिन तक घोर नरक में बस करता है जितने शेरों उस पशु के शरीर में  
 रहे हों ॥ १८० ॥

इदानीं वर्जने विधिमाह—

सर्वाङ्कामानवाप्नोति ह्यमेघफलं तथा ।

गृह्येऽपि नियसन्यप्रो मुनिर्मांसधिवर्जनात् ॥ १८१ ॥

यः प्रोक्षितादिव्यतिरेकेण मया मांसं न भक्षितव्यमिति सत्यसकृदपि भवति  
 स सर्वाङ्कामान् तस्माद्यने प्रवृत्तो निर्विघ्नं प्राप्नोति; विशुद्धात्परात्वात् । यथाह  
 मनु ( ५।४७ )—'बद्धवायते यत्कुरुते रतिं वध्नाति यत्र च । तद्वाप्नोत्य-  
 विश्वेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥' इति । एतच्चानुपद्विक फलम् । मुख्य फल-  
 माह—ह्यमेघफलं तथेति । एतच्च सांख्यकारिकसंकल्पस्य; 'वर्षे वर्षेऽघमेधेन  
 यो यजेत दातं समा । मांसानि च न खादेषस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥' इति  
 ( ५।५२ ) मनुस्मरणात् । तथा गृह्येऽपि नियसन् ब्राह्मणादिभ्यस्तुर्गिको

मुनिवन्माननीयो भवति; मांसस्यागात् । एतच्च न प्रतिषिद्धमांसविषयम् ,  
नापि प्रोक्षितादिविषयम् , किंतु पारिषोष्यादतिष्याद्यर्चनावशिष्टाभ्यनुज्ञात-  
विषयमिति ॥ १८१ ॥

भाषा—(जो यज्ञ के अतिरिक्त अन्य) मांस का भक्षण न करने का सख-  
संकल्प करता है वह सभी अभिलाषाओं एवं अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त  
करता है । मांस का त्याग कर देने पर प्राण्यण अपने घर में रहता हुआ भी  
मुनितुल्य होता है ॥ १८१ ॥

इति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ।

अथ द्रव्यशुद्धिप्रकरणम्

इदानीं द्रव्यशुद्धिमाह—

सौवर्णराजताभ्रजानामूर्ध्वपात्रप्रहाशमनाम् ।

शाकरञ्जुमूलफलयासोपिदलचर्मणाम् ॥ १८२ ॥

पात्राणां क्षमसानां च धारिणा शुद्धिरिष्यते ।

खरुक्षुफ्नुचसन्नेदपात्राण्युष्णेन धारिणा ॥ १८३ ॥

सौवर्णं सुवर्णकृतम् , राजतं रजतकृतम् , अह्नं मुक्ताफलशङ्खशुक्रपादि,  
ऊर्ध्वपात्रं यज्ञियोल्लङ्घलादि; प्रहादिसाहचर्यात् । प्रहाः षोडशप्रभृतयः,  
अर्या ह्यदादिः, शाकं वास्तुकादि, रञ्जुः बह्वजादिविर्मिता, मूलमार्ज-  
कादि, फलमात्रादि, यासो वस्त्रम् , विदलं वीणवादि, चर्म अजादीनाम् ,  
'विदल चर्मणो'ग्रहणं तद्विकाराणां छत्रवरत्रादीनामुपलक्षणार्थम् । पात्राणि  
मौक्तणीपात्रप्रभृतीनि, क्षमसा होतृक्षमसादयः, पत्रेषां सौवर्णादीनां लेपरहित-  
नामुच्छिष्टस्पर्शमात्रे धारिणा प्रक्षालनेन शुद्धिः, खरुक्षुफ्नुचैः, "खरुक्षुचौ  
प्रसिद्धौ, सस्नेहानि पात्राणि प्राशिप्रहरणादीनि, यत्नानि च लेपरहितान्युष्णेन  
धारिणा शुद्ध्यन्ति; 'निर्लेपं काष्ठनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति । अन्नमश्ममर्षं  
चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥' इति ( ५।१।१२ ) अनुस्मरणात् । अनुपस्कृतम-  
न्नातपूरितम् । सलेपानां तु—'तैजसानां मथीनां च सर्वेऽपारममयस्य च ।  
मश्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥' इति ( ५।१।११ ) मन्कं  
द्रष्टव्यम् । मृद्मश्मनोरैककार्यत्वाद्भिन्नस्यः । आपस्तु समुष्चीयन्ते । काकाविमुक्तो-  
पघाते तु—'कृष्णशकुनिमुखावमृष्टं पात्रं निर्लिखेत्, आपवमुक्तावमृष्टं पात्रं न  
प्रयुञ्जीत' ( गौ. सू. १।०।४ ) इति द्रष्टव्यम् । एतच्च मार्जारादन्यत्र, 'मार्जारा-  
श्चैव दर्वा च मादतश्च सदा शुचिः ।' इति अनुस्मरणात् ॥ १८२-१८३ ॥

भाषा—सोने, चाँदी और अन्न ( मुक्ताफल, शल और शुक्ति ) के पात्र, ( उल्लूखल आदि ) यज्ञिय पात्र, अन्न ( यज्ञिय पात्र ), पत्थर, शाक, रस्मी, मूल, ( आम्र आदि ) फल, वस्त्र, बॉत, ( बकरी आदि का ) चमड़ा, ( यज्ञ का ) प्रोक्षणपात्र, ( होता आदि क ) चमस की शुद्धि जल से धो देने से होती है। चरस्याली, सुवा, धी आदि चिकने पदार्थ से युक्त पात्र उष्ण जल से शुद्ध होते हैं ॥ १८२-१८३ ॥

यज्ञपात्रादीनां प्रोक्षणेन शुद्धि —

स्वयंशूर्पाऽस्त्रिधान्यानां मुसलोल्लूखलाऽनसाम् ।

प्रोक्षणं संहतानां च बहूनां धाम्यवाससाम् ॥ १८४ ॥

स्वयो बज्रो यज्ञाङ्गम्, अन्न शकटम्, शय प्रसिद्धम्, एतेषामुष्णेन शरिणा शुद्धि । पुन 'अग्नि'ग्रहण यज्ञाङ्गाग्निप्रोक्षणार्थम् । संहतानामुक्ताशुद्धेद्रव्या'रुक्तावधविना बहूनां धान्याना वाससां च । 'वासो'ग्रहणमुक्ताशुद्धी- ॥मुपलक्षणार्थम् । उक्तशुद्धीनां धाम्यवास प्रभृतीनां बहूनां च राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धि । बहुत्व च स्पृष्टावेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदा धाम्यानि यज्ञादीनि वा राशीकृतानि तत्र अण्डालादिस्पृष्टाम्यवेषानि बहूनि चारस्पृष्टानि तत्र स्पृष्टानामुष्णैव शुद्धिरितरेषां प्रोक्षणमिति । तथा च स्पृष्टयस्तरम्—'वस्त्र धान्यादिराशीनामेकदेशस्य दूषणे । तावन्मात्रं समुद्धृत्य शेषं प्रोक्षणमर्हति ॥' इति । यदा पुन स्पृष्टाना बहुत्व अस्पृष्टानां चालनत्वं तदा सर्वेषामेव चालनम् । यथाह मनुः ( ५।१।१८ )—'अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धाम्यवाससाम् । प्रचालनेन त्वेषानामद्भि शौचं विधायत ॥' इति । स्पृष्टानामस्पृष्टानां च समारोऽपि प्रोक्षणमेव । बहूनां प्रोक्षणविधानेनाश्वानां चालने सिद्धे पुनरश्वानां चालनवचनस्य समेषु चालननिवृत्त्यर्थत्वात् । इयत्स्पृष्टमियदस्पृष्टमित्यविवेके तु चालनमेव । पार्थिवस्यापि दोषस्य परिहर्तव्यत्वात् अनेकपुरुषोद्धार्यमाणानां तु धाम्यवास प्रभृतीनां स्पृष्टानामस्पृष्टानां च प्रोक्षणमेवेति निबन्धनम् ॥ १८४ ॥

भाषा—स्वयं ( यज्ञवज्र ) सुव, कृष्णशुभ्रमं, धाम्य, मूल, शूल और शकट की भी ( शुद्धि उष्ण जल से धोने पर होती है ) धाम्य की राशी और कई वस्त्र हों तो जल के छीटों से ही शुद्ध होती है ॥ १८४ ॥

निर्लेपानां स्वर्णमात्रदुष्टानां शुद्धिसुखवद्गानां सलेपानां शुद्धिमाह—

तक्षणं दारुशुक्लास्थनां गोपालै फलसंभुषाम् ।

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥ १८५ ॥

१ स्वर्णानां बहूनां । २ चालनवचननिवृत्ति । ३ अनेकपुरुषोद्धार्यः ।

दारुणां मेघमहिषादिशृङ्गाणां करिवाराद्दशह्लाघरन्नाम् । 'अरिव'ग्रहणेन  
 दन्तानामपि ग्रहणम् । उच्छिष्टश्चेद्दादिभिर्लिप्तानां मृज्जस्मोदकादिभिर्नपगतले-  
 पानाम् । मनुः ( ५।१२६ )—'यावन्नापैथमेव्याक्ताद्गन्धो लेपश्च ताःकृतः ।  
 तावन्मृद्धारि षादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥' इति सामान्यतः शुद्धिविधानात् ।  
 तद्यथा तावन्मात्राययथावययनं शुद्धिः । फलसंभवां विहवालात्तुमारिक्तादि-  
 फलसंभूतानां पात्राणां गोशालैस्त्वर्यगात्शुद्धिः । यज्ञपात्राणां सुकुलुवाङ्गनां  
 यज्ञकर्मणि प्रयुज्यमानानां पृथिगेन हस्तेन दर्भैर्दक्ष्णापत्रिणेन वा यथाशास्त्रं  
 कर्माङ्गता माजनं कर्तव्यम् । एतच्च धौतमुदाहरणमन्येषामपि सौवर्णादीनां  
 पात्राणां स्मार्तलौकिकर्मसु कृतशौचानामेवाङ्गावमिति दर्शयितुम् । यज्ञाङ्गानां  
 पुनः कृतशौचानामिदं दक्षापवित्रादिभिर्माजनं संस्कारार्थमिति शेषः ॥ १८५ ॥

भाषा—भेद या भैस भादि के सीप और हाथी, सूकर की अरिधयी  
 ( एवं शङ्ख ) से बने हुए पात्र की शुद्धि उल्लेख करने से होती है । फल से  
 बनाया हुआ पात्र गोशाल से शङ्खने पर शुद्ध होता है । यज्ञ के समय ( सुकु-  
 लुवा भादि ) यज्ञ पात्र हाथ से पोंछने पर ही शुद्ध हो जाते हैं ॥ १८५ ॥

इदानीं सलेपानामेव तेषां चिह्नलेपापकरणे विशेषदेवनाह—

'सोपरोद्दकगोमूत्रैः शुभ्यत्यायिककौशिकम् ।

सधीकलैरंशुपट्टं सारिष्टैः कृतपं तथा ॥ १८६ ॥

अपरमृत्तिकासहितेन गोमूत्रेणोदकेन वा लेपापेक्षया । आविकमुर्णमयम्,  
 कौशिकं कौशमयम् तसरीपट्टादि प्रकाशितं शुद्धयति । 'उद्दकगोमूत्रैः' इति  
 अद्दकवचनं पश्चाद्गुद्दकमात्पर्यम् । अंशुपट्टं चक्रकलतन्तुकृतम्, सधीकलै-  
 र्विषयफलसहितैः, कृतपः पार्वतीयपद्मगरोमनिर्मितकम्बलः, अरिष्टैसहितैः उद्दक-  
 गोमूत्रैः, शुभ्यतीत्यनुवर्तते । एतच्चोच्छिष्टश्चेद्दादियोमे मति वेदितव्यम् ।  
 अतपोपघाते तु मोक्षणादिः शालनासंस्कारात्, सर्वत्र द्रव्याविरामेनैव शुद्धीष्ट-  
 र्वात् । तथा च देवत—'ऊर्णाकौशेयकृतपपट्टशीमदुकूलजाः । अल्पशीषा  
 भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः ॥' इत्यभिधायाह—'ताम्येषामेष्वयुक्तानि स्यात्-  
 येप्लोषनैः स्वकैः । घान्यकलैस्तु फलजै रसैः चारानुगैरपि ॥' इति शीमवदेव  
 शागस्य सामानयोनिर्णयः । ऊर्णादिग्रहणं सदारब्धतुलिकादिप्राप्त्यर्थम् । अत-  
 स्तस्याहपोपघातेनैव शालनं कार्यम् । ताम्येषलेपादन्वय—'तुलिकामुपघानं च  
 गुप्तरक्षाभरं तथा । शोषविवानये किंचिस्करैः संमार्जयेन्मुहुः ॥ पश्चात्च चारिणा

१. हेतुलघनेनाह । २. सोपरोद्दक (= उपमृत्तिकासहितैः) । ३. अरि-  
 ष्टकृतसहितैः । अरिष्टसहितैः केनकसहितैः । ४. योगत्वात् ।

प्रोषय विनियुञ्जीत कर्मणि । तान्यप्यतिमलिष्टानि वयावपरितोषयेत् ॥' इति  
देवलस्मरणात् । पुष्परक्तानि कुङ्कुमकुसुम्भादिरक्तानि । 'पुष्परक्त'ग्रहणमन्यस्यापि  
हरिद्रादिरक्तस्य चालनासहस्य प्राप्तरथम्, न मञ्जिष्ठादे, तस्य चालनसह-  
स्वात् । दाह्येनाशुक्तम्—'रागद्रव्याणि प्रोचितानि शुचीनि' इति ॥ १८६ ॥

भाषा—ऊन की वस्तुएँ कवल आदि नीर तसरी पट्ट आदि ऊपर स्थान  
की मिट्टी ( रेह ) और जल या गोमूत्र से धोने पर शुद्ध होती हैं । वहकल से  
बना हुआ वस्त्र इनके साथ धीकल मिलाकर साफ करने से स्वच्छ होते हैं  
और ( पहाड़ी भेड़ों के रोवें से बना हुआ ) कुतप, दुशाळा आदि रीठी, गोमूत्र  
और जल से धोये जाते हैं ॥ १८६ ॥

सगौरसर्पपै. क्षौमं पुन पाकान्महीमयम् ।

कायहस्त शुचि पर्यं भैक्षं योषिन्मुख तथा ॥ १८७ ॥

गौरसर्पसहितैरदकगोमूत्रै क्षौमं पुन भवती तस्मिन्निर्मितं क्षौमं शुद्धय-  
ति । पुन पाकेन च मृन्मय घटादि । एतच्चोच्छिष्टस्नेहलेपे वेदितव्यम् ।  
मनुः ( ५।१२६ )—मघैमूत्रै पुरीषैश्च श्लेष्मपूयाशुशोणितैः । सरपृष्ट नैव  
शुद्धयेत पुन पाकेन मृन्मयम् ॥' इति स्मरणात् । चण्डालाद्युपवाते ॥ पाग  
पव । यथाह पराशर—'चण्डालाद्यैस्तु सरपृष्ट धान्य वस्त्रमप्यपि वा । प्रक्षाल-  
नेन शुद्धयेत परिधागा महीमयम् ॥ इति । कारवो रजकचैलधावकसूपकारा  
धास्तेषां हस्त सदा शुचि । शुचित्व तस्माप्ये कर्मणि । वस्त्रधावनादी सूत  
कादिसभवेऽपि । तथा च स्मृत्यं तरम्— कारव शिविनो वैद्या दानीदासा  
स्तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यः शीवा प्रकीर्तिता ॥' इति । पर्य पणार्हं  
विश्लेष्य पथग्रीह्यादि । अनेकस्तेजुजनकरपरिषद्विहितमप्यप्रयत्न न भवति । सूतकादि  
निमित्तेन च वणिजाम् । भिषाणां समूहो भैक्षं तद्महाचार्यादिहस्तगत भना  
चातस्त्रीप्रदानादिनाऽऽशुचिरव्याक्रमणादिना निमित्तेनापि न दुष्यति । तथा  
योषिन्मुख समोक्तकाले शुचि । श्लिषश्च रनिसम्यगै' इति स्मरणात् ॥ १८७ ॥

भाषा—अतसी के सूत से बना हुआ वस्त्र पीले सरसों और गोमूत्र एवं  
जल से स्वच्छ होता है । मिट्टी के पात्र घटा इत्यादि पुन पकाने से शुद्ध  
होते हैं । रगरेज, धोबी, मूषकार आदि शिविपर्यों के हाथ, ( औ, धान आदि )  
पिच्छय की वस्तु, श्लिषश्च रनिसम्यग् और ( समोक्तकाल ) में स्त्री का मुख  
सदैव पवित्र रहते हैं ॥ १८७ ॥

इदानीं भूशुद्धिमाह—

भूशुद्धिर्माज्जगानाद्वाहान्कालाद्गोकमणात्तथा ।

सेकादुल्लेखनाल्लेपाद्गृहं मार्जनलेपनात् ॥ १८८ ॥

मार्जन्यां पांसुतृणादीनां शोस्तारणं मार्जनम् । दाहस्तृणकाष्ठार्धैः । कालो यावता कालेन लेपादिष्वयो भवति तावान् । गोकमणं गवां पादपरिघटनम् । सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयवारिभिः प्रवर्षणं वा, उद्वलेखनं तक्षणं खननं वा, लेपो गोमयादिभिः, पतैः समस्तैर्ध्वस्तैर्वा मार्जनादिभिरग्रेष्या दुष्टा मलिना च भूमिः शुद्धयति । तथा च देवलः—‘यत्र प्रसूयते नारी न्नियते दक्षतेऽपि वा । चण्डा-  
लाप्युपितं यत्र यत्र विष्ठादिसंहतिः ॥ एवं करमलभूविष्ठा भूशुद्ध्या प्रकीर्तिता ।  
श्वसुकरसरोष्ठादिसंसृष्टा दुष्टतां मजेत् । अङ्गारतुपकेशादिभिरनाद्यैर्मलिना भवेत् ॥’  
इत्यग्रेष्या दुष्टा मलिनेति शोष्यभूमेर्लैविष्यमभिधाय शुद्धिविभागं दर्शयति—  
‘पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूशुद्ध्यादि’ शुद्धयति । दुष्टाश्विता त्रिधा द्वेषा शुद्धयते  
मलिनैकधा ॥’ इति । यत्र मनुष्या वृक्षान्ते यत्र चाण्डालैरप्युपितं तत्रै पञ्चभिर्व-  
हनकालगोकमणसेकोल्लेखनैः शुद्धिः । यत्र मनुष्या जायन्ते यत्र च न्नियन्ते यत्र  
आपण्डं विष्ठादिसंहतिः तासां दाहवर्जितैस्तेरेव चतुर्भिः । श्वसुकरसरोष्ठिकाल-  
मप्युपितायाः गोकमणसेकोल्लेखनैस्त्रिभिः । वट्टग्रामकुण्डादिभिरकालमधिवासि-  
तायाः सेकोल्लेखनाश्यां शुद्धिः । अङ्गारतुपकेशादिभिरकालमधिवासिताया  
दश्लेखनेन शुद्धिः । मार्जनाजलेपने तु सर्वत्र समुष्ठीयेते । एवं गृहं मार्जनलेपनाद्यां  
शुद्धयति । गृहस्थं पशुगुणादात्मं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसं प्राण्यधर्मम् ॥ १८८ ॥

भाषा—पृथ्वी की शुद्धि ( झाड़ू आदि से ) झाड़ने, जलाने, समप  
धीतने, घास के पौरे पड़ने, ( दूध, गोमूत्र, धीर जल ) छिड़कने, छोड़ने,  
( गोबर आदि से ) छीपने से होती है । इसी प्रकार घर झाड़ने धीर छीपने  
से शुद्ध होता है ॥ १८८ ॥

गौघ्रातेऽत्र तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते ।

स्त्रिलिं भस्म मृत्ताऽपि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये ॥ १८९ ॥

गौघ्राते गोभिःश्यासोपहतेऽग्ने यदनीपमात्रे । तथा केशमक्षिकाकीट-  
दूषिते । ‘केश’ ग्रहणं लोमादिप्राण्यधर्मम् । कीटाः विपौलिकादयः । यदकं भस्म  
मृत्ता यथासंभवे प्रक्षेप्तव्यं शुद्धयधर्मम् । यस्तु गौतमेनोक्तम् ( १७।८-९ )—  
‘निरयमभोग्मं केशकीटावपक्षम्’ इति तश्चेशकीटादिभिः सह यदकं तद्विप-  
यम् ॥ १८९ ॥

भाषा—अन्न के गौ द्वारा सूष लिये जाने पर, उसमें केश, मक्खी या चींटी आदि कीड़ा होने पर उसे शुद्ध करने के लिये उसमें जल, राख या मिट्टी डालनी चाहिए ॥ १८९ ॥

त्रपुसीसकताम्राणां क्षाराम्लोदकवारिभिः ।

भस्मान्निः कांस्यलोहानां शुद्धिः प्लावां द्रवस्य च<sup>१</sup> ॥ १९० ॥

त्रपुप्रमृतीनि प्रसिद्धानि, तेषां चारोदकेनाम्लोदकेन वारिणा चोपघाता-  
पेक्षया समस्तैर्भ्यस्तेषां शुद्धि कार्या । कांस्यलोहानां भस्मोदकेन<sup>२</sup> । 'ताम्रा-  
प्रहणाद्रौतिकावृत्तिलोहयोर्महणम्, एक्योनिर्यात् । एतच्च ताम्रादीनाम्लोदका-  
दिभिः शुद्धयभिधान न नियमार्थम् । 'मलसयोगज तज्ज यस्य येनोपहृष्यते ।  
तस्य तच्छोधन प्रोक्त सामान्य द्रव्यशुद्धिहृत् ॥' इत्यविशेषेण स्मरणात् । अतो  
न ताम्रादेरुच्छिष्टोदकादिलेपस्यान्वेनापगमसंभवे नियमेनाम्लोदकादिना शुद्धिः<sup>३</sup>  
कार्या । अत एव मनुना सामान्येनोक्तम्—(५।११५) 'नाम्नाय कांस्यरैस्वर्णां  
त्रपुण. सीसकस्य च । शौच यथाहं कर्तव्य चाराम्लोदकवारिभिः ॥' इति ।  
यत्—भस्मना शुद्धयते कांस्य ताम्रमान्नेन शुद्धयति' इति, तन्नाम्नादे शौचस्य  
परां काष्ठा प्रतिपादयितु मान्यस्य निषेधाय । यदा तूपघातानिषयस्तदाम्लोद-  
कादीनामावृत्ति, 'गवाग्रानानि कांस्यानि शुद्धोच्छिष्टानि यानि च । शुद्धयन्ति  
दशभि चारैः शककोपहतानि च ॥' (आपस्तव) इति स्मरणात् । ( दर्शचारा-  
नाह—'तिलमुष्ककशिग्रूनां कोकिलाक्षपलाशयो । काकजङ्घा तथावृत्तिश्चाभय-  
वृत्स्य च ॥ एभिस्तु दशभि चारैः शुद्धिर्भवति कांस्यके ॥' ) शुद्धिः प्लावो-  
द्रवस्य विवति । द्रवस्य द्रवद्रवस्य घृतादे प्रथप्रमाणाधिकस्य शककाक्षुप-  
हतस्य अनेर्ष्यैस्सृष्टस्य च प्लाव प्लावन समानजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्याभि-  
पूरण यावन्नि सरण शुद्धिरित्यनुवर्तते । ततोऽक्षयस्य स्वाम । बद्धवराय च दैश-  
कालापेक्षयापि वेदितव्यम् । यथाह—बीधामन —'देश काल तमा<sup>४</sup> मान द्रव्य  
द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौच प्रकृत्येत् ॥' इति । कीटाक्षुप-  
हतस्य तूपघनम् । यथाह मनु (५।११५)—'द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुपघन  
स्मृतम्' इति । उपघन चात्र ब्रह्मान्तरिते पात्रे प्रक्षेप । अन्वया कीटाक्षुप-  
गमस्यासमवात् । शुद्धभाण्डरित्यस्य तु मधूदकादे. पात्रान्तरायनाप्युद्धिः ।—  
'मधूदक पपस्तद्विकाराश्च वाप्रात्पात्रान्तरानयने शुद्धा' इति बीधायनस्मरणात् ।  
मधुघृतादेर्वर्णापसदहस्ताप्राप्तस्य पात्रान्तरानयन पुन पचन च कार्यम् । यथाह

१ तु । २. द्रववारिणा । ३. दकादिभि । ४. इदं ।  
पुस्तकेऽधिकम् । ५. अनेर्ष्यद्रव्य । ६ तथात्मान । ७. घृतादेहीनवर्णा ।  
८. पचनं कार्यम् ।

शुद्धः—'अभ्यवहायीणां घृतेनाभिधारितानां पुनः 'वचनमेवं खेदानां स्नेहवद्-  
सानां' इति ॥ १९० ॥

भाषा—घीतल, सीसा, तौधा खारे या अम्लजल से शुद्ध होता है ।  
कॉसे और छोड़े की शुद्धि भरम और जल से होती है । ( घी या तेल जैसे )  
द्रव पदार्थ की शुद्धि उसके पात्र में वही द्रव इतना डालने पर होती है  
जितने से पात्र भरकर ऊपर गिरने लगे ॥ १९० ॥

एवं सौवर्णराजतादीनामेतत्प्रकरणप्रतिपादितानां सर्वेषामुच्छिष्टरुनेहापुपघाते  
शुद्धिमुख्येदानां तेषामेवामेष्योपहतानां शुद्धिमाह—

अमेभ्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धादिकर्पणात् ।

षाफशस्तमम्बुनिर्णिक्तमञ्जार्तं च सदा शुधि ॥ १९१ ॥

अमेभ्याः शरीरजा मला घसाशुक्लाद्यः ; 'वसा शुद्धमसृष्ट्यामूत्रविट्कर्ण-  
विश्रमणाः । श्लेष्माशु दूषिका रवेदो ह्यादयेते नृणां मलाः ॥' (५११ ३६) तथा—  
'मानुषारिषि षसं विष्टा रेतो मूत्रार्तं यसा । स्वेदादोऽशु दूषिका श्लेष्म मर्षं चामेष्य-  
सृष्यते ॥' इति अमेभ्यादयो मला मनुदेवलादिभिः प्रतिपादिताः तैर्बन्धादिरक्त-  
विष्टममेभ्याक्तं तस्य मृदा तोयेन च शुद्धिः कर्तव्या 'गन्धापकर्पणात् । आदि-  
ग्रहणाहलेपस्यापि ग्रहणम् । यथाह गौतमः (१।४२)—'लेपगन्धापकर्पणैः शौच-  
ममेष्यलिसस्य' इति । सर्वशुद्धिषु च प्रथमं मृत्तोयैरेव लेपगन्धापकर्पणं कार्यम् ।  
यदि गन्धादिमृत्तोयैर्न मच्छति तदाभ्येन; 'अशक्तावभ्येन मृदजिः पूर्वं मृदा च'  
(१।४६) इति गौतमस्मरणात् । वसादिग्रहणं च सर्वेषाममेष्यत्वं प्रतिपादयितुं न  
समानोपघाताय—'मर्षमूर्त्रपुरीषैश्च श्लेष्मपूवाशुशोणितैः । स्सृष्टं नैव शुद्धयेत्  
पुनःवाकेन मृन्मयम् ॥' (मनु० ५।१२३) हापुपघाते विशेषाभिधानात्—'अमेभ्यावं  
शैवमेधां देहाच्चैव मलाच्युताः' इति घचनाहेहस्युक्तानामेव न स्वस्थानावस्थितानाम् ।  
पुरषस्य नामेरूप्यै करभ्यतिरिक्ताङ्गा नामन्यामेष्यस्पर्शो ज्ञानम् । यथाह देवल —  
'मानुषारिषि षसां विष्टामार्तं मूत्ररेतसि । गजानं शोणितं सृष्ट्या परम्य ज्ञानगा-  
धरेत् ॥' इति—'तान्येव स्वानि संसृश्य प्रचारवाचम्य शुद्धयति' इति । तथा—  
'ऊर्ध्वं नामैः कटी मुखा यदङ्गमुपहन्यते । तत्र ज्ञानमघस्तात् प्रचारवाचम्य  
शुद्धयति ॥' इति । कृतेऽपि यथोक्तशौचे मनसोऽपरितोषाच्चत्र शुद्धिसदेहो भवति  
तद्वाकशस्तं शुधि । शुद्धमेतदस्तिवति द्वाहाणवचनेन शुद्धं भवतीत्यर्थः । अम्बु-  
निर्णिकं यत्र प्रतिपादिता शुद्धिर्नास्ति तस्य प्रचालनेन शुद्धिः । प्रचालनासहस्य



प्रोचणेन । अज्ञातं च सदा घटकाकाद्युपहतमुपयुक्तं न कदाचिदपि ज्ञायते तच्छुचि । तदुपयोगाददृष्टदोषो वास्तोऽर्थः । नन्वेतद्विद्वद्यते; 'संयत्सरस्यै-  
कमपि श्वरेकृष्टं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्धवर्षं ज्ञातम्य ॥ विशेषतः ॥' इत्य-  
दृष्टदोषेऽपि प्रायश्चित्तप्रतिपादनात् । नैतत्, प्रायश्चित्तस्य अग्निविषयत्वात्,  
दोषाभावेऽस्य चान्योपयोगिविषयत्वात् ॥ १९१ ॥

भाषा—( मलमूत्र, वसा आदि ) दूषित शरीर की गंदगी से अशुद्ध  
वस्तु मिट्टी और जल से उतना साफ करने पर शुद्ध होती है जितने से उसकी  
गन्ध ( और रस ) द्वारा हो जाय । ( शुद्धि करने पर भी मन में संदेह होने  
पर ) प्राक्षण के कह देने पर शुद्ध समझना चाहिए; जल के पीने से शुद्धि  
होती है । जिस वस्तु के शुद्ध या अशुद्ध होने का ज्ञान न हो वह सर्वत्र शुद्ध  
रहती है ॥ १९१ ॥

शुचि गोतृतिहृत्तोय प्रकृतिस्थं महोगतम् ।

तथा मांसं श्वचण्डालकड्यादादिनिपातितम् ॥ १९२ ॥

महोगतं भूमिशुद्धकं एकगवीतृत्तिजननसमर्थं श्वचालादिभिरस्पृष्टं  
प्रकृतिस्थं रूपरसगन्धस्पर्शान्तरमनापन्नं शुचि आचमनादिघोरं भवति ।  
'महोगतम्' इत्यशुचिभूगतस्य शुचिस्वनिषेधार्थं नस्वान्तरिक्षोत्कस्य शुद्धावस्था-  
शुच्यर्थम् । नाप्युद्धृतस्य—'उद्धृताश्चापि शुद्धवन्ति शुद्धे पान्ने' समुद्धृताः ।  
एकरात्रोपिता आपरवाऽया' शुद्धा अपि स्वयम् ॥' इति देवलवचनात् । तथा  
श्वचालादिहृत्ते तडागादी न दोषः; 'अन्त्यैरपि कृते रूपे सेती चाप्यादिके तथा ।  
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति शास्त्रात्परमरानात् ।  
तथा मांसं श्वचण्डालकड्यादादिनिनिपातितं शुचि । आदिप्रहणात्पुष्कमादेरपि  
प्रहणम् । निपातितप्रहणं भवितस्य निराकरणार्थम् ॥ १९२ ॥

भाषा—पृथ्वी पर शुद्ध प्राकृतिक रूप में वही कुभा ( श्वचाल आदि  
द्वारा न कुभा गया ) एक गी के पीने भर जल शुद्ध ( आचमनादि के घोर )  
होता है कुत्ता, चण्डाल, मांसमयी वृत्ति द्वारा काटा गया या गिराया गया  
मांस शुद्ध होता है ॥ १९२ ॥

रश्मिरग्नी रजश्छाया गौरेश्वो यमुधानिलः ।

धिमुपो मक्षिकाः रूपदो वरसः प्रस्नयने शुचिः ॥ १९३ ॥

१. उपयुक्तं । २. अनु तद्वि । ३. मात्सर्य वाग्पप्रयोग ।  
४. मार्गं मांसं (स्पृष्टमांसं) । ५. रश्मिमुधानिलः । ६. प्रस्नयने ।

रश्मयः सूर्यादिः प्रकाशकव्यवस्थे । अग्निः प्रसिद्धः । रजः भजादिसंघन्य-  
व्यतिरेकेण । तत्र—‘श्वकाकोष्ठसरोत्कसूकरग्राभ्यपचिणाम् । भजाविरेणुसंस्प-  
र्णादायुर्लक्ष्मीश्च हीयते ॥’ इति दोषधवणात्तत्स्पर्शं संमार्जनादि कार्यम् । छाया  
पृष्ठादेः, गीः, भ्रमः, वसुधा भूमिः, अनिलो वायुः, विप्रयोऽवरयापचिन्दवः,  
सुरजानां वक्ष्यमाणत्वात् । मक्षिकाश्च, एते चण्डालादिस्पृष्टा अपि स्पर्शं  
शुचयः । वसतः प्रश्नवने ऊधोगतदुग्धापकपर्णे शुचिः । ‘वसत’प्रहणं चालक्ष्यो-  
पलक्ष्यार्थम् ; ‘वालैरनुपरिष्णान्तं स्त्रीभिराचरितं च यत् । क्षयिज्ञातं च पतिकवि-  
हित्यं मेयमिति स्थितिः ॥’ इति बचनाव् ॥ १९३ ॥

भाषा—( सूर्यं आदि की ) किरणें, अग्नि, ( भजादि से अछूती ) पूल,  
छाया, शाव, भ्रम, पृष्ठी, वायु वाष्प और मन्थी ( चण्डाल आदि से स्पृष्ट  
होने पर भी ) शुद्ध होते हैं, तथा दूध दुहते समय बछड़ा पवित्र  
होता है ॥ १९३ ॥

भजाश्वयोमुखं मेध्यं न गोर्न नरजा मलाः ।

पन्थानश्च विशुद्धयन्ति सोमसूर्याशुमास्ते ॥ १९४ ॥

भजाश्वयोमुखं मेध्यम् । न गोः, न नरजा मलाः, ‘नर’शब्दो लक्षणया  
देहमभिधत्ते । तज्जा मला वसाश्चो मेध्या न भवन्ति । पन्थानो मार्गाः  
श्वचण्डालादिभिः स्पृष्टा अपि रात्री सोमांशुभिर्मास्तेन च शुद्धयन्ति । दिवा  
सु सूर्याशुभिर्मास्तेन च ॥ १९४ ॥

भाषा—बकरे तथा घोड़े का मुल शुद्ध होता है, गी का मुल नहीं ।  
मनुष्य शरीर से निकले हुए मल नशुद्ध होते हैं । ( कुत्ता, चण्डाल आदि के  
संस्पर्श पर ) मार्ग विन्द्या वा सूर्य की किरणों और वायु के सम्पर्क से  
शुद्ध होता है ॥ १९४ ॥

सुरजा विप्रयो मेध्यास्तथाऽऽचमनविन्द्वः ।

श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं स्वप्त्वा ततः शुचिः ॥ १९५ ॥

सुरजे जाता मुखजाः श्लेष्मविप्रयो मेध्याः नोच्छिष्टं कुर्वन्ति अनिपतिता-  
श्चेदङ्गे । ‘न मुखविप्रु उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे निपतन्ति’ इति गौतमवच-  
नाव् । तथा च मे आचमनतोवचिन्द्वः वादी स्पृष्टयन्ति ते मेध्याः । श्मश्रु  
चास्यगतं मुखप्रविष्टमुच्छिष्टं न करोति । दन्तसक्तं पाप्मादिकं स्वयमेव व्युत्तं  
शुक्त्वा शुचिर्भवति । अच्युतं दन्तसमम्<sup>१</sup> । तथा च गौतम—‘दन्तरिष्टे तु

१. भजाश्वं मुखतो मेध्यं । २. पन्थानस्तु । ३. दन्तेभ्यः पतितं  
स्वयजति गिष्ठति वा श्वावता शुद्धयति विना आचमनं इति ।

दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात्प्राक् व्युत्तेरित्येके व्युत्तेष्वासाववद्विद्याग्निगिरिन्नेत्र तत्पुत्रि' इति । निगिरणं पुनरनेन याज्ञवल्क्योवतेन त्यागेन विकल्प्यते । निगिरन्नेधेयेवकारः 'चर्वणे स्वाधमेग्नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम् । ओष्ठौ विलो-  
मकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥' इति विष्णुक्वाचमननिषेधार्थः । 'ताम्बूल'-  
प्रदणं कलाद्युपलक्षणार्थम् । यथाह शातातपः—'ताम्बूले च फले चैव भुक्ते  
स्नेहावशिष्टके । दन्तलभनस्य सस्पर्शं नोच्छिद्यो भवति द्विजः ॥' इति ॥ १९५ ॥

भाषा—मुख से निकले हुए थूक के बिन्दु तथा आचमन के जल के  
बिन्दु शुद्ध होते हैं ( शरीर पर गिरने पर दूषित नहीं करते ) । दाढ़ी मूछ  
पर सटे हुए मुह में तथा दाँत में लगे हुए जूड़े भोजन को साफ कर देने पर  
शुद्धि होती है ॥ १९५ ॥

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ।

आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥ १९६ ॥

स्नानपानक्षुत्स्नभोजनरथ्योपसर्पणवासोविपरिधानेषु कृतेष्वाचान्तः  
पुनराचामेत् । द्विराचामेदित्यर्थः । चकाराद्देवनाभ्ययनारम्भश्चापश्चानृगोक्षवा-  
दिषु । तथा च वसिष्ठः—'सुप्त्वा मुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदिरवा  
चाचान्तः पुनराचामेत्' इति । मनुरपि ( ५।१५५ )—'सुप्त्वा क्षुत्वा च  
सुप्त्वा च छीविशोक्षवानृत यथाः । पीत्वापोऽप्येवमाणस्य आचामेत्प्रततोऽपि  
सम् ॥' इति । भोजने स्वादावपि द्विराचमनम्—'भोक्ष्यमाणरगु प्रयतोऽपि  
द्विराचामेत्' इत्यापरतम्बुशमरणात् । स्नानपानयोरशी सङ्गत् । अप्ययने  
स्वाशमे द्विः । शोषेऽन्ते एव यथाक द्विराचमनम् ॥ १९६ ॥

भाषा—स्नान करके, पानी पीकर क्षुत, लयन, भोजन करके तथा रथ  
पर चलने के बाद ( विशेष रूप से ) वृक्ष धारण करके पुनः ( भर्त्सा हो  
चार ) आचमन करे ॥ १९६ ॥

रथ्याकर्द्धमतोयानि स्पृष्टान्यन्यथभ्रवायसैः ।

मारुतेनैव शुद्धयन्ति पश्येत्कञ्चितानि च ॥ १९७ ॥

रथ्या मार्गमात्रम्, कर्द्धम. पशुः शोषमुदकम्, रथ्याशियानि कर्द्धम-  
तोयानि अन्यैश्चण्डालादिभिः श्मिर्वायसैश्च स्पृष्टानि मारुतेनैव शु-  
द्धयन्ति शुद्धिमुपयान्ति । बहुवचन तत्रतमोऽप्यसकंरादिवाप्यर्थम् । पश्येत्-  
कादिभिर्द्विगानि प्रायादप्यवस्पृष्टादीनि चण्डालादिरस्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्धयन्ति

१. नितिस्नेह निगिरन्नेव । २. भुक्ते । ३. चाक्षानृगो । ४ परदे-  
ष्टिकचितानि ।

एतद्य 'प्रोक्षणं संहतानाम्' ( मनु० ५।१५५ ) इत्युक्तप्रोक्षणनिषेधार्थम् ।  
सृगकाष्ठपर्णादिमयानां तु प्रोक्षणमेवेति ॥ १९७ ॥

भाषा—मार्ग का कीचद् तथा जल घण्टाल, कुत्ता भीर कौबू द्वारा  
छुए जाने पर वायु से ही शुद्ध होते हैं । पत्की ईंटों से बना हुआ घर आदि  
भी ( वायु से शुद्ध होते हैं ) ॥ १९७ ॥

इति द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ।

अथ दानप्रकरणम्

इदानीं दानधर्मं प्रतिपादयिष्यंस्तत्तद्भूतपात्रप्रतिपादनार्थं तत्प्रशस्तामाह—

तपस्तपसाऽसृजद्ब्रह्मा ब्राह्मणान्येदगुत्तये ।

तृणवर्षं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥ १९८ ॥

महा द्विरण्यगर्भे वरुणादी तपस्तपसा ध्यानं कृत्वा कान्तृजामीति पूर्वं  
ब्राह्मणान्सृष्टवान् । किमर्थम् ? वेदगुत्तये वेदरक्षणार्थम् । तृणानां देवतानां च  
तृणवर्षम् । अनुष्ठानोपदेशद्वारेण धर्मसंरक्षणार्थं च । अतस्तेभ्यो वक्ष्यमद्यफलं  
भवतीत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥

भाषा—महात्माने ( ब्रह्म के आत्मन में ) तपस्या करके ( ध्यान करके )  
वेद की रक्षा के लिये, पितरों और देवताओं की तृप्ति के लिये तथा ( अनुष्ठान  
पूर्व उपदेश द्वारा ) धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि की ॥ १९८ ॥

सर्वस्य प्रभवो धिमाः श्रुताध्ययनशीलिनः ।

तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥ १९९ ॥

सर्वस्य चप्रियादैर्बिम्बा प्रभवः श्रेष्ठा जास्ता कर्मणा च । ब्राह्मणेष्वपि  
नाध्ययनशीलिनः श्रुताध्ययनवपक्षा उत्कृष्टा । तेभ्योऽपि क्रियापरा विहिता-  
नुष्ठानशीलाः । तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः वक्ष्यमावर्माणेण शमदमादियोगेनारम-  
तवज्ञाननिरताः, 'श्रेष्ठा' इत्यनुषज्यते ॥ १९९ ॥

भाषा—( चतुरिय आदि ) सर्वों में ब्राह्मण ( जाति एवं ) कर्म से श्रेष्ठ  
हैं; उनमें भी वेदादि का अध्ययन करने वाले उत्कृष्ट होते हैं, उनमें भी उत्तम  
विदित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले होते हैं और इन सबसे श्रेष्ठ अध्या-  
त्मतप को पूर्णरूप से जानने वाले ब्राह्मण होते हैं ॥ १९९ ॥

एवं जातिविद्यानुष्ठानतपसां प्रसंतामुखेनैकैकयोगेन पात्रतामभिधायाधुना  
तेषां समुच्चये संपूर्णं पात्रतामाह—

न विद्याया केवलया तपसा वापि पात्रता ।

यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥ २०० ॥

केवलया विद्याया श्रुताप्ययनतपस्या नैव संपूर्णपात्रत्वम् । नापि केवलेन  
तपसा शमद्रुमादिना । 'अपि' शब्दाकेवलेनानुष्ठानेन केवलया जात्या वा नैव  
संपूर्णपात्रता । कथं तर्हि ? यत्र पुरुषे वृत्तमनुष्ठानं इमे चोभे विद्यातपसी स्तः  
शब्दाद्ब्राह्मणजातिश्च तद्वेषं मन्वादिभिः संपूर्णपात्रं प्रकीर्तितम् । हि यस्माद्भूता  
परमुत्कृष्टं पात्रं नास्ति । अत्र जातिविद्यानुष्ठानतप समुच्चयानामुत्तरोत्तरप्रादा-  
स्येन फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २०० ॥

भाषा—केवल ( श्रुताप्ययन आदि ) विद्या से अथवा केवल (शमद्रुमादि)  
तपस्या से ही कोई सुपात्र नहीं होता । जिस पुरुष के आचरण में विद्या और  
तपस्या दोनों ही हों वही श्रेष्ठ पात्र होता है ॥ २०० ॥

सत्पात्रे गवादिदानं देयम्—

(१) गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम् ।

नापात्रे विदुषा किंचिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥ २०१ ॥

पूर्वोक्ते पात्रे गवादिकमर्चितं शास्त्रोक्तोर्दकशानार्थितिकर्तव्यतासहितं देयम् ।  
अपात्रे चन्निवादी ब्राह्मणे च पतित्वादी विदुषा पात्रविशेषेण फलविशेषं ज्ञानता  
श्रेयः संपूर्णफलमिच्छता किंचिदल्पमपि न दातव्यम् । श्रेयोदहेणाद्वात्रदानेऽपि  
किमपि तामसं फलमस्तीति सूचितम् । यथाह वृत्तद्वैपायनः (गी० १७।१२)—  
'अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवशात् तत्तामसमुदाहृतम् ॥'  
इति । अपात्रे न दातव्यमिति वदता विशिष्टदेशकालद्रव्यसङ्घिषी पात्रस्याप-  
सिधाने द्रव्यस्य वा लघुदेशेन स्वायं तस्मै प्रतिश्रवणं वा कृत्वा समर्पयेत्,  
नवपात्रे दातव्यमिति सूचितम् । तथा प्रनिश्रुतमपि पश्चात्पातकादिमंदोगे  
शास्त्रे न देयम् ; 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंगुत्ताय न दद्यात्' इति नियेयात् ॥ २०१ ॥

भाषा—गाय, भूमि, तिल सोना आदि पात्र व्यक्ति को ही विधि-  
पूर्वक अर्चना के साथ (दान स्वरूप) देना चाहिये अपने सम्पूर्ण फल की  
इच्छा करने वाले, (पात्र अपात्र का ज्ञान रखने वाले) विद्वान को अपात्र  
(चन्निवादि एवं पतित ब्राह्मण) को अन्न (दान) भी नहीं देना चाहिये ॥ २०१ ॥

१. योगे पात्रता । २. केवलजात्या । ३. इक्षुपादीनि ४. किंचिदामय ।

अपात्रे दातुर्निषेधमुक्त्वा प्रतिग्रहीतारं प्रत्याह—

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।

गृह्णन्प्रदातारमघो नयत्यारमानमेव च ॥ २०२ ॥

विद्यातपोभ्यां हीनेन प्रतिग्रहः सुवर्णादिर्न ग्राह्यः । यस्माद्विद्यादिहीनः प्रतिगृह्णन् दातारमात्मानं चाघो नरकं नयति प्रापयतीति ॥ २०२ ॥

भाषा—जो व्यक्ति विद्यासम्पन्न और तपस्वी न हो—उसे दान नहीं लेना चाहिए । यदि ऐसा ( विद्या और तपस्या से हीन ) व्यक्ति दान लेता है तो वह अपने को और दाता को भी नरक में डालता है ॥ २०२ ॥

गवादि पात्रे दातव्यमित्युक्तं तत्र विशेषमाह—

दातव्यं प्रत्यह पात्रे निमित्तेषु विशेषतः ।

याचितेनापि दातव्यं धन्नापूतं स्वशक्तिः ॥ २०३ ॥

प्रतिदिवसं दातव्यमित्युक्तेषु यद्योक्तविधिना पात्रे गवादिकं स्वकृद्गुणविरोधेन दातव्यम् । निमित्तेषु चन्द्रोपरागादिषु विशेषतोऽधिकं यस्मिन् दातव्यम् । याचितेनापि धन्नापूतमनसूयापवित्रीकृतं दातव्या दानव्यम् । 'याचितेनापि दातव्यम्' इति वदता - यद्योक्तं पात्रं स्वयमेव गत्वा आहूय वा यद्दानं तन्महाफलमुक्तम् । तथा च श्रमणम्—'गत्वा यहीयते दानं तद्दानस्तफलं रम्यतम् । सहजगुणमाहूय याचिते तु तदर्घकम्' इति ॥ २०३ ॥

भाषा—( शक्ति के अनुसार ) प्रतिदिन ( गौ आदि ) पात्र को दान देना चाहिए । ( चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण जैसे ) अवसर पर विशेष रूप से दान देना चाहिए । अंगने पर भी ( साधारण को ) धन्ना के साथ यथाशक्ति दान देना चाहिए ॥ २०३ ॥

गवादिकं देवमित्युक्तं तत्र गोदाने विशेषमाह—

हेमशृङ्गां शकै रौष्यैः सुशीला वस्त्रसंयुता ।

सर्पांस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गीः सदक्षिणा ॥ २०४ ॥

हेममये शृङ्गे यस्याः सा हेमशृङ्गी । शकैः शूरैः रौष्यैः शक्तैः संयुता वस्त्रेण च संयुता कांस्यपात्रमदिता बहुशीरा सुशीला गौर्व्याजन्तिदक्षिणासदिता दातव्या ॥ २०४ ॥

भाषा—सोने से शींग और चांदी से शूर मञ्जर, वस्त्र भोदाकर दूब देने वाली शीशी गाय, शक्ति के दुग्धपात्र एवं दक्षिणा के साथ दान देना चाहिए ॥ २०४ ॥

गोदानफलमाह—

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरात्रोमसंमितान् ।

कपिला चेत्तारयति भूयध्वासप्तमं कुलम् ॥ २०५ ॥

अस्या गोः रोमसंमितान् रोमसंख्याकान्वत्सरात्रोमसंमाप्नोति दाता । सा यदि कपिला तदा न केवलं दातारं तारयति किंतु कुलमपि आसप्तमं सप्तम-  
मभिरयाप्य पित्रादीन्पद् आरमानं च सप्तमम् । अप्यर्थे 'भूयः' शब्दः ॥ २०५ ॥

भाषा—जितने रोएँ ( गौ के शरीर में ) होते हैं उतने वर्ष तक उस गौ का दाता स्वर्ग प्राप्त करता है । और यदि वह गाव कपिला हो तो वह न केवल दाता को अस्तित्व उसकी सातवीं पीढ़ी तक को तार देती है ॥ २०५ ॥

उभयतोमुखीदानफलम्—

सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतो मुखीम् ।

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना वद्वत् ॥ २०६ ॥

सवत्सारोमतुल्यानि वासेन सह वर्तत इति सवत्सा तस्या रोमतुल्यानि  
वत्सस्य गोक्ष यावन्ति रोमाणि तावत्सवत्साकानि युगानि वृत्तप्रेतादीनि उभयतो-  
मुखी वद्वत्स्वर्गमाप्नोत्युभयवति पूर्वेण विधिना दाता वेत् ॥ २०६ ॥

भाषा—पूर्वाक्त विधि से उभयतोमुखी गाव का दान देने वाला  
शक्ति उतने युग तक स्वर्ग प्राप्त करता है जितने रोएँ गौ और वद्वदे के  
शरीर में मिलाकर होते हैं ॥ २०६ ॥

का पुनरुभयतोमुखी कथं तावत्तद्दान महाफलमित्यत आह—

यावद्दत्तस्य 'पादौ द्वौ मुखं योग्यां च दृश्यते ।

तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥ २०७ ॥

गर्भाविर्गच्छतो यावत्सव द्वौ पादौ युगं च वावत्कालं योग्यां दृश्यते  
तावत्कालं उभयतोमुखमस्या अस्तीत्युभयतोमुखी । वावत्कालं गर्भं न मुञ्चति  
तावत्सा गौः पृथिवीज्ञेया । अतः फलातिशयो मुञ्च ॥ २०७ ॥

भाषा—( गर्भ से निकलते हुए ) वद्वदे के दो पैर और युग जब  
तक योगि में दिखाई पड़ते हैं ( जब तक वद्व उभय तो मुखी होती है  
जब तक गौ वद्वदे का प्रसव नहीं करती तब तक ( इस विधि में ) उसे  
पृथिवी के समान समझना चाहिये ॥ २०७ ॥

सामान्यगोदाने फलम्—

यथाकथञ्चित् हेमशृङ्गाद्यभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना धेनु दोर्भ्री

अरोगामपरिक्लिष्टां दाता स्वर्गं महीयते ॥ २०८ ॥

यथाकथञ्चित् हेमशृङ्गाद्यभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना धेनु दोर्भ्री  
अधेनुं वा अवन्यथां अरोगा रोगाहितां अपरिक्लिष्टां अत्यन्तादुर्बलां वा दत्त्वा  
दाता स्वर्गं महीयते पूज्यते ॥ २०८ ॥

भाषा—जिस किसी प्रकार हो (सोने से सींग और चाँदी से छुर  
महाये बिना भी) कृष वेने वाली या अवन्यथा, रोगहीन, और दुर्बल गाय का  
दान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ २०८ ॥

गोदानसमाप्ताह—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्यां सुरार्चनम् ।

पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥ २०९ ॥

श्रान्तस्यासनशयनादिदानेन श्रमापनयनं श्रान्तसंवाहनम् । रोगिणां परि-  
चर्या यथाज्ञानयौषधाविदानेन । सुरार्चनं हरिहरद्विषण्यगर्भादीनां गन्धमाख्यादि-  
भिराराधनम् । पादशौचं द्विजानां समानानामधिकानां च । सेवानेवोच्छिष्टस्य  
समार्जनम् । एतान्यनन्तरोक्तेन गोदानेन समाप्ति ॥ २०९ ॥

भाषा—यके हुए के रोद को (आसन, बिस्तर आदि देकर) दूर  
करना रोगी की सेवा, देवताओं की (माला पुष्प आदि से) पूजा, द्विजों  
का पैर धोना और उनको जूठा साफ करना ये सभी कर्म गोदान के तुल्य  
होते हैं ॥ २०९ ॥

भूदीपाश्चात्प्रवक्ष्यामिभस्तिरसर्पिः प्रतिभयन् ।

नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं दत्त्वा स्वर्गं महीयते ॥ २१० ॥

भू. फलप्रदा । दीपा देवायतनादिषु । प्रतिभयन् प्रवासिनामाश्रय ।  
निवेशनार्थं गार्हस्त्यार्थं यत्कन्या दीयते तन्नैवेशिकम् । स्वर्णं सुवर्णम् । धुर्यो  
मौसहो बलीवर्द्धं, नेपं प्रसिद्धम्, एतान्भूदीपादीन्दत्त्वा स्वर्गलोकं महीयते  
पूज्यते । स्वर्गफलम् भूमिदानादीनां न फलान्तरस्युदासार्थम् । 'परिद्विष्टुत्पले  
गपं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । अपि यो चर्ममात्रेण भूमिदानेन क्षुद्रवति ॥' तथा  
पुनः (४।२२९)—'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुप्तमच्यपमन्नदः । निलप्रदः  
प्रजापिष्टा दीपदक्षप्रुत्तमम् ॥ वामोदद्यन्द्रसालोक्षयमशिसालोक्षयमध' । अन-

१. भूदीपाश्चात्प्रवक्ष्यामि । २. नैवेशिकस्वर्णधुर्यम् । ३. भू. हृषिकलप्रदा ।

४. मातवादे ।



हुद' श्रिय पुष्टां मोदो ब्रह्मस्य विष्टपम् ॥' इत्यादिफलान्तरश्रवणात् । गोचर्म  
लक्षण च वृहस्पतिना दर्शितम्—'सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिसहस्रं निवर्तनम् ।  
दश ताम्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गं महीयते ॥' इति ॥ २१० ॥

भाषा—( उर्ध्वं ) भूमि, दीपक, अन्न, वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी  
को आश्रयस्थान ( गृहस्थाश्रम के लिये ) कन्या, सोना और भार देने वाले  
चौल का दान देकर दाता स्वर्ग में सम्माननीय स्थान पाता है ॥ २१० ॥

१०१) गृहधान्याभ्योपानच्छन्नमाद्यानुलेपनम् ।

यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वाऽस्वप्नं सुखी भवेत् ॥ २११ ॥

गृह प्रसिद्धम्, घाम्यानि च शास्त्रीयोपूमादीनि, अभय भीतप्राणम्,  
उपानही, छत्रम्, भाग्य मञ्जिकादे, अनुलेपन कुङ्कुमचन्दनानि, यान रथादि,  
वृष्ट वेपथीभ्यमाभ्रादिकम्, श्रिय यद्यस्य प्रिय धर्मादिकम्, शय्या च दशा,  
अथस्तमतिशयेन सुखी भवति । न च हिरण्यादिवदस्ते दत्तुमशक्यत्वाद्भर्मस्य  
दानासम्भवं । भूमिदानादावपि समानत्वात् । ऋत्विग्नतरेऽपि धर्मदानश्रवणात्—  
'देवताना गुरुणा च मातापित्रोस्तथैव च । पुत्र्य देय प्रवनेन नापुत्र्य चोदित  
कश्चित् ॥' अणुवददाने तदेव वर्धते प्रतिग्रहीतुरपि लोभादिना प्रवृत्तस्य, 'य.  
पापं क्वचल ज्ञात्वा प्रतिगृह्णाति दुर्मति । गर्हितान्तरणात्तस्य पाप तावत्समा-  
धयेत् ॥ समद्विगुणभौहस्त्रमानस्य च प्रदातुषु ॥' इति स्मरणात् । इह च सर्वत्र  
देवकालपान्नविशेषाहोचविशेषात्—'दाने फल मया प्रोक्तं हिंसायां तद्भदेव हि'  
इति प्रतिग्रहीतृवृत्तिविशेषाच्च दानप्रतिगृहीतो फलतारतम्यं दृष्टव्यम् ॥२११॥

भाषा—घर, और घाम्य का दान, ( उरे हुए को ) अभयदान, जूता,  
दाता कुङ्कुमचन्दन आदि लेपन, रथ इत्यादि सवारी, ( आभ्रादि फल वाले )  
वृष्ट, अभीष्ट वस्तु तथा शय्या का दान देकर दाता अथस्त सुखी  
बोता है ॥ २११ ॥

दानात्फलमुक्तमिदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावाप्तिदेतूनाह—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यत् ।

तद्दत्तसमवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम् ॥ २१२ ॥

परमात्मसर्वधर्ममयं ब्रह्म अथबोधकत्वेन तस्मात्तदान सर्वदानेभ्योऽप्य-  
धिकं अतस्तद्दत्तपापनादिवारेण ब्रह्मलोकमवाप्नोति । अविच्युत  
अमुक्तिर्दत्ता न भवति । अणुवदस्य ब्रह्मलोकैऽतत्प्रतिफल इत्यर्थः । अत्र च  
ब्रह्मदाने परस्वभावादानमात्रं दानम् ; स्वस्वनिवृत्ते कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २१२ ॥

१ धर्मादीनामयमय । २ दानेन । ३ प्रबल ज्ञात्वा । ४ मविच्युत ।

भाषा—सब घमों के ज्ञान से युक्त होने के कारण वेद का दान सभी दोनों से बढ़कर होता है । इसका दान करने वाला ब्रह्मलोक में अचल होकर सतत निवास करता है ॥ २१२ ॥

दाने फलमुक्तम् , इदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावासेर्हेतुमाह—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् ।

ये लोका दानशीलानां स तान्नाप्नोति पुष्कलान् ॥ २१३ ॥

यः पात्रभूतोऽपि प्राप्तं प्रतिग्रहं सुवर्णादिकं नादत्ते न स्वीकरोति, ससौ पद्याप्राप्तं नोपादत्ते सत्तद्दानशीलानां ये लोकास्तांस्समाप्नोति ॥ २१३ ॥

भाषा—जो व्यक्ति दान लेने का पात्र होते हुए भी दान नहीं लेता वह उन सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है जो लोक दान देने वाले को मिलते हैं ॥ २१३ ॥

इदानीं सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादमाह—

कुशाः शाकं पयो मत्स्याः गन्धाः पुष्पं क्षीरं क्षितिः ।

मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न दारि च ॥ २१४ ॥

धानाः शृषा यवाः, क्षितिर्भूमिका, शयं प्रसिद्धम् । एतत् कुशादिकं स्वपशुपानीतं न प्रत्याख्येयम् । अकाराद्गृहादि ( मनुः ४।२५० )—‘शय्यां गृहाभ्युत्थान्गन्धासपः पुष्पं मणीन्दधि । धाना मत्स्यापयो मांसं शाकं चैव न निर्गुरेत् ॥’ तथा—‘पयोदकं मूलफलमन्नममुष्यतं च पर । सर्वतः प्रतिगृही-  
षौन्मव्यपामयदक्षिणाम् ॥’ ( ४।२४७ ) इति मनुस्मृत्यात् ॥ २१४ ॥

भाषा—कुश, चाक, दूध, मसली, सुगन्धि, फूल, दही, भूमि, मांस, शय्या, आसन, भूने हुए धान, और जल ये सब पिना मांति ही मिले लो अस्वीकार न करना चाहिये ॥ २१४ ॥

किमिति न प्रत्याख्येयमित्याह—

अप्याचितादृतं प्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।

अन्यत्र कुलटापण्डपतितेभ्यस्तथा त्रिपः ॥ २१५ ॥

यस्मादप्याचितमेतत्कुशाद्यादृतं दुष्कृतकारिणोऽपि संवन्धि प्राप्तं, किमुत यथोक्तकारिणः । तस्माच्च प्रत्याख्येयम् । अन्यत्र कुलटापण्डपतितेभ्यः तत्रोक्त । कुलाकुलमटतीति कुलटाः स्वैरिण्यादिकाः, पण्डस्तृतीयाप्रकृतिः ॥ २१५ ॥

१. दातुः फलमुत्वेदानीं ।

२. अहतन्दुषाः ।

३. मप्यापामय ।

४. परत् ।

भाषा—विना मीने ही दुराचारी व्यक्ति द्वारा भी लाई हुई ( कुशादि ) वस्तुएँ ग्रहण करने योग्य होती हैं; किन्तु कुलटाखी, मनुंसक एवं पतित व्यक्ति द्वारा स्वयं लाई गई ( ये वस्तुएँ भी ) द्विज न ग्रहण करे ॥ २१५ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादान्तरमाह—

देवातिथ्यर्चनकृते गुरुमृत्युर्थमेव वा ।

सर्वतः प्रतिगृहीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ॥ २१६ ॥

देवातिथ्यर्चनादेरावरयकत्वात्तदर्थम'नात्मकारणात् । पतिताद्यव्यक्तकुरित-  
सर्वज्ञं सर्वतः प्रतिगृहीयात् । गुरवो मातापित्रादयः, श्रुत्याः भरणीयाः  
भार्यापुत्रदयः ॥ २१६ ॥

भाषा—देवता और अतिथि की पूजा एवं सरकार के लिये भयवा  
माता पिता आदि गुरुजनों एवं स्त्री पुत्रादि आश्रित जनों के लिए तथा अपनी  
वृत्ति के लिए सभी स्थानों से दान लेना विहित है ॥ ११६ ॥

इति दानप्रकरणम् ।

### अथ श्राद्धप्रकरणम्

इदानीं श्राद्धप्रकरणमारभ्यते । श्राद्धं नामात्मीयस्य तत्सपानीयस्य वा  
मृत्यस्य प्रेतोद्देशेन श्राद्धया रणामः । तच्च द्विविध—पार्वणमेकोद्विष्टं चेति । तत्र  
त्रिपुरयोद्देशेन परिक्रमते तत्पार्वणम् । एकपुरयोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्विष्टम् ।  
पुनश्च त्रिविधं—निरत्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति । तत्र निरत्यं नियतनिमित्तोपाधौ चोदि-  
तमहरहरमात्रस्याष्टकादिषु । अनियतनिमित्तोपाधौ चोदितं नैमित्तिकं यथा पुत्र-  
जन्मादिषु । फलकामनोपाधौ विहितं काम्यं यथा स्वर्गादिकामानां वृत्तिद्यादि-  
नक्षत्रेषु, तिथिषु च । पुनश्च पञ्चविधम्—'अहरहः श्राद्धं पार्वणं वृद्धिश्राद्धमे-  
कोद्विष्टं सविण्डीकरणं चे'ति । तत्राहरहःश्राद्धं—'अन्नं विभुमनुष्येभ्यः' इत्यादि-  
नोक्तम् । तथा च मनुः ( ३।८२ )—'कुर्वाद्दहरहः श्राद्धमन्नापोनोदकेन वा ।  
पशोमूढकलैर्वापि विभुभ्यः प्रीतिमावहन् ॥' इति ॥

अपुना पार्वणं वृद्धिश्राद्धं च दर्शविद्यंस्तयोः कालानाह—

अमायास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।

द्रव्यं ग्राह्यसंपत्तिर्विपुंपुंसूर्यसंकमः ॥ २१७ ॥

• इयतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।

श्राद्धं प्रति दक्षिणैते श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ॥ २१८ ॥

यत्र दिने चन्द्रमा न दृश्यते सा अमावास्या, तस्यामहर्द्धय्यापिन्याम-  
 पराह्णयापिनी प्रह्ला, 'अपराह्ण वितनाम्' इति वचनात् । अपराह्ण  
 पञ्चधा विभक्ते दिने चतुर्थो भागस्त्रिगुहृतः । अष्टकाव्यतर 'हेमन्तमिशिर-  
 योश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका' (गृ सू २।४।१) इत्याश्लायनोक्ता, वृद्धि  
 पुत्रज-सादि, वृष्णपत्रोऽपरपक्ष, अयनद्वय दक्षिणोत्तरसञ्चकम्, द्रव्य 'वृषा-  
 मापादिकम्, माह्वणसपचिर्वक्ष्यमाणा, विपुवद्वय मेपतुलयो सूर्यंगमाम्,  
 सूर्यसक्रम आदित्यस्य राशे राशन्तरगमनम्, अयनविपुवनो सकान्तिरवे  
 सिद्धयेऽपि पृथगुपादान फलातिशयप्रतिपादनार्थम् । स्वतीवातो योगविशेष ।  
 गजपक्षाया—'वदे-दु वितृदैवत्ये हसरचैव करे स्थित । 'वस्यां तिथिर्नवराता  
 हि गजपक्षाया प्रकीर्तिता ॥' इति परिभाषिता । हस्तिपक्षावेति केचित्,  
 सेह न गृह्यते, कालप्रकमात् । ग्रहण सौमसूर्ययोरुपरात् । यदा च कर्तुं  
 श्याद्ध प्रति दक्षिर्भवति तदापि । चक्षुद्राद्युगादिप्रभृतयः । एते श्याद्धकाला ।  
 यद्यपि—'चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यात्' इति ग्रहणे भोजननिषेधस्तथापि भोक्तुर्होष,  
 दातार्युष्य ॥ २१०-१८ ॥

भाषा—अमावस्या अष्टका ( हेमन्त और मिशिर ऋतु के वृष्णपक्षों  
 की चारों अष्टमी तिथियों ) की, पुत्र जन्म के अवसर पर, वृष्णपक्ष में,  
 दोनों ( उत्तर पृष दक्षिण ) अयनों में, द्रव्य ( वृषमाप ) माह्वणसपचि,  
 मेव और तुला राशि पर सूर्यसक्रमण, सूर्य का द्वासी राशि पर गमन,  
 स्वतीवात ( एक विशेष योग), गजपक्षाया, चन्द्रमा और सूर्य क ग्रहण के समय  
 और जप करने की इच्छा हो तब श्याद्ध का काल होता है ॥ २१०-२१८ ॥

अहरहः श्याद्धप्रतिरिक्तवच्यमाणस्तुर्विद्यश्याद्धेषु माह्वणसपचिमाह—

अग्रय सर्वेषु वेदेषु श्रोत्रियो ब्रह्मविद्यया ।

वेदार्ययिग्येष्टसामा त्रिमधुस्त्रिसुपर्णक ॥ २१९ ॥

सर्वेषु वेदेषु श्याद्धादिषु अग्न्यभ्यन्तरकृतपाप्मजघ्नास्तद्विज्ञानात्पपमज्जम  
 अग्रयः । श्रोत्रियः पुताप्ययनसपक्षः । वच्यमाण ब्रह्म यो वेत्ति अस्मी ब्रह्म  
 विद् । युषा मन्वमवचरक । सर्वस्येद विग्ययम् । अत्रमाह्वणयोग्यं येत्तीति  
 यदार्थवित् । ज्येष्ठसाम सामविशेष, तद्वच्ययनाद्ब्रह्मत्त च तद्वच्ययनपरणेन वस्तु-  
 धीते त उयेष्टसामा । त्रिमधु श्याद्धैकदेश, तद्वच्यत च तद्वच्ययनपरणेन यद्येष्टोते  
 इति त्रिमधु । त्रिमधुर्ण श्याद्धैकदेश, तद्वच्यत च तद्वच्ययनपरणेन यद्येष्टोते  
 म त्रिमधुर्णक । 'एते माह्वण श्याद्धयवद्' इति 'वच्यमाणेन सपक्ष ॥ २१९ ॥

१ वृष्णमारणासादि । २ चापरा तिथि तिथिर्नवरातीका ( = प्रयो  
 दनी ) । ३ तद्वच्ययायी । ४ वच्यमाणक्रियासत्त्वग्य ।

भाषा—समी वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने वाले, श्रुताध्ययनसंपन्न, ब्रह्मज्ञानी, युयुक्, वेद का अर्थ जानने वाले, ज्येष्ठमास नाम के सामंशों का आचरणपूर्वक अध्ययन करने वाले, ( ऋग्वेद के ) त्रिमधु मन्त्रों को प्रता-  
चरण सहित पढ़ने वाले ( ऋग्यजुस् के ) त्रिसुपर्ण मन्त्रों का नियम के साथ पारायण करने वाले ब्राह्मण— ॥ २१९ ॥

स्वस्त्रीयश्चत्विगजामातृयाज्यभ्वनुरमातुलाः ।

त्रिणाचिकेतदौद्विप्रशिष्यसंघन्विधान्धवाः ॥ २२० ॥

स्वस्त्रीयो भागिनेयः, चत्विगुक्लृणः, जामाता दुहितुर्मता, त्रिणाचिकेतं यजुर्वेदैकदेशः, तद्गतं च तद्गमताचरणेन यस्तदध्यायी स त्रिणाचिकेतः । अय-  
त्प्रसिद्धम् । एते च पूर्वोक्ताग्र्यघोत्रियाद्यभावे वेदितव्याः 'एष वै प्रथमः  
कल्पः प्रदाने हृष्यकस्योः । अनुकल्पसवयं प्रोक्तः सदा सद्भिरगर्हितः ॥' ( मनु,  
३।१७७ ) हृष्यभिधाय मनुमा स्वस्त्रीयादीनामभिहितत्वात् ॥ २२० ॥

भाषा—भागिनेय, चत्विज्, दामाद, यजमान, अष्टुर सामा, ( यजुर्वेद  
के ) त्रिणाचिकेत का मत एवं अध्ययन करने वाले, दौद्विप्र ( कन्या का पुत्र,  
माती ) शिष्य, सम्घन्धी, यान्धव— ॥ २२० ॥

कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः ।

पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसंपदः ॥ २२१ ॥

कर्मनिष्ठा विहितानुष्ठानतत्परा, तपोनिष्ठास्तपःशीलाः, सम्पारसम्प्री  
प्रेताग्र्यध्व पर्य सन्ति स पद्माग्निः, पद्माग्निविद्याध्यायी च, ब्रह्मचारी उप-  
कुर्वाणको नैष्ठिकश्च, विगृमातृपरास्तत्पूजापराः, चरारात् ज्ञाननिष्ठादपः ।  
ब्राह्मणाः न चप्रियाश्चः । श्राद्धसंपदः श्राद्धेष्वन्यकलसंपत्तिहेतवः ॥ २२१ ॥

भाषा—कर्मनिष्ठ ( विहित अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले ), तत्परधी,  
पद्माग्नि का आधान करने वाले, ब्रह्मचारी, पिता-माता की सेवा करने वाले  
ब्राह्मण श्राद्ध में अल्प कल के देणु होते हैं ( चप्रिय भादि नहीं ) ॥ २२१ ॥

वार्त्तात्—

रोगी हीनातिरिक्ताङ्ग काणः पौनर्मपस्तथा ।

अवकीर्णा कुण्डगोली कुमघी श्यायन्तकः ॥ २२२ ॥

रोगी महारोगोपगृहः, हीनमतिरिक्त वाऽङ्गं चरयासी हीनातिरिक्ताङ्ग, एके-  
नादगा यो न परयति न काणः, एतदमादेवान्धवपिरिद्धि'द्वज्जन'सकतिदुर्मर्-

१. ज्ञान । २. श्राद्धसंपदे (=श्राद्धस्य संपदे समृद्धये) । ३. एद-  
मजनन । ४. सकतिनिष्केमगिराः एतवाटः ।

प्रभृतयो निरस्ताः । पुनर्मूर्च्छलक्षण, वरयो जातः पौनर्भव, अवकीर्ण  
 ब्रह्मचर्य एव स्खलितब्रह्मचर्यः, कुण्डगोलौ—'परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ  
 कुण्डगोलकौ । परयो जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तारि गोलकः ॥' (मनुः ३।१७४)  
 हर्येवमुक्तलक्षणकौ, कुबलो कुंक्षितनखः, श्यावदन्तकः स्वभावावृष्णदशनः ।  
 'पते भाद्रे निन्दिताः' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ २२२ ॥

भाषा—रोगी, अह्मीन या बड़े हुए अंग घाला, काना, पुनर्मूर् ( दुबारा  
 ब्याही गई स्त्री ) का पुत्र, स्खलितब्रह्मचर्य, कुण्ड ( पति के जीवित रहते  
 दूसरे पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न ) पुत्र, गोलक ( पति के मरने पर दूसरे  
 पुरुष से उत्पन्न ) पुत्र, भटे गालुगों वाला, काले दाँतों वाला, ॥ २२२ ॥

भृतकाध्यापकः फलीयः कन्यादृष्यमिशस्तकः ।

मित्रभुक् पिशुनः सोमविक्रयी परिविन्दकः ॥ २२३ ॥

वेतनग्रहणेन घोऽध्यापयति स भृतकाध्यापकः, वेतनदानेन च घोऽधीते  
 सोऽपि; फलीयो मनुसकः, असदि सन्निवां दोषैर्यः कन्यां दूषयति स कन्या-  
 दृषी, सताऽसता वा ब्रह्महत्यादिनामियुक्तोऽमिशस्तकः । मित्रभुक् मित्रघ्नोही,  
 परदोषसंकीर्तनशीलः पिशुना, सोमविक्रयी यज्ञे सोमस्य विक्रेता, परिविन्दकः  
 परिवेत्ता, उपेष्टेऽकृतदारेऽकृताग्निपरिग्रहे वा याः कनीयान्दारपरिग्रहमग्निपरिग्रहं  
 वा कुर्वांस परिवेत्ता । उपेष्टस्य पतिविति । यथाह मनुः ( ३।१७१ )—  
 'दाराग्निहोत्रसंयोग यैः करोत्यग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेया परिवितितस्य  
 पूर्वजः ॥' इति । एवं दातृ-यात्रकारपि— परिविति परिवेत्ता यथा च परि-  
 विद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयात्रकपन्नमाः ॥ इति ( ३।१७२ ) मनु-  
 वचनात् ॥ २२३ ॥

भाषा—वेतन लेकर दहाने वाला, मनुसक, कन्या पर हट्टे या सही  
 शेष लगाने वाला, ब्रह्महत्यादि के पाप से अभिज्ञात, मित्रघ्नोही, सुगलदोर,  
 सोमलता का निग्रह करने वाला, बड़े भाई के भविष्यहित रहते विवाह  
 करने वाला ॥ २२३ ॥

मातापितृगुरुत्यागी कुण्डाशी घृपलारमजः ।

परपूर्वापतिः स्तेनः कर्मदृष्टारथ निन्दिताः ॥ २२४ ॥

यिना कारणेन मातापितृगुरुन् चरसपञ्चति न मातापितृगुरुत्यागी । एवं  
 भार्यासुतापामपि, 'वृद्धौ च मातापितरौ गार्थी भार्या मुनः तिशुः । अप्य-

कार्यं शतं कृत्वा भर्तव्या मनुजप्रवोत् ॥' (मनुः १११०) इति समाननिर्देशात् कुण्डस्याग्नें योऽश्नात्यसौ कुण्डाशी, एवं गोलकस्वापि; 'यस्तपोरक्षमरनाति सा कुण्डाशी प्रकीर्तितः' इति वचनात् । वृषलो निर्धर्मस्तस्मुतो वृषलात्मजः, पर-पूर्वा पुनर्भूः, तस्याः पतिः, अदत्तादायी स्तेनः, कर्मदुष्टाः शास्त्रविरुद्धकारिणः । चकारारिकतवदेवलकप्रमृतयः । एते धादे निन्दिता प्रतिपिदाः । 'अभ्याः सर्वेषु वेदेषु' ( भा. २१० ) इत्यादिवा धादयोग्यमाह्वणप्रतिपादनेनैव तद्रूप-तिरिक्तानामयोग्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः केषांचिद्भोग्यादीनां प्रतिषेधवचनमुक्-लक्षणाद्वाह्वणसंभवे प्रतिषेधरहितानां प्राप्त्वर्थम् ॥ २२४ ॥

भाषा—अकारण माता, पिता और गुरु का त्याग करने वाला, कुण्डे भर अन्न खाने वाला, अधर्म का पुत्र, पुनर्भू का पति, वही हुई वस्तु को ग्रहण करने वाला चोर, और शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाला—ये सभी धादकर्म में निषिद्ध होते हैं ॥ २२४ ॥

एवं धादकालाग्नाह्वणांशोवत्वाऽपुना पार्वणप्रयोगमाह—

निमग्नयेत् पूर्वेषुप्राह्वणानारमयाऽशुचिः ।

तैश्चापि संयतैर्भोग्यं मनोवाह्वयकर्मभिः ॥ २२५ ॥

पूर्वोक्ताग्नाह्वणान् 'धादे चणः क्विपताम्' इति पूर्वेषुनिमग्नयेत् प्रार्यंभया चणमभ्युपगमयेत् । अपरेषुर्वा; 'पूर्वेषुपरेषुर्वा धादकर्मण्युपरिधते । निमग्नयेत् स्ववरात्सःयविविधान् यथादितान् ॥' इति ( ३।१८० ) मनुस्मरणात् । आरम-वान् शोकोन्मादादिरहितश्चेत् दोषवाच्य भवति । पहा,—आरमवाक्षिपतेग्निषो भवेत् । शुचिः प्रयतश्च । तैरपि निमग्नितैर्प्राह्वणैः । मनोवाह्वयकर्मपारैः संयतैर्भोग्यतैर्भवितव्यम् ॥ २२५ ॥

भाषा—( धाद के ) पहले दिन स्वस्थ मन एवं पवित्र होकर ( पूर्वोक्त प्रकार के ) प्राह्वणों को निमग्नित करे । उन निमग्नित प्राह्वणों को भी मन, वाणी, शरीर एवं कर्म से पवित्रता रखनी चाहिये ॥ २२५ ॥

अपराह्णे समभ्यर्च्य स्वागतैर्नागतांस्तु तान्  
पवित्रपाणिराघान्तानासनेषूपयेत् ॥ २२६ ॥

अपरा उक्तलक्षणे समभ्यर्च्य ताश्चिन्मित्रताग्नाह्वणानाह्वय स्वागतवचनेन पूजयित्वा हृतपादधावनाच्छान्तान् वृत्तेष्वासनेषु पवित्रपाणिः पवित्रपाणीनुप-येत् ॥ यद्यत्पत्र सामाभ्येन 'अपराह्णे' इत्युक्तं, तथापि कुत्रये प्रारभ्य तदादि पत्रमुद्धर्तेषु परितमापन्नं भेदकरम्; 'अहो मुहूर्ता विषयोना एत पत्र च

सर्वदा । तत्राष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः ॥ मध्याह्ने सर्वदा गरमा-  
न्मन्दीभवति भास्करः । तस्मादन्तर्फलदस्तत्रारम्भो विनिष्यते ॥ ऊर्ध्वं  
मुहूर्ताश्चतुषाष्टमुहूर्तचतुष्टयम् । मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत्स्वधामवनमिष्यते ॥' (भास्व  
श्राद्ध. २२।८४-८५, ८८ ) इति वचनात् । तथान्यदपि श्राद्धोपयोगि कुतपसंज्ञ-  
कमुक्तम् ; 'मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालवन्धलः । शीर्ष्यं दर्भास्तिला गावो  
दौहित्रश्राष्टमा स्मृतः ॥ पापं कृत्सितमित्याहुस्तस्य संतापकारिणः । अष्टावेते  
यत्तस्मैस्माकुतपा इति विश्रुताः ॥' ( भास्व. २२।८६-८७ ) इति ॥२२६॥

भाषा—उन भावे हुए ब्राह्मणों की अपराध के समय स्वागत वचन  
द्वारा आर्चना करके ( अपने ) हाथों जो शुद्ध करके उन्हें आचमन करा  
कर आसनों पर बैठावे ॥ २२६ ॥

युग्माद्देवे यथाशक्ति पित्र्येऽयुग्मांस्तथैव-  
परिस्तुते शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे तथा ॥ २२७ ॥

द्वैवे अशुभदधिके श्राद्धे युग्मान् समाग्राह्यानुपवेशयेत् । कथम् ? यथा-  
शक्ति शक्तिमनतिशय । तत्र वैश्वदेवे द्वौ द्वौ, मातादीनां तिसृणामेकैकस्या द्वौ  
द्वौ, तिसृणां वा द्वौ । एवं पित्रादीनामेकैकस्य द्वौ द्वौ, त्रयाणां वा द्वौ । एवं  
मातामहादीनां च षर्गत्रयेऽपि वैश्वदेवं पृथक्, तन्त्रं वा । विभ्ये पार्वणश्राद्धे  
अयुग्मान् विषमानुपवेशयेदिति संवद्व्यते । एतच्च परिस्तुते सर्वतः प्रच्छादिते  
शुचौ गोमयादिनोपलिप्से दक्षिणाप्रवणे दक्षिणतोऽवनते देशे कार्यम् ॥ २२७ ॥

भाषा—द्वैव ( अशुभदधिक ) श्राद्ध में अपनी शक्ति के अनुसार सम  
संख्यावाले भीर पित्र्य अर्थात् पार्वण श्राद्ध में विषम संख्या में ब्राह्मणों को  
चारों ओर से आसनों द्वारा ढके हुए ( गोबर आदि से छीप कर ) पवित्र  
किए गये, भीर दक्षिण की ओर झुके हुए स्थान पर बैठावे ॥ २२७ ॥

'अयुग्मान्विषमे' ( श्लो. २२७ ) इति पार्वणश्राद्धाद्भूते वैश्वदेवेऽप्ययुग्मप्र-  
सङ्गे इदमारभ्यते—

द्वौ द्वैवे प्राक् त्रयः पित्र्य उदगैकैकमेव वा ।

मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ २२८ ॥

द्वौ द्वैव इति । द्वैवे वैश्वदेवे द्वौ ब्राह्मणौ प्राहमुस्तालुपवेशयौ । विभ्ये अयुग्मा-  
निभ्यविशेषप्रसङ्गे विशेष उच्यते—त्रयः पित्र्ये इति । पित्र्ये पित्रादिस्थाने त्रय  
उदङ्मुखा उपवेशयाः । पक्षान्तरमाह—एकैकमेव वा । वैश्वदेवे पित्र्ये च एकमे-

१. विभ्ये युग्मान् ।

२. परिश्रिते ( = काण्डपटादिना परिश्रिते ) ।

३. प्रावतु विभ्ये श्रीन् ।



कमुपवेशयेत् । संभवतो विकल्प । मातामहानामप्येवं श्राद्धे निमन्त्रणादि । द्वौ देवे प्राक् ग्रयः पिश्वे उदगेनैकमेव वेत्येव मतं पितृश्राद्धवत्कर्तव्यम् । पितृश्राद्धे मातामहश्राद्धे च वैश्वदेविकं पृथक् तन्त्रेण वा कर्तव्यम् । 'तन्त्र'शब्दः समुदाय-  
वाचकः । यदा तु द्वावेव ब्राह्मणौ लब्धौ तदा तु वैश्वदेवे पात्रं प्रकल्प्य उभय-  
त्रैकैकं ब्राह्मणं नियुज्यात् । यथाह वसिष्ठ ( ११३०,३१ )—'यदेकं भोजये-  
च्छ्राद्धे देवं तत्र कथं भवेत् । अन्नपात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥ देवता-  
यतने कृत्वा सप्त श्राद्धं प्रवर्तयेत् । प्रास्येदन्नं तदानीं तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥'  
इति ॥ २२८ ॥

भाषा—दो ब्राह्मणों को विश्वदेवों की ओर पूर्वदिशा में मुख कराके, पिशादिस्यान में विषम समय वाले ब्राह्मणों को उत्तर की ओर मुख कराके अथवा वैश्वदेव धूमं पिश्वेस्थान में एक-एक ब्राह्मण को बैठावे । मातामह के श्राद्ध में भी ऐसा ही करे अथवा वैश्वदेविक पृथक् तन्त्र से करे ॥ २२८ ॥

पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा 'विष्टार्यं कुशानपि ।

आवाहयेदनुष्ठातो विश्वे देवास इत्युवा ॥ २२९ ॥

तदनन्तरं वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणहस्ते जल दत्त्वा विष्टार्यं कुशाभिः पुग्मान् द्विगुणितानामने दक्षिणतो दत्त्वा 'विरवान्देवानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान् पूष्ट्वा तैः 'आवाहय' इत्यनुष्ठातो 'विश्वे देवास आगत' ( ऋ. ३।८।१५ ) इत्यनदर्थं 'आगच्छतु महाभागाः' इत्यनेन च स्मार्तैः मन्त्रेण तानावाहयेत् । एतच्च यज्ञोपवीतिनां प्रदक्षिणं च कार्यम्, 'अपसव्यं ततः कृत्वा पितृणामप्र-  
दक्षिणम्' ( भा २३२ ) इति पिश्वे विशेषस्मरणम् ॥ २२९ ॥

भाषा—तब ( विश्वदेव के लिये ) ब्राह्मण को हाथ धोने के लिये जल देकर ) बैठने के लिये ( जोडा ) कुशा देकर, उनकी आज्ञा से 'विश्वेदेवास आगत' इत्यादि ऋचा द्वारा ( और आगच्छतु महाभागाः स्मार्त मन्त्र से ) उनकी आवाहन करे ॥ २२९ ॥

यवैरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके ।

शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवोऽसौति यथास्तथा ॥ २३० ॥

या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वर्घ्यं विनिसिपेत् ।

ततो वैश्वदेवार्थंब्राह्मणसमापे भूमिं प्रादक्षिण्येन यवैरन्ववकीर्यं अनन्तरं तैजसादिभाजने सपवित्रके कुशयुग्मान्तर्हिते 'शं नो देवीरभिटय' ( ऋ ७।६। ५।४ ) इत्यनदर्थं क्षिप्त्वा 'यवोऽसि धान्यराजोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेण

यवान् ततो गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वाऽनन्तरं अर्घ्यपात्रपवित्रान्तर्हिते प्राङ्मण-  
हस्ते 'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादिना मन्त्रेण विरवेदेवा इदं वोऽर्घ्यं' इत्य-  
र्घ्योदकं विनिरिषेत् ॥ २३० ॥—

भाषा—तत्र ( वैरवदेव के श्रिये ) प्राङ्मणों के निकट भूमि पर जो  
बिलेर कर पवित्र ( दो कुश ) से युक्त दो पात्रों में 'शंनो देवीरभित्ये' इत्यादि  
मंत्र के साथ जल ढालकर 'यवोऽसि धान्यराजो या' इत्यादि मन्त्र से पत्र  
हाले ( तत्र तसमें गन्ध, पुष्प ढालकर ) ॥ २३० ॥

दशोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं सदीपकम् ॥ २३१ ॥

तथाऽज्जादनदानं च करशौचार्थमम्बु च ।

अथ करशौचार्थमुदकं दद्यात् यमाह्वयं गन्धपुष्पधूपदीपदानं कुर्यात्,  
तथाऽज्जादनदानं च । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः—'चन्दन-  
कुङ्कुमकर्पूरागरुवस्त्रकान्युपलेपनार्थम्' इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पाणि च—'प्राङ्मे  
जायः प्रशस्ताः स्युर्मंथिका श्वेतयूथिका । जलोद्भवानि सर्वाणि ह्यमुमानि च  
शरपकम् ॥' इत्युक्तानि । वायोनि च—'उद्गमगन्धीन्वगन्धीनि शैरवपृच्छोद्भवानि  
च । पुष्पाणि पर्जनीयानि रक्षवर्गानि यानि च ॥', 'न कण्टकिजम् । कण्टकिज-  
मपि हृक्लं सुगन्धि पत्तदद्यात्, न रक्तं दद्यात्, रक्षमपि कुङ्कुमजं जलजं च  
दद्यात्' (विष्णु, अ. १६) इत्यादीनि द्रष्टव्यानि । धूपे च विशेषो विष्णुनोक्तः—  
'प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थं न दद्यात् । पूजमपुसंयुक्तं गुग्गुलुं भीक्षुष्वागुरुदेवदारुमरलादि  
दद्यात्' इति । दीपे च विशेषः दार्ष्टेनोक्तः—'पृथेन दीपो दालव्यरितलतैलेन वा  
पुनः । पलाभेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥' इति । आघ्रादनं च ह्यम् नव-  
महतं सवर्णं दद्यादिति । एतच्च सर्वं वैश्वदेवानुष्ठानकाण्डमुदकमुलः कुर्यात् ।  
विष्यं काण्डं इक्षिणामुलः । यथाह दृष्टशातातपः—'उदकमुत्थरु देवानो पितृणां  
इक्षिणामुलः । प्रदद्यात्पार्ष्णि सर्वं देवपूर्वं विधानतः ॥' इति ॥ २३१ ॥

भाषा—'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादि मंत्र को कहते हुए प्राङ्मणों  
के हाथों पर अर्घ्य गिराये । तदुपरान्त ( दाध धोने के लिए ) जल लेकर  
क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप दे ॥ २३१ ॥

अपसर्भ्यं-ततः कृत्या पितृणामप्रदक्षिणाम् ॥ २३२ ॥

त्रिगुणास्तु 'कुशान्दस्या' 'ह्युद्गमस्तत्येस्युचा पितृन् ।

आघ्राहा तदनुष्ठातो जपेक्षयन्तु नस्ततः ॥ २३३ ॥

ततो वैश्वदेवकाण्डान्तरम् । अपसर्भ्यं यज्ञोपवीतं प्राचीनाधीतं कृत्वा ।  
अथ तत इति यदा काण्डानुसमयो दर्शिनः । वित्रादीनां अघ्राणामपुसमान्कु-

शान्दिगुणमुत्मान् अग्रदक्षिण धामतो विष्टार्यमासनेषूदकपूर्वकं दशः पुनरुदक  
 दद्यात्, 'अथ प्रदाय 'दर्भाद्दिगुणमुत्मानमन प्रदायाप प्रदाय' ( गृ सू ४।०,  
 ५, १, ७ ) इत्याश्रलायनस्मरणात् । एतच्चाद्य-तयोदकदान वैश्वदेवे विष्टये च  
 प्रतिपदार्थं प्रतिपादनार्थं दृष्टव्यम् । अथ 'पितॄन् पितामहान् प्रपितामहानावाह  
 यिष्ये' इति ब्राह्मणानुष्टुप् 'आवाहय' इति तैत्तिरीयानुष्ठुप् 'उश-तस्त्वा निधीमहि'  
 ( श्र ७।१।२१।२ ) इत्यन्यर्था विप्रादीनावाह्य 'आयन्तु न पितर' इत्यादिना  
 मन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—इसके बाद आश्रादन के लिये बह्य और फिर हाथ घोने के  
 लिये जल देना चाहिए । ( वैश्वदेव के बाद ) यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे पर  
 करके, पितरों को बाईं ओर से दोहरे कुश देकर उश-तस्त्वा निधीमहि' आद्या  
 से पितरों का आवाहन करके ब्रह्मणो की आज्ञा पाकर 'आयन्तु न पितर'  
 इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ २३२-२३३ ॥

( अपहृता इति तिलाग्विकीर्य च समन्तत । )  
 यथार्थास्तु तिलैः कार्या कुर्याद्दिव्यादि पूर्यषत् ॥ २३४ ॥  
 दृश्याभ्यं सद्यसास्तेषां पात्रे कृश्या विधानत ।  
 पितृभ्यः स्थानमसीति न्युञ्जं पात्रं कतोरयथ ॥ २३५ ॥

यथार्थां यथसाध्यानि कार्याण्यवकिरणादीनि तिलैः कर्तव्यानि । ततोऽर्घ्यं  
 पात्रासादनाच्छादनात् पूर्ववत्पूर्णात् । तत्राय विशेष —तिलान् 'अपहृता अमुरा  
 र्थांसि' इत्यादिना मन्त्रेण ब्राह्मणा परितोऽग्रदक्षिणमन्त्रवकीर्यं राजनाद्विपु  
 पात्रेषु त्रिष्वयुगमकुशनिमित्तकृत्वा तर्हितेषु 'श नो देवी' इति मन्त्रेणाप विष्टया  
 'तिलोऽसि सोमद्वैवाय' इत्यादिमन्त्रेण तिलान् श-घणुष्यामि च विष्टया 'एव  
 घाभ्यां इति ब्राह्मणानां पुस्तोऽर्घ्यपत्राणि स्थापयित्वा या दिव्या' इति मन्त्रेण  
 'पितरिद् सेऽर्घ्यं पितामहेद् सेऽर्घ्यं प्रपितामहेद् सेऽर्घ्यम्' इति ब्रह्मणानां हस्ते  
 'ध्वार्यं दद्यात् । 'एकैकमुभयत्र वा' इत्यस्मिन्त्रपि पक्षे पात्रत्रयं कार्यम् । एवमर्घ्यं  
 दृश्या तेषामर्घ्याणां सद्यसा ब्राह्मणहरतयालितार्थोदकानि 'विष्टयाये गृहीत्वा दधि  
 णाम कुशरतय भूमौ निधाय तस्योपरि 'पितृभ्यः स्थानमसि' इत्यनेन मन्त्रेण  
 तेषां न्युञ्जमधोमुखं कुर्यात् । तस्योपरि अर्घ्यपात्रपवित्राणि निक्षेप्यात् ।  
 अनन्तरं गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानि पितरभ्यः ते गन्ध, वितरिद् मे पुष्पम्'  
 इत्यादिना प्रयोगेण दद्यात् ॥ २३४-२३५ ॥

१ दिग्गुणमुत्मान्कुशान्प्रदाय । २ यथार्थास्तु तिलैः कार्यः ।  
 ३ पात्रे प्रथमे गृहीत्वा ।

भाषा—‘अपहता असुरा रक्षांसि’ इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए चारों ओर तिल धिंधरे । इस समय (पहले) यव से किये जाने वाले सभी कर्म तिल द्वारा करने चाहिये और अर्घ्य इत्यादि पूर्वोक्त विधि से ही करना चाहिये (ब्राह्मणों के हाथ में) अर्घ्य देकर (उनके हाथ से) गिरते हुए जल को विधिपूर्वक पितृ पात्र में रोप कर उसे पात्र को पितृभ्यः स्थानमसि’ इत्यादि मन्त्र से उलटाकर दे (और उसके ऊपर अर्घ्यपात्र एवं कुशाका पत्रित रखें ॥ २३४-२३५ ॥

अग्नीकरणमाह द्वाभ्याम्—

अग्नी करिष्यन्मावाय पृच्छत्यग्नें घृतप्लुतम् ।

कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो हृत्याग्नी पितृपद्यत् ॥ २३६ ॥

हुतशेषं प्रदद्यात्तु माजनेषु समाहितः ।

यथासामोपपन्नेषु शौच्येषु च विशेषतः ॥ २३७ ॥

अग्नतरमग्नी करिष्यन्घृतप्लुतं घृताक्षमज्ञमावाय ब्राह्मणान् पृच्छेत् ‘अग्नी करिष्ये’ इति । ‘घृत’ अह्नं सूषणाकादिनिघृष्यर्थम् । ततस्तैः कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातः प्राचीनीपीती शुद्धमद्यमुपसमावाय मेघनेनादायावदानसंपदा जुहुयात् ‘सोमाय पितृसते स्वधा नमा, अग्नेये कव्यवाहनाय स्वधा नमः’ इति विष्टपितृपद्य-कश्चेन अग्नी हुत्वा मेघनमनुप्रह्लाव हुतशेषं मृन्मयवर्जं यथासामोपपन्नेषु विशेषतो शौच्येषु विष्टादिभाजनेषु दद्यात्, न वैश्वदेवभाजनेषु । समाहितोऽ-नन्मनवरक्तः । अत्र यद्यप्यग्निविष्टविष्टोपेयोक्तं तथाप्यादितान्नेः सर्वाधानवचे औपासनाग्नैरमावाय विष्टपितृपद्यानन्तरमाविनि पार्वणधादे विद्वत्तदक्षिणाग्नेः संविधानादक्षिणाग्नी होमः । ‘कर्म रमार्तं त्रिधाहाग्नी’ इत्येवापवात्सर्वात्नात् । यथाह मार्कण्डेयः—‘आदित्याग्निस्तु जुहुयादक्षिणाग्नी समाहितः । अनादित्याग्नि-‘द्विषीपसथेऽऽपमारे द्विजेऽस्तु या ॥’ इति । अर्धाधानवचे औपासनाग्निसन्नाया-दादित्याग्नेरनादित्याग्नेरिषीवासनाग्नयेवाग्नीकरणहेमः । पृथग्मन्वष्टकादिषु त्रिष्वपि विष्टपितृपद्यकश्चातिदेशात् । कात्यायिषु चतुर्षु ब्राह्मणपागाथेव होमः । यथाह-शुंडाकाराः—‘अन्वष्टक्यं च पूर्वेषुमामि मास्यय पार्वणम् । कात्पमभ्युदयेऽष्टम्या-मेकोद्विष्टमप्यष्टमम् ॥ चतुर्ष्वोक्तेषु साग्नीनां नह्यो होमो विधेयमे । विष्टम्राह्मणदत्ते स्यादुत्तरेषु चतुर्ष्वपि ॥’ अस्यार्थः—हेमन्तसिन्धिरपोमनुर्गोमपरपत्तागामष्टमो-प्यष्टकाः’ (आश. गृ. सू. २३४१) इत्यष्टका विहिता । तत्र नक्षत्रां यन्निवते

१. करिष्य ऋदाय । २. तु । ३. पीतीप्यमुप- । पीपतिमुप- ।

४. विहित । ५. द्विषीवासनेऽन्यमाये । ६. अग्नेरप्यौपामना । ७. कश्चे-  
नेति निदेशात् ।

तदन्वष्टयम् । सप्तम्या तु क्रियमाण पूर्वेषु\* । मासि मासि कृष्णपक्षे पञ्चमीप्र-  
 कृतियु यस्या कस्याचित्त्रियावन्वष्टयवातिदेशेन यद्विहितम् । अमावास्याया पिण्ड-  
 पितृयज्ञानन्तर यद्विहित तत्पार्वणम् । स्वर्गादिकामाना कृत्तिकादिनचत्रेषु यद्वि-  
 हित तत्क्रान्तयम् । अभ्युदयेषु पुत्रोत्पत्त्यादिषु तदागारामदेवताप्रतिष्ठादिषु च  
 यद्विहित तदाभ्युदयिकम् । अष्टम्या अष्टका विहिता । पृकोद्दिष्टम् । अत्रैकोद्दिष्ट-  
 शब्देन सपिण्डीकरण लक्ष्यते, तत्रैकोद्दिष्टस्यापि सत्तावात्, साक्षादेकोद्दिष्टे  
 तदभावात् । अथवा,—गृहभाष्यकारमते साक्षादेकोद्दिष्टेषु पाणिहोमस्य सत्तावा-  
 स्ता<sup>१</sup>सादेकोद्दिष्टमेव । एतेषामष्टानामाद्येषु चतुर्षु साम्निकस्याग्नौ होम । उत्तरेषु  
 चतुर्षु विष्वक्प्राङ्मण्डलस्येव । निरग्निरुस्यापि प्रमीतपितृकस्य द्विजस्य पार्वण  
 निरयमिति तस्यापि पाणावेव होम, 'न निर्वपति य आह प्रमीतपितृको द्विज ।  
 इन्द्रुचये मासि मासि प्रावक्षिस्वीयते तु स ॥' इति वचनात् । एव वाग्वाभ्यु-  
 दयिकाष्टकैकोद्दिष्टेषु पाणावेव होम —'अग्नेभ्यो तु विप्रस्य पाणावेशोपपादयेत्'  
 इति (४।२।२) मनुस्मरणम् । पाणिदक्षस्य पृथग्प्रासप्रतिषेध उच्यते । यथाहु-  
 र्गृहकारा —'अत्र पाणितले दत्त पृथगभ-स्यनुद्धय । पितरस्तेन तुष्यन्ति शेषास्त  
 न लभन्ति ते ॥ यच्च पाणितले दत्त यद्या-यदुपकल्पितम् । पृकीभावेन भोक्तव्य  
 पृथग्भावो न विद्यते' इति ॥ २३६-२३७ ॥

भाषा—अग्नीकरण के लिये घी से सना हुआ अन्न लेकर ( ब्राह्मणों से  
 अग्नीकरण के लिए ) आज्ञा माँगे, 'करो' ऐसा ( ब्राह्मणों द्वारा ) आदेश  
 पाकर पितृयज्ञ के समान ( उसका ) अग्नि में दहन करो । दहन से अवशिष्ट  
 ( एतद्द्रव्यं अन्न ) को एकप्रवृत्त होकर पितृपात्रों में रखें ( वैश्वदेव पात्र में  
 नहीं ) जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार चाँदी के बनवाये गये हो ( मिट्टी  
 के नहीं ) ॥ २३६-२३७ ॥

उत्सर्गविधेदनम्—

दत्त्वान्न पृथिवीपात्रमिति पात्राभिमन्त्रणम् ।

दृष्टवेदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाहुष्टं निवेशयेत् ॥ २३८ ॥

अन्नमोदनसूपपायसपुमादिक आजनेषु दत्त्वा 'पृथिवी ते पात्र' इत्यादिना  
 मन्त्रेण पात्राभिमन्त्रण कृत्वा 'इदं विष्णुर्विष्वक्मे' ( श्रु १।२।७।२ )  
 इत्यन्यथा अन्ने द्विजाहुष्टं निवेशयेत् । सत्र च वैश्वदेवे यज्ञोपवीती 'विष्णो  
 इत्य रक्ष' इति । पितृये प्राचीनावीती 'विष्णो कश्य रक्ष' इति, 'विष्णो इत्य च  
 कश्य च मूपात्रेति वै श्रमात्' इति मनुस्मरणम् ॥ २३८ ॥

१. लक्ष्यति । २. सत्तावादेको । ३. प्रतिषेधश्च उच्यते । ४. पूर्वमस्येषु ।  
 ५. पात्रानुमन्त्रणम् । ६. कृत्वा ।

भाषा—(पावल, सूप, खीर, धो आदि) अन्न पात्रोंमें रख कर 'पृथिवी ते पात्रं' हर्यादि से मंत्र से पात्रों को अभिमन्त्रित करे और 'इदं विष्णुर्विक्रमे' भादि मन्त्र पढ़ता हुआ ( उस अन्न में ) ब्राह्मण का अगूँठा बलवावे ॥ २३८ ॥

सव्याहृतिकां गायत्रीं मधु वाता इति ज्युचम् ।

जप्त्वा यथासुखं घाच्यं भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः ॥ २३९ ॥

अमन्तरं 'विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमन्नं परिविष्टं परिवेद्यमाणं चार्हते.' इति यपो-  
दकेन देवे निवेद्य, तथा विवे 'अमुकगोत्रायामुकशर्मणे इदमन्नं परिविष्टं परिवे-  
द्यमाणं चार्हते.' इति तिलोदकप्रदानेन विन्ने निवेद्य, एवं वितामहाय प्रविताम-  
हाय च निवेद्यामन्तरमापोदानं दात्वा पूर्वोक्ताभिर्याहृतिभिः सहितं गायत्रीं  
'मधु वाता' ( श्र. १।५।१८ ) इति वृचं मधु मधु मन्त्रितं त्रिवारं जप्त्वा  
'यथासुखं जुषन्मन्त्रं' इति मूवात् । 'संकल्प्य पितृदेवेभ्यः सावित्रीं मधुमज्जपः ।  
भाच्यं निवेद्यापोदानं जुषन्मैषोऽप्य भोजनम् ॥' तथा—'गायत्रीं त्रिः सहस्रादि  
जपेद्वाहाहृतिपूर्विकाम् । मधु वाता इति वृचं मन्त्रित्वेवस्त्रिकं तथा ॥' इति  
पारस्करविश्वचनात् । भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः । तेऽपि ब्राह्मणा चाग्यता  
औनिमो भुञ्जीरन् ॥ २३९ ॥

भाषा—व्याहृतियों के साथ गायत्री का और मधुवाता' भादि वृच का  
जप करके आप लोग भानन्दपूर्वक भोजन करे ऐसी वहे और वे ( ब्राह्मण )  
भी मौन होकर ( भोजन करे ) ॥ २३९ ॥

अन्नमिष्टं हविष्यं च दद्यादक्रोधनोऽस्वयः ।

आ वृत्तेस्तु पयित्राणि जप्त्वा पूर्यजपं तथा ॥ २४० ॥

अन्नं भक्ष्य-भोज्य ऐक्य चोप्य पेयात्मकं पञ्चविधं इदं यद्मातृजाय प्रेताय कर्त्रे वा  
वीचते । हविष्यं आहृदवियोग्यं प्रीतिशालिवन्नोद्धूमसुद्धमापमुष्णकालशाक-  
महाशाकैलाशुंठीमरीचिद्रुगुदककैराकपूरसैन्धवसामरपनसवालिकेरकदलीवदर-  
गन्धपयोदधिघृतपायसमापुमांसप्रभृति स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं वेदितव्यम् । 'हविष्यं'  
हृदयनेत्रनासोद्यस्य स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धस्य क्रोधवमसूरचणककुलित्थपुलाकनिष्पा-  
यतामनापक्वमाणदवोर्ताकदूहतोद्वयोपोदकीयंशाङ्गुरपिप्पलीवचासतपुष्पोपैधविह-  
लवणमाहिपचामरखीरदधिघृतपायसादीनां निवृत्तिः । अक्रोधनः क्रोधहेतुसंभ-  
वेऽपि । अस्वरोऽप्यप्रश्र । आ वृत्तेर्दद्यादिति संबन्धः । 'तु' शब्दाद्यथा किंचिदुचि-  
त्यते तथा दद्यात् ; उपलक्षणस्य दासवर्गभागधेयत्वात्, 'उरुलक्षणं भूमिगतमग्नि-  
हृत्याशठस्य च । दासवर्गस्य तल्पिभ्ये भागधेयं प्रचलते ॥' इति ( ३।२४६ )

मनुस्मरणाय । तथा आ तृप्तेः पवित्राणि पुरुषसूक्तपावमानीप्रभृतीनि जप्या  
वृष्टान् ज्ञात्वा पूर्वोक्तं जपं च सम्याहृतिकामित्युक्तं जपेत् ॥ २४० ॥

भाषा—जो अन्न ( भोजन ) और इन्द्रिय ब्राह्मणों को रुचे उसे ( क्रोध  
का अवसर आने पर भी ) क्रोधरहित एवं धैर्ययुक्त होकर देना चाहिए ।  
जब तक वे तृप्त न हो जाय तब तक ( पुरुष सूक्त पावमानी इत्यादि का )  
जप करे और ( वे तृप्तिपूर्वक भोजन कर ले तो ) ब्याहृतियों सहित पूर्वोक्त  
जप करे ॥ २४० ॥

अन्नमादाय तृप्ताः स्थ शोषं चैवानुमान्य च ।

तदम्नं विकिरेद्भूमौ दद्याद्यापः सकृत्सकृत् ॥ २४१ ॥

अन्नम्नं सर्वं अन्नमादाय 'तृप्ताः स्थ' इति तान्पृष्ट्वा 'तृप्ता' स्म' इति  
तैत्तिः 'शोषमप्यरित किं क्रिवताम्' इति पृष्ट्वा 'इष्टै सहोपभुज्यताम्' इत्य-  
भ्युपगम्य तदम्नं पितृस्थानब्राह्मणस्य पुरस्तादुच्छिष्टसन्निधौ दक्षिणाप्रदर्शनान्तरि-  
सायां भूमौ तिलोच्छक्रप्रक्षेपपूर्वकं—'ये अनिदग्धा' इत्यनवर्षं निश्चित्य पुन-  
रितिच्छिष्टं प्रक्षिपेत् । तदन्नम्नं ब्राह्मणहस्तेषु पिण्डप्रदानम्-गण्डूपायं सकृत्स-  
कृत्सकृत् दद्यात् ॥ २४१ ॥

भाषा—तब सभी अन्न लेकर ( उस ब्राह्मणों से ) 'आप लोग इस हुए'  
देसा पूछकर ( 'हम तृप्त हैं, ऐसा उत्तर पाने पर ), शोष के विषय में भी इसी  
प्रकार आज्ञा लेकर ( 'जो शोष बचा है उसे क्या करें' देसा पूछने पर 'मिथ  
जनों के साथ ग्रहण करो' ऐसी आज्ञा लेकर ) उस अन्न को पृथ्वी पर गिरा  
दे और (ब्राह्मणों के हाथों पर) थोड़ा थोड़ा जल गिरावे ॥ २४१ ॥

सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुपः ।

उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्दद्याद्दक्षिणामुपः ॥ २४२ ॥

पिण्डपितृयज्ञरूपशक्तिदेहेन चरुअपणसद्भावे भग्नीकरणमित्येवदोषेण सह  
सर्वमन्नमुपादायाग्निसंनिधौ पिण्डान्दद्यात् । तदभावे ब्राह्मणार्थं कृतमन्नं  
सर्वमुपादाय सतिलं तिलमिध दक्षिणामुप उच्छिष्टसन्निधौ पिण्डपितृयज्ञरूपेण  
पिण्डान्दद्यात् ॥ २४२ ॥

भाषा—तब तिल के साथ सभी अन्न लेकर दक्षिण की ओर मुप करके  
उच्छिष्ट के निकट पिण्डपितृयज्ञ के समान ही पिण्डा देवे ॥ २४२ ॥

१. प्रक्षिरेत् । २. सार्वभर्गिकमन्न । ३. दद्यादि । ४. सार्वभर्गिकम-  
न्नमुपादाय ।

अक्षय्योदकदानम्—

मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः ।

स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च ॥ २४२ ॥

मातामहानामपि विश्वेदेवावाहनाद्विष्णुप्रदानपर्यन्तं कर्मैवमेव कर्तव्यम् । अनन्तरं ब्राह्मणानामाचमनं दद्यात् । स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यात् 'स्वस्ति मृत' इति ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयेत् । तैश्च 'स्वस्ति' इत्युक्ते 'अक्षय्यमस्तु इति मृत' इति ब्राह्मणहस्तेषूदकदानं कुर्यात् । तैश्चाक्षय्यमस्तिवति वक्ष्यम्यम् ॥ २४३ ॥

भाषा—मातामह आदि के लिये भी ( विश्वेदेव का आवाहन से लेकर विष्णुदान तक के कर्म ) इसी प्रकार होता है, इसके बाद ब्राह्मणों को आचमन करावे, तदुपराभ्य स्वस्तिवाचन करे और ब्राह्मणों के हाथों पर जल देवे और वे तुम्हारा अक्षय्य (सय प्रकार से कल्याण) हो ऐसा आशीर्वाद देवे ॥ २४३ ॥

स्वधावाचनम्—

दत्त्वा तु दक्षिणां शफर्या स्वधाकारमुदाहरेत् ।

वाच्यतामित्यनुधात प्रकृतेभ्यः स्वधोच्यताम् ॥ २४४ ॥

अनन्तरं यथाशक्ति द्विरण्वरजतादिदक्षिणां दत्त्वा 'स्वधां वाचयिष्ये' इत्युक्त्वा तैर्ब्राह्मणैः 'वाचयताम्' इत्यनुधात प्रकृतेभ्यः विनादिभ्यो मातामहादिभ्यश्च 'स्वधोच्यताम्' इति स्वधाकारमुदाहरेत् ॥ २४४ ॥

भाषा—इसके अनन्तर अपनी शक्ति के अनुसार ( ब्राह्मणों को ) दक्षिणा देकर उनसे स्वधावाचन की आज्ञा माँगे । 'स्वधावाचन करो' इस प्रकार की उनसे आज्ञा पाकर पिता आदि या मातामह आदि के लिये स्वधा का उच्चारण करे ॥ २४४ ॥

म्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम् ।

विश्वे देवाश्च प्रीयन्तां विप्रैश्चोक्त इदं जपेत् ॥ २४५ ॥

ते च ब्राह्मणा 'अस्तु स्वधा' इति म्रूयुः । तैरेवमुक्ते अनन्तरं कमण्डलुना उदकं भूमौ सिञ्चेत् । ततो 'विश्वे देवा प्रीयन्ताम्' इति म्रूयात्, ब्राह्मणैश्च 'प्रीयन्ता विश्वे देवा' इत्युक्ते इदमनन्तरोच्यमानं जपेत् ॥ २४५ ॥

भाषा—वे ब्राह्मण भी 'स्वधा हो' ऐसा कहें, उनके ऐसा कहने पर ( कमण्डलु से ) भूमि पर जल ड्रिड़के । तब 'विश्वेदेव प्रसन्न होयें, ऐसा कहे और ब्राह्मणों द्वारा भी ऐसा ही कहने पर भाग्ये वही जाने याटी मार्थना का जप करे ॥ २४५ ॥



ब्राह्मणप्रार्थना—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदा- संततिरेव च । \

श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ २४६ ॥

दातारो हिरण्यादे नोऽस्माकं कुलेऽभिवर्धन्ता बहवो भवन्तु । वेदाश्च चर्धन्ता अभ्ययनाभ्यापनतद्वयंजगनानुष्ठानद्वारेण । सततिश्च पुत्रपौत्रादिपरम्प रया । श्रद्धा च विश्वे कर्मणास्था नोऽस्माक मा व्यगमत् मा गच्छतु । 'न माह्वोते' ( पा ६।४।७४ ) इत्यहंभाव । देय च हिरण्यादि बहु भव्यंस्त अस्माक भवतिवति जपेदित्यर्थं ॥ २४६ ॥

भाषा—हमारे कुल में ( हिरण्य आदि ) क दाता ( दानशील पुत्र ) अनेक हों, ( अभ्ययन अभ्यापन द्वारा ) वेद की और सन्तान ( पुत्र, पौत्र ) की वृद्धि होवे । पितृकर्म ( पितरों की पूजा ) आदि में हमारी श्रद्धा कम न होवे, (सोना आदि) दान देने योग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में बनीं रहें ॥ २४६ ॥

इत्युक्त्वोरथा म्रिया वाच प्रणिपत्य विसर्जयेत् ।

याजे याज इति प्रीत पितृपूर्वं विसर्जनम् ॥ २४७ ॥

एव पूर्वोक्त प्रार्थनामन्त्र जपवा, उक्त्वा च म्रिया वाच 'अग्न्या वयं भवद्द इण्युगलरज पवित्रीकृतमहमन्मिन्दर साकाशशनकलेषामविगणरप भवद्भिरनु-चुहीता वयम्' इत्येकरूपा । प्रणिपत्य मद्रुचिणापूर्वं नमस्कृत्य विसर्जयेत् । यथ विसर्जयेदित्याह—'याजे याजेवत याजिनो न' ( श्र ५।४।५।८ इत्यनवर्षां पितृपूर्वं प्रणिनामहादि विरवेदेवान्त् दर्मा-वारम्भेण 'वसिष्ठेण वितर' इति प्रीत सुप्रीतमत्रा विसर्जनं कुर्यात् ॥ २४७ ॥

भाषा—इस मन्त्र का जप करके, प्रियवचन कह कर ( पितरों को ) प्रणाम करके विसर्जित करे । 'याजे याजेवत याजिनो न' इस मन्त्र के साथ मसग्नचित्त होकर पितरों से आरम्भे करके ( विश्वेदेव तक का ) विमर्जन करना चाहिये ॥ २४७ ॥

यंरिमस्तु संघया पूर्वमेष्यपात्रे निवेदिता ।

पितृपार्थं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत् ॥ २४८ ॥

परिमन्त्रेष्यपात्रे पूर्वमर्ष्यदानान्ते संघया ब्राह्मणहस्तगलिनार्ष्योदकानि निवेदिता स्थापितास्तदेष्यपात्रं न्युञ्ज तदुत्तानमूर्ध्वमुख कृत्वा विप्रान्विसर्ज-

१ देव न । २ इत्युक्त्वा तु । ३ विमर्जयेत् । ४. यंरिमस्ते संघ या पूर्व । ५ पितृपात्रे । ६ दावान तर ते संघया ।

येत् । एतच्चाशीर्मा-अन्नपादूर्ध्वं 'वाजे वाजे' इत्यत्र प्राग्दृष्टव्यम्, 'कृत्वा विसर्ज-  
येत्' इति वस्वाप्रायश्चित्तवशात् ॥ २३८ ॥

भाषा—पहले जिस अर्घ्यपात्र में ( ग्राहकों के हाथों से ) गिरा हुआ  
जल रोप गया था उस गंधे किये गये ) पितृपात्र का मुँह ऊपर करे और  
ग्राहकों को बिदा करे ॥ २३८ ॥

प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुञ्जीत पितृसेवितम् ।

ब्रह्मचारी भवेत्सां तु रजनी ग्राहणैः सह ॥ २३९ ॥

अनन्तरमासीमान्त ग्राहणाननुव्रज्य सै 'गम्यताम्' इत्यनुज्ञातरताम्प्रदक्षि-  
णीकृत्य प्रतिनिवृत्त पितृसेवित आदक्षितमिदं सह भुञ्जीत । नियम एवाय,  
न परिसपदा । 'मासे तु यथाकथि' इति 'द्विनकायया' ( भा० १७९ ) इत्यत्रो  
क्तम् । परिमन्दिने आदक्ष कृत तत्सबन्धिनीं रात्रिं भोक्तृभिर्मांशुने सह कर्ता  
ब्रह्मचारी भवेत् । तुशब्दात् पुनर्भोजनाविहितोऽपि भवेत्, 'इत्तथावनतामृष्ट  
दिनगृहणानमभोजनम् । रक्षीयधपराशानि आदक्षत् सप्त वर्जयेत् ॥ पुनर्भोजन-  
सव्यान् भाराण्यथनमैशुनम् । दान प्रतिग्रहं होम आदक्षुवत्सवत् वर्जयेत् ॥' इति  
वचनात् ॥ २३९ ॥

भाषा—तब ग्राहकों को अपने गाँव की सीमा तक पहुँचा कर उनकी  
आज्ञा मिलने पर प्रदक्षिणा करके लीडे और दूध जलो के साथ अवशिष्ट भक्त  
का भोजन करे । उस रात्रि ग्राहकों के साथ आदक्षकर्ता ब्रह्मचारी होकर  
रहे ॥ २३९ ॥

पुष्य पार्षणश्चात्सुवत्वेदानीं वृद्धिश्चादमाह—

एवं प्रदक्षिणामुत्क्रो वृद्धी नान्दीमुत्पान्पितृन् ।

यजेत दधिर्बर्कन्धुमिध्मापिण्डान्यथै क्रिया ॥ २५० ॥

वृद्धी पुत्रप्रप्तादिनिमित्ते आद्वे एतमुक्तेन प्रकारेण पितृभ्यमेव पूजयेत् ।  
सत्र विरोपमाह—प्रदक्षिणापृष्टक इति । प्रदक्षिणा आहृत्य अनुष्ठानपद्धतिर्व्यासी  
प्रदक्षिणापृष्टक, प्रदक्षिणप्रचार इति यावत् । 'नान्दीमुत्पान्' इति पितृणां  
विशेषणम् । अतश्चावाद्नाद्दी 'नान्दीमुत्पान्' पत्न्यावादिभ्यश्चे नान्दीमुत्पान्पिता  
महान्' इत्यादिप्रयोगो दृश्यते । कथं यथैतेत्याह—दधिर्बर्कन्धुमिध्मा ।  
बर्कन्धुर्बर्करीफलम्, यध्ना यदरीफलेश मिध्मापिण्डान्वावा, 'यजेत' इति  
सवद्व्यते । त्रिलसाप्या सर्वा क्रिया यथै कर्तव्या । अथ च ग्राहणगणना  
दन्तितैव 'सुमा-दैवे यथापत्ति' ( भा० २३७ ) इत्यत्र । प्रदक्षिणापृष्टकादिपरी

गणनमग्न्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां विशेषधर्माणां प्रदर्शनार्थम् । यथाहाश्वला  
यन — 'अथाभ्युदयिके युग्मा ब्राह्मणा अमूला दर्भा प्राह्मुखो यज्ञोपवीती स्या-  
त्प्रदक्षिणमुपचारो यवैस्तिथार्यो गन्वादिदान द्विर्द्वि ऋजुदर्भानासने दद्यात् ।  
'यथाऽसि सोमदेवस्थो गोसवे देवनिर्मित । प्रत्यवद्भि प्रत्त पुष्टया नान्दीमुन्वा  
न्पितृनिर्माह्लाकान्प्रीणयाहि न स्वाहा' इति यवावपनम् । 'विश्वेदेवा इद  
वोऽर्घ्यं, नान्दीमुन्वा पितर इदं वोऽर्घ्यम्' इति यथालिङ्गमर्घ्यदानम् । पाणौ  
होमोऽभनये कस्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहेति । 'मधु वाता  
ऋतायते' ( ऋ स १।६।१८ ) इति स्मृत्युच स्थाने 'उपास्मै गावत' ( ऋ ॥  
१।७।१६ ) इति यज्ञ मधुमती श्रावयेत् । 'अघ्नमीमदन्त' ( ऋ स. १।६।१२ )  
इति यज्ञीम् । आचान्तेषु भुक्ताशयान्गोमघेनोपलिष्व प्राचीनाप्रा-दर्भान्तरत्तार्थं  
तेषु पृथग्गवमिधेण भुक्तमेघेणैकैकस्य द्वौ द्वौ पिण्डी दद्यादिरयादि । यद्यपि  
'पितृभ्यजेत' इति सामान्येनोक्त, तथापि आह्वय कर्मस्य स्मृत्यन्तरात्  
गन्तव्य । यथाह आतातप — 'मातु आह्व तु पूर्वं स्वारिपतृणां तदनन्तरम् ।  
ततो मातामहानां च घृही आह्वय स्मृतम् ॥' इति ॥ २५० ॥

भाषा—पुत्रजन्म आदि प्रसन्नता क अवसर पर भी इसी प्रकार माग्दी  
मुख पितरों क लिये दाहिनी ओर से आरम्भ करके पूजन करना चाहिये ।  
दही, बदरीफल मिश्रित पिण्ड देना चाहिये और ( तिल से की जाने वाली )  
क्रियाएँ पक्ष से की जानी चाहिये ॥ २५० ॥

एकोद्दिष्टमाह—

एकोद्दिष्टं देवहीनमेकार्घ्यकपविश्रकम् ।

आयाहनाग्नीकरणरहितं ह्यपसव्यवत् ॥ २५१ ॥

एकोद्दिष्ट एक उद्दिष्टो पस्मिन् आद्ये तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम् । 'सोप  
पूर्ववदाचरेत्' ( भा० २५४ ) इत्युपसहारात् । पार्वणसकल्परमप्राप्तौ विशेषेऽभि  
धायते । देवहीन देवरहित वैश्वदेवरहित एकार्घ्यपात्रमेकधर्मपविश्रक ॥ आयाह  
नाग्नीकरणहोमेन च रहितम् । अपसव्यवत् प्राचीनावीतनस्यसूत्रवत् । अनेना  
नन्तररलोकान्भ्युदयिक यज्ञोपवीतित्व सूचयति ॥ २५१ ॥

भाषा—एकोद्दिष्ट नाम का कर्म बिना विशेषदेव क एक अर्घ्यपात्र से  
एक कुशपवित्र से किया जाता है, हममें आयाहन और आग्नीकरण नहीं होता  
पक्ष प्राचीनावीत ( होके दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत करके ) दिया  
जाता है ॥ २५१ ॥

उपतिष्ठतामक्षयस्थाने विप्रविसर्जने ।

अभिरम्यनामिति वदेव्मयुस्तेऽभिरताः स्म ह ॥ २५२ ॥

किंच, यदुक्तं (भा० २४३)—‘स्वस्तिवाप्यं ततः कुर्यादक्षयोदकमेव च’ इति तत्राक्षयस्थान उपतिष्ठतामिति वदेत् । विप्रविसर्जने कर्तव्ये ‘वात्रे वात्रे’ इति अपानन्तरं ‘दर्मान्वाग्भोग अभिरम्यताम्’ इति श्रूयात् । ते च ‘अभिरताः स्मः’ इति श्रूयुः । ॥ इति प्रसिद्धौ । शेषं पूर्ववदिति यावत् । एतच्च मन्वाहो कर्तव्यम्, यथाह देवळः—‘पूर्वाह्ने वैभिकं कर्म अपराह्ने तु पैशुकम् । एकोहिष्टं तु मन्वाहो प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥’ इति । ‘भुञ्जीत रिश्वसेवितम्’ (भा० २४९) इत्येकोहिष्टविशेषे विशेषो दृश्यते—‘नवध्राद्धेषु यत्किञ्चिद् गृह्ये पशुपित्तं च यत् । धंपरयोर्भुक्तशिष्टं च न भुञ्जीत कदाचन ॥’ इति । नवध्राद्धं च दर्शितम्—‘प्रथमेऽह्नि तृतीयेऽह्नि पञ्चमे सप्तमे तथा । नवमैकादशे चैव तत्रवध्राद्धमुच्यते ॥’ इति ॥ २५२ ॥

भाषा—अक्षययोदक के समय उपतिष्ठताम् (‘आप लोग बैठे’) पैता कहें । प्राह्णगो के विमर्जन के समय ‘अभिरम्यताम्’ (‘आप लोग आनन्दित हों’) कहे । ये (प्राह्णग) भी हम आनन्दित हुए (अभिरताः) कहें ॥ २५२ ॥

सविण्डीकरणमाह—

गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम् ।

अर्घ्यांश्च पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत् ॥ २५३ ॥

ये समाना इति आर्घ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।

एतरसविण्डीकरणमेकोहिष्टं श्रिया अपि ॥ २५४ ॥

गन्धोदकतिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयं अर्घ्यसिद्धयर्थं पूर्वोक्तविधिना कुर्यात् । तिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयमिति वदन्ना पितृवर्गं चत्वारो ब्राह्मणा दर्शिताः । वैश्वदेवे द्वौ स्थितावेष । अत्र प्रेतपात्रोदकं किञ्चिदवशेषं शिष्या विभज्य पितृपात्रेषु सेचयेत् ‘ये समानाः समनमः’ इति आर्घ्यां मन्त्रश्रूयाम् । शेषं विरवेदेवावाहनाद्विसर्जनात् पूर्ववत्पार्वण्यदाचरेत् । प्रेतार्घ्यपात्रावशिष्टोदकेन प्रेतरघान-प्राह्णगहस्तेऽर्घ्यं दात्वा शेषमेकोहिष्टवत्समापयेत् । पित्र्येषु शिषु पार्वण्यदेश । एतत्सविण्डीकरणमनन्तरोत्तमेकोहिष्टे च ततः प्रायुक्तं शिष्या अपि मानुरपि कर्तव्यम् । एवं वदन्ना पार्वणे मानुश्राद्धं पूषणकर्मस्यमित्युक्तं भवति । अत्र ‘प्रेत’शब्दं शिषुः प्रदिनामद्विषय केचिद्भङ्गवन्ति; तस्य त्रिष्यन्तभावेन सविण्डीकरणोत्तरकालं विण्डीनान्निवृत्त्युपपत्तेः । समनन्तरं गृह्यस्य मूलप्र विण्डी-

कदानानुवृत्तैरन्तर्भावो न युक्त । अत एवाह यम — 'य सपिण्डीकृत प्रेत  
 पृथक्पिण्डे नियोजयत् । विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥' इति  
 प्रकृषेण ह्यन गतो प्रेत इति चतुर्थेऽपि 'प्रेत'शब्दोपपत्त । 'प्रेतेभ्य एव निपृणी-  
 यात्' इति च प्रयोगदर्शनात् । अवि च—'सपिण्डीकरण आद्य दवपूर्वं  
 नियोजयेत् । पितृनेवाशयेष्वत्र पुन प्रेत न निर्दिशेत् ॥' इति सपिण्डीकरणो-  
 च्चरकाल प्रेतस्य आद्यादिप्रतिषेधो दृश्यते, स चान-तरमृतस्य न सम्भवति,  
 अमावास्यादौ आद्यविधानात् । 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिरर्तते'  
 ( मनु ५।१० ) इत्येतदपि वचन चतुर्थेऽपि त्रिष्वन्तर्भाव एव धरते, 'चतुर्थस्य  
 पिण्डप्रवक्ष्यापितृषु, पञ्चमस्य पिण्डद्वयव्यापितृषु, षष्ठस्यैकपिण्डव्यापितृषु, सप्तमे  
 निवृत्तिः' इति १ पितृपात्रेष्वित्येतदपि पितृमुच्यतेत्यादिस्मिन्-नेव पक्षे घटते, ना-य-  
 था, प्रपितामहप्रमुखात्वात् । तस्मात्पितृपात्रेषु तत्प्रतपात्र प्रसेचयेदिति पितृ  
 प्रपितामहपात्र विभ्रादिपात्रेषु प्रसेचयेदिति,—तदुक्तम् । नद्यत्र पिण्डतपोजन-  
 मुत्तरत्र पिण्डदानादिनिवृत्तिप्रयोजकम्, अवि तु पितृ प्रतस्वनिवृत्त्या पितृत्व-  
 प्राणपर्यम् । प्रेतस्य च सुप्तज्योषजमित्याय-तदु ज्ञानुमवावस्था । यथाह  
 मार्कण्डेय — 'प्रेतलोक तु वसतिर्जुना वर्षं प्रकीर्तिता । सुप्तज्यो प्रत्यह तत्र भवेतां  
 शृगुनन्दन ॥' इति । पितृश्रमसिद्धि वरवादिधादरेवतासबन्ध । प्राक्तनैकोद्दि-  
 सहितेन सपिण्डीकरणेन प्रेतत्वनिवृत्त्या पितृत्व प्राप्नोतीत्यवगत्यते—'वस्यैतानि  
 न वृत्तानि प्रेतशादानि षोडश । प्रेतत्व सुरिपर तस्य दृष्टे आद्यसर्तैरपि ॥' इति ।  
 तथा—'चतुरो निवसेरिण्डान्-पूर्वं तेषु समावयेत् । तत्र प्रभृति वै प्रेत पितृमा-  
 मा यमरजुते ॥' इत्यादिवचनात् । य सपिण्डीकृते प्रेतम्' इत्यनेनापि पृथगे  
 काद्दिष्टविधानेन पिण्डदाननिषेधात्पार्वणविधानेन सह पिण्डदानमवगत्यते ।  
 सद्य सावत्सरिकपात्रिकैकोद्दिष्टविधानेनापोद्यते । अत्रि 'पुन प्रेत न निर्दिशेत्'  
 इति, तदपि प्रेतशब्द नोच्चारयेत्, अवि तु पितृशब्दमेवेत्येवमर्थम् । नच प्रकृतं  
 शमनात्प्रैव 'प्रेत'शब्द । यतो विशिष्टदु ज्ञानुमवावस्था 'प्रेत'शब्देन स्ववा-  
 मिधीयत इत्युक्तम् । सोऽपि प्रतीतमात्रे प्रेतशब्दप्रयोग सोऽपि भूतपूर्वगत्या ।  
 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिरर्तते' इति च प्रथमस्य पिण्डस्य चतुर्थेऽपि  
 यात्, द्वितीयस्य पञ्चमव्यापितृयात्, तृतीयस्य षष्ठव्यापितृयात्, 'सप्तमे विनि-  
 र्तते' इत्येवमपि घटते । अवि च निर्वाच्यपिण्डान्त्वयेन न स्यात्पिण्डव, अंशवा  
 पकरवात्, अवि श्वेकशरीरावयवा-वयेनेत्युक्तम् । पितृशब्दश्च प्रेतत्वनिवृत्त्या  
 आद्यदेवसोभ्यगतेषु घटत इति पितृपात्रेष्वित्यवबिहज्यम् । तस्माद्भूतताचार्येण

१ समानवेत् समापयत । २ एतत्त्व । ३ विधानेभ्योऽप्ययने  
 विधानापोपवाद्यते । ४ अस्यापितृयात्पि तु । ५ देवतामुपगमनम् ।

पूर्वपक्षद्वारेण परमत दर्शितमित्यर्थः । मृतपात्रोदकस्य तरिपण्डस्य च पितृपात्रेषु तरिपण्डेषु च मसज्जनमिति स्थितम् । आचार्यस्तु परमतमेवोपन्यस्तवान् । एतच्च पितृ सपिण्डीकरण वितामहादिषु त्रिषु प्रमीतेषु चदितव्यम् । पितरि प्रेते पितामहे प्रपितामहे वा जीवति सपिण्डीकरण नास्त्येव, 'श्रुत्क्रमाच्च प्रमीतानां नैव कार्या सपिण्डता' इति वचनात् । यत्तु मनुवचन ( ३।२२। ) 'पिता यस्य निवृत्त स्याज्जीवेद्वापि पितामहः । पितु स नाम सकीर्यं कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥' इति, तदपि शब्दप्रयोगनिश्चयात् न पिण्डद्वयदानार्थम् । कथम् ? 'श्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् । पिता यस्य तु वृत्त स्याज्जीवेद्वापि पितामहः ॥' सोऽपि पूर्वेषामेव निर्वपेदित्येव । पक्षद्वयेऽपि कथं निर्वपेदित्याह—'पितु स नाम सकीर्यं कीर्तयेत्प्रपितामहम्' ( मनु ३।२२०-२१ ) इत्याद्यन्तग्रहणेन सर्वत्र निवृत्त्य, पितामहेभ्य, प्रपितामहेभ्य इत्येव प्रयोग, न पुन कदाचिदपि पितामहस्य प्रपितामहस्य वाऽऽदिःव वृद्ध-प्रपितामहस्य तरिपण्डुर्वाऽ-तत्त्वम् । अतश्च पितादिशब्दानां सर्वत्रवचन-त्वात् श्रियमाणेऽपि पितरि पितु पितृभ्य वितामहेभ्य प्रपितामहेभ्य इति, पितामहे श्रियमाणे पितामहस्य पितृभ्य वितामहेभ्य प्रपितामहेभ्य इति । अतश्च पिण्डपितृयज्ञे 'श्रुत्क्रमाच्च पिता' इत्यादिमन्त्राणामूक्तौ न भविष्यति । यद्यपि विष्णुयज्ञे 'यस्य पिता प्रेत स्यात्स पितृपिण्ड निधाय वितामहापरा इवा द्वाभ्यां दद्यात्' इति, तस्यादमर्थ—पितामहे श्रियमाणे प्रेत च पितरि पितुरेक पिण्डमेकोद्दिष्टविधानेन निधाय पितुर्यं वितामहस्तत पराभ्या द्वाभ्यां दद्यात् । पितामहस्यात्मन प्रपितामह सप्रदानभूत स्थित एवम् । प्रपिता महाय तत पराभ्यां द्वाभ्या च दद्यादिति । शब्दप्रयोगनियमस्तु पूर्वोक्त एव । एव गोब्राह्मणादिहतस्थापि सपिण्डीकरणाभावो वेदितव्यः । यथाह कात्यायन—'ब्राह्मणादिहते ताते पतिते सगर्भजिते । श्रुत्क्रमाच्च मृते देय वेभ्य एव दद्यात्पत्नी ॥' इति । गोब्राह्मणहतस्य पितु सपिण्डीकरणसमये तमुक्तव्यं पिता-महादिभ्य पाषाणविधानमनुपपन्नमिति सपिण्डीकरणाभावोऽवगम्यते । स्मृत्यन्त-रेऽपि—'ये नरा सप्तति-स्रुद्धा नारित तेषा सपिण्डता । न चेत्तै सह कर्तव्या-न्मेकोद्दिष्टानि योऽश ॥' इति । मातु सपिण्डनादौ गोत्रे विप्रतिपत्तिः ; भर्तृगो-त्रेण पितृगोत्रेण वा दातव्यमिति उभयत्र वचनवर्षनात् । 'स्वगोत्राद्भरयते नारी विवाहात्सप्तमे पदे । स्वामिगोत्रेण कर्तव्या तस्या पिण्डोदकक्रिया ॥' इत्यादि-भर्तृगोत्रविषय वचनम्, 'पितृगोत्र समुत्सृज्य न सुर्वाद्भर्तृगोत्रत । जन्मन्येव विपत्तौ च नारीणां पैतृक कुलम् ॥' इत्यादिपितृगोत्रविषयम् । एव विप्रतिपत्ता-

वासुरादिविवाहेषु पुत्रिकाकरणे च पितृगोत्रमेव, तत्र तत्र विशेषवचनात् दान  
स्यानिवृत्तेश्च । ब्राह्मादिविवाहेषु त्रीदिव्यवत्तु वृद्धप्रथन्तरसामवत् विकल्प एव ।  
तत्र च—'येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा । तेन यायास्तता मार्गं  
तेन गच्छन्तु दुःपति ॥' इति ( मनु ४।१७८ ) वचनात् वशपरम्परायात्समा-  
चरणेन व्यवस्था । एवविधिविषयव्यतिरेकणास्य वचनस्य विषया-न्तराभावात् ।  
यत्र पुन शास्त्रतो न व्यवस्था, जात्याचारस्तत्र 'आत्मनस्तुष्टिरेव च' इति व-  
नादात्मनस्तुष्टिरेव व्यवस्थापिका, यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे चाष्टे'(भा० १४) इति ।  
( यज्ञ ) मातु सविण्डोकरणेऽपि 'विहृद्धानि वाक्त्वानि हरन्ते, तत्र पितामहा-  
दिभि सार्धं सविण्डोकरणं स्मृतम्' । तथा भर्त्रापि भार्वाद्या स्वमात्रादिभि सह  
सविण्डोकरणं कर्तव्यमिति पैठीन्यमिराह—'अपुत्राया स्मृतार्था तु पति कुर्यात्स-  
विण्डनाम् । अहवादिभि सहैवास्या सविण्डोकरणं भवेत् ॥' इति । पर्या सह  
सविण्डोकरणं यम आह—'पत्या चेकेन कर्तव्यं सविण्डोकरणं स्त्रियाः । सा  
स्त्रियापि हि तेनैव्य गता मन्त्राहुतिपते ॥' इति । उक्तमसा तु मातामहेन सह  
सविण्डोकरणं स्मृतम्—'पितु पितामहे यद्वापूर्णे सवस्तरे सुते । मातुर्मातामहे  
तद्देवा कार्या सविण्डता ॥' तथा—'पिता पितामहे योग्य पूर्णे सवस्तरे सुते ।  
माता मातामहे तद्विदित्याह भगवाञ्छिव ॥' इत्येवविधेषु वचनेषु ससु अपुत्रार्था  
भर्त्राया प्रतीत्याया भर्ता स्वमात्रैव साविण्डव्य कुर्यात् । अन्वारोहणे तु पुत्र  
स्वपित्रैव मातु साविण्डव्य कुर्यात् । आसुगदिविवाहोत्पन्न पुत्रिकासुगम्य माताम-  
हेनैव । ब्राह्मादिविवाहोत्पन्न पित्रा मातामहेन पितामहा वा विकल्पेन कुर्यात् ।  
अत्रापि यदि नियतो वशसमाचारस्तदानीं तथैव कुर्यात् । वशसमाचारोऽप्यनि-  
यतश्चेत्तदा 'आत्मनस्तुष्टिरेव च' इति यथावधि कुर्यात् । तत्र च देन केनापि  
मातु सविण्डोऽपि यत्रान्यत्रैकान्येषु मन्त्राद् पृथग्विहितम्,—'अन्यत्रैकान्येषु  
सूत्री च गद्यायां च सहोऽहनि । मातु धाद् पृथुर्कुर्यादप्यत्र पतिना सह ॥' इति,  
तत्र पितामहादिभिरेव पार्श्वेणाद् कर्तव्यम्, 'अन्यत्र पतिना सह' इति पतिना  
विण्डये तदशमागित्वात् । मातामहासाविण्डव्य तदशमागित्वात्तेनैव सह । यथाह  
शातातप —'एकमूर्तिस्वमायाति सविण्डोकरणे कृत । पत्नी पतिपितृणां च तस्मा-  
ददोन भागिनी ॥' इति । एव सति मातामहेन मातु सविण्डवे मातामहाद्  
पितृधादवहितमेव । पर्या पितामहा वा मातु साविण्डवे मातामहाद् न  
निरयम् । कृते अयुक्त, अकृते न प्रत्यवाय इति निर्णय ॥ २५३-२५४ ॥

भाषा—गन्ध, जल और तिल से युक्त चार पात्र अर्घ्य के लिए बनाना  
चाहिए । 'ये समाना समनस,' इत्यादि दो मन्त्रों से प्रेत पात्र का जल पितृ-

पार्श्वे में ( तीन भाग करके ) छोड़े । जोप कर्म पहले के समान ही करे । इस कर्म को सपिण्डीकरण कहते हैं । एकोदश कर्म स्त्री के लिए भी किया जाता है ॥ २५३-२५४ ॥

अर्धाक्सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत् ।

तस्याप्यन्नं सोढकुम्भं देद्यात्संवत्सरं द्विजे ॥ २५५ ॥

संवत्सरादर्धाक् सपिण्डीकरणं यस्य कृतं तस्य तदुद्देशेन प्रतिदिवसं प्रतिमासं वा वासासंवत्सरे वाशयनुसारेणात्ममुदकृम्भसहितं ब्राह्मणाय दद्यात् । 'अर्धाक्ष-  
वत्सरात्' इति यदा सपिण्डीकरणं संवत्सरे पूर्णं प्रायेति दर्शितम् । यथा-  
हाश्रुलायनः ( १।३।१ )—'अथ सपिण्डीकरणं संवत्सरात्ते द्वादशाहे वा' इति ।  
कात्यायनोऽप्याह ( ३।३।१ )—'ततः संवत्सरे पूर्णं सपिण्डीकरणं त्रिपचे वा  
यदहर्वा वृद्धिरापच'ते' इति । द्वादशाहे, त्रिपचे, वृद्धिपक्षौ, संवत्सरे वेति चत्वारः  
पक्षा दर्शिताः । तत्र द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणं मासिकेन कार्यम् ; सपिण्डी-  
करणं दिना विण्ढवितृष्यशासिते; 'साप्तिकस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यभिमानयेत् ।  
द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुः ॥' इति वचनात् । निरमिकस्तु त्रिपचे  
वृद्धिपक्षौ संवत्सरे वा कुर्यात् । यदा प्राक्संवासात्सपिण्डीकरणं तदा पंचदश-  
श्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरणं कार्यम्, ततः सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वस्वकाले तानि  
कर्तव्यानीति संशयः; उभयथा वचनदर्शनात्, 'ब्राह्मणि षोडशादशवा नैव कुर्या-  
त्सपिण्डीकरणम् । श्राद्धानि षोडशावाच विदुषोऽपि सपिण्डीकरणम् ॥' इति । षोडशाश्रा-  
द्धानि च—'द्वादशाहे त्रिपचे च पण्चमासे मासि चाग्निदके । ब्राह्मणि षोडशैतानि  
संस्मृतानि मनीषिभिः ॥' इति दर्शितानि । तथा—'यस्यापि वासरावर्षावस-  
पिण्डीकरणं भवेत् । मासिकं सोढकुम्भं च देयं तस्यापि वासरात् ॥' इति । तत्र  
सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाले कुर्यात् इति प्रथमः वचनः, अप्रासङ्ग-  
त्वेन प्रागनधिकारात् । यद्यपि वचनं—'षोडशश्राद्धानि कुर्यात् सपिण्डीकरणं संव-  
त्सरात्प्रागपि कर्तव्यम्' इति, सोऽयमापरवचनः । यदा एवापरवचनेन प्राक्सपि-  
ण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति, तदेकोदशविधानेन कुर्यात् । यदा तु मुख्य-  
वचनेन स्वकाले एव करोति तदाच्छिर्कं श्राद्धं यो यथा करोति पार्वणमेकोदशं वा  
तथा मासिकानि कुर्यात् ; 'सपिण्डीकरणादर्धाक्षुर्वन् श्राद्धानि षोडश । एकोदश-  
विधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि ॥ ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः ।  
प्रायश्चदं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स तान्यपि ॥' इति स्मरणात् । एतच्च प्रेतश्रा-  
द्धसहितं सपिण्डीकरणं संविभक्तघनेषु बहुषु श्राद्धेषु सस्वप्येकेनैव कृतेनालं, न  
सर्वैः कर्तव्यम् ; 'नवश्राद्धं सपिण्डीकरणं श्राद्धमपि च षोडश । एकेनैव तु



कार्याणि सविमन्वधनेष्वपि ॥' इति स्मरणात् । इदं च प्रेतध्यातृसहित सविष्ठी करण असन्वासिनी पुत्रादिभिर्नियमेन कर्तव्यम् , प्रेतत्वविमोक्षार्थत्वात् सन्वासिनी तु न कर्तव्यम् । यथाहोशना—'एकोद्विष्ट न कुर्वीत यतीनां चैव सर्वदा । अहन्नेकादशे प्राप्ते पार्वण तु विधीयते ॥ सविष्ठीकरण तेषां न कर्तव्यं सुतादिभिः । अिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्व नैव जायते ॥' इति पुत्रासनिधाने वेन सगोत्रादिना द्वाहसरकार कृतरतेनैवादशाहान्त तत्प्रेतकर्म कर्तव्यम्—'असगोत्र सगोत्रो वा स्त्री वृषाद्यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो वृषात्स दशाह समाप यत् ॥' इति स्मरणात् । शूद्राणामप्येतत्कर्म-यमम-प्रक द्वादशोऽह्नि— एव सविष्ठीकरण स-अवयर्थं शूद्राणां द्वादशोऽह्नि'इति विष्णुस्मरणात् । सविष्ठीकरणादूर्ध्वं सांख्यसरिकपार्थगात्रीणि पुत्रस्य निधनेनैव कार्याणि, अ-यथासक्तियत्नाणि ॥२५५॥

भाषा—जित ( द्विज का ) सविष्ठीकरण एक वर्ष की अवधि के पूर्व ही हुआ हो तो उसक लिए प्रत्येक दिन और प्रत्येक मास में एक वर्ष तक शक्ति के अनुसार एक घड़े जल के साथ अन्न ब्राह्मण को देना चाहिये ॥ २५५ ॥

एकोद्विष्टकालाहा—

मृतेऽहनि प्रकर्तव्यं प्रतिमासं तु वरसरम् ।

प्रतिसवरसरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ २५६ ॥

मृतेऽहनि प्रतिमास सवरसर यावदेकोद्विष्टकार्यम् । सविष्ठीकरणदूर्ध्वं प्रति सवरसरमेकोद्विष्टमेव कर्तव्यम् । आद्य सर्वैकोद्विष्टप्रकृतिभूतमेकोद्विष्टमेकादशेऽहनि । मृतविधवापरिज्ञाने सञ्ज्वलणदिवसे अमावास्याया वा कार्यम् । 'अपरिज्ञाते मृते ऽहनि अमावास्यायां धवणदिवसे वा'इति स्मरणात् । अमावास्यायामिति शमन माससन्धि-धर्म्यमावास्यायाम्—'प्रवासदिवसे देव त-मासेन्दुचयेऽपि वा' इति स्मरणात् । 'मृतेऽहनि'इत्यग्राहिताग्नेर्विशेषो जातृकवर्षेभ्योक्त — ऊर्ध्वं त्रिपचाद्य षष्ठाद् मृतेऽह-वेव तद्भवेत् । अधस्तु कारयद्वाहादाहिताग्नेर्विज-मन ॥' इति । तत्र त्रिपचाद्वाभ्यग्नेसकर्म तद्दाहदिवसादाग्नेयाहिताग्ने कार्यम् , त्रिपचादूर्ध्वं षष्ठाद् त-मरणदिवस एवेत्यर्थं । अनाहिताग्नेस्तु सर्वं मृताह एव । 'आद्यमेका दशेऽहनि'इत्या<sup>३</sup> शौचोपलक्षणमिति कथित् ; 'शुचिना कर्म कर्तव्य' इति शुद्ध-रत्नवात् , 'अथा शौचापगमे (२११) इति सामान्येन सर्वेषां वर्णानामुपक्रम्यै कोद्विष्टस्य विष्णुना विहितत्वात् । तदयुक्तम्—'एकादशेऽह्नि यत्सू द तासा मा-यमुदाहृतम् । अतुर्गामिषि वर्णानां मृतके च पृथक्पृथक् ॥'इति पैटीनसिस्मरण विरोधात् , 'आद्य अह्नामशुद्धोऽपि कुर्वादेकादशेऽहनि । कर्तुंस्तारकाळिकी शुद्धि

रशुदः पुनरेव सः ॥' इति शत्रुवचनविरोधात्तत् । सामान्योपक्रमं विष्णुवचनं  
 दशाहाशीचविषयमपि घटते । 'प्रतिसंवासरं चैवम्' इति प्रतिसंवासरं मृतेऽह-  
 न्येकोद्दिष्टमुपदिष्टं योगोच्यते । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वर्षे वर्षे तु कर्तव्या  
 मातापितोस्तु सति क्रिया । अद्वैतं मोक्षवेत्तुं ह्यहं पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥' इति । यमो-  
 ऽप्याह—'सविण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवासरं सुतैः । मातापित्रोः पृथक् ऋमेको-  
 दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति व्यासस्तु पार्वणं प्रतिषेधति—'एकोद्दिष्टं परिष्यज्य पार्वणं  
 कुर्वते नरः । अकृतं तद्विजानीयात्सं भवेत्पितृघातकः ॥' इति । जमदग्निस्तु पार्वण-  
 माह—'आपाद्य च सविण्डीकरणात्सो विविधास्तुतः । कुर्वीत दर्शवत्पूजां माता-  
 पित्रोः ज्येऽहनि ॥' इति । ज्ञातास्योऽप्याह—'सविण्डीकरणं कृत्वा कुर्वाणपार्वण-  
 चासदा । प्रतिसंवासरं विद्वांस्रजालेद्योदितो विधिः ॥' इति । एवं वचनविप्रति-  
 पत्तौ दक्षिणाश्रया षोडशं व्यवस्थामाहुः—'अथैतन्नश्रयां मातापित्रोः ज्येऽह-  
 न्ये पार्वणमेव कर्तव्यं, दत्तकादिभिरेकोद्दिष्टम्' इति; ज्ञातृकर्तव्यवचनात् 'प्रायश्च-  
 द्पार्वणेनैव विधिना ज्येऽहनि । कुर्वातामितरे कुर्पुरेकोद्दिष्टं सुतः दश ॥' इति,—  
 तदसत् । नद्यत्र ज्येऽहयचनमस्ति, अपि तु प्रायश्चदमिति । सन्ति च ज्येऽहय-  
 तिरिक्तानि प्रायश्चदधान्यस्यवत्तृतीयायामाधोवैशाखीप्रभृतिषु । असौ न ज्येऽह-  
 यविषयपार्वणैकोद्दिष्टव्यवस्थापनयाऽलम् । एषु पराशरवचनम्—'विदुर्गतस्य देव-  
 शमोरसस्य त्रिषीदपम् । सर्वश्रानेकगोश्रानामेकस्यैव मृतेऽहनि ॥ इति,—तदपि न  
 व्यवस्थापकम् । परमाद्यमर्थः—'देवत्वं यतस्य सविण्डीकरणस्य विदुः सर्वश्रान-  
 स्तेन त्रिषीदपं पार्वणं कर्तव्यम्, अनेकगोश्रानां मिश्रतोश्रानां यातुसादीनां ज्येऽहनि  
 यच्छ्राद्धं तदेकस्यैकोद्दिष्टमेवेति । किञ्च, 'सविण्डीकरणादूर्ध्वमप्येकोद्दिष्टमेव कर्त-  
 व्यमीरक्षेतापि हस्तुक्तं वैधीनसिना—'एकोद्दिष्टं हि कर्तव्यमीरक्षेन मृतेऽहनि ।  
 सविण्डीकरणादूर्ध्वं मातापित्रोर्न पार्वणम् ॥' इति । उदीच्याः पुनरेवं व्यवस्था-  
 पयन्ति—'अमावास्यायां भाद्रपदकृष्णपक्षे त्वास्तुताहे पार्वणम्, अन्यत्र मृताहे  
 पुनोद्दिष्टमेवेति; 'अमावास्यापक्षे चरय प्रेतपक्षेऽथवा पुनः । पार्वणं तत्र कर्तव्यं  
 नैकोद्दिष्टं कदाचन ॥' इति रमरणात् । तदपि भाद्रियन्ते युदाः । अनिश्चितमूले-  
 नानेन वचनेन निश्चितमूलानां वदुनां ज्येऽहमात्रपार्वणविषयाणां वचनानामनाश-  
 र्याप्रेतपक्षमृताहविषयाद्येनातिमर्कौचं श्यायुक्तात्वात्, सामान्यवचनानर्थनशात् ।  
 तत्र हि सामान्यवचनस्य विशेषवचनेनोपसंहारः, यत्र सामान्यविशेषसंघञ्जानेन  
 वचनद्वयमार्थवत् । यथा 'भस्मदश सामिषेणोरनुप्रश्नात्' इत्यन्वयवार्थात्तरप विकृ-  
 तिमात्रविषयस्य सप्तदशवाक्यस्य सामिषेणोरनुप्रश्नात् संवन्धेनार्थवत्तो मिश्र-

१. पृथक्कुर्वीत । २. जानीयात्तदेव । ३. संकोचः श्यादिसुप्रशयात् ।

विन्दादिप्रकरणपठितेन साप्तदशवाक्येन मित्रविन्दाद्यधिकारापूर्वसवन्धबोधनार्थवत्ता मित्रविन्दादिप्रकरण उपसहार । इह तु द्वयोर्भूताहमात्रविषयवाच्यार्थवत्तेति । अतोऽत्र पार्श्विकैकोद्दिष्टनिर्वृत्तिफलकतया पार्वणनियमविधानं युक्तम् । नचैकोद्दिष्टवचनानां मातापितृव्याहविषयत्वेन पार्वणवचनानां च तद्व्यवहाराहविषयत्वेन व्यवस्था युक्ता, तन्नयत्रापि मातापितृसुतग्रहणस्य विद्यमानत्वात्—  
 'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसवस्तरं सुते । मातापित्रो पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति, तथा—'भाषाद्य सहपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुत । कुर्वीत दशवत्पूजां मातापित्रो चयेऽहनि ॥' इति । यद्यपि कैश्चिदुच्यते—मातापित्रो जयाहे सारिनः पार्वणं कुर्वीतत्रिरेकोद्दिष्टमिति,—'वर्षे वर्षे सुतं कुर्वीतपार्वणं योऽग्निमान्दिङ्गः । पित्रोरनभिसाम्भोर एकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति सुमन्त्रस्मरणादिति,—तदपि सप्तप्रतिपक्षवाहुषेजसोयम्, बह्वनयस्तु ये विप्रा ये चैकानय एव च । तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥' इति स्मरणात् । तत्रैव निर्णय—सम्याग्निना जयाहे सुतेन पार्वणमेव कर्तव्यम्, 'एकोद्दिष्टं पतेनास्ति त्रिदण्डग्रहणादिह । सपिण्डीकरणाभावात्पार्वणं तस्य सर्वदा ॥' इति प्रथेत स्मरणात् । अभावात्प्राजयाहे प्रेतपक्षजयाहे च पार्वणमेव, 'अभावात्प्राजयो यस्य प्रेतपक्षेऽयत्र पुन' ( लघुशल १७ ) इत्यादिवचनस्योक्तरीत्या नियमपरात्वात् । अत्र जयाहे पार्वणैकोद्दिष्टयोर्भेदविषयवद्विवक्ष्य एव । तथापि यदासमाचारपरधर्मायां सव्यां व्यवस्थिते, अस्यामैन्द्रिक इत्यलमतिप्रसंगेन ॥

भाषा—( एकोद्दिष्टं कर्म ) एक वर्षं तक प्रत्येक महीने में मृत्यु की तिथि को करना चाहिए तथा प्रत्येक वर्ष में करना चाहिए । प्रथम एकोद्दिष्ट कर्म मृत्यु के ग्यारहवें दिन होता है ॥ २५६ ॥

निरपभ्रातृभ्यतिरिक्तसर्वभ्रातृशेषमिदमभिधीयते—

पिण्डास्तु गांऽजविशेष्यो दद्याद्गनौ जलेऽपि वा ।  
 प्रक्षिपेरस्तसु विप्रेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥ २५७ ॥

पूर्वदत्तानां पिण्डानां पिण्डस्य वा प्रतिपक्षिरियम् गवे, अजाय, ब्राह्मणाय वा तदधिने पिण्डान्दत्तात् । अग्रायगाथे जलेऽपि वा प्रक्षिपेत् । किंच तस्यु विप्रेषु भोजनदेशावस्थितेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥ २५७ ॥

भाषा—पिण्डं गाय, बकरा ब्राह्मण के लिये अथवा अग्नि या जल में देना चाहिए । ब्राह्मणों के ( भोजन स्थान पर ) होने पर उनके उरिष्ठ को नहीं साटना चाहिए ॥ २५७ ॥

भोज्यविशेषण फलविशेषमाह—

द्विविध्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वस्तरम् ।  
 मासस्यहारिणकौरघ्नशकुनच्छायपार्थतैः ॥ २५८ ॥

ऐणरौरघघाराहशाशोमौसैर्यथाक्रमम् ।

मासवृद्ध्यामितृष्यन्ति दत्तैरिह पितामहा ॥ २५९ ॥

हविष्य हविर्योग्य तिलगोद्यादि । यथाह मनु ( ३।२६७ )—‘तिलैर्गोहि-  
पवैर्भापैरद्भिर्मूलफलैः पा । दत्तन मास तृष्यन्ति विधिवरिपतरो नृणाम् ॥’  
इति । तदन्त हविष्यान्त तेन मास पितरस्तृष्यन्तीत्यनागत्येना-वय । पायसेन  
गव्यपय सिद्धेन सवामरम् ; ‘सवामर तु गव्येन पयसा पायसेन च’ इति  
( मनु ३।१७१ ) स्मरणम् । मासो मस्य पाटीनादिरतस्वेद मासवम् । हरि  
णस्ताम्रमृग । एण कृष्ण, ‘एण कृष्णमृगो ज्ञेयस्ताम्रो हरिण उच्यते’ इत्या-  
द्युर्वेदस्मरणम् । तस्वेद हरिणकम् । भविसरप्रभृतिसर्ग-वि औरधम् । शकुनि  
रित्तिरिस्तासन्धि झाकुनम्, द्वायोऽजस्तवीय द्वागम्, पृषधिमृगस्त  
न्मास पार्यंतम् । एण कृष्णमृगस्तत्पित्तित्तमैणम्, हरु खवरस्ताम्रभव रौरवम्,  
बराह भारण्यसूकरस्त-ज वाराहम् । वासस्वेद शाशम्, पृथिवी पितृष्या  
‘दत्तैर्हविष्या-नेन वै मासम्’ इत्युक्तत्वात्त ऊर्ध्वं यथाक्रममेकैकमासवृद्ध्या  
पितरस्तृष्यन्ति ॥ २५८—२५९ ॥

भापा—पितामह ( अर्थात् पितरगण ) हविष्य अन्न से एक मास तक,  
और पीर से एक वर्ष तक वृष्ट रहते हैं, पाटीन आदि मछली, ताम्रमृग,  
वराह ( मेंढा ) तिष्ठिर, वकरा, चिचमृग, कृष्णमृग, हरु, जगली सुभ्रा, और  
खरगोस के मास आदि में देने पर क्रमशः एक एक महीने अधिक समय तक  
वृष्ट रहते हैं ॥ २५८—२५९ ॥

खड्गामिषं महाशकं मधु मुन्यन्नमेव चो ।

सौष्टामिष महाशकं मासं चार्ध्निणसस्य च ॥ २६० ॥

यद्वाति गयास्थश्च सर्वमानस्यमश्नुते ।

तथा धर्पात्रयोदर्यां मघास्तु च विशेषत ॥ २६१ ॥

किंच, खड्गो मण्डकस्तस्य मांसम्, महाशकको मास्यभेद, मधु माषि  
कम् । मुन्यन्न सर्वमास्य नीवारदि, लोहो रक्करुजागस्तदामिष सौष्टामि  
षम् । महाशक कालशाकम् । चार्ध्निणसो वृद्ध श्वेतच्छाग — ‘त्रिपिप रिषिदि  
पक्षीण वृद्ध श्वेतमजापतिम् । चार्ध्निणसस्तु त प्राहुर्वास्तिका धादकर्मणि ॥’  
इति याज्ञिकप्रसिद्ध । त्रिपिप पिपत कर्णा जिह्वा च पश्य जल स्पृशति स,

१ फलैस्तपा । २ मास प्रीयन्ते । ३ अनागतत्वेना । ४ झाकुन  
भपयपरिसन्धि । ५ च । ६ कालशाक । ७ चार्ध्निणसस्य ।  
८ धर्पास्थेव प्रयोदर्याम् । ९ श्वेत वृद्धमजापति ।

त्रिभिः पिबतीति त्रिपिब, तस्य चार्धगसस्य मामम् । यद्वाति गयारथश्च  
 यत्किञ्चिद्वाकादिकमपि गयारथो ददाति । चक्षुदाद्रक्षाद्वारादिषु च—'गद्राद्वारे  
 प्रयागे च नैमिषे पुष्करेऽजुन्दे । सनिहत्या गयार्या च श्राद्धमघ्न्यता व्रजेत् ॥',  
 'आनन्यमश्नुते' इति 'अनन्तफलहेतुस्व प्राप्नोति । 'आनन्यमश्नुते' इति  
 प्रत्येकमभिसंबद्धयते । तथा धर्षान्नयोदर्या भाद्रपदकृष्णत्रयोदर्या विशेषतो  
 मघायुक्तायां यत्किञ्चिद्दोषते तत्सर्वमानन्यमश्नुत इति गतेन सवन्ध ॥  
 अत्र यद्यपि मुग्धसमासमन्वाहीनि सर्ववर्णानां सामान्येन श्राद्धे योग्यानि दृशि  
 तानि, तथापि पुलस्तकोक्ता व्यवस्थाद्वरणीया ।—'मुग्धश्च ब्राह्मणस्योक्त मांस  
 क्षत्रियवैश्ययोः । मधुप्रदान शूद्रस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥' इति । अस्वार्थ —  
 मुग्धश्च नीवारादि यत्श्राद्धयोग्यमुक्त तद्ब्राह्मणस्य प्रधान समप्रकलदम्, यद्य  
 मांसमुक्त तत्क्षत्रियवैश्ययोः प्रधानम् । यत्शूद्रमुक्त तत्शूद्रस्य । एतत्त्रितयस्य-  
 तिरिक्तं यद्विरोधि यदप्रतिपिद्ध वास्तुकादि, यत्च विहित हविष्य काल-  
 शाकादि, तत्सर्वेषां समप्रकलदमिति ॥ २६०—२६१ ॥

भाषा—जो सङ्ग ( गैडा ) का मांस, महाशक्क मज्जुली, मधु, या  
 तीनी का चावल, लाल चक्रे का मांस, महाशाक ( कालशाक ), रवेतवर्ण  
 के शूद्र चक्रे का मांस देता है और गया में ( श्राद्ध करते समय ) ये पशुार्थ  
 देता है, भाद्रपद मास की कृष्ण त्रयोदशी और विशेषतः महानक्षत्र होने पर  
 इनका पिब देता है वह सम्पूर्ण अनन्तफल का भोग करता है ॥२६०—२६१॥

तिथिविशेषात्कलवितोपमाह—

कन्यां कन्यावेदिनश्च पशून्वै सरसुतानपि ।  
 घृतं कृषिं क्षत्रियां च द्विशकैकशफास्तथा ॥ २६२ ॥  
 ब्रह्मवर्चस्विन पुत्रान्स्वर्णरूप्ये सद्रूप्यके ।  
 क्षातिश्रेष्ठ्यं सर्वकामान्प्राप्नोति श्राद्धं सदा ॥ २६३ ॥  
 प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।  
 शस्त्रेण तु दत्ता ये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते ॥ २६४ ॥

कन्या रूपलक्षणशीलवतीम्, कन्यावेदिनो ज्ञानातरो बुदिरूपलक्षण-  
 सपन्नाः । पशव शूद्रा अजादय, सन्धुता सन्मार्गवतिन, घृत घृतविजय,  
 कृषि कृषिकलम्, क्षत्रिया वाणिज्यलाम, द्विशका गवाद्य, एकशका  
 अजादय, ब्रह्मवर्चस्विन पुत्रा वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनित तेजो ब्रह्मवर्चस

१ आनन्यफल । २ पशुमुसवान्मुतानपि । ३ कृषि च वाणिज्य  
 द्विशकैकशफास्तथा । ४ सन्मार्गवा ।

तद्वन्तः, स्वर्णरूप्ये हेमरज्जते, तद्वपतिरिवत् प्रपुसीमकादि कुप्यकम्, शक्ति-  
शैष्ट्यं जातिपूष्टत्वम्, सर्वकामाः काम्यन्त इति कामाः स्वर्गपुत्रपक्षादयः,  
पृतानि कन्यादीनि चतुर्दशफलानि कृष्णपक्षप्रतिपत्प्रभृतिष्वभावात्पार्यन्तासु  
चतुर्दशोवर्जितासु चतुर्दशसु तिथिषु धाददो यथाकममाप्नोति । ये वैचन  
शस्त्रहतास्तेभ्यः कृष्णचतुर्दश्यामेकोद्विष्टविधिना धादं दद्यात्, यदि माहणा-  
विहता न भवन्ति; 'समथमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य वै । पृकोद्विष्टं सुतैः  
कार्यं चतुर्दशं महालये ॥' इति स्मरणात् । समथमागतस्य सपिण्डीकृतस्य  
पितुर्नहालये धादपदकृष्णचतुर्दशं शस्त्रहतस्यैव धादं नाभ्यस्येति नियमते,  
न पुनः शस्त्रहतस्य चतुर्दश्यामेवेति । अतश्च च्याहादौ शस्त्रहतस्यापि यथा  
प्राप्तमेव धादम् । नच धादपदकृष्णपक्ष एवायं विधिरिति मन्तव्यम्; 'प्रीष्ठ-  
पद्यामपरपक्षे मासि मासि चैवम्' इति शौनकस्मरणात् ॥ २६२-२६४ ॥

भाषा—( रूपरक्षणगोलवनी ) कन्या, योग्य जामाता, पशु, सदाशः  
पुत्र, तुप में विषय, उत्तम फल, वाणिज्य में लाभ, दो सुर यात्रे गाय आदि  
और एक सुर वाले अर्वादि पशु, वेदाध्ययन से तेजस्वी पुत्र, सोना, चांदी,  
ताँबा, सीसा, जाति में प्रतिष्ठ और सभी हृत्पुत्रों को धाद देने वाला व्यक्ति  
सदैव प्राप्त करता है । केवल एक चतुर्दशी को छोड़कर प्रतिपद् आदि सभी  
तिथियों को धाद कर सकता है । जो लोग शस्त्र से मारे गये होते हैं उन्हीं के  
लिपू हन दिन ( चतुर्दशी को ) धाद किया जाता है ॥ २६२-२६४ ॥

गणप्रविशेषात्फलविशेषमाह—

स्वर्गं ह्यप्यमोजश्च शीर्यं क्षेत्रं चलं तथा ।

पुत्रं शैष्ट्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुखयतां शुभम् ॥ २६५ ॥

प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीन्पि ।

भरोगितयं यज्ञो धीशशोकतां परमां प्रतिम् ॥ २६६ ॥

धनं वेदान्भिषक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम् ।

भश्यानायुश्च विधिग्रहः धादं संप्रयच्छति ॥ २६७ ॥

शुक्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।

मास्तिकः धदुद्धानश्च ध्यपेनमदमतसः ॥ २६८ ॥

शुक्तिकामादि कृत्वा भरण्यन्त प्रतिपक्षप्रं यः धादं ददाति न यथाक्रमं  
स्वर्गादीनापु-पर्यन्तान्कामानवाप्नोति, यथास्तिकः धरधानधेत् ध्यपेनमद-  
मःसरो भवति । भारितकी विधामचान्, धरधान धादरानिस्तयपुक्तः, ध्यपेन-

१. ससौभाग्यं सुनौभाग्यं । २. सुताम् । ३. विद्यां । ४. धरधान-  
क्षेत्रं धादपेनमदमतसः ।

संयोजयन्ति । यथा माता गर्भपोषणायाः यदत्तेन दोहदाह्वानादिना स्वयमुप-  
भुक्तेन वृष्टा सती स्वगठरगतमन्वपत्यं तर्पयति, दोहदाह्वानादिप्रदायिनस्य प्रायुप-  
कारफलेन संयोजयति तद्ब्रह्मसवो रुद्रा अदिविसुताः आदित्या एव ये पितरः  
पितृ-पितामहप्रपितामहशब्दवाध्याः न केवलं देवदत्ताद्य एव ध्याद्देवताः  
ध्यादकर्मणि सप्रदानमूताः किन्तु मनुष्याणां पितृन्देवदत्तादीन्स्वयं ध्याद्देव  
तर्पितारतर्पयन्ति ज्ञानज्ञानत्यतिशययोगेन । किञ्च न केवलं पितृन्तर्पयन्ति  
अपि तु ध्यादकारिभ्यः आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि राज्यं च ।  
चकारात्तत्र तत्र ज्ञानोक्तमन्वपि फलं स्वयं प्रीताः पितामहा यस्वाद्याः  
प्रयच्छन्तीति ॥ २६९-२७० ॥

भाषा—वसुदेवता, रुद्र और आदित्यादि एयं पितर ये ध्याद् के देवता  
ध्याद् से वृत्त होकर मनुष्यों के पितरों को वृत्त ( भान्निदित ) करते हैं । और  
मनुष्यों के पितामह अर्थात् पितर लोग प्रसन्न होकर धीर्घं जीवन्, सन्तान,  
धन, विद्या, मोक्ष, सुख और राज्य प्रदान करते हैं ॥ २६९-२७० ॥

इति ध्यादप्रकरणम् ।

### गणपतिकल्पप्रकरणम्

दृष्टादृष्टफलसाधनानि कर्माण्यभिहितान्यप्यभिधारयन्ते च तेषां स्वरूपनि-  
र्पत्तिः फलसाधनत्वं चाधिष्णेन सवतीरविष्णुना कर्म विधारयन् विप्रस्य कार-  
कज्ञापकहेतुनाह—

विनायकः कर्मविघ्नसिद्धयर्थं विनियोजितः ।

गणानामाधिपरये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा ॥ २७१ ॥

विनायकः कर्मविघ्नसिद्धयर्थमित्यादिनोभयविघ्नहेतुपरिशानाद्विघ्नस्य प्राभाष-  
परिपालनायोपरिधतरस्य प्रवृत्ताव वा प्रेषार्थकारिणः प्रवर्तन्ते; रोगस्येयोमव-  
त्रिघहेतुपरिशानात् । विनायको विघ्नेश्वरः पुरुषार्थसाधनानां कर्मणां विघ्नसिद्धयर्थं  
स्वरूपफलसाधनत्वविघ्नोत्सिद्धये विनियोजितः नियुक्तः रुद्रेण ब्रह्मणा चकारा-  
द्विष्णुना च गणानां पुण्यदन्तप्रभुतां नामाधिपरये स्वामये ॥ २७१ ॥

भाषा—कर्म में विघ्न और उमकी विधि के लिये रुद्र और ब्रह्मण ने  
विनायक ( गणपति ) को पुण्यदन्त आदि गणों का अधिपति बनाकर नियुक्त  
किया है ॥ २७१ ॥

एव विग्रस्य कारकहेतुमुक्त्वा ज्ञापकहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत ।  
 स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुष्णंश्च पश्यति ॥ २७२ ॥  
 कापायवाससश्चैव क्रम्यादांश्चाधिरोहति ।  
 अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्टैः सहैकप्रावतिष्ठते ॥ २७३ ॥  
 म्रंजन्नपि तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः ।

तेन विनायकेनोपसृष्टो गृहीनो यस्तस्य लक्षणानि ज्ञापकानि निबोधत  
 जानीष्व हे मुनय । पुनर्मुनीना प्रस्थवमर्षा शान्तिप्रकरणप्रारम्भार्थं । स्वप्ने  
 स्वप्नावस्थाया जलमत्यर्थमवगाहते स्रोतसा द्विषते निमज्जति वा । मुष्णित-  
 शिरस्य पुरुषान्पश्यति । कापायवाससो रक्तगोलादिवस्त्रप्रावरणाश्च । म्रम्याश्च  
 नाम मांसाशिन पक्षिण गृध्रादीन्मृगांश्च व्याघ्रादीनधिरोहति । तथाऽ-रपजै  
 श्वच्छालादिभि गर्दभै खरैरुष्टै क्रमेलकै सह पविष्टतस्तिष्ठति । प्रजन्तश्च  
 म्मात्मान परै शत्रुभि वृष्टनो धावन्निरमुगतमभिमूवमान मग्न्यते ॥२७२-२७३॥

भाषा—उस ( विग्रकारक ) विनायक से जो प्रस्त होते हैं उनके लक्षण  
 सुनिये । स्वप्न म जल में बहुत स्नान करता है ( ऐसा स्वप्न देखता है ),  
 मिर मुँडाप हुप पुरुषों को देखता है, गेरुआ यज्ञ धारण किये हुए पुरुषों को  
 देखता है, भालभन्नी ( गृध्र भादि पक्षी, व्याघ्र भादि पशु ) की सवारी करने  
 का स्वप्न देखता है , चाण्डाल, गर्दभे और ऊँटों क साथ एकथ निवास और  
 स्वय चलते समय शत्रुओं द्वारा पीछा किय जाने का स्वप्न देखता है । ( विना  
 यक द्वारा प्रस्त इदिकि के प्रत्यक्ष चिह्न इस प्रकार होते हैं ) यह रिक्त रहता  
 है अपना इच्छित फल नहीं पाता और विना कारण ही दुःखी  
 रहता है ॥ २७२-२७४ ॥

एव स्वप्नदर्शनाभ्युक्त्वा प्रत्यक्षलिङ्गाभ्याह—

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्तत ॥ २७४ ॥  
 तेनोपसृष्टो लभते न रौज्यं राजनन्दन ।  
 कुमारी च न मर्तारमपत्यं गर्भमङ्गना ॥ २७५ ॥  
 आचार्यत्वं ध्योन्नियश्च न शिष्योऽप्ययमं तथा ।  
 वणिग्लाम्नं न चाप्नोति कृषिं चापि पृषीयताः ॥ २७६ ॥

विमना विच्छिद्यचित्त, विफलारम्भ विफला आरम्भा पश्य म तपोन न  
 क्वचित्फलमाप्नोति । संसीदत्यनिमित्तत विना कारणेन क्षीनमानस्को भवति ।



राजनन्दनो राजकुले जात श्रुतशौर्यधैर्वादिगुणयुक्तोऽपि राज्य न लभते ।  
कुमारी रूपलक्षणाभिजनादिसपत्नीपित्तित मत्तारम्, अन्नना गर्भिण्यप  
रयम्, शत्रुमतो गर्भम्, अध्ययनतदर्शज्ञाने सरथवि आचार्यैव श्रात्रिय,  
विनयाचारादियुक्तोऽपि शिष्योऽप्ययन धरण वा, 'न लभते' इति सर्वत्र  
सद्यप्यते । षणिक् षणिक्योपजीवी सत्र कुशलोऽपि धान्यादिक्रयदिक्रयादियु  
क्ताभम् । कृषीवल कर्षकस्तत्रामियुक्तोऽपि कृषिफल नामोति । एव चो  
पया वृषया जीवति स सत्र निष्कारम्भश्रेतेनोपसृष्टो वदितव्य ॥२७४-२७६॥

भाषा—विनायक द्वारा अभिभूत होने पर राजा का पुत्र राज्य नहीं पाता  
कुमारी कन्या ( अभीष्ट एव योग्य ) वर नहीं पाती, स्त्री को गर्भ नहीं ठहरता  
श्रीत्रिय ( वेदपाठी ) को आचार्य का पद नहीं मिलता, शिष्य अध्ययन से  
वञ्चित रहता है, षणिक् धाणिक्य में लाभ नहीं पाता और न कृषक भक्ष्यी  
फल पाता है ॥ २७५-२७६ ॥

एव कारकज्ञापकहेतुनभिधाय विनोपशा-रथैर् कर्मविधानमाह—

‘हनपनं तस्य कर्तव्यं पुण्येऽह्नि विधिपूर्वकम् ।

तस्य विनायकोपसृष्टस्याऽनगतविनायकोपसंगपरिहाराधिना वा हनपन  
मभिषेचन कर्तव्यम् । पुण्ये स्वातुक्कलनकत्रावियुक्तो अह्नि विषसे न रामो ।  
विधिपूर्वकं नास्त्रोत्तेतिवर्तव्यतासहितम् ॥

हनपनविधिमाह—

शौरसर्पकक्षेन साज्येनोत्सादितस्य च ॥ २७७ ॥

सर्वोपैथै सर्वगन्धैर्तिलिप्तशिरसस्तया ।

भद्रासनोपविष्टस्य स्वस्ति वाच्या द्विजा शुभा ॥ २७८ ॥

शौरसर्पकक्षेन सिद्धार्थविष्टेन सा-येन पृतलोष्ठीकृतेनोत्सादितस्योद्धृति  
ताङ्गस्य तथा सर्वोपैथै मियद्वयुनागदसरादिभि सर्वगन्धैश्च दनागुहकरवृरि-  
कादिभिर्विलिप्तशिरसो चष्यमाणभद्रासनोपविष्टस्य पुण्यस्य द्विजा प्राहणा  
शुभा शुताप्ययनवृत्तसपत्ना क्षोभनापृतयव्याहार 'अस्य स्वस्ति भयन्तो  
भ्रुवन्तु' इति वाच्या । अस्मिन्समये गृहोक्तमार्गव पुण्याहवाचन कुर्वां दितव्यं ॥

भाषा—विनायक से अभिभूत इस प्रकार के व्यक्ति का शुभतिथि में  
पीले सरसों के उषटन भी मिलाकर उस से हनपन करे ( शरीर में लगाय )  
उसे भद्र आसन पर बैठा के सभी औषधियों एवं सभी गन्धों उसका शरीर  
लेप लगावे ( शुताप्ययनसपत्ना ) श्रेष्ठ प्राहणों उसके लिये स्वस्तिवाचन करें ।  
( इन अवसर पर गृह में उक्त विधि से पुण्याहवाचन भी करे ॥ २७७-२७८ ॥

अश्वस्थानाद् गजस्थानाद्दुल्मीकात्संगमाद्धदात् ।  
 मृत्तिकां रोचनां गन्धान्युग्मुलं चाऽप्सु निक्षिपेत् ॥२७९॥  
 या आहता ह्येकवर्णेश्चतुर्भि कलशैर्हदात् ।  
 चर्मण्यानहुद्दे रक्ते स्थाप्यं भद्रासनं ततः ॥ २८० ॥

किंच, अश्वस्थानगजस्थानवर्णीकसरित्संगमाशोष्यहृदेष्व आहता पञ्चविधा  
 मृद गोरोचन गन्धान् ७-दन्तुकुमागुरुमृतीन् गुग्गुल च तास्यप्सु विनिक्षिपेत् ।  
 या आप आहता एकवर्णं समानवर्णेश्चतुर्भि कुम्भैरत्रणारकुटिताकालकै , हृदाव-  
 शोष्यात् संगमाद् । ततश्चानहुद्दे चर्मणि रक्ते लोहितवर्णं उत्तरलोमनि प्राचीन-  
 प्रीवे भद्र मनोरममासन श्रीपर्णीनिर्मित स्थापयन् । तत उक्त्येदकमृत्तिकागन्धा-  
 दिसहितान्मृतादिपल्लशेषैकोभिताननाम्बामवेष्टितकण्डांश्चन्दनचर्चितान्प्रवाहतव-  
 क्त्रविभूषितांश्चतस्रु पूर्वादिदिशु स्थापयित्वा शुची मुलिसं स्थण्डिले रचितप  
 ञ्चवर्णैस्वस्तिके लोहितमानहुद्दे चर्मोत्तरलोम प्राचीनप्रीवमास्तीर्यं तस्योपरि  
 श्वेतवल्गमशुद्धादितमासन स्थापयेदित्येतज्ज्ञासनम् । तस्मिन्नुपविष्टस्य स्वस्तिक-  
 वाद्या द्विजा ॥ २७९-२८० ॥

भाषा—घोड़शाल, गजशाल, वरुणीक ( चींटी की बर्षी ), नदी के  
 संगम और, पोलरे की मिट्टी, गोरोचन, चन्दन आदि गन्ध, और गुग्गुल  
 उस जल में छोड़े । यह जल एक ही वर्ण के चार घड़ों में सहरे ललाचाय  
 ( कुण्ड ) में लाया गया हो । इसके बाद लाल रंग के बैल के चमड़े  
 पर श्रीपर्णी आदि का बना हुआ भद्रासन ( उत्तम आसन ) रखना  
 चाहिए ॥ २७९-२८० ॥

सहस्राक्षं शतधारमृषिभि पावनं कृतम् ।  
 तेन स्वामभिविश्चामि पावमान्य पुनन्तु ते ॥ २८१ ॥

किंच, स्वस्तिकाचनान्तर जीवत्पतिपुत्राभि रूपगुणशालिनीभि सुषेपामि  
 कृतमङ्गल पूर्वदिग्देशावस्थित कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिविष्टेर्दुक । सहस्रा-  
 चमनेकशक्ति शतधार बहुप्रवाहमृषिभिर्मन्यादिभिर्धनुदक पावन पवित्र कृत  
 तपादित तेनोद्देकेन त्वां विनायकोपसृष्ट विनायकोपसर्गान्तये अभिविश्चामि ।  
 पावमान्यश्रैता आपरत्वां पुनन्तु ॥ २८१ ॥

भाषा—( पूर्वदिशा में रखे हुए पहले कलश को लेकर उसके जल से  
 निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता हुआ अभिविष्ट करे ) अनेक शक्ति एवं अनेक

१. च विनिक्षिपेत् । २ कुम्भै शुभैरत्रणा । ३ कोभितान् नानाम्बाम ।

४. ताननाहत ।

प्रवाह वाले मनु आदि ऋषियों ने जिसे पवित्र बनाया है उस जल से ( विनायक गृहीत ) सुम्हारा अभिषिञ्चन करता हूँ । ये जल तुम्हें पवित्र करें ॥ २८१ ॥

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो वृहस्पतिः ।

भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः ॥ २८२ ॥

तदनन्तरं दक्षिणदेशावस्थितं द्वितीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । भगं वरुणं ते सुभ्यं वरुणो राजा भगं सूर्यो भगं वृहस्पतिः भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयश्च ददुरिति ॥ २८२ ॥

भाषा—( तब दक्षिण की ओर रखे हुए दूमेरे कलश को लेकर उसे अभिषिञ्चित करे ) राजा वरुण ने सुभे कल्याण दिया है, सूर्य और वृहस्पति ने कल्याण ( प्रदान किया ), इन्द्र और वायु ने कल्याण दिया है और सप्तर्षियों ने तुम्हें कल्याण दिया है ॥ २८२ ॥

यत्ते केदेषु दीर्घान्यं सीमन्ते पृथ्व मूर्धनि ।

ललाटे कर्णयोरङ्गुलीरापस्तद् ग्रन्थु सर्वदा ॥ २८३ ॥

तत्पृथ्वीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । ते तव केदेषु पृथ्वीर्वायु-  
मकल्याणं सीमन्ते मूर्धनि च ललाटे कर्णयोरङ्गुलीरापस्तद् ग्रन्थु सर्वदा ॥ २८३ ॥

भाषा—( तब तीसरे कलश को लेकर इस मन्त्र से अभिषिञ्चन करे ) तुम्हारे केतों में, सीमन्त में, शिर, ललाटे, कानों और अँगुली में जो कुछ भी दीर्घान्य या अवक्याण हो उसे आप ( जल ) देवता सर्वैक नष्ट करें ॥ २८३ ॥

स्नातस्य सार्वभ्यं तैलं सुषेणौदुम्बरेण तु ।

जुहुयान्मूर्धनि कुशान्सस्येन परिवृष्टश्च ॥ २८४ ॥

तत्तद्वत्तुर्षं कलशमादाय पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् । 'सर्वमन्त्रैस्तुर्षभ्यं'  
इति मंत्रलिङ्गात् । उपेन प्रकारेण वृत्तमिषेकस्य मूर्धनि सप्तपानिगृहीत-  
कुशान्कहिते सार्वभ्यं तैलं उदुम्बरावृत्तोद्भवेन सुषेण वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुवादा-  
चार्यः ॥ २८४ ॥

भाषा—(तब चौथा कलश लेकर तीनों मन्त्रों से उसको स्नान कराये) उसके स्नान कर लेने पर उसके शिर पर चाँदों हाथ में कुश फेंक कर उदुम्बर वृक्ष की लुवा से ससभों के शिर का ( आचार्य ) दहन करे ॥ २८४ ॥

मितश्च संमितश्चैव तथा शालकटङ्कटौ ।

कूर्शमाण्डो राजपुत्रश्चेत्यन्ते स्वाहासमन्वितै ॥ २८५ ॥

नामभिर्वलिमन्त्रैश्च नमस्कारसमन्वितै ।

मितसमितादिभिर्विनायकस्य नामभि स्वाहाकारान्तै प्रणवादिभि 'बुहु यात्' इति गतेन सबन्ध । स्वाहाकारयोगाच्चतुर्यो विमक्ति । अतश्च ॐमिताय स्वाहा, ॐ समिताय स्वाहा, ॐ शालाय स्वाहा, ॐ कटङ्कटाय स्वाहा, ॐ कूर्शमाण्डाय स्वाहा, ॐ राजपुत्राय स्वाहेति षण्मन्त्रा भवति । अत-तर छौकिकेऽप्री स्वाहोपाकविधिना चरु उपयित्वा पूर्वैरेव पद्भिर्मन्त्रैस्तस्मिन्नेवाप्री हुत्वा तच्छेषं बलिमन्त्रैरिन्द्राग्निपयमनिर्ऋतिवरुणवायुसोमेशानमहात्मनां नामभिश्चतुर्व्य-तैर्नमोन्वितैस्तभ्यो बलिं दद्यात् ॥ २८५ ॥

अनन्तरं किं कुर्यादित्याह—

दद्याच्चतुष्पथे द्रूपं कुशानास्तीर्य सर्वत ॥ २८६ ॥

कृताकृतास्तण्डुलांश्च पल्लौदनमेव च ।

मत्स्या-पक्षांस्तथैषाम्भांसमेतावदेव ॥ २८७ ॥

पुष्पं चित्रं सुगन्धं च सुरां च त्रिविधामपि ।

मूलकं पूरिकांपूपास्तथैषोण्डेरकज ॥ २८८ ॥

दध्यन्न पायसं चैव गुंडपिष्टं समोदकम् ।

'पतान्सर्वान्समाहृत्य भूमौ कृत्वा ततः शिर ॥ २८९ ॥

विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत्ततोऽग््निकाम् ।

कृताकृतापुपहारदध्यजात विनायकस्योपाहार्य सन्निधानात्तत्रनन्याश्च शिरसा भूमिं गत्वा— तपुरुषाय विग्रहे वक्तुंदाय धीमहि । तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' इत्यनेन मन्त्रेण विनायक,—'सुभगायै विग्रहे काममालिभ्यै धीमहि । तन्नो गीरी प्रचोदयात्' इत्यनेनाग्निष्वा च नमस्कुर्यात् । तत उपहारक्षेपमाहतीर्णकुशे शूर्पे निधाय चतुष्पथे निदद्यात्— बलिं शृङ्खन्त्रिभ्यो देवा आदित्या वसवस्तथा । महतश्चाग्निनी रुद्रा सुपर्णा पन्नगा प्रहा ॥ असुरा यानुधानाश्च १० पिशाचोरगमातर । शाकिन्धो यक्षवेताला योगिन्ध पूतना शिवा ॥ जृम्भका

१ शालकटङ्कट । २ कुष्मा( रमा ? )ण्डराज । ३ द्वित्याह दद्यादित्यादिचतुर्भि । ४ स्नया चामाद् । ५ त्रिविधा । ६ पुष्प तथैव । तथैषोण्डेरकजम् । ७ गुडमिश्र । ८ अपराकांभतमिदमर्थम् । ९ तदाऽग््निकाम् । १० पिशाचा मातरोरगा ।

सिद्धगन्धर्वा मायाविद्याधरा नरा । दिवपाला लोकपालाश्च ये च विघ्नविना  
यका ॥ जगतीं शान्तिकर्तारो ब्रह्माद्याश्च महर्षयः । मा विघ्नो मा च मे पाप  
मा सन्तु परिपन्थिन ॥ सौम्या भवन्तु वृक्षाश्च भूतप्रेता सुरावहा ॥ इत्ये  
तैर्मन्त्रैः ॥ कृताकृता सकृदवहतास्तण्डुला, १पल्ल तिलपिष्ट तन्मिश्र  
ओदनः पल्लौदन, भरतया पक्षा अपहास्य, मांसमेतावदेव पशुमपल्ल च,  
पुष्प चित्र रक्षपीतादिनातावर्णम् । चन्दमादि सुगन्धिद्रव्यम्, सुरा त्रिविधा  
गौरी माष्वी पैठी च, मूलक कन्दकारो भक्ष्यविशेष, पूरिका प्रसिद्धा,  
अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकार । उण्ढेरकस्रज उण्ढेरका पिष्टादिम  
द्यस्ता प्रोता स्रज, दध्यन्न दधिभिन्नमन्न । पायस १वय शृतम् । गुडपिष्ट  
गुडमिश्र शाक्यादिपिष्टम् । मोदका लड्डुका । भन-तर विनायक तःश्रवणी  
नम्यामभ्रिकीं चरपमाणमन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २८९-२९० ॥

किं कृत्वेत्याह—

दूर्वासर्पपुष्पाणां दूर्वाध्वं पूर्णमञ्जलिम् ॥ २९० ॥

सङ्कलुसोदकेगार्धं दत्त्वा दूर्वासर्पपुष्पाणां पूर्णमञ्जलिं दत्त्वा, 'उपतिष्ठेत्'  
इति गतेन सवन्ध ॥ २९० ॥

भाषा—मित, समित, झाल, कट्टट, कृष्णाण्ड और रामपुर के अन्त में  
स्वाहा जोड़कर हवन के मन्त्र होते हैं (यथाओं मिताय स्वाहा आदि)  
इन्हीं मन्त्रों से इन्द्र से लेकर ब्रह्मा तक अनन्त देवताओं का नाम से नमस्कार  
पूर्वक बलि देवे । (तब जबसे हुए अन्न को) सूप में कुशा विद्याकर चीरादे  
पर रखे । बनाये गये और न बनाये गये चावल, पीसे हुए तिल से युक्त  
चावल, पकी अपपकी मछुली, पका और न पका हुआ मांस, अनेक वर्ण के  
फूल, चन्दन आदि सुगन्धि द्रव्य, (गौरी, माष्वी, पैठी) तीन प्रकार की  
सुरा, कन्द के समान मूल फल, पूरी, पूभा, उण्ढेरक (छोटे छोटे रोद) की  
माला, बही मिला हुआ ल-ज, खीर, गुड से बनाये गये लड्डू इन सब को  
लेकर भूमि में द्धार लगाकर विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार करे ।  
इसके पहले दूध, सरसों और फूल मञ्जलि में लेकर अर्घ्य देवे ॥ २८५-२९० ॥

उपरधानमन्त्रमाह—

रूपं देहि यशो देहि भगं भवति देहि मे ।

पुष्पान्देहि घनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे ॥ २९१ ॥

१. माला विद्या, नारा विद्याधरा । २ पल्ल पिष्ट । ३ शैरेयी ।  
४ जय देहि । ५ भगवन् ।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाख्यानुलेपनः ।  
ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्याद्वस्त्रयुग्मं गुरोरपि ॥ २९२ ॥

विनायकोपस्थाने 'भगवन्' इत्यूह । ततोऽभिषेकानन्तरं यजमानः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाख्यानुलेपनो ब्राह्मणान्भोजयेत् । यथाशक्ति गुरवे धुनाप्ययन-  
वृत्तसपत्न्याय विनायकस्नपनविधिज्ञाय वस्त्रयुग्मं दद्यात् । 'भवि' शब्दाद्यथाशक्ति  
इच्छिणां विनायकोद्देशेन ब्राह्मणेभ्यश्च । तत्राय प्रयोगक्रम—चतुर्भिर्ब्राह्मणैः  
सार्वभूतलक्षणो गुरुर्मन्त्रज्ञो भद्रासनरचनानन्तरं तत्सन्निधौ विनायकं तज्जननीं  
चोक्तमन्त्राभ्यां गन्धपुष्पादिभिः समप्रार्थ्यं चतुःश्रपयित्वा भद्रासनोपविष्टस्य  
यजमानस्य पुण्याहवाचनं कृत्वा, चतुर्भिः कलशैरभिविष्ट्य, सार्वभूतं तैलं शिरसि  
द्वृत्त्वा, अरुहोमं विधायाभिषेकशालायां चतुर्दिशु इन्द्रादिलोकपालेभ्यो बलिं  
दद्यात् । यजमानस्तु स्नानानन्तरं शुक्लमाख्याम्बरधरो गुरुणा सहितो विनायक-  
कारिककाभ्यामुपहारं दत्त्वा शिरसा भूमिं नत्वा कुमुदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्व-  
पुष्पाञ्जलिं च दत्त्वा विनायकमन्त्रिकां चोपतिष्ठेत् । गुरुव्यहारेण शूर्पं  
कृत्वा चतुरे निदध्यात् । अनन्तरं वस्त्रयुग्मं इच्छिणा ब्राह्मणेभ्यो भोजनं च  
दद्यादिति ॥ २९१-२९२ ॥

भाषा—( नमस्कार का मन्त्र यह है ) देवि ! मुझे रूप दो, यश दो,  
कल्याण दो, पुत्र दो, धन दो और सभी अभिलाषाएँ पूरी करो । इसके बाद  
रथेत वस्त्र धारण करके, रथेत पुष्पों की माला पहन कर, चन्दन आदि का  
लेप करके, ब्राह्मणों को भोजन करावे और गुरु के लिये भी जोड़ा वस्त्र  
देवे ॥ २९१-२९२ ॥

इति विनायकस्नपनविधिः ।

अस्यैव विनायकस्नपनस्योक्तोपसंहारेण सयोगान्तरं दर्शयितुमाह—

एवं विनायकं पूज्यं ब्रह्मांश्चैव विधानतः ।  
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २९३ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विनायकं सपूज्यं कर्मणां फलमाप्नोत्यनुत्तमाम् । श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ।  
सयोगान्तरमाह—श्रियं चोत्कृष्टतमामाम्पनोतीति । श्रीकामक्षानेनैव  
विधानेन विनायकं पूजयेदित्यर्थः । आदित्यादिग्रहपीठान्तिकामस्य उत्पत्त्या-  
दिकामस्य च ग्रहपूजादिदृश्यं विधास्यन् ग्रहपूजासुषुप्तिपति—ग्रहश्रियं

१. भवि कोपस्थाने भवतीत्यूह ।

२ श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।

३ ग्रहपूजां लक्षयति ।

विधानत इति । ग्रहानादिस्थादीन्वक्ष्यमाणेन विधिना संपूज्य कर्मणां सिद्धि-  
माप्नोति श्रियं चाप्नोति इति ॥ २९३ ॥

भाषा—इस प्रकार विनायक की पूजा करके और सभी ग्रहों की  
विधिपूर्वक पूजा करके सभी कर्मों का फल प्राप्त करता है और उल्टे  
मन्त्र का लाभ करता है ॥ २९३ ॥

निरयकाम्यसंयोगात्—

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा ।  
महागणपतेश्चैव कुर्वन्सिद्धिमर्षान्नुयात् ॥ २९४ ॥

आदित्यस्य भगवतः सदा प्रतिदिवसं रश्मिचन्दनकुङ्कुमकुतुमादिभिः पूजां  
कुर्वन् रश्मिचन्दन महागणपतेश्च नियं पूजां कुर्वन् सिद्धि मोक्षमात्मज्ञानद्वारेण  
प्राप्नोतीति निरयसंयोगः । आदित्यरश्मिचन्दनगणपतीनामभ्यस्तमस्य सर्वेषां वा  
तिलकं स्वर्णनिर्मितं रूप्यनिर्मितं वा कुर्वन् सिद्धिमभिरपितामाप्नोति । तथा  
चक्षुषी चेति फलयसंयोगः ॥ २९४ ॥

भाषा—प्रतिदिन सूर्य भगवान् की ( लाल चन्दन, कुङ्कुम और पुष्प  
आदि से ) तथा महागणपति की पूजा करने और इनके लिये ( सोने वा  
चाँदी का ) तिलक बनवाने वाला अनिर्लपित फल प्राप्त करता है ( सिद्धि  
प्राप्त करता है ) ॥ २९४ ॥

इति महागणपतिकल्पः ।

### ग्रहशान्तिप्रकरणम्

'पूर्वं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानत । कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं  
चाप्नोत्यनुत्तमाम्' ( भा० २९३ ) इत्यनेन ग्रहपूजायाः कर्मणामविशेषेण  
फलसिद्धिः श्रियं फलमियुक्तम् । इदानीं फलान्तराण्यथा—

श्रीकाम शान्तिकामो वा प्रहयज्ञं समाचरेत् ।  
वृष्ट्यायु.पुष्टिकामो वा तथैवाऽभिचरन्नपि ॥ २९५ ॥

श्रीकाम इति पूर्वोक्तस्यानुवाद, शान्तिकाम आपद्पशान्तिकाम, सस्या-  
दिवृद्ध्यां प्रवर्षणं वृष्टि, आयुरपमृत्युजयेन दीर्घकालजीवनम् । पुष्टिरनवद्य  
पारीरत्वं, पुताः कामयत इति वृष्ट्यायु पुष्टिकाम । पुते श्रीकामादयो प्रहयज्ञ  
ग्रहपूजां समाचरेयुः । तथाऽभिचरन्नपि अदृष्टोपायेन परपोडा अभिचरत्तःकामश्च  
प्रहयज्ञं समाचरेत् ॥ २९५ ॥

भाषा—समृद्धि की इच्छा रखने वाला, आपत्ति से शान्ति चाहने वाला, ( खेती के लिये ) वृष्टि, दीर्घजीवन, पुष्टि की कामना करने वाला तथा भ्रष्ट उपाय से दूसरे ( शत्रु आदि ) को पीड़ित करने की इच्छा वाला प्रह यज्ञ करे ॥ २९५ ॥

ग्रहानाह—

सूर्य सोमो महीपुत्र सोमपुत्रो वृहस्पति ।

शुक्र शनैश्चरो राहु केतुश्चेति ग्रहा स्मृता ॥ २९६ ॥

एते सूर्यादयो नव ग्रहा ॥ २९६ ॥

भाषा—सूर्य चन्द्रमा, मंगल, बुध ( चन्द्रमा का पुत्र ), वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नवग्रह कहे गये हैं ॥ २९६ ॥

‘ग्रहा पूजया’ इत्युक्त किं कृत्वेत्याह—

ताम्रकारस्फटिकाद्रक्तचन्दनात्स्यर्णकादुभौ ।

राजतादयस सीसात्कास्यात्कार्या ग्रहा क्रमात् ॥ २९७ ॥

स्वर्णैर्घा पटे लेखया गन्धैर्मण्डलकेषु वा ।

सूर्यादीनां मूर्तवस्तान्नादिभिर्यथाक्रम कार्या । तदलाभे स्वर्णवर्णके पटे लेखया, मण्डलकेषु वा । गन्धे रक्तचन्दनादिभिर्यथावर्ण लेखया इत्यन्वय । द्विभुजत्वादिविशेषरतु मारुत्यपुराणोक्तो द्रव्यव । यथा—‘पद्मासन पद्मकर पद्मगर्भसमद्युति । सप्ताश्र सप्तसंयुजश्च द्विभुज स्यात्सदा रवि ॥ रवेत्त रवेता श्वरधरो दशाश्र रवेत्तभूपण । गदापाणिर्द्दिवाहुश्च कर्तव्यो वरद शशी ॥ रक्तमाख्याश्वरधर शक्तिशूलगदाधर । चतुर्भुजो मेघगमो वरव स्याद्दरा सुत ॥ पीतमाख्याश्वरधर कर्णिकारसमद्युति । खड्गचर्मगदापाणि सिंहस्थो वरदो बुध ॥ देवदैत्यगुरु तद्वापीतरवेती चतुर्भुजी । दण्डिनो वरदौ कार्या साधमूर्त्तिकमण्डल ॥ इन्द्रनीलद्युति शूली वरदो गृध्रवाहन । बाणबाणासनधर कर्तव्योऽर्कसुत सदा ॥ करालवदन खड्गचर्मशूली वरमद । भीलै सिंहासन स्वश्च राहुरत्र प्रशस्यते ॥ पूषा द्विबाहव सर्वे गदिनो विकृतानना । गृध्रासन गता नित्य कतव स्युर्वरप्रदा ॥ सर्वे किरीटिन कार्या ग्रहा स्फेकहिताग्रहा । स्वाह्रुलेनोन्मिता सब शतमष्टोत्तर सदा इति ॥ एतेषां स्थापनदेशश्च तत्रै वोक्त —‘मघ्ये ॥ भास्कर विद्याहोहित दक्षिणेन तु । उत्तरेण गुरु विद्याद् बुध पूर्वोत्तरेण ॥ ॥ पूर्वेण भागव विद्यास्तोम दक्षिणपूर्वके । पश्चिमेण शनि विद्या द्वाद्दं परिचमदक्षिणे ॥ पश्चिमोत्तरताकेषु स्थाप्या ये शुक्लतण्डले ॥’ इति ॥ २९७ ॥

१ गन्धमण्डलकेषु वा । २ सप्ताश्रयसस्वश्च । ३ नीलसिंहासन ।



पूजाविधिमाह—

यथावर्णं प्रदेयानि वासांसि कुसुमानि च ॥ २९८ ॥

गन्धाश्च यत्नयञ्चैव धूपो देयश्च गुग्गुलुः ।

कर्तव्या मन्त्रयन्तश्च चरव्यः प्रतिदेवतम् ॥ २९९ ॥

यथावर्णं यस्य ग्रहस्य यो वर्णस्तद्गुणानि वस्त्रगन्धपुष्पाणि देयानि । यत्नयश्च धूपश्च सर्वेभ्यो गुग्गुलुर्देवः । चरवश्च प्रतिदेवतमप्रतिष्ठापनान्वाधानाद्विपूर्वकं 'चतुरश्वदुरो मुष्टीचिर्षपति', 'अमुष्मैश्वा लृष्टं निर्षवामी'त्यादिविधिना कार्याः । अनन्तरं सुममिद्रेऽग्नाविष्माधानाद्यापारान्तं कर्म कृत्वा आदिवायुहोत्रेण यथाक्रमं वषयमाणमन्त्रैर्वषयमाणः समिधो वषयमाणप्रकारेण कृत्वा चरवो होतव्याः ॥ २९८-२९९ ॥

भाषा—(सूर्य आदि ग्रहों की मूर्तियों) क्रमशः लंबे, स्फटिक, लाल-चन्दन, सोने की ढो, चाँदी, लोहा, सीसा की क्रमशः बनवानी चाहिए । अथवा (इनकी आकृतियों) तत्तद् रंगों से वस्त्र पर अथवा मण्डल में चन्दनादि गन्धों से बनाये । ग्रह के वर्ण के अनुसार (उस-उस वर्ण का) वस्त्र और फूल दे । गन्ध, बलि, धूप और गुग्गुलु देना चाहिए और प्रत्येक देवता के लिए मन्त्र के साथ चर बनाकर (उसका हवन करना चाहिए) ॥ २९८-२९९ ॥

मन्त्रानामाह—

आहृण्येन इमं देवा अग्निर्मूर्धा दिवा ककुत् ।

उदुम्बरस्येति च ऋषो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः ॥ ३०० ॥

बृहस्पते अतिपदर्यस्तथैवाक्षारपरिक्षुतः ।

शं नो देवीस्तथा काण्डारकेतुं कृष्यन्निर्मास्तथा ॥ ३०१ ॥

'आहृण्येन इजसा वर्तमान' (श्र. १।३।१।२) इत्यादयो नव मन्त्राः यथाक्रम आदिवादीनां वेदितव्याः ॥ ३००-३०१ ॥

भाषा—'आहृण्येन', 'इमं देवा', 'अग्निर्मूर्धा', 'दिवा ककुत्', 'उदुम्बरस्य', 'बृहस्पते अतिपदर्यः', 'अक्षारपरिक्षुतः', 'शं नो देवी', और 'काण्डारकेतुं कृष्यन्' ये यथाक्रम नौ देवताओं के मन्त्र हैं ॥ ३००-३०१ ॥

इदानीं समिध आह—

अर्कः पलाशः अदिर अपामार्गोऽथ पिप्पलः ।

उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात् ॥ ३०२ ॥

१. अनावन्वाधानादनन्तरं कर्म कृत्वा । २. छिमा अपि । ३. लीदुम्बर ।

अर्द्धपलाशाद्यो यथाक्रमं सूर्यादीनां समिधो भवन्ति । ताश्चार्द्धा भवन्ना  
सत्त्वच प्रादेशमात्रा कर्तव्या ॥ ३०२ ॥

भाषा—अर्क, पलाश, खदिर, अषामार्ग, पीपळ, उदुम्बर, समी, दूर्वा और  
कुश-ये क्रमशः ( इन नौ ग्रहों के लिए ) समिध् होते हैं ॥ ३०२ ॥

एकैकस्यं त्वष्टशतमष्टाविंशतिरेव वा ।

होतव्या मधुसर्पिर्म्या दध्ना क्षीरेण वा युताः ॥ ३०३ ॥

किञ्च, आदित्यादीनामेकैकस्याष्टशतसख्या अष्टाविंशतिसख्या वा  
यथासंभव मधुना सर्पिषा दध्ना क्षीरेण वा युता अक्षा अर्कादिसमिधो  
होतव्या ॥ ३०३ ॥

भाषा—(आदित्यादि में) प्रत्येक ग्रह के लिए आठ-आठ सौ या अठाइस  
अठाइस समिधार्द्ध मधु और ग्री दही या दूध में मिलाकर हवन करे ॥ ३०३ ॥

इदानीं भोजनान्वाह—

गुह्रीदनं पायसं च हविष्यं क्षीरपाण्डिकम् ।

दध्योदनं हविश्चूर्णं मांसं चित्राद्यमेव च ॥ ३०४ ॥

दद्याद् ग्रहकमादेवं द्विजेभ्यो भोजनं बुध ।

शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ३०५ ॥

गुहमिध ओदनो गुह्रीदन, पायस पायसाजम्, हविष्य मुन्यक्षादि,  
क्षीरपाण्डिक क्षारमिश्र पाण्डिकीदन, दध्ना मिध ओदनो दध्योदन, हविर्चूर्ण-  
दनः । चूर्ण तिलचूर्णमिध ओदन, मांस भक्ष्यमांसमिध ओदन, चित्रोदनो  
नाशावर्णोदन, एतानि गुह्रीदकादीनि यथाक्रममादिष्यात्पुद्गवेशेन भोजनार्थं  
द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । ब्राह्मणसख्या यथाविभव इष्टव्या । गुह्रीदनाद्यभावे  
तु यथालाभमोदनादि पादप्रच्छालनादिविधिपूर्वकं सत्कृत्य समान पुर सर  
दद्यात् ॥ ३०४-३०५ ॥

भाषा—गुह मिला हुआ भात खीर, हविष्य ( तीनी का भात ), दूध  
के साथ साठी का भात, दही भात, घी-भात, मधुमास युक्त भात, तिल  
युक्त भात, अनेक वर्ण के चावल आदि का भात, ये क्रमशः इन ग्रहों के लिये  
ब्राह्मणों को चिह्नानु पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार या अपने लाभ के अनुसार  
उनका साकार करके, विधिपूर्वक भोजन देवे ॥ ३०४-३०५ ॥

१ कस्याप्राप्ततः । एकैकस्याष्टशतक । २ सयुताः । ३ घृतान्न  
च कृसरामिषचित्रकम् । ४ द्वित ।

दक्षिणामाह—

धेनुः शङ्खस्तथानह्वान् हेम धासो ह्य क्रमात् ।

कृष्णा गौरायसं छाग एता धै दक्षिणा स्मृता ॥ ३०६ ॥

धेनुर्दोग्धी, शङ्ख प्रसिद्ध, अनह्वान् भारसहो<sup>१</sup> बलीवर्द्ध, हेम सुवर्णम् ॥  
यास पीतम्, ह्य पाण्डुर, कृष्णा गौ, <sup>२</sup>आयस शस्त्रादि, छागप्रसिद्ध, एता  
धै वादयो यथाक्रममादित्याद्युद्देशेन ब्राह्मणानां दक्षिणा स्मृता उक्ता मन्वा  
दिभिः । एतश्च समवे सति, असमवे ॥ यथाराम शक्तितोऽयदेव यकिं  
विदेयम् ॥ ३०६ ॥

भाषा—( दूध देने वाली ) गाय, शङ्ख, ( भार डाने वाला ) बैल,  
सोना, पीला बख, पाण्डुवर्ण का घोड़ा, काली गाय, लोहे के शस्त्र आदि  
भीर यकरा—ये क्रमशः इन ग्रहों के लिये ( ब्राह्मण की ) दक्षिणा होते हैं ॥

‘शान्तिकामेनाविशेषेण सर्वे ब्रह्म पूजयित्वा’ ( भा० २१५ ) इत्युक्त  
तत्र विशेषमाह—

यश्च यस्य यदा <sup>३</sup>दु स्थ स तं यत्नेन पूजयेत् ।

ब्रह्मणैवा घरो दत्त पूजिता पूजयिष्यथ ॥ ३०७ ॥

यस्य पुरुषस्य यो ग्रहो यदा <sup>३</sup>दु-स्थोऽष्टमादिदुष्टस्थानस्थित स त ग्रह तदा  
यत्नेन विशेषेण पूजयेत् । यस्मादेव ग्रहाणां ब्रह्मणा पूर्वं वरो दत्त ‘पूजिता  
स-तो यूयमिष्टप्राप्तेनानिष्टनिरमनेन च पूजयितार पूजयिष्यथ’ इति ॥ ३०७ ॥

भाषा—जिस पुरुष के लिए जो ग्रह प्रतिकूल ( अष्टम आदि स्थान में  
स्थित ) हो वह उस उस ग्रह की विधिपूर्वक पूजा करे । ब्रह्मा ने इन्हें वर  
दिया है कि तुम्हारी पूजा किये जाने पर तुम लोग पूजा करने वाले को  
सुखी भीर प्रसन्न करोगे ॥ ३०७ ॥

अविशेषेण द्विजानभिकृत्य शान्तिकपीठिकादानि कर्माप्यनुष्ठातानि,  
तत्राभिपेक्युण्युक्तस्य राज्ञो विशेषेणाधिकार इति दर्शयति—

ब्रह्माधीना नरे-द्राणामुच्छ्रया पतनानि च ।

भावाभावौ च जयतस्त्वस्मात्पूज्यतमा ब्रह्म ॥ ३०८ ॥

[ ब्रह्मणाभिदमातिर्य्यं कुर्यात्सवत्सरादपि ।

आरोग्यबलसंपन्नो जीवेत्स शरद शतम् ॥ ]

१ भारवाहो ।

२ आयसमस्त्रादि आयस शस्त्रादि ।

३ दुष्टो ।

४ अभिपेक्युक्तस्य ।

नरेन्द्राणामभिषिक्तचत्रियाणां ग्रहा पूज्यतमा, इत्यनेनान्येषामपि पूज्या इति गम्यते । उभयत्र कारणमाह—प्राग्गिनामभ्युदयविनिपाता ग्रहाधीना-  
यरमात्तरमादधिकारिणि पूज्या । किंच जगत. स्यावरजङ्गमात्मकस्य भावा-  
भावाद्भुत्पत्तिनिरोधौ ग्रहाधीनौ । तत्र यद्येते पूजितास्तदा स्वकाल एवोत्पत्ति-  
निरोधौ भवत, अ-यथा उत्पत्तिसमये नोत्पाद, न काले निरोधश्च । जगदीश्वर  
स्वास्त्य नरेन्द्राणां तद्योगक्षेमकारिणां पूज्यतमा ग्रहा इति तेषां विशेषेण शान्ति-  
कादिष्वधिकार । तथा च गौतमेन ( १११३ ) '—रात्रा सर्वस्येष्टे प्राह्मण-  
वर्ज्यम्' इति राजानमधिकृत्य 'वर्णानाश्रमांश्च श्वायतोऽभिरक्षेत्' ( गौ १११९ )  
'चलतश्चैतान्स्वधर्मं स्थापयेत्' इत्यादींश्चाश्रिद्धमांनुवत्वा—'यानि च वैश्वोत्पात  
चिन्तका मद्रूपुस्तान्यादिवेत ( गौ १११३० ) नक्षत्रमपि ह्येके योगक्षेम प्रतिजा-  
नते' इति । शान्तिकपौष्टिकाद्यनुष्ठानहेतुमभिवाच्य 'शान्तिकपुष्पाहस्वस्त्ययना  
पुष्यमङ्गलसमुक्त्तान्याभ्युदयिकानि विद्वपण'स्तम्भनाभिचारद्विपद्बुद्धियुक्तानि च  
पालानौ कुर्वात्' ( गौ. ११११११५ १० ) इति शान्तिकादीनि दर्शितानि ॥ ३०८ ॥

भाषा—राजाओं का अभ्युदय और यत्न, तथा सत्कार का अस्तित्व  
एव विनाम ग्रहों के अधीन होने हैं, इसलिये वे ग्रह सबसे अधिक पूज्य  
होते हैं ।

[ जो व्यक्ति वर्ष में एक बार भी इन ग्रहों की पूर्ण विधि से पूजा  
करता है वह स्वास्थ्य और बल से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीवन  
रहता है । ] ॥ ३०८ ॥

इति ग्रहशान्तिप्रकरणम् ।

### राजधर्मप्रकरणम्

साधारणाङ्गुहरथधर्मानुसत्वेदानीं राज्याभिवेकादिगुणवृत्तस्य गृहस्थस्य  
विशेषधर्मानाह—

महोत्साह स्थूललक्ष कुनक्षो वृद्धसेवक ।

विनीत सस्यसंपन्न कुलीन सत्यवान्गुचि ॥ ३०९ ॥

'अदीर्घसूत्र स्मृतिमान्भुद्रोऽपरुपस्तथा ।

धार्मिकोऽध्यसनश्चैव प्राज्ञ शूरो रहस्यवित् ॥ ३१० ॥

स्वरग्धगोप्ताऽऽन्वीक्षिभ्यां दण्डनीत्या तथैव च ।

विनीतस्त्वथ धार्तर्यां प्रय्यां चैव नराधिप ॥ ३११ ॥

१ अथ च्वा-वेणामपि । २ स्वकालाद्भुत्पत्ति । ३ तस्य नोत्पादो  
न काले । ४ सवननाभिचार । ५ अदीर्घसूत्री ।

रिमाणं च तस्योपवर्जनं, 'अमुकनद्या दक्षिणतोऽयं ग्रामः पेत्रं वा, पूर्वतोऽमु  
ग्रामस्य' एतावन्नित्वर्तनमित्यादिनिवर्तनपरिमाणं च लेख्यम् । एवं आघाट  
नदीनगरवर्मादेः संचारित्वेन भूमेभ्युन्नाधिकभावसंभवात्तन्निवृत्त्यर्थम्, स्वहस्ते  
स्वहस्तलिखितेन मतं मे अमुकनाम्नः अमुकपुत्रस्य यद्यत्रोपरि लेखितमित्यने  
संपन्नं संयुक्तं, कालेन च द्विविधेन शकनृपातीतरूपेण संवत्सररूपेण च दानकाले  
चन्द्रसूर्योपरागादिना संपन्नं स्वमुदया यदृत्वाराराहादिरूपयोपरि षड्विधित्विनमङ्क  
सिधं एतं शासनं 'शिव्यन्ते मविष्यन्तो नृपतयोऽनेन 'दानाष्ट्रेयोऽमुपालनम्  
इति शासनं कारयेत्, महीपतिर्न भोगपतिः । संधिविग्रहादिकारिणा 'दे  
केनचित्कलेयम् ; 'संधिविग्रहकारी तु मवेद्यस्तस्य लेखकः । स्वयं राज्ञा समा  
दिष्टः स लिखेद्वाज्ञशासनम् ॥' इति स्मरणात् । दानभाष्येणैव दानकाले सिद्धं  
शासनकरणं भोगाभिवृद्धया फलातिशयार्थम् ॥ ३१९-३२० ॥

भाषा—( कपास आदि के ) वस्त्र पर या तान्त्रपट्ट पर अपनी मुद्रा  
( मुहर ) अंकित करके राजा अपने घंश के पूर्वपुरुषों के नाम तथा अपना  
नाम दान के वस्तु को मात्रा और ( खेत आदि होतो ) चौदहों का विवरण  
लिखाये और तब अपने हाथ से पितृनाम सहित अपना नाम एवं तिथि  
लिखकर उस राजाशा को पुष्ट ( प्रामाणिक ) बनावे ॥ ३१९-३२० ॥

इदानीं राज्ञो निवासस्थानमाह—

रम्यं पशुभ्यमाजीष्यं जाङ्गलं देशमावसेत् ।

तत्र दुर्गाणि कुर्यात् जनकोशात्मगुप्तये ॥ ३२१ ॥

रम्यं रमणीयं अशोकचम्पकादिभिः । पशुभ्यं पशुभ्यो हितं पशुष्टिकरम् ।  
आजीष्यमुपजीष्यं कन्दमूलपुष्पफलादिभिः । जाङ्गलं यद्यत्पशुविकतरुपर्यतो  
देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र 'सजलतरुपर्यतो देशो 'जाङ्गल' शब्देनाभिधीयते । सं  
देशमावसेदधिवसेत् । तत्रैवंविधे देशे जनानां कोशस्य भुवणद्विरासनञ्च  
रक्षणार्थं दुर्गं कुर्यात् । तत्र पद्विधम् । यथाह मनुः ( ७।७० )—'धन्व-  
दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥'  
इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—रमणीय, पशुओं की ( चारे आदि से ) वृद्धि के योग्य जीवन-  
निर्वाह में ( कन्दमूल, पुष्प और फल से ) सहायता देने वाले एवं जनप्राय  
देश में निवास करें । उस स्थान पर परिश्रमों, कोश एवं अपनी रक्षा के लिये,  
दुर्ग बनावावे ॥ ३२१ ॥

तत्र तत्र च निष्णातानभ्यक्षान्कुशलांशुचीन् ।

प्रकुर्यादायकर्मन्तव्ययकर्मसु चांशतान् ॥ ३२२ ॥

किंच, तत्र तत्र धर्मार्थकामादिषु अथवान् योग्यानधिकारिण प्रकुर्यान्नि-  
युञ्जीत । यथाह — 'धर्मकृत्येषु धर्मज्ञानशंकर्येषु पण्डितान् । स्त्रीषु स्त्रीवासियु  
ज्जीत नीचान्नि-येषु कर्मसु ॥' इति । कीदृशान् ? निष्णाताननन्यव्यापारान् ।  
कुशलान् तत्तद्व्यापारचतुरान् । शुचीन् चतुर्विधोपधाशुद्धान् । आयकर्मसु  
सुवर्णाद्युपस्थिस्थानेषु स्वयकर्मसु सुवर्णादिदानस्थानेषु च उद्यतानमलसान् ।  
अशब्दात्प्राज्ञस्वादिगुणयुक्तान् । उक्तं च—'प्राज्ञत्वमुपघाशुद्विरप्रमादोऽभियुक्ता ।  
कार्येषु व्यसनाभाव स्वामिभक्तिश्च योग्यता ॥' इति ॥ ३२२ ॥

भाषा—तत्तत् ( धर्म, अर्थ, काम आदि ) कर्मों में, आयकर्म और व्यय  
कर्म में योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एवं कर्त्तव्यविष्ट अभ्यर्थों को नियुक्त  
करे ॥ ३२२ ॥

'भोगाश्च दद्याद्विभ्रेभ्यो वसूनि विविचानि च' ( भा० ३१५ ) इति सामा-  
न्येन स्वस्वदानमुक्तम्, इदानीं मृपाणां विद्वन्मार्जितस्य दाने फलातिशयमाह—

नातः परतरो धर्मो मृपाणां यद्रणार्जितम् ।

विभ्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ ३२३ ॥

अहमाहुःकृष्टतमो धर्मो मृपाणां न विद्यत यद्रणार्जितं द्रव्यं विभ्रेभ्यो  
दीयते । यद्य प्रजाभ्योऽभयदानम् ॥ ३२३ ॥

भाषा—राजाओं के लिए इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है कि युद्ध में  
अपहन धन प्राज्ञों को दान करें और अपनी प्रजाओं को अभयदान दें ॥ ३२३ ॥

'रणार्जितं दैवम्' इत्युक्तं, द्रव्यार्जनाय रणे प्रवृत्तस्य विपत्तिरपि सम्भवतीति  
न धर्मो नाप्यर्थ इति ततो निवृत्तिरेव श्रेयसीत्यत आह—

य आह्वयेषु घञ्यन्ते भूम्यर्थमपराह्मुखा ।

अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥ ३२४ ॥

ये भूम्यात्सर्गमाह्वयेषु प्रवृत्ता अपराह्मुखा अग्निमुखा घञ्यन्ते मार्यन्ते  
ते स्वर्गं यान्ति । योगाभ्यासरता यथा । यत्कूटैरविपदिग्घादिभिरायुधैर्षोडशो  
भवन्ति ॥ ३२४ ॥

भाषा—जो भूमि के लिये युद्ध में सम्मुख लड़ते हुए अकूट ( विप से  
न लुटे हुए ) हथियारों से मारे जाते हैं वे योगियों के समान ( मृत्यु के  
उपरान्त ) स्वर्ग को जाते हैं ॥ ३२४ ॥

१. धर्मादिरुपादिषु । २. उवापती ।

पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम् ।  
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ॥ ३२५ ॥

किंघ, स्वजलेषु करितुरगरथपदातिषु भग्नेष्वविनिवर्तिना परपलाभिमुख-  
यायिनां पदानि क्रतुतुल्यान्यथमेघतुल्यानि विपर्यये दोषमाह—विपला-  
यिनां पाद्मुखानां हतानां राजा सुकृतमादत्ते ॥ ३२५ ॥

भाषा—भपनी ( हाथा, घोड़े, रथ, पैदल आदि ) सेना के नष्ट हो जाने  
पर भी शत्रु की सेना की ओर लड़ते हुए राजा के प्रत्येकवग यज्ञों के तुष्य होते  
हैं ( भयान्क जितने पग जाता है उतने यज्ञों का फल पाता है ) और वह  
चोट आरु र पलायन करने वालों के शुभ कर्मों के पुण्य प्राप्त करता है ॥ ३२५ ॥

तथाहवादिनं क्लीयं निहंति परसंगतम् ।  
न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम् ॥ ३२६ ॥

अपि च, तवाहमिति चो वदति तं क्षीय नपुत्रं निहंति निरायुध  
परसंगतमप्येन सह युद्धयमानं विनिवृत्तं युद्धाद्विनिवृत्त युद्धप्रेक्षणकं युद्ध-  
क्षीनं । 'न हन्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः । 'आदि' ग्रहणादश्वमारथादीनां ग्रह-  
णम् । यथाह गौतम ( १०१३७-१८ )—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र  
अथश्वसाराध्यानायुधकृत्नाञ्जलिप्रकीर्णकेशपराद्मुखोपधिष्ठस्थलवृत्ताल्होमसहृतगो-  
ब्राह्मणादिभ्य' इति । काश्लोऽप्याह—'न पानीय विवर्तं न भुञ्जान गोपानदी  
मुञ्चन्तं नावर्माणं सर्वमां न क्षियं न करेषु न शान्तिषु न सारथिषु न सुत न  
दूत न ब्राह्मण न राजानमराजा हन्यात्' इति ॥ ३२६ ॥

भाषा—'मं तुम्हारा ही हूँ' ऐसा कहनेवाले, नपुंसक, शस्त्रहीन, दूमरे के  
साथ युद्ध में सलज, ( युद्ध में ) निवृत्त और युद्ध देखने के लिये भागे हुए  
व्यक्ति को नहीं मारना चाहिए ॥ ३२६ ॥

कृतरक्ष. समुत्थाय पश्येदावव्ययी स्वयम् ।  
व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामन. ॥ ३२७ ॥

कृतरक्ष पुरस्वात्मनश्च रक्षां विधाय प्रतिदिनं प्रातः काल उथाय स्वयमे-  
वावव्ययी पश्येत् । ततो व्यवहारान् दृष्ट्वा मभ्याह्नहाले स्नानाय कामतो  
यथाकालं भुञ्जीत ॥ ३२७ ॥

भाषा—( पुर की और अपनी ) रक्षा करके यह स्वयं भाव और स्वयं  
का लेता देखे, दूमरे बाद व्यवहार ( वाद-मुकदमे ) देखे और तब स्नान  
करके समय से भोजन करे ॥ ३२७ ॥

द्विष्यं व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु<sup>२</sup> निक्षिपेत् ।

पश्येच्चारांस्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसंगतः ॥ ३२८ ॥

तदनन्तर द्विष्य व्यापृतैर्द्विष्याद्यानयननियुक्तैरानीत स्वयमेव निरीच्य भाण्डागारेषु निक्षिपेत् । ततश्चारांस्वयमेव प्रस्थापयित्वा परयेत् । ये परराज्ये पृथग्व्यपि परिज्ञानाय परिधाजकतापसादिरूपेण गूढचारिणः प्रेषिताः तेषां श्वाराण्डेषु क्वचिन्नियेक्षयेत् । तदनन्तर दूतांश्च परयेत् । दूताश्च ये प्रकटमेव राज्यान्तर-प्रति गतागतमाचरन्ति । ते च त्रिविधा — निस्पृष्टार्था, सदिष्टार्था, ज्ञासनह-राश्चेति । तत्र निस्पृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं चमा, उक्तमात्रं ये परस्मै निवेद्यन्ति ते सदिष्टार्था, ज्ञासनहारास्तु राजलेख-हारिणः, मानपूर्वंप्रेषितानामान्मन्त्रिसङ्घं परयेत् । इष्ट्वा तद्द्वारतां कालेन पुनः पुनः प्रेषयेत् ॥ ३२८ ॥

भाषा—( स्वर्णं आदि लाने क लिप् ) नियुक्त व्यक्तियों द्वारा लाने लिये स्वर्णं को ( देखकर ) भण्डार में रखे, तब गुप्तधरो से यानें करे धीरे फिर मन्त्री के साथ बैठकर दूतों को निश्चित कार्य करने के लिये भेजे ॥ ३२८ ॥

तत्र स्वैरचिह्नारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समागतः ।

यत्नानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

तद्व्यपत्तमपराद्धे स्वैर पश्येत्प्रेषोऽन्त-पुरविहारी स्यात् । मन्त्रिभिर्वा विश्वासिभिः कलाकुशलैः परिहासवेदिभिः परिवृतः स्यात् । अभिक्षरूपयौवनवैदाभ्य-शालिनीभिः — भुक्तान्निहरेर्चञ्च श्वाभिरन्त-पुरे सह । विदुष्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ इति ( ३२९ ) मनुस्मरणात् । ततो विशिष्टैर्ब-न्धुसुमन्त्रिणैः पालकारैरलङ्कृतं हस्तपथपदतिबलानि इष्ट्वा सेनान्या सेना-पतिना सह तद्रक्षणदि देशकालोचितं चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

भाषा—तत्र ( अपराद्ध में ) इच्छानुसार ( अन्त-पुर में ) विहार करे अथवा मन्त्रियों के साथ बैठे । पुनः अपनी मन्त्रियों का निरीक्षण करके सेना-पतियों के साथ ( देशकालोचित ) विचार विमर्श करे ॥ ३२९ ॥

मंध्यामुपास्य ऋणुयाच्चाराणां गूढमापितम् ।

गीतनृत्यैश्च भुञ्जीत पठेत्स्याध्यायमेव च ॥ ३३० ॥

ततः सायकाले मंध्यामुपास्य, सामान्येन शास्त्रस्यापि पुनर्वचनं कार्याकुल-त्वादिस्मरणार्थम् । अनन्तर ये पूर्वदृष्टा क्वचिदस्थाने निवेशितास्तेषां चाराणां

१. द्विष्यादिकृ । २. गारे न्वसेत्तत । ३. आरान्विधरनाम् ।

४. राजान्तर । ५. ज्ञासनहस्ताश्चेति । ६. नृत्तैश्च ।



गृहभाषितमन्तर्वेदमनि शय्यापाणिः शृणुष्यात् । उष्टं च मनुना ( ७।२२३ )—  
 'संघां चोपास्य शृणुष्यादन्तर्वेदमनि शय्याभृत् । रहस्यालपायिनां चैत्र प्रणिधीर्ना  
 च सेदितम् ॥' इति । ततो नृत्यगीतादिभिः कंचित्कालं क्रीदित्वा कसान्तरं  
 प्रविश्य भुङ्क्षीत; 'गत्या कक्षान्तरं खन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेन्नोजनार्थं  
 च स्त्रीभिरन्तःपुरं सह ॥' इति ( मनुः ७।२२४ ) स्मरणाय । ततोऽविसर्गणार्थं  
 यथादाक्षि स्वाप्यायं षडेत् ॥ ३३० ॥

भाषा—( सायंकाल ) सम्प्रोषामना करके गुप्तचरों के रहस्यमय खचनों  
 को ( भकेले बैठकर ) सुने । तब गीत और नृत्य का आनन्द ले, भोजन करे  
 और शवाप्याय का अध्ययन करे ॥ ३३० ॥

संविशेत्तूर्यघोषेण प्रतिबुद्धयेत्सयैव च ।

शास्त्राणि चिन्तयेद् बुद्ध्या सर्वकर्तव्यतास्तथा ॥ ३३१ ॥

तदनन्तरं तूर्यघोषेण संविशेत्स्वप्नात् । तयैव तूर्यादिघोषेण  
 प्रतिबुद्धयेत् । प्रतिबुद्धय च शास्त्रविद्भिर्विधानिभिः सह पृथ्वी या पश्चिमे  
 यामे शास्त्राणि चिन्तयेत् सर्वकर्तव्यतास्य सर्वकार्याणि च । एतद्य स्वयं  
 प्रायुष्यते । अस्वस्थः पुनः सर्वकार्येष्वन्य मिश्रयेत् । यथाह मनुः ( ७।२२५ )  
 —'एतद्द्यूतं समातिष्ठेद्देशेणः श्रुषीषमिः । अस्थस्थं सर्वमेवैतन्मन्त्रिसुप्ये  
 निवेशयेत् ॥' इति ॥ ३३१ ॥

भाषा—तदनन्तर तूर्य और घंट प्यनि के साथ सोवे और इसी प्रकार  
 जागे । अपनी बुद्धि से शास्त्रों का और विवेकाने वाले सभी कार्यों का  
 चिन्तन करे ॥ ३३१ ॥

प्रेषयेद्य ततश्चायन् स्वेष्वभ्येषु च सांद्रान् ।

• अस्तिवपुःपुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः ॥ ३३२ ॥

दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान् देवाद् गां काञ्चन महीम् ।

नैवेदिकाणि च रततः श्रोत्रियेभ्यो गृहाणि च ॥ ३३३ ॥

अनन्तरं तत्रस्थ एव विश्वस्नान्स्नान् चारान् दानमानसकारैः पूजितान्  
 स्वेषु सामन्ताद्यधिकारिषु अन्येषु च महीपतिषु प्रेषयेत्तत्रिकीर्णितपरिष्ठानाद्य ।  
 ततः प्रातः संध्यासुशरयाऽग्निहोत्रं कृत्वा पुरोहितविद्याचार्यादिभिराशीर्भिरभि-  
 नन्दितो ज्योतिर्विदो दृष्ट्वा तेष्वथ गृहादिस्थितं विदित्वा शान्तिकादीनि च

१. स्त्रीश्रुतोऽन्तःपुरं पुनः । २. एतद्विधान । ३. सर्वमेतसु मृत्युषु  
 विनियोजयेत् । ४. सादरम् । ५. नृध्यान्नाः । ६. तथा श्रोत्रियाणां ।

पुरोहितापादिश्य वैद्याश्च दृष्ट्वा तभ्यश्च स्वशरीरस्थितिं निवेद्य प्रतिविधान  
चादिश्य मा दाम्नीं काञ्चन महीं च नैवेशिकानि विवाहोपयोगीनि क-याल  
कारादीनि गृहाणि च मुधावलितादीनि श्रोत्रियेभ्योऽधीतवद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यः ।  
'दद्यात्' इति प्रत्येक सवध्यते ॥ ३३२ ३३३ ॥

भाषा—नव गुप्तचरों को आदर के साथ अपने मन्त्रियों आदि के निकट  
अथवा दूसरे राजाओं के समीप भेजे । ( प्रातः सम्भ्या और अग्निहोत्र के  
उपरागत) ऋत्विज्, पुरोहित और भाचार्य से आज्ञावादि ग्रहण करे । ज्योतिषी  
और वैद्य से मिले ( उनसे क्रमशः ग्रहस्थिति और शारीरिक स्वास्थ्य की जान-  
कारी प्राप्त करे ), इनके बाद ऋत्विच ( वृद्ध ) ब्राह्मणों को दुधार गाव,  
सोना, भूमि, विवाह योग्य अलंकारादि उपकरण और वासभवन का दान  
करे ॥ ३३२-३३३ ॥

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्व कोधनोऽरिषु ।

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ॥ ३३४ ॥

किञ्च, ब्राह्मणेष्वपिधिपस्त्वपि क्षमी क्षमावान् । स्निग्धेषु स्नेहव सु  
मिप्रादिष्वजिह्व नवम् । अरिषु क्रोधन । भृत्यवर्गेषु प्रजासु च हिताक्षरमेना-  
हितनिवर्तनेन च पितेव दयावान् । 'स्यात्' इति प्रत्येक सवध्यते ॥ ३३४ ॥

भाषा—राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहिए, ( मिप्रादि )  
अनुराग रखने वालों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं  
प्रजा के प्रति पिता के समान ( दयावान् एवं हितकारी ) होना चाहिए ॥ ३३४ ॥

प्रजापालनफलमाह—

पुण्यत्वं भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ।

सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥ ३३५ ॥

यस्मात्न्यायेन ज्ञास्योक्तमागम प्रजा परिपालयन् परिपालितप्रजोपहित-  
पुण्यात् पद्भाग पष्ट भागमादत्ते । यस्मात्सर्वेभ्यो भूम्यादिवानेभ्यः प्रजानां  
परिपालनमधिकफलम् । तस्मात् 'प्रजासु यथा पिता तथैव स्यात्' इति  
शतेन सवध्य ॥ ३३५ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का  
छँठवा भाग प्राप्त करता है । अतएव भूमि आदि सभी प्रकार के दान से  
उत्पन्न पुण्यफल से प्रजापालन का फल अधिक होता है ॥ ३३५ ॥

घाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।

पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ ३३६ ॥

घाटाः प्रतापकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति, प्रच्छुत्तापहारिणस्तस्कराः, दुर्वृत्ता ईन्द्रजालिकवित्वादयः, सहो यल सहसा यलेन कृतं साहसं महद्य तत्साहसं च महासाहसं तेन वर्तन्त इति महासाहसिका-प्रसङ्गोपहारिणः, 'भादि'शब्दान्मौलिककुहकदुर्वृत्तयः । एतैः पीड्यमाना बाध्यमानाः प्रजा रक्षेत् । कायस्था लेपना गणनाश्च तैः पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत् ; तेषां राजवृत्तमत्तयातिमायावितया च धुर्निवारत्वात् ॥ ३३६ ॥

भाषा—कुटेरों, खोरों, ऐन्द्रजालिक आदि धूर्तों एवं दुस्साहसी डाकुओं आदि से पीडित प्रजा की रक्षा करे और विशेषतया कायस्थों ( लेपकों एवं गणकों ) से पीडित व्यक्तियों की रक्षा करे ॥ ३३६ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्कल्पिय प्रजा ।

तस्मात्तु नृपतेरर्थं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान् ॥ ३३७ ॥

अरक्ष्यमाणाः प्रजाः यत्किञ्चित्कल्पियं चौर्यपरदारगमनादि कुर्वन्ति तस्मात्पापावर्धं नृपतेर्भवति । यस्मादसौ राजा रक्षणार्थं प्रजाम्पः करान् गृह्णाति ॥ ३३७ ॥

भाषा—राजा द्वारा अरक्षित प्रजा जो कुछ ( चोरी आदि ) पाप करती है, उसमें से भाषा पाप उमका हो जाता है; क्योंकि वह रक्षाकरने के लिये ही प्रजाओं से कर लेता है ॥ ३३७ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चरैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।

साधून्समानयेद्वाजा विपरीतोश्च घातयेत् ॥ ३३८ ॥

उत्कीचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत् ।

सदानमानसत्काराभ्योत्रियान्वासयेत्सदा ॥ ३३९ ॥

राष्ट्रे राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टित चरित चरैरुत्कृष्ट-चरैः सम्बन्धं ज्ञात्वा साधून्सुचरितान् समानयेत् दानमानसत्कारैः पूजयेत् । विपरीतान्द्रुष्टचरितान्सम्बन्धिन्वा घातयेत् अपराधानुसारेण । ये पुनरुत्कीचजीविनरतान्त्रयपरहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत् । श्रोत्रियान्सदानमानसत्कारैः सदहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे सदैव वासयेत् ॥ ३३८-३३९ ॥

भाषा—जो राज्यकार्य में अधिकारयुक्त पदों पर नियुक्त हों उनका शासन भलीभाँति सुसचरो द्वारा जानकर राजा उत्तमचरित्रवालों का

(दान आदि में) सम्मान करे और विपरीत आचरण वालों को (अपराध के अनुसार) दण्ड देवे । जो धूम लेकर जीविना चलाते हैं उनका धन हीन कर उन्हें कगाल) बनाकर) देण में निकाल देना चाहिये । श्रेयिण (येदाप्यय-नरत याद्वगो) को दान, सम्मान और सरकार के साथ सदा ही (अपने राज्य में) यत्नाना चाहिये ॥ ३३८-३३९ ॥

अभ्यायेन नृपां राष्ट्रात्स्वकोशं 'योऽभिवर्धयेत् ।

सोऽधिराष्ट्रोऽग्रेव विद्यतधोका त्रिगुणसमीका च-पुमि सह नाश प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

योऽयौ राजा स्वराष्ट्रादभ्यायेन द्रव्यमादाय स्वकाश अभिवर्धयेत् सोऽधिराष्ट्रोऽग्रेव विद्यतधोका त्रिगुणसमीका च-पुमि सह नाश प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

भाषा—जो राजा अभ्यायपूर्वक अपने प्रजा से (धन लेकर) अपने कोश की वृद्धि करता है वह साम्रज्य ही ओहीन होकर आन्ध्रों सहित नष्ट हो जाता है ॥ ३४० ॥

प्रजापीडनसंतापारसमुद्भूतो हुताशन ।

राज कुलं धियं 'प्राणाध्याऽदृग्भ्या न निवर्तते ॥ ३४१ ॥

प्रजानां तदस्वराद्विद्वर्षादनन च सनापरस्वमादुद्भूतो हुताशन इय सनापकारित्वाद्दुष्पराशि 'हुताशन'वाग्देनोपयत । स राज कुल धियं प्राणाध्यादृग्भ्या नाशमर्गात् न निवर्तते नोपशास्वपि ॥ ३४१ ॥

भाषा—प्रजापीडन के संताप की अभिज्ञ राजा के कुल, सोमा और प्राणों को नष्ट किये बिना क्षान्त नहीं होती ॥ ३४१ ॥

य यत्र नृपतेर्धर्मं स्वराष्ट्रपरिपालने ।

तमेव धूर्तकामाप्नोति परराष्ट्रं यशं नयन् ॥ ३४२ ॥

स्वायत स्वराष्ट्रपरिपालनं राजो या धर्मज्ञ स्वदृष्ट वचनमागम्यायेन पर राष्ट्र यशं नयन् भारमयाऽकुर्वन्नाप्नोति धर्मवदभाग च ॥ ३४२ ॥

भाषा—स्वायपूर्वक अपने राज्य का पालन करने में राजा का जो धर्म होता है वही धर्म वह दूसरे राष्ट्र को यश में करने पर पालन है ॥ ३४२ ॥

'यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहार कुलमिथि ।

तथैव परिपात्योऽसौ यदा यदासुपागत ॥ ३४३ ॥

१. यऽभिरुचयेत् ।

२ प्राजानदृग्भ्या, प्राण आदृग्भ्या ।

३ वृत् ।

किंच, यदा परदेशो यज्ञमुपागतस्तदा न स्वदेशाचारादिभिरकार्यं,  
 वि तु यस्मिन्देशे य आचार कुलस्थितिर्यवहारो वा यथैव प्रागासी  
 तथैवासी परिपालनीयो यदि शास्त्रविद्भ्यो न भवति । 'यदा यज्ञमुपागत'  
 इत्यनेन यज्ञोपयमनात्प्रागनियम इति दर्शितम् । यथोक्तम् ( मनु ७।१९५ )—  
 'उपरुप्यारिमासीत् राष्ट्र चास्थोपपादयेत् । दूयवैच्चास्य सतत यवसाजोदक  
 स्थनम् ॥' इति ॥ ३४३ ॥

भाषा—अपने यज्ञ में आ आच तो जिस देश में जो आचार, उपहार  
 और कुल की मर्यादा हो उसका उसी रूप में वह चलन करे ॥ ३४३ ॥

मन्त्रमूलं यतो 'राज्यं तस्मान्मन्त्रं सुरक्षितम् ।

कुर्वाद्यथाऽस्य न विदु कर्मणामा फलोदयात् ॥ ३४४ ॥

परमात् 'तै सार्धं चिन्तयेद्वाग्धम्' (शा० ३।१५) इत्याद्युक्त मन्त्रमूल राज्य  
 तस्मान्मन्त्र यानेन तथा सुरक्षित कुर्वात्, यथाऽस्य राज्य कर्मणां सधि  
 विग्रहाशीनामाफलोदयात् कलनिष्पत्ते 'प्रागन्ये मन्त्र न जानन्ति ॥ ३४४ ॥

भाषा—राज्यकार्य का मुख्य आधार मन्त्र ( मन्त्रणा, गुप्त परामर्श ) है,  
 अतएव मन्त्र को इस प्रकार गुप्त रखे कि राजा के कर्मों ( सधि विग्रह  
 आदि ) के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जागकारी किसी को न मिल  
 सके ॥ ३४४ ॥

अरिमिन्नमुदासीनोऽनन्तरस्तत्पर पर ।

क्रमशो मण्डलं चित्यं सामादिभिरुपक्रमै ॥ ३४५ ॥

किंच, अरि शत्रु, मित्र सुहृत्, उभयविलक्षण उदासीनश्च । ते च  
 त्रयस्त्रिविधा सहजः कृत्रिमा प्राकृतान्धेति । तत्र सहजोऽरि सापन्नविदुषो  
 तापुत्रादि । कृत्रिमोऽरि यथापहृत येन चापकृतम् । प्राकृतारथन-तर  
 देशाधिपति । सहज मित्र भागिभयवैतृष्णीयमातृपत्नीयादि । कृत्रिम मित्र  
 येनोपहृत यस्य चोपहृतम् । प्राकृतमित्रमेषा तरितदेशाधिपति । सहज-  
 त्रिमित्रशत्रुलक्षणरहितौ सहजकृत्रिमोदासीनौ । प्राकृतादासीनो 'द्वयन्त  
 रितदेशाधिपति । अरि पुनश्चतुर्विधः—'घातशोच्येत्तद्वयादनीयः शत्रोः  
 भेदेन । तत्र घातशोऽन-तरमूर्धपतिर्व्यसनः हीनबलो विरक्तप्रकृति । विदुर्मा  
 मित्रहीनो दुर्बलशोच्येत्त-य । पाठनाथो मन्त्ररत्नहीन । प्रबलमन्त्ररत्नयुक्त  
 कर्षणीय, 'निर्मूलनात्समुच्छेद पीडन यलविग्रहम् । कर्षणं तु पुन प्राहु'

१ राज्यगतो मन्त्र । २ प्राग्यावद-ये । ३ ह्यन तरदेशा । मध्यन्तर-  
 देशा । ४ घातशोच्येदनीय ।

कोशदण्डापकेशनात् ॥' इति । मित्र द्विविध-बृहणीय, कर्शनीयमिति । कोशदण्डहीन बृहणीयम् । कोशदण्डाधिक कर्शनीयम् । 'अनन्तरस्तापर पर' इति प्राकृतारिमिश्रोदासीनानाह-अनन्तर प्राकृतोऽरि, तत्पर प्राकृत मित्र, तस्मात्पर प्राकृत उदासीन, क्षेपा पुन प्रसिद्धवाचोक्ता । एतद्वाजमण्डल क्रमशः पूर्वादिदिक्षुमेण चिन्त्य तेषां चेष्टित ज्ञातव्यम् । ज्ञात्वा च सामादिभिरपार्यैर्वधपमाणैरनुसंधेयम् । एव पुरतः पृष्ठतः पार्वतश्च त्रयस्य भागमा चैक इति त्रयोदशरात्रकमिदं राजमण्डल पद्याकारम् । पार्थिवप्राहाकन्दसारोदाशयस्य इति मिश्रोदासीनेष्टेवा-नर्भवन्ति, सज्जामेदमात्र ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न पृथगुक्ता ॥ ३४५ ॥

भाषा—( सीमा से ) सटे हुए राज्य, उसके बाद के राज्य और उसके भी बाद के राज्य पर शासन करने वाले राजा क्रमशः क्षत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं । इन राजमण्डलों पर क्रमशः ( पूर्वादि दिशा से लेकर ) ध्यान रखना चाहिए और इनके साथ साम आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३४५ ॥

'सामादिभिरपक्रमै' ( भा० ३४५ ) इत्युक्तम्, इदानीं तानुपायानाह—

उपायाः साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।

सम्पन्नप्रयुक्ताः सिद्धयेयुर्दण्डस्त्वगतिका गति ॥३४६॥

साम प्रियभाषणम्, दान सुवर्णादि भेदो भेदकरण तस्मान्गतादीनां परस्परतो वैरस्योपादमेन, दण्ड उपायप्रकाशाभ्यां घनापहाराद्विघ्नपथस्तोऽपकार । एते सामाद्य परिषन्ध्यादिसाधनोपायाः । एते च देशकालाद्यनुसारेण सम्पन्नप्रयुक्ताः सिद्धयेयुः । तेषां च मध्य दण्डस्त्वगतिका गति, उपायात्तरसभवे सति न प्रयोक्तव्यः । एतच्च पीडनीयकर्शनीयाभिप्रायेण । यातयोच्छेत्तव्योरस्तु दण्ड एव मुरव । एते सामाद्वो न केवलं राज्यव्यवहारविषया अपि ॥ सकललोकव्यवहारविषया यथा—'अधीष्व पुत्रकाधीष्व द्वास्यामि तव मोदकान् । यद्वाऽन्यस्मै प्रदास्यामि नर्णमुत्पाटयामि ते ॥' इति ॥ ३४६ ॥

भाषा—साम ( प्रियभाषण ), दान ( सुवर्णादि उपहार देना ), भेद ( फूट डालना ), और दण्ड ( घनापहरण और वध आदि क्रम ) ये चार उपाय हैं, इनका उचित रूप से ( देश, काल आदि के अनुसार ) प्रयोग

१ एकर्षणात् । २ रभिसंधेयः । ३ न पृथगुक्तम् । ४ स्योपा-  
दनम् ।

करने पर सफलता मिलती है । और कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लिया जाता है ॥ ३४६ ॥

संधि च विग्रहं याममासनं संश्रयं तथा ।

द्वैधीभावं गुणानेतान् ययावत्परिकल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

किं, संधिर्व्यवस्थाकरणम्, विग्रहोऽयकार, याव पर प्रति याया, आमनगुणेष्वा, संश्रयो बलवदाश्रयणम्, द्वैधीभाव स्वगुणस्य द्विधाकरणम् । पृथक्पृथक्प्रभृतीः गुणान् यथावच्छेदकालदक्षिमित्राद्विचयेन कल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

भाषा—संधि, विग्रह ( अयकार ), याव ( चढ़ाई ), उपेक्षाभावन, बलवान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन—इन गुणों का यथोचित ( दैत, फल, दक्षि, मित्र भादि का विचार करके ) अवलम्बन करे ॥ ३४७ ॥

यानकालानाह—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् ।

परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपूरुष ॥ ३४८ ॥

यदा परराष्ट्रं सर्वैर्भ्राह्मिदिभिर्गुणैश्च समजले-धनतुणादिभिरुपेत सपन्नं गजुश्च हीनो बलादिभिः, आत्मा च हृष्टवाहनपूरुष वाहनानि हृष्टयथादानि तानि च पूरुषाश्च वाहनपूरुषा हृष्टा वाहनपूरुषा यस्य स तथोक्त । तदा परराष्ट्रमात्मसात्कर्तुं व्रजेत् ॥ ३४८ ॥

भाषा—जब राजु का राज्य अन्न आदि से अशुद्ध हो, राजु की सेना दुर्बल हो और अपनी सेना क अशुद्ध वाहन एवं सैनिक प्रसन्न ( एवं आत्माहर्षण ) हों तब आक्रमण करे ॥ ३४८ ॥

माणिकाम्बुद्वयमिनिपाताना देवायत्तत्वाद्यदि देवमस्ति तदा रथमेव पर-  
ाष्ट्रादि वशीभविष्यति, अध नास्ति कृतेऽपि पौरुषे न भविष्यति, अतो वदधं  
चाय यात्राप्रयास इत्यत आह—

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता ।

तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वेदेद्विकम् ॥ ३४९ ॥

कर्मसिद्धि फलप्राप्तिरिष्टानिष्टलक्षणा । सा न केवल दैव व्यवस्थिता । अपि तु पुरुषकारेऽपि, लोक तथा दर्शनात्, चिकित्सकादिशास्त्रवैयर्थ्याच्च । अपि च पुरुषकाराभावे दैवमेव नास्तात्याह—तत्र दैवमिति । यत पूर्वदेहाजित पौरुषमेव दैवमुच्यते । अत्रपुरुषकारानन्तर महाकठोदयाभिव्यक्त पौरुष

पौर्वदेहिक कर्म । तस्मात्पुरुषकाराभावे न दैवमस्तीति पुरुषकारे घटनो विधा-  
तस्य ॥ ३४९ ॥

भाषा—( इष्ट या अनिष्ट ) फल की प्राप्ति दैव ( भाग्य ) और पुरुष  
( अपने कर्म ) स होती है । इसमें दैव ( भाग्य ) [ इस जन्म में अक्षय प्रयत्न  
से अधिक फल के रूप में ] अभिव्यक्त पूर्व शरीर द्वारा किया गया कर्म ही  
होता है ॥ ३४९ ॥

इदानीं सतान्तराण्वाह—

केचिद् दैवोत्स्यभावात् कालात्पुरुषकारत ।

संयोगे केचिद्विच्छन्ति फलं कुशलशुद्धय ॥ ३५० ॥

केचिदिष्टानिष्टलक्षण फल दैवादेवेच्छन्ति । केचित्स्वभावात्स्वयमेव भवति,  
न कारणमपेक्षन् इति । केचित्कालात् । केचित्पुरुषकारत एवेति । इदानीं  
स्वमतमाह—दैवादीना संयोगे समुत्सये फल भवतीति कुशलशुद्धयो मन्वाद्यो  
मन्यन्ते ॥ ३५० ॥

इष्ट लोभ ( इष्ट या अनिष्ट ) फल को भाग्य या स्वभाव से उत्पन्न  
मानते हैं, कुछ लोग समय को और कुछ लोग पौरुष या कर्म को फल का  
कारण मानते हैं । कुछ बुद्धिमानों ने इन सबके संयोग ( मिलने ) से फल की  
उत्पत्ति मानी है ॥ ३५० ॥

एकैकस्मात्फल न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।

एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति ॥ ३५१ ॥

चात्र तिरोहितमस्ति ॥ ३५१ ॥

भाषा—जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार  
पौरुष के बिना भी भाग्य या दैव की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३५१ ॥

लाभाय परराष्ट्र गन्तव्यमित्युक्तम् । लाभश्च त्रिविध हिरण्यलाभो मूल-  
लाभो मित्रलाभश्चेति, तेषु मित्रलाभो ज्यायान् । ततस्तत्प्राप्त्युपाये यत्नो विधा-  
तस्य । तत्प्राप्त्युपायश्च सत्यवचनमित्याह—

हिरण्यभूमिलांभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यत ।

यतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहित ॥ ३५२ ॥

१. केचिद्दैवाद्दृष्टारकेचिकेचित् । २. सिद्धयन्त्येषां मनुष्याणां तेषां  
योनस्तु पौरुषम् । ३. लाभेषु ( = हिरण्य-भू मित्रलाभानां मध्ये ) ।  
४. तत्प्राप्तौ ।



यस्मात् हिरण्यभूमित्रलाभेभ्यो मित्रलब्धिवंसा उत्कृष्टा तस्मात्तत्राप्यै  
पतेत यत्नं कुर्यात् सामादिभिः । सत्यं च रचेत् । समाहितः सावधानः । सत्य-  
मूलावान्मित्रलाभस्य ॥ ३५२ ॥

भाषा—सुवर्ण और भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट है । अत  
एव मित्र की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए और सावधान होकर सत्यता  
की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३५२ ॥

इवानी राज्याङ्गान्याह—

'स्वाभ्यमास्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।

मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सत्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

'महोरताह' ( भा० ३०९ ) इत्याद्युक्तलक्षणो महीपतिः स्वामी, अमास्या  
मन्त्रिपुरोहिताद्याः, जनो ब्राह्मणादिप्रजा, दुर्गं घनदुर्गादि, कोशः सुवर्णादि-  
घनराशि, दण्डो हस्त्यश्वरथपत्तिलक्षणं क्तुरङ्गबलम् । मित्राणि महज्जह्निम-  
प्राकृतानि, एताः स्वाभ्याघाः राज्यस्य प्रकृतयो मूलकारणानि । एवं राज्यं  
सत्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

भाषा—राजा, अमास्य ( मन्त्री, पुरोहित आदि ), प्रजा, दुर्ग, कोश,  
दण्ड ( सेना ) और मित्र—ये राज्य के मूल कारण हैं; अतः राज्य को सत्ताङ्ग  
कहा जाता है ॥ ३५३ ॥

तदयाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।

धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ ३५४ ॥

तदेवंविधं राज्यं प्राप्य दुर्वृत्तेषु बलकसत्पूर्वपरदारपरद्रव्यापहारिहिंस-  
कादिषु नृपो दण्डं पातयेत् प्रयोजयेत् हि यस्माद्धर्म एव दण्डरूपेण पूर्वं ब्रह्मणा  
निर्मितः । तस्य च दण्ड इति यौगिकी सज्ञा—'दण्डो दमनादियाहुस्तेना-  
द्यान्तादमयेत्' ( १११२८ ) इत्यादिगीतमस्मरणात् ॥ ३५४ ॥

भाषा—इस प्रकार का राज्य प्राप्त करके राजा दुराचारियों अर्थात्  
अपराधियों को दण्ड देवे, क्योंकि आदि काल में ब्रह्मा ने दण्ड के रूप में  
धर्म की ही सृष्टि की है ॥ ३५४ ॥

स नेतुं न्यायतोऽशक्यो लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।

सत्यसंधेन शुचिना सुसहायेन धीमता ॥ ३५५ ॥

१. स्वाभ्यमास्यौ । २. न्यायतः शक्यो (= न्यायतो यथाशास्त्रं नेतुं प्रनेतुं  
शक्यः) । ३. लुब्धेन कृतबुद्धिना (= अलुब्धेन न्यायघनव्ययकारिणा कृत-  
बुद्धिना लब्धप्रज्ञेन) ।

स पूर्वोक्तो दण्डो लुब्धेन कृपणेनाहृतबुद्धिना चञ्चलबुद्धिना न्यायतो न्यायानुसारेण नतु प्रयोक्तुं शक्यो न भवति । कीदृशेन तद्धि शक्य इत्याह—  
सत्यमधेनाप्रतारकेण । छुचिमा जितारिषद्वर्गेण । सुसहायेन पूर्वोक्त  
सहायमहितेन । धीमता नयानयकुशलेन ॥ दण्डो न्यायतो धर्मानुसारेण  
चेतु शक्य ॥ ३५५ ॥

भाषा—दण्ड को लोभी और चञ्चल बुद्धि वाला व्यक्ति न्यायपूर्वक नहीं  
चला सकता; सत्यशील, पवित्र उत्तम सहायकों से युक्त एवं नीतिशास्त्र का  
विद्वान् ही उसे ( न्याय से ) चला सकता है ॥ ३५५ ॥

यथाशास्त्रं प्रयुक्तं सन् सदेवासुरमानधम् ।

जनदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥

स दण्डं शास्त्रोक्तमार्गेण प्रयुज्यमानः सन् देवासुरमानधै सहित इव  
सर्वं जगदानन्दयेत् हर्षयत् । अन्यथा शास्त्रातिक्रमेण प्रयुक्तश्चेजगत्प्रको-  
पयेत् ॥ ३५६ ॥

भाषा—शास्त्र के अनुसार प्रयोग में लाये जाने पर दण्ड देवता, राजस  
और मनुष्यों सहित इस सम्पूर्ण सत्ता को आनन्दित करता है अन्यथा  
( शास्त्र के विपरीत प्रयुक्त होने पर ) वह उसे क्रुपित ही करता है ॥ ३५६ ॥

न कवलमधर्मदण्डेन जगत्प्रकोप, अपि तु प्रयोक्तुं दण्डहानिरवीत्याह—

अधर्मदण्डनं स्वर्गं कीर्तिलोकविनाशनम् ।

सम्यक्तु दण्डनं राज्ञ स्वर्गं कीर्तिजयावहम् ॥ ३५७ ॥

य पुनः शास्त्रातिक्रमेण लोभादिना दण्डं कृतं ॥ पापहेतुत्वात्स्वर्गं  
कीर्तिं लोकांश्च विनाशयति । शास्त्रोक्तमार्गेण तु कृतो धर्महेतुत्वात्स्वर्गं कीर्ति  
जयानां हेतुर्भवति ॥ ३५७ ॥

भाषा—( लोभ आदि के बशीभूत होकर ) शास्त्र के विपरीत दण्ड  
देने से राजा के स्वर्ग कीर्ति और ( उत्तम ) लोक का नाश हो जाता है ।  
सम्यक् ( शास्त्रानुसार ) दण्ड देना राजा के स्वर्ग, यज्ञ और विजय का  
कारण होता है ॥ ३५७ ॥

अपि भ्राता सुतोऽर्ध्यां वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा ।

नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलित स्वकाम् ॥ ३५८ ॥

१. ऽसुरमानुषम् । २ तु प्रकोपयेत् । ३ प्रकोपनमपि तु । ४ स्वर्गं  
कीर्तिं लोकांश्च नाशयेत् । ५ कृत सोऽपापहेतुत्वात् ।

अर्थाऽर्थाहं आचार्यादि । शेष प्रसिद्ध । एते आत्सुतादयोऽपि स्वयं  
नाचलिता दण्डया, किमुतान्वे । यत स्वधर्माजलित. अदण्डयो नाम राज्ञः  
कोऽपि नास्ति । एतच्च मातापित्रादिव्यतिरेक्येण । तथा च स्मृत्यन्तरम्—  
'अदण्डयो गानापिनरो रनातकपुरोहितपरिघाचकवानप्रस्था श्रुतशीलशौचाचार  
धन्तरने हि धर्माधिकारिणः' इति ॥ ३५८ ॥

भाषा—भाई, पुत्र आचार्य आदि धर्म व्यक्ति, स्वशूर या मामा—कोई  
भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा के लिये अदण्ड्य नहीं होता ( अर्थात्  
राजा को उसे अवश्य दण्ड देना चाहिए ) ॥ ३५८ ॥

यो दण्डयान्दण्डयेद्राजा सम्यग्धर्माश्च धानयेत् ।  
दृष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तधरदक्षिणै ॥ ३५९ ॥

हिच, यस्तु राजा दण्डयान् स्वधर्मचलनादिना दण्डयोरयान् सम्यक्  
शास्त्रदृष्टेन मार्गेण धिग्जनदण्डादिना दण्डयनि, येषान्वेषाहान् घातयति  
तेन राजा भूरिदक्षिणे क्रतुभिरिष्ट भवति । बहुदक्षिणन्मुकल प्राप्तोता-  
स्वर्ध । न च फलभ्रयणादण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्तव्यम्, अकरणे प्रायश्चित्त  
भरणत् । यथाह वसिष्ठ ( १९।४०-४४ )—'दण्डयोरसर्गे राजैकरात्रमु-  
पनयेत्', 'त्रिंशत् पुरोहित', 'हृष्टमदण्डयदण्डने पुरोहित', 'त्रिंशत् राजा'  
इति ॥ ३५९ ॥

भाषा—जो राजा दण्डनीय व्यक्तियों को सम्यक् ( शास्त्रानुसार ) दण्ड  
देता है और घघयोग्य व्यक्तियों को मारता है, वह अधिक दक्षिण वाले पक्षों  
का फल प्राप्त करता है ॥ ३५९ ॥

'दुष्टे सर्वगदण्ड प्रबोक्तव्य' ( भा० ३५४ ) इत्युक्त, दुष्टपरिज्ञान  
च व्यवहारदर्शन मन्तरेण न भवतीति तत्परिज्ञानाय व्यवहारदर्शनमद्वारह  
इदं कर्तव्यमित्याह—

इति संचिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् ।

व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सम्यै. परिवृतोऽन्वहम् ॥ ३६० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रतुतुल्य फल दण्डयदण्डने, स्वर्गादिनाश चादण्डय  
दण्डने सम्यक्संचिन्त्य पृथक्पृथक्पर्णादिप्रमाणेण, सम्यैर्वच्यमाणलक्षणैः परिवृत,  
प्रतिदिन व्यवहारान्वच्यमाणमार्गेण दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थं राजा स्वयं  
पश्येत् ॥ ३६० ॥

भाषा—इस प्रकार यज्ञ के समान फल का विचार करके राजा प्रतिदिन सभ्य भर्ता श्रेष्ठ जनों के साथ स्वयं शृयकृ-शृयक ( वर्ण आदि के क्रम से ) व्यवहारों ( वादों या मुकदमों ) को देखे ॥ ३६० ॥

कुलानि जाती श्रेणीश्च गणान्जानपदानपि ।

स्वधर्माच्चलिताव्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६१ ॥

कुलानि ब्राह्मणादीनाम्, जातयो मूर्धावसिक्तप्रभृतय, श्रेणयस्ताम्बुलि-कादानाम्, गणा देवानुवादीनाम्, जानपदा\* कारुकादय, पुता-स्वधर्माच्च-लिता-प्र-पुतान् राजा यथापराध विनाय दण्डयित्वा पवि स्वधर्मं स्थापयेत् । 'दण्डं कुर्वन्तेषु निपातयेत्' ( जा० ३५४ ) इत्युक्तं, स च दण्डो द्विविधः — घारीरोऽर्धदण्डश्चनि । यथाह नारद — घारीरश्चार्धदण्डश्च दण्डो हि द्विविधः स्मृतः । घारीरस्ताडनादिस्तु मरणा-न्त प्रकीर्तित ॥ कौण्डिन्यादिसवर्धदण्ड सर्वस्वा-तस्तर्ध्व च ॥' इति । द्विविधोऽप्यवराधानुसारेणानेकधा भवति । आह स्म—'घारीरो दण्डा प्रोक्तो ह्यर्धदण्डस्तर्ध्वेकधा' इति ॥ ३६१ ॥

भाषा—ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धावसिक्त आदि जातियों, सामूहिक आदि श्रेणियों तलों और जनपदों को अपने धर्म से अछू होने पर राजा दण्ड देकर ॥३६१॥ धर्मसमस्त माग में प्रतिष्ठित करे ॥ ३६१ ॥

सप्त कृण्वन्मापसुवर्णपलादिशस्त्रैर्धदण्डा यत्कस्या, त च प्रतिवर्षं भिक्षुपरिमाणार्था इत्येककृपापराधोऽपि देशभेदेन -यूवाधिकदण्डो मा भूदिति कृष्णलादिदा-दाना नियतपरिमाणत्रिपयस्य दण्डव्यवहारे दर्शयितुमाह—

जासुसूर्यमरीचिस्थं असरेणु रज स्मृतम् ।

तेऽष्टौ लक्ष्णा तु तास्तिष्ठो राजसर्पप उच्यते ॥ ३६२ ॥

गौर तु ते त्रय पट् ते यथो मध्यस्तु ते त्रय ।

२ कृष्णता पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ३६३ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वार पञ्च वापि प्रकीर्तितम् ।

पालका-तरप्रजिष्टादिस्वररिमस्थित यद्भस्मन् असरेणुरित्युक्तं योगीश्वरादिभिस्तत्तदिति । ते च असरेणुषोऽष्टौ लिङ्गा स्वेदज्यकृष्णदम् । ता लिङ्गा स्तिष्ठो राजसर्पपो राजिका । ते राजसर्पपाद्यया गौरसर्पे निद्वार्धं । गौरसर्पया पट् यथो मध्य मध्यम, न स्थूलो न सूक्ष्म । एतेन गौरसर्पया अपि मध्यमा इति ज्ञायते । तथा राजसर्पया अपि 'मध्यमं दण्डदेद ५ सर्पपा-

१ काठि-यादि । २ मध्यमस्तु ते ।

द्विशब्दाः न केवलमुन्मानवचनाः किंतु तदुन्मितद्रव्यवचना इति गम्यते, तथा प्रस्थपरिमिता यथाः प्रस्थ उच्यते । एवं सर्पवाद्युन्मितं द्रव्यं सर्पवादिशब्दैः । सर्पवादिशब्दानां च केवलोन्मानवचनावधे घसरेणु<sup>१</sup>सुपसंहारयोन्मातुमशयत्वात्तद्द्वारेण कृष्णलादिव्यवदातो न स्यात् । तत्र स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम-मध्यसर्पवाद्युन्मानभेदेन प्रतिवेद्यं व्यवहारभेदे स्थिते दण्ड-व्यवहारे मध्य इति निवच्यते । ते मध्यमा यवाश्चय एकः कृष्णलः । ते कृष्णलाः पञ्चको मापः । ते मापाः षोडशैकः सुवर्णः । ते सुवर्णाश्चत्वारः पलमिति संज्ञाः कथिता इति । पञ्च चापि पलं प्रकीर्तितं नारदादिभिः । तत्र स्थूलैस्त्रिभिर्वैः कृष्णलपरिकल्पनायां व्यावहारिकनिष्कस्य षोडशानिः कृष्णलो भवति । तैः पञ्चभिर्मापः । मापैः षोडशभिः सुवर्णः । स च व्यावहारिकः पञ्चभिर्निष्कैरेकः सुवर्णो भवति । ते चत्वारः पलमिति । निष्कानां विंशतिः पलम् । यदा तु सूक्ष्मैस्त्रिभिर्वैः कृष्णलः परिकल्प्यते तदा व्यावहारिकनिष्कस्य द्वाविंशत्तमो भागः कृष्णलो भवति । तस्मिन्पक्षे सुवर्णः सार्धं निष्कद्रव्यं भवति । पलं च दशनिष्कम् । यदा तु मध्यमपक्षैः कृष्णलपरिकल्पना तदा निष्कस्य विंशतितमो भागः कृष्णलः, सुवर्णश्चतुर्निष्कः, षोडशनिष्कं पलम् । एवं पञ्चसुवर्णं पलमिति । पक्षे विंशतिनिष्कं पलम् । एवमन्यदपि निष्कस्य चत्वारिंशो भागः कृष्णलः, द्विनिष्कः सुवर्णोऽष्टनिष्कं पलमिःयादिलोक्यवहारानुसारेणास्मादेव सूत्राद्-हनीयम् ॥ ३६२-३६३ ॥

भाषा—जाती (त्रिककी) से नीतर प्रवेश करने वाली सूर्य किरण में दिखलाई पड़ने वाले भूतिकण घसरेणु कहलाते हैं । भाट घसरेणु मिल कर एक लिच्छा होती है और तीन लिच्छा का एक राजसर्प कहा जाता है । तीन राजसर्प का एक गौर सर्प होता है, छः गौर सर्प का एक मध्यमपक्ष और तीन मध्यमपक्ष का एक कृष्णल होता है । पाँच कृष्णल का एक माप और सोलह माप का एक सुवर्ण होता है चार या पाँच सुवर्ण का एक पल कहा गया है ॥ ३६२-३६३ ॥

एवं सुवर्णस्योन्मानं प्रतिपाद्येदानीं रजसत्स्याह—

द्वे कृष्णले रूष्यमापो धरणं षोडशैव ते ॥ ३६४ ॥

शतमानं तु दशभिर्धरणैः पलमेव ॥

निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः

द्वे कृष्णले पूर्वोक्ते, रूष्यमापो रूष्यसंबन्धी मापः । ते रूष्यमापाः षोडश धरणम् । 'पुराण' इत्यस्यैव संज्ञान्तरम् ; 'ते षोडश स्याद्वरणं पुरा-

णश्चैव राजत इति ( ८।१३६ ) मनुस्मरणात् । दशभिर्धरैः शतमानं पलमिति चाभिधीयते । पूर्वोक्ताश्चरवार सुवर्ण एको राजानो निष्को भवति ॥ ३६४ ॥

इदानीं तादृशोऽमानमाह—

कार्पिकस्ताम्रिकः पण ॥ ३६५ ॥

पलस्य चतुर्धोऽज्ञ कर्ष इति लोकप्रसिद्धः । कर्षेणोद्भूत कार्पिकः । तादृशस्य विकारस्ताम्रिकः । कर्षसमितस्ताम्रविकारः पणसज्ञो भवति, कार्पापण-सज्ञकश्च, 'कार्पापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्पिकः पणः' इति ( ८।१३६ ) मनु-वचनात् । पञ्चसुवर्णपलपक्षे विज्ञतिमापः पणो भवति । तथा सति—'मापो विज्ञतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इत्यादिशब्दव्यवहारः सिद्धो भवति । चतु-सुवर्णपलपक्षे तु षोडशमापः पणो भवति । अदिमस्य पक्षे सुवर्ण कार्पापणः पणः शब्दानां समानार्थत्वेऽपि पणः कार्पापणशब्दो तादृशविषयावेव । एव सायदे मरूप्यतास्यानामुन्मानमुक्तम्, दण्डव्यवहारोपयोगित्वात् । काश्यपेति काशीना-मपि लोकव्यवहारोद्भूतानामेयोऽमानं द्रष्टव्यम् ॥ ३६५ ॥

भाषा—दो कृणल का एक रूप्यमाप होता है । सोलह रूप्यमाप का एक धरण होता है । दश धरणों का एक सौ मान वाला पल होता है । (पूर्वोक्त) चार सुवर्ण का एक निष्क कहलाता है । एक कर्ष (पल के चतुर्धांश) के बराबर तौंसे क सिक्के या तोल को पण कहा जाता है ॥ ३६४-३६५ ॥

एवशास्त्रपरिभाषामाह—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहस ।

तदर्धं मध्यम प्रोक्तस्तदर्धमधम स्मृत ॥ ३६६ ॥

पणानां सहस्र पणसहस्रम्, तदपरिमाणमस्येति पणसाहस्रः । अशीत्या सहस्रतः इति साशीतिः । अशीत्यधिकपणसहस्रपरिमितो यो दण्डः स 'उत्तम साहस'सज्ञो वेदितव्यः । तदर्धं मध्यम तस्य साशीतिपणसहस्रस्यार्धं चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपरिमितो दण्डो 'मध्यमसाहस' सज्ञः । तदर्धम-धम तस्य चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपरिमितो दण्डो 'अधमसाहस'सज्ञः स्मृतः उक्तो मन्वादिभिः । अतः—'पणानां द्वे शतसार्धे प्रथम साहस स्मृतः । मध्यम पञ्च विज्ञेयः महद्य चैव चोत्तम' इति ( ८।१३८ ) मनुनेक तत्पदान्तरममतिपूर्वापराधविषय द्रष्टव्यम् ॥ ३६६ ॥

भाषा—एक हजार अरसों पण का दण्ड उत्तम साहस में होता है, उससे भी आधा मध्यम साहस में दण्ड होता है । मध्यम साहस के आधा दण्ड अधम या प्रथम साहस के लिये होता है ॥ ३६६ ॥

दण्डभेदानाह—

धिग्दण्डस्त्यथ धाम्दण्डो धनदण्डो यद्यस्तथा ।

२६७ योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधश्यादिभे ॥ ३६७ ॥

धिग्दण्डो धिग्धिति कुत्सनम्, धाम्दण्डस्तु परपदापवचनात्मकः, धनदण्डो धनापहारात्मकः, यद्यदण्डः शारीरोऽपरोधादिजीवितान्तः, एते चतुर्विधा दण्डाः स्वरता एकैकतः, समस्ताः द्वित्राः त्रिचतुरो वाऽपराधात्सारेण प्रयोक्तव्याः । उक्तक्रमेण पूर्वपूर्वासाध्ये उत्तर उत्तरः प्रयोक्तव्यः । यथाह मनुः ( ८।१२९ )—‘धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु यद्यदण्डमतः परम् ॥’ इति ॥ ३६७ ॥

भाषा—धिग्दण्ड ( धिक्कार के बचन ), धाम्दण्ड ( कठोर बचनों द्वारा कटकारना ), धन दण्ड, और बच ( शारीरिक दण्ड )—इन दण्डों में सबका १ एक एक का अपराध के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६७ ॥

दण्डप्रणयनानिमित्तान्याह—

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं यत्नमथापि वा ।

ययः कर्म च चित्तं च दण्डं दण्डथेषु पातयेत् ॥ ३६८ ॥

यथापराधं ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्डप्रणयनं कुर्वति । एवं देशकालवयः-  
मवित्तानि ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्डथेषु दण्डार्हेषु दण्डप्रणयनं कुर्यात् ।  
या बुद्धिपूर्वाद्बुद्धिपूर्वसहदावृत्तानुसारेण च । यद्यपि राजानमधिहृत्यायं  
'रामधर्मकलाप उक्तस्तथापि यन्तन्तरस्थापि विषयसङ्कटादिपरिपालनाधि-  
कृतस्वार्थं धर्मो वेदितव्यः । 'राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्दृषः'  
( मनु. ७।१ ) इत्यत्र पृथङ्पृथगप्रहणात्करप्रहणस्य स्वार्थत्वात्, रक्षणस्य च  
दण्डप्रणयनायस्तरादिति ॥ ३६८ ॥

भाषा—अपराध, देश, समय, शक्ति, भाव, कार्य और धन का पत  
लगा करके ही दण्डनीय व्यक्तियों को ( अपराधियों को ) दण्ड देना  
चाहिए ॥ ३६८ ॥

इति श्रीपद्मनाभमहोपाध्यायारमणस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकविज्ञाने

महारक्षस्य कृती श्रद्धामिताश्रयायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविरचितौ

सदाचारः प्रथमाध्यायः ॥

उत्तमोपपत्स्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः

धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः

## व्यवहाराध्यायः

### साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

अभिप्रेक्षादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः । तच्च दुष्टनिग्रह-  
मन्तरेण न सम्भवति । दुष्टपरिहाराय च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण सम्भवति ।  
तद्व्यवहारदर्शनमन्तरहः कर्तव्यमित्युक्तं ( भा० ३६० )—'व्यवहारान्स्वयं  
पश्येत्स्वयैः परिवृतोऽव्यवहम्' इति । स च व्यवहारः कीदृशः, कतिविधाः, कथं  
चेतीतिकर्तव्यताकलापो नाभिहितः, तद्विधानाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते—

व्यवहारान्नुप- पश्येद्विद्वद्भिर्ग्राह्यैः सह ।

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ १ ॥

व्यवहारानिति । अध्यविशोधेन स्वात्मसम्बन्धितया कथमं व्यवहारः ।  
यथा कश्चिद्विदुर्ज्ञेयमदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति ।  
तस्यानेकविधत्वं दर्शयति बहुवचनेन । नृप इति न चतुष्पदाप्रत्यायं धर्मः किंतु  
प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति दर्शयति । परयेदिति पूर्वोक्तस्यानुवाचो धर्म-  
विशेषविधानार्थः । विद्वद्भिर्वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः । ग्राह्यैर्न चतुष्पा-  
द्विभिः । 'ग्राह्यैः सह' इति तृतीयानिर्देशादेवामवाधान्यम् । 'सहयुक्तेऽप्रधाने'  
( पा. २।३।१९ ) इति स्मरणात् । अतश्चादर्शनेऽभ्ययादर्शने वा राज्ञो दोषो न  
ग्राह्यगणाम् । यथाह मनुः ( ८।१।१८ )—'अदृष्टवान्दृष्टयभ्राजा दृष्टव्यं श्रेष्ठा-  
न् दृष्टव्यम् । अयश्चो मद्ददाप्नोति नरकं चैवं गच्छति ॥' इति । कथम् ? धर्मशा-  
स्त्रानुसारेण, मार्गशास्त्रानुसारेण । देशादिसमयधर्मस्यापि धर्मशास्त्राविरुद्धस्य  
धर्मशास्त्रविषयवाच्यं पृथगुपादानम् । तथा च कथयति ( व्य० १८६ )—'निजधर्मो-  
विरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् । सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राक्षतश्च य ॥'  
इति क्रोधलोभविवर्जित इति । 'धर्मशास्त्रानुसारेण' इति सिद्धे 'क्रोधलोभवि-  
वर्जितः' इति वचनमादरार्थम् । क्रोधोऽमर्षं, लोभो लिप्सातिशयः ॥ १ ॥

भाषा—राजा क्रोध और लोभ त्यागकर ( नीति के ) विद्वान् ग्राह्यों  
के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहारों ( यादों, मुकद्दमों ) पर विचार  
करे ॥ १ ॥



सम्पादाह—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।

राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ २ ॥

किंच, श्रुताध्ययनसंपन्नाः श्रुतेन मीमांसित्वाकरणादिप्रवर्णेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन संपन्नाः, धर्मज्ञाः, धर्मशास्त्रज्ञाः, सत्यवादिनः सत्यवचन-  
शीलाः, रिपौ मित्रे च ये समाः रागद्वेषादिरहिताः, पूर्वभूताः सभासदः सभाया  
संसदि यथा सीद्मन्पुत्रविश्रन्ति तथा दानमानसकारैः राज्ञा कर्तव्याः । यत्रपि  
'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यधिकोपेणोक्तं, तथापि ब्राह्मणा एव । यथाह कार्या-  
यनः—'य ए सभ्यैः स्थिरैर्युक्तं प्राज्ञैर्मौलैर्द्विप्रोक्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थ-  
शास्त्रविचारवैः ॥' इति । ते च त्रयः कर्तव्याः; यदुच्यते स्वार्थं रक्षन्त 'परिसन्देशे  
निपीदन्ति विप्रा वेदविदश्च' इति (८११) मनुस्मरणात् । दृष्टव्यतिरिक्तु सप्त  
पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—'लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि  
वा । यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदसि सभा ॥' ( १११ ) इति । न च  
'प्राज्ञाः सह' इति पूर्वश्लोकोक्तानां प्राज्ञानां 'श्रुताध्ययनसंपन्ना' इत्यादि विशेष-  
णमिति मन्तव्यम्; वृत्तीयाप्रथम्यन्तनिर्दिष्टानां विशेषगविशेषभावासंभवाद्,  
'विद्वज्जि.' इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । तथा च कार्यायनेन प्राज्ञानां सभासदां  
च स्पष्टं भेदो धर्मज्ञाः—'समाद्विववाकः सामास्यं समाह्वयपुरोहितः । ससभ्य  
प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मज्ञः ॥' इति । तत्र प्राज्ञा नमिदुक्ताः, सभासद-  
स्तु मिदुक्ता इति भेदः । अत एवोक्तम्—'निपुक्तो याऽनिपुक्तो वा धर्मज्ञो  
वक्तुमर्हति' इति । तत्र निपुक्तानां यथावस्थितार्थरुचनेऽपि यदि राजाऽप्यप्यो  
करोति तदाऽसौ मियारणीयः, अन्यथा दोषः । उक्तं च कार्यायनेन—'अन्या-  
येनापि तं पान्तं वेऽनुयाम्ति सभासदः । तेऽपि तद्वागिनस्तस्माद्बोधनीयः स  
तेर्नृपः ॥' इति । अनिपुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो ननु  
राज्ञोऽनिवारणे—'संभ्रा वा न प्रवेष्ट्वा वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अशुबन्निवशु-  
ब्धापि मतो भवति किञ्चिदपी ॥' इति ( ८१२ ) मनुस्मरणात् 'रिपौ मित्रे च'  
इति चकाराहोकरणात् कतिपयैर्विभिन्नैरध्ययिष्ठैः सदः कर्तव्यम् । यथाह  
कार्यायनः—'कुलशीलत्रयोऽप्युचितवद्विरमत्परैः । यजिमिदः स्यात्कतिपयैः  
कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥' इति ॥ २ ॥

भाषा—राजा वेदादि के अध्ययन से युक्त, धर्मशास्त्र के ज्ञाता, सत्यवादी  
तथा शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भाव वाले ( रागद्वेषरहित ) पुरुषों को  
सभासद घनावे ॥ २ ॥

'व्यवहारान्तर परयेत्' ( व्य० १ ) इत्युक्तं, तत्रानुक्तमपि—

अपश्यता कार्यवशाद् व्यवहारान्तरपेण तु ।

सभ्यै सह नियोक्तव्यो ग्राहण सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥

कार्यान्तरव्याकुलतया व्यवहारान्तरपेण नृपेण पूर्वोक्तैः सभ्यै सह सर्वधर्मवित् सर्वधर्मशास्त्रोक्तान् सामयिकीष्व धर्मान्वेत्ति विचारयति। तस्य सर्वधर्मवित् ग्राहणो न च त्रिषु निर्णयोक्तव्यो व्यवहारदशने । तच्च कारवायनोक्तगुणत्रिषु कुर्वन् । यथाह—'दाग्द कुलीन मध्यस्थमनुद्गेकर स्थिरम् । परम भाव धर्मिषुमुक्त मोघवर्जितम् ॥' इति । एवभूतग्राहणासभवे च त्रिषु वैश्य वा त्रियुक्तं, न शूद्रम् । यथाह कारवायन—'ग्राहणो यत्र न ह्यस्तु त्रियुक्तं तत्र योजयत् । वैश्य वा धर्मशास्त्र शूद्र यत्नेन यजयत् ॥' इति । मारुदेन एवमेव सुरयो दर्शित—'धर्मशास्त्र पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थित । यमादितमति परव्यवहारानुक्रमत् ॥ इति । प्राड्विवाकमते स्थितो न स्वमते स्थित, राजा चात्रचक्षुषा परसम्य परवतीतिवत् । तस्य चैव योगिकी सजा अधिप्राप्त्यर्थिनी पृच्छतीति प्राट्, तयोर्वचन विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यै सह विविक्रमति विवेचयति वेति विवाक, प्राट् चाम्बो विवाकश्च प्राड्विवाकः । उक्तं च—'विवादानुगतं पृष्ट्वा ससम्बरमप्रयत्नः । विचारयति येनासौ प्राड्विवाकरतत स्मृत ॥' इति ॥ ३ ॥

भाषा—किसी कार्यवशा ( या अस्वस्थता आदि से ) व्यवहार न देख सकने पर राजा को सभासदों के साथ सभी धर्मों को जानने वाला, ग्राहण इन कार्य क लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ ३ ॥

प्राड्विवाकादयः सभ्या यदि रागादिना स्मृत्यपेत व्यवहार विचारयन्ति तदा राजा किं कर्तव्यमिष्यत आह—

रागाह्यभाङ्गयाह्याऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः ।

सभ्या पृथक्पृथक्दण्ड्या विवादाद् द्विगुणं दमम् ॥ ४ ॥

अपि च, पूर्वोक्ता सभ्या राजसो निरहुस्त वेन तदभिभूता रागास्नेहादि-शयाहोभाङ्गिन्मातिशयाद्दयात्सत्रामास्मृत्यपेत स्मृतिविरुद्ध, 'आदि' शब्दादा-चारापेत कुर्वन्त पृथक्पृथक्कैकशो विवादाद् द्विवाद्परराज्यनिमित्तादमाद् द्विगुण दम दण्ड्या, न पुनर्विवादास्पर्दीभूताद् दण्ड्यात् । तथा सति स्त्रीसप्रहणादिषु दण्डाभावप्रसङ्गः । रागलोभभवानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाशान-

१ एवमतया । २ धर्मान् शास्त्रोक्तान् । ३ ग्राहण एव । ४ विविक्रमति विवेचयति वा ।

'मोहादिभिवृत्ति निवर्तयन्' । नच 'राजा सर्वस्येष्टे प्राण्यवर्जम्' ( १११ )  
 'इति गौतमवचनात्' आह्वया दण्ड्या इति मन्तव्यम् ; तस्य प्रदात्तापवात् ॥  
 यत् 'पदिमः परिहार्यो राजाऽक्षयस्त्वावन्यश्चादृष्टप्रशासहिंकार्यशापीवाद्यथापरि-  
 हार्यम्' ( गौ. ८, १२-१३ ) इति, तदपि 'स वृष बहुभृतो भवति लोकादेवे-  
 दाह्रिविद्याकीकाव्येतिहासपुराणकुञ्जलस्तवपेशस्तद्वृत्तिप्राप्त्याचारिशासंस्कारैः सं-  
 रक्तस्त्रियु कर्मस्यभिरतः षट्सु वा सामयाचारिकेष्वभिविनीतः' ( गौ. ८।१-  
 ११ ) इति, प्रतिपादितवद्बहुभृतविषयं; न माहात्म्यमाप्रविषयम् ॥ ४ ॥

भाषा—( किरी के प्रति ) बनेह, लोम/चा नय कं वशीभूत होकर  
 व्यवहार में धर्म के विरुद्ध आचारण करने वाले समासदों से उस विवाद के  
 पराजय के निमित्त जितना प्रभय हो उसके दुगुना प्रभय धृषक् धृषक् दण्डस्वरूप  
 होना चाहिये ॥ ४ ॥

व्यवहारविषयमाह—

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः ।  
 आवेक्ष्यति चेद्वाञ्छे व्यवहारपदे हि तत् ॥ ५ ॥

'धर्मशास्त्रार्थमाचारविच्छेदेन मार्गेण परैराधर्वितोऽभिभूतो यद्वाञ्छे प्रादि वाक्याय  
 ॥' भावेद्यति किञ्चाप्यति चेद्यति, तद्वाञ्छेयमानं व्यवहारपदं प्रतिज्ञोत्तरसत्य-  
 त्तुपरामर्शप्रमाणनिर्णयप्रयोजनात्मको व्यवहारस्तस्य पदं विषयः । तस्य वेदं  
 सामाव्यलक्षणम् । ॥ च द्विविधः—अज्ञाभियोगस्तथाभियोगश्चेति । यथाह  
 रदः ( १।१७ )—'अभियोगस्तु विज्ञेयः अज्ञातत्वाभियोगतः । अज्ञा-  
 तां तु संतर्पात्तत्वं होहाभिदर्शनात् ॥' इति । होहा लोप्यं, छिन्नमिति  
 ।वत् । तेन दर्शनं, साक्षाद्वा दर्शनं होहाभिदर्शनं तस्मात् । तस्याभियोगोऽपि  
 ।विधः—प्रतिषेधात्मको विषयस्तत्रास्तेति । यथा—'मत्तो हिरण्यादिके सुहोरावा-  
 न प्रयच्छति', 'क्षेत्रादिकं ममायमपहरति' इति च । इत्तं च कात्यायनेन—  
 'व्यादयं स्वं मेच्छते कर्तुमन्वाप्यं वा करोति यः' इति । स पुनश्चाष्टादशधा  
 सिधते । यथाह मनुः ( ८।४-७ )—'तेषामाद्यमृणादानं निषेपोऽस्वामिविक्रयः ।  
 संभूय च समुत्थानं दत्तस्त्वानपकर्म च ॥ वेतनस्यैव चाऽऽदानं सविदग्ध-  
 ग्यतिक्रमः । क्रयविक्रवानुशयो विवादः स्वामिपारुषोः ॥ स्त्रीमाविवादधर्मश्च  
 पारुष्ये दण्डयाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंप्रदणमेव च ॥ स्त्रीपुंसोर्मो-  
 विनापश्च धूतमाह्वय एव ॥ पदान्यष्टादशैवानि व्यवहारविषयाविह ॥' इति ॥

१. न माहात्म्यो दण्ड्य इति । २. राजा अथवाशासकः । ३. वेदाहवि-  
 द्याव्येतिहास । ४. सामयाचार ।

एतान्यपि साध्यभेदेन पुनर्बहुत्वं गतानि । यथाह नारदः ( ११२० )—'एषामे  
प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं भवेत् । क्रियामेदात्मनुष्याणां शतशालो निगद्यते ॥  
इति ॥ 'आवेदयति चेद्वाजे' इत्यनेन स्वयमेवागतत्वावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरु-  
षप्रेरितो वेति दर्शयति । यथाह मनुः ( ८१४३ )—'नोत्पादयेत्स्वयं का-  
राजा वाप्यस्य पूरुषः । नच प्रापितमन्येन प्रसेतार्थं कथंचन ॥' इति ।  
परैरिति परेण पराभ्यां परैरित्येकस्यैकन द्वाम्यां बहुभिर्वा व्यवहारो भवतीति  
दर्शयति ॥ अथपुनः—'एकस्य बहुभिः सार्धं शोणां प्रेषजनस्य च । भनादेवं  
भवेद्वावो धर्मविक्रिरुदाहृतः ॥' इति नारद ( कारवायन ? ) यत्नं, तद्विभ्रसा  
भ्यद्दयविययम् । 'आवेदयति चेद्वाजे' इत्यनेनैव राजा पृष्टो विनीतवेष आवेद-  
येत् । आवेदितं च युक्तं चेन्मुद्रादिना प्रत्यर्थाह्वानमकृत्वादीनां चानाह्वानमिवा  
धर्मसिद्धमिति नोक्तम् । स्मृत्यन्तरे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा 'काले कार्यादिनं  
पृष्टेद् पृणमत्तं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च से पीडा मा भैरीर्द्धि मानव ॥  
केन करिमाकदा करिमापृष्टेदेव समागतम् । एव पृष्टा स यद्मवात्स सय्यैर्मा-  
हणैः सह ॥ विस्मय कार्यं न्याय्य चेदाह्वानार्थमतः परम् । मुद्रां वा निक्षिपेत्-  
रिमन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥' अक्षरपालस्यविरचितमरथक्रियाकुलान् । कार्याति-  
पातिभ्यसमिन्पुकार्थोत्सवाकुलान् । मत्तोभक्तप्रमत्तार्ताभ्युत्पात्ताह्वानयेन्पुनः ॥ न  
हीनवर्षां युवति कुले जातां प्रसूतिकाम् । सर्ववर्गोत्तमां कन्यां वा ज्ञातिप्रसूकः  
स्मृता ॥ तदधीनकुटुम्बिभ्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च वाः । निष्कुला याम् पतिता-  
स्तासामाह्वानमिष्यते ॥ कालं देशं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबले । अक्षरवादी-  
नपि क्षमैर्दानैराह्वानयेन्पुनः ॥ ज्ञात्वाभियोग वेऽपि स्तुर्वने प्रमथितादयः । तान-  
प्याह्वानयेद्वाजा गुरुकार्येष्वकोपयन् ॥' इति । आसेषस्यवस्थाप्यधर्मसिद्धैश्च  
भारवेनोक्ता ( ११४७-५३ )—'वक्तव्येऽर्थे द्यतिष्ठतमुत्क्राममत्तं च तद्दध ।  
'आसेषयोद्दिवादर्थां चावदाह्वानदर्शनम् ॥ स्थानासेषः कालकृतः प्रवासात्कर्मण-  
स्तथा । अनुविष्य ह्यादासेषो नासिद्धत्वं विलहयेत् ॥' आसेषकाल आसिद्ध  
आसेषं योऽनिवर्तते । स विनेयोऽन्यथाकुर्वन्नासेषा दष्टमात्मवेत् ॥ नदीम-  
न्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु । आसिद्धत्वं परासेषमुत्क्रामन्वापरान्पुष्यात् ॥ निर्वे-  
ष्टुकामो रोगार्तो यिषुष्यर्षसने स्थितः । अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यनस्तथा ॥  
यथां प्रचारे गोपालाः सस्वावापे कृषीवलाः । शिल्पिनश्चापि तस्कालमापुषीवाश्च  
विग्रहे ॥' इति । आसेषो राजानुयाऽपरोषः । अक्षरवादयः पुत्रादिकमर्गं वा  
सुहृदं प्रेषयेयुः, नच ते परार्थवादिनः, 'यो न अत्मा न च पिता न पुत्रो न

नियोगकृत् । परार्थवादी दण्डयः स्याद्दण्डवहारेषु विमुञ्चन् ॥<sup>१</sup> (२।२३) इति  
नारदनचनात् ॥ ५ ॥

भाषा—यदि धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध टंग से दृप्तों  
द्वारा पीड़ित होकर राजा नियेदन करे तो वह व्यवहार का विषय होता  
है ॥ ५ ॥

प्रत्यर्थिनि मुदालेख्यपुराणामन्यसमेनातीते किं कुर्यादित्यत्र आह—  
प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदिनमर्थिता ।  
समामासतदर्घाहर्नामजात्यादिविहितम् ॥ ६ ॥

अर्थते इत्यर्थः साध्यः, सोऽस्यास्तीत्यर्थः, तत्रप्रतिपक्षं प्रत्यर्थि, तस्याग्रतः  
पुरतो लेख्यं लेखनीयम् । यथा येन प्रकारेण पूर्वमावेदनकाले भावेदितं  
तथा, न पुनरन्यथा, अन्यथावादिशब्देन व्यवहारस्य भङ्गप्रसङ्गात् ।—'अन्यथादी  
क्रियाद्वेषी' नोपरधाता निरुत्तरः । 'आहुतः प्रवलापी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥'  
( नारदः १।३३ ) इति । भावेदनकाल पूर्वार्तिवचनस्य लिखितस्वापुनर्लेखन-  
मनर्थकमित्यत्र आह—समामासेत्यादि । सर्वस्वरमासपक्षतिथिवारादिना-  
मर्थिप्रार्थिनामप्राणजात्यादिविहितम् । 'आदि' चाद्वेन द्रव्यतत्त्वव्याधान-  
येलासुमाहिक्रियादीनि गृह्यन्ते ॥ यथोक्तम्—'अर्थवद्धर्मतनुर्कं परिपूर्णमनाहुत्तम् ।  
साध्यपद्माशकपदं प्रकृतार्थानुयन्धि च ॥ प्रसिद्धमविरुद्धं च निहितं साधन-  
क्षमम् । लिखितं लिखितार्थं च देशकालान्निरोधि च । सर्वत्रुमानपथाहोवैलादेहा-  
प्रदेशावत् । स्थानावसथसाम्यावथाजात्याकारुषोपुत्तम् ॥ साध्यप्रमाणवदयावदा-  
त्मप्रत्यर्थिनामवत् । परात्मपूर्वज्ञानेकराजनामभिरङ्कितम् ॥ समालिङ्गात्मर्षाकाव-  
ःकथिताहर्षदायकम् । यथावेदयते राज्ञे तज्जापेयमिधीयते ॥' इति । भाषा 'प्रतिज्ञाः  
'पक्ष' इति मर्षाः तत्रम् । भावेदनसमये कार्यंशास्त्र लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समा-  
मासादिविदितार्थं लिख्यम् इति विशेषः । सर्वस्वरविशेषण यद्यपि सर्वव्यवहारेषु  
नोपयुज्यते, तथापि प्रतिग्रहहस्त्येषु निर्णयार्थमुपयुज्यते; आधी प्रतिग्रहे कृते  
पूर्वां तु चलवत्तसः' इति वचनात् । अर्थव्यवहारोऽपि एवस्मिन्समये यथावाकं  
रद्भ्य यथा येन गृहीतं प्रत्यर्थिनं च पुनरन्यस्मिन्समये तद्भ्यं तस्यावयाप तत-  
तेन गृहीतं, यथाप्रमानो यदि दूयात्पार्थं गृहीतं प्रत्यर्थित्वेति । यत्कारान्तरे  
गृहीतं प्रत्यर्थितं तस्मिन्समये द्वायुपयुज्यते । एव मावाद्यपि योऽवम् । दस-  
यानाद्यप पुनः स्थावरेष्वेवोपयुज्यन्ते—'देशश्चैव तथा स्थानं सन्निवेशस्तर्कश्च ।

जातिः मंत्राऽधिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥ पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्त-  
नम् । स्थावरेषु विवादेशु दशैतानि नियेजयेत् ॥ इति स्मरणात् । देशो मध्य-  
देशादिः । स्थानं वाराणस्यादि । संनिवेशः तत्रैव पूर्वापरद्विभवापरिच्छिन्नः  
सम्बद्धिनविष्टो गृहक्षेत्रादिः । आतिः अर्धिमध्यर्धिनोर्माह्वरणत्वादिः । संज्ञा च देव-  
दत्तादिः । अधिवासः समीपदेशनिवासी जनः । प्रमाणं निवर्तनादि भूपरिमाणम् ।  
क्षेत्रनाम शालिक्षेत्रं क्रमुकक्षेत्रं कृष्णभूमः पाण्डुभूमः इति । पितुः पितामहस्य च  
मामार्धिमध्यर्धिनोः पूर्वेषां प्रयाणात् । राज्ञां नामकीर्तनं चेति । समामासादीनां  
परिमन् स्ववहारे यावदुपयुज्यते तत्र तावच्छ्रेयसीवमिति स्तत्पर्यार्थः । एव पक्ष-  
लक्षणे स्थिते पक्षलक्षणरहितानां पक्षवद्वन्मासमानानां पक्षाभासात् सिद्धमेवेति  
योगीश्वरेण न पृथक्पक्षाभासा उक्ताः । अन्यैस्तु विस्पष्टार्थमुक्ताः ।—अप्रसिद्धं  
निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् । असाध्यं वा विकृतं वा पक्षाभासं विजर्जयेत् ॥'  
इति । अप्रसिद्धं 'मदीयं क्षत्रविषाणं गृहीत्वा न प्रयच्छति' इत्यादि । निराबाधं  
अस्मद्गृहक्षेत्रप्रकाशनाय स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । निरर्थं अभिधेयरहितं कण-  
टनपगजहृद्येयादि । निष्प्रयोजनं यथा—अथ देवदत्तोऽस्मद्गृहसनिधौ सुस्वरम-  
धीत इत्यादि । असाध्यं यथा—अहं देवदत्तेन सभ्रूमङ्गमुपहमित इत्यादि । एतत्सा-  
धनासम्भवात्साध्यम् । अलकालत्वात् साक्षिसमवो लिखितं दूरतोऽक्षपाशा  
दिद्यमिति । विकृतं यथाह मूढेन वास इत्यादि । पुररत्प्रादिकृतं वा—'राज्ञा  
विषजितो पक्ष यक्ष पौरशिरोधहृत् । इन्द्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैव च ॥  
अभ्ये वा ये पुरप्राममहाजनविरोधकाः । अनादेवास्तु ते सर्वे स्ववहाराः प्रकी-  
र्तित्वा ॥' इति ॥ यत्तु—'अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्धयति' इति, तत्र  
यद्यनेकवस्तुसंकीर्णं इत्युच्यते, तदा न क्षेपः, मदीयमनेन हिरण्यं वासो रूप-  
कादि वाऽपहृतमित्येवंविधस्यादुष्टत्वात् । श्रृणादानादिपदसङ्घे पक्षाभास इति  
चेत्तद्यपि न । मदीया रूपका अनेन वृद्धया गृहीताः सुवर्णं चास्य हस्ते निशि-  
प्तम्, मदीयं क्षेत्रमयमपहरतीत्यादीनां पक्षावभिष्यत् एव । किंतु क्रियाभेदात्क-  
मेण स्ववहारे न युगपदिष्येतावत् ॥ यथाह कात्यायनः—'बहुप्रतिज्ञं यस्कार्यं  
स्ववहारे सुनिश्चितम् । कामं तदपि गृहीत्वा राजा नश्चक्षुभुस्तथा ॥' इति तस्मा-  
दनैकपदसंकीर्णं पूर्वपक्षो युगपत् सिद्धयतीति तस्यार्थः । अर्धिमहणापुत्रपित्रादि  
ग्रहणं तेषामैकार्थत्वात् । नियुक्तस्यापि नियोगेनैव तदेकार्थत्वाच्चेत्यात् ॥  
—'अधिनः सनियुक्तो वा प्रत्यर्धिमहितोऽपि वा । यो यस्यायं विद्यते तथोजंय  
पराशयौ ॥' इति स्मरणात् नियुक्तजयपराजयौ मूलस्वामिनोरेव । एतच्च भूमौ  
फलके वा पाण्डुत्वेन लिखित्वा आवापोद्दारेण विशोचितं पक्षात्पत्रे निवेशयेत् ।

पूर्वपक्षं स्वमाधोक्तं प्रादिष्वकोऽभिलेखयेत् । पाण्डुरेण फटके ततः पत्रे  
विशोधितम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । शोधनं च यावदुत्तरदर्शनं कर्तव्य  
नातः परम् । अनन्वस्योपसङ्गात् । अतएव नारदेनोक्तम्—'शोधयेत्पूर्वाद्यं तु  
यावदुत्तरदर्शनम् । अथष्टम्यस्योत्तरेण निवृत्तं शोधनं भवत् ॥' इति । पूर्वपक्षम-  
शोधयित्वा च यदोत्तरं दापयन्ति सम्यास्तदा 'रागाहोभात्' इत्युत्तरदण्डेन  
सम्बान्दण्डयित्वा पुनः प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारः प्रवर्तनीयो राज्ञेति ॥ ६ ॥

भाषा—पहले प्रसर्धी, ( प्रतिपत्नी, प्रतिवादी या मुद्दई ) के विषय में  
अर्धी ( वादी, मुद्दालेद ) द्वारा पहले बताया गया ( अभियोग ) लिखे, और  
उसके भाये वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि अङ्कित करे ॥ ६ ॥

एवं शोधितपत्रारूढे पूर्वपक्षे किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वायेदकसंनिधौ ।

श्रुतो भाषार्थो येन प्रत्यर्थिनाऽसौ श्रुतार्थः, तस्योत्तरं पूर्वपक्षादुत्तरप्र  
भवतीत्युत्तरं लेख्यं लेखनीयम् । पूर्वायेदकस्यार्थिनः संनिधौ समीपे उत्तरं च  
यापूर्वोक्तस्य निराकरणं तदुच्यते । यथाह—'पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमना-  
कुलम् । अस्यापवागममिष्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥' इति पक्षस्य व्यापकं  
निराकरणसमर्थम् । सारं म्याद्यं व्यापकनयेत् । असंदिग्धं संरेहरहितम् ।  
भगाकुलं पूर्वापराविद्वद्म् । अस्यापवागमं अप्रसिद्धपक्षमयोगेन ह्यरिष्ट-  
विभक्तिसमासापवाहाराभिधानेन वा अन्यदेशभाषानिधानेन वा च्छ्रुतार्थे  
न भवति तत्सदुत्तरम् ॥ तच्च अनुविध्यम्—संप्रतिवृत्तिः, मिष्या, प्रत्यक्षकन्दनं पूर्व-  
म्यायक्षेति । यथाह कात्यायनः—'सत्यं मिष्योत्तरं येन प्रत्यक्षकन्दनं तथा । पूर्व-  
म्यायविधिष्वैवमुत्तरं स्याच्छतुर्विधम् ॥' इति । तत्र सत्योत्तरं तथा—'रूपकघातं  
मद्यं धारयति' इत्युक्ते 'सत्यं धारयामि' इति । यथाह—'साप्यस्य सत्यवधमं  
प्रतिपत्तिरुदाहता' इति । मिष्योत्तरं तु नाहं धारयामीति । तथा च कात्यायनः—  
'अभियुक्तोऽभिपोगस्य यदि कुर्यादपहवम् । मिष्या तस्य विज्ञानीषादुत्तरं  
व्यवहारतः ॥' इति ॥ तच्च मिष्योत्तरं अनुविध्यम्—'मिष्येतत्प्राभिज्ञानमि तदा  
तद्य ॥ मनिधि । अज्ञातमास्मि तत्काल इति मिष्या चतुर्विधम् ॥' इति ।  
प्रत्यक्षकन्दनं माग 'मस्य गृहीतं प्रतिदत्त मनिग्रहेण लब्धम्' इति वा । यथाह  
'नारदः—'मर्दिना क्विन्तो योऽयं प्रत्यर्थी यदि त तथा । प्रत्यक्ष करणं मयात्  
प्रत्यक्षकन्दनं रसुतम् ॥' इति । प्राट्प्रायोत्तरं च प्राभियुक्त एवं मयात्  
'असिमद्यंऽनेताहंमिष्युत्तरतत्र चाप व्यवहारमार्गेण पराजित' इति । उक्तं

य कात्यायनेन—'आधारेणावसन्नोऽपि पुनर्लक्ष्यते यदि । सोऽभिधेयो जितः  
 पूर्वं प्राङ्ग्यापरस्तु स उच्यते ॥' इति । एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहिताना-  
 नामुत्तरवदवभासमानानामुत्तराभासत्वमर्थसिद्धम् । स्पष्टीकृतं च स्पष्टान्तरे—  
 'सदिग्धमन्व्यप्रकृतादत्यक्षपमतिभूरि च । पचैकदेशव्याप्यन्यत्तथा नैवोत्तरं  
 भवेत् ॥ यद्द्वयस्तपदमव्यापि निगूढार्थं तथाकुलम् । व्याख्यागम्यमसारं च नोत्तरं  
 स्वार्थसिद्धये ॥ इति । तत्र संदिग्ध—'सुवर्णशतमनेन गृहीतमित्युक्ते 'सत्यं  
 गृहीतं सुवर्णशतं मापशतं वे'ति । प्रकृतादन्यथा—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं  
 धारयामी'ति । अत्यक्षपं—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं धारयामी'ति । अति-  
 भूरि—'सुवर्णशताभियोगे द्विशतं धारयामी'ति । पचैकदेशव्यापि—'द्विरण्य-  
 वज्राद्यभियोगे द्विरण्यं गृहीतं नाप्यक्षि'ति । व्यस्तपद्—'ऋणाद्याभियोगे  
 पदान्तरेणोत्तरम्, यथा 'सुवर्णशताभियोगे अनेनाह ताडित' इति । अव्यापि—  
 देशस्थानाविशिष्टपणाव्यापि यथा—'मध्यदेशे वाराणस्यां पूर्वस्यां दिशि  
 चैत्रमनेनापहत'मिति पूर्वपक्षे लिखिते, 'चैत्रमपहतमिति । निगूढार्थं यथा—  
 'सुवर्णशताभियोगे किमहमेवार्थं धारयामी'त्यत्र भवतिना प्राङ्ग्विवाकः सम्भो  
 वा अर्थो वा अन्वयस्य धारयतीति सूक्ष्मपतीति निगूढार्थम् । आकुलं पूर्वापरविरुद्धं  
 यथा—'सुवर्णशताभियोगे कृते, सत्यं गृहीतं न धारयामी'ति । व्याख्यागम्यं—  
 दुःश्लिष्टविभक्तिमत्साक्षाद्धारामिधानेन व्याख्यागम्यम्, अदेशभाषाभिधानेन  
 वा । यथा—'सुवर्णशतविषये पितृऋणाभियोगे, 'गृहीतशतवचनात् सुवर्णानां  
 पितुर्न जानामी'ति । अत्र गृहीतशतस्य पितुर्बचनात् 'सुवर्णानां शतं गृहीत-  
 मि'ति न जानामीति । असार—'व्यावविरुद्धं, यथा 'सुवर्णशतमनेन वृद्धया  
 गृहीतं वृद्धिरेव दत्ता न मूल'मित्यभियोगे, 'सत्यं वृद्धिर्दत्ता न मूलं गृहीत'  
 मिति । उत्तरमित्येकवचननिर्देशादुत्तराणां सवशो निरस्तः । यथाह कात्यायन—  
 'पचैकदेशे परस्परमेकदेशे च कारणम् । मिथ्या चैकदेशे च सकरात्तदनुत्तरम् ॥'  
 इति । अनुत्तरत्वे च कारणं तेनैवोक्तम्—'न चैकरिमन्दिवादे तु क्रिया  
 श्याद्वादिनोर्द्वयोः । न चार्थसिद्धिरुपयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् ॥' इति ।  
 मिथ्याकारणोत्तरयोः संकरे अर्थिप्रत्यर्थिनोर्द्वयोरपि क्रिया प्राप्नोति—'मिथ्या  
 क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि' इति स्मरणात् । तदुपपत्तयेकरिमन्दिवादे-  
 विरुद्धम् । यथा—'सुवर्णं रूपकशतं चानेन गृहीतमित्यभियोगे, 'सुवर्णं न  
 गृहीतं, रूपकशते गृहीतं प्रतिदत्त चे'ति । कारणप्राङ्ग्यावसकरे तु प्रत्यर्थिन  
 एव क्रियाद्वयम्—'प्राङ्ग्यावकारणोक्तौ तु प्रत्यर्था निर्दिशेत्प्रियाम्' इति । तथा  
 सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्त,—'रूपकं व्यवहारमार्गेण परानित' इति । अत्र च प्राङ्



न्याये जपपत्रेण वा प्राह्न्यावदग्निमिवा माधीयतश्चम्, कारणोक्तौ तु सावित्रेणवादिभिर्भावितश्चमिति विरोधः । एवमुत्तरत्रयसंकरेऽपि द्रष्टव्यम् । यथा—'अनेन सुवर्णं रूपककणतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं गृहीतं प्रतिवेद्यं रूपककणतं न गृहीतं, वस्त्रविषये तु पूर्वस्यापेन पराजितः' इति । एवं चतुःसंकरेऽपि । एतेषां चानुत्तरार्थं यौगपद्येन तस्य मर्यादास्य तेन तेन त्रिनाऽसिद्धेः प्रमेणोत्तरस्यमेव । क्रमव्यर्थिनः प्रत्यर्थिनः स्वयानां चेच्छ्रया भवति । यत्र पुनरुपयोः संकरे तत्र परस्य प्रमृतार्थविषयाय तत्किंपोपादानेन पूर्वं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः, पश्चाद्द्वेषविषयोत्तरोपादानेन च व्यवहारो द्रष्टव्यः । यत्र तु संप्रतिपत्तेरन्तरांतरस्य च संकरस्तत्रोत्तरान्तरोपादानेन व्यवहारो द्रष्टव्यः । सप्तमिवर्ती क्रियाभावात् ॥ यथा द्वारीतेन—'मिथ्योत्तरं कारणं च स्वात्मानेकत्र येदुभे । तस्यं चापि सहान्वेन तत्र माहं किमुत्तरम् ॥ इत्युक्तयोक्तम्—'वाप्रभृतार्थविषयं यत्र वा स्वात्क्रियाकलम् । उत्तरं तत्र तज्ज्ञेयमसंकीर्णमतीडन्यथा ॥' संकीर्णं भवतीति शेषः । गोप्येद्यथा ऐच्छिककर्म भवतीत्यर्थः । तत्र प्रमृतार्थं यथा—'अनेन सुवर्णं रूपककणतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगे, 'सत्यम्, सुवर्णं रूपककणतं च न गृहीतं, वस्त्राणि तु गृहीतानि प्रतिदत्तानि चे'ति । अत्र मिथ्योत्तरस्य प्रमृतविषयाकार्थिनः क्रियामादाय प्रथमं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः पश्चाद्द्वेषविषयो व्यवहारः । एवं मिथ्याप्राह्न्यावसंकरे कारणवाङ्मयावसंकरे च योजनीयम् । तथा तस्मिन्नेवाभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं रूपककणतं च गृहीतं प्रति दारयामि, वस्त्राणि तु न गृहातानि, गृहीतानि प्रतिदत्तानीति वा वस्त्रविषये पूर्वं पराजित इति चोत्तरे सप्तमिपत्तेर्भूरिविषयावेऽपि तत्र क्रियाभावात्प्रमृता-नुत्तरक्रियामादाय व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । यत्र तु मिथ्याकारणोत्तरयोः दूरत-पक्षवापिर्षयं यथा—शुद्धप्रादिकतया कश्चिद्ददति 'इयं गौर्मदीया भद्रुकरिणफाले नष्टा, अद्यास्य गृहे दृष्टे'ति । अन्यस्तु 'मिथ्यैतत्, प्रेदकितकालात्पूर्वमेयास-द्गृहे स्थिता मम गृहे जाता चे'ति वदति । इदं तावत्परस्परनिराकरणमस्यैवासा-नुत्तरम् । नापि मिथ्यैव; कारणोपन्यासात् । नापि कारणम् । एकदेशस्याप्य-भ्युपगमाभावात् । तस्मात्संकारण मिथ्योत्तरमिदम्—अत्र च प्रतिवादिनः क्रिया, 'वाप्ये प्रतिवादिनि' इति बबन्वात् ॥ ननु 'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे' इति पूर्ववा-दिनः कस्मात्क्रिया न भवति ? तस्य शुद्धमिथ्याविषयात् । 'कारणे प्रति-वादिनी'त्येतदपि कस्मात्शुद्धकारणविषयं न भवति । नैतत्; सर्वस्यापि कारणो-त्तरस्य मिथ्यामहत्वरितरूपत्वाच्छुद्धकारणोत्तरस्याभावात् ॥ प्रसिद्धकारणोत्तरे

१. कारणोत्तरे तु । २. प्रतिदारयामि । ३. ऐच्छिककर्ममपेक्षाकर्मं भवतीत्यर्थः । ४. ऐच्छिकः क्रमो भवतीत्यर्थः । ५. एतत्प्रदर्शित ।

प्रतिज्ञातार्थकदेशस्याप्यभ्युपगमेनैकदेशस्य मिथ्यात्वम्—यथा 'सत्य रूपज्ञान गृहीत न धारयामि प्रतिवृत्तत्वादिनि । प्रकृतोदाहरणे तु प्रतिज्ञातार्थकदेश स्याप्यभ्युपगमो नास्तानि विशेष ॥ एतच्च हारातेन स्पष्टमुक्तम्—'मिथ्या कारणयोर्वापि प्राह्य कारणमुत्तरम् इति । यत्र मिथ्याप्राह्य वाच्यो पक्षवापि स यथा— रूपज्ञान धारयतीत्यभियोगे मिथ्यैतदस्मिन्नर्थे पूर्वमय परानित ' इति । अत्रापि प्रतिवादिन एव क्रिया प्राह्य्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिष्टा क्रियाम् इति वचनात्, शुद्धस्य प्राह्य्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिष्टा पक्षरपि साध्यत्वेनोपदिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वोपपासेन साध्यत्वनिराकरणे देवोत्तरत्वम् । यदा तु कारणप्राह्य्यायकारणं यथा—'ज्ञानमनेन गृहीतमि य भियुक्त प्रतिवृत्ति साद्य गृहीत प्रतिवृत्त चेत्यस्मिन्नेवार्थे प्राह्य्यायकारण परानित ' इति । तत्र प्रतिवादिना यथाकथीनि ॥ कथिद्वादिप्रतिवादिनारेक स्मिन् एवकारे क्रियाह्ययप्रसङ्ग इति निर्णय ॥

एवमुक्ते पत्रे निवृत्तित साध्यविद्येः साधनावलम्बासाधननिर्देश क पूर्वा दिव्यपक्षित भाह—

ततोऽर्था लेखयेत् सद्य प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ॥ ७ ॥

तत उत्तरान्तरम् अर्था साध्यत्वान् सद्य एवान्तरमेव प्रतिज्ञातार्थ साधन लेखयेत् । प्रतिज्ञान साध्य स साधनावलम्बानि प्रतिज्ञातार्थ तस्य साधन साध्यतेऽनेनति साधन प्रमाणम् । अत्र 'सद्यो लेखयेत् इति वदतोत्तराभिधाने कालविलम्बनमध्यस्तीकृमिति गण्यत । तच्चोत्तरत्र विवचयिष्यते । अर्था प्रतिज्ञातार्थसाधन लेखयेदिति वदना वरम साध्यमस्ति ॥ प्रतिज्ञातार्थसाधन लेखयेदियुक्त, अतस्त् प्राह्य्यायकारणे प्राह्य्यायकारणैव साध्यत्वात्प्राह्य्यायकारणोक्तौ ज्ञान इति स एव साधन लेखयेत् । कारणोत्तररपि कारणस्यैव साध्यत्वात्कारण साधयेवार्थीति स एव लेखयेत् । मिथ्याकारे तु पूर्ववाच्येवार्थी स एव साधन निर्दिशेत् । ततोऽर्था लेखयेदिति वदना अर्थैव लेखयेवार्थ इत्युक्तम् । अतस्त् सप्रतिवाद्युक्ते साध्यामावन् भाष्योत्तरवादिन ह्यंपोरप्यर्थिः साध्यासाधननिर्देश एव नार्थेति तावत्तैव व्यवहारा परिसमाप्यत इति गण्यत । एतदेव हारातेन स्पष्टमुक्तम्—'प्राह्य्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिष्टेऽप्युक्तम् । मिथ्योक्तौ एववादी तु प्रतिवृत्तौ न सा भवत् ॥ इति ॥ ७ ॥

भाष्या—प्रत्यर्थी द्वारा मुनो दुई बात और उनका उत्तर अर्था को उपरिधाति मे लिखार । ( उत्तर क बाद ) अर्था अभिप्राय को मिद करने वाचा प्रमाण ताराहल लिख य ॥ ७ ॥

ततः किमिष्यत आह—

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा ।

तस्य साधनस्य प्रमाणस्य अथ्यमाणलिसितसाध्यादिलक्षणस्य सिद्धौ निवृत्तौ सिद्धि साध्यस्य अथलक्षणं प्राप्नोति । अतोऽस्मात्प्रकारादन्यथा प्रका-  
रात्तरेण साधनाभिद्धौ विपरीतं साध्यस्यासिद्धिं पराजयलक्षणमाप्नोतीति  
संबन्धः ॥

एवं व्यवहाररूपमभिधायोपसंहरति—

चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विधादेवंपददर्शितः ॥ ८ ॥

'व्यवहारान्नुपः परयेत्' ( ३५० १ ) इत्युक्तो व्यवहारः सोऽप्यसिद्धं चतु-  
ष्पादचतुरंशत्पलया विधादेवु ऋणादानादिपूवदर्शितो वर्णितः । तत्र 'प्रत्ययि-  
नोऽप्रतो शेषथे' इति भाषापादः प्रथमः । 'भुतार्थस्योत्तरं लेखनम्' इत्युत्तरपादो  
द्वितीयः । ततः 'अर्थो लेखयोरसद्य' इति क्रियापादस्तृतीयः । 'तत्सिद्धौ सिद्धिमा-  
प्नोति' इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः । यथोक्तम्—'परस्परं मनुष्याणां स्वार्थवि-  
प्रतिपत्तिषु । चाक्षयस्याप्राप्त्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥ भाषोत्तरक्रियासाध्य-  
सिद्धिमिः क्रमवृत्तिभिः । आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते ॥' इति । समति-  
परुत्तरे तु साधनाभिर्देवादापार्थस्यासाध्यत्वाच्च न साध्यसिद्धिलक्षणः पादोऽ-  
स्तीति द्विपारवमेव । उत्तराभिधानानन्तरं सम्मानामर्षिप्रत्यर्चिनोः कस्य क्रिया  
स्यादिति परामर्शलक्षणस्य प्रत्याकलितस्य बोधीधरेण व्यवहारवाद्येनानभि-  
धानाद् व्यवहर्तृसंबन्धाभावाच्च न व्यवहारपादत्वमिति स्थितम् ॥ ८ ॥

भाषा—उक्त साधन या प्रमाण की सिद्धि होने पर वह विजयी होता  
है, अन्यथा हार जाता है । यह व्यवहार चतुष्पद ( पूर्वोक्त चार स्तर  
वाला ) होता है जो ऋणदान आदि के विवादों में प्रदर्शित किया गया है ॥८॥

इति साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

एवं सर्वव्यवहारोपयोगिनीं व्यवहारमातृकामभिधायानुना क्वचिद्व्यवहार-  
विशेषे कंचिद्विशेषं दर्शयितुमाह—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ।

अभियुज्यत इति अभियोगोऽपराधः तत्रभियोगमनिस्तीर्णापरिहृत्य एनमभियोगकारं न प्रत्यभियोजयेत् अपराधेन न संवोजयेत् । यद्यपि प्रत्यवस्फन्दनं प्रत्यभियोगरूपं तथापि स्वापराधपरिहारार्थकत्वाच्चास्य प्रतिषेधविषयत्वम् । अतः स्वाभियोगानुपमर्दनरूपस्य प्रत्यभियोगस्यायं निषेधः । इदं प्रत्यर्थिनमधिकृत्योक्तम् ॥—

अथ अर्थिनं प्रत्याह—

अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ ९ ॥

अभियुक्तं च नान्येनेति । अन्येनाभियुक्तमनिस्तीर्णाभियोगमग्नयोऽर्थाभियोजयेत् । किं च, उक्तमावेदनसमये यदुक्तं तद्विप्रकृतिं विरुद्धभावं न मयेत् न प्रापयेत् । एतदुक्तं भवति—यद्वस्तु येन रूपेणावेदनसमये निवेदितं तद्वस्तु तथैव भाषाकालेऽपि लेखनीयं, नान्यथेति ॥ ननु 'प्रत्यर्थिनोऽप्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना' ( व्य० ६ ) इत्यत्रैवेदमुक्तं, किमर्थं पुनरप्यते 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इति ? उपपत्तेः—'यथावेदितमर्थिना' ( व्य० ६ ) इत्यनेनाऽऽवेदनसमये यद्वस्तु निवेदितं तदेव भाषासमयेऽपि तथैव लेखनीयम् । एकस्मिन्नपि पदे न वक्ष्यन्तरमित्युक्तम् । यथा—'अनेन रूपकशतं बृहत्या गृहीतम्' इत्यावेदनसमये प्रतिपाद्य प्रत्यर्थिसंनिधौ भाषासमये 'बह्वक्षत बृहत्या गृहीतम्' इति न वक्तव्यम् । तथा सति पदान्तरागमनेऽपि वक्ष्यन्तरागमनादीनवादी दण्ड्यः स्यादिति 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इत्यनेनैकवस्तुत्वेऽपि पदान्तरागमनं निषिद्धवत् । यथा 'रूपकशतं बृहत्या गृहीत्वाऽथ न प्रयच्छति' इत्यावेदनकालेऽभिधाय भाषाकाले 'रूपकशतं बह्वादपहतवान्' इति वदतीति । तत्र वक्ष्यन्तरागमनं निषिद्धम्, इह तु पदान्तरागमनं निषिद्धवत् इति न वीनरुक्तवम् । एतदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'पूर्वपादं परित्यज्य योऽन्वमाह्वयते पुनः । पदसंक्रमणाऽज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥' इति । हीनवादी दण्ड्यो भवति, न प्रकृतादर्थादीयते । अतः प्रत्यर्थिनोऽर्थिनश्च प्रज्ञादपरिहारार्थमेवायम् 'अभियोगमनिस्तीर्ण' इत्याद्युपदेशो न प्रकृतार्थसिद्धयसिद्धिविषयः । अत एव वक्ष्यति ( व्य० १९ ) 'द्वलं निरस्य भूतेन व्यवहारांश्चवेष्टुप' इति । एतच्चार्थव्यवहारे द्रष्टव्यम् । मन्पुङ्गवे तु व्यवहारे प्रमादाभिधाने प्रकृतादपि व्यवहारादीयत एव । यथाह नारदः—'सर्वेष्वर्थविवादेषु चाप्युद्धे भावसीदति । परस्त्रीभूयणादाने चारयोऽन्वयात् टीपते ॥' इति । अस्यार्थः—सर्वेष्वर्थविवादेषु न मन्पुङ्गवे चाप्युद्धे प्रमादाभिधानेऽपि नायसीदति न पराजयते । न प्रकृतादर्थादीयत इत्यर्थः । अप्रोदाहरणं परस्त्रीत्यादि । परस्त्रीभूयणादाने प्रमादाभिधानेन दण्ड्योऽपि यथा प्रकृता-

दद्यात् हीयते, एवं सर्वेष्वर्थविवादेष्विति । अर्थविवादग्रहणान्मन्युकृतविवादेषु प्रमादाभिधाने प्रकृतादप्यर्थोद्धीयते इति गम्यते । यथा—'अहमनेन शिरसि पादेन ताडित' इत्यावेदनसमयेऽभिधाय भाषाकाले 'पादेन हस्ते ताडित' इति वदन् केवलं दण्डयः । पराजीयते च ॥ ९ ॥

भाषा—अभियोग ( अपराध ) का उत्तर दिखे बिना अभियोग काने वाले पर उठता अभियोग न करे । जिस पर किसी दूसरे ने अभियोग किया हो उस पर अभियोग न करे और न कहीं हुई बात को वाद में दखते ॥ ९ ॥

'अभियोगमनिस्तीर्थं जैनं प्रथमभियोजयेत्' ( व्य० ९ ) इत्यस्यापवादमाह—  
कुर्यात्प्रथमभियोगं च कलहे साहसेषु च ।

कलहे वाददण्डवारण्य्यात्मके साहसेषु विपक्षलादिनिमित्तप्राणव्यापादना-  
 देषु प्रथमभियोगसंभवे स्वाभियोगमनिस्तीर्थ्याप्यभियोजारं प्रथमभियोजयेत् ।  
 तन्वयापि पूर्वपक्षानुपमर्दनरूपत्वेनानुत्तरस्वापरथभियोगस्य प्रतिज्ञान्तरावे युग-  
 मध्यवहारासंभवः समाप्तः । सत्यम् । नात्र युगपद्व्यवहाराय प्रथमभियोगोपदेशः,  
 अपि तु न्यूनदण्डप्राप्तये अधिकदण्डमिवृत्तये वा । तथा हि—'अनेनाहं ताडितः  
 तस्यो वा' इत्यभियोगे, 'पूर्वमहमनेन ताडितः तस्यो वा' इति प्रथमभियोगे दण्डा-  
 परत्वं । यथाह नारदः ( १५०९ ) 'पूर्वमोजारप्रेषस्तु निवृत स्यात् दोषभाक् ।  
 आद्यः सोऽप्यस्यकारी पूर्वं तु विनयो गुरुः ॥' इति । यदा पुनर्द्वयोर्गुणपक्षादना-  
 देष्वप्युत्तिसत्प्राधिकदण्डमिवृत्तिः—'पारुष्ये साहसे वापि युगपद्व्यवहारात् ।  
 वैशेष्येऽप्येव लभ्येत विनयः स्यात्समस्तयोः ॥' इति । पूर्वं युगपद्व्यवहारात्प्रा-  
 भवेऽपि कलहादीं प्रथमभियोगोऽर्थानुनादानादिषु तु विरर्थक एव ॥

अधिप्रार्थयोर्धिषिगुणैवा ससमर्थस्य समापतेः कर्तव्यमाह—

उभयोः प्रतिभूमाह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १० ॥

उभयोर्धिप्रार्थयोः सर्वेषु विवादेषु निर्णयस्य कार्यं कार्यनिर्णयः ।  
 गहिताम्नादिषु पाठाः कार्यदण्डस्य पूर्वनिपन्नः । निर्णयस्य च परकार्यं प्राधि-  
 धनदानं दण्डदानं च तस्मिन्समर्थः प्रतिभूः प्रतिगच्छति तत्कार्यं सद्गुरुवतीति  
 तिभूमाह्यः चसमर्थेन समापतिता । तस्यासंभवेऽधिप्रार्थयोर्धियो रक्षणे पुरुषा  
 योज्याः । तेभ्यश्च ताभ्यां प्रतिदिनं वेतनं देयम् । यथाह कात्यायनः—  
 'य चेत्प्रतिभूनास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः । स रक्षितो दिवस्यान्ते दद्याद्-  
 स्यात् वेतनम् ॥' इति ॥ १० ॥

भाषा—किन्तु कलह और साहस के अपराध में अभियोग करने वाले पर भी अभियोग चला सकता है । दोनों कार्य के निर्णय ( या निर्णय के कार्य ) में समर्थ प्रतिगू ( जमानतदार ) लेना चाहिए ॥ १० ॥

अधिप्रत्यर्थिनोर्निर्णयकार्ये ससम्पन्नेन समापनिना प्रतिभूर्वाह इत्युक्तम्, किं तन्निरणयकार्यं यस्मिन्प्रतिभूर्गृह्यत इत्यपेक्षित आह—

निह्वये भाधितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम् ।

मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वदेत् ॥ ११ ॥

अधिना निवेदिनस्याभियोगस्य प्रत्यर्थिनाऽपह्वये कृते यदाऽधिना साक्ष्यादिभिर्भावितोऽङ्गीकारित प्रत्यर्थी तदा दद्याद्धनं प्रहृतमर्थिने राज्ञे च तत्सममपलापदण्डम् । अर्थाधी भाधयितु न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगी जात इत्यभियोगादभियुक्तघनाद् द्विगुण धनं दद्यात् राज्ञे । प्राङ्म्याये प्रत्यवस्कन्दने चेद्मेव योजनीयम् । तत्रार्थेवाऽपह्वयवादी प्रत्यर्थिनो भावितो राज्ञे प्रहृतधनसम दण्ड दद्यात् । अथ प्रत्यर्थी प्राङ्म्याय कारण वा भाधयितु न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगीति राज्ञे द्विगुण धनं दद्यात् । अधिने च प्रहृत उत्तम् । सप्रतिपत्तुत्तरे तु दण्डाभाव एव । एतच्च श्रमादानविषयमेव । यदा त्तरेषु तत्र तत्र दण्डाभिधानादधनव्यवहारेष्वस्यासभवाच्च न सवविषयत्वम् । 'राज्ञाऽधमर्णिका—दाप्य' ( ६७० ४१ ) इत्यस्य श्रमादानविषयत्वेऽपि तत्रैव विशेष वक्ष्यामः । यद्वा,—एतदेव सर्वम्यवहारविषयत्वेनापि योजनीयम् । कथम् ? अभियोगस्य निह्वयेऽभियुक्तं कृते यद्यभियोगशा साक्ष्यादिभिर्भावितोऽभियुक्त एतदा तत्समं तत्र तत्र प्रतिपक्षोक्तमेव । च शब्दोऽनुध्याये । घनं दण्डं दद्याद्वा इत्यनुवाद । अध्याभियोगा अभियोग भाधयितु न शक्नोति तदा मिथ्याभियोगीति प्रतिपक्षोक्त धनं दण्डं द्विगुणं दद्यादिति विधीयते । अत्रापि प्राङ्म्याये प्रत्यवस्कन्दने च पूर्ववदेव योजनीयम् ॥ ११ ॥

भाषा—अधी द्वारा लयावे गये अभियोग का निह्वय ( छिपाने या अस्वीकार ) करने पर प्रत्यधी ( उस वाद के मूल्य के ) समान धन राजा को दण्डस्वरूप देवे । और झूठा अभियोग चलाने वाला अभियोग क मूल्य से दूना घन देवे ॥ ११ ॥

१ प्रतिभूर्वाह इत्येत आह । २ धनं दद्याद्वाज्ञे । ३ तत्रार्थेवाऽपह्वयवादी प्रत्य । ४ ववतु ।

ततः 'अर्थां छेत्तयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थनाशनम्' (व्य० ७) इति वदतोत्तरपाद-  
छेत्तने कालप्रतीक्षणं दक्षितं तत्रापवादमाह—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशपात्यये स्त्रियाम् ।

विवादयेत्सद्य एव कालोऽभ्यन्तेच्छया स्मृतः ॥ १२ ॥

माहसं विषयमादिनिमित्तं प्राणव्यापादनादि, स्तेयं चौर्यम्, पारुष्यं  
पाददण्डपारुष्यं वच्यमानलक्षणम्, गोदोषी, अभिज्ञापः पातक्रामियोगः,  
आपयः प्राणधनातिपातस्तस्मिन्, द्वन्द्वैकवशावादेशवचनम् । स्त्रियां कुलस्त्रियां  
दास्यां च कुलस्त्रियां चारित्रविवादे, दास्यां स्वत्वविवादे, विवादयेत् उत्तरं दाप-  
येत्, सद्य एव, न कालप्रतीक्षणं कुर्यात् । अन्यत्र विवादान्तरेषु, काल  
उत्तरदानकालः, हस्तपादधिपत्यधिभ्यस्यसमापत्तीनां स्मृत उक्तः ॥ १२ ॥

भाषा—साहस ( विष, कष्ट आदि से प्राण लेना ), चोरी, कठोर भाषण,  
दूध वाली गौ के महापातक, प्राण और धन का नाश तथा स्त्रियों के ( हरण  
या चरित्रविषयक ) विवादों में तुरन्त उत्तर देना चाहिए । अन्य विवादों में  
द्वन्द्वानुसार समय बताया गया है ॥ १२ ॥

दुष्टलक्षणमाह—

देशाद् देशान्तरं याति सृष्टिणी परिलेडि च ।

ललाटं स्वघते चास्य मुखं वैषर्षमेति च ॥ १३ ॥

परिशुष्यस्फलद्वापयो विरुडं यद् भापते ।

घावचक्षुः पूजयति मां तथोष्ट्रीं निर्भुञ्जत्यपि ॥ १४ ॥

स्वभावाद्भ्रुकृतिं गच्छेन्ननोषाकायकर्मभिः ।

अभियोगेऽर्थं साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

मनोषाकायकर्मभिः स्वभावादेव न भयादिनिमित्ताद्भ्रुकृतिं विकारं  
यानि गच्छति असावभियोगे साक्ष्ये वा दुष्टः परिकीर्तितः । तं विकृतिं  
निगम्य वक्ष्यति—वेदादेतास्तरं याति ॥ अर्धद्वयतिष्ठते । सृष्टिणी  
ओष्ठपर्यन्ती परिलेडि जिह्वामेण स्पर्शयति पश्यतीति वर्मणे विकृतिः । अस्फ  
ललाटं स्वघते स्वैर्दन्तैर्द्वित भवति, मुखं च वैषर्षं त्रिजर्णं पाण्डुर्यं  
कृष्णत्व वा एति गच्छतीति कायस्य विकृतिः । परिशुष्यस्फलद्वापयः  
परिशुष्यसगद्दृष्ट स्फलद्वापयस्त वाच्य यस्य स तथोक्तः । विरुडं पूर्वापरविरुद्धं  
यद् वा भापते इति घाचोविकृतिः । पशोकां घाच प्रतिवचनदानेन न पूज-  
यति, चक्षुर्वा प्रतिवीचनेन ॥ पूजयतीति मनसो विकृतेर्द्वयम् । तथा

ओष्टौ निर्भुजति वक्रयतीत्यपि कायस्य विकृतिः । एतच्च होपसमावनामात्र  
सुच्यते, न दोषनिश्चयाय, स्वाभाविकनैमित्तिकविकारयोर्विवेकस्य दुर्ज्ञेयत्वात् ।  
अथ कश्चिन्निपुणमतिर्विवेक प्रतिपद्येत तथापि न पराजयनिमित्त कार्यं भवति ।  
नहि मरिच्यतो लिङ्गदशनेन मृतकार्यं कुर्वते । एवमस्य पराजयो भविष्यतीति  
लिङ्गादवगतऽपि न पराजयनिमित्तकार्यंप्रसङ्गः ॥ १३-१५ ॥

भाषा—जो हथर उधर घूमना रहता है ( एक स्थान पर स्थिर नहीं  
रहता ) ओठों को आभ ल चाटना है, उछाट से पसीना निकलता है, जिसके  
मुँह का रंग उतरा रहता है । जियका मुँह बोलते समय सूखने लगता है,  
रुक रुक कर घाणी निकलता है, अपने बिस्व बहुत सी बातें कहता है ( पूर्व  
काल में कही हुई बात के विरोध में कह ले जाता है ) पूछने पर तत्काल  
उत्तर नहीं देना, देखने पर सामने भाँख उठा कर नहीं देखता, ओठों को  
वेदा करता रहता है ( काटा करता है ) मम, घाणी, शरीर भीर कर्म के  
स्वभाव से परिवर्तित हो गया हो—इस प्रकार के व्यक्ति अभियोग और  
साक्ष्य में हुए कहे गये हैं ॥ १३-१५ ॥

साक्ष्यार्थं स्तनम्बो य साधयेद्यश्च निष्पतेत् ।

न चाहतो यद्वैदिविद्दीनो दण्डयश्च स स्मृतः ॥ १६ ॥

किंच, साक्ष्यमर्थमधमर्णेनाग्राह्यमेव य स्वतः साधननिर्देश  
साधयत्यासेषादिना स हीनो दण्डयश्च भवति । यश्च स्वयं सप्रतिपक्ष  
साधनेन वा साधितं वाच्यमानो निष्पत्तं पलायेत, यस्मान्निपुणः राज्ञा  
चाहृतं मदनि न किञ्चिद्ददति 'सोऽपि हीनो दण्डयश्च स्मृतः' इति सब  
ध्यत । 'अभियोगे च साक्ष्ये वा दुष्टं न परिकीर्तितं' इति प्रस्तुतवादीनपरि  
ज्ञानमात्रमेव सा भूदिति 'दण्डयं ग्रहणम् । दण्डयस्य चापि 'शाखोऽप्यर्थात्  
हीयत' इत्यर्थादहीनत्वदर्शात्तदत्र तस्मा भूदिति 'हीनं ग्रहणम्' ॥ १६ ॥

भाषा—जो साक्ष्य धन अपनी इच्छा से ( विना किसी प्रमाण के )  
लेना खड़े और जो व्यक्ति स्वयं स्वीकार दिये गये या प्रमाणित हुए धन  
के माँगने पर भाग जाय जो अभियुक्त राजा द्वारा बुलाये जाने पर कुछ  
भी उत्तर न दे, वे सभी पराजित हाते हैं और दण्ड के भागी कहे गये हैं ॥ १६ ॥

अथ यत्र द्वावपि युगपद्दर्माधिकरण प्राप्ते मायायादिनौ । तद्यथा—कश्चि  
प्रतिग्रहेण चैत्र लब्ध्वा वचिध्वास्त्रमुपभुञ्ज्य कार्यवशात्सकुटुम्बो देशान्तर  
गतः । अ-योऽपि तदेव चैत्र प्रतिग्रहणं लब्ध्वा कश्चित्कालमुपभुञ्ज्य देशान्तर



गत । ततो ह्यवपि युगपदाय य मदीयमिदं क्षेत्रं मदीयमिदं क्षेत्रम् इति पर  
 एपर पितृदमानौ धर्मोधिकरणं प्राप्ती तत्र कस्य धियत्याकाङ्क्षितं गृह—

साक्षिपुत्रयत ससु साक्षिण पूर्वजादिन ।  
 पूर्वपक्षेऽधरीभूत भवन्त्युत्तरधादिन ॥ १७ ॥

उभयत उभयोरपि चादिनो साक्षिपु सभेवसु साक्षिण पूर्वजादिन  
 पूर्वस्मिन्काले अथा प्रतिगृहीतमुपभुक्त च इति या यद्वयसौ पृथग्गदा, न तुमर्षं  
 पूर्वं निवृत्तवति तस्य साक्षिण प्रष्टव्या । यदा स्व व एवं वदति 'साधमनन पूर्व  
 प्रतिगृहीतमुपभुक्त च किंतु राज्ञमेव क्षेत्रमस्मादेव कषेण लब्ध्या मञ्ज दत्तम्'  
 इति, 'अनन वा प्रतिग्रहेण लब्ध्या मञ्ज दत्तम्' इति तत्र पूर्वपक्षोऽसाध्य-  
 तयाऽधरीभूतैरस्मिन्पूर्वपक्षेऽधरीभूत उत्तरकाळ प्रतिगृहीतमुपभुक्त चेति  
 पादिन साक्षिण प्रष्टव्या भवति ॥ इदमेव व्याख्यानं युक्ततरम् । मिथो  
 चरे पूर्वजादिन साक्षिणो भवति ॥ प्राङ्-यायकाराणां चैव पूर्वपक्षेऽधरीभूते तत्र  
 श्वादिन साक्षिणो भवन्ताति व्याख्यानमयुक्तम् ॥ अद्यायस्य 'ततोऽर्थी लेख  
 यत्सद्य प्रतिज्ञातायैसाधनम्' (श्रु ७) इत्यनेनैतौ क्षेत्रात्पुत्रकक्षिपमहात् । पूर्व  
 पक्षेऽप्यायमेव स्पष्टीकृतं नारदेन— मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिसाक्षिणि ।  
 प्राङ्-यायविधिसिद्धौ तु अवपत्र क्रिया भवत् ॥ इत्युक्त्वा— द्वाविंशत्तोरथं  
 द्वयो ससु च साक्षिपु । पूर्वपक्षो भवेत्तस्य भवेत्तस्य साक्षिण ॥ इति  
 वदता । एतस्य च पूर्वपक्षेऽधरीभूतविलक्षणत्वाद् भेदेनोप-यास ॥ १७ ॥

भाषा—दोनों ओर के साक्षी जाये हों तो पहले अपना पूर्वजा में  
 अधिकार बनाने वाले साक्षी की बात सुने । यदि पूजक कमजोर हा तो  
 साक्षी के समय में अपना अधिकार बनाने वाला साक्षियों से पूछना  
 चाहिये ॥ १७ ॥

सपणश्चेद्विद्याद् स्यात्तत्र हीनो तु दापयेत् ।  
 वृण्डं च सपणं चैव धनिनं धनमेव च ॥ १८ ॥

अपि च, यदि विद्यादो व्यवहार सपण-पणन पण तेन सह वर्तते इति  
 सपण स्यात्तदा तत्र तस्मि सपणो व्यवहारे हीन पराजित पूर्वकं वृण्डं रवृत्त  
 पण राज्ञे अग्निने च विद्यादास्पदीभूत धन दापयन्नात् । यत्र पुनरेकः  
 कोपायकवशात् 'यद्यहमत्र पराजितो भवामि तदा पणान्त दास्यामि इति प्र-  
 क्षामति, अ यस्तु न किञ्चित्प्रतिज्ञानात् तस्यापि व्यवहार प्रवर्तते । तस्मिन्  
 प्रवृत्ते पणप्रतिज्ञायादी यदि हीयते तदा स एव सपण वृण्डं दाप्य । अ-यस्तु  
 पराजितो वृण्डं दाप्य, न पणम् स्वपणं च इति विशिष्टोपादानात् । धनमेव

१ साक्षिण । २ साक्षिपु ससु । ३ स्वस्मि-पक्षे । ४ सपण ।

नतम्, अन्यस्तु पञ्चाशतं प्रतिजानीते तत्रापि पराजये स्वकृतमेव पणं दास्यौ ।  
'मपणश्चेद्विवाद स्यात्' इति वदता पणरहितोऽपि विवादो दक्षित इति ॥ १८ ॥

भाषा—यदि सपण ( शतं लगाकर ) विवाद हो रहा हो और पण की प्रतिज्ञा करने वाला हारता है तो उससे प्रतिज्ञात धन ( राजा ) दिलवावे । वे दोनों ही यदि कम और अधिक धन की शर्तें लगावें तो पराजय स्वीकार करने वाले से पण दिलवावे और धन के अधिकारी को धन दिलवावे ॥ १८ ॥

इत्थं निरस्य भूतेन व्यवहाराश्रयेन्नृपः ।

भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥ १९ ॥

अथ, इत्थं प्रमादाभिहितं निरस्य परिपश्य भूतेन वस्तुतश्चानुसारेण व्यवहाराश्रयेदन्त नृपः । यस्माद् भूतमपि वस्तुतश्चमपि अनुपन्यस्तममभिहितं हीयते ह्यमिमुपपद्यन्ति व्यवहारतो व्यवहारेण सापयादिभिः । तस्माद् भूतानुसरणं कर्तव्यम् । यथाविप्रस्यधिनी सत्यमेव वदतस्तथा सत्यमेव सभापतिना यतितस्य सामादिभिरुपायैः । तथा सति सापयादिनैरपेक्ष्येणैव निर्णयो भवति ॥ अथ सर्वथापि भूतानुसरणं न शक्यते कर्तुं, तथा सति सापयादिभिर्निर्णयः कार्यं ह्यनुकल्पः । यथोक्तम्—'भूतच्छलानुसारिश्चाविद्वगति' समुदाहृतः । भूतं तत्कार्यस्युक्तं प्रमादाभिहितं इत्युक्तम् ॥' इति । तत्र भूतानुसारी व्यवहारो मुख्यः, छलानुसारी (धनुः) सः । सापिलेदयादिभिर्व्यवहारभिर्णये कदाचिद्दस्त्रानुसरणं भवति, कदाचिन्न भवति, सापयादीनां स्वभिचारस्यापि संभवाद् ॥ १९ ॥

भाषा—छल ( प्रमाद से कही हुई बात ) को छोड़कर राजा वस्तुस्थिति के अनुसार व्यवहारों का निर्णय करे । सच्ची बात होने पर भी उसे न कहने पर व्यवहार में पराजित ही होता है ॥ १९ ॥

'भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः' (व्य० १९) इत्यप्रोदाहरणमाह—

निर्णये लिखितं नैकमेकदेशे विभाषितः ।

साप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ॥ २० ॥

नैकमेकं सुवर्णरजतवस्त्रादि लिपितमभियुक्तमर्थिना प्रत्यर्थी यदि सर्वमेव निद्वेतेऽपजानीते तदाप्यनैकदेशे द्विरप्ये साप्यादिभिः प्रत्यर्थी भावितोऽप्येकारितः सर्वं रजताद्यर्थं पूर्वलिखितं दाप्योऽर्दिने नृपेण । न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः 'पूर्वं भाषाशाले अनिवेदितः पत्रादर्थिना पूर्वं मया विस्मृतः' इति निवेदमानो

१. तस्मात् । २. तत्कार्ययुक्तं यत्प्रमादाभिः । ३. निद्वेते लिखितेऽनेकदेशे विभाषितः ।

न प्राक्तो नोदत्तं चो नृपेण । एतत्त्वं न केवलं वाचनिकम् । एकदेशे प्रायश्चित्तो  
 मिथ्यावादिप्रतिश्रय्यादेकदेशान्तरेऽपि मिथ्यावादिप्रतिश्रय्यात् । एवं तर्कापरना-  
 मसंभावनाप्रत्ययानुगृहीतादस्मादेव योगीश्वरवचनात्सर्वं वाचनीयं नृपेणेति  
 निर्णयः । एवं च तर्कवाचसानुसारेण निर्णये कियमाणे धत्तुनोऽन्यथात्वेऽपि इदं-  
 हारदर्शिनं न दोषः । तथा च गौतमः (११।२३, २४) — 'न्यायाधिगमे तर्कोऽन्यु-  
 पायरेतेनाभ्युह्य यथास्थानं 'गमयेत्' इत्युक्त्वा, 'तस्माद्वाचाध्यायार्थनिःसर्गः' (११।  
 ३२) इत्युपसंहरति । न चैकदेशमावितोऽनुपादेववचनः प्रायश्चित्तादिह गमयेत् ।  
 'एकदेशविभावितो नृपेण सर्वं वाच्यः' इति वचनात् । यत्तु कात्यायनेनोक्तम्—  
 'अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाध्यदेव्ये । सात्विभिरैतान्देवामोऽत्मने साधितं  
 उतम् ॥' इति, सैषुप्रादिदेवविप्रावृणत्रिपयम् । तत्र हि बहून्वर्थाभिपुक्त-  
 प्रादिर्न तागोमीति प्रतिबद्धसिद्धवचनो, न भवतीत्येव देवाविभावितोऽपि न क्वपि-  
 साध्यवादीति 'निहृते छित्तितं नैवम्' (१५० १९) इति शब्दं तत्र न प्रवर्तते ।  
 इत्याभावात्प्रतिश्रय्यातर्काभावाच्च ।—'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इति वाच्योपसंहरण-  
 सामान्यविषयं, विशेषसाध्यस्य विषयं निहृतेतरं परिहृत्याऽऽज्ञानोत्तरे प्रवर्तते ॥  
 अत्र 'ऋणादिषु विवादेषु रियरप्रादेषु निश्चिनम् । ऊने वाऽध्यधिके वाप्ये प्रोक्ते  
 साध्यं न निश्चयति ॥' इति वदता कात्यायनेनानेकार्थाभियोगे सात्विभिरैकदेशे  
 भावितेऽधिके वा भाविते साध्यं सर्वमेव न निश्चयनीयुक्तम् । तथा यादेकदेशे  
 भाविते असावितैकदेशसिद्धिः पुनश्चापि उच्यते,—'सिद्धिभिरैतान्वाधमनयो-  
 पन्दरतैः सात्विभिरैकदेशाभिधानेऽपिवाभिधाने वा कृच्छमेव साध्यं न निश्चयति  
 तरथाधः । तत्रापि निश्चयं न निश्चयतीति वचनात्पूर्वार्थानन्द एवेति प्रमाण-  
 न्तरस्यावसरोऽस्येव; 'सुलं निरस्य' इति नियमात् । सादृसादी तु सरत्समा-  
 न्यसाधनतैर्वादिः सात्विभिरैकदेशेऽपि साधिते कृत्प्रमाप्यनिश्चयंवाप्ये, तावमेव  
 साहसादेः निश्चयान्, कात्यायनवचनाच्च—'य एकार्थानेऽपि सदिने सात्विभिः  
 सहलं भवेत् । स्यात्संगे सादमे चोर्वे एकार्थं परिहर्तव्यम् ॥' इति ॥ १६ ॥

ननु 'निहते लिखित नैकम्' (१५० १०) इतीय स्मृतिरतथा 'अनेकार्थाभि  
योगोऽपि' इतीयमपि स्मृतिरेव सत्रानयो स्मृत्यो परस्परविरोधे सतीतरेतरवा-  
धनादप्रामाण्यं कस्मात् अत्रनि, विषयव्यवस्था किमिवाश्रीयत इत्यत आह—

'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु चलवान् व्यवहारतः ।'

अथ स्मृत्यो परस्परतो विरोधस्तत्र विरोधपरिहारोप विषयव्यवस्थापना  
द्वाराप्रमाणत्वादादिलक्षणो न्यायो चलवान् समर्थः । स च न्याय कुत पश्येतस्य  
इत्यत आह—व्यवहारत इति । व्यवहाराद् दृष्टव्यवहाराद्-व्यव्यतिरेकलक्षणाद्-  
व्याप्यते । अतश्च प्रकृतोदाहरणेऽपि विषयव्यवस्थैत्र युक्ता । पूर्वमन्यत्रापि विष-  
यव्यवस्थाविकल्पादि यथासम्भव योऽयम् ॥

एव सर्वत्र च प्रसङ्गेऽप्यत्राह—

अर्थशास्त्रात्तु चलजडमंशास्त्रमिति स्थिति ॥ २१ ॥

'धर्मशास्त्रानुसारेण' इत्यनेनैवौगमसाध्यशास्त्रस्य निरस्तरत्वात् धर्मशास्त्रान्त-  
र्गतमेव राजनीतिलक्षणधर्मशास्त्रमिह विवक्षितम् । अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रस्मृत्यो  
विरोधे अर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्र चलवदिनि स्थितिर्मर्वादा । यद्यपि समानकर्तृकतया  
अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वरूपगतौ विरोधो नास्ति तथापि प्रमेयस्य धर्मस्य  
प्राधान्याद्यर्थस्य चाप्राधान्याद्धर्मशास्त्र चलवदित्यभिप्रायः । धर्मस्य च प्राधान्य-  
शास्त्रादौ दर्शितम् । तस्माद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधेऽर्थशास्त्रस्य बाध एव न  
विषयव्यवस्था, नापि विकल्पः । किमत्रोदाहरणम्, न तावत्—'गुरु वा बाल-  
पृथ्वी वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायाग्त हृष्यादेवाविचारयन् ॥  
आततायिवधे दोषो ह्यनुभवति कश्चन । प्रकृष्ट वा प्रकाश वा मण्युस्त मण्यु-  
मृच्छति ॥' ( मनु ८।३५०-५१ ) तथा—'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तग-  
रणे । जिघांसन् निघासीवाश्च तेन प्रकृष्टा भवेत् ।' इत्यर्थशास्त्रम्, 'इय  
विशुद्धिद्विता प्रमाणाकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न  
दिधीयते ॥' ( मनु १।१।८९ ) इत्यादि धर्मशास्त्र, तयोर्विरोधे धर्मशास्त्र चल-  
वदिति युक्तम् ॥ अनयोरेकविषयवासम्भवन विरोधाभावाच्च चलवच्छि-  
त्ताऽ-  
वतरति । तथा हि—'शास्त्र द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुष्यते' ( मनु ८।३४८ )  
ह्युपक्रम्य—'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणाता च सगरे । स्त्रीविमाम्बुपपत्तौ  
च शन्धर्सेण नै दण्डमाव ॥' ( मनु ८।३४९ ) इत्यारम्भेण दक्षिणादीनां  
धर्मोपकरणानां च रक्षणे युद्धे च स्त्रीब्राह्मणदंडित्यां च—'आततायिनमकृ-  
-

१ स्मृतेर्विरोधे । २ परस्परविरोध । ३ प्रकाश वाऽप्रकाश वा ।  
४ वेदान्तपारमस्य । ५ न हुष्यति ।

शास्त्रेण ननु दण्डभाक् इत्युच्यते तस्यार्थसादार्थमिदमुच्यते 'गुरु वा घालवृद्धी वा' इत्यादि । गुर्वादानस्यन्तायन्तान्पाततामिनो इत्यादिमुतान्यानिनि । 'वा'दण्डध्वजात् 'अपि वदा-तपारगम्' इत्यत्र 'अपि'दण्डध्वजान-न गुर्वादीनां चत्यायप्रतीति, 'नातताविषधे दोषोऽन्यत्र गोत्राक्षणवपात्' इति सुम-तुवच-मात्, 'आचार्ये च प्रवचारे मातर पितर गुरुम् । न हि स्याद् माहाणान्मात्र सर्वाश्वैव तपरिवन ॥' इति ( ४११२ ) अनुवचनाच्च । आचार्यादीनामा ततामिनो हिमाप्रतिषेधेनेद् वचनस्यवचन-वधा, हिंसामात्रप्रतिषेधस्य सामान्य शास्त्रेणैव सिद्धस्यात् । 'नातताविषधे दापो इ-तुर्भवति क्वचन' इत्येतदपि प्राक्षणाद्विस्पतिरिक्तविवेकमेव । यत् 'अग्निवो गरुश्वैव जज्ञपाकिर्धनापह । श्रेत्रदारहरश्वैव पठेते ह्यततामिन ॥' यथा—'इत्यादिसिद्धिवाग्निश्च दापोद्यत् करस्तथा । आधर्षणेन द-ना च पितृगच्छापि राजनि ॥ भार्यानिष्कमकारी च रग्ना-वपणनापह । पवमाद्यानिजानीयास्वर्गान्नेवाततामिन ॥ इति सामान्ये नाततामिनो इति । अतश्च प्रकृत्याद्य अततामिनश्च आमादिनामार्थं हिंसानभिलषिना नियार्यमाणा प्रमादापदि विपद्येरस्तत्र लघु प्रायश्चित्त शत्रुदण्डाभावश्चेति निश्चय । तस्माद्-यदिहोडाहरण यत्क-यम् । तदुच्यते,— 'हिरण्यभूमिलाभेऽथो मित्रल-विधर्षता यत् । अतो यसेत तग्वासी' ( ना० ३५१ ) इत्यथशास्त्रम् ।—'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभत्रिजित' ( व्य० १ ) इति धर्मशास्त्रम् । तयो क्वचिद्विषय विरोधो भवति । यथा—चतुष्पाद्वपवहारे प्रवर्तमाने पुरुष्य जपेऽथधार्म्याणे मित्रल-विधर्षयति, न धर्मशास्त्रमनुसृत भवति । अ-पश्य जपेऽथधार्म्याणे धर्मशास्त्रमनुसृत भवति, मित्रल-विध-र्विपरीता, तप्रार्थशास्त्राद्धर्मशास्त्र यद्यत् । अत एव 'धर्मार्थसन्निपात अर्थ-प्राप्तिण एतद्व' इति प्रायश्चित्तस्य गुराव दक्षिणभापस्तस्यैव । एतदेवति ह्याहशार्पिक प्रायश्चित्त परागुरुवत् ॥ २१ ॥

भाषा—जब दो स्मृतियों ( धर्मशास्त्र क वधर्षण ) में परस्पर विरोध हो तो व्यवहार = दिया गया न्याय बलवान् होता है । अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र का प्रमाण अधिक सरल होता है, ऐसी ही व्यवस्था है ॥ २१ ॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रणिज्ञातार्थसाधनम्' ( व्य० ७ ) इत्युक्तं, किं तस्मा धनमित्यपेक्षित भाद—

प्रमाणं लिखित भुक्ति साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।

एवाम-यतमाभावे दि-यान्यतममुच्यते ॥ २२ ॥

प्रतीयते परिच्छिद्यतेऽनेति प्रमाणम् । तच्च द्विविध मानुष दैविक चति । तत्र मानुष प्रमाण त्रिविध-लिखित भुक्ति साक्षिणश्चेति । कतिं मह-

पिभिः । तत्र लिखितं द्विविध-शासनं चोदकं चेति । सामानमुक्त्वन्वयम् । चीरकं  
 ॥ वषट्पमाणलक्षणम् । मुक्तिरूपभोगः । साक्षिणो वषट्पमाणस्वरूपप्रकारः । तनु  
 लिखितस्य साक्षिणां च दम्बद्विष्यन्तिद्वारेण दम्बेऽन्तर्भावाद्युक्तं प्रामाण्यम् ।  
 मुक्तेस्तु कथं प्रामाण्यम् ? उच्यते—मुक्तिरपि कैश्चिद्विद्वेषैर्गुणैः स्वराद्येतुभूत-  
ह्यादिक्रमव्यभिचारानुमापयन्त्यनुपपद्यमाना वा कश्चयन्तीत्यनुमानेऽर्थापत्तौ  
चास्तर्भवतीति प्रमाणमेव ॥ १ ॥ यथा लिखितान्तेन प्रमाणस्य तत्र प्रमाण-  
 दिव्यानां वषट्पमाणस्वरूपभेदानामन्वयतम जातिदेशकालद्रव्याद्येष्टया प्रमाण-  
 मुच्यते । मानुषाभाव एव दिव्यस्य प्रामाण्यमस्मादेव यचनादवगत्यते; दिव्यस्य  
 स्वरूपप्रामाण्ययोरात्मगतव्यवहारेण । अतश्च यत्र परस्परविवादेन युगपदस्माधि-  
 कारिणं प्राप्तयोरेको मानुषीं क्रियामपरस्तु दैवीमवलम्ब्यते तत्र मानुष्येव प्राज्ञा ।  
 यथाह कात्यायनः—'यद्येवो मानुषीं प्रवादृत्यो मूपात्तु द्वैविधीम् । मानुषीं तत्र  
 गृहीत्वास्तु दैवीं क्रियां मृष ॥' इति । यत्रापि प्रधानैकदेशसाधनं मानुष सभ-  
 वति तत्रापि न दैवसाध्यतया । यथा 'रूपकज्ञानमनया पृथ्व्या गृहीत्याऽप्यं  
 न प्रयत्नानी'त्यभिपोगात्तद्वये—'प्रहणे साक्षिणः सति नो संशयायां पुद्विद्वेषे  
 या, अतो दिव्येन भावयामीत्युक्ते तत्रैकदेशविभावितव्यापेनापि संशयाद्विद्वि-  
 'जितोपतिद्वेर्न दिव्यस्यावकाशः । उक्तं च कात्यायनेन—'यद्येकदेशस्यासापि  
क्रिया विद्येन मानुषी । सा प्राज्ञा तनु पूर्णापि वैद्विरी यैवतां तुनाम् ॥' इति ।  
 यस्तु—'गूढमाहविधानां तु प्राप्त दिव्यैः परीक्षणम्' इति, तद्वि मानुषानामपर-  
 वृत्तनिमित्तमर्थम् । यदपि नास्तेनोक्तम्—'अत्रापि निश्चिने राज्ञाऽन्तर्देशमनि साहये ।  
 श्यामरथावहणे चैव दिव्या संभवति क्रिया ॥' इति, तद्वि मानुषानामप्य एव ।  
तस्मात्मानुषाभाव एव दिव्यन निर्णय द्वावीत्यनिर्णयम् । अथ च आर्यादो दृश्यते—  
'प्रजातो माहते वादे पाठये वृण्वशचिद्धे । कलेदुभूनेषु द्योषु साक्षिणो दिव्य-  
मेव ॥' इति । तथा ऐश्वर्यादुनामपि क्वचिद्विषयो दृश्यते । यथा—'पृथगेगी-  
 गणादीनां वा विधितिः परितः तिग्ना । तस्यास्तु गायनं लेख्यं न दिव्यं न च  
 साक्षिणः ॥' तथा—'द्वारमार्गक्रियासंग्रहणादादियु क्रिया । मुक्तिरेव तु पूर्वा  
 रथाद्य दिव्यं न च साक्षिणः ॥' तथा—'दस्तादस्तेऽथ ग्राह्यानी कर्मात्मनी निर्णय  
 मेति । दिव्यपात्रमममध्ये क्रुंता' छनमतिपद्वि ॥ यत्ते समाहृते चैव विवादे  
 समुपविधने । साक्षिणः साधने प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यम् ॥' इति ॥ २२ ॥

भाषा—लिखित, मुक्ति ( उपभोग, कल्या ) चीर मापी ये प्रमाण हेने  
 हे । हुनमें ये कई ( प्रमाण ) न होये तब दिव्यो ( एक प्रकार के लक्षण )  
 को प्रमाण विहित किया गया है ॥ २२ ॥

१. पूर्वादि । २. कर्ता वादिना, द्वेषी विवदना ।

उभयत्र प्रमाणसंज्ञाये प्रमाणमनवलाबलविवेके चास्ति पूर्वापरयोः कार्ययोः  
करप्यदलीयस्यमित्यत आह—

**सर्वेष्वर्थविधायेषु बलवत्युत्तरा क्रिया ।**

प्राणादिषु सर्वेष्वर्थविधायेषु उत्तरा क्रिया—क्रियत इति क्रिया कार्यं बल-  
यती । उत्तरकार्यं माघिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्यं सिद्धेऽपि तद्वादी  
पराजीयते । तद्यथा—कश्चिद् ग्रहणेन धारणं साधयति कथिप्रतिदानेनाधारणम् ।  
तत्र ग्रहणप्रतिपादनयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं बलवदिति प्रतिदानवादी जैवी  
भवति । तथा पूर्वं द्विकं सत्तं गृहीत्वा कालाभूतरे त्रिकं सतमहीकृतवात्, तत्रो-  
भयत्र प्रमाणसंज्ञायेऽपि त्रिकजतग्रहणं बलवत् । पश्चात्प्राणादिनापूर्वाभाषेनानुपपत्तेः ।  
उक्तं च—'पूर्वाभाषेन भोत्पत्तिरुत्तरस्य हि स्मेस्यति' इति ॥

अस्वापवादमाह—

**आधी प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥ २३ ॥**

नाश्यादिषु त्रिषु पूर्वमेव कार्यं बलवत् । तद्यथा—एकमेव क्षेत्रनस्पत्या-  
ऽऽधि कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरन्वस्याप्यायाप किमपि गृह्णाति; तत्र पूर्वमेव  
तद्भवति, नोत्तरस्य । एवं प्रतिग्रहे ऋषे च ॥ नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुन-  
राधानमेव न सम्भवति । एव दत्तस्य क्रीतस्य च दानकृपी नोपपद्यते तस्मादिदं  
वचनमनर्थकम् । उच्यते—अस्वापेऽपि यदि मोहात्कश्चिद्वाग्वाद्वा पुनराधानादिकं  
करोति तत्र पूर्वं बलवदिति न्यायमूलमेवेद् वचनमित्यसौख्यम् ॥ २३ ॥

भाषा—( ऋण भादि ) धन के समा विधावो में उत्तर कार्य ( वात् का  
प्रमाण ) बलवान् होता है; किन्तु आधि ( अन्वय, रक्षण ), दान  
और ऋष में पूर्व कार्य ( अथवा अधिकार पहले का बनाने वाला पक्ष ) ही  
बलवान् होता है ॥ २३ ॥

भुक्ते कैश्चिद्विदोपणैर्भुक्तायाः प्रामाण्यं दर्शयिष्यन् कस्वाश्चिदुक्तेः कार्यान्तरमाह—

**पश्यतोऽद्भुवतो भूमेर्हानिर्विशतियार्पिकी ।**

**परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्पिकी ॥ २४ ॥**

परेणासंबन्धेन<sup>१</sup> भुज्यमानां भुव धनं वा पश्यत' अद्भुवतः 'मदीयेयं भू-  
न त्वया भोक्तव्या' इत्यप्रतिषेधयतः तस्या भूमेर्विशतियार्पिकी अप्रतिरत्यं  
विंशतिवर्षोपभोगनिमित्ता हानिर्भवति । धनस्य तु द्दस्यश्चादेर्दशवार्पिकी  
हानिः । नन्वेतदनुपपन्नम्, नद्व्यप्रतिषेधास्त्वावमप्यवच्छन्ति । अप्रतिविद्धस्य<sup>२</sup> दान-

१. सर्वेष्वेव विधायेषु । २. ज्ञपति । ३. असंबन्धेन । २. अप्रति-  
षेधस्य ।

स्वापि वास्तवो व्यवहारो भवत्येव । 'दृष्टं निरस्य भूतेन व्यवहारोऽप्येन्द्रिय' (०५०  
 १९) इति नियमात् ॥ अथ मतम् । यद्यपि न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिस्त  
 थापि पश्यतोऽप्रतिषेधतो व्यवहारहानिः शक्या भवतीति तन्नित्यं तूर्णो न स्वात  
 थ्यमिद्युपदिश्यत इति । तच्च न-स्मात्कालाया मुक्तेर्हानिः शक्याकारणवाभावात्,  
 तूर्णो न स्वातथ्यमिष्येताऽन्मात्राभिघरण्यायां विंशतिग्रहणमविष्यति स्यात् ।  
 अथोच्यते-विंशतिग्रहणमूर्ध्वं पञ्चदशोद्गात्रानिराकरणार्थम् । यथाह कात्यायन -  
 'दक्षस्य सनिधावर्गो यस्य लोकेन भुज्यते । विंशतिवर्षाण्यतिशतं तत्रपत्र दशैव  
 जितम् ॥' इति, तदपि न-भाष्यादिविषयि विंशतेरूर्ध्वं पञ्चदशोद्गात्रानिराकरणस्य  
 समाप्तेनाधिसीमेत्याद्यपवादसम्भवात् । यथाह कात्यायन - अथ विंशतिवर्षाणि  
 धाधिर्भुज्यन्त मुनिद्वयम् । तेन लोकेन तस्मिन्दिने पञ्चदशविंशतिः ॥' तथा-सी  
 माविषादौ निर्दिष्टे सीमापत्र विधीयते । तस्य द्वाव प्रवक्ष्याम्यौ पादद्वयानि  
 विंशतिः ॥' इति । एतेन 'घनस्य दशवापिकी' इत्येतदपि प्रयुक्तम् । तस्मात्स्य  
 इत्योक्तस्य 'सस्योऽर्धो वक्ष्यते । उच्यते-भूमिर्धनस्य च कालानिर्दिष्ट विंशतिः, न  
 वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिः । तथा हि निराक्रोश विंशतिवर्षाण्युद्गात्राणां पञ्चदश  
 स्वाम्यान्वापनं चेद्युद्गात्रं, तथापि कालानुसरणं न लभते, अप्रतिषेधलक्षणा  
 स्वापराधात्स्मात्तत्र वचनात् । परोक्षमात्रे तु विंशतैरूर्ध्वमपि कालानुसरणं लभत  
 एव परमम्' इति वचनात् । प्रत्यक्षमात्रे च साक्रोशे, 'अमुद्गात्रं' इति वचनात् ।  
 विंशते प्राक् प्रायश्चे निराक्रोशे च लभते, विंशतिग्रहणात् । ननु तदुत्पद्यस्यापि  
 कुलस्य स्वस्वात्तद्वानिर्गुपपद्यते । यादम्, तस्य स्वरूपादिनाशेन तथैवावस्थाने  
 यथा-तदुत्पन्नदूग्गणनसदृष्ट्यादीनां दत्तुनस्तदुत्पन्नमुपभोगाद्यष्ट तत्र स्वरूपनाशा  
 द्वैव स्वावनाशः । 'अनागम तु यो भुङ्क्ते बहून्पशुशतानि यः । चौरवृत्तेन त पाप  
 दृष्टवैः पृथिवीपति ॥' इत्यनेन वचनेन निष्कयरूपेण गणयिष्यात् चौरवृत्तासम्  
 द्रव्यदान प्राप्त 'हानिर्विंशतिवर्षिकी' इत्यनेनावोचते । रात्रदण्ड पुनरसाद्य  
 विंशतैरूर्ध्वमपि, अनागमोपभोगाद्यपवादभावाच्च । तस्मात्स्वाम्युद्गात्राणां स्वा  
 पराधात्स्मात्तत्र वचनाद्विंशतेरूर्ध्वं फलं नष्टं न लभत इति सिद्धम् । एत  
 घनस्य दशवापिकी, इत्येतदपि व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

भाष्या-स्वामी क देखते रहने और आपति न करने पर भूमि दूसरे  
 व्यक्ति द्वारा जोती जाने पर चौस वर्ष में उसका (स्वामी क) अधिकार ख  
 निकल जाता है और हम प्रकार घन का उपभोग दूसरा करे तो दस वर्ष के  
 बाद स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥



अस्यापवादमाह—

आधिसीमोपनिक्षेपजडबालघनैर्विना ।

१ तयोपनिधिराज्जलीधोत्रियाणा घनैरपि ॥ २५ ॥

आधिश्च सीमा च उपनिक्षेपश्च आधिसीमोपनिक्षेपा । जडश्च बालश्च जडबालौ, तयोर्धौ जडबालघने, आधिसीमोपनिक्षेपाश्च जडबालघने च आधिसीमोपनिक्षेपजडबालघनानि तैर्विना । उपनिक्षेपो नाम रूपरसगन्धस्पर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहित द्रव्यम् । यथाह नारद — 'स्व द्रव्य यत्र विस्र भ्रमासिद्धिपक्षधिशक्ति । निक्षेपो नाम तत्प्रोक्त व्यवहारवद् द्रुपै ॥' इति उपनिधानमुपनिधि । आध्यादिषु पश्यतोऽद्रुवतोऽपि भूमेर्विशतेरुर्ध्वं घनस्य च दशभ्यो त्रयोभ्य ऊर्ध्वमध्युपचयहामिर्न भवति, पुरुषापराधस्य तथाविधस्याभावात्, उपेक्षाकारणस्य तत्र तत्र समघात् । तथा हि—आधेरौधिसोपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराध । सीमन्त्रिरहृतगुणाङ्गावितिर्ह्युत्सुमाध्यात्वादुपेक्षा सम्भवति, उपनिक्षेपोपनिधयोर्भुंक्ते प्रतिविद्यस्यात्, प्रतिदेद्यानि क्रमोपभोगे च मोक्षैवफललाभादुपेक्षोपपत्ति । जडबालयोर्जडबालात्कालादुपेक्षा युक्तैव, राज्ञो बहुकार्येष्व्याकुलत्वात्, स्त्रीणामज्ञानादप्राम्दस्यात् । आश्रितस्याध्ययनाध्यायनतदर्थं विचारानुष्ठानस्याकुलत्वात्तुपेक्षा युक्तैव । तस्मादाध्यादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसम्भवा समस्यभोगे निराकरोते च न कदाचिदपि फलहानि ॥२५॥

भाषा—आधि ( बन्धक ), सीमा, उपनिक्षेप, जड ( मग्नद्रुपि ), बालक का घन, उपनिधि राजपन, स्त्रीघन, धोत्रिय का घन दूसरे द्वारा दस वा दस वर्ष तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से ही नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

आध्यादिषु दण्डविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

आध्यादीना विहर्तार घनिने दापयेद्वनम् ।

दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥

य आध्यादीना श्रोत्रियद्रव्यपरिजनानां विरकालोपभोगस्येनापहर्तां स विरादारपदीभूत घन स्वामिने दापयदित्यनुवाद । दण्डं च तत्समं विवादास्पदीभूतद्रव्यसम राज्ञे दापयेदिति विधि । यद्यपि गृहपेत्रादिषु तत्समो दण्डो न सम्भवति तथापि—'मर्षादाया प्रमेदे च सीमानिक्रमणे तथा' ( ६५० १५५ ) इत्यादिर्वच्यमानो दण्डो द्रष्टव्य । अथ तत्समदण्डेनापहर्तुर्दमन न भवति ॥

१ तस्योपनिधि ।

२ आपिरवनिमित्तक

३ सोदककालम्

धात् । ४ आध्यादीनां निहन्तार दापयेद्विने घनम् ।

धनायेन, तदा दानधयेन धनं दाययेत् । अत्रता तरय दर्वोवशभो भवति  
 तावदापयेत् । 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादात्तान्दमयेत्' ( गी० ११२८ ) इति  
 दण्डप्रदणस्य दमनार्थत्वात् । यस्य तु सत्त्वममपि द्रव्यं नास्ति, सोऽपि पापता  
 पोद्धते तावदाप्यः । यस्य पुनः किमपि धन नास्ति अस्ती धिःदण्डादिना दम-  
 नीयः । तथा च मनुः ( ८१३२९ )—'धिःदण्डं प्रथमं कुर्याद्वाद्दण्डं तदनन्त-  
 रम् । तृतीयं धनदण्डं तु यद्यदण्डमतः परम् ॥' इति । यद्यदण्डोऽपि ज्ञारीशे  
 ब्राह्मणायतिरिक्तानो दक्षया दक्षितः । तथाह मनुः ( ८१३२५ )—'दक्ष स्थानानि  
 दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽधरीत् । त्रिषु पर्णेषु यानि स्युरर्चतो ब्राह्मणो मनेत् ॥  
 उपस्थमुद्धरं तिद्धा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चतुर्णां च कर्णौ च धनं देहस्तपेव  
 च ॥' इति । एतेषां यस्मिन्नापराधस्तत्रैवोपरथादी निग्रहः कार्य इति द्रष्टव्यम् ।  
 कर्म वा कारयित्तयो यन्धनागारं वा प्रयेनयित्तवः । यथोक्त कात्यायनेन—  
 'धनदानात्तर्हं पुद्गला स्वाधीनं कर्म कारयेत् । अज्ञातौ यन्धनागार प्रवेश्यो  
 ब्राह्मणाग्ने ॥' इति । ब्राह्मणस्य पुनर्द्वयाभावे कर्मत्रियोगादीनि प्रयोऽयानि ।  
 यथाह गीतमः ( १२।४० )—'कर्मत्रियोगदिव्यापन्ननिर्वायनाङ्कुरणान्यपृत्ती ।'  
 इति । नारदोऽपि ( १४।८ )—'यद्यः सर्वस्वहरणं पुरासिर्वात्मनाङ्कने । तद्द-  
 ष्येद् दायुक्ता दण्ड उक्तमनाहसः ॥ अविरोधेन सर्वेषामेव दण्डविधिः स्मृतः ॥'  
 दायुक्त्वोक्तम्—'यथास्ते ब्राह्मणस्य, न वर्षं ब्राह्मणोऽर्हति ॥' इति ।—शिरसो  
 मुण्डनं दण्डस्तरय निर्वासनपुरात् । ललाटे चाभिषस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥'  
 ( नारदः १४।९ ) इति ॥ अङ्कने च व्यवस्था दक्षिता ( ९।२३७ )—'गुरुवपे  
 भग. कार्यः सुरावाते सुराश्वजः । स्तपे तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥'  
 इति । यत्तु—'अज्ञानिरोधो ब्राह्मणस्य' ( २।२७।१७ ) इत्यापरतस्वयन्धनं, ब्राह्मणस्य  
 पुरासिर्वात्मनसमये वखादिना चतुर्निरोधः कर्तव्य इति तस्यार्थं, न तु च.सुरद-  
 रणम्, 'अज्ञतो ब्राह्मणो मनेत्' ( मनुः ८।१२३ ) 'न ज्ञारीशे ब्राह्मणे दण्डः'  
 ( गीतमः १२।४६ ) इत्यादिमनुगीतमादिवधनविरोधादित्यल प्रसङ्गेन ॥ २६ ॥

भाषा—आधि ( दण्डक ) आदि के हरण करने वाले से धन के  
 अधिकारी को धन दिलवाये; उसके समान ही दण्ड राजा को दिलवाये अपथा  
 उसकी शक्ति देलकर उसके अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २६ ॥

स्वस्वाप्यभिचारत्वेन भोगस्य स्वस्वे प्रामाण्यमुक्तम् । भोगमात्रस्य स्वस्व-  
 प्यभिचारित्वात्कीदृशो भोगः प्रमाणमित्यत आह—

भागमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वकमागतात् ।

स्वरवहेतु प्रतिग्रहक्यादि आगम । स भोगादप्यधिको चलीयान्, स्वत्व  
 योधने भोगस्यः प्रमाणमापेक्षत्वात् । यथाह नारद ( १८५ )— आगमेन विशुद्धन  
 भोगो याति प्रमाणताम् । अविशुद्धागमो भोग प्रामाण्य नैव गच्छति ॥' इति ।  
 नच भोगमात्रास्वरवागम , परकीयस्याप्यपहारादिभोगभोगमभवात् । अतएव—  
 'भोग कवलतो यस्तु कर्तव्येनागम कश्चित् । भोगच्छलापदेशेन विशेष स तु  
 सस्कर ॥' (नारद १८६) इति स्मर्यते । अतश्च मागमो दीर्घकालो निर-नरो  
 निराक्रोश प्रथर्विप्रत्यक्षेति पञ्चत्रिंशोपण्युक्तो भोग प्रमाणमित्युक्त भवति ।  
 तथा च स्मर्यते 'सागमो दीर्घकालश्चानि-द्वेदोऽप्येकोऽस्ति । प्रथर्विसनिधानश्च  
 परिभोगोऽपि पञ्चधा ॥' इति । क्वचिच्चागमनिरपेक्षस्यापि भोगस्य प्रामाण्य  
 सिद्धाह—विना पूर्वक्रमागतादिति । पूर्वेषां पित्रादीनां क्रमाणां क्रम  
 पूर्वक्रम , तेनागमो यो भोगस्तस्माद्दिना । अगमोऽभ्यधिक इति सच ध । न  
 पुनरागमाद्भ्यधिक आगमनिरपेक्ष । प्रमाणमित्यर्थ । तत्राप्यागमोऽज्ञाननिर  
 पेक्षो न सत्तानिरपेक्ष । सत्ता तु तेनैवावगम्यत इति बोद्धव्यम् । विना पूर्व  
 क्रमागतात् इत्यत-च स्मार्तकालप्रदर्शनार्थम् । 'आगमोऽभ्यधिको भोगात्' इति च  
 स्मार्तकालविषयम् । अतश्च स्मरणयोग्ये काले योगदानुपलब्ध्या आगमाभाव  
 निश्चयसंभवाद्भागमज्ञानमापेक्षस्यैव भोगस्य प्रामाण्यम् । अस्मार्ते तु काले योग्या  
 नुपलब्धभावात्नागमाभावनिश्चयासंभवादागमज्ञाननिरपेक्ष एव सततो भोग  
 प्रमाणम् । एतदेव स्पष्टीकृत कार्यायनेन— स्मार्तकाले क्विवा भूमे सागमा  
 भुक्तिरिष्यते । अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमाश्रितपुरुषागता ॥' इति । स्मार्तश्च कालो  
 वर्षशतपर्यन्त , 'शतापूर्वं पुरुष' इति ध्रुत । अनुगमाभावादिति योग्यानु  
 पलब्धभावेनागमाभावनिश्चयानभवादिस्वर्थ । अतश्च वर्षशताधिको भोग  
 सततोऽपरतिरथ प्रत्यक्षप्रागगमाभावे वाऽनिश्चितेऽभ्यभिचारादाक्षिप्तानम स्वत्व  
 गम्यति । अस्मार्तेऽपि कालेऽनागमसमृतिपरम्परायां सत्यां न भोग प्रमाणम् ।  
 अत एव अनागम तु यो भुङ्क्ते बहुभ्यव्दशना यपि ।। श्रीरुद्रहेन त पाप  
 दण्डयत्पृथिवीपति ॥ इत्युक्तम् । नच 'अनागम तु यो भुङ्क्ते इत्येकत्रयनभिर्देशात्  
 'बहु-पददशना-यपि इति अपि शब्दप्रयोगात्प्रथमस्यैव पुरुषस्य निरागमे चिर  
 कालोपभोगोऽपि दण्डविधानमिति मत-यम् । द्वितीये वा पुरये निरागमस्य  
 भागस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतदिष्यते— आदौ तु कारण दान मध्ये भुक्तिस्तु  
 सागमा' ( नारद २१८७ ) इति नारदरमरणात् । तस्मात्सर्वत्र निरागमोपभोगे  
 अनागम तु यो भुङ्क्ते' इत्येतद् द्रष्टव्यम् । यदपि 'अ-वायेनापि यद्भुक्त पित्रा पूर्व  
 तरेऽस्मि । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमाश्रितपुरुषागतम् ॥' इति, तदपि पित्रा सह

१ अपरिचित । २ प्रथमस्य पुरुषस्य ।

पूर्वतरैस्त्रिभिर्निति योज्यम् । तत्रापि 'क्रमात्त्रिपुरयागत'मित्यस्मार्तकालोपभोग-  
लक्षणम् । त्रिपुरयागविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरयत्रयातिक्रमसम्भवात्, द्विर्भावे  
वर्षे निरागतमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसंग । तथा सति 'स्मार्तकाले क्रिया भूमे सा-  
गमा भुक्तिरिवते' इति स्मृतिविरोध, 'अन्यायेनापि यद्भुक्तम्' इत्येतच्चाद्याप  
नापि भुक्तमपहतं न शक्य, किं पुनरन्यायानिश्चये इति व्याख्येयम्; 'अपि' शब्द-  
अवगाह । यच्च क्व द्वास्मिन्—'वद्विनाऽऽगममभ्यन्तं' भुक्त पूर्वस्त्रिभिर्भवत् । न  
तस्युक्तमपहतं क्रमात्त्रिपुरयागतम् ॥' इति, तत्राप्यस्यन्तस्तमागम विनेति ।  
अस्यन्तमुपलक्ष्यमानमागम . विनेति व्यवशयेय, न पुनरागमस्य रूप विनेति ।  
आगमस्वरूपाभावे भोगक्षतेनापि न स्वस्य भवनीत्युक्तम् । 'क्रमात्त्रिपुरयागतमि-  
त्येतद्बुद्ध्यर्थम् । ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् ।  
तथा हि—यथागम प्रमाणान्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वस्वायममान्न भोगस्य  
स्वाद्य भागमे वा प्रामाण्यम् । अथ प्रमाणात्तरेणागमो नावगत कथं तद्विशिष्टो  
भाग प्रमाणम् ? उच्यते,—प्रमाणान्तरेणावगततागमसहित एव निरन्तरो  
भोग कालान्तरे स्वस्य गमयति । अवगतोऽप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे  
स्वस्य गमयितुमलम् । मध्ये दानविक्रपादिना स्वस्वायमसम्भवाविति सर्वं  
मनष्यम् ॥

आगमसापेक्षो भोग प्रमाणमित्युक्तम्, आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव  
प्रमाणमित्यत आह—

आगमेऽपि धर्तं नैव भुक्ति स्तोकापि यत्र नो ॥ २७ ॥

यस्मिन्नागमे स्वस्वपापि भुक्तिर्भोगो नास्ति तस्मिन्नागमे यत् संपूर्णं नैवा  
स्ति । अयमभिसंधि—स्वस्वावनिवृत्ति परस्वस्वापादन च दानम्, परस्व-  
स्वापादन च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते, नान्यथा । स्वकारणं त्रिविधं—  
मानस, वाचिक, कायिकश्चेति । तत्र मानसो ममेदमिति सकलरूप । वाचिकस्तु  
ममेदमित्याद्यभिव्याहारोञ्जेत्सी सविद्वत्पुरु प्रत्यय । कायिकं पुनरुपादानाभिमर्शं  
नादिरूपोऽनेकविध । तत्र च नियम स्मर्यते—'दद्यात्कृत्वाग्निं पृष्टे गां पुष्टे  
करिणं परे । केशरेषु तथैवाथ दासो शिरसि दापयेत् ॥' इति । आश्वलायनोऽ  
प्याह—'अनुमन्त्रयेत् प्राण्यमितृशेद्ध्राणि वन्यां च' इति । तत्र द्विरप्यवस्थादा-  
द्युद्धदानानन्तरमेवोपादानादिसम्भवात् त्रिविधोऽपि स्वीकार संपद्यते । क्षेत्रादौ  
पुन फलोपभोगभ्यन्तिरेकेण कायिकस्वीकारासम्भवात्स्वल्पेनाप्युपभोगेन भवित-  
व्यम्, अन्यथा दानकथादे संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिक

स्वीकारितः आगमो दुर्बलो भवति तत्सहितोदागमात् । एतच्च द्वयोः पूर्वपर-  
 कालपरिज्ञाने । पूर्वपरकालपरिज्ञानं तु 'अमुं ऽपि पूर्वनाशगम एव यत्नोपा-  
 निति । अथवा—'त्रिभिर्भाजितं ध्यायन्नांशोऽपि त्रिविधम्' इत्युक्त एतेषां  
 समवाये दुष्टं यद्यथा एतदवस्थित्यत्रेदमुपतिष्ठते— आगमोऽत्र विद्यो भोगादिना  
 पूर्वकालागमात् । आगमेऽपि यत्नं नैव भुक्तिं शोकापि यत्र नो ॥' इति । अय-  
 मर्थः—आद्ये पुराणे साक्षिभिर्भाजितं ध्यायन्नांशोऽपि त्रिविधम् । पूर्वकाला-  
 गमात्तु गाहिना । न पुनः पूर्वकालगतो भोगश्चतुर्थे पुराणे उचितेन भाजितोदा-  
 गमात्तुलनात् । तत्राने तु भगवता उदागमपरतः कालादिति उच्यते यत्र वा-  
 निति । एतदेव तत्राने उच्यते—'गच्छेत्तु दानं दानं मत्तं भुक्तिस्तु  
 सागमा । १ । २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ । १३ । १४ । १५ । १६ । १७ । १८ । १९ । २० ॥

भाषा—तीन पहा पहाडे स चल जाते टुए मग ( कर्त ) की शपेण  
 आगम ( संन ) नरिऊ प्रामाणित होता ट । ( आगम सापेण भोग ही  
 प्रमाण ह ता हे । दिशु जडे गदा मा भग नदा दोन पहाँ आगम में की  
 दग नदी रह जात हे ) ॥ २० ॥

'पश्यतोऽमरत' ( १५० २४ ) इत्यत्र विंशतिरूपोपभागादूर्ध्वं भूमेर्धरस्या  
 पि दशरूपोपभागादूर्ध्वं तानुतरणं न भवति । अमुक्तं च कथानुतरणवद्व्युत्पा-  
 नुतरणमपि न भवित्यतीत्याशङ्क्य पुरुषव्यवहारात् न दण्डवदवस्थां वर्णयि-  
 तुमाह—

आगमस्तु एतौ येन सोऽभियुक्तस्तनुदरेत् ।  
 न तस्तनुतस्तस्तुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी ॥ २८ ॥

येन पुराणेन भूतगादेरागम शोकात् । एत स पुरुष 'दुतस्ते क्षेप्रादिरम्'  
 इत्यभियुक्तस्तनागम प्रतिग्रहैरिह उचिततादिभिर्दरेत् भावयत् । अनेन चात्र  
 एव पुराणस्यागममनुदरतो दण्ड इत्युक्तं भवति । तस्तुतो द्वितीयोऽभियुक्तो  
 नागमस्तुदरेत्, किन्तु अत्रिभिर्ज्ञातप्रतिपत्तयः पमच भावयत् । अनेन चागममनु-  
 दरतो द्वितीयस्य न दण्डाऽपि तु विशिष्टं भगमस्तुदरतो इति प्रतिपादितम् ।  
 तस्तुतस्तुतो नाम्न चापि विशिष्टं भोगस्तुदरेत् अपि तु प्रामाण्यं भोगमा-  
 थय । अनेनापि तृतीयस्य प्रामाण्यं भोगस्तुदरेत् न वि-  
 शिष्टं भोगस्तुदरेत् चेत्यभिहितम् । एत तत्रोद्दिनीयतृतीययोर्भुक्तिरेव गरीयता ।  
 तत्रापि द्वितीये गुरुरतीये गरीयमानि विवेचयम् । त्रिष्वप्यागमस्तुदरणेऽर्थं  
 हासिः समानैव, दण्डे तु विशेष इति त एवार्थः । उक्तं च हासितेन—'आगमस्तु

१. सहितादागमाभावात्, दनुमन्त्रयेत् । २ प्रतिप्रदादेरिति ।

कृतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरन् । न तस्मिन्स्तरस्सुतो वा भोग्यदानिरतधोरपि ॥  
इति ॥ २८ ॥

भाषा—जिन व्यक्ति ने खागम ( देण्ड ) करवाया है वह अभियोग चलाये जाने पर उसे प्रस्तुत करे । उसके पुत्र या पौत्रों को वह भागम प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं रहता, उनके सम्बन्ध में भोग ही प्रमाण होता है ॥ २८ ॥

अस्मात्कालोपभोगस्यागमज्ञाननिरपेक्षस्य प्रामाण्यमुक्तं 'विना पूर्वद्वयमागमात्' ( ६०० २७ ) इत्यत्र, नस्यापवादमाह—

योऽभियुक्तं परेत स्यात्तस्य रिदधी तमुद्धरेत् ।

न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ २९ ॥

यदा पुत्रराहर्त्रादिरभियुक्तोऽकृतव्यवहारनिर्णय एव परेत स्यात् परलोक गतो भवेत्तदा यस्य रिदधी पुत्रादिस्तमागममुद्धरेत् । यस्मात्तत्र तस्मिन्व्यवहारे भुक्तिरागमरहिता साधवादिभिः साधितापि न प्रमाणम्, पूर्वाभियोगेन भागस्य सापवादस्यात् । नारदेनाप्युक्तम् ( १.९३ )—'तथा'रिदधिविवावस्य त्रेतस्य व्यस्य हारिण । पुत्रेण सोऽर्थं सप्तोभ्यो न त भोगो निर्वर्तयेत् ॥' इति ॥ २९ ॥

भाषा—यदि अभियुक्त ( अभियोग चलते समय ही ) मर जावे तब उसके उत्तराधिकारी ( पुत्र इत्यादि ) उस भागम को प्रस्तुत करें । उस स्थिति में विना खागम के भोग प्रमाण नहीं माना जाता ॥ २९ ॥

अभिर्णान्तव्यवहारे व्यवहर्तारि प्रते व्यवहारो न निर्वर्तत इति स्थितम् । निर्णयित्वपि व्यवहारे, स्थिते च व्यवहर्तारि व्यवहार फलिसम्बन्धते फलित प्रवर्तत इति व्यवस्थासिद्धय व्यवहारदर्शनां यथाश्लमाह—

नृपेणाधिकृता पूगा श्रेणयोऽथ कुलानि च ।

पूर्वं पूर्वं शुरु श्रेय व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ ३० ॥

नृपेण राजा अधिकृता व्यवहारदर्शने नियुक्ता—'राजा सभासद् कार्या' ( ६०० २ ) इत्यादिभोक्ता पूगा समूहा, भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनां एकस्था ननिवासिना,—यथा ग्रामनगरादयः, श्रेणयो भानाजातीनामेकजातीनामप्यक-  
र्मांप्रजोविना सम्यग्या, यथा श्रेणुकादीनां ताम्रकृत्स्नुविन्दुर्णजरादीनां च, कुलानि ज्ञातिसर्वाध्व-धूनां समूहा, एतेषां नृपाधिकृतादीनां चतुर्णां पूर्वं पूर्वं यथापूर्वं पठितं तच्चदुगुरु बलवज्ज्ञेयं धदितव्यम् । नृणां व्यवहर्तृणां, व्यवहारविधौ व्यवहारदर्शनकार्ये । एतदुक्तं मरति—नृपाधिकृतैर्निर्णीते व्यवहारे परान्तितस्य यथाप्यसतोप कुदृष्टिबुद्ध्या भवन्ति, तथापि न पूगादियु पुनर्ध्व्यवहारो भवति ।

एवं पूगनिर्णतिऽपि न श्रेण्यादिगमनम् । तथा श्रेणिनिर्णति कुलगमन म  
भवति । कुलनिर्णति ॥ श्रेण्यादिगमन भवति । श्रेणिनिर्णति पूगादिगमनम् ।  
पूगनिर्णति नृपाभिहितगमन भवतीति । नारदेन पुनर्नृपाधिकृतेर्निर्णतिऽपि व्यव-  
हारे नृपगमन भवतीत्युक्तम्—'कुलानि श्रेण्यश्चैव गणाश्चाधिकृता नृपा । प्रतिष्ठा  
व्यवहाराणा गुर्वेषामुत्तरोत्तरम्' इति । तत्र च नृपगमने सोत्तरेतभ्येन राज्ञा  
पूर्वं मध्ये सपणव्यवहारे निर्णयमाने मघमौ कुट्टवादी पराजितस्तदाऽसौ  
वृण्व्य । अधासौ जयति तदाऽधिकृता मग्ना वृण्व्याः ॥ ३० ॥

भाषा—मनुष्यों का व्यवहार देखने के कार्य में राजा द्वारा नियुक्त  
व्यक्ति, पूगा ( समूह ), एक कार्य करने वालों की धाराधरी और जाति तथा  
सपत्नियों का समूह ( कुल ) को मगध श्रेष्ठ समझना चाहिए ॥ ३० ॥

दुर्बलैर्भ्यवहारदक्षिभिर्दृष्टा व्यवहार परावर्तते, प्रबलदृष्टस्तु न निवर्तत  
इत्युक्तम् , इदानीं प्रबलदृष्टोऽपि व्यवहार कश्चिद्विधत्त इत्याह—

यत्नाप्राविधिनिर्वृत्ताभ्यवहाराप्रितर्तयेत् ।

स्त्रीनक्तमन्तरागारबाह्य शशुकृतांस्तथा ॥ ३१ ॥

बलेन बलाकारेण उपाधिना भवादिना विनिर्वृत्तास्त्रिपक्षाभ्यवहाराभि  
वर्तयेत् । तथा स्त्रीभिः, नक्त रात्रावस्त्रीभिरपि, अन्तरागारे युद्धाभ्यन्तरे, बहिर्गमा  
दिभ्यः, शत्रुभिश्च वृत्तान् व्यवहारान् 'निवर्तयेत्' इति सबन्ध ॥ ३१ ॥

भाषा—बलपूर्वक एव भय भादि द्वारा निष्पन्न व्यवहारों एव स्त्रियों के  
साथ, रात्रि को, घर के भीतर, प्रातः आदि क बाहर और शत्रुओं द्वारा किये  
गये व्यवहारों पर पुन विचार करे ॥ ३१ ॥

असिद्धव्यवहारिण आह—

मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिवालभीतादियोजितः ।

असंयद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धव्यति ॥ ३२ ॥

अपि च, मत्तो मदनान्मदभ्येन, उन्मत्त उन्मादेन यद्वादिधेन वातपित्तश्लेष्म  
सनिपातग्रहसभवेनोपसृष्ट, आतो व्याध्यादिना, व्यसमिष्टवियोगोऽनिष्टप्राप्ति-  
जनित दु ख, तद्वाभ्यसनी, बालो व्यवहारार्थोभ्य, भीतोऽशक्तिभ्य, 'नादि'  
ग्रहणापुरराष्ट्रादिक्रुद्ध ।—पुराराष्ट्रविक्रुद्धश्च यश्च राज्ञा विमजिन ।  
अनादेयो भवेद्वाहो घर्मविज्जिरंदाहन ॥' इति मनुस्मरणात् । पूर्वयोजित कृतो

१. नृपैः । २ सोत्तरेति उत्तराशासी सम्बन्धेति तत्पदहितेन-स्वोत्तर ।

३ बलोपधि । तत्रोपधि कैतव्य ४ उपधिना भवेत् । ५ असबन्धकृत ।

६. वियोगोऽनिष्टप्राप्तिरतज्जनित ।

व्यवहारो न सिद्ध्यति । अग्निदुष्कासंयद्भृशतोऽपि व्यवहारो न सिद्ध्यतीति  
संबन्धः । यत्तु स्मरणम्—‘गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिश्रणयोः ।  
त्रिरोधे ॥ मित्ररतेषां व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥’ इति, तदपि गुरुरभिष्पादीना-  
मापन्नित्येव व्यवहारप्रतिषेधपर एव भवति तेषामपि कथं विद्वद्व्यवहारोऽप्येवम् ।  
तथा हि—‘शिल्पादिशिष्टिरवधेन दत्तौ राज्ञुवेणुविद्वन्महर्षी तनुरवा, धन्यस  
मन् राज्ञा सास्यः’ ( २३४२३४ ) इति गौतमस्मरणत्वात् । ‘गोतमात्रे कथयन्’  
( ८१०० ) इति मनुस्मरणत्वात् । यदि गुरु कोपायेत्तन्नाशनादनादण्डेणः तमात्रे  
साहयति, तदा श्रुतिव्यपेक्षेण मार्गोपाधयितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति,  
तदा भयवशेन व्यवहारपदम् ॥ तथा—‘भूयां विनामहोपात्ता’ ( ४५० १२१ )  
इत्यादिउच्यमानास्मितामहोपात्ते भूयादां विनापुण्यो स्वाग्ने मगाने, यदि विना  
विक्रमादिना विनामहोपात्त भूयादि नास्यन्ति तथा पुत्रो यदि धर्मोपिस्मरण  
प्रवेक्षयति तदा विनापुत्रयोरपि भयवशेन व्यवहारः ॥ यथा—‘दुर्मिसे धर्मरापे च  
व्याधौ सन्नगिरोधर्दे । श्रुतोऽथ खंघन भर्ता पात्राणा दाशुर्मर्दी ॥’ इति  
स्मरणात्, दुर्मिच्छादिस्थितिरेकेण यदि खंघन भर्ता स्वव्याप्त्यै विद्यमानधर्मोऽपि  
व्याधमातो न ददाति तदा दम्पत्यारपीत्यत एव व्यवहारः । तथा भक्तदामस्य  
स्वामिना सह व्यवहारं पश्यति । गर्भंदास्यपि, गर्भंदासादीन्विद्वद्य—  
‘पक्षेणा स्वामिन कश्चिन्नोऽप्येवमात्तसायात् । दासश्चास्य विगुप्यत पुत्रभाग  
उमेत च ॥’ इति नारदोक्तत्वात्, तदमोघने पुत्रभागादाये च स्वामिना सह  
व्यवहारः केन धार्यते ? तस्माद्दृष्टादृष्टया धेयस्वरा न भवति गुरोर्भिर्षयवहार  
इति प्रथम शिल्पादयो निवारणीयाः राज्ञा समभ्यवेति ‘गुरोः शिष्ये’ इत्यादि  
श्लोकस्य साधयार्थः । अत्यन्तनिर्दन्धे तु शिल्पादानामप्युक्तरीत्या प्रवर्तनीयो  
व्यवहारः । यदपि—‘पुत्रस्य बहुभिः सार्धं स्वाजां सेवयन्नस्य च । अनादेवो  
भवेद्वाचो धर्मोऽभिस्मरदाहसः ॥’ इति नारदवचनम्, तत्रेवैवपि—‘गणत्रय  
हरेष्वपि सविद एवमेव च’ । ( ४५० १८० ) तथा—‘एव एतान् एवमां च’  
( ४५० २२१ ) इत्यादिस्मरणादेर्यैर्वैर्दन्धिः सार्धं व्यवहारं ह्येतत् पवेति  
भिर्षयैर्बहुभिरेकस्य शुभपद्व्यवहारो न भवतीति द्रष्टव्यम् । स्त्रीणां पति  
गोपनीयं शिल्पादिस्त्रीणां स्वातन्त्र्याद् व्यवहारो भयवशेति, तदन्गानां सुतस्त्रीणां  
पतिषु जीवैस्तु साधारणव्यादानादेशो व्यवहार इति व्याप्तेरप्यम् । ‘मिष्यजनस्य  
स्वामिपारतन्धा स्वार्थव्यवहारेऽपि स्वाम्यनुज्ञयैव व्यवहारा नान्यथेति  
व्याख्येयम् ॥ २२ ॥

१. धिकारिण प्रविशति । २ व्यवहारान् । व्यवहारपदं । ३ जीवस्तु  
सस्तु । ४. योजनीयम् ।



भाषा—सत्त ( नक्षे में वृत्त ), उन्मत्त ( पागल ), रोगी, पियजन की मृत्यु आदि से विपत्तिग्रस्त, घालक, अस्त ( ज्ञान से भयातुर ) व्यक्तियों के ऊपर चलाया गया व्यवहार पून अमवल्ल व्यक्ति द्वारा चलाया गया व्यवहार मित्र या विचारणीय नहीं होता ॥ ३२ ॥

पराशर्य व्यवहारमुक्त्वा हृदानो पराशर्य द्रव्यमाह—

प्रनष्टाधि गतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।

विभाषयेद्यं जेद्विलङ्घेस्तरसमं दृण्डमर्हति ॥ ३३ ॥

प्रनष्ट द्विरप्यादि सौख्यिकस्थानवालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं पक्षद्राज्ञा धनिने दानव्यम् । यदि धना रूपमज्ञादिभिर्निर्दिष्टमावपदि । यदि न भवपति तथा तामस दण्डव, नमःपदादिरात् । नविद्यमस्य दररनिमित्तवाप्यदरे प्रक्षे तपरानृत्तिरनेतोप । अत्र च कालाधि यचरति ( १०३ )—‘सौख्यिकैः स्थानप क्षेत्रां जटापट्टमहाधनम् । तत्रैतत्पर्यावास्वामी हरेत् परतो मृतम् ॥’ इति । मनुना पुनः तद्वत्परमपधियेन निश्चितम् ( ८१३० )—‘प्रनष्टस्वामिक रिबध राजा श्वद्व निधापयेत् । अर्धं कृ श्वद्वद्रोस्वामी परतो मृतमिहरेत् ॥’ इति । तत्र सर्वत्रपधर्ममवश्य रक्षणीयम् । तत्र यदि नवत्तराश्वार्क स्वाम्यागच्छेत्तदा कृत्स्नमेव दद्यात् । यदा पुन स्वाम्यराश्वर्ध्वमागच्छति, तदा किंचिद्भाग रक्षण-गुत्सर्पं गृहीत्वा सोप स्वामिने दद्यात्, यथाह—‘श्वद्वरेताय पद्मभाग प्रनष्टाधि-गतामृप । इत्तम द्वादश वापि मतो धर्मममुरमरम् ॥’ ( मनु० ८१३० ) इति । तत्र प्रथमे धर्मे कृत्स्नमेव दद्यात्, द्वितीये द्वादशं भाग, तृतीये वसतं, चतुर्थादिषु पष्ट भाग गृह्यात्वा शेष दद्यात् । राजभाष्ये चतुर्थोऽंशोऽपिगन्त्रे दानव्यः । स्वाम्यनामने ॥ कृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे स्वाम्य सोप राजा गृहीयात् । तथाह गौतम. ( १०१३६-३८ )—‘प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य सपरमर राजा रक्षयम् । ऊर्ध्वमंशम-गुत्सर्पं गृह्यात् राज्ञे शेषम्’ इत्यत्र संवत्परमित्येक-वचनमितिज्ञायम् । ‘राजा श्वद्व निधापयेत्’ इति स्मरणम् ‘द्वेत् परता मृतम्’ इत्येतद्वि स्वामिन्दानाग श्वद्वद्रोस्वामी व्यधिकरणाप्यनुज्ञानपरम् । तत्र परमागते ॥ स्वामिनि स्वर्गाभूतेऽपि दृष्टे राजा स्वोत्तमवनायं तामस दद्यात् । एतस्य द्विरप्यादिरिषयम् । गजाद्विषये चचरति ( १०४ )—‘पगानेकदाके दद्यात्’ इत्यादिना ॥ ३३ ॥

भाषा—किमी की मूर्त हुई वस्तु पाकर राजा उस धन के अधिकारी को यह वस्तु ( धन ) देवे और यदि वह चिह्नों द्वारा उसे ( धन ) प्रमाणित कर सके तो उसके समान दण्ड का भागी होता है ॥ ३३ ॥

१. रूपकसख्या । २. पद्मभाग । ३. चतुर्थां भागः शेषं राज्ञ इति ।

रथ्याशुवकशाकादिनिपतितस्य सुवर्णादेर्नक्षत्रस्याधिगमे विधिमुपस्था अधुना  
भूमौ चिरनिवृत्तस्य सुवर्णादेर्निधिस्तद्व्याप्यस्याधिगमे विधिमाह—

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्घं द्विजः पुनः ।

विठानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ३४ ॥

इतरेण निधौ लब्धे राजा पष्टांशमाहरेत् ।

अनिवेदितविद्यातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ ३५ ॥

उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्वा अर्घं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् शेषं कीर्त्तौ निवेदयेत् ।  
ब्राह्मणस्तु विद्यां धुनाप्ययमसंबन्धः भव्याच, शो यदि निधिं लभेत तदा सर्वमेव  
गृहीयात्, यस्मात्सौ सर्वस्य जगतः प्रभुः । इतरेण तु राजनिवृद्धब्राह्मणव्यति-  
रिक्तेन अविद्धब्राह्मणवृत्तियादिना निधौ लब्धे राजा पष्टांशमधिगन्त्रे दद्यात् शेषं  
निधिं स्वयमाहरेत् । यथाह वसिष्ठ—‘अप्रज्ञावस्मानं वित्तं योऽधिगच्छेद्ब्राह्मणं तद्-  
रेत्, अधिगन्त्रे पष्टमंशं, प्रदद्यात्’ इति । गौतमोऽपि ( १०।३।५ )—‘निध्य-  
धिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य, ब्राह्मणोऽप्यायमाना पष्टमंशं  
लभेत्तोयेके’ इति । अनिवेदित इति कर्त्तरि निष्ठा । अनिवेदितव्यासौ विज्ञातश्च  
राज्ञेऽप्यनिवेदितविज्ञातः, यः कश्चिन्निधिं लब्ध्वा राज्ञे ॥ निवेदितवान् विज्ञातश्च  
राज्ञा स सर्वं निधिं दाप्यो लण्डं च दास्यवेत्तया । अथ निधेरपि स्वाग्नास्य  
रूपकसंस्थादिभिः स्वयं भावयति तदा तस्मै राजा निधिं दद्यात् पष्टं द्वादशं  
षोडशं स्वयमाहरेत् । यथाह मनुः ( ८।३५ )—‘ममापमिति यो द्रुपाग्निनिधिं  
सत्येन मानवः । तस्यादर्दं त पट्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥’ इति । संज्ञादिपद-  
स्तु वर्णकालःपरेषु वैदिनैः ॥ ३४-३५ ॥

भाषा—राजा ( इस प्रकार का ) धन लेकर तमका भाषा ब्राह्मणों को  
दान कर दे । विद्वान् ब्राह्मण यदि देवी निधि पात्रे तो सम्पूर्ण स्वीकार करे,  
क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी होता है । ( राजा, विद्वान् ब्राह्मण के  
अतिरिक्त ) किसी भी धन लेवे तो उसका छुटा अंश एतने पात्रे को  
देकर दीव राजा स्वयं ले लेवे । न चलाई गई निधि जान हो जाय तो उसे  
सम्पूर्ण निधि दण्ड के रूप में दिलवाये ॥ ३४-३५ ॥

वीरहन्तं शपात्—

देयं वीरहन्तं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु ।

अददद्भिः समाप्नोति क्लिष्टिष्यं यम्य तम्य तत् ॥ ३६ ॥

वीरहन्तं द्रव्यं वीरेभ्यो विजित्य जानपदाय स्वदेवविवाहिते यस्य तत्  
द्रव्यं तस्मै राजा दानव्यम् । हि यस्मात् अददन् अप्रवर्द्धन् यस्य तदपहृतं

१. द्रुपाद्दिभ्योऽर्घ्यं । २. राजधनं न ब्राह्मणस्य । ३. रूपकसंस्थादिभिः ।

द्रव्यं तस्य किविधमाप्नोति । तस्य चौरस्य च । यथाह मनु ( ८।१० )—  
 'दातव्य सर्ववर्णैर्मयो राज्ञा चौरैर्हृत धनम् । राजा तदुत्पुञ्जानचौरस्याप्नोति  
 किविधम् ॥' इति । यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभुङ्क्ते तदा चौरस्य  
 किविधमाप्नोति । अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य किविधम् । अथ चौर-  
 हताहरणाय यत्तमानोऽपि न शक्नुयादाहृतं तदा तावद्धन स्वकोशाहयात् ।  
 यथाह गौतम — ( १०।१६ ) 'चौरहृतमवज्रिय यथास्वार्थं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्'  
 इति । कृष्णद्वैपायनोऽपि—'प्रत्याहृतं न शक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि । स्वकोशा  
 तद्धि देयं स्यात्क्षतेन महाक्षिता ॥' इति ॥ ३६ ॥

भाषा—चोरों से छीने गये धन को राजा अपने देश के निवासी को  
 ( जिसका वह धन हो ) देवे । यदि उनका धन नहीं देना तो उस धन के  
 अधिकारी क सभी पाप उभे लग आते हैं ॥ ३६ ॥

हाथसाधारणव्यवहारमातृकापररणम् ।

### अथ ऋणादानप्रकरणम् ३

साधारणासाधारणरूपां व्यवहारात्कामभिधायाधुनाशादृशानां व्यर्थवहार-  
 पदानामाद्यशृदणादानपद दर्शयति—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्' इत्यादिना,  
 'मोक्ष्य आधिरतदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने' ( व्य० ३४ ) इत्येवमन्तेन । तस्य  
 ऋणादान सहविधम्—ईदृशमृण देय, ईदृशमदेय, अनेनाधिकारिणादेय, अस्मिन्  
 समये देय, अनेन प्रकारेण देयम्, इत्यधमर्णं पञ्चविधम् । उत्तमर्णं दानविधि,  
 आशानविधिश्चेति द्विविधमिति । यत्तच्च नारदेन स्वष्टीकृतम् ( ११।४ )—ऋण  
 देयमदेय च येन यत्र यथा च यत् । दानप्रहणधर्मैर्मन्वाशुणादानमिति शृणुतम् ॥'  
 इति । तत्र प्रथममुत्तमर्णस्य दानविधिमाह, तत्पूर्वकत्वादिनरेषाम्—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सपन्धके ।

धर्षणक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ ३७ ॥

मासि मासि प्रतिम त्त्वं बन्धक विश्वासाथं यदाधीयते, आधिरिति यावत् ।  
 बन्धकेन सह वर्तत इति मन्त्र धर प्रयोग, तस्मिन्मन्त्रबन्धके प्रयोगे प्रयुक्तस्य  
 द्रव्यस्य अशीतितमो भागो वृद्धिर्धर्म्या भवति । अन्यथा बन्धकरहिते प्रयोगे  
 वर्णानां प्राक्कादानां क्रमेण द्वित्रिचतुष्पञ्चकं शत धर्म्यं भवति । प्राहणेऽधमर्णं  
 द्विकं घात, त्रिये त्रिक, चैरये चतुर्क, शृङ्गे पञ्चकम् । मासि मासीत्यत्र द्वी  
 यः ऋणे चत्वारो यः पञ्च यः द्वित्रिचतुष्पञ्चकः, अस्मिन् ऋणे वृद्धिर्देयते इति

द्वित्रिंशत् पञ्चशतम् । 'सूर्यायाः जनिदाद-तायाः ऋतू' ( वा ५११२२ )  
 इत्यनुवृत्तौ 'तदस्मि वृद्धवायलाभशुभापदा शीयते' ( वा ५११४७ ) इति वचः ।  
 ( वृद्धेवृद्धिश्चकृद्धिः प्रतिमास तु कालिना । इच्छामृता कारिता स्वात्काविका  
 कार्यकर्मणा ) इत्येव वृद्धिर्मासि मासि गृह्यते इति कालिना । इत्यमेव वृद्धिर्दि-  
 यसरणाय विभज्य प्रतिदिवसं गृह्यमाणा काविका भवति । तथा च नास्ति  
 ( १११०२, ४ )—'कादि । कालिना चैव कारिता च तथा एताः । चन्द्रदिक्षु  
 चास्तेषु मरुत वृद्धिश्चतुर्विधा ॥' इत्युक्तेः—'काविकारिणी चैव पणपादा-  
 दिवाविना । प्रतिमासं स्यात्ता वा वृद्धिः सा कालिना मता ॥ वृद्धिः सा  
 कारिता ताडनमर्निहनं स्वयं कृता । गृद्धरविः पुनर्वृद्धिश्चकृद्धिर्याहता ॥' ( ११  
 १०३ ४ ) इति ॥ ३७ ॥

भाषा—ए-धक रथे तुष्ये च पर उक्तं अग्नीर्वो भागं प्रथमं मासं मे  
 श्याज् होता द्वे । अथवा ( ए-धक न हाने पर ) वर्णं च धनुसार ( ब्राह्मण  
 आदि न क्रमका ) ता तीरा, चात् वीर पोष प्रतिगत श्याज् होता  
 पाहिण ॥ ३७ ॥

प्रहाद्विशेषेण वृद्धे प्रकारान्तरमाह—

कान्तारमास्तु दशकं नामुद्रा विशकं शतम् ।

कान्तारमरुण्य तत्र गच्छेत्तीति कान्तारमा । य वृद्धया धनं गृह्यते चिन्-  
 लाभाय मनिगद्येन प्राणधनविनाशकशुभान्तरं प्रविशन्ति तं वदन् शतं वदन् । ये  
 च समुद्रमास्ते विशकं शतम् । आसि मासीयेत् । एतदुक्तं प्रति—कान्तार  
 मेष्या दशकं ता नामुद्रमथश्च विशकं ता, उक्तमर्थं भाव्यात्, मूलविनाश-  
 श्यापि कृद्धितयादिनि ॥

इति वीरारि ॥ वृद्धिमाह

वृद्ध्या स्वर्गा वृद्धि रथं सर्गसु जातिषु ॥ ३८ ॥

मर्षं वा प्राणव्यवसायं तत्रैव स्व-धकं वा स्वर्गा रथाभ्यु-  
 पगता वृद्धिं मर्षात् प्राणेषु वृद्धिः । कृद्धिर्मासि वृद्धिर्भवति, यथाह भारद्  
 ( १११०८ )—'न वृद्धि रथि तानां स्वात्कान्तरिणा कृद्धिः । नकारित  
 मन्मूर्षी रथमाधीवर्षेण ॥' इति । यस्तु याविकं गृह्यते, दशान्तरं मरुत  
 प्रति स्वात्कान्तारम्—वा याविकमादाय मरुदत्ता दिक्षु मरुत् । ऊर्षं  
 मरुतरास्य तदनं वृद्धिमात्पुयात् ॥' इति । यत्र याविकमादाय याविकमा  
 स्वदत्ता देशान्तरं मरुति स मरुति ननैव नम्—कृतोदारमदत्ता यो याविकरु

१ पुनर्वृद्धिश्चकृद्धिश्च

२ विशकं

३ पाति ।

द्विषं प्रजेत् । ऊर्ध्वं मासत्रयात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितक न ददाति त याचितदालादारभ्योकारितां वृद्धिं दापयेद्वाजा । यथाह—'स्वेदेशेऽपि स्थितो वातु न दद्यात्ता-चिन' इति । तं ततोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेत् ॥' इति । अनाकारितवृद्धेरपवादो नारदेशोक्त—'पण्यमूल्य मृनिर्म्यामो दण्डो यश्च प्रकृतिपतः । घृथादानाङ्गिरुपणा वर्धन्ते नाविपश्चिताः ॥' इति । अविपश्चिता अनाकारिता इति ॥ ३८ ॥

भाषा—( अधिक लाभ के लिये दान लेकर ) महान धन में जाने वाले से वृत्त प्रतिजन और समुद्र की यात्रा करने वाले से भीस प्रतिजन वृद्धि ( इयाज ) लेनी चाहिये । अथवा सभी जानियों के लिये जो मितनी वृद्धि देना स्वीकार करे उतनी देवे ॥ ३८ ॥

अथुना द्रव्यविशेषेण वृद्धिविशेषमाह—

सम्पत्तिस्तु पशुखीणां—

पशुखीणां सम्पत्तिरेव वृद्धिः । पशूनां खीणां दोषशासमर्थस्य तत्पुष्टिमन्त-तिरामस्य प्रयोग सम्पत्तिः । ग्रहण च चरपरिचर्यायिनः ॥

अथुना प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य वृद्धिग्रहणमन्तरेणापि चिरकालारस्थितस्य वस्य द्रव्यस्य कियन्ती परा वृद्धिशिष्येणित आह—

—रसस्याष्टगुणा परा ।

पट्टशान्यद्विरण्यानां चतुस्त्रिगुणा परा ॥ ३९ ॥

रसस्य त्रैगुणादेर्वृद्धिग्रहणमन्तरेण चिरकालारस्थितस्य सङ्कतमा वृद्ध्या वर्धमानस्य अष्टगुणा वृद्धिः परा, नात परं वर्धते । तथा पट्टशान्यद्विरण्यानां यथामदस्य चतुगुणा । त्रिगु । द्विगुणाश्च वृद्धिः परा । यन्निष्ठेन तु रसस्य त्रैगुण्य-मुक्तम् ( २।४४।७ ) द्विगु । द्विरण्य त्रिगुण धान्य । धान्येचैव रसा इवात्पाता-पुष्पमूलकाः न च । तुनाष्टमगुणम्' इति । अनुना तु धान्यस्य पुष्पमूल-फलार्थिना च षड्गुणावमुक्तम्—धान्ये सदे लये बाह्ये गानिष्कामति पञ्चतमम्' इति । सद्' ऐ' फल पुष्पमूलकलादि, उषो मेघेर्णचामरीकंदादि, यद्यो यत्पीपर्हृत्मादिः । धान्यदालपत्राद्यात्रिपया वृद्धिः षड्गुण्यत्वे नातिक्रामतीति । सत्रापमर्णयोश्चतस्रोऽनेन द्विगुणादिकालपक्षेण च व्यवस्था द्रष्टव्या । एतच्च सङ्क-स्ययोगे सङ्कदादरेण च वर्द्धस्यम् । पुष्टयन्तरसकम्पणेन प्रयोगान्तरकरणे तस्मिन्नेव

१. यापन । २ रस्य वृद्धि । ३ विशेषे । ४. तुष्टयन त्रिगुण ।  
वर्तयमष्ट । ५. वृषफल ।

वा पुरुषे अनेकश रेकसेकाभ्यां प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिक द्वैगुण्याद्यतिष्ठम्य पूर्वानद्धर्धते । सहरषभोगेऽपि प्रतिदिनं प्रतिमास प्रतिस्वत्सर वा वृद्ध्याहरणे-  
ऽधमर्णदेशस्य द्वैगुण्यासम्बन्धात्पूर्वाह्नवृद्ध्या सह द्वैगुण्यप्रतिक्रम्य वर्धते  
एव । यथाह मनु ( ८।१५१ )—‘कुम्भीद्वृद्धिर्द्वैगुण्यं नारयेति सहर-  
दिता ।’ इति । सहरदाहृतेऽपि पाठोऽस्ति । उच्यथार्थं प्रयुक्तं द्रव्यं कुम्भोद, तस्य  
वृद्धिं कुम्भीद्वृद्धिः, सा द्वैगुण्यं नारयेति नातिक्रामति । यदि सहरदाहिता सहर-  
युक्ता । पुरुषान्तरसकक्रम्यादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमस्येति । सहरदाहृतेति  
पाठे तु शनैः शनैः प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिस्वत्सरं वाऽधमर्णादाहृता द्वैगुण्य  
मस्यतीति व्याख्येयम् । तथा गीतमेनाप्युक्तम् ( १२।३१ )—‘चिरस्थाने द्वैगुण्य  
प्रयोगस्य’ इति । ‘प्रयोगस्य’ इत्येकउचननिर्देशात्प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्याति-  
क्रमोऽभिप्रेत । ‘चिरस्थाने’ इति निर्देशात् शनैः शनैर्दृष्टिप्रदये द्वैगुण्यातिक्रमो  
वक्षित ॥ ३० ॥

भाषा—पशु और स्त्री के लिये उनकी स ताम ही वृद्धि ( इपाज )  
होगी है । रस ( लेह, घृत आदि ) लेने पर उसकी वृद्धि स्वाकृत वृद्धि से  
अधिक से अधिक गटगुणा हो सकती है । यद्य, धान्य और सोने का वृद्धि  
अधिक से अधिक क्रमशः त्रैगुणी, त्रिगुणी या दुगुणी होती है ॥ ३१ ॥

श्रेणप्रयोगधर्मा उक्ता, सावत प्रयुक्तस्य धनस्य प्रदणधर्मा उच्यन्ते—

प्रपन्नं साधयन्नर्थं न धार्यो नृपनेर्भवेत् ।

साध्यमानो नृपं गच्छ-दण्ड्यो द्वाप्यश्च तद्धनम् ॥ ४० ॥

प्रपन्नमशुपगतमपमर्णेन धनं साधयामिभिर्भावितं वा साधयन् प्रवाह-  
रन् धर्मादिभिर्दशवैकृतमर्णो नृपतर्वाणो नियारणाया न भवति ॥ धर्मा  
दयक्षापाया मनुजा दक्षिता ( मनु ८।४९ )—‘धर्मेण स्ववहारेण दृष्टेनाचरितत  
च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमन वलेन च ॥’ इति । धर्मेण प्रीतियुक्तत साधयन्  
नेन, स्ववहारेण साधिलेख्यापुत्रायेन, दृष्टेन तामवादि-पात्रेण भूपगादिप्रह-  
णेन, भक्षरितेन भभोजनेन, पञ्चमेनोपायेन वलेन निगदहम्भनादिना, उप-  
पपार्थं प्रयुक्तं द्रव्यमेतैरुपायैरामपात्रुर्थादिति । ‘प्रपन्नं साधयन्नर्थं न धार्य’  
इति यदन् अर्थितकन् साधयन् शक्या निवारणीय इति दर्शयति । ‘धनदेव स्वर्ण-  
कृतं वाऽपापनेन—’प द्येत्तो धनी कश्चिद्वहिक न्यायवादिनम् । तस्मादर्थारम  
दायेत तामम चाप्युपाह्वयम् ॥’ इति । यन्तु धर्मादिभिर्दशैः प्रपन्नमर्थं माध्य

१. गान्तरीकरणे ।

२. गच्छेत् ।

३. प्रपन्नं साधयन्नर्थं ।

४. हेत्वापुपम्यामन ।

५. प्राप्नुवात् ।

मानो याच्यमानो नृप गच्छेद्वाजानमभिगम्य साधयन्तमभिपुङ्क्तं स दण्डो भवति, शक्यनुसारेण धनिने तद्दन दाप्यथ । राज्ञा दापने च प्रकारा दर्शिता — 'राजा तु स्वामिने विप्र सान्त्वेनैव प्रदापयेत् । देशाचारेण चान्यास्तु दुष्टान्स पीठ्य दापयेत् ॥ रिक्थिन सुहृद् वापि कुलेनैव प्रदापयेत् ॥' इति । 'साध्यमानो नृप गच्छन्' इत्येतत् 'स्मृत्याचारव्यपेतेन' इत्यस्य प्रत्युदाहरण बोद्धव्यम् ॥४०॥

भाषा—दिये गये धन को धर्मपूर्वक लेने का प्रयत्न करने वाले के बीच में राजा दखल न देवे । यदि वह उससे लिये राजा के समीप निवेदन करता है तो दण्डव होता है और राजा को धनी के धन दिला देना चाहिए ॥ ४० ॥

बहुपूतमर्णिकेषु युगपरब्राह्मणैस्त्रैकोऽधमर्णिक केन क्रमेण दाप्यो राज्ञेऽपेक्षित भाह—

गृहीतानुकमादाप्यो धमिनामधमर्णिक ।

दद्यात्तु ब्राह्मणार्थैश्च नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥

समानजातीयेषु धनिषु येनैव क्रमेण धन गृहीत तेनैव क्रमेणाधमर्णिको राज्ञः दाप्य । भिन्नजातीयेषु तु ब्राह्मणादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

भाषा—समान जाति के धनिषों में जिस क्रम से (जिस जिस का) धन लिया हो उस उस को ऋणी से दिल्वाये । (यदि भिन्न जाति क ऋणदाता हों तो) पहले ब्राह्मण का धन दिल्वा कर तब क्षत्रिय आदि का दिल्वाये ॥ ४१ ॥

यदा पुनरुत्तमर्णो दुर्बल प्रतिपन्नमर्थ धर्मादिभिरवायै साधयितुमशक्य-  
वराज्ञा साधितार्थो भवति तदाऽधमर्णस्य दण्डमुत्तमर्णस्य च श्रुतिदानमाह—

राज्ञाऽधमर्णिको दाप्य साधिताद् दशकं शतम् ।

पञ्चकं च शतं दाप्य प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिक ॥ ४२ ॥

अधमर्णिको राज्ञा प्रतिपन्नार्थासाधिताद्दशकं शतं दाप्य । प्रतिपन्नस्य साधितार्थस्य दशमरूप राज्ञाऽधमर्णिकादण्डरूपेण गृह्णीयादित्यर्थ । उत्तमर्णस्तु प्राप्तार्थं पञ्चकं शतं श्रुतिरूपेण दाप्य । साधितार्थस्य विंशतितम भागमुत्तमर्णाद्वाजा श्रुत्यर्थं गृह्णीयादित्यर्थ । अप्रतिपन्नार्थासाधने तु दण्डविभागो दर्शित — 'निह्वे भावितो दद्यात्' ( ४५० ५ ) इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषा—यदि राजा ऋणी से बसूल करक ऋणदाता को धन दिलाव तो ऋणी से दस प्रतिशत और धन पाने वाले ऋणी से पाँच प्रतिशत श्रुति-रूप में ले ॥ ४२ ॥

सधनमपमर्णिकं प्रत्युक्तम्, अशुना निर्धनमधमर्णिकं प्रत्याह—

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ।

ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यां यथोदयम् ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणादिजातिदत्तमर्णां हीनजातिं अश्रियादिजातिं परिक्षीणं निर्धनमृणार्थं श्रमनिवृत्त्यर्थं कर्म स्वजात्यनुरूपं कारयेत् तत्कृद्भ्यामिरोधेन । ब्राह्मणस्तु पुनः परिक्षीणो निर्धनः शनैःशनैः यथोदयं यथासंभवमृणं दाप्यः । अत्र च 'हीनजाति' प्रहणं समानजातेरशुपलक्षणम् । अतश्च समानजातिमपि परिक्षीणं यथाचितं कर्म कारयेत् । 'ब्राह्मण'प्रहणं च श्रेयोजातेरुपलक्षणम् । अतश्च अश्रियादिरपि परिक्षीणो वैश्यादेः शनैःशनैर्दाप्यो यथोदयम् । पुनरेव मनुना स्पष्टीकृतम् ( ८।१७७ )—'उर्मणापि समं कृपाद्वैनिरेनाधमर्णिकः । नमोऽपकृष्टजातिश्च दद्यात्प्रेयास्तु तच्छुनैः ॥' इति । उच्यते न समं निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णाभ्यपदेश-मप्यसमानमवर्णाः कर्तव्याः कुर्वादिशब्दाः ॥ ४३ ॥

भाषा—( धनी से ) निम्नजाति के शरी से जितके पास गठन छोड़ने के लिए धन न हो, धनी व्यक्ति के यहाँ उसकी जाति से अशु रूप कार्य कराये । यदि हम प्रकार का अपमर्ण श्रेणी ब्राह्मण हो तो शनैः-शनैः ( धोका-धोका करते ) उसकी भाष के अनुसार धन वसूल करे ॥ ४३ ॥

मध्यम्यरथापितं न वर्धते—

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम् ।

मध्यम्यरथापितं चेतस्याद्वर्धते न ततः परम् ॥ ४४ ॥

किंच, उच्यते यार्थं प्रयुक्तं धनं मध्यमर्णेन दायमानमुत्तमर्णो वृद्धिलोपादि न गृह्णाति तदाऽपमर्णेन मध्यमहस्ते रथापितं यदि रथापदा ततः रथापनादूर्ध्वं न वर्धते । अथ रथापितमपि वाच्यमानो न ददाति ततः पूर्वमद्वर्धत एव ॥ ४४ ॥

भाषा—यदि धन देने वाला व्यक्ति व्याज के लिये ऋण दिये गये धन को श्रम द्वारा लौटाये जाने पर भी ( व्याज के लाभ से ) प्रहण नहीं करता और उस धन को श्रेणी हिमी मध्यम्य के पास जमा कर दे तो उसके बाद उसकी वृद्धि ( व्याज ) नहीं होगी ॥ ४४ ॥

इदानीं देवगृहं यदा वेन च देयं तदाह—

अधिमर्कः कुद्भुवार्थं यष्टं तु हतं भवेत् ।

दत्तुस्तद्विषयिनः प्रेते प्रीयिते वा कुटुम्बिनि ॥ ४५ ॥

१. मृगार्थं कर्म ।      २. अनिरापाधमर्णिकः ।      ३. पितं परत्याह  
४. तस्यात् ।      ५. पूर्व वर्धन एव ।



अविभक्तैर्बहुभिः कुटुम्बार्थमेकैकेन वा यद्यन कृतं तद्यग कुटुम्बी दद्यात् । तस्मिन्प्रेते श्रेयिते वा तद्विस्थितेन सर्वे दद्युः ॥ ४५ ॥

भाषा—सयुक्त परिवार में ( एक साथ रहने वाले ) अनेक व्यक्तिों या एक व्यक्ति द्वारा जो ऋण कुटुम्ब व पातन के लिये लिया गया हो, उसे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका सभी उत्तराधिकारी ( सम्पत्ति के भागादार ) लौटावें ॥ ४५ ॥

येन देयमित्यत्र मृत्युदाहरणमाह—

न योषिरपनिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ।

दद्यात् कुटुम्बार्थान् पतिः स्वीकृतं तथा ॥ ४६ ॥

पिता कृतस्य योषिभ्यां नूनं दद्यात् । पुत्रेण कृतं योषिमाता न दद्यात् । तथा पुत्रेण कृतं पिता न दद्यात् । तथा भार्याकृतं पतिर्न दद्यात् । 'कुटुम्बार्थाहने' इति सर्वशेषः । अतस्त्र कुटुम्बार्थं येन कवापि कृतं गत् कुटुम्बिता देयम् । तद्भावे तद्वापहरैर्देयमित्युक्तमेव ॥ ४६ ॥

भाषा—जो ऋण कुटुम्ब के भरणपोषण के लिये नहीं लिया गया हो ( किसी अन्य प्रयोजन से लिया गया हो ) देगे पति द्वारा लिये गये ऋण को ही न लौटावे, पुत्र द्वारा लिये गये ऋण को माता न भरे, पिता न भरे, और पत्नी द्वारा लिये गये ऋण को पति लौटाने का अधिकारी नहीं होता ॥ ४६ ॥

'पुत्रपौर्द्वयं' देयम् ( ४७० ५० ) इति वक्ष्यति तस्मै पुरस्तात्पदादमाह—

सुराकामयूनकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् ।

पृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यात् पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानेन यत्कृतं कामकृतं स्वीकृतं निमित्तं शून्ये पराजयनिमित्तं दण्डशुल्कावशिष्टकृतं पृथादानं भूतवन्दिमस्तु इत्यस्यो यत्प्रतिज्ञासम्—'भूतं वन्दिमि मन्ते च कुत्रैवेति' इति शब्दः । चाट्यारण्येरेषु दत्तं भवति निष्कलम् ॥ इति स्मरणात् । एतदणं पिता पुत्रादि शीघ्रिद्वयं इत्यस्य न दद्यात् । अत्र 'दण्डशुल्कावशिष्टकं' मित्यवशिष्टदण्डावशेषं दत्तमिति न भवत्यस्य ।—'दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा । न द्यातव्यं तु पुत्रेण यत् न दद्यात्प्रादि कम् ॥' इत्यस्य स्मरणात् । योऽमेनाप्युक्तम्—'मद्यशुल्कान् दण्डांश्च पुत्रान्प्रादिभवेपु' इति । न पुत्रस्थापति भवतीत्यर्थः । अनेनादेयस्युक्तम् ॥ ४७ ॥

भाषा—मदिरापान एवं जुआ खेलों के निमित्त लिये गये ऋण, दण्ड और शुल्क की विधि के अवशिष्ट भाग, दृष्टादान के ( पूर्ण वन्दी, मन्त आदि

के लिये प्रतिज्ञात) घन—इन पेटुक ( पिता द्वारा लिये गये ) ऋणों को चुकाने का अधिकारी पुत्र नहीं होता ॥ ४७ ॥

'न पति स कृत तथा' ( व्य० ४६ ) इत्यस्यापवादमाह—

गौपशौण्डिकशैलूपरजकव्याघयोपिताम् ।

ऋणं दद्यात्पतिस्तेषां यस्माद्भृत्तिस्तदाधया ॥ ४८ ॥

गोपो गोपाल, शौण्डिक सुराकार, शैलूपो नट, रजको लछाणा रजक, व्याघो मृगयु, पतेषा योपिस्तिर्येण कृतं तत्तत्पतिभिर्देयम् । यस्मात्तेषां भृत्तिर्जायते तदाधया योपिदधीना । 'यस्माद्भृत्तिस्तदाधया' इति हेतु-वपरेषां दान्येऽपि वै योपिदधीनजीवनारतेऽपि योपिकृतमृग दधुरिति गम्यते ॥ ४८ ॥

भाषा—गाव ( गहौर, ग्वाले ), कलारी ( सुराकार ), नट, रगरेज और बहुरिया की स्त्रियों द्वारा लिखे गये ऋण उनके पति दबे क्योंकि इनकी जीवनभृत्ति स्त्रियों के ही अधीन होती है ॥ ४८ ॥

'पतिकृण भार्गव दद्यात्' ( व्य० ४९ ) इत्यस्यापवादमाह—

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या या सह यत्कृतम् ।

इयमवृत्तं वा यद्वर्णं नान्यरस्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

सुसूत्रिणा प्रत्यक्षता या पत्या नियुक्तया ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्प्रतिपन्नं देयम् । यच्च पत्या सह भार्यया ऋणं कृतं तदपि अर्धभाग भार्यया अपुत्रया देयम् । यच्च स्वयंकृत ऋणं तदपि देयम् । ननु 'प्रतिपन्नादि ऋणं दद्यात् देयम्' इति वक्तव्यम् । सदृष्टमाशयः । उच्यते—'भार्यां पुत्रश्च दातुश्च प्रथमयाधना स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यश्चैते तस्य तद्धनम् त' इति वचनात्निर्धनत्वेन प्रतिपन्नादिभ्यदानौत्तुष्ट्यावाभिदुमुच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं' मित्यादि । न चानेन वचनेन स्थायीता निर्धनत्वमभिधीयते; पारस-श्वगाप्रपतिपाद्ग परत्वात् । एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरित्यते । 'ना-यत् स्त्री दातुमर्हति' इत्ये-तत्सर्द्धि न वक्तव्यम् । निर्धानेनैवा-यत्र प्रतिपेऽस्ति ॥ उच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या या सह यत्कृतम्' इत्येतदपौरुषवादाद्यर्थमुच्यते । अन्यस्त्रिया-कामादिवचनापात् प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि ॥ देयमिति ॥ ४९ ॥

भाषा—( मरणान्त-न या विद्वान् जाने याज्ञे ) पति द्वारा लिये गये या पति क माय लिये गये ऋण का धधना स्वयं लिये गये ऋण को ही स्त्री लौटा सकती है भ-व ऋणों को नहीं ॥ ४९ ॥

पुनरपि यदण दातव्य, येन च दातव्य, यत्र च काले दातव्य, तत्रित्तयमाह—

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ।

पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्वये साक्षिभावितम् ॥ ५० ॥

पिता यदि दातव्यमृणमदश्वा प्रेत, दूरदेश गत, अचिरित्तयनीयस्याप्याद्य-  
भिभूतो वा नदा नभृत्कृतमृणमाद्यवापनेऽदश्य देयम्, पुत्रेण पौत्रेण वा पितृणा  
भावेऽपि पुत्रायेन पौत्रत्वेन च, सत्र क्रमोऽप्ययमेव—पित्रभावे पुत्र, पुत्राभावे  
पौत्र इति । पुत्रेण पौत्रेण वा निह्वय कृते अविना साक्षादिभिर्भावितमृण देय  
पुत्रपौत्रैरित्येवम् । अत्र 'पितरि प्रोषिते' इत्येतावदुक्तम्, कालविशेषस्तु नारदे-  
शोर्लो द्रष्टव्य — 'नारदावसवससदाङ्घ्रिणापितरि प्रोषितं सुत । ऋणं यद्य रिशुभ  
या उपष्टे ज्ञातव्यवापि वा ॥' इति । प्रेतेऽप्यप्राप्तव्यवहारकालं न दद्यात्, प्राप्त  
व्यवहारकालस्तु दद्यात् । ॥ ॥ कालस्तर्जय इति — तर्जय सदाशो ज्ञेय भाष्ट  
माह्वसरादिषु । काल भा षोडशाह्वर्षात्पीगण्डश्चेति शब्दतः परतो इव  
हारश्च स्वतन्त्र पितराकृते ॥ इति । यद्यपि पितृमरणादूर्ध्वं बालोऽपि स्वतन्त्रा  
जातस्तथापि गर्भभाभवति । यथाह— 'अप्राप्तव्यवहारश्चेत्येतन्प्रोऽपि हि गर्भ  
भाक् । स्वानभ्य हि स्वत उपष्टे उपेष्टय गुणवच कृतम् ॥' इति । तथा भासे  
धाह्वाननिषेधश्च दृश्यते— 'अप्राप्तव्यवहारश्च दूरो दानोऽमुस्तो प्रती । विदम  
रथाश्च नामेऽप्या न चैतानाह्वयन्तु ॥' इति । तस्मात् 'अना पुत्रेण जातेन  
स्वार्थमुत्पन्नं यत्नत । पृणारिवता माचनीयो यथा नो नरकं प्रेत ॥' इति ।  
पुत्रेण व्यवहारज्ञानया जातेन विध्वंसनेति व्याकथयम् । धाह्वेऽपि बालस्याप्य-  
धिकार — 'महाभिष्याहारयेद-यत्र स्वधानिवचनात्' इति गौणमस्मरणात् ।  
'पुत्रपौत्रै रिति बहुवचननिर्देश इत्येव पुत्रा यदि विभक्ता स्वोशानुरूपेण ऋणं  
दद्यु । अविभक्ताश्चेत्सभूयसमुत्थानेन गुणप्रधानभावेन वर्तमानानां प्रधानभूत  
एव वा दद्यादिति गम्यते । यथाह नारद् ( ११७ )— 'अत ऊर्ध्वं पितु पुत्रा  
श्रमं दद्युर्यथाशत । अविभक्ता विभक्ता वा वर्ततावद्दहते धुरम् व' इति । अत्र  
न यद्यपि 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं साक्षिभावितम्', तथापि पुत्रेण यथा पिता सृष्टिक  
ददाति तथैव देयम् । पौत्रेण तु सम मूलमेव दातव्य, न सृष्टिरिति विशेष उपा-  
गतव्य । प्राणमात्मन्दिप्यप्येव देयं पुत्रैर्विभाजितम् । पैतामह समं देयमदेय  
तास्तुतव्य तु ॥ इति सृष्टरपनिवचनात् । अत्र 'विभावित'मित्यपि तोषोपादानात्मा  
चिर्भावितमित्यत्र साक्षिग्रहणं प्रमाणोपलक्षणम् । समं यथावद्दहीत तावदेव,

१ कृतमृणमदश्य । २ अष्टमात् । ३ व्याहरीद्-यत्र । ४ परतो  
चे दहते । ५ तथैव प्राण ।

देय, न वृद्धि । तस्मिन्स्य प्रपौत्रस्यादेयमवृद्धीतघनस्य । एतच्छोत्तरश्लोके स्पष्टी  
कियते ॥ ५० ॥

भाषा—पिता के परदेस जाने पर, मर जाने पर या व्यसन में (अन्वय  
रोय स पीडित) होने पर पुत्र और पोत्र उसके द्वारा विवाह या गण दत्तें । यदि  
वे अस्वीकार करें तो राक्षियों द्वारा प्रमादित होने पर दें ॥ ५० ॥

प्रशापाकरणे ऋणी त पुत्र पोत्र इति श्रय कर्तारो दक्षितारस्तेषा च तन्वाये  
क्रमोऽपि दर्शित । इदानीं ऋणंतरसमवाये च क्रममाह—

रिष्यमाह ऋणं दाप्यो योपिऽप्राप्तस्त्वथैष च ।

पुत्रोऽनन्याधितद्रव्यं पुत्रहीनस्य रिष्यति ॥ ५१ ॥

अन्यदाय द्रव्यसम्बन्धवत्त्वादि-गतिरेतेण चत्वारि सति तद्विषयम् ।  
त्रिभागात् रिष्य गृह्णातीति रिष्यमाह, स ऋण दाप्य । एतदुक्तं भवति—  
'दायदीय द्रव्य रिष्यत्वेण गृह्णाति स गृह्णातृण दाप्यो च चौरादिरिति । यापित  
भार्या गृह्णातीति योपिऽप्राप्त, स तथेवर्णं दाप्य, । या गृहीया यापित गृह्णाति स  
गृह्णातृण दाप्य । योऽपि तोऽविभाज्यद्रव्यस्यैव रिष्य यपदेवताहर्षेऽप्राप्तं निदेत् ।  
पुत्रान-याश्चिद्रव्यं दण दाप्य, अन्यम धितमन्याधित, अ-न्याधित गामुपि  
सुगमन्वि द्रव्य वस्यासावन्वाधितद्रव्य, ग-याधितद्रव्योऽ-याधितद्रव्य,  
पुत्रहीनस्य रिष्यति गृह्णा दाप्य इति सत्यम् । एतेषां समवाय मन्व  
पाठक्रम एव । 'रिष्यमाह ऋणं दाप्य, तद्भावे यापिद्रमाह, तद्भावे पुत्र  
इति । तन्वतया समवाय एव भोपपद्य, 'न आतरो न पितर पुत्र रिष्यद्दरा  
विपु' इति पुत्रे सत्य-परस्य रिष्यद्गृह्णासभवात् । यापिद्रमाहोऽपि यापयद्यत्,  
(मनु ५।१६२)—'न द्विवाचश्च साप्रीणां उपिद्वितापरिद्वयत्' इति स्मरणात् ।  
तथा तद्वग पुत्रो दाप्य इत्यप्युक्तम्, 'पुत्रवाग्निर्ऋणं देयम्' (श्रु ५०) इत्यु  
क्त्यात् । 'गणन्याधितद्रव्य' इति विशेषणस्यार्थ-म्, पुत्र सति द्रव्यस्या-या  
श्रयणासभवात्, समवे च रिष्यमाह इत्यनैव गतार्थत्वात् । पुत्रहीनस्य रिष्यति  
इत्यतदपि गणस्यम् । पुत्रे सत्यपि 'रिष्यमाह ऋणं दाप्य' इति स्थितम् ।  
धत्तति पुत्र रिष्यमाह सुपरां दाप्य इति सिद्धमेवम् । अप्रोच्यत—पुत्रे साय  
प्यन्यो रिष्यमाह। समति, क्लृपान्यवधिरादानां पुत्रत्वोपि रिष्यद्दराभावात् ।  
तथा च क्लृपादी-नुमन्य 'भर्तृर्ष्येऽप्युनिरदाया' (श्रु १४०) इति चप्यम् । तथा  
'सवर्गापुत्रोऽनन्याधितद्रव्यं लभेर्नैवम्' इति गौतमस्मरणात् । तथा क्लृपादिपु  
त्रेषु सामु धन्यायपुत्रे च तवर्णापुत्रे सति रिष्यताही विवृण्वतपुत्रादि । योपि

१ एतदपिच्यते । २ अविषय । ३ रिष्यमाहाभावात् । ४ भाग्यपारतु ।  
भर्तृप्राप्त ।

स्त्रीपनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः ॥ इति । धनस्त्रीहारिपुत्राणां समाये यो धनं हरेत् अणभाक् पुत्रोऽनतोः स्त्रीपनिनोः, स्त्री च धनं च स्त्रीपने, ते विद्येते ययोरनी स्त्रीपनिनी, तयोः स्त्रीपनिनोरनतोः पुत्र एव ऋणभाक् भवति । धनिपुत्रयोरनतोः स्त्रीहार्यवर्णभाक् । स्त्रीहार्यभावे पुत्र ऋणभाक्, पुत्राभावे स्त्रीहारीति विरोधाभापरिहारः पूर्ववत् । 'पुत्रहीनस्य रिषियनः' ह्यपत्यान्वा ऋणाया—एते धनस्त्रीहारिपुत्रा ऋणं कस्य दाप्या इत्यपेक्षायां उत्तमर्णस्य दाप्याः, तदभावे तैःपुत्रादेः, पुत्रास्तभावे कस्य दाप्या इत्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते—'पुत्रहीनस्य रिषियनः' इति । पुत्रास्तन्वहीनरयोत्तमर्णस्य यो रिषी रिष्य-प्रहणयोश्चः सपिण्डादिरत्तस्य रिषियनो दाप्याः । तथा च नादेन (११११२) 'प्राणस्य तु यद्देवं माण्यस्य च नास्ति चेत् । निर्वपेत्सकुर्वेपु तद्भावेऽस्य यन्पुत्रु ॥' इत्यभिहितम्—'यदा तु न सकुर्वाः स्पुर्म च संप्रियवाग्धवाः । तदा दद्याद् द्विजेभ्यस्तु तेभ्यस्त्वयस्सु निधिपेत् ॥' नारदा (११११३) इति ॥५१॥

भाषा—रिषय ( सम्पत्ति का भाग ) लेने वाले ( सम्पत्ति के स्वामी द्वारा ) लिये गये ) ऋण को लौटावें, स्त्री को प्रहण करने वाला उसके मृत पति का लिये ऋण भी दे । जिसका धन पुत्र के अनिरिक्त अर्थ को न मिला हो उसका ऋण पुत्र देवे और पुत्रहीन ऋणी का धन उसकी सम्पत्ति का भाग लेने वाले बुकावें ॥ ५१ ॥

अपुत्रा पुरपतिरेते ऋणप्रहणं प्रतिषेधमप्रसङ्गादन्वदपि प्रतिषेधति—

आतृणामथ दम्परयोः पितुः पुत्रस्य चैव हि ।

प्रातिभाष्यमृणं सादयमधिभक्ते न तु स्मृतम् ॥ ५२ ॥

प्रतिभुयो भावः प्रातिभाष्यं, आतृणां दम्परयोः पितापुत्रयोश्चाविभक्ते द्वये द्वयविभागारप्रप्रातिभाष्यमृणं सादय च न स्मृतं मन्वादिभिः १. अवि तु प्रनिषिद्ध, साधारणधनत्वात् । प्रातिभाष्यसाक्षिभ्योः पदे द्रव्यावसानत्वात्, ऋणस्य चावश्यप्रतिषेधत्वात् । एतच्च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण, परस्परानुमत्या एवविभक्तानामपि प्रातिभाष्यादि भवत्येव । विभागादूर्ध्वं तु परस्परानुमतिव्यतिरेकेणापि भवति ॥ ननु दम्परयोर्विभागप्रत्ययप्रातिभाष्याद्विप्रतिषेधो न युज्यते, तयोर्विभागाभावेन विजेयणानर्हत्वात् । विभागाभावात्प्रातिभाष्येन दर्शितः ( आप० घ० २११२-१६ )—'जायापरवोर्न विभागो विद्यते' इति । सत्यम् ; धीतरमार्तादिसाध्वेषु कर्मसु तत्कथेषु च विभागाभावो न पुनः

विरोधप्रतिभासः । २. इति विवक्षायां । ३. तस्त्रीपुत्रादेः ।

। = गवे स्तवन्पुत्रु । ६. द्रव्यव्ययावसानत्वात् ।

सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा । तयो हि—‘जायापरयोर्न विभागो विद्यते’ इत्युक्त्वा किमिति न विद्यते इत्यपेक्षया हेतुमुक्तवान्—‘वायिमहणादि सहस्रव कर्मसु’, ‘तथा पुण्यफलेषु च’ ( भाष० ध० २।१४, १७ १८ ) इति । हि यस्मात्प्राग्नि-महणादारभ्य कर्मसु सहस्रव श्रूयते—‘जायापत्नी अभिनमाद्धीयाताम्’ इति, तस्मादाधाने सहाधिकारादावानभिद्वाग्निस्ताप्यकर्मसु सहाधिकार । तथा ‘कर्म स्मात्तं विवाहाभ्याम्’ ( भा० १७ ) इत्यादिरमरणाद्विवाहमिद्वाग्निस्ताप्येषु कर्मसु सहाधिकार एव । अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्वेषु जायापरयो पृथगेवाधिकार सपद्यते । तथा पुण्यार्थां फलेषु स्वर्गादिषु जायापरयो सहस्रव श्रूयते—‘दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्’ इत्यादि । येषु पुण्यकर्मसु सहाधिकार-स्तेषां फलेषु सहस्रवमिति वाद्भ्य, न पुन पूर्वार्थां भर्तृमुज्जयानुद्धिनार्थां फलेषु वि ॥ मनु द्रव्यस्वामिष्वेऽपि सहस्रवमुक्तम्, ‘द्रव्यपरिग्रहेषु च’ ‘महि भर्तृविप्रधाने नैमित्तिके दान स्तेषमुपदिशन्ति’ ( भाष० ध० २।१४।१८ २० ) इति । साधम् ; द्रव्यस्वामिष पत्न्या दक्षिणमन्त्रेण, न पुनर्विभागाभाष । यस्मात् ‘द्रव्यपरिग्रहेषु च’ इत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तम्—‘भर्तृविप्रधाने नैमित्तिकेऽपरयकर्तृषु दानऽतिविभोजनभिक्षामदानादी हि यस्मात् स्तेषमुपदिशन्ति सन्वाद्द्वयस्वामिष्वेऽर्थांवा अपि द्रव्यस्वामिष्वसित, भगवया स्तेष स्यात्’ इति । तस्माद्भर्तृविष्वेषां भाषाया अपि द्रव्यविभागो भवत्येष, न स्वैरप्यपर । यथा वक्ष्यति ई०ध० १।५ )—यदि कुर्वाणस्तस्मात्पत्न्या कार्या समाप्तिश्च’ इति ॥ ५२ ॥

भाषा—अविमल ( सपुत्र ) रहने वाले माह्वयो, यनि पत्नी, पिता और पुत्र का प्रातिभाष्य ( जातिन ) एउ जग और साधक का विधान ( मनु आदि न ) नहीं किया है ॥ ५२ ॥

अधुना प्रातिभाष्य निश्चयितुमाह—

दर्शने प्रत्यय दाने प्रातिभाष्यं विधीयते ।

भाषी तु पितृषु द्राप्याघिनरस्य शुना गपि ॥ ५३ ॥

प्रातिभाष्य नाम विधामार्थं पुढ्यन्तरग सह समय , तत्र विषयभेदादिप्रधा भिद्यते । यथा दर्शन ‘दर्शनापेक्षायां पुन दर्शयिष्यामी’ति । प्रत्यय विधये, ‘मम प्रायवेनास्य धन प्रवचद् नाय स्वां वज्रविष्वने धनोऽमुकरय पुत्रास्य उर्वरा प्रायभूरस्य प्राप्तयेतोऽस्मीति । दाने ‘वद्यय न दर्शानि तदानोमहमेव दासया मी’ति । ‘प्रातिभाष्यं विधीयते’ इति ‘प्रत्यय मय्यप्यते । ‘भाषी, पु, दर्शन, यद्यम

प्रतिभुवो वितथे अन्यधामावे अदर्शने विश्वासव्यभिचारे च दाप्यौ राज्ञा प्रस्तुत धनमुत्तमर्णस्य । इतरस्य दानप्रतिभुव सुता अपि दाप्या ॥ वितथ हायेव शाठयेन निर्धनस्येन घाऽवमर्णेऽप्रतिकुर्वन्ति 'इतरस्य सुता अपि' (१।१।१९) इति वदता पूर्वयो सुता न दाप्या इत्युच्यम् । 'सुता' इति वदता न पौत्रा दाप्या इति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

भाषा—दर्शन ( दिखा देना ), प्रत्यय ( विश्वास दिलाना ) और दान ( स्वयं देने की प्रतिज्ञा ) को प्रातिभाष्य ( प्रतिभू या जामिन होना ) कहते हैं । प्रथम दो प्रकार का प्रातिभाष्य करने वाले इन्हा पछे तो राजा उनमें से धनी व्यक्ति का धन दिखावे, तीसरे प्रकार का प्रातिभाष्य करने वाले के इन्हा पढ़ने पर उसके पुत्रों से भी वह धन बचल करे ॥ ५३ ॥

एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह—

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृत प्राययिकोऽपि वा ।

न तत्पुत्रा ऋणं द्युर्दुर्दानाय र्यं स्थित ॥ ५४ ॥

यदा तु दर्शनप्रतिभू प्राययिको वा प्रतिभूर्दिव गतस्तदा तयो पुत्रा प्रातिभाष्यायात् पैतृकमृण न दद्यु । यस्तु दानाय स्थित प्रतिभूर्दिव गतस्तस्य पुत्रा दद्यु, न पौत्रा । ते च मूलमेव द्युर्न वृद्धिम् । 'ऋण पैतामह पौत्र प्रातिभाष्यागत सुत । सम दद्यात्तसुती तु न दाप्याविति निश्चय ॥' इति व्यासवचनात् । प्रातिभाष्य-वतिरिक्त पैतामहमृण पौत्राः न यावद्गृहीत तावदेव दद्यात् वृद्धिम् । तथा सम्स्तोऽपि प्रातिभाष्यागत विश्वशृण सममेव दद्यात् । तयो पौत्रपुत्रयो सुतो प्रपौत्रे पौत्रावप्रातिभाष्यायात् प्रातिभाष्यायात् च ऋण यथाऋणमगृहीतधनी न दाप्याविति । यदपि स्मरणम्—'दावको वित्तहीन स्यात्कृणको वित्तवान्-वदि । मूल तस्य भवद् देव न वृद्धिं दातुमर्हति ॥' इति,— तदपि लानक प्रतिभू, दादज्ञोऽधमर्ण, लानको यदि वित्तवा मृतस्तदा तस्य पुत्रेण मूलमेव दातव्य न वृद्धिरिति व्याख्येयम् । यत्र दर्शनप्रतिभू प्रत्ययप्रतिभूर्वा बन्धक पर्याप्त गृहीत्वा प्रतिभूर्जातस्तत्र तत्पुत्रा अपि तस्मादेव बन्धकात् प्रातिभाष्यायात्तमृण दद्युवेव । यथाह कार्यायन—'गृहीत्वा बन्धक यत्र दर्शने ऽस्य स्थितो भवेत् । विना पित्रा घनात्तस्माद्दाप्य स्यात्तस्य सुत ॥' इति । 'दर्शन' ग्रहण प्रत्ययस्थोपलक्षणम् । विना पित्रा पितरि प्रेते दूरदेव गते वेति ॥ ५४ ॥

भाषा—यदि दर्शनप्रतिभू या प्रत्ययप्रतिभू की मृत्यु हो गयी हो तो उसके पुत्रों से ऋण न दिलावे कि तु दानप्रतिभू के मरने पर उसके पुत्र से ही धनी को धन दिलावे ॥ ५४ ॥

यस्मिन्ननेकप्रतिभूममवस्तत्र कथं दाप्यस्तत्राह—

यद्वय स्युर्यदि स्वाशैर्द्वेषु प्रतिभुवो धनम् ।

एकच्छायाभितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि ॥ ५५ ॥

यद्यकरिमप्रथमे द्वौ बहवो वा प्रतिभुव स्युस्तर्णं सविभवे स्वोत्तेन द्यु । एकच्छायाभितेषु प्रतिभूपु एकस्वाधमर्णस्य द्वाया सादृशतामाभिता एक द्वायाभिता । अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितस्तथा दानप्रतिभुवो ऽपि प्रथक कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थिता । एव दधाने प्रथये च । तेष्वेकच्छायाभितेषु प्रतिभूपु ससु धनिकस्योत्तमस्य यथारुचि यथाकामम् । अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षया स्वार्थं च प्राथयते स एव कृत्स्नं दाप्य नांशत । एकच्छायाभितेषु यदि कश्चिद् देशात्तर गतस्तत्पुत्रश्च सनिहितस्तदा धनिकेच्छया स सर्वं दाप्य । मृते तु कस्मिन्नित्यनुत्तरा स्वपिश्रममनुदिक दाप्य । यथाह कात्यायन — एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो वस्तत्र हरयते । प्रोपिते तानुत्तर सर्वं पिप्रशत तु मृते समम् ॥ इति ॥ ५५ ॥

भाषा—यदि अनेक प्रतिभू होंवे तो वे ऋण को भापस में बाँटकर अपना अपना अंश चुकावें और यदि अनेक प्रतिभू (जामिनो) में सभी ऋणी क समान होकर पूरा धन देने को उद्यत हों तो धनी अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक से ले लेवे ॥ ५५ ॥

प्रातिभाष्ये ऋणदानविधिमुक्त्वा प्रतिभूदक्षस्य प्रतिक्रियाविधिमाह—

प्रतिभूदापिता यस्तु प्रकाश धनिनो धनम् ।

द्विगुणं प्रतिदातव्यमृणिकैस्तस्य तद्गयेत् ॥ ५६ ॥

यद्द्रव्य प्रतिभूस्त पुत्रो वा धनिकेनोपपीडित प्रकाश सर्वप्रथमस्य राज्ञः धनिनो दापितो न पुनर्द्विगुण्यशोभेन स्वयमुपैष्य दत्तम् । यथाह नारद ( ११२१ ) य च धं प्रतिभूदद्याद्वनिकनोपपीडित । ऋणिकस्त प्रतिभुवे द्विगुणं प्रतिदापयत् ॥ इति । ऋणिकैरधमर्णस्तस्य प्रतिभुवस्तद् द्रव्य द्विगुण

१ दातव्यमिष्यत आह । २ दाने प्रतिभुव । ३ तथैकच्छाया । ४ वित्ताद्यपेक्षया । ५ य प्राथयते । ६ दद्या-नांशत । ७ तेष्वेकच्छाया । ८ मृते सति । ९ धनिनो । धनिने धनम् । १० तत्र दातव्य । ११ ऋणिकस्त । १२ प्रतिपादयेत् ।



प्रतिदातव्यं स्यात् । तच्च कालविशेषमनपेक्ष्य सद्य एव द्विगुणं दातव्यम् ,  
 यचनारम्भसामर्थ्यात् । एतच्च हिरण्यविषयम् । ननु 'इदं प्रतिभूरिति' वचनं  
 द्वैगुण्यमात्रं प्रतिपादयति, तच्च पूर्वोक्तकालकलाक्रमावाधेनाप्युपपद्यते । यथा  
 कातेष्टिविधानं शुचिरवावाधेन । अपि च सद्यः सवृद्धिकदानपक्षे पशुस्त्रीणां सद्यः  
 सत्सत्यभावात्-मूलदानमेव प्राप्नोतीति,—तदस्य, 'वयस्यान्यहिरण्यानां चतु  
 ष्टिद्विगुणां परा' ( व्य० ३५ ) इत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यादिसिद्धे द्वैगु  
 ण्यमात्रविधाने चेदं वचनमनर्थकं स्यात् । पशुस्त्रीणां तु कालक्रमपक्षेऽपि सत्सत्य-  
 भावे स्वरूपत्वानमेव । यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधम-  
 नो न सद्यते तदा सत्तिरपि<sup>१</sup> सम्भवेत्येव । यद्वा पूर्वमिदं सत्सत्यं सद्यः पशुस्त्रीयो  
 दास्य-तीति न किञ्चिदेतत् । अथ प्रातिभाष्ये<sup>२</sup> 'प्रीतिदत्तम्, अतश्च प्रतिभुवा  
 दत्तं प्रीतिदत्तमेव । नच प्रीतिदत्तस्य दास्यनाम्नामृद्धिरस्ति, यथाह ( नारद  
 ११०९ )—'प्रीतिदत्तं तु परिक्रमिहर्षते न स्वयाचितम् । दास्यमानमदत्तं  
 चेद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥' इति । अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानदिव  
 सादारभ्य पावद् द्विगुणं कालक्रमेण वृद्धिरित्यनेन वचनेनोर्यदत्तं इति, तदस्य-  
 सत्, —अस्यार्थस्थास्माद्धचनान्दप्रतीतं 'द्विगुणं प्रतिदातव्यम्' इत्येतावदिह प्रती  
 यते । तस्मात्कालक्रममनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं यचनारम्भसामर्थ्यादिति  
 सुस्पष्टम् ॥ ५६ ॥

भाषा—जिस प्रतिभू ( या उसके पुत्र ) से राजाने धनी का धन सयके  
 सामने दिखाया हो उसको श्रेण लेने वाले दूता देकर चुकावें ॥ ५६ ॥

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्तिः स्यादमाह—

संतति त्रीपशुभ्येव धान्यं त्रिगुणमेव च ।

घर्षं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा ॥ ५७ ॥

हिरण्यद्वैगुण्यवकाशानाद्रेणैव स्त्रीपशुभ्यः प्रतिपादितवृद्धया दास्यः ।  
 श्लोकरतु व्याख्यात एव । अस्य द्रव्यस्य यावत्तं वृद्धिः पराकाशेना तद्वृद्धय  
 प्रतिभूदत्तं स्यादन्न तथा वृद्धया सह कालविशेषमनपेक्ष्यैव सद्यो दातव्यमिति  
 तावपर्यं । यद्वा तु दर्शनमिति सप्रतिपत्तेः का<sup>३</sup> अधमर्णं दर्शयितुमसमर्थं  
 रतदा तद्दं वपणाय सत्यं पशुत्रयं दातव्यम् । तत्र यदि तं दत्तयति तदा मोर्षं<sup>४</sup>  
 श्योऽ यथा प्रस्तुतं भन दास्य, 'नष्टस्या-वपणार्थं तु दास्यं पशुत्रयं परम् ।  
 यद्यसौ दर्शयत्तत्र मोक्षव्यं प्रतिभूर्भवत् ॥ काल-व्यनात् प्रतिभूर्व्यदि त नैव

१ इदं वचनं । २ वयस्यदानं । ३ सत्तिरित्येव । ४ प्रतिभूदत्तं च ।

५ तद्व्यवपणाय । ६ मोक्षव्यो ज्ञानधया ।

दर्शयेत् । निव-ध द्वापयेत्तु सु प्रेते चैव विधि स्मृत ॥' इति कात्यायनवच-  
नात् । छान्दके विशेषनिषेधश्च तेनैवोक्त — 'न स्वामी न च वै शत्रु स्वामिना-  
ऽधिकृतस्तथा । निहृदो दण्डितश्चैव सदिग्धश्चैव न कश्चित् ॥ नैव रिक्थी न  
मिन्न च न चैवात्थ-तवासिन । राजकार्यनियुक्ताश्च ये च प्रवृत्तिता नरा ॥ न  
दाप्तो धनिने दातु दण्ड राज्ञे च तरसमम् । जीव-वापि पिता यस्य तथैवेच्छा-  
प्रवर्तक ॥ नैविज्ञाय ग्रहीतस्य प्रतिभू स्वक्रियां प्रति ॥' इति । सदिग्धो-  
ऽभिज्ञस्त । भयन्तवासिनो नैष्ठिकप्रवृत्तचारिण ॥ इति प्रतिभूविधि ॥

धनप्रयोगे द्वौ विश्वासहेतुः—प्रतिभूराधिष्णः । यथाह नारद (१११९)—  
'विश्वम्भहेतु इत्यत्र प्रतिभूराधिरेव च' इति । तत्र प्रतिभूर्निरूपित, इदानीमा-  
धिर्निरूप्यते । आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णोऽधि-  
क्रियते, आधीयत इत्याधि । स च द्विविध—कृतकालोऽकृतकालश्च । पुनश्चैकैकशो  
द्विविध—गोप्यो भोग्यश्च । यथाह नारद (१११९४ २५)—'अधिक्रियत इत्याधि-  
ष्ण विज्ञेयो द्विलक्षणः । कृतकालोऽपनेयश्च यावद्देवोद्यतस्तथा ॥ न्य पुनर्द्विविध प्रोक्तो  
गोप्यो भोग्यस्तथैव च ॥ इति । कृते काले आधानकाल यथासुविमर्शकाले दीपोस्त-  
थादी 'मयायमर्थमर्णिको मोक्षस्योऽयथा तवैवाधिभविष्यतीत्येव निश्चिते काले  
उपनेय आरमसमीप नेतव्य मोक्षनीय इत्यर्थ । देय दातव्य । देयमनतिक्रम्य  
यावद् देयम् । उद्यत निषत्, स्थापित इत्यर्थ । यावद् देयमुद्यतो यावद्दोद्यत,  
गृहीतधनप्रत्यपलावधिरनिरूपितकाल इत्यर्थ । गोप्यो रक्षणीय ॥ ५७ ॥

भाषा—यदि प्रतिभू से छी और पशु दिलाया गया हो तो सतति सहित  
छी और पशु दे । धन-य का तिगुना वर हो तो चौगुना और तेल पून आदि  
रस हो तो उसका आठगुना प्रतिभू को दान देवे ॥ ५७ ॥

एव चतुर्विधस्याधेर्विशेषमाह—

आधि प्रणश्येद् द्विगुणे धने यदि न मोक्षयते ।

काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥ ५८ ॥

प्रयुक्ते धने स्वकृतया वृद्धया कालक्रमेण द्विगुणीभूते यथाधिरधमर्णेन  
द्रव्यदानेन न मोक्षयते तदा नश्यति । अधमर्णस्य धन प्रयोक्तु स्व भवति ।  
कालकृत कृतकाल, आहिताग्नादियु पाठान् कालशब्दस्य पूर्वनिपात । स तु  
काले निरूपिते प्राप्ते नश्येत् द्वैगुण्यारप्रगूर्ध्वं वा । फलभोग्य फल भोग्य वरयाही  
फलभोग्य—चैत्रारामादि, स कदाचिदपि न नश्यति । कृतकालस्य गोप्यस्य

१ द्वापयेत्तु प्रेते चैव ।

२ प्रयुक्तस्तु ।

३ नाविज्ञातो ।

४ माधिर्मा । ५ निरूपिते ।

भोगस्य च तरकालातिममे नामा उच्यते—'काले कालकृतो नश्ये'दिति । अकृत-  
कालस्य भोगस्य नाशभाव उच्यते—'फलभोग्यो न नश्यती'ति । पारिषेप्यादाधि-  
प्रणश्येदित्येतदकृतकालगोप्याधिविषयमवतिष्ठते । द्वैगुण्यातिक्रमेण निरूपितकाला-  
तिक्रमेण च विनाशे चतुर्दशदिवसप्रतीक्षणा कर्तव्य, बृहस्पतिवचनात् ( ११।२७  
२८ ) 'हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे काले कृतावधे १, बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताह  
पतीक्षय च ॥ तद्-तरा धन दत्त्वा ऋणी बन्धकमाप्नुयात् ॥' इति ॥ मन्वाधि  
प्रणश्येदित्यनुपपन्नम् । अधमर्णस्य स्वानिभूतिहेतोर्दानविक्रयादेर्भावात् ।  
धनिनश्च स्वस्वहेतोः प्रतिग्रहकयादेर्भावात् मनुष्यचनविरोधाच्च । ( ८।१४३ )—  
'न चाधे कालसरोधाधिसर्गोऽस्ति न विक्रय' इति । कालेन सरोध कालसरो-  
धश्चिक्राकालमवस्थान तस्मात्कालसरोधाधिरकालावस्थानादाधेर्न निसर्गोऽस्ति,  
नाभ्यधीकरणमस्ति, न च विक्रय । एवमाधीकरणविक्रयप्रतिषेधाद्धनिम  
स्वत्वाभावोऽवगम्यत इति । उपपत्तेः—आधीकरणमेव लोक सोपाधिकस्वस्य  
निवृत्तिहेतुः । आधिरधीकारश्च सोपाधिकस्वत्वापत्तिहेतुः प्रतिद्व । तत्र धनद्वैगुण्ये  
निरूपितकालप्राप्तिः ॥ द्रव्यदानस्याव्यक्तनिवृत्तेरनेन चचवेमाधमर्णस्यात्यन्तिकी  
स्वानिभूति उच्यते—'न चाधे कालसरोधाधिसर्गोऽस्ति न विक्रय' इति ।  
यत मनु ( ८।१४३ )—'न चाधे कालसरोधाधिसर्गोऽस्ति न विक्रय' इति ।  
भोग्याधि प्रत्युत्पद्यते—'न चाधे कालसरोधाधिसर्गोऽस्ति न विक्रय' इति ।  
भोग्यस्याधेश्चिक्राकालावस्थानेऽप्याधीकरणविक्रयनिषेधेन धनिन स्वस्वमास्तीति ।  
इहाप्युक्त 'फलभोग्यो न नश्यती'ति । गोप्याधी तु पृथगारूप्य मनुना  
( ८।१४४ )—'न भक्त्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्' इति । इहापि  
उच्यते—'गोप्याधिभोगे नो वृद्धिरिति । आधि प्रणश्यद् द्विगुणे इति तु  
गोप्याधिं प्रत्युत्पद्यत इति सर्वमविच्छेद्यम् ॥ ५८ ॥

भाषा—यदि कालक्रम से ध्यान द्वारा बढ़कर ऋण के दूना हो जाने पर  
बन्धक रद्दी हुए द्रव्य को न छुड़ाव तो वह अपने समय से प्रणष्ट हो जाता  
है ( उस पर ऋणों का अधिकार नहीं रह जाता ) किन्तु जिस आधि  
( बन्धक ) का फल धनी व्यक्ति को मिलता हो ( जैसे मैन आदि ) उस पर  
से बन्धक रखने वाले का अधिकार समाप्त नहीं होता ॥ ५८ ॥

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे चो द्वापिते ।  
नष्टो देवो विनष्टश्च दैयराजकृताहते ॥ ५९ ॥

किंच, गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन वृद्धिर्भवति । अह्वयेऽप्युपभोगे महस्यपि वृद्धिर्हातव्या, समयातिष्ठमात् । तथा स्योपकारे उपकारकारिणि यत्नीवर्द्धताम्रकटाहादौ भोग्याधी सवृद्धिक हापिते हानिं व्यवहाराद्यमव्य समिते नो वृद्धि इति सबन्धः । नष्टो विकृतिं गत ताम्रकटाहादिरिद्धमेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा देयः । तत्र गोप्याधिर्नष्टश्रेत्पूर्ववत्कृत्वा देयः । उपभुक्तोऽपि चेद्वृद्धिरपि हातव्या । भोग्याधिर्यदि 'नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देयः । वृद्धिसद्भावे वृद्धिरपि हातव्या । विपद्ये आ यन्तिक नाश प्राप्तः, सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण । तद्वामे सवृद्धिक मूल्य लभते घनी । यदा न ददाति तदा मूलनाशः, 'विनष्टे मूलनाश इवाह्वयराजकृताहते' ( १।१२६ ) इति नारदवचनात् । ह्वयराजकृताहते—ह्वयसभ्युदकदेशोपपन्नादि । ह्वयकृताद्विनाशाद्विना, तथा ह्वयराजकृताहताम्राजकृताहते । ह्वयराजकृते तु विनाशे सवृद्धिक मूल्य दातव्यमधमर्गेनाऽऽप्यन्तरथा । यथाह—'स्रोतसापहते चेन्ने राज्ञा चैवापहारिते । आधिरभ्योऽप्यकर्तव्यो देयः वा धनिने धनम् ॥' इति । तत्र 'स्रोतसापहत' इति ह्वयकृतोपलक्षणम् ॥ ५९ ॥

भाषा—( वृद्धि पर रखी गई ) गोप्य आधि क उपभोग किये जाने पर वृद्धि ( धान ) न देवे, उपकारक आधि ( बैल आदि ) में हानि होने पर भी वृद्धि न दें । ह्वय और राजोपद्रव के विना ही बन्धक रखी हुई वस्तु नष्ट हो जाय या लो जाय तो बन्धक रखी हुई वस्तु के समान वस्तु देवे ॥ ५९ ॥

आधे स्वीकरणारिस्तस्वी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ।

यातश्चेद्दस्य आधेयो धनमाग्या घनी भयेत् ॥ ६० ॥

अपि च, आधेर्भोग्यस्य गोप्यस्य च स्वीकरणानुपभोगादाधिग्रहणसिद्धिर्भवति, न साक्षिलेख्यमात्रेण साध्युद्देशमात्रेण । यथाह नारद ( १।१३८ )—'आधिरस्तु द्विविधः प्रोक्तो लक्षणमथावरस्तथा । सिद्धिरस्योभयदयापि भोगो वदन्ति नाम्यथा ॥' इति । अस्य च फल—'आधी प्रतिग्रहे कृते पूर्वा तु बलवन्तरा' ( ६० २३ ) इति । या 'स्वीकारागता क्रिया सा पूर्वा बलवती, स्वीकाररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति । स आधि प्रयत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि कालवशेन पदासारतामत्रिकृत एव सवृद्धिकमूल्यद्रव्यापवास्तर्ता गतस्तदाधिरग्यकर्तव्यः, धनिने धन वा देयम् । 'रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम्' इति वदता आधि प्रयत्नेन रक्षणीयो धनिनेति ज्ञापितम् ॥ ६० ॥

१. नष्टमेतदा ।

२ वृद्धिर्हातव्या ।

३ गोप्यस्य भोग्यस्य च ।

४. स्वीकारागतक्रिया पूर्वा ।

भाषा—भोग्य भाधि स्वीकार करने पर उसका भोग करने पर ही उसकी सिद्धि होती है । प्रयत्नपूर्वक रखी जाने पर भी यदि भाधि असार ( दृद्धि युक्त और मूल्यद्रव्य मिलाकर अपर्णाष्ट ॥ जाय, या नष्ट ) हो जाय तो दूसरी भाधि रखनी चाहिए, अथवा धन दाता को उसका धन लौटा देना चाहिए ॥६०॥

‘भाधि प्रणश्येद् द्विगुणे’ ( -य० ५८ ) इत्यस्यापवादमाह—

चरित्रबन्धककृतं स वृद्ध्या दापयेद्धनम् ।

सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत् ॥ ६१ ॥

चरित्र शोभनाचरित चरित्रेण बन्धक चरित्रबन्धक तेन यद् द्रव्यमाप्तमाप्तकृत पराधीन वा कृतम् । एतदुक्तं भवति—धनिन स्वच्छाशयरेण बहुम् यमपि द्रव्यमाप्तीकृतवाधगर्णेनाद्यमेव द्रव्यमाप्तमाप्तकृतम्, यदि वाधमर्णस्य स्वच्छाशयवनाद्यप्यमूल्यमाधि गृहीताः बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीन कृतमिति । तद्धन स नृपो वृद्ध्या सह दापयेत् । अथमाशय —एव च बन्धक द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये न भवति, किंतु द्रव्यमेव द्विगुण दातव्यमिति । तथा सत्यकारकृत । कारण कार । भाष्ये घञ् । सत्यस्य कार सत्यकार —‘कारे सत्याशयस्य’ ( पा ३।३।७० ) इति मुञ् । सत्यकारेण कृत सत्यकारकृतम् । अयमभि सन्धि —यदा बन्धकार्पणसमय एवथ परिभाषित द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये मया द्विगुणं दापयेत् दातव्यं नाधिनाश इति, तदा तद् द्विगुण दापयेदिति । अन्योऽर्थः । चरित्रमेव बन्धक चरित्रं चक । ‘चरित्र’ शब्देन गङ्गात्नानाग्निहोत्रा विजित्तमपूर्वमुच्यते । यत्र तदेवाधीकृत्य यद् द्रव्यमाप्तमाप्तकृतं तत्र तदेव द्विगुणीभूत दातव्यम्, भाधिनाश इति । भाधिपक्षद्वाद्बहुच्यते—सत्यकारकृतमिति । ऋणिक्रयादिभ्यवस्थानिर्वाहाय यद्बहुलीयकादि परहस्ते कृत तद्व्यवस्थातिष्ठने द्विगुण दातव्यम् । तत्रापि येनाहुलीयकाद्यर्पित स एव चेद् व्यवस्थातिवर्ती तेन तदेव दातव्यम् । “इतरश्लेष्वादिभ्यवस्थातिवर्ती तदा तदेवाहुलीयकादि द्विगुण प्रतिदापयेदिति ॥ ६१ ॥

भाषा—चरित्र बन्धक ( स्वेच्छा से कम मूल्य की वस्तु बन्धक लेकर अधिक धन देना वा अधिक मूल्य की वस्तु बन्धक रखकर कम धन प्राण लेना ) होने पर वृद्धि के साथ धन दिलाये । सत्यकार ( धन के दूना होने पर बन्धक नष्ट न होकर दूना धन देने की शर्त ) किया गया हो तो दूना धन दिलाये ॥ ६१ ॥

१ प्रतिपादयेत् । २ एतन्निधि । ३ द्विगुणीभूतमेव द्रव्य । ४ कृतं तदा तत्र । ५ इतर चेत् ।

उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत् ।  
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याधिमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

किंच, धनदानेनाधिमोक्षणायोपस्थितस्याधिमोक्तव्यो धनिना, न वृद्धि-  
भेन स्थापयितव्यः, अन्यथा अमोक्षणे स्तेनश्चौरवदृष्टैवः भवेत् । असंनिहिते  
पुनः प्रयोक्तारि कुले तदासहरते सवृद्धिक धनं विधायाधमर्णकः रवीयं बन्धकं  
गृहीयात् ॥ ६२ ॥

भाषा— ऋणी के बन्धक लुप्ताने आने पर उसकी वस्तु दे देनी चाहिए ।  
( क्याज के लोभ से टालना नहीं चाहिए ) अन्यथा चोर के समान दण्ड का  
भागी होता है । जिसके पास बन्धक रखा हो उसके अनुपस्थित होने पर  
क्याज सहित धन उसके कुल के किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप कर बन्धक प्राप्त  
कर ले ॥ ६२ ॥

अथ प्रयोक्ताऽप्यसंनिहितरतदासाश्च धनस्य ग्रहीतारो न समित, यदि वा  
असंनिहिते प्रयोक्तृणाधिविक्रयेण धनद्विरसाऽधमर्णस्य तत्र किं कर्तव्यमित्यपेक्षित  
आह—

तरकालकृतमूढयो वा तत्र तिष्ठेववृद्धिकः ।

तरिमन्काले यत्तस्याधेर्मुह्यं तत्परिकल्प्य तत्रैव धनिनि तमाधिं वृद्धि-  
रहितं स्थापयेत् तत् ऊर्ध्वं विवर्धते । यावद्धनी धनं गृहीत्वा तमाधिं मुञ्चति,  
यावद्वा तन्मूढयद्गम्यमृणे<sup>१</sup> प्रवेशयति ॥

यदा तु द्विगुणीभूतेऽपि धने द्विगुणं धनमेव ग्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति  
विचारितमृणग्रहणकाल एव तदा द्विगुणीभूते ऋष्ये असंनिहिते चाऽधमर्णं  
धनिना किं कर्तव्यमित्यत आह—

विना धारणेकाद्यापि विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥ ६३ ॥

धारणकादधमर्णाद्विना अधमर्णोऽसंनिहिते माधिमिस्तदासौश्च सह तमाधिं  
विक्रीय तद्धनं गृहीयाद्धनी । 'वा' शब्दो स्पष्टरिपतविक्रयार्थः । यदणंग्रहणकाले  
द्विगुणीभूतेऽपि धने धनमेव ग्रहीतव्य, न स्वाधिनाश इति न विचारित,  
तदा 'आधिः प्रणरवेद् द्विगुणे' (६५० ५८) इत्याधिनाशः । विचारिते त्रयं पक्ष  
इति ॥ ६३ ॥

१. दण्डयो भवति । २. कल्पने तत्रैव । ३. ऊर्ध्वं धनं वर्धते ।  
४. मृणिने । ५. धारणिकात् ।

भाषा—भयना उस बन्धक का उस समय जितना मूल्य लगता हो वह रुक कर बिना भोज के ही बन्धक को वहीं रहने दे ( उसक बाद उसकी वृद्धि नहीं होती ) । यदि ऋण घन दूना हो जाय तो बिना ऋणी के भी साचियों के समक्ष उस बन्धक की वस्तु को धनी बेच सकता है ॥ ६३ ॥

भोरपायी विशेषमाह—

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु ।

मोक्ष्य आधिस्तदुरपन्ने प्रविष्टे द्विगुणे घने ॥ ६४ ॥

यदा प्रयुक्त धन स्वकृतया वृद्धया द्विगुणीभूत तदाधौ कृते तदुरपन्ने भाष्युपन्ने द्रव्ये द्विगुणे धनिन प्रविष्टे घनिनाऽऽधिर्मोक्तव्य । यदि बादाये बाधौ दत्ते 'द्विगुणीभूते द्रव्ये त्रयाधिर्मोक्तव्य' इति, परिभाषया कारणान्तरेण या भोगाभावेन यदा द्विगुणीभूतमृण तदा, आधौ भोगार्थं धनिनि प्रविष्टे तदुरप-ने द्रव्ये द्विगुणे त्रयाधिर्मोक्तव्य । अधिकोपभोगे तदपि देयम् । सर्वथा सवृद्धिकमूलणापाकरणार्थाद्युपभोगविवयमिदं बधनम् । तमेन त्रयाधिमाचक्षते लौकिका । यत्र तु वृद्धयर्थं एवाभ्युपभोग इति परिभाषा, तत्र द्वैगुण्यातिक्रमेऽपि यावन्मूलदान तावदुपभुङ्क्ते एवाधिम् । एतदेव स्पष्टीकृतं वृद्धरपतिना (११।३३ ४)—'ऋणी बन्धमवाप्नुयात् । फलभोरय पूर्णकाल दत्त्वा द्रव्यं तु सामकम् ॥ यदि प्रकर्षितं तदस्यात्तदा न धनभाषधनी । ऋणी च न लभेत्द्रव्यं परस्परमत विना ॥' इति । अत्रार्थ — फल भोरय यस्वासी फलभोरय यै-धक आधि । स च द्विविध—सवृद्धिकमूलापाकरणार्थं वृद्धिमात्रापाकरणार्थम् । तत्र च सवृद्धिकमूलापाकरणार्थं बन्ध पूर्णकाल पूर्ण कालो यस्वासी पूर्णकालस्तमाप्नुयादणी । यदा सवृद्धिक मूल फलद्वारेण धनिन प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थं । वृद्धिमात्रापाकरणार्थं तु बन्धक सामकं दत्त्वाप्नुयादणी । सम मूल, सममेव सामकम् ॥ भस्वापवादमाह—यदि प्रकर्षितं तदस्यात् । तत् बन्धक प्रवर्जितमतिशयितं वृद्धेरन्वधिकफलं यदि दत्त्वात् 'तदा न धनभाषधनी' सामकं न लभेत् धनी । मूलमदात्तैव ऋणी बन्धमवाप्नुयादिति यावत् । अथ स्वप्रकर्षितं सवृद्धिक वृद्धयेऽप्यपार्शत, तदा सामकं दत्त्वापि बन्ध न लभेत्ताधमर्ण । वृद्धिशेषमपि दत्तैव लभेत्तेत्यर्थं । पुनरुक्तमपवादमाह—'परस्परमत विना' उक्तमर्णाधमर्णयो परस्परानुमत्यभावे 'यदि प्रकर्षितम्' इत्याद्युक्तम्, परस्परानुमतौ तत्कृतमपि बन्धकं यावन्मूलदान तावदुपभुङ्क्ते धनी, निष्कृतमपि मूलमाप्रदाने नैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

१ मूलदापाकरणार्थं, मूलणापाकरण । २ मूल्यदान । ३ बन्ध  
आधि । ४ मूल्यमदात्तैव । ५ वृद्धिशेषमदात्तैव ।

भाषा—( भोग्य आधि होने पर ) ऋण दूना होने पर ऋणी व्यक्ति जय दूना धन प्राप्त कर ले तो बन्धक की वस्तु छोड़ देवे ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानप्रकरणम् ।

### अथ 'उपनिधिप्रकरणम्' ४

उपनिधि प्रत्याह—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यद्वर्ष्यते ।

द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

निक्षेपद्रव्यरथाधारभूत द्रव्यान्तर वासन करण्णादि, तत्स्थ वासनस्थ पदद्रव्य रूपसत्त्वविशेषमनाख्याय अकथयित्वा मुद्रितमन्यरथ हस्ते रक्षार्थं विस्रग्भाद्वर्ष्यते स्थाप्यते तद्द्रव्यमौपनधिकमुच्यते । यथाह नारद—'अस एवात्मविज्ञात समुद्र वज्रिधोयते । सजानीयाहुपनिधि निक्षेप गणित विदु ॥' इति । प्रतिदेय तथैव तत् । प्रस्मिन्स्थापित तेन यथैव पूर्वमुद्रादिचिह्नितमर्पित तथैव स्थापकाय प्रतिदेय प्रार्थपणीयम् ॥ ६५ ॥

भाषा—जब किसी पात्र में रखकर रूप या सवया आदि बतावे त्रिना कोई वस्तु दूसरे को ( निक्षेप के रूप में ) दी जानी है तब वह द्रव्य उपनिधि कहलाता है, उसे उर्वों के रवों लीटाना होता है ॥ ६५ ॥

प्रतिदेयम्' ( ४० ६५ ) इत्यस्यापवादमाह—

न दाप्योऽपहृतं तं तु राजदैयिकतस्करैः ।

समुपनिधि राज्ञो दैवेनोदकादिना तस्करैर्वाऽपहृत नष्ट न दाप्योऽसी परिमन्नुपनिहितम् । धनिन एव तद्द्रव्य नष्ट यदि विहकारित न भवति । यथाह नारद ( ११९ )—'ग्रहीतु सह योऽर्थेन नष्टो नष्ट स दापिन । देवराजकृते तद्द्रव्य चेत्तज्जिह्वकारितम् ॥' इति ॥—

अस्यापवादमाह—

श्रेयश्चेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥ ६६ ॥

स्वामिना मार्गिते याचिते यदि न ददानि तदा तदुत्तरकाल यद्यपि राजा दिभिर्भ्रैषो नाश सजातस्तथापि तद्द्रव्य मूल्यकक्षणया धनिने ग्रहीता दाप्यो राज्ञे च तत्सम दण्डम् ॥ ६६ ॥

१ निक्षेप ।

२ तत्तु ।

३ तद्द्रव्येत्तज्जिह्व तद्द्रव्येत्तज्जिह्व ।

४ भ्रशश्चेन्मा ।



भाषा—किन्तु उसके राजा, दैरिक उत्पात द्वारा नष्ट या चोरी द्वारा चुरा लिये जाने पर वह ( उपनिधि द्रव्य ) प्रतिदेय नहीं होता। और यदि उपनिधि रखने वाले के मारने पर भी वह वस्तु नहीं लौटाई जाती एव उसके बाद राजा आदि द्वारा नष्ट हो जाती है तो उसे देना होता है और साथ ही उसके बराबर दण्ड भी सुनाना होता है ॥ ६६ ॥

भोक्तार प्रति दण्डमाह—

आजीवन्स्येच्छया दण्डस्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ।

य एवैच्छया स्वाग्र्यननुज्ञयोपनिहित द्रव्यमाजीवन्नुपभुङ्क्ते व्यवहरति वा प्रयोगादिना लाभार्थमप्युपभोगानुसारेण लाभानुसारेण च दण्डेय, त सोपनिधि सोदयमुपभोगे सवृद्धिक व्यवहारे सलाभ धनिने दाप्य । वृद्धिप्रमाण च कायापनेनोक्तम्—'निक्षेप वृद्धिसेप च ऋष विक्रमेव च । यावर्षमानो न चेद्द्राघ्नार्थंते पञ्चरु वातम् ॥' इति । एतच्च भचिते द्रष्टव्यम् । उपेक्षाज्ञाननष्टे तु तनैव विशेषे दक्षित—'भचित सोदय दाप्य सम दाप्य उपेक्षितम् । किञ्चिन्म्यून प्रदाप्य स्याद् द्रव्यमज्ञाननाशितम् ॥' इति । 'किञ्चिन्म्यूनम्' इति चतुर्भासाहानम् ॥

उपनिधेर्धर्माद्याचितादिव्यतिदिशति—

याचितान्यादितन्यासनिक्षेपादिव्ययं विधि ॥ ६७ ॥

विधाहायुसवपु वज्जालकारादि याचिश्वाऽऽनीत याचितम् । यदेकरय हस्ते निहित द्रव्य तेनाप्यनु पञ्चाद-यहस्ते स्वामिने देहाति निहित तदन्वाहितम् । न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽनुर्त्तविश्वे तापरोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रवेशे गृहस्वामिने समर्पणीयमिति । समस्त तु समर्पण निक्षेप । 'आदि'शब्देन सुवर्णकारादिहस्ते कटकादिनिर्माणाय परस्तरस्य सुवर्णादे, प्रतिन्यासस्य च परस्परप्रयोजनोपेक्षया 'एवमेद मदीय रक्षणीय, मयद् एवदीय रक्षयते' इति स्वस्तरस्य प्रहणम् । यदाह नाराद् (२:१४)—एव एव विधिर्दोषो याचिता वाहितादिषु । शिशिरपूपनिधी न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च ॥' इति । एतेषु याचितान्यादितादिव्यय विधि उपनिधेर्धं प्रतिदानादिविधि स एव वदितव्य ॥ ६७ ॥

भाषा—जो अपनी इच्छा से उपनिधि द्रव्य वा भोग करता है उसे उसका लाभ के साथ उपनिधि दिलाव और साथ ही दण्ड भी दे । यही नियम याचित ( भगना ) अन्वाहित ( मांगने वाले से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा स्वामी के पास भिगवाई गई ), न्यास ( परोक्ष में घर के किसी अ-व्यक्ति के

हाथ में लीयी गई ) और निशेष ( सम्मुख दी हुई ) वस्तुओं के विषय में भी लागू होते हैं ॥ ६७ ॥

इति उपनिधिप्रकरणम् ।

### अथ साक्षिप्रकरणम् ५

प्रमाण लिखित भुक्ति साक्षिणश्चति कीर्तितम् ( व्य० २२ ) इत्युक्तं, तत्र भुक्तिनिरूपिता, साक्षिण साक्षिस्वरूप निरूप्यते । साक्षी च साक्षादर्शनात्पूरवणाद्य भवति । यथाह मनु ( ८।७४ )—‘समक्षदर्शनात्साक्षय धवणाश्चैव सिद्धयति’ इति । स च द्विविध - कृतोऽकृतश्चेति । साक्षिदेव निरूपित कृत । अनिरूपितोऽकृत । तत्र कृत पञ्चविधोऽकृतश्च पञ्चविध इत्येकादशविध । यथाह नारद ( १।१७८ )—एकादशविध साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभि । कृत पञ्चविधो ज्ञेय पञ्चविधोऽकृत उच्यते ॥’ इति । तेषां च भेदस्तेनैव दर्शित — ‘लिखित स्मारितश्चैव यद्व्यङ्ग्याभिज्ञं य च । गूढोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविध स्मृत ॥’ ( नारद १।१४० ) इति । लिखितादीनां च स्वरूप कतयापनेनोक्त— ‘अर्थिना स्वयमाभीतो यो लेख्ये सनिवेद्यते । त साक्षी लिखितो नाम स्मारित पत्रकाहने ॥’ इति । स्मारित पत्रकाहने’ इत्यस्य विवरण तेनैव कृतम्— यस्तु कार्यप्रसिद्धयर्थं द्रष्टुः कार्यं पुनः पुनः । स्मार्यते ह्यर्थिना साक्षी त स्मारित इहोच्यते ॥’ इति । यस्तु यद्व्यङ्ग्यागत साक्षी श्रियते त यद्व्यङ्ग्याभिज्ञ । अनयो पत्रानामुहावेऽपि भेदस्तेनैव दर्शित — प्रयोजनार्थमाभीत प्रसङ्गादागतश्च य । द्वी साक्षिणौ ( लिखितौ ) पूर्वपक्षस्य साधको ॥ इति, तथा—‘अर्थिना स्वार्थमि द्यर्थं प्रापयिष्यन्न स्फुटम् । यः आश्रयते स्थितो गूढो गूढसाक्षी न उच्यते ॥’ इति, तथा—‘साक्षिणामपि च साक्षयमुपर्युपरि भाषते । धवणात्पूरवणाद्वापि ॥ साक्ष्युत्तरसञ्ज्ञित ॥’ इति । पञ्चविधस्याप्यकृतस्य भेदो नारदेन दर्शित ( १।१५१ )— ‘प्रामञ्च प्राद्विवाशब्द राजा च व्यवहारिणाम् । कार्यैश्चधिकृतो य स्वार्थिना प्रहितश्च य ॥ कुशला कुलवित्रादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिण ॥’ इति । ‘प्राद्विष याक’ग्रहण ऐराकसम्बोधलक्षणाद्यं लेखका प्राद्विवाशब्द संख्याक्षेयानुपूर्वश । नृपे पश्यति तत्रकार्यं साक्षिण समुदाहृतम् ॥’ इति ।

तेऽपि साक्षिण कीदृशा, क्रियन्तश्च भवन्तीत्यत आह—

तपस्विनो दानशीला कुलीनाः सत्ययादिन ।

धर्मप्रधाना क्रजय पुत्रघन्तो घनान्विता ॥ ६८ ॥

ऽयवरा साक्षिणो ज्ञेया श्रौतस्मार्तकियापरा ।  
यथाजाति यथावर्ण सर्वे सर्वेषु वा स्मृता ॥ ६९ ॥

तदरिचनस्तप शीला, दानशीला दाननिरता, कुत्रीना महाकुलप्रसूता, सत्ययादिन सत्यैवदनशीला, धर्मप्रधाना न स्वार्थकामप्रधाना, श्रृजवोऽ-  
कुटिला, पुत्रव तो विद्यमानपुत्रा, धनान्विता बहुसुवर्णादिधनयुक्ता, श्रौतस्मा  
र्तकियापरा नियनैमित्तिकानुष्ठानरता, एवमूता पुरुषास्तयवरा साक्षिणो  
भवन्ति । अय अवरा न्यूना येषा ते ऽयवरा त्रिभ्योऽर्वाक् न भवन्ति । परतस्तु  
यथाकाम भवन्तीत्यर्थ । जातिमनसिक्रम्य यथाजाति । जातयो मूर्धावसिकाद्या  
सनुलोमजा प्रतिलोमजाश्च । तत्र मूर्धावसिकाना मूर्धावसिका साक्षिणो भवन्ति ।  
एवमस्त्यद्विष्यपि द्रष्टव्यम् । वर्णमनसिक्रम्य यथावर्णम् । वर्णा ब्राह्मणादय ।  
तत्र ब्राह्मणानां ब्राह्मणा एवोक्तलक्षणा उक्तसद्वयाका साक्षिणो भवति । एव  
क्षत्रियाद्विष्यपि द्रष्टव्यम् । तथा स्त्रीणां साक्ष्यं त्रिय एव कुर्यु । यथाह मनु  
( ८।१८ )—‘स्त्रीणा साक्ष्यं त्रियं कुर्यु’ इति । सजातिसवर्णसमवे सर्वे  
मूर्धावसिकादयो ब्राह्मणादयश्च सर्वेषु मूर्धावसिकादिषु ब्राह्मणादियु च यथा-  
समव साक्षिणो भवति । उक्तलक्षणाना साक्षिणामसमवे प्रतिषेधरहिताना-  
नाम-वेपामपि साक्षिणप्रतिपादनादर्धमसाक्षिणो वक्तव्या । ते च पञ्च-  
विधा नारदेन दक्षिता—‘असाक्ष्यपि हि क्षास्त्रेषु दृष्ट पञ्चविधो दुर्धे ।  
यचनाक्षोपतो भेदास्त्वैवमुक्तिर्मुता तर ॥’ इति । कं पुनर्वचनाद् असा-  
क्षिण इत्यत आह—‘ओत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रमजितादय । असाक्षि-  
णस्ते वचनाच्छात्र हेतुवदाहृत ॥’ ( १।१५८ ) इति । तापसा यानप्रस्था ।  
‘आदि श द्वेन पित्रा त्रिवदमानादीना ग्रहणम् । यथाह शङ्ख—‘पित्रा विषद-  
मानगुरुकलशासिपरिमाणकवानप्रस्थनिर्मा या असाक्षिण’ इति । दोषादसाक्षिणो  
दक्षिता—‘स्तेना साहसिकारथण्डा कितवा वैच्यकारतथा । असाक्षिणस्ते  
दुष्टयात्तेषु सत्य न विद्यते ॥’ ( नारद १।१५९ ) । यण्डा कोपना, कितवा  
घृतकृत । भेदादसाक्षिणां च स्वरूपं तेवैव दक्षितम्—साक्षिणा लिखितानां  
च निर्दिष्टाना ऋ<sup>१</sup>यादिनाम् । तेषामकोऽ-वथावादी भेदारसर्वे र्वै साक्षिण ॥’  
इति । तथा स्वयमुक्तिस्वरूपं चोक्तम्—‘स्वयमुक्तिर्निदिष्ट स्वयमेवैथ यो  
वदेत् । सूचीयुक्ता ऋ<sup>२</sup>यास्त्रपु न स सापिस्वमर्हति ॥ ( १।१६१ ) इति ।

१ सत्यवादन । २ दानपरा । ३ स्वयमुक्तिर्मुतान्तरम् ; स्वयमुक्ते ।  
४ यानप्रस्था निर्मायाश्वासा, निर्मा वा निगदस्था । ५ यथाकारतथा ।  
६ याविना । ७ असाक्षिण । ८ मुक्तिर्निदिष्ट ।

मृत्नान्तरस्यापि लक्षणमुक्तम्—'योऽर्थं धारयितव्यं स्यान्नस्मिन्नस्ति चाधिनि ।  
 क तद्वदनु साक्षिश्चमित्यसाक्षी मृत्नान्तर ॥' ( १११६२ ) इति । येनार्थिना  
 प्रत्यर्थिना वा साक्षिणो योऽर्थं धारयितव्यो भवेत् 'यूयमग्रार्थे साक्षिण' इति  
 तस्मिन्नधिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृत्नेऽर्थे चाभिवेदिते, 'साक्षी क करिमग्रार्थे  
 वश्य वा कृते म्याद्यं यद्द्रियति मृत्नान्तर साक्षी न भवति । यत्र तु मुमुर्षुणा  
 स्वस्थेन वा पित्रा पुत्रादय आविता 'अस्मिन्नर्थेऽस्मी साक्षिण' इति तत्र मृत्ना-  
 न्तरोऽपि साक्षी । यथाह नारद ( ११९६ )— मृत्नान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमुर्षु  
 धारितास्ते । तथा—'धारितोऽनामुरेणापि वसव्यां धर्मसहित । मृतेऽपि तत्र  
 साक्षी' स्वापदसु चा-वाहितादिषु ॥ इति ॥ ६८-६९ ॥

भाषा—तपस्वी, दानी कुलीन, सत्यवादी, ( अर्थ और काम को छोड़  
 कर ) धर्म में प्रमुख रूप से रत, सरल, पुत्रवान्, धनवान् और श्रुत एवं  
 स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले तीन से अधिक साक्षी जानने चाहिये जो  
 ब्राह्मणादि वर्ण एवं मूर्धावनिक्त आदि जातियों के अनुसार सबका सबके लिये  
 साक्षी बनना विहित है ॥ ६८-६९ ॥

मानेतामसाक्षिणो दर्शयति—

श्रीबालवृद्धवितथमत्तोमत्ताभिःस्तथा ।  
 रक्षायन्तारिषांक्षण्डिकूटवृद्धिक्लेन्द्रिया ॥ ७० ॥  
 पतितासार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्करा ।  
 साहसी दृष्टदापथ्यनिर्भूताध्यास्यसाक्षिण ॥ ७१ ॥

श्री प्रसिद्धा, बालोऽप्राप्तव्यवहार, वृद्धोऽशीतिकार, 'वृद्ध'ग्रहण वचन-  
 निषिद्धानामन्येषामपि श्रोत्रियादीनामुपलक्षणार्थम् ; कित्तवोऽक्षरेवी, मत्त  
 पानादिना, उन्मत्तो र्गृहाविष्ट, अभिघ्नस्तोऽभियुक्तो ब्रह्मदृश्यादिना, रक्षाव-  
 त्तारी चारण । पक्षण्डिणो निर्भ्रंयप्रभृत्नय । कूटकूट कपटलेपवाधिकारी ।  
 विकलेन्द्रिय धात्रादिरहित, पतितो ब्रह्महादि, भास्य छुद्रन्, अर्थ  
 संबन्धी विप्रतिपक्षमानार्थसंबन्धी, सदाय एककार्यं, रिपु शत्रु, तस्कर  
 स्तेन, साहसी बलायष्टमकारि । दृष्टदोषो दृष्टविरुद्धवचन, निर्भूतो  
 बन्धुभिरव्यक्त, 'भास्य शत्रुदाद-येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां दोषात्साक्षिणो भेदाद्  
 साक्षिणो स्वपमुत्तेर्मुत्नान्तरस्य च ग्रहणम् । एते श्रीबालादय साक्षिणो न  
 भवन्ति ॥ ७०-७१ ॥

१. साक्षिणः करिमग्रार्थे । २. साक्षात्प्राप्तम् । ३. यथापालनकूट ।
४. पापादि । ५. निर्भ्रंयभेत्यसा । ६. भूताविष्ट । ७. स्वबला ।
८. दृष्टवितथवचन ।

स्त्री, बालक ( ८० वर्ष से ऊपर का ), वृद्ध, जुआरी, मत्त ( मदिरा पीने वाला ), उन्मत्त ( पागल ), महापातकी, रगायतारी, पागलही, इत्यादि सेव्य छिड़ाने वाला, विकल्पेन्द्रिय ( चहरा या गुंथा ), प्रह्व हत्यादि महापाप करने वाला पतित, मित्र, धन देने वाला, सहायक, शत्रु, चोर, माहसी ( बलपूर्वक क्रिमी घसु वा भयहरण करने वाला ), प्रायश्च दोष से मुक्त, और यजुओं द्वारा परिशुद्ध व्यक्ति साक्षी नहीं होते हैं ॥ ७०-७१ ॥

'इषवरा साक्षिणो ज्ञेया' ( व्य० ६९ ) इत्यस्यापवादमाह—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ।

ज्ञानपूर्वक निश्चयनैमित्तिककर्मानुष्ठापी धर्मवित् स एकोऽप्युभयानुमत-  
क्षेत्रसाक्षी भवति । 'अपि'दोषद्वलाद् द्वावपि । यद्यपि 'श्रौतस्मार्तक्रियापरा.'  
( व्य० ६९ ) इति इषवरानामपि धर्मनिश्चय समान, तथापि तेवामुभयानुमतव्या-  
येऽपि साक्षित्य भवति । एकस्य द्वयोर्दोषानुमतवैव साक्षित्य भवतीत्यर्थवत्  
'इषवर'ग्रहणम् ॥—

'तपस्विनो दानशीला, ( व्य० ६८ ) इत्यस्यापवादमाह—

सर्धः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्याहसे ॥ ७२ ॥

संग्रहणादीनि व्यवमाणलक्षणानि तेषु सर्वे वचननिषिद्धास्तत्र प्रभृतिगुण-  
रहितैश्च साक्षिणो भवन्ति । दोषादसाक्षिणो भेदात्साक्षिणः स्वयमुक्तिश्चात्रापि  
साक्षिणो न भवन्ति, सर्वथाभावादिति हेतोरत्रापि विद्यमानत्वात् ।—'मनुष्यमा-  
रण चौर्यं परदारमिमर्शनम् । पारुष्यमुभय चेति साहस रयाश्चतुर्विधम् ॥'  
( नारद १४१ ) इति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि  
तेषां स्वदलावष्टम्भेन जनसमक्ष क्रियमाणानां साहसत्वं । रहसि क्रियमाणानां  
॥ 'संग्रहणादि'शब्दव्यवहारमिति तेषां साहसाप्युपपादानम् ॥ ७२ ॥

भाषा—दोनों पक्ष स्वीकार करें तो धर्म को जानने वाला एक ही व्यक्ति  
साक्षी हो सकता है । चोरी और कटोर चवन के निर्जन स्थान पर करने  
भर्त्सना संग्रहण में और इनके खुल्लमखुल्ला करने पर भर्त्सना साहस में सभी  
साक्षी हो सकते हैं ॥ ७२ ॥

साक्षिघ्रातणमाह—

साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ।

अधिप्रश्रयिसनिधी साक्षिय समवेतान् 'नासमवेता र्षेण प्रज्यु' ( १३।५ )  
इति गौतमवचनात्, चक्ष्यमाण श्रावयेत् । तत्रापि कात्यायनेन विदोषो

१ अपिश्रुत्वाद् द्वावपि । २ अर्थं च इषवर । ३. सत्यवादिस्वहेतो ।

४ पृथगपृष्ठा ।

दर्शित — 'समान्त साधिण' सर्वानर्थिप्रार्थयिष्यमिषी । प्राद्विवाको नियुञ्जीत त्रिधिनाऽनेन सान्त्वयन् । देवमाह्वयमानिभ्ये साप्य पृच्छेदत द्विजान् । उदहमुत्तान्नाद्मुत्त्वान्वा पूर्वद्वे वै शुचि शुचीन् ॥' ( मनु ८।७९, ८० ) 'आहूय साधिण पृच्छेत्त्रियस्य सापथैर्भृङ्गम् । समस्तान्विदिताचारान्विज्ञानार्थान्पृथक्पृथक् ॥' ( नारद १।१९८ ) इति । तथा माह्वगादिषु धारणे मनुना निषमो दर्शित ( ८।११३ )— सत्ये सापथेद्विप्र सत्रिय वाहनायुषे । गोघीजक्राघ्नैर्वैश्ये शूद्र सर्वेस्तु धानकै ॥' इति । माह्वगम्यथा प्रवृत्त सत्ये ते नश्यतीति सापथेत् । सत्रिय वाहनायुषामि तत्र विकल्पानीति, गोघीजक्राघ्नमादीनि तत्र विकल्पानि भविष्यन्तीति वैश्यम् , शूद्रमम्यथा मुदतस्तत्र सर्वाणि पातकानि भविष्यन्तीति सापथेत् । अत्र सापवादस्तेनैव दर्शित ( ८।१०९ )— 'गोरक्षका-वाणिज्जिह्वीस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान्वार्युषिकोश्चैव विभाग्यशूद्र यदाचरेत् ॥' इति । विप्र' ग्रहण सत्रियवैश्ययोरेवलक्षणाथम् । कुशीलथा गायका । मनिरादिना साहित्ययो दत्ते प्रवचयोग्यदूषणेपु वात्प्राद्विपु तथैव निर्णय । अथोपेपु तु लक्षणास्तोक्तञ्च निर्णयो न सापथपत्रेणेति नानवस्था । यदि साधिवोपमुद्गाः साधयितु न शक्नोति प्रतिवादी, तदाऽसौ दापांनुसारेण दण्ड्य । अथ साधयति, तदा न साधिण । यथाह— 'असाधयन्म दाप्यो दूषण साधिणां षुटम् । भाविने साधिणा वर्या साधिधर्मनिराहृता ॥' इति । उद्दिष्टेषु च सर्वेषु साधिषु दुष्टैर्धर्मा यथा क्रियान्तरनिरवेष्टतदा पराजितो भवति, जित स विनय दाप्यः साध्यरूपेण कर्मणा । यदि वादी निराकाह साधिसत्ये व्यवहित ॥' इति स्मरणाय । साकाङ्क्षश्रेयिका-तरनवल्लयेनेव भिप्राय ॥—

कथं साधयेन्निरवत आह—

ये पातककृतां लोका महापातकिनां तथा ॥ ७३ ॥  
 अग्निदाना च ये लोका ये च स्त्रीपालघातिनाम् ।  
 स तान्सर्वानघाप्नोति यः साध्यमनृतं यदेत् ॥ ७४ ॥  
 सुदृढं यत्प्रया किञ्चिज्जन्मान्तरजाते कृतम् ।  
 तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ॥ ७५ ॥

'पातकोपपातकमहापातककारिणामग्निदानां स्त्रीपालघातिनां च य एका स्तान्सर्वानघाप्नोति य साधयमनृतं वदति । तथा जन्मान्तरजातेषु सुदृढं कृतं, तत्सर्वं तस्य भवति, यैस्तेऽनृपवदनेन पराजितो भवति' इति, इति

१ मुवन्त । २ भाशानुसारेण । ३ असाधयन् असाधयन् ।  
 ४ ये च पातकिनां लोका । ५ तान्सर्वान्-समया । ६ यथा ।  
 ७ यस्तेऽनृपवदनेन । यस्तनोऽनृपवदनेन ।

धाघधेत्' इति संबन्धः । एतच्च शूद्रत्रिपयं द्रष्टव्यम् ; 'शूद्रं सर्वैस्तु पातयैः'  
 ( मनुः ८।१२३ ) इति शूद्रे सर्वपातक'धावगस्य विहितत्वात् । गोरपकादि-  
 द्विजातिविषयं च; 'गोरपकान्वागिमिहान्' ( मनुः ८।१२-२ ) इत्युक्तत्वात् ।  
 अत्रैवानेकजन्माजितसुकृतसंकमणस्य महापातकादिफलमाप्तेः अनृतवचनमात्रेणानु-  
 नुपपत्तेः, साहितसंग्रामार्थमिदमुच्यते । यथाह भारद् ( १।२०० )—'पुराणै-  
 र्घर्मयज्ञैः सत्यमादास्यकीर्तनैः । अनृतस्यापरादैश्च भृशमुत्प्राप्तपेदिमान् ॥'  
 इति ॥ ७३-७५ ॥

भाषा—याही भीर प्रतिवादी के तभीय स्थित साक्षियों को सम्बोधित  
 कर उन्हें हृय प्रकार सुनावे—जो लोक पातक करने वाले एवं महापातकियों  
 को मिलते हैं, जो लोक भाग लगाने वालों को एवं जो लोक र्ही एवं बालकों  
 की हत्या करने वालों को मिलते हैं उन सभी लोकों को वह व्यक्ति प्राप्त करता  
 है जो साक्ष्य में शूद्र बोलता है । तुम लोगों ने सौ जन्म जन्मान्तर में जो कुछ  
 भी पुण्यार्जन किया है उन सबको उस व्यक्ति का समझना मिले तुम शूद्र ही  
 परामित करोगे ॥ ७३-७५ ॥

पदा तु भाषिताः साक्षिणः कथंचिन्न द्रयुस्तदा किं कर्तव्यमिदं भाह—

अमुपगृह्ण नरः साक्ष्यमृणं सदशवन्धकम् ।

राज्ञा सर्वं प्रदाप्यैः स्यात्पटुर्त्वारिंशकमेऽहनि ॥ ७६ ॥

पः साक्ष्यमहीह्याय भाषिताः सन् कथंचिन्न वदति स राज्ञा सर्वं सदृष्टिक-  
 मृणं धनिने दाप्य, सदशवन्धकं दशमांशसहितम् । दशमांशश्च राज्ञो भवति;  
 'राज्ञाऽधमर्जिको दाप्यः साक्षिताश्शकं क्षतम्' ( २५० ७२ ) इत्युक्तत्वात् ।  
 एतच्च पटुर्त्वारिंशकमेऽहनि प्राप्ते वेदितव्यम् । ततोऽर्थावदन् दाप्य, इदं च  
 स्यात्पटुपल्लवहितस्य । यथाह मनुः ( ८।१०० )—'त्रिपञ्चादमुपसाक्ष्य-  
 मृणादिषु नरोऽगदः । तर्हणं प्राप्नुयात्सर्वं दशवन्ध च सर्वशः ॥' इति । 'अगद'  
 इति राजदैवोपल्लवविरहोपलक्षणम् ॥ ७६ ॥

भाषा—जो साक्ष्य स्वीकार करके उसके अनन्तर कुछ न बोले उससे  
 राजा वृद्धि के साथ सम्पूर्ण श्रेण का घन घनी को दिलावे तथा साथ ही  
 उसका दशमांश वसूल करे । इन सभी घनों को राजा विवाहितसर्वे दिन  
 दिलावे ॥ ७६ ॥

यस्तु जानन्नपि स कथमेव नाङ्गीकरोति दौरात्प्राप्त प्रत्याह—

न ददाति हि य साक्ष्यं जानन्नपि नराधम ।

स कूटसाक्षिणा पापैस्तुर्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७१ ॥

य पुनर्नराधमो विप्रतिपन्नमर्थं विशेषतो जानन्नपि साक्ष्यं न ददाति नाङ्गीकरोति स कूटसाक्षिणां मुख्य पापैः दण्डेन च । कूटसाक्षिणा च दण्डं वक्ष्यति । कूटसाक्षिणश्च दण्डविरता पुनर्व्यवहारं प्रवर्तनीय । कृतोऽपि धा, कौटसाक्ष्ये विहिते विवर्तनीय । यथाह मनु ( ८।११७ )— यस्मिन् यस्मिन् शिव्याये तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥' इति ॥ ७७ ॥

भाषा—जो नीच मनुष्य जानता हुआ भी साक्ष्य (गवाही) नहीं देता है वह कूटसाक्षियों का पाप करता और उस उन्हीं के समान दण्ड देना चाहिये ॥ ७७ ॥

साक्षिविप्रतिपत्तौ कथं निर्णय इत्यत आह—

द्वैधे बहूनां वचन समेषु गुणिनां तथा ।

गुणिद्वैधे तु वचनं प्राह्यं ये गुणयुक्ता ॥ ७८ ॥

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ बहूनां वचनं प्राह्यम् । समेषु समसण्येषु द्वैधे ये गुणिगण्येता वचनं प्रमाणम् । यथा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा ये गुणयुक्ता यथा १।५५ ननु दार्शनिकानां वचनं पुत्रादिगुणसंपन्नास्तेषां वचनं प्राह्यम् । यत्र तु गुणिनः कतिपये इतरे च बहुवस्तत्रापि गुणिनामेव वचनं प्राह्यम् । 'उभयांशुमतं साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्' ( ४५० ७२ ) इति गुणातिशयस्य सूत्रात् । यत्तु 'भेदात्साक्षिणः' ( ४५० ६८।६९ ) इत्युक्तं तत्पर्यसायेनागृह्यमाणविशेषविषयम् ॥ ७८ ॥

भाषा—साक्षियों के कथनों में भ्रम (द्वैध) हो तो उनमें से अधिकतर की बात को, दोनों और समान हों तो गुणियों के कथन को और गुणियों में भी परस्पर विरोध हो तो जो सर्वाधिक गुणवान् साक्षी हों उनके वचन को प्रमाण करना चाहिये ॥ ७८ ॥

साक्षिभिश्च कथमुक्तं यत्र कथं वा पराजय इत्यत आह—

यस्याचु साक्षिण सत्या प्रतिज्ञा स जयी भवेत् ।

अन्यथा चादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजय ॥ ७९ ॥

यस्य चादिन प्रतिज्ञा द्रव्यजातिसख्यादिविनिष्टा साक्षिण सार्था यदिति सायमेव जानामी वचमिति स जयी भवति । यस्य पुनर्चादिन प्रतिज्ञा



मन्यदा वैपरीक्षेण मिथ्यैतदिति घदन्ति तस्य पराजयो भ्रुवो निश्चितः । यत्र  
 ॥ प्रतिज्ञानार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावा साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति, तत्र  
 प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः । न च राज्ञा साक्षिणः पुनः पुनः प्रष्टव्याः ।  
 स्वभावोक्तमेव वचनं प्राद्यम् । यथाह—'स्वभावांक्तं वचस्तेषां प्राह्यं यद्दोष-  
 घञ्जितम् । तत्रे तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः ॥' इति ॥ ७९ ॥

भाषा—जिसकी ( जिस याची की ) प्रतिज्ञा ( दावे ) को साक्षी तस्य  
 फरार हें वह विजयी होता है और जिस ( वादी ) का प्रतिज्ञा को ये जसस्य  
 घताते हैं उसकी निरिधत पराजय हाती है ॥ ७९ ॥

'अन्यथा यादिनो यस्य भ्रुवस्तस्य पराजयः' ( ७९ ) इत्यस्यापवादमाह—

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणयत्तमा ।

द्विगुणा याऽन्यथा भ्रूयुः कृटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥ ८० ॥

पूर्वोक्तलक्षणैः साक्षिभिः साक्ष्ये स्वाभिप्राये<sup>१</sup> प्रतिज्ञानार्थवैपरीक्षेणानभिहिते  
 यद्यन्ये पूर्वभ्यो गुणयत्तमाः द्विगुणा वा अन्यथा प्रतिज्ञातार्थाननुगुण्येन साक्ष्यं  
 भ्रूयुस्तदा पूर्व साक्षिणः कृटा<sup>२</sup> मिथ्यावादिनो भवेयुः । नभ्येतद्गुणयत्तम् ;  
 अर्थिस्यार्थिसम्पत्तभापतिभिः परीक्षितैः प्रमाणभूतैः साक्षिभिर्निर्गदिते प्रमा-  
 णान्तरान्वेषणैः स्ववचसाक्षिणप्रसङ्गात्—'निर्गदिते स्ववहारे तु प्रमाणमफलं  
 भवेत् । लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत् ॥', 'यथा पक्षेषु  
 धान्येषु निष्फलाः प्राद्ययो गुणाः । निर्गदितस्ववहाराणां प्रमाणमफलं तथा ॥'  
 ( मा० १।६३-६२ ) इति नारदवचनात् । उच्यते,—यदाऽर्थी प्रतिज्ञातार्थस्या-  
 न्तरात्मसाक्षिणानामभिहितोपयोगान्मपि साक्षिणो वचनमर्थविसराक्षिणानामप्रमाणं  
 सम्प्रमाणः साक्षिण्यपि दोषं कल्पयति तदा प्रमाणान्तरान्वेषणं केन कार्यते ?  
 उक्तं च—'यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स पुरावगोचीना'  
 इति ॥ यथा अक्षुरादिकरणदोषानभ्यवसायेऽप्यर्थविसराक्षिणानामभिहितस्य ज्ञानैरवा-  
 प्रमाण्येन करणदोषरूपना तथेहापि; साक्षिपरीक्षातिरेकेण चोक्तपरीक्षोप-  
 देशस्य ।—'साक्षिभिर्मापितं वाक्यं महं सम्भैः परीक्षयेत्' इति । कात्यायनेना-  
 स्युक्तम्—'यदा शुद्धा क्रिया न्वावातदा तद्वाक्यशोधनम् । शुद्धाच वाक्याद्यः  
 शुद्धः स शुद्धोऽर्थ इति स्थितिः ॥' इति । क्रिया साक्षिलक्षणा, 'नार्थतंत्रन्धिनी  
 नाहाः' ( मनुः ८।६४ ) इति न्यायाद्यदा शुद्धा तदा तद्वाक्यशोधनं साक्षिवा-  
 क्यशोधनं कर्तव्यम् ; वाक्यशुद्धिश्च सत्यार्थप्रतिपादनेन; 'अस्येन शुद्धयते

१. स्वाभिप्रायेण प्रतिज्ञा । २. मिथ्यासाक्षिणो । ३. कारणं दुष्टं ।  
 ४. ज्ञानस्य प्रमाण्य । ५. वाक्परीक्षोप' ।

निर्दिष्टा, तत्रप्रतिपक्षस्तद्भाषवादी प्रत्यर्था, तत्राभावरय भावसिद्धिसापेक्षसिद्धि-  
 स्वाद्भावस्य चाभावसिद्धिनिरपेक्षसिद्धिस्वाद्भावस्यैव साध्यस्य युक्तम्, अभावस्यै  
 स्वरूपेण साक्षादिप्रमेवस्वाभावात् । अतश्चाधिन एव क्रिया युक्ता । अपि  
 चोत्तरानुसारेण सर्वथैव क्रिया नियता स्मर्यते, 'माह-यायकारणोक्ती ॥ प्रत्यर्था  
 निर्दिशेत्क्रियाम् । मिथ्योक्ती पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् ॥' इति । न  
 चैकस्मिन्व्यवहारे द्वया क्रिया, 'नचैकस्मिन्निवाद् ॥ क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयो'  
 इति स्मरणात् । तस्मात्प्रतिवादिन साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा याऽवथा  
 द्र्युरित्यनुपपन्नम् ॥ अथ मतम्—यत्र द्वावपि भावप्रतिज्ञावादिनी 'महीयमिद  
 दायादप्राप्त महीयमिद दायादप्राप्त'मिति प्रतिज्ञावादिनो पूर्वापरकालविभागा-  
 नाकलितमेव वदनस्तत्र द्वयो साक्षिणु ससु कस्य साक्षिणो प्राज्ञा इत्या-  
 काङ्क्षाया—'द्वयोर्बिन्दुतोरथे द्वयो ससु च साक्षिणु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवे-  
 दुत्तस्य साक्षिण ॥' इति वचनेन य पूर्व निवेदयति, तस्य साक्षिणो प्राज्ञा  
 इति स्थिते, तस्याप्येवाद्—'उक्तेऽपि साक्षिभि साधये' इति । अतश्च पूर्वोत्त-  
 रयोर्वादिनो समसख्येषु समगुणेषु साक्षिणु ससु पूर्ववादिन एव साक्षिण  
 प्रष्टव्या । यदा तु उत्तरवादिन साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वा तदा प्रति-  
 धादिन साक्षिण प्रष्टव्या । एव च नामावरय साध्यता, उभयोरपि भाववादि-  
 त्वात्, चतुर्विधोत्तरविलक्षणस्याद्य प्रकृतोदाहरणे न क्रिया-व्यवस्था । एकस्मिन्व्य-  
 वहारे तु यथैकस्याधि न क्रियाद्वय परमते तथा वादिप्रतिवादिनो क्रियाद्वयेऽ  
 प्यविरोध इति । तद्व्योच्यार्थो नानुमन्यते—'उक्तेऽपि साक्षिभि साधये' इत्यपि  
 ज्ञानार्थाप्रकरणाद्वाऽस्यार्थस्यानवगमादिशक्यत्वं प्रसङ्गेन ॥ ८० ॥

भाषा—साक्षिणो के अर्था वक्तव्य ( वयान ) के लेने पर जो दूसरी  
 प्रकृत गुणवाले व्यक्ति या उनसे देने व्यक्ति अन्वया ( उनके वक्तव्य के विप-  
 रीत ) कहें तो वे पहले के साक्षी कूट साक्षी हो जाते हैं ॥ ८० ॥

कूटसाक्षिणो दक्षितास्तेषां दण्डमाह—

पृथक्पृथग्दण्डनीया कूटकूटसाक्षिणस्तथा ।

विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्थो ब्राह्मण स्मृत ॥ ८१ ॥

जो धनदानादिना कूटान्साक्षिण करोति स कूटकूट, साक्षिणश्च ये तथा  
 कूटस्ते त्रिगुणाग्राम विवादादपराजयपराजये यो दण्डस्तत्र सप्तोत्तरत्वं दण्ड

१ वामायनिरपेक्ष । २. अभावस्वरूपेण । ३. करिन्निवादे ।

४ पपादमाह । ५ व्याचारा नानुमन्यन्ते । ६ विवादाद्विवादापराजये,  
 विवादापराजये ।

द्विगुण पृथक्पृथगेकैकशो दण्डनीया । ब्राह्मणस्यु विवाहस्यो राष्ट्रान्निर्वास्य, न  
दण्डनीय । एतच्च लोभादिकारणविशेषपरिज्ञाने अनभ्यासे च वेदितव्यम् ।  
लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽभ्यासे च मनुनोक्तम् ( ८१२०-२१ )—'लोभा  
सहस्र दण्डय स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भैयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डी मंत्र्यात्पूर्वं  
चतुर्गुणम् ॥ कामाद्दशगुण पूर्वं क्रोधोत्तु त्रिगुण परम् । अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे  
वालिरथाच्छतमेव ॥ ॥' इति । तत्र लोभोऽर्थलिप्सा, मोहो विपर्ययज्ञानम्,  
भय सत्रास, मैत्रो स्नेहातिशय, काम स्त्रीभ्यतिक्रामिलाप, क्रोधोऽमर्ष ।  
अज्ञानमस्फुटज्ञानम्, वालिरथ ज्ञानानुत्पाद । सहस्रादिषु तान्त्रिका एणा  
गृह्यन्ते । तथा ( मनु ८१२३ )—'कौटसाप्य तु कुर्वाणास्त्रीवर्णाधार्मिको नृप ।  
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मण तु विवाहयेत् ॥' इति, एतच्चाभ्यासविषयम् । कुर्वा-  
णानिति धर्ममौननिर्देशात् । स्त्रीवर्णाश्चत्रियादीन् पूर्वोक्त दण्ड दण्डयित्वा प्रवा-  
सयेत्प्रमारयेत् । अर्धशास्त्रे 'प्रवास'शब्दस्य मारणे प्रयोगात्, अस्य चार्थशास्त्ररूप-  
त्वात् । तत्रापि प्रवासनमोक्षयेद्दण्ड जिह्वाच्छेदुन प्राणविषोक्तन च कौटसाप्य-  
विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । ब्राह्मण तु दण्डयित्वा विवासयेत् स्वराष्ट्राश्लिष्कासयेत् ।  
यद्वा,—वामसो विगतो विवासा । विवासस करोतीति ऋषि कृते 'णाविष्टव  
स्मातिपदिकस्य' इति टिकोषे रूपम् । विवासयेत् नग्नीकुर्पादित्यर्थ । अथवा  
वसत्यस्मिन्निति वासो गृहम् । विवासयेत् भग्नगृह कुर्पादित्यर्थ । ब्राह्मणस्यापि  
लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽनभ्यासे च तत्र तत्रोक्तो दण्ड एव । अनभ्यासे स्वर्ध-  
दण्डो विवासन च । तत्रापि जातिद्वयानुसंधाद्येवैषा विवासन नग्नीकरण गृह-  
भङ्गो देशाश्लिषासन चेति व्यवस्था द्रष्टव्या । लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽ-  
नभ्यासे चाश्रयविषये कौटसाप्ये ब्राह्मणस्यापि चत्रियादिविषयदण्ड एव ।  
महाविषये तु देशाश्लिषासनमेव । अत्राप्यभ्यासे सर्वेषामेव मनुक्त द्रष्टव्यम् ।  
न च ब्राह्मणस्वार्थदण्डो नास्तीति न-त-व्यम् । अर्धदण्डाभावे शारीरदण्डे  
च निपिद्धे स्वल्पेऽप्यपराधे नग्नीकरणगृहभङ्गाङ्ककरणविप्रवासन दण्डाभावो  
वा प्रमदयेत्, 'चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् । शारीर धनस्युक्त  
दण्ड धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥' इति स्मरणात् । तथा ( मनु ८१३७८ )—'सहस्र  
ब्राह्मणो दण्डवो गुप्तो विप्रा बलाद् व्रजन्' इति स्मरणात् । यस्तु शत्रुवचनम्—  
'त्रयाणां वर्णानां धनापहारवध द-धक्रिया विवासनाङ्ककरण ब्राह्मणस्य'  
इति, तत्र धनापहार सर्वस्वापहारो विवक्षित वधसाहचर्यात्, 'शारीर-  
रवधरोधादिर्भोवितान्त प्रकीर्तित । काकिण्यादिसर्वधदण्ड सर्वस्वा-त

१ न दण्डया । २ द्रष्टव्यम् । ३ भयाद्दौ मध्यमो दण्डी । ४ स्त्रीव-  
तिरेकाभि । ५ धर्ममानकाल । ६ शास्त्रस्वरूप ।

स्तथैव च ॥' ( नारदः परि० ५५ ) इति वधसर्वस्वहरणयोः सहपादात् । यदप्युक्तम्—'राष्ट्रादेनं वधिः कुर्यात्समप्रधनमधृतम्' इति, तदप्रथम-  
कृतसाहसविषयं; न सर्वविषयम् । शारीरस्तु प्रकृत्यस्य न कदाचिद्भवति ।  
'न जातु माह्वण हन्यारसर्वपापेष्वपि स्थितम्' ( मनुः ८१३८० ) इति सामा-  
भ्येन मनुस्मरणात् । तथा मनुः ( ८१३८१ )—'न माह्वणवधाद्भूषानधर्मो विद्यते  
भ्रुवि । तस्मादस्य वधं राजा मनमापि न चिन्तयेत् ॥' इति ॥ ८१ ॥

भाषा—( धन लेकर ) मिथ्या बोलने वाले कूट-साक्षियों में प्रत्येक  
से उस विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड हो उससे दूना धन दण्ड के  
रूप में लेवे और यदि वह कूटसाक्षी माह्वण हो तो उसे अपने राज्य से  
निर्वासित करे ॥ ८१ ॥

जानतः साधयानङ्गीकारे भाह—

यः साक्ष्यं धारितोऽभ्येभ्यो निहृते तत्तमोवृतः ।

स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं माह्वणं तु विवासयेत् ॥ ८२ ॥

अपि च, यस्तु साक्षिवमङ्गीकृत्याभ्यः साक्षिभिः सह साधयं धारितः  
मक्षिगद्वनशाले तमोवृतो राजायाकान्तचित्तस्तरसाधयमभ्येभ्यः साक्षिभ्यो  
निहृते—'नाहमत्र साक्षी भवामि' इति, न विवादपरान्तये यो दण्डस्तं दण्ड-  
मष्टगुणं दाप्यः । माह्वणं पुनरष्टगुणदण्डवद्वानागतमर्थं विवासयेत् ।  
विवासनं च नग्रीकरणगृहमग्न्यदेशनिर्वासनलक्षणं विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । इत-  
रेषां स्वष्टगुणदण्डदण्डदानासंभवे स्वभारयुचितकर्मकरणमिगद्वधधनकारागृहपरे-  
शादि द्रष्टव्यम् । एतच्च पूर्वश्लोकेऽप्यनुमर्तव्यम् । यदा सर्वे साधयं निहृवते तदा  
सर्वे समानदोषाः । यदा तु साधयमुक्त्वा पुनरभ्यधा वदन्ति, तदानुबन्धाद्ये-  
क्षया दण्डयाः । यथाह कात्यायनः—'उदत्ताऽभ्यधा भुवाणाश्च दण्डयाः स्युर्वा-  
वक्ष्यन्ति' इति । न चान्देनोक्ता साक्षिणोऽभ्येन रहस्यनुसर्तव्याः । यथाह  
नारद ( १११५ )—'न परेण समुद्दिष्टमुपेयसाक्षिण रह । भेदेष्वैव चाभ्येन  
हीयेतैव समाप्सरम् ॥' इति ॥ ८२ ॥

भाषा—जो साक्षी होना स्वीकार करके अन्य साक्षियों के साथ साधय  
दिलाये जाने पर साक्षी होने से पिरन होता है उससे विवाद के हारने पर  
जो दण्ड हो उसका आठ गुना धन दण्ड के रूप में ले और यदि वह माह्वण  
हो तो उसे राज्य से निर्वासित करे ॥ ८२ ॥

साक्षिणामवचनमसत्यवचन च सर्वत्र प्रतिषिद्धं, तदपवादार्थमाह—

वर्णिनां हि यद्यो यत्र तत्र साक्ष्यं नृतं वदेत् ।

यत्र वर्णिनां शुद्धवित्त्वृत्रविमोक्षात् सत्यवचनेन च समाप्यते तत्र साध्यमृत वदेत् सत्यं न वदेत् । अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वप्रतिषिद्धमसत्यवचनमवचनं चाभ्यनुज्ञायते । यत्र शङ्काभियोगादौ सत्यवचने वर्णिनां चधोऽमृतवचने कस्यापि चधस्तत्रामृतवचनमभ्यनुज्ञायते । यत्र तु सत्यवचनेऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्य चधोऽमत्यवचने चान्यतरस्य वधस्तत्र तूष्णीं-भावाभ्यनुज्ञा राजा यद्यनुमन्यते । अथ राजा कथमप्यकथने न मुञ्चति तदा भेदात्साक्षिण्यं कर्तव्यम् । तस्याप्यसंभवे सत्यमेव वदितव्यम् । असत्यवचने षण्णिवधोपोऽसत्यवचनदोषश्च । सत्यवचने तु वर्णिवधोप एव, तत्र च यथा-शास्त्रं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् ॥-

तर्ह्यसत्यवचने तूष्णींभावे च शास्त्राभ्यनुज्ञानात्प्रत्यवायाभाव इत्यत आह—  
तस्यावनाय निर्वाप्यश्चरं सारस्वती द्विजैः ॥ ८३ ॥

तस्यावनाय अनुवचनावचननिमित्तप्रत्यवायपरिहाराय सारस्वतश्च द्विजैरेकैकशो निर्वाप्य कर्तव्यम् । सारस्वती देवता अस्म्येति सारस्वतः । अनवच्छादितान्तरूपमपक्रीदने 'चरु'कम् प्रसिद्धम् । इहायमभिसन्धिः—'साक्षिणाममृतवचनमवचनं च यन्नपिद्धं तद्विहाभ्यनुज्ञातम् । यत्तु—'नानृतं वदेत् । अमृतवचनमवचनमपि करो भवति कित्तिवधी' ( मनु ८।१३ ) इति सामाज्येनामृतवचनमवचनं च प्रतिषिद्धं तद्वतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तम् । नच मन्तव्यं साक्षिणाममृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानेऽपि साधारणानृतवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमनिमित्तकप्रत्यवायस्य तादृक्स्थ्यादभ्यनुज्ञावचनममर्थकमिति । यैत साध्यमृतवचनावचनयोर्भूयात्प्रत्यवाय साधारणानृतवचनावचनयोरक्षीयान्निर्घर्षवद्भ्यनुज्ञावचनम् । यद्यपि भूयस प्रत्यवायस्य निवृत्त्या आनुपङ्क्तिरव्याप्यतः प्रायः त्पुत्रस्य निवृत्तिरन्यत्र तथापीहाम्यनुज्ञावचनात्प्रायश्चित्तविधानात् न भूयसो निवृत्त्याक्षीयानप्यानुपङ्क्तौऽपि प्रत्यवायो न निवर्तत इति गम्यते । एतदेवा-न्यत्र प्रश्नेषु वर्णिवधाशङ्काया पा-थादीनाममृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानं वेदितव्यम् । नच तत्र प्रायश्चित्तमस्ति, प्रतिषेधात्तराभावात् । निमित्तान्तरेण काला-न्तरेऽर्थतश्च-धमेऽपि साक्षिणाम-येषां च दण्डाभावोऽस्मादेव वचनादवगम्यत इति ॥ ८३ ॥

भाषा—जहाँ सत्य बोलने से चारों वर्णों में किसी वर्ण के व्यक्ति क वध की समाप्ति हो वहाँ साक्षी शूद्र बोले । उस ( असत्यभाषण ) की शुद्धि के लिए द्विज सारस्वती देवी के लिए चरु घनाकर चढ़ावे ॥ ८३ ॥

इति साक्षिप्रकरणम् । १

१. भ्यनुज्ञा । २ नामृतं । ३ निषिद्ध । ४ स्थ्यादवचनाभ्य-  
नुज्ञा । ५ साक्षिणासत्यवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमयो ।

## अथ लेख्यग्रकरणम् ६

भूमिसाक्षिणी निरूपिता, सांप्रत लेख्य निरूप्यते । तत्र लेख्य द्विविधम्—  
शासन जानपद चेति । शासन निरूपितम् । जानपदमभिधीयते । तद्य द्विवि  
धम्—स्वहस्तकृतमन्यकृत चेति । तत्र स्वहस्तकृतमसाक्षिक, अन्यकृत तसाक्षि  
कम् भागयोश्च देनाचारानुमारेण प्रामाण्यम् । यथाह नारद ( १।१३५ )—  
'लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्ताऽन्यकृतं तथा । भसाक्षिमसाक्षिमथ सिद्धिर्देश-  
स्थितेस्तयोः ॥' इति । तत्रान्यकृतमाह—

य. कश्चिदर्थो निष्णात. स्वकन्या तु परस्वरम् ।

लेख्यं तु साक्षिमरकार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ ८४ ॥

धनिकाधमर्णयोर्वोऽर्थो हिरण्यादि परस्पर स्वकन्या 'इयता कालेनैताग्रहे-  
नम्', 'इयती च प्रतिभास वृद्धि' इति निष्णातो ष्यवस्थित तस्मिन्धने कालान्तरे  
यिप्रतिपत्तौ परशुतपनिर्णयार्थं लेख्य साक्षिममुकलक्षणसाक्षिपुक्त धनिकपूर्वक  
धनिकः पूर्वो यस्मिन्धनिकपूर्वकम् । धनिकनामलेखनपूर्वकमिति पापत् ।  
कार्यं कर्तव्यम् । उक्तलक्षणा साक्षिणी वा कर्तव्या, 'कर्ता तु परकृत कार्यं  
मिद्वयर्थं तस्य साक्षिणः । प्रवर्तन्ते विवादेषु स्वकृतं वाऽथ लेख्यकम् ॥' इति  
स्मरणात् ॥ ८४ ॥

भाषा—जय धनी और अधमर्ण ( ऋण ) में अपनी इच्छा से परस्पर  
कोई बात तय हुई हो ( जैसे श्रमण भुगतान का समय, वृद्धि की दर भादि )  
तो साक्षियों के सामने उसे लिख देना चाहिए । लेख में धनिक ( ऋणदाता )  
का उल्लेख करें ॥ ८४ ॥

समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः ।

सद्यश्चथारिकारमीयपितृनामादिचिह्नितम् ॥ ८५ ॥

अपि च, तमा संवत्सर, मासश्चैत्रादि, वर्ष्यं पद्य—शुक्ल वृषभो वा,  
अहस्तियि प्रतिपदादि, नाम धनिकर्णिकयो, जातिर्षासनत्वादि, स्वगोत्र  
यातिष्ठादिगोत्रम्, पत्नै समादिभिस्त्रिहिवम्, तथा सद्यश्चथारिक वद्धुचादि-  
न्नास्त्राप्रयुक्त गुणनाम बद्धुच कठ इति । आरमीयपितृनाम धनिकर्णिकपितृनाम,  
'भादि'ग्रहणाद् द्रव्यजातिसक्याच्चौरादैर्ग्रहणम् । 'पत्नैश्च चिह्नितं लेख्य कार्यम्'  
इति गतेन सयन्ध ॥ ८५ ॥

१. मन्यहस्तकृत ।

२. सगोत्रकैः ।

३. धनिकाऽधमर्णिकयो ।

४. सद्ययावारादे ।

भाषा—वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम, जाति और गोत्र के साथ लिखना चाहिए । तथा बह्वृच आदि वेद की शाखा, और अपने पिता का नाम लिखना चाहिए ॥ ८५ ॥

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् ।

मते मेऽमुकपुत्रस्य यद्दशोपरि लेखितम् ॥ ८६ ॥

किं च, धनिकाधमर्णयोर्द्वयं स्वरूप्या व्यवस्थितस्तस्मिन्नर्थे समाप्ते लिखिते ऋणी अधमर्णो नामात्मीय स्वरहस्तेनास्मिन्नक्षेत्रे यद्दुपरि लेखितं तस्मिन्मातृक-पुत्रस्य मत अभिप्रेतमिति निवेशयेत् पत्रे विलिखेत् ॥ ८६ ॥

भाषा—ऋणदाता और ऋणी में तब हुई बात लिखने के उपरान्त ऋणी अपने हाथ से अपना नाम लिखे और यह भी लिखे कि अमुक के पुत्र मुझको ऊपर लिखी हुई बात स्वीकार है ॥ ८६ ॥

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम् ।

अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति तं समा' ॥ ८७ ॥

तथा, तस्मिन्नक्षेत्रे ये साक्षिणो लिखितास्तेऽप्यात्मीयपितृनामलेखनपूर्वकं अस्मिन्नर्थेऽप्यममुको देवदत्त साक्षी इति स्वहस्तेनैकैकतो लिखेयु । ते च समा सवपातो गुणतश्च कर्तव्या । यद्यधमर्ण साक्षी वा लिपिज्ञो न भवति तदा-धमर्णोऽप्येन साक्षी च साधयन्तरेण सर्वसाक्षिसन्धिषु स्वमत लेखयेत् । यथाह नारद —'अलिपिज्ञ ऋणी य स्यात्स्वमत तु स लेखयेत् । साक्षी वा साक्षिणा-ऽप्येन सर्वसाक्षिसमीपत ॥' इति ॥ ८७ ॥

भाषा—साक्षी लोग भी अपने हाथ से अपने पिता के नाम के साथ अपना नाम लिखे कि इस समय मैं अमुक क यहाँ साक्षी के रूप में उपस्थित हूँ । साक्षियों की संख्या सम होनी चाहिए ॥ ८७ ॥

उभयार्थयर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना ।

लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ ८८ ॥

अपि च, ततो लेखक उभयार्थां धनिकाधमर्णिकार्थां प्रार्थितेन मयाऽमुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतन्नेद्य लिखितमिच्छन्ते लिखेत् ॥ ८८ ॥

भाषा—तब अन्त में लेखक लिखे कि धनिक और ऋणी दोनों की प्रार्थना से अमुक के पुत्र अमुक नाम क मैंने यह लेप लिखा ॥ ८८ ॥

माप्रतं स्वकृतं हेतुमाह—

विनापि साक्षिभिलेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् ।

तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बल्लोपधिहृताहते ॥ ८९ ॥

यदलेख्य स्वहस्तेन लिखितमथमर्गेण तस्माधिभिर्विनापि प्रमाणं स्मृतं मन्वादिभिः । बल्लोपधिहृताहते बलेन बलाकारेण उपधिना ह्यल्लोभक्रोधभय-  
मदादिलक्षणेन बह्वृत तस्माद्दिना । नारदोऽप्याह ( ११३७ )—'मत्ताभि-  
सुंनस्त्रीभालबलाकारकृतं च यत् । तत्प्रमाणं लिखितं भयोपधिहृतं तथा ॥' इति  
संक्षेपेतरस्वहस्तकृतं परहस्तकृतं परहस्तकृतं च यदलेख्यं देशाचाराजुसारेण सवन्धक  
स्ववहारेऽवन्धकस्ववहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिख्यचारापरिलोपेन च हेतुप-  
माप्येतादत्तं न पुनः साधुमन्वेदेव, प्रातिस्विच्छेदनामापवापि लेखनीयम् । यथाह  
नारद ( ११३६ )—'देशाचारात्रिरुद्धं बह्वयनाधिविधिलक्षणम् । तत्प्रमाणं  
स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाचरम् ॥' इति । विधानविधिः, भावेर्विधिराधिविधिराधी-  
करण तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमिरवादि तद् व्यक्तं निरपहं यस्मि-  
स्तद्वपत्ताधिविधिलक्षणम् । अविलुप्तक्रमाचरम् । अर्थात् क्रम क्रमश्चाचाराणि च  
क्रमाचाराणि अविलुप्तानि क्रमाचाराणि यस्मिस्तदविलुप्तक्रमाचरं । तदेवभूतं लेख्य  
प्रमाणम् । राजशासनवच्च साधुशब्दनिघमोऽत्रैवमिप्राप ॥ ८९ ॥

भाषा—तो लेख जपने हाथ से लिखा होता है यह साक्षियों के विना  
भी प्रमाण होता है, वगैरें यह बलपूर्वक या ह्यल्ल या लोभ से न लिखा  
गया हो ॥ ८९ ॥

हेतुप्रसङ्गेन हेतुपरुद्धमप्युण त्रिभिरेव देवमित्याह—

श्रुणं लोदयकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु ।

यथा साक्ष्यादिकृतमृण त्रिभिरेव देव, तथा लेख्यकृतमप्याहर्तुं पुत्रतापुत्रै-  
स्त्रिभिरेव देव, न चतुर्थादिभिरिति नियम्यते । ननु 'पुत्रपौत्रैर्ज्ञेयं देयम्' ( १५०  
५० ) इत्यभिज्ञेयेण श्रुणमात्रं त्रिभिरेव देवमिति नियतमेव । यादम् । अस्यैवो-  
त्सर्गस्य पत्रारुद्धर्णनियमे स्मृत्य-तरमभवामवनाद्वाङ्मपनेनुमिदं यचनमारब्धं ।  
तथा हि—पत्रारुद्धमभिघाय कार्यायनेनाभिहितम्—'एव कालमतिक्रान्तं  
पितृणां दाप्यते ऋणम्' इति । इत्थं पत्रारुद्धमृणमतिमान्तकालमपि पितृणां  
सर्गन्धि दाप्यते । अत्र 'पितृणां' इति बहुवचननिर्देशात्कालमतिक्रान्तमिति

१. विना तु । २. तत्रैतत् । ३. कृतं च लेख्यं । ४. सवन्धकस्ववहारे च ।  
५. तत्पुत्रपौत्रैः ।



वचनानुसंधानादिर्दास्य इति प्रतीयते । तथा हारीतेनापि—'लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते  
 लाभं तस्य विनिर्दिशेत्' इति । अप्रापि यस्य हस्ते लेख्य ( पत्र ) मस्ति तस्य-  
 र्गलाभ इति सामान्येन चतुर्थादिभ्योऽप्युणलाभोऽस्तीति प्रतीयते । अत्र श्रौत  
 दासहानिवृत्त्यर्थमेव द्वचनमित्युक्तम् । वचनद्वय च योगीश्वरवचनानुसारेण  
 योजनीयम् ॥—

अस्यापवादमाह—

भाधिस्तु भुज्यते तावद्यायत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

सवन्धहेऽपि पेशरुह ऋण त्रिभिरेव देवमिति नियमाहणापाकरणानधि-  
 कारेणैष्याहरणेऽप्यमधिकारप्राप्ताविदुमुच्यते । यावच्चतुर्थेन पद्यमेव वा ऋण  
 न दीयते तावदेवाधिर्भुज्यत इति वचना सवन्धकर्मापाकरणे चतुर्थादिरप्य-  
 धिकारो रक्षित । नञ्वेतदप्युक्तमेव 'कलभोग्यो न नश्यति' ( १५० ५८ )  
 इति । सवन्धम् । तदप्येतस्मिन्नमस्यपवाद्द्वचने पुनपत्रयवियममेव स्यादिति  
 सर्वमनवधम् ॥ ९० ॥

भाषा—लिखा गया ऋण तीन पौड़ी तक ही देय होता है । और भाधि  
 ( बन्धक ) का भोग उस समय तक किवा जाता है जब तक कि ऋण न  
 लौटाया जाय ॥ ९० ॥

प्रासङ्गिक परिसमाप्य प्रकृतमेशानुसरति—

देशान्तरस्थे दुर्लभ्ये नष्टोऽमृष्टे हने तथा ।

भिन्ने दग्धेऽथवा क्षिन्ने लेटयमन्यत्तु कारयेत् ॥ ९१ ॥

व्यवहाराद्यमे पत्रे पत्रान्तर कुर्यादिति विधीयते । व्यवहाराद्यमस्य चास्पन्त-  
 व्यवहितदेशान्तरस्थे पत्रे दुर्लभ्ये दुष्टानि सदिक्षमानानि अवाचकानि वा  
 लेख्यानि लिख्यहराणि पदाणि वा परिसस्तत् दुर्लभ्य तरिमन्दुर्लभ्ये, नष्टे  
 कालवशेन, उन्मृष्टे मपीदौर्लभ्यादिना मृदितलिप्यपत्रे, हते तैस्करादिभिः, भिन्ने  
 विद्वलिते, दग्धे अग्निना प्रञ्चलिते, क्षिन्ने द्विचामृते सति पत्र द्विर्भवति । एत  
 च्चार्षिप्रत्ययिनो परस्परानुमती सत्याम् । विमत्यां तु व्यवहारप्राप्ती देशान्तर-  
 स्थपत्रानयनौवाध्यापेक्षया कालो दास्य । दुर्गदेशावस्थिते नष्टे वा पत्रे  
 साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णय कार्य । यथाह नारद ( १।१४२ )—'लेख्ये देशा

१. वचनानुच चतुर्थादि । २ पत्रारुढे ऋणे । ३ कारणापहरणे ।  
 ४. दग्धे तथा क्षि । क्षिन्ने भिन्ने तथा दग्धे । ५ तस्करादिना । ६ द्वितीयपत्र  
 भवति । ७ नाथ दुर्गाध्यापेक्षया । ८ दुर्गदेशावस्थिते ।

न्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लभिते ह्यते । सतस्तःकालकरणमसतो द्रष्टृदर्शनम् ॥' इति ।  
 सतो विद्यमानस्य पत्रस्य देशान्तरस्यस्यानयनाय कालकरण कालाग्धिर्दातव्य ।  
 असत पुनरविद्यमानस्य पत्रस्य पूर्वं ये द्रष्टार साक्षिणस्तैर्दर्शनं ध्येवहारपरि-  
 समापन कार्यम् । यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिग्नेन निर्णय कार्य —  
 'अलेख्यसाक्षिके देवीं ध्येवहारे विनिर्दिशेत्' इति स्मरणात् । यत्तच्च जानपद  
 ध्येवस्थापत्रम् । राजकीयमपि ध्येवस्थापत्रमोदशमेव भवति । इयांस्तु विशेष —  
 'राज. स्वहस्तसयुक्त स्वमुद्राचिह्नित तथा । राजकीय स्मृत्ये लेख्य सर्वेष्वर्थेषु  
 साक्षिमत् ॥' इति । तयान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वृद्धवसिष्ठेऽपि स्मृतम्—'यथोप-  
 ध्येवस्तसाध्यायसयुक्त सोत्तरक्षियम् । सापघारणकं चैव जयपत्रमभिष्यते ॥ प्राह-  
 विद्याकादिहस्ताङ्गमुद्रित राजमुद्रया । विद्देश्येऽर्थेऽद्यादिने दद्यात्प्रविने जयपत्रकम् ॥'  
 इति । तथा सभासदोऽपि मैत्र मेऽमुकपुत्रस्येति स्वहस्त दद्यु ।—'सभासदस्य ये  
 तत्र स्मृतिशास्त्रविद् स्थिता । यथाऽलेख्यविषीं सङ्ग्रहस्तद्वस्त वृष्टुरेव ते ॥' इति  
 स्मरणात् । सभासदा च परस्परानुमतिष्वतिरेकेण न ध्येवहारो नि शक्यो  
 भवति । यथाह नारद—'यत्र सभ्यो जन सर्वं साध्वैतदिति मन्यते । स  
 नि शक्यो विवाद स्यात्सहाय्यरवन्वया भवेत् ॥' इति । एतच्चतुष्पाद्यावहार  
 एव ।—'साधयेत्साध्वमर्थं यच्चतुष्पादान्वितं च यत् । "राजमुद्रान्वितं चैव  
 जयपत्रकमिष्यते ॥' ( कात्यायन ? ) इति स्मरणात् । यत्र तु हीनता । यथा—  
 'अ-यवादी क्षियाद्वेषी नोपरथाता निरुत्तर । आहृतमर्षेणारी च हीन. पञ्चविध  
 स्मृत ॥' ( नारद भा० २३३३ ) इति । तत्र न जयपत्रकमस्ति, अपि तु  
 हीनपत्रकमेव । तच्च कालान्तरे वृद्धयाप्यर्थं, जयपत्र तु प्राह्न्यापविधिसिद्धय  
 र्धमिति विशेष ॥ ९१ ॥

भाष्या—लेख के कहीं दूसरे देश में छूट जाने पर, पढ़ने योग्य न रह  
 जाने पर खो जाने, मिटजाने, घुरा लिये जाने, गल जाने, जल जाने अथवा  
 फट जाने पर दूसरा लेख बनवाना चाहिये ॥ ९१ ॥

छेदयसर्वेहे निर्णयनिमित्तान्याह—

संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिपितादिभिः ।

युक्तिप्राप्तिरित्यादिहसंप्रमाणमहेतुभिः ॥ ९२ ॥

'शुद्धमशुद्ध वा' इति संदिग्धस्य छेदयस्य शुद्धि स्वहस्तलिपितादिभि  
 स्यात् । स्वहस्तेन लिखित यत्कल्पान्तर तेन शुद्धि । यदि सदशा-यचाराणि

१. दृष्टदर्शनं । २ ध्येवहारे । ३ दत्तं मे । ४ मुद्राङ्कितं ।  
 ५ व्यपलापी । ६ संदिग्धलेख्ये शुद्धि ।

भवन्ति तदा शुद्धि स्यादित्यर्थः । 'भाद्रि' शब्दात् साञ्जिलेखकस्वहरतल्लिखिता-  
न्तरसवादाच्च्युदिरिति । युक्त्या प्राप्त्युक्तिप्राप्ति, देशकालपुरुषाणा द्रव्येण सह  
सम्बन्ध प्राप्ति । 'अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽस्य पुरपत्येद द्रव्य घटते' इति युक्तिप्राप्ति,  
क्रिया तरसाद्युप-यास, चिह्नमसाधारण श्रीकारादि, 'सब-धोऽर्थिप्रत्यर्थिनो  
पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानप्रहणादिसब-ध आगमोऽस्यैतावतोऽर्थस्य सभा  
वित प्राप्त्युपाय, एते एव हेतव । एभिर्हेतुभि सदिग्धलेख्यस्य शुद्धि स्यात्'  
इत्यन्वय । यदा तु लेख्यसंबन्धे निर्णयो न जायते तदा साधिमिर्निर्णय कार्य ।  
यथाह कार्यायन — 'दूषिते पत्रक वादी तदाकृडांस्तु निर्दिशेत्' इति । साञ्जि  
सम्बन्धविषयमिदं बन्धनम् । साध्यसम्बन्धविषय तु हारीतकचनम्—'न मयैतकृत  
पत्र कृतमेतेन कारितम् । अधरीकृत्य तरपत्रमर्थे दिग्देन निर्णय ॥' इति ॥ ९२ ॥

भाषा—लेख्य के विषय में सन्देह हो तो अपने हाथ से लिखे हुए लेख्य  
से युक्तिप्राप्ति ( इस देश में इस समय पर इस व्यक्ति पर इतना द्रव्य होता  
है ) क्रिया ( उसके साजो का उपन्यास ), चिह्न ( श्रीकार भादि ) सब-ध  
( धनी और ऋणी का पहले का पारस्परिक सम्बन्ध ) और आगम ( द्रव्यप्राप्ति  
का उपाय ) हेतुओं से शुद्धि होती है ॥ ९२ ॥

एव शोधिते पत्रे ऋणे च दातव्ये प्राप्ते यदा कृ स्वमेव ऋण दातुमसमर्थ-  
स्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दद्या दत्तवर्णिको धनम् ।

धनी शोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥ ९३ ॥

यदाऽधमर्गिक सबलमृण दातुमसमर्थस्तदा स्वस्वपुनःसारेण दद्या पूर्वकृतस्य  
लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् 'दत्ताव-मया दत्तम्' इति । उक्तमर्गों वा उपगत प्राप्त  
धन तस्यैव लेख्यस्य पृष्ठे दद्यात्भिलिखेत्—'दत्तावन्मया लभ्यम्' इति । कथम् ?  
स्वहस्तपरिचिह्नित स्वहस्तलिखिताधरचिह्नितम् । यद्वा, उपगत प्रवेशपत्र स्वह-  
स्तलिखित<sup>१</sup>चिह्नितमधमर्गोंशोक्तमर्गों दद्यात् ॥ ९३ ॥

भाषा—ऋणी धन देकर लेख्य के पीछे लिख दिया करे । धनी भी धन  
प्राप्त करके अपना हस्ताक्षर करके उपगत ( प्राप्तपत्र, रसीद ) देवे ॥ ९३ ॥

ऋणे तु कृत्स्ने दत्ते लेख्य किं कर्तव्यमित्यत आह—

दत्तवर्ण पाटयेत्स्लेख्यं शुद्धयै वाऽन्यत्तु कारयेत् ।

क्रमेण सृष्टेव वा कृत्स्नमृण दद्या पूर्वकृत लेख्य पाटयेत् । यदा तु  
दुर्गदेशावस्थित लेख्य नष्ट वा तदा शुद्धयै अधमर्गस्वनिवृत्त्यर्थं न-यस्तेष्व

१ सब-धप्राप्ति । २ शोपगत । ३ लिखितपरिचिह्नित ।

कारपेदुत्तमर्गेनाचमनं । पूर्वोक्तक्रमेणोत्तमर्गो विद्युद्विषमपमर्गाय दद्याद्वि-  
रयर्षं ॥—

ससाक्षिकं श्रणे वृत्तने दातव्ये किं कर्तव्यमित्यत आह—

साक्षिमन्त्र भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम् ॥ ९४ ॥

यत्तु ससाक्षिकमृण तत्पूर्वमाक्षिसमपमेव दद्यात् ॥ ९५ ॥

भाषा—श्रण देकर छेन को काट दे अथवा श्रणी की निवृत्ति के लिए  
धनी दूसरा छेपय लियावे । जो श्रण साक्षियों के सामने लिया गया हो उसे  
जहाँ साक्षियों के सामने ही लीटना चाहिए ॥ ९५ ॥

इति छेपयप्रकरणम् ।

### अथ दिव्यप्रकरणम् ७

लिरितमाविभुत्तिच्छण त्रिविधं मानुषं प्रमाणमुक्तम् । अथारसमाप्त दिव्य  
प्रमाणमभिधास्यन् 'तुलाभ्याम्' इत्यादिभिराप्तैः पञ्चभिः श्लोकैर्दिव्यमाप्तुका  
कथयति । तत्र तावद्विष्याम्युपदिशति—

तुलाभ्यामो यिषं कोशो दिव्यानीह विद्युद्वये ।

तुलादीनि कोशात्तानि पञ्च दिव्यानीह धर्मशास्त्रे विद्युद्वये सदिग्धरवार्धरप  
सदेर्दनिपृक्तये दातव्यानीति ॥—

अर्थान्यत्राभ्यामपि तद्गुलादीनि दिव्यानि सन्ति—'घटोऽग्निदहक स्यै  
विव कोशरसधैव च । तद्गुलाश्चैव दिव्यानि सप्तमरसमापक ॥' इति वितामह-  
स्मरणात् । अत एवमेतावगवदेवत आह—

मदाभियोगोपेतानि

एतानि महाभियोगेभ्येव नाम्यत्रेति निवसन्ते न पुनरिमाभ्येव दिव्या  
नीति । महत्वादि च कथयति । अथशामियोगेऽपि काश<sup>१</sup> इत्यने; 'कोश  
मण्डोऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् । सायम् । कोशस्य तुलादिषु पात्रा न मदा-  
भियोगेभ्येति नियमायं, किन्तु मापटमभियोगेऽपि प्राप्यये । अथमा  
दाभियोगे एव स्यात् । 'अथशामाभियुक्तानो घटादीनि विनिर्दिनेत् । तद्गु  
लाश्चैव कोशरस दान्तरवेव न सन्त्य ॥' इति स्मरणात् ॥

१. उत्तमर्गं अथ । २. क्षिभिरास्य । ३. सदिग्ध । ४. अथप्राग्वा ।  
५. योगे रतेनाति । ६. कोशोऽस्यवेव ।

महाभियोगेषु शङ्कितेषु सावष्टम्बेषु चाविशेषेण प्रासावपवादमाह—

—शीर्षकस्थेऽभियुक्तरि ॥ ९५ ॥

एनानि तुलादीन्मभियुक्तरि शीर्षकस्थेऽभियुक्तस्य भवन्ति । शीर्षक शिरो व्यवहारस्य चतुर्थं पादो जयपराजयलक्षणरतेन च दण्डो लक्ष्यते, तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थ तस्ययुक्तदण्डभागिरथम् ॥ ९५ ॥

भाषा—तुला, अग्नि, जल, विप और कोश ये दृढि (सदेह निवृत्ति) के लिये दिव्य कहे गये हैं। इनका प्रयोग महाभियोगों में होता है और वह भी प्रमुख अभियुक्त के लिए अभियोक्ता के शीर्षकस्थ होने पर किया जाता है (शीर्षकस्थ = जय पराजय का भागी।) ॥ ९५ ॥

'ततोऽर्धां खेस्येस्त्वद्य प्रतिज्ञानार्थसाधनम्' ( ९० ७ ) इति भाषप्रतिज्ञावादिन एव 'क्रियेति व्यवस्था इक्षिता तदपवादायमाह—

रुच्या घाऽभ्यतर. कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।

रुच्याभियोक्त्रभियुक्तो वरस्वरसप्रतिपरायाऽभ्यतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यं कुर्यात् । इतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा शिरः शारीरमर्धदण्ड वा वर्तयेदङ्गीकुर्यात् । अवमभिसन्धि — न मानुषप्रमाणवद्विष्य प्रमाण भावैकगोचर भवि तु भावाभावाविशेषेण गोचरयति । अतश्च सिध्योक्ते प्रत्यवस्कन्दने प्राहृ म्वाये घाऽर्धप्रसर्पिनोरन्यतरस्येच्छया दिव्य भवतीति ॥—

अवपाभियोगे महाभियोगे शङ्कासावष्टम्बयोरव्यविशेषेण कोशो भवतीत्युक्त, तुलादीनि विपवाप्तानि तु महाभियोगेष्वेव सावष्टम्बेष्वेवेति च निषमो दर्शित । तत्रावष्टम्भाभियोगेष्वेवेश्वस्यापवादमाह—

विनापि शीर्षकारकुर्यान्नुपद्रोहेऽथ पातके ॥ ९६ ॥

राजद्रोहाभिज्ञाया प्रसहत्वादिपातकाभिज्ञायां च शिरःस्थापितानि विनापि तुलादीनि कुर्यात् महाचौर्याभिज्ञायां च । यथाह—'राजभिः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दम्भुभिः । आरमशुद्धिपराणां च दिव्य देव शिरो विना ॥' इति । तण्डुला पुनरुपचौर्यशङ्कायामेव ।—'चौर्यं तु तण्डुला देवा मान्यत्रेति विभिन्नय' इति वितामहवचनात् । तस्यमापस्तु महाचौर्याभिज्ञायामेव, 'चौर्यं शङ्काभियुक्तानां तस्यमापो विधीयते' इति स्मरणात् । अन्ये पुनः शपथा अवपार्थविपया, 'सत्यं वाहनसंस्त्राणि गोवीजकनकानि च । देवतापितृवार्दांश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥ इष्टोत्पिरासि पुत्राणां दाराणां सुहृदा तथा । अभियोगेषु

सर्वेषु<sup>१</sup> कोशयानमप्यापि वा ॥ इत्येते शपथा मोक्षा मनुना स्वरूपकारणे ॥' इति नारदस्मरणत् ॥ यद्यपि मानुषप्रमाणानिर्णयस्य निर्णायक यत्तद्विद्वमिति लोकप्रसिद्धया शपथानामपि दिव्यत्वं तथापि कालान्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन सम-  
नन्तरनिर्णयनिमित्तेभ्यो घटादिभ्यो दिव्येभ्यो मेदस्त्वव्यपदेशो ग्राह्यपरिवाजक-  
वत् । कोशस्य तु शपथस्वेऽपि घटादिषु पाठो महाभियोगविषयत्वेनावष्टम्भाभिवो-  
गविषयत्वेन च घटादिमाभ्यान्नतु समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन । तण्डुलानां तप्त-  
मापस्य च समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेऽप्यशपथविषयत्वेन शङ्काविषयत्वेन च घटादि-  
वैलक्षण्यसाधनेषुपाठ इति सतोऽप्ययम् । एतानि च दिव्यानि शपथाश्च यथासमवष्टगा-  
दिषु विवादेषु प्रयोक्तव्यानि । यत्तु—पितामहवचनम् 'स्थावरेषु विवादैषु दिव्यानि  
परिवर्जयेत्' इति, तद्यपि लिखितसामन्तादिसञ्ज्ञात्वे दिव्यानि परिवर्जयेदिति  
व्याख्येयम् । ननु विवादान्तरेऽपि प्रमाणान्तरसभवे दिव्यानामनवकाश  
एव । सरयम् । प्रणादिषु विवादिषु उक्तलक्षणसाध्युपन्यासेऽर्थिना कृतेऽपि  
प्रथमं यदि दण्डाभ्युपगमावष्टम्भेन दिव्यमवलम्ब्यते तदा दिव्यमपि  
भवति । 'सात्त्विकामाशयशोपसम्भवादि-परस्य च निर्दोषत्वेन परतुल्यविषय-  
त्वात्तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य । यथाह वारद—'तत्र सत्य स्थितो धर्मो  
व्यवहारस्तु सात्त्विकः । देवसाधये पीरुपेयी न लेख्य वा प्रयोजयेत् ॥' इति ।  
स्थावरेषु च विवादिषु प्रथमिना दण्डावष्टम्भेन दिव्यावलम्बने कृतेऽपि  
सामन्तादिदण्डप्रमाणसञ्ज्ञात्वे न दिव्य ग्राह्यमिति विश्वविराकरणार्थं 'स्थावरेषु  
विवादिषु' इत्यादिपितामहवचन नात्यन्तिकदिव्यविराकरणार्थम्, लिखितसा-  
मन्ताद्यभावे स्थावरविवादेऽप्यनिर्णयप्रसङ्गात् ॥ ९३ ॥

भाषा—अथवा इष्टानुसार इ-है अभियुक्त और अभियुक्ता दोनों में  
किसी के लिये किया जाता है, अथवा वे दोनों ही दारौरीक या आर्थिक दण्ड  
शुकीकार करें । राजद्रोह और गृहहत्यादि पातक में बिना जप परानप के  
विचार के इनका प्रयोग किया जाता है ॥ ९६ ॥

दिव्ये साधारणविधि —

सचैलं ज्ञातमाहूय सूर्योदय उपोषितम् ।

कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपग्राह्यणसंनिधौ ॥ ९७ ॥

किंच, पूर्वशुभोचितमुदिते सूर्ये सचैलं ज्ञात दिव्यग्राह्यमाहूय नृपस्य  
सम्माना च ग्राह्यणाना संनिधौ सर्वाणि दिव्यानि कारयेत्साहचर्यात् 'त्रिराश्रो-

१ साध्येषु । सर्वेषु कोशयान । २. नारदादि । ३. नन्तरनिमित्तनिर्ण-  
येभ्यो । ४. न्तरसञ्ज्ञात्वे । ५. उक्तलक्षणे । ६. माशये शोप । ७. सचैलं ज्ञान-  
माहूय ।

पोषिताय स्युरेकरापोषिताय वा । नित्यं दिव्यानि देवानि शुचये चार्द्रवाससे ॥  
 इत्युपवासविशेषः पितामहेनोक्तो बलवद्बलवन्महाकार्याक्षपकार्याविषयत्वेन  
 स्ववस्थितो द्रष्टव्यः । उपवासनिश्चयश्च कारवितुः प्राह्विवाकस्यापि—‘दिव्येणु  
 सर्वकार्याणि प्राह्विवाकः समाचरेत् । अभ्यरेषु यथाभ्यर्च्युः सोपवासो नृणाञ्जया ॥’  
 इति पितामहवचनात् ॥ अत्र यद्यपि सूर्योदय इत्यविशेषोक्तं, तथापि शिष्ट-  
 समाचारादानुवाचरे दिव्यानि देवानि । तत्रापि—‘पूर्वाह्नेऽग्निपरीक्षा स्यात्पू-  
 र्वाह्ने च घटो भवेत् । अभ्याह्ने तु जल देयं धर्मतरश्चमनीप्सताम् ॥ दिवसस्य  
 तु पूर्वाह्ने कोशशुद्धिर्विधीयते । रात्री तु पश्चिमे वामे विषं देयं सुशीतलम् ॥’  
 इति पितामहोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः ॥ अनुष्णकालविशेषाणां तण्डुलतप्तमाप-  
 प्रभृतीनां पूर्वाह्ण एव प्रदानम्; ‘पूर्वाह्ने सर्वदिव्यानां प्रदानं परिकीर्ति-  
 तम्’ इति सामान्येन नारदस्मरणात् । अहनि त्रिधा विभक्ते पूर्वो  
 भागः पूर्वाह्णः, मध्यमो मध्याह्नः, उत्तरोऽपराह्णः । तथापरोऽपि काल-  
 विशेषो विधिप्रतिषेधमुखेन दर्शितः । विधिमुखस्तावत्—‘भग्नेः शिशि-  
 रहेमन्तो वर्षाश्रैव प्रकीर्तिताः । शरद्ग्रीष्मेषु सलिलं हेमन्ते शिशिरे विषम् ॥  
 चैत्रो मार्गशिरश्वेव वैशाखश्च तथैव च । एते साधारणा मासा दिव्यानामविरो-  
 धिनः ॥ कोशस्तु सर्वदा देवस्तुला स्यात्सर्वकालिकी ॥’ इति । ‘कोश’ प्रहर्णं  
 सर्वशपथानामुपलक्षणम् । तण्डुलानां पुनर्विशेषानभिधानात्सर्वकालिकत्वम् ।  
 प्रतिषेधमुखोऽपि—‘न शीते तोयशुद्धिः स्वाप्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् । न प्रायुषि  
 विष दद्यात्प्रवाते न तुला तथा ॥ नापराह्णे न सन्ध्यायां न मरदाह्ने कदाचन ॥’  
 इति । ‘न शीते तोयशुद्धिः स्या’दित्यत्र ‘शीत’ शब्देन हेमन्त शिशिर-वर्षाणां  
 ग्रहणम् । ‘नोष्णकालेऽग्निशोधन’मित्यत्र ‘उष्णकाल’ शब्देन ग्रीष्मशरदोः  
 विधानलक्ष्यस्यापि पुनर्निषेध आदर्शार्थः; प्रयोजनं तु वक्ष्यते ॥ १७ ॥

भाषा—( सप्तम्येने वाले को ) पहले दिन उपवास कराके सूर्योदय के  
 समय ब्रह्म सहित स्नान कराके तुलावे भीर राजा तथा ब्राह्मणों के समय सभी  
 दिव्य करावे ॥ १७ ॥

अधिकारिभ्यवरथाप्राह—

तुला स्त्रीवालवृद्धान्घण्टुग्राह्यणरोमिणाम् ।

चान्निर्जलं वा शूद्रस्य यथाऽसत् विपस्य वा ॥ १८ ॥

स्त्री स्त्रीमात्रं चातिवयोवस्थाविशेषानादरेण, बाल आ पाँचशादूर्ध्वार्द्राणि-

१ कोशसिद्धिः । २. अनुष्णवेला । ३. प्रथमो भागः । ४ उष्णः ।

५. तोयसिद्धिः स्यात् ।

विशेषानादरेण, वृद्धोऽशीतिकावर, अ-धो नेत्रविकल पद्भु पादविकल, ब्राह्मणो जातिमात्रम् रोगी व्याधित, एतेषां शोधनार्थं तुल्यैवेति नियम्यते । अग्नि फालस्तप्तभापश्च क्षत्रियस्य । जलमेव वैश्यस्य । 'वा' शब्दोऽवधारणे । विपस्य यदा उक्तपरिमाणा सप्तैव शूद्रस्य शोधनार्थं भवन्ति । ब्राह्मणस्य तुलाविधानात् 'शूद्रस्य यदा सप्त विपस्य घा' इति विपविधानादग्निर्जल वेति क्षत्रियवैश्यविपयमुक्तम् । एतदेव स्पष्टीकृतं पितृमहान—'ब्राह्मणस्य घटो देव क्षत्रियस्य हुताशन । वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विप शूद्रस्य क्षापयेत् ॥' इति । यत्तु श्यादीना दिव्याभान्तरमरणम्, 'सद्यतानां श्रुतानां व्याधिताना तपरिधिनाम् । स्त्रीणां च न भवेत्क्षि-य यदि धमराषपेक्षित ॥' इति, तत् ह्यया वाऽभ्यतरं कुर्वात् ( १०० १६ ) इति विवक्ष्यनिवृत्त्यर्थम् । एतदुक्तं भवति—'अवष्टम्भाभियोगेषु श्यादीनामभियोगेष्वेऽभियोगदानामेव दिव्य, एतेषामभियोग-श्वेऽप्यभियोगेषुमेव दिव्यम् । परस्पराभि रोगे तु वि-व्य एव । तत्रापि तुल्यैवेति कार्यायनवचनेन नियम्यते । तथा महापातकादिशुद्धाभियोगे श्यादीनां तुल्यैवेति एतच्च वचनं सर्वदिव्यसाधारणेषु मार्गशिरश्चैत्रवैशाखेषु श्यादीनां सर्वं दिव्यसमवधाने नियामकतयार्थवत् । नच सर्वकालं स्त्रीणां तुल्यैवेति, स्त्रीणां तु न विप प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम् । घटकोशादिभिस्तासामभ्यतरं विचारयेत् ॥' इति विपसलिलभ्यतिरिक्तघटकोशाभ्यादिभिः शुद्धिविधानात् । एव ब्राह्मणदिव्यपि योजनीयम् । 'तथा ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनि-यम, 'सर्वेषामेव वर्णानां कोशशुद्धिविधीयते । सर्वाभ्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विप विना ॥' इति पितृमहान्तरमरणात् । तस्मात्साधारणे काले बहुदिव्यसमवधाने तुलादिनियमाद्यमेवेदं वचनम् । कालान्तरे तु तस्मिन्कालविहितं सर्वेषाम् । तथाहि—पर्वात्स्वग्निरेव सर्वेषाम् । हेम तसिश्चिरमेस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्नि-विपयोर्विकल्प । ब्राह्मणस्य स्वग्निरेव न कदाचिद्विपम्, 'ब्राह्मणस्य विप विना' इति प्रतिषेधात् । ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव । येषां तु व्याधिविधेयानाद्यादि निषेध —'दुष्टिनां वर्जवेदग्निं सलिलं श्वासकासिनाम् । पितृश्लेष्मघ्नतां निरथ विप तु परिवर्जयेत् ॥' इति तपामग्न्यादिकालेऽपि साधारणं तुलाद्य<sup>३</sup> दिव्यं भवति ॥ तथा 'तोयमग्निर्दिव्यं चैव दातव्यं बलिना नृणाम्' इति 'वचनाद्दुर्बला नामपि सर्वथा विधिप्रतिषेधोऽस्तुकालान्तकमेव जातिवयार्थव्याधितानि दिव्यानि देयानि ॥ १८ ॥

१ सार्वकाल । २ यथा । ३ तुला दिव्य । ४ दुर्बलानामिति सर्वदा । ५ प्रतिषेधादत उक्तकालानति । ६ वर्यानाथितानि ।



भाषा— स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्ध, पशु, ब्राह्मण एव रोगी के लिए तुला का दिव्य करे । अत्रिय के लिए अग्नि का, वैश्य के लिए जल का, भीरु युद्ध के लिये सात वर्ष के बराबर विष का दिव्य होता है ॥ १८ ॥

‘महाभियोगेष्वेतानि’ ( व्य० १५ ) इत्युक्त, तत्राभियोगस्य यदेषु मह-  
 १५ तदिदानीमाह—

नासहस्राद्धरेत्फालं न विषं न तुलां तथा ।

पणसहस्रावर्षां फाल विष तुलां वा न कारयेत् । मध्यवर्ति जलमपि ।  
 पथोक्तम्—‘तुलादीनि विपा-तानि गुरुत्वेषु दापयेत्’ इति । अत्र कोशस्याप्र-  
 हण ‘कोशमवपेऽपि दापयेत्’ इत्यव्याभियोगेऽपि नस्य स्मरणात् । एतानि  
 चत्वारि दिव्यानि पणसहस्रादूर्ध्वमेव भवन्ति नार्वागिपर्यं ॥ नन्दर्वागध्या-  
 धीनि पितामहेन दर्शितानि—‘सहस्रे तु घट दद्यात्सहस्राधे तथापसम् । अर्ध-  
 र्थाधे तु सलिल तस्याधे तु विष स्मृतम् ॥’ इति सत्यम् ।—तत्रैव व्यवस्था  
 यद्द्रव्यापहारे पातित्य भवति तद्विषय पितामहवचन, इतरद्रव्यविषय योगी  
 श्वरवचनमिति । एतच्च वचनद्वय स्तेयसाहसविषयम्, अपहारे तु विशेषे दर्शित  
 कात्यायनेन—‘इत्तस्यापहारे यत्र प्रमाण तत्र कल्पयेत् । स्तेयसाहसयोर्दिव्य  
 स्वपेऽर्धे प्रदापयेत् ॥ सर्वद्रव्यप्रमाण तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् । हेमप्रमाण  
 युक्त तु तथा दिव्य नियोजयेत् ॥ ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां घतनाशे विष  
 स्मृतम् । अग्नीतेस्तु विनाशे वै दद्यात्सर्वं कृताशनम् ॥ पृथक् नाशे जल देय  
 चत्वारिंशति वै घटम् । विशोद्गमविनाशे तु कोशपान विधीयते ॥ पञ्चाधिकस्य  
 वा नाशे सतोऽर्धाधेय तण्डुला । सतोऽर्धाधेविनाशे द्वि रदुशोऽुग्रादिमस्त-  
 कान् ॥ सतोऽर्धाधेविनाशे तु कौकिलवज्र क्रिया स्मृता । एव विचारयन्नामा  
 यर्माध्याध्यां न हीयते ॥ इति ‘ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानाम्’ इत्यत्र ‘सुवर्णशब्द-  
 ‘योद्धता माया सुवर्ण’ ( भा० ३१३ ) इत्युक्तपरिमाणवचनः । ‘नाश’शब्द-  
 प्रापहवचन । ‘नासहस्राद्धरेत्फालम्’ इत्यत्र तु तात्रिकपणसहस्र बोद्धव्यम् ॥—

ननु नृपद्रोहे महापातके चैतानि दिव्यान्मुक्तानि, तस्यैव ‘नासहस्राद्धरे-  
 त्फालम्’ ( व्य० १९ ) इत्यत्राह—

नृपाधेऽभिशापे च घटेषु शुचयः सदा ॥ १९ ॥

नृपद्रोहेषु महापातकाभियोगे च सदा द्रव्यसत्त्वामन्येषु चैतानि दिव्यानि  
 घटेषु कुपुंरुपकासादिना शुचयः स-तः । तथा देशविशेषोऽपि नारद

१ यदेषु । २ तत्रैव व्यवस्था । ३ दद्यादेव । ४ दद्यात् त्रिंश-  
 दिनाशे तु । ५ अभिशापेषु । ६ नृपद्रोहेषु ।

नोक्त — 'सभाराजकुलद्वारदेवायननक्षत्रे । निधेयो निष्कल पृथ्वी धूपमाद्यपा-  
नुलेपने ॥' इति । निधेयो घट । ध्यवस्या च कात्यायनेभोक्ता—'इन्द्रस्थानेऽ  
भिदास्तानां महापातकिनां नृणाम् । नृपद्रोहे प्रवृत्तानां राजद्वारे प्रयोजयेत् ॥  
प्रतिलोभ्यप्रसूतानां दिव्यं देव चतुष्पथे । असौऽन्येषु सभामध्ये दिव्य देव  
विदुर्बुधा । अस्पृश्याद्यमदायानां श्लेष्मन्नां पापकारिणाम् । प्रातिलो-  
भ्यप्रसूतानां मिथ्यो न तु राजनि । सत्यसिद्धानि दिव्यानि सदापे सेषु  
'मिर्दिशेत् ॥' इति ॥ ९९ ॥

भाषा—सहस्र पण से कम के रिवाद में सप्तकाल, विप या तुला का  
( तथा जल का ) दिव्य न कराये । राजद्रोह और महापातक के अभिपोग में ये  
दिव्य सदैव पवित्रता के साथ कराये ॥ ९९ ॥

इति दिव्यमातृका ॥

एष सर्षदिव्योपयोगिर्ना दिव्यमातृकामभिधावेदावीं घटादिदिव्यानां  
प्रयोगमाह—

तुलाधारणविहङ्गिरभियुक्तस्तुलाधितः ।

प्रतिमानसमीभूतो रेखा कृत्वाऽघतारितः ॥ १०० ॥

'खं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता ।

तरसत्यं घट कल्याणि । संशयान्मां विमोचय ॥ १०१ ॥

यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां स्वमघो नय ।

शुद्धश्रेषु णमयोर्ष्व मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥ १०२ ॥

तुलाया धारण तोलन वे विदग्नि सुवर्णकारप्रभृतयस्तै प्रतिमानेन  
मृदादिना समीभूत समीकृतस्तुलामाधितोऽधिरुद्योऽभियुक्तोऽभियोक्त । वा  
दिव्यकारी रेखा कृत्वा येन सनिवेशेन प्रतिमानसमीकरणदशायां शिष्यतलेऽ-  
घस्थितस्तस्मिन्पाण्डुलेखेनाङ्गवित्वाऽवतारितस्तुलामभिमन्त्रयेत् प्रार्थयेतानेन  
मन्त्रेण—हे तुले । त्व सत्यस्य स्थानमसि । पुरा आदिदृष्टो देवैरिदम्यगर्भम  
श्रुतिनिर्विनिर्मितोऽस्मिदितः । तत्प्रमासत्य सदिग्धस्यार्थस्य स्वरूप च द दर्शय,  
कल्याणि शोभने । जरमासशयान्मां विमोचय । हे मात । यद्यह पापकृद्-  
सत्यवाचस्मि ततो मां स्वमघो नय । अथ शुद्ध सत्यवाचस्मि ततो मामूर्ष्व

१ ततोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधा । २ श्लेष्मन्नामपकारिणा ।

३. दापयेत् । ४. रेखा । ५. विशोधय । ६. पाण्डुलेखेन ।

गमयेति ॥ प्राङ्निष्ठाकरस्य तुलाभिमन्त्रणमन्त्रां स्मृत्यन्तरोक्ता, अथ तु दिव्य-  
कारिण । जयपराजयलक्षणं तु मन्त्रलिङ्गादेवावगम्यत इति न पृथगुक्तम् ॥  
घटनिर्माणं पुनराशोढणाद्यर्थभिद्धमेव पितृमहानरदादिभिः स्वष्टीकृतम् । तद्यथा-  
'द्विषा तु पश्चिमं पृष्ठं मूर्ध्नि-ग्रन्थपूर्वकम् । प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या  
मनीषिभिः ॥ मन्त्रं सौम्यो वानस्पत्यश्चेदने जप्य एव च । चतुरष्टा तुला  
कार्या रदा ऋषी तथैव च । कटकानि च देवानि त्रिषु स्थानेषु चार्थवत् ।  
अतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तन्मयी ॥ अन्तरं तु तयोर्हस्तौ मवेदप्यर्ध-  
मेव वा । हस्तद्वयं निखेयं तु पादयोर्दक्षयोरपि । तोरणे च तथा कार्यं पार्श्व-  
योर्दक्षयोरपि । घटादुत्पत्तरे स्यातां निरयं दक्षमिरहूतैः ॥ अवलम्बौ च कर्तव्यौ  
तोरेणाभ्यामधोमुखौ । मृन्मयी सूत्रसबद्धौ घटमस्तकचुम्बिनौ ॥ प्राङ्मुखौ  
निश्चलं कार्यं शुचौ देशे घटस्तथा । शिवपद्वयं समासुष्य पार्श्वयोर्दक्षयोरपि ॥  
प्राङ्मुखान्कल्पयद्भार्गवादिभ्योर्दक्षयोरपि । पश्चिमे तोलयैस्त्वत्तन्परिमन्त्रित्वा  
शुभात् ॥ पिटकं पूरयेत्स्मिन्निकाप्रावपांसुभिः । अत्र च मृत्तिहृत्काम्राव  
पांसूनां विकल्पः । 'परीक्षकां निषोक्त्यास्तुलामानविद्यारदा ॥ यणिजो हेमं  
काराञ्च कांस्यकारास्तथैव च । कार्यं परीक्षकैर्निःश्वस्यकल्पयस्यो भट ॥ नृक  
च मन्त्रात्तस्य घटस्योपरि पण्डितैः । परिमञ्चं प्लवते तोयं स विज्ञेयं समो  
धट ॥ तोलयिष्यान्नरं पूर्वं पश्चात्तमवतार्यं तु । घटं तु कारयेन्निःश्वस्य पताकापत्र  
जशोभितम् ॥ तत आवाहयेद् देवान्विधिनानेन मन्त्रवित् । वादित्रतूर्ण्योपैश्च  
गन्धमाक्षपांनुलेपनैः ॥ प्राङ्मुखं प्राञ्जलिभूत्वा प्राङ्निष्ठावस्नसो वदेत् । पृष्ठेहि  
मगवन्धर्मं भरिमन्दिष्ये समाविश ॥ सहितो लोकपालैश्च वरदादिवसहूतैः ।  
आवाह्यं तु घटे धर्मं पश्चाद्भ्रूजि विन्यसेत् ॥ इन्द्रं पूर्वं तु सस्थाप्य प्रेतेश  
दक्षिणे तथा । बरुणं पश्चिमे भागे कुबेरं चोत्तरे तथा ॥ अग्न्यादिलोकपालाश्च  
कोणभागेषु विन्यसेत् । इन्द्रं पीतो यमं श्यामो बरुणं रक्तिकप्रभं ॥ कुबेरस्तु  
सुवर्णाभो बह्विश्वापि सुवर्णभः । तथैव मिर्चति श्यामो वायुर्धृञ्च प्रशरयते ॥  
ईशानस्तु भवेद्रक्त एव श्यावेत्कभादिमान् । इन्द्रस्य दक्षिणे पार्श्वे बभ्रुना-  
शपयेद् बुधः ॥ घेरो ध्रुवस्तथा सोमं आपश्चैवानिलोऽनलः । प्रयूपश्च प्रभा  
सश्च वासवोऽष्टौ प्रकीर्तितः ॥ देवेशेऽनयोर्मप्य <sup>६</sup>आदित्यानां तथा गणम् ॥  
घाताऽर्चना च मित्रश्च बरुणोऽशुभं गस्तथा ॥ इन्द्रो विवस्वान्पूषा च पर्जन्यो  
दगमं स्मृतः । ततस्त्वष्टा तनो विष्णुरजघन्यो जघन्पद्म ॥ इत्येते

१. मन्त्रा स्मृत्यन्तरोक्ता । २. आन्तर । ३. हेमकारञ्च कांस्यकारः ।  
४. प्राञ्जलि प्राङ्मुखो भूत्वा । ५. ध्रुवोऽश्वरस्तथा सोमः । घेरो ध्रुवश्च सोमश्च ।  
६. आदित्यानां तवावनः । आदित्याराधनं तथा । ७. बरुणोऽशो भगः ।

द्वादशादिया नाममि परिकीर्तिता । १ अग्ने पश्चिमभागे तु रुद्राणाम-  
 पन विदुः ॥ वीरभद्रश्च शम्भुश्च गिरिश्च महायथा । अजैरुपाद्दिव्युप्य  
 पिनाकी चापराजित ॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च विदांपति । स्थानुर्भवश्च  
 भगवान् रुद्रास्येकादश स्मृतः ॥ प्रेतेश्वरस्योमप्ये तु मातृस्थान प्रकल्पयेत् ।  
 ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥ चाराही चैव माहेंद्री  
 चामुषडा गणसप्तुना । निर्यन्तेरत्ते भागे गणेशायतन विदुः ॥ पद्मस्वो-  
 त्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते । पत्रन स्वर्गानो वायुरनिष्टो भारतस्तथा ॥  
 प्राण प्राणेशजीवी च मरुतोऽष्टौ प्रकीर्तिता । घटस्थोत्तरभागे तु दुर्गामावाहयेद्  
 युध ॥ पतासां देवतानां तु स्वनाम्ना पूजन विदुः । भूपत्रतान धर्माय दावा  
 चाध्यादिक क्रमात् ॥ अर्वादिपश्चाद्द्वाना भूपान्तमुपकल्पयेत् । गन्धादिकां  
 नैवघ्नान्तां परिधर्षां प्रकल्पयेत् ॥' इति । अत्र च तुलां पताकापत्रजालकृता  
 विधाय तस्यां 'प्रोही'ति मन्त्रेण घर्ममावाह्य 'घर्मायार्थं कल्पयामि नम'  
 ह्यदादिना प्रयोगेणार्घ्यपात्राचमनायमधुपर्काचमनीयद्यानवस्त्रपशोपवीताचमनी-  
 यमुकुरकटकादिभूपान्त दावा इन्द्रादीनां दुर्गा-तानां प्रणवार्थं स्वनामभिश्च-  
 तुर्वन्तैर्नमोस्तैरर्घ्यादिभूपान्त पदार्थानुसमयन दावा धर्माय गन्धदुग्धपूपदीप  
 नैवघ्नादि दावा इन्द्रादीनां गन्धादीनि पूर्वहर्यात् । गन्धदुग्धाणि च घटपूजायां  
 रक्षानि कार्याणि । यथाह नारद — 'रक्षैर्गंधैश्च माक्षैश्च द्रव्यपूजास्तदिमि ।  
 भवयेत्तु घट पूर्व तत निर्हास्तु पूजयत् ॥' इति । इन्द्रादीनां तु विशेषानभि-  
 धानाघघालाभ रक्षैरन्यैर्वा पूजनमिति पूजाक्रम ॥ एतच्च सर्वं प्राङ्निष्ठाक  
 कुर्यात् । यथोक्तम्— 'प्राङ्निष्ठाकरस्ततो विप्रो वेदवेदाङ्गपारग । क्षुतपृत्तोप-  
 सपद्य शान्तचित्तो विमत्सर ॥ सत्यसद्य शुचिर्दृष्ट सर्वपाणिहिते रत । ऽपो  
 पित शुद्धवासा कृतवन्तानुधानन ॥ सर्वासा देवतानां च पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥'  
 तथा । ऋत्विग्भिश्चतुर्भिश्चतस्रु दिष्टु लौकिकास्तौ होम कार्यं । यथाह—  
 'चतुर्दिष्टु तथा होम कर्तव्यो वदपारगै । आग्नेन हविषा चैव समिद्धिर्होम-  
 साधनै ॥ सावित्र्या प्रगवेनाथ स्वाहा-तेनैव होमयेत् ॥' प्रणवादिना गापत्री  
 मुधार्थं पुन स्वाहाकारान्त प्रगवमुच्चार्य समिदाऽयचरु प्रत्येकमष्टोत्तरशत  
 जुहुवादिपर्यं । एव हवना-ता देवपूजां विधायानन्तरमभियुक्तमर्थं वक्ष्यमाण-  
 मन्त्रसहित पत्रे लिखित्वा तत्रैव शाप्य शिरोगत कुर्यात् । यथाह— 'वर्ष्यम  
 भियुक्तं स्वाङ्निष्ठाकं त तु पत्रक । मन्त्रेणानेन सहितं तत्रैव शिरोगतम् ॥'  
 मन्त्रत्रयायम्— 'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च सौर्भूमिरापो हृदय यमश्च । अहश्च

१ अग्ने पश्चिमदिग्भागे रुद्राणां स्थापन विदुः । २ निवेधान्ता परि-  
 धर्षां । ३ य चार्थमभियुक्तं स्यात् ।

राग्रिरथ उभे च तंये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति । एतच्च धर्मावा-  
हनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिश्यसाधारणम् । यथोक्तम्—  
'इमं मन्त्रविधिं कृत्स्नं सर्वदिश्येषु योजयेत् । भावाहनं च देवानां तथैव  
परिकल्पयेत् ॥' इति । अनन्तरं प्राद्विवाको घटमामन्त्रयेत्; 'घटमामन्त्रयेत्स्वैव  
विधिनानेन साद्यचित्' इति स्मरणात् । मन्त्राश्च दर्शिताः—'स्वं घट ! प्रह्वण्य  
मृतः परोक्षार्थं दुरात्मनाम् । धकाराद्धर्ममूर्तित्वं टकारात्कुटिलं नाम् ॥ एते  
भावपसे वस्माद्वरतेनाभिधीयते । त्वं वेरित सर्वजन्तूनां पापानि सुकृतानि  
च ॥ स्वमेव देव ! जानीये न विदुर्मानि मानवाः । व्यवहाराभिशास्तोऽयं  
मानुषः शुद्धिमिच्छति ॥ तदेन संशयादस्माद्धर्मतच्छात्तुमर्हसि ॥' इति । शोषयस्तु  
'स्वं तुल्ये' इत्यादिना पूर्वोक्तेन मन्त्रेण तुल्यमामन्त्रयेत् । अनन्तरं प्राद्विवाकः  
शिरोगतपत्रकं शोष्य यथास्थान निवेर्यै च घटमारोपयति; 'पुनरारोपयेत्त-  
स्मिन्निक्षुरोवस्थितपत्रकम्' इति स्मरणात् । आरोपितं च विनाहीपत्रकं यावत्त-  
थैवानस्थापयेत् । तत्कालपरीक्षां च ज्योतिःशास्त्राभिज्ञः कुर्यात् ; 'ज्योतिर्विद्  
प्राह्वणः श्रेष्ठः कुर्यात्कालपरीक्षणम् । विनाहव. पञ्च विज्ञेयाः परीक्षाकाल-  
कोविदैः ॥' इति स्मरणात् । दशगुर्वचरोवचारकालः प्राणः । पट्प्राणा  
विनाहो । उक्तं च—'दशगुरुकणं. प्राणः पट् प्राणाः स्याद्विनाहिका तासाम् ।  
पट्पटा घटी घटीनां वैष्ट्याह. साग्निभिर्दिनैर्मासः ॥' इति । तस्मिन् काले  
शुद्धयशुद्धिपरीक्षणार्थं शुचयः पुरुषा राज्ञा नियोक्तव्याः । ते च शुद्धयशुद्धी  
कथयन्ति । यथोक्तं पितृमहेन—'साक्षिणो ब्राह्मणाः श्रेष्ठा यथादृष्टार्थवादिनः ।  
ज्ञानिनः शुचयोऽस्तुभ्या नियोक्तव्या नृपेण तु ॥ संसन्ति साक्षिणः श्रेष्ठैः  
शुद्धयशुद्धी नृपे तदा ॥' इति । शुद्धयशुद्धिनिर्णयकारणं चोक्तम् ( नारदः  
१।१८३ )—'तुल्यो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः । समो वा हीयमानो  
वा न हीं शुद्धो भवेन्नरः ॥' इति । यत्तु पितृमहवचनम्—'अक्षरशेषः समो  
ज्ञेयो बहुशेषस्तु हीयते' इति, तत्र यद्यप्यभियुक्तस्यार्थस्याक्षरत्वं बहुत्वं च न  
द्विष्येनावधारयितुं शक्यते तथापि सकृदमतिपूर्वत्वेनाक्षरत्वमसकृदमतिपूर्वत्वेन  
च महत्वमिति दण्डप्रायश्चित्ताक्षरत्वमहत्वमवधार्यते । तथा चानुपलक्ष्यमाण-  
दृष्टकारण एव कलादीनां छेदो महो वा भवति तदाप्यशुद्धिरिव—( नारदः  
१।२८४ ) 'कक्षच्छेदे तुल्यमङ्गे घटककंटयोस्तथा । रज्जुच्छेदेऽप्यङ्गे च तथैवा-  
शुद्धिमादिशेत् ॥' इति स्मरणात् । अथ विषयतलम् । ककंटी तुलान्तयोः

१. सर्वमृतानां । २. स्वमेव सर्वं । ३. यथानिवेश च । ४. पट्पटा-  
होरात्र उक्तम् । ५. शोष्यशुद्धि । ६. सर्वे । ७ न विशुद्धो ।  
८. छेदे च मङ्गे च ।

शिवयाधारावीपद्वक्त्रावायसकीलकी कर्कटशृङ्गमंनिभौ । भवः पादस्तम्भयो-  
रपरि निविष्टस्तुलाधारपट्टः । यदा ॥ दरपमानकारणक पूर्वा भङ्गस्तदा पुनरा-  
रोपयेत् ; 'शिवयादिच्छेदैर्मङ्गेषु पुनरारोपयेन्नरम्' इति स्मरणात् । ततश्च—  
'श्रृत्विक्पुरोहिताचार्यान्दधिणाभिश्च तोपयेत् । एवं कारयिता राजा मुक्तरा  
भोगान्मतोरमान् ॥ महर्षी कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूषाय कथयते ॥' यदा तुक्तलघणं  
घटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा चायसाधुघातनिरासार्थं कपाटादिसहितं  
बालां कुर्वात् ; 'विद्यालामुज्जतां' शुभ्रां घटबालां ॥ कारयेत् । यत्रस्था मोप-  
हृष्येत श्वभिश्चण्डालवापसैः ॥ तत्रैव लोकपालादीन्सर्वाग्निद्वेषु निवेशयेत् ।  
त्रिसन्ध्यं पूजयेदेतान्गन्धमाह्वयानुलेपनैः ॥ कपाटबीजसंपुष्टां परिचारकर-  
क्षिताम् । मृत्पानीयाप्रिसंपुक्तामशुभ्यां कारयेन्मृगः ॥' इति स्मरणात् ।  
बीजानि यवशीलादीनि ॥ ॥ १००-१०२ ॥

भाषा—तौलने में जो निपुण ( सुवर्णकार आदि ) हों, उनसे अभियुक्त  
को तुला पर चढ़ा कर तौलावे और उसके बराबर जो मिट्टी आदि वस्तु हो  
उसके बराबर रखा बनाकर उसे तुला से उतारे । इसके बाद दिव्य करने वाला  
तुला को इस प्रकार प्रार्थना करे—हे तुला ! तुम सत्य के स्थान हो । भादि-  
काल में देवताओं ने तुम्हारी सृष्टि की है । हे कल्पाणी ! तुम सत्य को प्रकट  
करो और मुझे इस संशय से विमुक्त करो । हे माता, यदि मैं पापी हूँ तो  
मुझे नीचे ले जाओ और यदि मैं निर्दोष हूँ तो मुझे ऊपर उठाओ ॥ १००-१०२ ॥

इति घटविधिः ॥

श्वानीं ३क्रममाप्तमग्निदिव्यमाह—

करौ विमृदितमीहेर्लक्षयिस्था ततो न्यसेत् ।

सप्तोश्वत्थस्य पत्राणि तौघत्सूत्रेण घेष्टयेत् ॥ १०३ ॥

विश्वमातृकोकमाधारणधर्मेषु सस्य तुलाविधानोक्तधर्मावाहनादितिरःपत्रा-  
रोपणान्ते च विन्यन्ते सत्यवमग्निविधौ विशेषः । विमृदितमीहेर्विमृदिता  
विपरिष्ठा मीहय कराम्यां येनासौ विमृदितमीहिरस्तस्य करौ लज्जयिवा  
त्रिलकालकर्मणिणादित्यनेश्वलककरसारिनाऽऽहयिवा । यथाह नारदः  
( ११२०१ )—'हरतचतेषु सर्वेषु कुर्वाद्धसपदानि तु' इति । अनन्तरं सप्ताश्वत्थस्य  
पत्राणि हरतयोरञ्जलीकृतयोर्न्यसेत्—'पत्रैरञ्जलिमापूर्य आश्वत्थैः सप्तभिः समैः'

१. मङ्ग्रे तु । २. मुत्तित्तां । ३. अग्निविधिः । अग्निविधानं ।  
४. ततोही लज्ज । ५. सप्त आश्वत्थपत्राणि । ६. तावत्सूत्राणि घेष्टयेत् ।  
. पत्राणि ।

इति स्मरणात् । तानि च 'हस्तसहितानि सूत्रेण सावद्वेष्टयेत् । चावन्त्यथप  
 नानि सप्तकृत्वो वेष्टयेदित्यर्थं । सूत्राणि च सप्त शुक्लानि भवन्ति—वेष्टयीत  
 सितैर्हस्तैः सप्तभिः सूत्रतन्तुभिः' इति नारदवचनात् । तथा सप्त रामीपत्राणि  
 सप्तैव दूर्वापत्राणि चाक्षतांश्च दप्यन्तानक्षतांश्चाथपत्राणामुपरि विन्यसेत् ।  
 'सप्त विष्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान् । दूर्वायां सप्त पत्राणि दध्यन्तींश्चाक्ष-  
 ता-न्यसेत् ॥' इति स्मरणात् । तथा कुसुमानि च विन्यसेत्, 'सप्त विष्पलप-  
 त्राणि अक्षता-सुमनो दधि । हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र सूत्रेणवेष्टेन तथा ॥' इति पिता  
 महवचनात् । सुमनस पुष्पाणि । यद्यपि स्मरणम्—'अथस्तप्त तु पाणिभ्याम-  
 कं पत्रैस्तु सप्तभिः । अन्तर्हितं हस्तं शुद्धमदग्धं सप्तमे पदे ॥' इति, तदप्यथ-  
 थपत्राभावेऽकंपत्रविषय वेदितव्यम्, अथपत्राणां पितामहप्रशसायचनेन सुख्य  
 स्वावगमात्—'विष्पलाज्जायते चङ्कि विष्पलो वृषराट् स्मृत । अतस्तस्य तु  
 पत्राणि हस्तयोर्विन्यसेद् बुध ॥' इति १०३ ॥

ध्याया—अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में धान मलवा कर  
 हथेलियों पर बने हुए पत्रादि के स्थानों पर अलकक रस से चिह्न बनवाकर  
 उसके ऊपर पीपल के सात पत्ते रखे और उ हें ( सात श्वेत ) धागों से छपट  
 देवे ॥ १०३ ॥

कर्तार-अभिमन्त्रणमाह—

त्वमग्ने ! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक ! ।

साक्षिघटपुण्यपापेभ्यो मूढि सत्यं कवे ! मम ॥ १०४ ॥

हे अग्ने ! त्व सर्वभूतानां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानामन्त घारी  
 रात्र्य तरे चरसि उपयुक्तान्नानादीनां पावकत्वेन वर्तसे । पावक इच्छिहेतो !  
 कवे क्ना-तर्क्षिन् । साक्षिघट पुण्यपापेभ्यः सत्यं मूढि । 'पुण्यपापेभ्यः' इति  
 वयङ्कोपे पञ्चमी । पुण्यपापान्यवेष्टव सत्यं मूढि दर्शयेत्त्वथ । अथ विण्ठे त्रिभि-  
 स्तापैः सप्तैः सददीप पुरत आनीते कर्ता अभिमन्त्रण्डले प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अनेन  
 मन्त्रेणार्चि अभिम त्रयेत् । यथाह नारद (१।२८८-८९)—'अग्निधर्ममथ विण्ठं  
 सस्फुलिङ्गं सुरञ्जितम् । तापे तृतीये सनाप्य ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतम् ॥' इति ।  
 अथार्थं लोहशुद्धवर्धं सुतप्त लोहविण्ठमुच्यते निक्षिप्य पुन सताप्योदकं निक्षि-  
 प्य तृतीये तापे सताप्य सदशेन गृहीत्वा पुरत आनीते सत्यपुरस्कृत सत्यशब्द  
 युक्त 'त्वमग्ने सर्वभूतानाम्' इत्यादिम अ कर्ता मूवादिनि ॥ साक्षिघटाकरतु मण्ड-  
 लभूषागाहचिणप्रदेशे लौकिकमग्निमुपसमाधाय 'अग्नेये पावकाय स्वाहा' इत्या-

उपेनाष्टोत्तरशतवारं जुहुयात् ; 'शान्त्यर्थं जुहुयादग्नौ घृतमष्टोत्तरं शतम्' इति  
 स्मरणात् । इत्था च तस्मिन्सप्तगनावयःपिण्डं प्रक्षिप्य तस्मिन्सप्तगव्यमाने धर्मावाह-  
 नादिद्वयान्तं पूर्वोक्तं विधिं विधाय तृतीये तापे वर्तमाने अयःपिण्डस्यमग्निमे-  
 भिमन्त्रैरभिमन्त्रयेत्—'स्वमग्ने ! वेदाश्चावारस्यं च यज्ञेषु हृद्यसे । त्वं सुरा सर्वदे-  
 वानां त्वं सुरां ब्रह्मवादिनाम् ॥ जठरस्यो हि भूतानां ततो वेरिस्त्वि शुभाष्टमम् । पापं  
 पुनासि धै यस्मात्सप्तमात्पावक ! उच्यसे । पापेषु दर्शयात्मानमर्षिष्मान्भव पावक ! ।  
 भयवा शुद्धभाषेषु शीतो अथ हुताशन ! ॥ स्वमग्ने ! सर्वदेवानामन्तश्चरसि  
 साक्षिष्व । त्वमेव देव ! जानीये न विदुर्यानि 'मानुषाः ॥ अप्यहाराभिगस्तोऽयं  
 आनुषः श्रुदिमिच्छति । तदेवं संतायाद्दस्माद्धर्मतत्त्वात्तुमर्हसि ॥' इति ॥ १०४ ॥

भाषा—( इसके बाद दिव्य करने वाला प्रार्थना करे )—हे अग्नि ! तूम  
 सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हो । हे पवित्र करने वाले, क्लान्तदर्शी कधि  
 सुख्य और पाप के साक्षी होकर सब को प्रकाशित करो ॥ १०४ ॥

तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम् ।

अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं दस्तयोरुभयोरपि ॥ १०५ ॥

अपि च, तस्य कर्तुरित्युक्तवतः 'स्वमग्ने सर्वभूतानामि'त्यादिभिर्मन्त्रैरभि-  
 मन्त्रणं कृतवतो लौहं षोडशिकारं पिण्डं पञ्चाशत्पलिकं पञ्चाशत्पलसंमितं  
 सममन्त्राहितम् । सर्वतश्च समं घृतं शुष्यं तथाऽष्टाहुलायामम् ; 'असद्दीनं समं  
 घृत्वा अष्टाहुलमद्योमथम् । पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाशत्पलिकं समम् ॥ इति  
 पितृमन्त्रस्मरणात् । अग्निवर्णमग्निस्तद्वत्तुभयोरुर्हस्तयोरथपप्रदधिपूर्वाद्य-  
 स्तरितयोर्न्यसेत्पिण्डेप्रोक्षितवत् ॥ १०५ ॥

भाषा—उसके देता कहने के बाद उसके दोनों हाथों पर पचास पल  
 लौह का लोहे का पिण्ड अग्नि के समान लाल करके रखे ॥ १०५ ॥

ततः किं कुर्यादित्यत आह—

स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्मजेत् ।

स पुरपरान्तं षष्ठलोहपिण्डं अक्षलिना गृहीत्वा सप्त मण्डलानि शनैर्मजेत् ।  
 पृथकारेण मण्डलेष्वेव पद्व्यासं मण्डलानतिक्रमणं च दर्शयति । यथाह पितृ-  
 मन्त्रः—'न मण्डलमतिक्रामेन्नाप्यर्वाकृथापयेत्पद्व्य' इति ॥—

सप्तैव मण्डलानि शनैर्मजेदित्युक्तं, तत्रैकैकं मण्डलं किंप्रमाणकं मण्डलयो-  
 रन्तरं च किंप्रमाणकमित्यत आह—

षोडशाहुलकं श्रेयं मण्डलं तावदन्तरम् ॥ १०६ ॥



पोदश अङ्गुलानि यस्य तत् पोदशाङ्गुलकम् । पोदशाङ्गुलप्रमाण मण्डल  
 षोडश्वम् । मण्डलयोरन्तर मध्य च तावदेव पोदशाङ्गुलकमेव ।—सप्त  
 मण्डलानि यत्रेदिनि वदता प्रथममस्थानमण्डलमेकमुक्तम् । अत आष्टमण्ड  
 लानि पोदशाङ्गुलकानि मण्डलानाम-तराणि मस्थानीत्यर्थ । मण्डला-तराणि तु  
 सप्त तावत्प्रमाणानि ॥ एतदेव नारदेन परिसम्प्रायोक्तम् ( १।२७५, ७६ )—  
 'द्वात्रिंशदङ्गुल प्राहुर्मण्डला-मण्डलान्तरम् । अष्टमिमण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्व  
 यम् । चत्वारिंशत्समधिक भूमेरङ्गुलमानत ॥' इति । अथमर्थ—अवस्थानम  
 ण्डलारोहशाङ्गुलाण्यमण्डला-तरमन्यमण्डलम् । द्वितीयाद्येकमेक द्वात्रिंशदङ्गुल  
 सात्तराल, तदेवमवस्थानमण्डल पोदशाङ्गुलम् । य त्वानि च सप्त मण्डलानि  
 सात्तरालानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि । एवमष्टाभिर्मण्डलैश्चत्वारिंशत्समधिक शतद्वय  
 भूमेरङ्गुलमानतोऽङ्गुलमानमिति सार्वविभक्तिकस्तसि । अस्मिन्स्तु पक्षेऽवस्थानम  
 ण्डल पोदशाङ्गुल विधाय द्वात्रिंशदङ्गुलप्रमाणानां सप्तानां सा-त्तरालमण्डलभू  
 भागानामेकमेक भूभाग द्विधा विभज्या-त्तरालभूभागोपोदशाङ्गुलप्रमाणानि-व  
 हाय मण्डलभूभागेषु द्विपोदशाङ्गुलप्रमाणेषु गानुपव्यवस्थानानि सप्त मण्डलानि  
 कार्याणि । यथा तेनैवोक्तम् ( नारद १।२९९ )—'मण्डलस्य प्रमाण तु कुर्वा  
 त्पदसमितम्' इति । यत् पितामहे'रोक्तम्—'कारये मण्डला-वष्टी पुरस्तात्  
 धम तथा । आग्नेय मण्डल चाद्य द्वितीय वारुण स्मृतम् ॥ सूतीय वायुदैवस्य  
 चतुर्थ धमदैवतम् । पञ्चम त्विन्द्रदैवस्य षष्ठ कौबेरमुच्यते । सप्तम सोमदैवस्य  
 सावित्र त्वष्टम तथा । नवम सूर्यदैवस्यमिति दिग्बिहो विदु ॥ द्वात्रिंशदङ्गुल  
 प्राहुर्मण्डला-मण्डला तरम् । अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् ॥ यद  
 पञ्चाशत्समधिक भूमेस्तु परिकल्पना । ऋतुं पदसम कार्यं मण्डल तु प्रमा  
 णत ॥ मण्डले मण्डले देया कुशा सास्त्रप्रचोदिता ॥' इति ।—तत्र नवम सर्व-  
 दैवस्यमपरिमिताङ्गुलप्रमाण मण्डल विहावाष्टाभिर्मण्डलैश्चाभिज्या-तरालै प्रत्येक  
 षोडशाङ्गुलप्रमाणैरङ्गुलानां षटपञ्चाशदधिक शतद्वय सपद्यते । तत्रापि गत  
 स्थानि सप्तैव मण्डलानि । यत् प्रथमे तिष्ठति नवमे क्षिपतीति न विद्वद्वने ।  
 अङ्गुलप्रमाणं च— तिर्यग्यधोदराण्यष्टावूर्णा वा ग्रीहयस्य च । प्रमाणमङ्गुलरपोक्त  
 वितस्तिर्द्वाटंशाङ्गुला ॥ हस्तो वितस्तिर्द्वितय दण्डो हरतत्पुष्टयम् । तत्सहस्रद्वय  
 क्रोशो योजन तत्पुष्टयम् ॥' इति षोडश्वम् ॥ १०६ ॥

भाषा—यह उस तप्त लौहपिण्ड को लेकर धीरे धीरे सात मण्डल चये ।

१ परिसम्प्रायोक्तम् ।      २ द्वादशाङ्गुलप्रमाणानां ।      ३ तत्रप्रथम ।  
 ४ द्वादशाङ्गुल ।

एक मण्डल सोलह अङ्गुल का होता है और दो मण्डलों के बीच इतना ही (सोलह अङ्गुल) अन्तर रहता है ॥ १०६ ॥

सप्त मण्डलानि गत्वा किं कर्तव्यमित्यत आह—

**मुपत्वाग्निं मृदितघ्नीद्विरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ।**

अष्टमे मण्डले स्थित्वा नवमे मण्डलेऽग्निं तप्तमयः पिण्डं स्ववत्या घ्नीहीन् कराम्घ्नीं सर्ववित्वाऽदग्धहस्तश्चेत्शुद्धिमाप्नुयात् । दाग्धस्तश्चेदशुद्ध इत्यर्थसिद्धम् । यस्तु संत्रासात्प्रस्खलद्गृहस्ताभ्यामन्वद्य दहते तथाप्यशुद्धो न भवति । यथाह कारयायनः—‘प्रस्खलन्नग्निस्तत्रैरस्यानादग्न्यत्र दहते । अदग्धं तं विदुर्वैवारतस्य भूयोऽपि धापयेत् ॥’ इति ॥—

**अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ १०७ ॥**

यथा तद्वृत्तोऽन्तराष्टममण्डलादूर्वाग्रेव पिण्डः पतति दग्धादग्धायै वा संशयस्तदा पुनर्हरेत् इत्यर्थमाप्तमुक्तम् । तत्र धापयमनुष्ठानकर्म—पूर्वेषुर्मूर्च्छुद्धि विधायोपरेषुर्मण्डलानि यथाशास्त्रं निर्माय मण्डलाधिदेवताश्च मन्त्रैस्तत्र तत्र संपूज्याग्निमुपसमाधाय ज्ञान्तिहोमं निर्वर्त्तमानावयः पिण्डं निधाय धर्मावाट्-नाद्विसर्वदेवतापूजां हवनाभ्यां निर्वर्त्तय उपोषितस्य स्नातस्यार्जुवास्तसः पश्चिमे मण्डले तिष्ठतो घ्नीहिमर्दनादिकरसंस्कारं विधाय प्रतिज्ञापत्रं समन्त्रकं कर्तुंः तिरसि चक्षुषा प्राद्विवाकरमृत्तीये सापेऽग्निमभिमन्व्य तप्तमयः पिण्डं संदर्शोर्न गृहीत्वा कर्त्तव्यमग्निं तत्र तस्याङ्गलौ निक्षेप्यात् । सोऽपि मण्डलानि सप्त गत्वा नवमे मण्डले प्रक्षिप्यावयः पृष्ठो भवतीति ॥ १०७ ॥

भाषा—( उसके बाद ) अग्नि को गिराकर फिर घ्नीहि हाथों से मले । यदि जला नहीं रहता है तो शुद्ध होता है । यदि जलने के सन्देह से लौ-पिण्ड बीच ही में गिर जाय तो उसे पुनः उठाकर ले चले ॥ १०७ ॥

**श्रवणविधिः ॥**

**संपाशुदकविधिमाह—**

**सत्येन माऽभिरक्ष त्वं चरुणेत्यभिज्ञोप्य कम् ।**

**नाभिदध्नादकस्थस्य गृहीत्वोरु जलं विशेत् ॥ १०८ ॥**

हे चरुण । ‘सत्येन मामभिरक्ष स्वम्’ इत्यनेन मन्त्रेण कमुदकमभिज्ञाप्या-भिमन्व्य नाभिदध्नादकस्थस्य नाभिप्रमाणोदकस्थितस्य पुरुषत्वोरु गृहीत्वा

१. कराम्घ्नीं घ्नीहीन् । २. भूतशुद्धिः । ३. पश्चिममण्डले । ४. संद-  
वा ५. न । ५. अभिशय्य । अभिज्ञाप्य ।

सोप्यो जल प्रविशेत् जले निमज्जेत् । एतच्च वरुणपूजायां सरयाम्, 'गन्ध-  
 माक्षयं सुरभिभिर्मधुघोरघृतादिभि । वरुणाय प्रहृषीत पूजामादौ समाहितः ॥'  
 इति नारदस्मरणान् । तथा साधारणधर्मेषु धर्मोपाह्वनादिसकल<sup>१</sup>देवतापूजाहो-  
 मसमन्त्रप्रतिष्ठापत्रशिवोनिवशनाग्नेषु सस्मृ च । तथा—'तोष । ध्व प्राणिनां  
 प्राण सृष्टेराद्य तु निर्मितम् । शुद्धेद्य कारण प्रोक्त द्रव्याणां देहिनां तथा ॥  
 अतस्त्व दर्शयामान शुभाशुभपरीक्षणे ॥' इति प्राद्विवाकेनोदकाभिमन्त्रणे कृते  
 सोप्यः 'सत्येन माऽभिरुच स्व वरुण ।' इति जल प्रार्थयेत् । उदकरधानानि च  
 नारदेनोक्तानि ( १।३०५ )— नदीषु तन्नुयेगासु सागरेषु वहेषु च । हरेषु देव-  
 लातेषु तद्वातेषु सर सु च' इति । तथा पितामहेनापि—'रिधरतोये निर्मज्जेत  
 न प्राद्विगि न चारुषक । वृणुषौवाठरहिते जँठीकामरस्यवर्जिते ॥ देवलातेषु  
 यक्षोय तरिमन्त्रुषां द्विगोचनम् । आहार्यं वर्जयन्निरय शीघ्रगासु नदासु च ॥  
 भाविशरसलिले निषयमूर्तिषुद्विवर्जिते ॥' इति । आहार्यं तद्वागादिभ्य आहत  
 ताप्रकटाहादिविष जलम् । नाभिप्रमाणोदकरथश्च पश्चिमपृष्ठोद्भवा धर्मसंभूगाम  
 षष्ठ्यय प्राह्मुत्तस्तिष्ठत्, 'उदक प्राह्मुत्तस्तिष्ठेदर्मसंभूणां प्रगृह्य च ।' इति  
 स्मरणान् ॥ १०८ ॥

भाषा—'हे वरुण ! तुम सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो' इस प्रकार जल का  
 आवाहन कर के नाभि तक जल में लगे हुए पुरण की जीवों को पचदहर  
 जल में डुबकी लगाये ॥ १०८ ॥

तत किं कर्तव्यमियत आह—

समकालमिषुं मुक्तमानोयाम्यो जयी नर ।  
 गीते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

निमज्जनसमकाल गते तस्मिन् नविम्यवरिम-पुद्गे अम्यो जयी सरयान्  
 स्थानस्थितः पूर्वमुक्तमिषुमानीय जले निमग्नाङ्ग यदि परवति तँदा स शुद्धो  
 भवति । एतद्युक्त भवति—त्रिषु शरीषु मुक्तेश्वेको वेगवाग्मप्यमहापानस्थान  
 गाथा तमादाय तत्रैव तिष्ठति । अम्यस्तु पुरयो वेगवान् धरमोचस्थाने तोरण  
 मूले तिष्ठति । एष स्थानयोस्तुनीयस्थां करतालिकायां सोप्यो निमज्जति ।  
 तस्मकालमेव तोरणमूलस्थितोऽपि हुततर मँयसरयानस्थान गच्छति । धार-  
 मादौ च तस्मिन्प्राप्ते हुततर तोरणमूल प्राप्त्वा<sup>२</sup>तर्जलगत यदि न परयति<sup>३</sup> तदा

१ देवपूजा । २ इत्युक्त प्रार्थयत । ३. निमज्जेत् । ४ जट्टका ।  
 ५ मानवेद्यो । ६ गतेऽम्यस्मिन् । ७ तदा शुद्धा । ८ स्थितयो-  
 रमयोस्तुनीय । ९ मप्यमत्तर । १० तदा शुद्धिं प्राप्तीति ।

शुद्धो भवतीति । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'गन्तुष्यापि च कर्तुं स तमं गमनमउज्ज्वलम् । यच्छेत्तोरणमूलात्तु लक्ष्यस्थानं जवी नरः ॥ तरिमन्गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय सायकम् । यच्छेत्तोरणमूलं तु यतः स पुरुषो गतः ॥ भागतस्तु शरमाही न पश्यति यदा जले । अन्तर्जलगतं सम्यक्तदा शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥' इति । अत्रिनोत्र पुरुषयोर्निर्धारणं कृतं नारदेन—'पञ्चागतो धायकानां यौ स्वात्तामधिकौ जवे । सौ च तत्र नियोक्तव्यौ क्षरानयनकारणात् ॥' इति । तोरणं च निमग्ननसमीपस्थाने समे शोष्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्यम् ; 'गाया तु तज्जलस्थानं सटे तोरणमुच्छ्रितम् । कुर्वति कर्णमात्रं तु भूमिभारी समे शुचौ ॥' इति नारदस्मरणात् । शरत्रयं वैणवं च धनुर्मङ्गलद्वयैः श्वेतपुष्पादिभिः प्रथमं संपूजयेत् ; 'शराभ्यसंपूजयेत्पूर्वं वैणवं च धनुस्तथा । मङ्गलैर्धूपपुष्पैश्च ततः कर्म समाचरेत् ॥' इति पितामहवचनात् । धनुषः प्रमाणं लक्ष्यस्थानं च नारदेनोक्तम्—'करं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम् । मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेव ज्ञेयो धनुर्विधिः ॥ मध्यमेन तु चापेन प्रक्षिपेत् शरत्रयम् । हरतानां तु शते सार्धं लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः ॥ न्यूनाधिके तु दोषः स्वात्स्वितः सायकान्-एतथा ॥' इति । अङ्गुलानां सप्तधिकं शतं सप्तशतं क्रूरं धनुः । एवं षट्शतं पञ्चशतं च । एवं चैवाद्दशाङ्गुलाधिकं हस्तचतुष्टयं क्रूरस्य धनुषः प्रमाणम्, मध्यमस्य दशाङ्गुलाधिकम्, मन्दस्य नवाङ्गुलाधिकमित्युक्तं भवति । शराद्यावायसामा वैणवाः कार्याः, 'शराश्चानाय सामास्तु प्रकुर्वीत विशुद्धये । वैणुकाण्डमयाश्चैव चैसा तु सुदृढं चिपेत् ॥' इति स्मरणात् । चैसा क्षत्रियस्तद्दृष्टिर्मातृजातः सोपवासो वियोक्तव्यः । यथाह—'चैसा च क्षत्रियः प्रोक्तस्तद्दृष्टिर्मातृजातोऽपि वा । अमूरुद्दयः क्षाप्तः सोपवासस्ततः चिपेत् ॥' इति । त्रिषु कुक्षेषु मध्यमः शरो प्राह्यः, तेषां च प्रोपितानां च शराणां शास्त्रबोधनात् । मध्यमस्तु शरो प्राह्यः पुरवेण बलीयसा ॥' इति वचनात् । तत्रापि पतनस्थानादानेतभ्यः न सर्पणस्थानात्, 'शरस्य पतनं प्राह्यं सर्पणं तु विवर्जयेत् । सर्पणसर्पणशरो यायाद् दूराद्दूतरं यतः ॥' इति वचनात् । धाते च प्रवायति विषमादिदेशे च शरमोक्षे न कर्तव्यः ; 'इषु न प्रक्षिपेद्विद्वान्मादन्ते चोक्तिवायति । विषमे भूपदेशे च वृक्षास्थानसमाकुले ॥ वृणुषुमलता-वह्नीपङ्कपापाणसंयुते ॥' इति पितामहवचनात् । निमग्नानां परयेच्चेच्छुद्धिमा-नुयादिति वक्षता उन्मग्नताङ्गस्याशुद्धिर्दक्षिता । स्थानान्तरगमने चाशुद्धिः पितामहेनोक्ता ; 'अन्यथा न विशुद्धिः स्वादेकाङ्गस्यापि दर्शनात् ॥' इति 'स्थानाद्वाऽन्यत्र गमनाच्चस्मिन्पूर्वं निवेशितः ॥' इति पृक्ताङ्गस्यापि दर्शनादिति च

कर्णाद्यभिप्रायेण । 'शिरोमात्रं तु दृश्यते न कर्णौ नापि नासिका । अस्मि प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥' इति विशेषाभिधानात् । अथमत्र प्रयोगक्रम — 'उक्तलक्षणजलाशयसन्निधावुक्तलक्षण तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं विधाय तोरणसन्निधौ' सगरं घनु सपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान्दहनान्तमिष्ट्वा शोष्यस्य शिरसि प्रतिष्ठापत्रमावस्थ प्राड्विषाको जलमभिमन्त्रयते—'तोय । स्व प्राणिना प्राण.' इत्यादिना मन्त्रेण । अथ शोष्य —'सत्येन' इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतरथूणस्य नाभिमात्रोद्कावस्थितस्य षष्ठीयस्य पुरषस्य समीपमुपसर्पति । अथ शोषु त्रिषु सुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यम शरं गृहीत्वा जयिन्वेकस्मिन्पुरुषे स्थिते अभ्यर्त्तिसक तोरणमूले स्थिते प्राड्विषाकेन ताळत्रये दत्ते युतपद्ममनमज्जनमथ शरानयनमिति ॥ १०९ ॥

भाषा—उमके द्रुवकी लगाने के समय ही द्रोणे गये थाण को लानेके लिए एक तेज दीङ्गने वाला व्यक्ति जावे, लौटने पर यदि वह दिश्य करने वाले व्यक्ति को जल दूवा हुआ ही पावे सो वह शुद्ध होता है ॥ १०९ ॥

### इत्युक्तविधिः ॥

इदानीं विषविधानमाह—

स्यं विष । ब्रह्मण पुत्र. सत्यधर्मे स्यंस्थितः ।  
 प्रायस्त्वास्माद्भीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ॥ ११० ॥  
 पयमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ।  
 यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥ १११ ॥

'सं विष इत्यादिमन्त्रेण विषमभिमन्त्र्य कर्ता विषं हिमशैलजं शृङ्गभाय भक्षयेत् । तत्र च भक्षितं सत् यस्य विषं वेगैर्विना जीर्यति स शुद्धो भवति । विषयेगो नाम धातोर्धाश्चत्तरप्राप्तिः । 'धातोर्धाश्चत्तरप्राप्तिर्विषयेग इति शृणु' इति पचनान् । धातवश्च एगसृङ्माममेदोस्थिमज्जाशुक्राणीति मसः । एवं च सत्येन विषयेगा भवन्ति । तेषां च लक्षणानि पृथगेऽपि विषयत्रये कथितानि—'वेगो रोगाद्यमाद्यो रक्षयति विषयं श्रेयसकरोपशोषी तस्योर्ध्वस्तस्यरी द्वौ वपुषि जगयगो पर्वते द्रववेपी । यो वेगः पञ्चमोऽग्नौ नैवेति विवर्षतां वष्टमष्ट ॥ द्विषां पटं नि धासमोही वितरति च सृतिं सप्तमो मपकरय ॥' इति । अत्र च महादेवस्य

१ समीपे सगरः । २. सत्ये धर्मे, ; महादेवस्यवर्षयितः । ३. वष्ट- स्थितम् । ४ जीर्णं तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत् । ५. अथमभिव्यक्तं ।

पूजा कर्तव्या । यथाह नारद —‘दद्याद्विप सोपवासो देवमात्मणसनिघो ।  
 धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम् ॥’ इति प्राद्विववाक कृतोपवासो महादेव  
 पूजयित्वा तस्य पुरतो विप व्यवस्थाप्य धर्मादिपूजा हृद्यन्तः विधाय प्रति  
 ज्ञापय्य शोष्यस्य शिरसि निधाय विपमभिमन्त्रयते—‘एव त्रिषु ! ब्रह्मणा  
 सृष्ट परीक्षार्थं सुरात्मनाम् । पापानां दण्डयात्मानं शुद्धानाममृत्न भव ॥ मृत्युमूर्ते  
 विप ! त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम् । ज्ञायस्यैव नर पापात्मवेनास्यासृष्ट भव ॥’  
 इति । एवमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखावस्थिताय दद्यात्, ‘द्विजानां सनिधायेव  
 दक्षिणाभिमुखे स्थिते । उद्व्युक्तं प्राङ्मुखो वा विप दद्यात्समाहित ॥’ इति  
 नारदवचनात् । विप च वसन्नाभादि ब्राह्मणम्, ‘शुद्धिणो वसन्नाभस्य द्विमजस्य  
 विपस्य वा ॥’ इति वित्तमदवचनात् । यस्यानि च तैर्नैवोक्तानि—‘चारितानि च  
 जीर्णानि कृशिमणि तथैव च । भूमिज्ञानि च सर्वाणि विपाणि परिवर्जयत् ॥’  
 इति । तथा नारदेणापि ( ११२२१ )—‘अष्ट च चारितं चैव भूपित मिश्रित  
 तथा । कालकृतमलासु च विप यत्नेन यज्ञवेत् ॥’ इति । कालश्च नारदेनोक्तः  
 ( ११३१९ )—‘तोलविरवेभिसत् काले देव तद्वि हिमागमे । नापराहे न  
 मध्याहे न सध्याया तु धर्मवेत् ॥’ इति । कालान्तरे तु कर्मप्रमाणादेष देयम्,  
 ‘पूर्वं चतुर्धया मात्रा प्रीणो पञ्चयथा स्मृता । हेमन्ते सा सप्तयथा शरद्वत्पा  
 त्ततोऽपि हि ॥’ इति स्मरणात् । अल्पेति पञ्चयथैव । ‘हेमन्त’प्रहणेन  
 शिशिरस्यापि ग्रहणम् । ‘हेमन्तशिशिरयो समासेन’ इति श्रुते । वसन्तस्य  
 च सर्वदिग्दशाधारणत्वात्त्रापि सप्त यथा विप च वृत्तुत देय, नारदवचनात् ।  
 ‘विपस्य पलपद्मभागाज्ञायो विंशतितमस्तु च । तमष्टभागहीनं तु सोप्ये दद्यात्पुष्ट-  
 प्लुतम् ॥’ ( नारद ११३२१ ) इति । पल चात्र चतुःस्रवर्णकम् । तस्य पष्टो  
 भागो दश मापा दश यथाश्च भवन्ति । ‘त्रिषय श्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको  
 माप’ इत्येको माप पञ्चदश यथा भवन्ति । एव दशाना मापाणा यथा-  
 सार्धकृत भवन्ति । पूर्वं च दश यथा इति पष्टयधिकं शत यथा पलस्य पष्टो  
 भागस्तस्माद्विंशतितमो भागोऽष्टौ यथास्तस्याष्टमा एकयन, तेन हीनं विंशति  
 तम भागं सप्तयथ घृतप्लुतं दद्यात् । घृतं च विपात्रिशद्गुणं ब्राह्मणम्, ‘पूर्वांते  
 हीतले देवो विप देयं तु देहिनाम् । घृते त्रिवोजितं श्लक्ष्णं पिष्टं त्रिशद्गुणा-  
 न्वितम् ॥’ इति कात्यायनवचनात् । त्रिशद्गुणेन घृतेनाम्बितं विपम् । शोष्यश्च  
 कुड्कादिभ्यो रचणीय, ‘त्रिरात्र पञ्चरात्र वा पुरुषै स्वैरधिष्ठितम् । कुड्कादि-  
 भयाद्वाजा रचयदिव्यकारिणम् ॥ शोषधीर्गन्धयोगाश्च मणीनथ विपापदान् ।  
 कर्तुं शरीरसंस्थास्तु गूढोत्पन्नापरीक्षयेत् ॥’ इति वित्तमदस्मरणात् । तथा

विषमपि रेषणीयम्— शाङ्गं हैमवत शस्त गन्धवर्णरमान्वितम् । अकृत्रियम-  
समूदम मन्त्रोपहत च यत् ॥' ( ११३२२ ) इति नारदस्मरणात् । तथा विपे  
पीते यावत्परतालिकाशतपञ्चकं तावत्प्रतीक्षणीयोऽनन्तर चिकित्सनीय । यथाह  
नारद — 'पञ्चतालशत काल निर्विकारो यदा भवेत् । तदा भवति सशुद्धस्वतत  
कुर्वाञ्चिकरिसतम् ॥' इति । पितामहेन तु दिनान्तोऽत्रधिहृत्तोऽक्षमात्रा-  
विषय — 'भक्षिते तु यदा स्वस्थो मूर्च्छाद्भृदि विवर्जित । निर्विकारो दिनस्यान्ते  
शुद्ध तमपि निर्दिशेत् ॥' इति । अत्र च प्राद्विन्वाक सोषवालो महादेव सपूज्य  
तापुरतो विप रथापविशा धर्मादीनिष्ट्वा सोऽभ्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्र निघाय  
विषमभिम इप वृद्धिनाभिमुत्तरिषताय विप प्रयच्छति । स च सोऽप्यो विषम  
भिमन्थ भक्षयतीति क्रम ॥ ११०-१११ ॥

भाषा—'हे विप ! तुम महा के पुत्र हो और सर्वधर्म में प्रतिष्ठित हो ।  
इस अभिनाप से सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो और मेरे लिये अमृत बनो'  
इस प्रकार विप से प्रार्थना करके दिव्य करने वाला व्यक्ति हिमालय से उपास्य  
एव शृङ्गसे निकले हुए विप का भक्षण करे । यदि विप बिना प्रभाव दिखाये  
है पच जाय तो वह उमकी छुद्दि प्रकट करता है ॥ ११०-१११ ॥

इति विपविधानम् ॥

अथ कोशविधिमाह—

देवानुग्रान्समभ्यर्च्य सत्स्नानोदकमाहरेत् ।

संस्त्राभ्य पाययेत्समाज्जलं तु प्रवृत्तिप्रयम् ॥ ११२ ॥

उग्रान्-देवानु-गुर्गादिवादीन् समभ्यर्च्य गन्धपुष्पादिभि पूजयित्वा सत्स्नान्य  
सत्स्नानोदकमाहरेत् । आहृष्य च 'तोय ! त्व प्राणिनां प्राण' इत्यादिना  
सत्तोय प्राद्विषाक सस्त्राभ्य सोऽभ्येन च सत्तोय पात्रान्तरे कृत्वा 'सत्त्वेन माभि  
रुत् त्व वरुण !' इत्यनेनाभिमन्त्रित पाययेत्प्रवृत्तिप्रयम् । एतस्य साधारण  
धर्मसु धर्मावाहनादिमन्त्रदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशानांतेषु  
स्वस्त्यु । अत्र च स्नाप्यदेवतानियम कार्यनियमोऽधिकारिनियमश्च पितृमहादि  
भिरक्त—'भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्सस्य तज्जलम् । समभावे तु देवाना  
मादित्यस्य च पामयेत् ॥ दुर्गाया पाययेच्चौरा-ये च क्षत्रोपजीविन । भारक-  
रस्य तु यत्तोय प्रह्वण सन्न पाययेत् ॥ दुर्गाया स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु  
मण्डलम् । अ-यपामपि देवानां स्नापयेदायुधानि ॥' इति देवतानियम ।

१ परीक्षणीय । २ सथापि । ३. त्रिमुखाय शिष्याय । मुत्ताय विप ।

४ सस्त्राभ्य । ५ पितामहनारदादिभि । ६ हापयेत् ।

'विश्वेभ्यो सर्वशङ्कामु संधिकार्ये तथैव च । पशु कोशः प्रदातव्यो नियं चित्तवि-  
शुद्धये ॥' इति कार्यनियमः । 'पूजति सोपरासस्य दातव्यार्द्रपटस्य च । सशु-  
कस्याभ्यसनिनः कोशपानं विधीयते ॥' ( नारदः १।३२८ ) सशुक्र आस्तिकः ।  
'महापत्नीभ्यसनिनां कित्तानां तथैव च । कोशः प्राज्ञैर्न दानव्यो ये च नास्तिक-  
वृत्तयः ॥ महापराधे निर्घर्मे कृतज्ञे श्लेषकृतिते । नास्तिकप्रमाणदौशेषु कोशपानं  
विघर्णयेत् ॥' इति । महापराधो महापानकको, निर्घर्मां वर्णाश्रमधर्मरहितः  
पात्राधी, कुत्सितः प्रतिश्लोमज्ञः । दाशाः कैःर्थाः, इत्यधिकारिनियमः । तथा  
गोमयेन मण्डलं कृत्वा तत्र कोष्यमास्तिवानिमुग्वं स्थापयित्वा पाययेदिति  
नारदवचनादवगन्तव्यम् । यथाह—'तमाहुवाभिगतं तु मण्डलाभ्यन्तरे  
स्थितम् । आदियाभिमुग्वं कृत्वा पाययेत्प्रभृतिप्रथम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

भाषा—( हुगां आदि ) उग्रदेवताओं की गन्ध, पुष्प आदि से पूजा करके  
उनके स्नान का जल लेंगे; इसे दूसरे पात्र में रखकर तीन अजलि जल दिव्य  
कामे वाले को पिलावे ॥ ११२ ॥

ननु तुलाक्षिपु विधान्तेषु समनन्तरमेव शुद्धयशुद्धिभावना, कोशो तु स्थानि-  
त्यत आह—

अर्वाक् चतुर्दशादहो यस्य नो राजदैविकम् ।

अ्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यात् संशयः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशादहः पूर्वं यस्य रात्रिः राजमिभित्तं दैविकं देवप्रमथं अ्यसनं दुःखं  
घोरं महत् नो नैव जायते अल्पस्य देहिनामपरिहार्यंश्वासम् शुद्धो वेदितव्यः ।  
ऊर्ध्वं पुनरवधेनं क्षोषः । यथाह नारदः ( १।३३१ )—'ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहा-  
द्वैकृतं ॥ महत्तवेत् । मामिथोऽथः ॥ विदुषा कृतकालव्यतिक्रमत् ॥' इत्यर्थ-  
सिद्धमेवोक्तम् । 'अर्वाक् चतुर्दशादहः' इत्येतन्महाभियोगविषयम्; 'महाभियोगे-  
प्येतानि' इति प्रस्तुत्याभिधानात् । अवप्यन्तराणि पितामहेनोक्तान्यल्पविषयाणि,  
'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् तानि च—'त्रिराश्राससराश्राद्वा द्वाद-  
शाहाद् द्विसप्तकात् । वैकृतं यद्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृतः ॥' इति । महा-  
भियोगोक्तद्रव्यादुर्वाचीनं द्रव्यं त्रिधा त्रिभज्य त्रिरात्रात्तपि पञ्चत्रयं स्ववर्धापनी-  
यम् ॥ ११३ ॥

भाषा—जिस (शुद्ध दिव्य को करनेवाले) व्यक्ति पर चौदह दिन के भीतर  
राजकृत् या देवकृत घोर दुःख नहीं गिरता वह शुद्ध होता है, इसमें  
संशय नहीं ॥ ११३ ॥

इति कोशविधिः ॥



तुलादीनि कोशा-तानि पञ्च महादिश्यानि यथोद्देश योगीश्वरेण स्यादथा  
तानि । स्मृत्यन्तरे स्वस्वाभियोगविषयाण्यन्या-थपि दिश्यानि कथितानि ।  
यथाह पितामह — 'तण्डुलानां प्रवचयामि विधिं भक्षणोदितम् । शीरे तु  
तण्डुला देवा ना-यत्रेति विनिश्चय ॥ तण्डुलाङ्कारवच्छुक्रु-म्बालेना-वश्य  
कस्यचित् । मृ-मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रत शुचि ॥ स्नानोदकं समि-  
ध्या राशौ तत्रैव वासयेत् । प्राङ्मुखोपोषित स्नान शिरोरोषितपत्रकम् ॥ तण्डु-  
ला-भक्षयित्वा तु पत्र निष्ठीवयेत्ततः । पिण्डस्य तु भाग्यस्य अभावे भूर्जं पत्र  
तु ॥ लोहित हरयते यस्य हतुरनासु च शीर्यते । सात्र च कर्मते यस्य तमशुद्ध  
विनिर्दिशेत् ॥' इति । शिरोरोषितपत्रकं तण्डुलाभक्षयित्वा निष्ठीवयाप्राङ्मुख-  
धाक ॥ भक्षयित्वा च च्यन्तारिसिधि टपम् । सर्वदिशस्यसाधारण च धर्मावा-  
हनादि पूर्ववदिहापि कर्तव्यम् ॥

इति तण्डुलविधि ॥

तप्तमापविधिं पितामहेनोक्तः । तथा हि—'सौवर्णं राजतयापि ताद्यथा  
पाकशाङ्गुलम् । चतुश्शुलपात तु मृ-मय वायु मण्डलम् ॥' वसुंलमित्यर्थः ।  
'पुरयद्भूततैलाभ्यां विघात्वा तु पलैस्तु तत् । सुवर्णमापकं तरिम-सुतते निचि-  
वेत्त ॥ अङ्गुलाङ्गुलिभोगेन उदरेषत्तमापकम् । कस्य चो न धुनुवाङ्गिस्कोटो वा  
न ज पते । शुद्धो भवति घर्मेण विविङ्कारकराङ्गुलि ॥' इति । 'उदरेष'इति  
वचनात्प्रादुर्भवेणमात्र, नै वदि प्रचेपणमादर्शयम् ॥

अपर वक्ष्य — 'सौवर्णं राजते ताप्रे भायते मृन्मयस्येति वा । तस्य पूनमु-  
पादाय तदानीं तापवेच्छुचि । सौवर्णं राजसीं ताप्रेमावसीं वा सुतोपिताम् ।  
सल्लिकेन सङ्क्रीतं प्रचिपत्ताग्रमुद्रिकाम् ॥' ( नारद ११३३४ ) 'अमङ्गीपित  
रङ्गाहवे ह्यनन्तरदर्शगोचरे । परीक्षेताद्दर्पणेन शुद्धकार मुषोपकम् ॥ ततश्चानेन  
म-प्रेग सङ्कृतद्विमम ग्रयेत् ॥ पर वक्षिग्रमण्डलं पूत ॥ तत्र पञ्चकर्मसु । दह पादकं  
पाप स्य दिग्दर्शित शुची भव ॥ उपोषित तत स्नानमाद्भवात्समायतम् । प्राहये  
मुद्रिकां नां तु पूतमप्यगतां तथा ॥ प्रदेशितीं च तस्याय परीक्षेत् परीषका ।  
वश्य विस्कोटका न स्यु शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचि ॥ इति । अत्रापि धर्मावाह-  
नाद्यनुसंधातव्यम् ॥ धुनानुमन्त्रणं प्रादिववाचरव । 'स्वमन्त्रं सर्वभूतानाम्'  
इति शोषवश्याय भिममन्त्रमन्त्र । 'प्रदतिर्नां पर येतु'इति वचनात् प्रदेशिन्वैप  
मुद्रिकोदरणम् ॥

इति तप्तमापविधि ॥

धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥ धर्माधर्मोद्यदिव्यविधिश्च पितामहेनोक्तः । तथाच—  
 'अधुना संभवयामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । हन्तृणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां  
 मृगाम् ॥' इति । हन्तृणामिति साहसामियोगेषु, याचमानानामिति अधर्माभियोगेषु,  
 प्रायश्चित्तार्थिनामिति पातकाभियोगेषु; 'राजतं कारयेद्दर्ममधर्मं सीसकायसम्'  
 इति प्रतिमाविधानं सीसकं वा भायसं वेति ॥ पश्चान्तरमाह—'लिखेत्पूर्णे पटे  
 यापि धर्माधर्मो सित्तासितौ । अग्न्युपय पञ्चगव्येन गन्धमाह्वयैः समर्चयेत् ॥  
 सित्तपुष्पस्तु धर्मः स्वादधर्मोऽसित्तपुष्पपृष्ठम् । एवंविधोपलक्ष्य विगन्धयोस्ती  
 निधापयेत् ॥ गोमयेन मृदा यापि विण्डी कार्या समंततः । मृद्गाण्डशेऽनुग्रहते  
 स्याद्भ्यौ चानुपलक्षितौ ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे देवप्राङ्गणसन्निधौ । भावाहयेत्तौ  
 देवैर्विलोकपालाक्ष पूर्ववत् ॥ धर्मायाहनपूर्वं तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत् ॥' सतः—  
 'यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मस्त्वायातु मे करे । अह्युद्ध्वेभ्यम करे पापं भावातु  
 धर्मतः ॥' इति ॥ अभिचारतोऽभिमन्त्रयते—'अभियुक्तस्तयोश्चैकं मृत्पृष्ठीताविल-  
 म्बितः । धर्मं पृहीते शुद्धः स्वादधर्मे तु स हीयते ॥ एवं समासतः प्रोक्तं  
 धर्माधर्मपरीक्षणम् ॥' इति ॥

इति धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥

अन्वे च क्षपया द्रव्याहपस्वमहपविषया जातिविशेषविषयाश्च भग्वादि-  
 भिरुक्ताः । ते यथा—'निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलभमम् । त्रिपाद-  
 र्वाक्तु पुण्यं स्यात्कोक्षपान्नमनः परम् ॥' ( मनुः ८।११३ ) 'सत्येन क्षापयेद्विमं  
 चश्रियं याहनामुषं । गाबीजकाञ्चनैर्वैरयं शुद्धं सत्येस्तु पातकैः ॥' ( मनुः  
 ८।११३ ) इत्यादयः । अत्र च शुद्धिविभाषना मनुनोक्ता ( ८।११५ )—'न  
 चाऽऽर्तिमृच्छति चित्रं स ज्ञेयः क्षपये शुचिः' इति । भार्तिरपि 'यस्य नो राज-  
 दैविकं षपसनं जायते घोरम्' इत्युक्तेः । कालमियमश्च एकरात्रमारभ्य त्रिरात्र-  
 पर्यन्तं त्रिरात्रमारभ्य पञ्चरात्रपर्यन्तम् । एकरात्रप्रभृतिभ्यं कार्यलाघवगौरवप-  
 र्यालोचनया द्रष्टव्यम् ॥ एवं दिव्यैर्जपपराजयावधारणे दण्डविशेषोऽपि कर्तव्यः  
 काः।यापने—'क्षतार्थं क्षापयेत्पुद्गमशुद्धो दण्डमाश्रयेत्' इति । तं दण्डमाह—  
 'विषे तोषे हुताग्ने च तुलाकोशे च सन्दुले । सप्तमात्रकदिव्ये च क्रमाहणं  
 प्रकथयेत् ॥ सहस्रं षट्सतं चैव तथा पञ्चशतानि च । अतुलित्वापेकमेयं च हीनं  
 दानेषु कथयेत् ॥' इति ॥ 'निह्वे भारितो दद्याद्' इत्युक्तदण्डेनायं दिव्य-  
 निबन्धनो दण्डः समुपचीयते ॥

इति दिव्यप्रकरणम् ॥

अथ दायविभागप्रकरणम् ८

प्रमाण मानुष दैवमिति भेदेन वर्णितम् ।

अधुना वर्णयते दायविभागो योगमूर्तिना ॥

तत्र 'दाय' शब्देन यदन स्वामिसम्पत्त्यादेव निमित्तादन्यस्य एव भवति तदुच्यते । स च द्विविधः—अप्रतिबन्ध, सप्रतिबन्धश्च । तत्र पुत्राणां वीराणां च पुत्रत्वेन वीरात्वेन च पितृधन पितामहघन च एव भवतीत्यप्रतिबन्धो दाय । पितृस्यभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च एव भवतीति सप्रतिबन्धो दाय । एव तत्पुत्रादिष्वप्युहनीय । विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामने कश्चात्पानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम् । एतदेवामिस्येति नारदेन—'विभागोऽर्थस्य विषयस्य तन्मर्थेऽत्र ब्रह्म्यते । दायभाग इति श्लोक इत्यवहारपदं सुधै ( ना० १३।१ ) ॥' इति । विषयस्येति स्वामिसमित्तसबन्धोपलक्षणम् । 'तन्मर्थे' इत्यपि प्रत्यासन्नोपलक्षणम् । इदमिह निरूपणीयम्,—करिमङ्काले कस्य कथं केषु विभाग कर्तव्य इति । तत्र करिमङ्काले कथं केषु इति तत्र तत्र श्लोकव्याख्यान एव ब्रह्म्यते । कस्य विभाग इत्येतावदिह चिन्त्यते । किं विभागास्त्वस्वमुत् स्वस्य सतो विभाग इति ; तत्र स्वात्मैव साक्षिरूपते—किं शास्त्रैकसमधिगम्य स्वात्ममुत् प्रमाणास्तरसमधिगम्यमिति । तत्र शास्त्रैकसमधिगम्यमिति तावद्युक्तं, गौतमवचनात्—स्वामी विषयद्रव्यसविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिक लभ्य क्षत्रियस्य विजित निर्विष्ट वैश्वशूद्रयो ॥' ( गौ० १०।३९ ४९ ) इति । प्रमाणास्तरगम्ये स्वध्वे नेद वचनमर्थवशत्वात् । तथा स्तेनातिदेशे मनु ( ८। ३४० )—'योऽदत्तादायिनो हस्ताभिलिखेत ब्राह्मणो धनम् । याजनाप्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव स ॥' इति । अदत्तादायिनः सकाशाद्याजनादिद्वारेणापि द्रव्यमर्जयतां दण्डविधानमनुपपन्न स्वाध्वत्त्वं लौकिकत्वे । अपि च, लौकिक वैश्वस्य मम स्वमनेनापहतमिति न श्रूयात् ; अपहतुरेव शक्यात् । अन्वर्थोऽयस्य एव तेनापहतमिति वापहतं स्वम् । एव तर्हि सुवर्णाज्जतादिस्वरूपवदस्य वा स्वमम्यस्य वा स्वमिति सशयो न स्यात् । तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्य स्वात्ममिति । अत्रोच्यते—लौकिकमेव स्वत्वं लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् प्रीत्यादित् । आहवनीयादीनां हि शास्त्रगम्यानां न लौकिकक्रियासाधनत्वमस्ति ॥ न-वाहवनीयादीनामपि वाकादिसाधनत्वमस्त्येव । नैतत्—नहि तत्राहवनीयादि

१. अत्र पुत्रसद्भावे स्वामिसद्भावेऽत्र प्रतिबन्ध, तदभावे पितृस्यत्वेन भावत्वेन च एव भवतीति विशेषः । २ द्रव्यस्य व्यवस्थापनम् । ३ पैरस्य । ४. अदत्तादायिनश्चौरस्य । ५ याजनाप्यापनाद्वापि । ६ अन्वयात् ।

रूपेण पाकादिसाधनत्वम् । किं तर्हि ? प्रत्येकादिपरिहरयमाभाग्यादिरूपेण । इह तु मृगणादिरूपेण न कृपादिसाधनत्वमपि तु स्वत्वेनैव । नहि यस्य यत्त्वं न भवति तत्तस्य प्रयाद्यर्थमिषो साधयति ॥ अपि च,—प्रत्येकस्यातिनामप्यदृष्टताऽप्यवहाराणां स्वाभाव्यहारो दृश्यते, कृपयिकृपादिदर्शनात् । किंच,—नियतोपाधिक स्वार्थं लोकसिद्धमेवेति न्यायविदो मन्यन्ते । तथा हि—उपस्थासूत्रे तृतीये षण्ठके द्रव्यार्जननियमानां प्रत्यर्थये स्वत्वमेव न स्यात् । स्वावस्थात्वीकिकृत्वादिति पूर्वपक्षसंभवमाशङ्क्य द्रव्यार्जनस्य प्रतिग्रहादिना स्वभावसाधनस्य लोकाभिद्धमिति पूर्वपक्ष समर्थितो गुरुणा—ननु च द्रव्यार्जनस्य प्रत्यर्थये स्वत्वमेव न भवतीति याग एव न सत्ततः । प्रत्येकमिदं केनापि 'अर्जनं स्वार्थं तापाद्यतीति विप्रतिषिद्धम्' इति यदता । तथा सिद्धांतेऽपि स्वार्थस्य लौकिकत्वमद्वाप्यस्यैव विचारमयोजनमुत्तम्, अतो 'नियमातिग्रहणं पुरुषस्य न प्रो' इति । अस्य चार्थ एव विवृत—यदा द्रव्यार्जननियमानां प्रत्यर्थये तदा नियमातिग्रहेणैव द्रव्येण मनुसिद्धिनं नियमातिग्रहार्जितेन द्रव्येण न मनुसिद्धिरिति न पुरुषस्य नियमातिग्रहदोषो पूर्वपक्षे । शब्दा-न्ते स्वार्जननियमस्य पुरुषार्थत्वात्तदतिग्रहेणातिग्रहेणापि द्रव्येण मनुसिद्धिर्भवति, पुरुषस्यैव नियमातिग्रहदोष इति नियमातिग्रहार्जितस्यापि स्वात्मज्ञोक्तम्,—अन्यथा मनुसिद्धयभावात्, न चैतावता और्वादिग्रहस्यापि स्वत्व स्वादिति मन्तव्यम् । लोके तत्र स्वात्ममनुसिद्धयभावात्, स्वयहारविसयादाद्य एव प्रतिग्रहाद्युपायके स्वावे लौकिके रिभते—'ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहाद्य उपाया', 'उग्रियस्य विजिताद्य, वैश्यस्य पृथ्याद्य, शूद्रस्य ह्यभ्याद्य' इत्यदृष्टार्था नियमा । रिष्याद्यस्तु सर्वसाधारणा—'स्वामी रिष्यकृपसविभागपरिग्रहाधिगमेषु' ( गौ० १०।३९ ) इत्युक्ता । तत्राप्रतिषेधो दायो रिष्यम् । अथ प्रसिद्ध । सविभाग सप्रतिषेधो दाय । परिग्रहोऽन्यपूर्वस्य अमृगकाष्ठादे र्नीकार । अधिगमो निष्पादो प्राप्ति । एतेषु निमित्तेषु ससु स्वामी भवति । श्रौतेषु ज्ञायते स्वामी । 'ब्राह्मणस्याधिक लब्धम्' ( गौ० १०।४० ) इति ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना यज्ञ-ध तदधिकमसाधारणम् । 'उग्रियस्य विजितम्' ( गौ० १०।४१ ) इत्युपाधिकमिष्यनुवर्तते । उग्रियस्य विजयदण्डादिलब्धमसाधारणम् । 'निर्विष्ट वैश्यशूद्रयो' ( गौ० १०।४२ ) इत्युपाधिकमिष्यनुवर्तते । वैश्यस्य पृथिगोरणादिलब्ध निर्विष्ट तदसाधारणम् । शूद्रस्म द्विजशुभ्रणादिना मृतिरूपेण यज्ञ-ध तदसाधारणम् । एवमनुलोमजानां प्रतिलोमजानां च

१ नियतोपाधिक । २ मनुसिद्धिनियमातिग्रहार्जितेन द्रव्येण न मनुसिद्धिरिति । ३ दोष इति पूर्वपक्षे । ४ कृतेषु ।

लोकप्रसिद्धेषु स्वत्वहेतुषु यद्यदसाधारणमुक्तं 'सूतानामश्वसारथ्यम्' इत्यादि  
 तत्तत्सर्वं निर्विष्टद्वन्द्वेनोच्यते सर्वस्यापि श्रुतिरूपत्वात् ॥ 'निर्वेदो श्रुतिभो  
 गयो' ( तृ० ना० २१४ ) इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । तद्यदसाधारणं वेदि  
 तस्यम् । यदपि 'पत्नी दुहितरश्चैव' ( व्य० १३५ ) इत्यादिस्मरणं तत्रापि  
 स्वामिसम्बन्धितया बहुषु दायविभागितया प्राप्तेषु लोकप्रसिद्धेषु स्वत्वे  
 व्यामोहनियुक्तस्य स्मरणमिति सर्वमनवद्यम् ॥ यदपि मम स्वमनेनापहनमिति  
 न प्रयास्वत्स्वस्य लौकिकस्य इति, - तदप्यसत्, स्वत्वहेतुभूतकृपादिप्रदेहास्वत्व  
 सदेहोपपत्तेः । विचारप्रयोजनं तु—'यद्गृहितेनार्जयन्ति धर्मणा प्राज्ञाणां धनम् ।  
 तस्योत्सर्गेण शुद्धवन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति । शार्त्तकसमन्विताद्ये स्वस्ये ।  
 गृहितेनासम्प्रतिग्रहयागिज्यादिना लस्यस्य स्वत्वमेव मारतानि तत्पुत्राणां  
 'तद्विभाज्यमेव' यदा तु लौकिक स्वत्वं तदाऽसम्प्रतिग्रहादिलक्षण्यापि  
 स्वत्वात्तत्पुत्राणां तद्विभाज्यमेव । 'तस्योत्सर्गेण शुद्धवन्ति' इति प्रायश्चित्तमर्श-  
 यिपुरेष, तत्पुत्रादीनां तु दायत्वेन स्वत्वमिति न तेषां दोषस्य च, 'सप्त विचा-  
 गमा धर्म्या दायो लोभ क्रयो जय । प्रयोग कर्मयोगश्च सप्तप्रतिग्रह एव च ॥'  
 इति ( १०११५ ) मनुस्मरणात् ॥

इदानीमिदं सदिच्छते— किं विभागात्स्वमुक्तं स्वस्य सतो विभाग इति ।  
 तत्र विभागात्स्वमिति तावद्युक्तम्, जातपुत्रस्याधोगविधानात् । यदि जन्मनैव  
 स्वत्व एवात्तदोपपन्नस्य पुत्रस्यापि तस्व साधारणमिति त्रयस्याप्येवाधोगादिषु  
 पितुरनधिकार एवात् । तथा विभागात्स्वत् पितृप्रसादलक्ष्यस्य विभागप्रतिषेधो  
 नोपपद्यते, सर्वानुमाया दत्तत्वाद्धिभागस्याप्यवभागात् । यथाह—'सौर्वमायधने  
 चाभे यच्च विद्याधन भवेत् । श्रीव्येतान्धविभाजयानि प्रसादो यच्च पैतृक ॥'  
 ( ना० १३१ ) इति ॥ तथा 'भर्ता प्रीतेन यदहं शिष्ये तस्मिन्मृतेऽपि तत् ।  
 सा यथाकाममरतीयाद्वाद्वा । रथावराहते ॥' इति प्रीतिदानवचनं च नोपपद्यते-  
 जन्मनैव स्वत्वे । नच 'रथावराहने यदत्तम्' इति सप्त-धो युक्तं व्यवहितयो-  
 जनाप्रसङ्गात् । यदपि—'मणिमुक्ताप्रवाळानां सर्वस्वैव पिता प्रभु । रथावरस्य  
 तु सर्वस्य न पिता न पितामह ॥' तथा—'पितृप्रसादाद्भुज्यन्ते वक्ष्याभरणाणि  
 च । रथावर तु न भुज्येत प्रसादे भक्ति पैतृके ॥' इति रथावरस्य प्रसाददानप्रतिषे-  
 धवचनं, तद्विषयमहोपात्तरथावरविषयम् । अतीते पितामहे तद्धनं विप्रापुत्रयो  
 साधारणमपि मणिमुक्तादि पितुरेव, रथावर तु साधारणमित्यस्मादेव वचनाद-  
 वगम्यते । सरमाद्य जन्मना स्वत्वं किंतु स्वामिनाशाद्धिभागाद्वा स्वत्वम् । अत

१ न विभाज्यमेव । २ स्वत्व लौकिकं तदा । ३ स्वत्वमुक्तं । ४ प्रसा-  
 दादिह न प्रति । प्रसादाने प्रति । ५ समानमपि ।

एव पितृहर्षं विभागात्प्राग्भ्यस्वरवस्य प्रहीणत्वादन्येन गृह्यमाणं न निवार्यते इति चोद्यस्यानवकाशः । तथैकपुत्रस्यापि पितृपयाणादेव पुत्रस्य स्वमिति न विभागमपेक्षत इति । अत्रोच्यते—लोकप्रसिद्धमेव स्वत्वमित्युक्तम् । लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नुवमर्हति । 'विभाग'शब्दश्च बहुस्वामिक्रयनविषयो' लोकप्रसिद्धः, नान्यदीयैविषयो न प्रहीणविरयः; तथा 'उत्पत्तैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च । 'मणिमुक्ताप्रवालाणाम्' इत्यादिबचनं च जन्मना स्वत्वपक्ष एवोपपद्यते । नच पितामहोपात्तरथावरविषयमिति युक्तम् ; 'न पिता न पितामहः' इति वचनात् । पितामहस्य हि स्थाजितमपि पुत्रे वीत्रे च स्वत्वदेयमिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति । तथा परमते मणिमुक्ताप्रवालवस्त्राभरणादीनां पितामहानामपि पितुरेव स्वत्वं; वचनात्, एवमस्मन्मतेऽपि विप्राजितानामप्येतेषां पितृदानाधिकारः, वचनादित्यविशेषः ॥ यत्तु 'मर्त्रां प्रीतेन' इत्यादिविष्णुवचनं स्थावरस्य प्रीतिदानज्ञापनं तस्वोपार्जितस्यापि पुत्राद्यभ्यनुज्ञायैवेति व्याख्येयम् ; पूर्वोक्तमणिमुक्तादिवचनैः स्थावरस्वतिरिक्तस्यैव प्रीतिदानयोग्यत्वनिश्चयात् ॥ यदुत्पत्तिसाधयेषु वैदिकेषु धर्मस्वनधिकार इति, तत्र तद्विधानपलादेवाधिकारो गम्यते । तस्मात्पेतुर्कं पितामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथापि पितुरावरयकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानदृग्भ्रमभरणापद्धिमोक्षादिषु च स्थावरस्यतिरिक्तद्रव्यविनिचोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम् । रथावरे तु स्थाजिते विप्रादिप्राप्ते चपुत्रादिवारतन्त्र्यमेव; 'स्थावरं द्विपदं चैत्र दद्यापि स्वयमर्जितम् । असंभूय मुताभ्रवांसि दानं न च विक्रयः ॥ ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे स्थवस्तिताः । वृत्ति च तेऽभिकाहृणन्ति न दानं न च विक्रयः ॥' इत्यादिस्मरणात् । अस्यापवादः—'एकोऽपि स्थावरे कुर्यादानाधमनविक्रयम् । आपत्काले कुटुम्बार्थं धर्मार्थं च विशेषतः ॥' इति । अस्यार्थः—अप्राप्त्यवसरेषु पुत्रेषु वीत्रेषु चाऽनुज्ञानादावसमर्थेषु भ्रातृषु च तदाविधेभ्यः विभक्तेभ्यपि सकलकुटुम्बस्यापिन्यामापदि तत्पोषणे वाऽत्रय कर्तव्येषु च पितृश्राद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः कुर्यादिति । यत्तु वचनम्—'विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः । एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये ॥' इति, तदुत्पत्तिविभक्तेषु द्रव्यस्य मध्यस्वत्वादेकस्यानीशत्वात् सर्वाभ्यनुज्ञाऽत्रयं कार्या । विभक्तेषु तृत्तरकालं विभक्ताविभक्तसंशयस्यु-

१. प्रसिद्धो । २. अदीयवचनविषयो । ३. तं तयोत्पत्तयेव । ४. पितृपितामहस्य । ५. मुक्तावस्त्राभरणा । ६. एतेषां मणिमुक्तादीनां । ७. विमोक्षादिषु । ८. वा अनुज्ञादा । अनुज्ञादानादावः ९. अनीशकरवाद् ।

दासेन व्यवहारसौकर्याय सर्वाभ्यनुज्ञा न पुनरेकस्यानोश्चरत्वेन, अतो विभक्तानुमतिव्यतिरेकेणापि व्यवहार सिद्धायेवेति श्याव्येयम् । यदपि—‘स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च । हिरण्योदकदानेन पद्मिर्गच्छति मेदिनी ॥’ इति, तथापि ग्रामानुमति, ‘प्रतिग्रहप्रकाश स्यात्स्थावरस्य विशेषतः’ ( व्य० १०६ ) इति स्मरणात् व्यवहारप्रकाशनार्थमेवापेक्ष्यते, न पुनर्ग्रामानुमया विना व्यवहारासिद्धिः । सामन्तानुमतिस्तु सीमाविप्रतिपत्तिनिरामाद्यः । ज्ञातिदायादानुमतेस्तु प्रयोजनमुक्तमेव ‘हिरण्योदकदानेन’ इति, ‘स्थावरे विक्रयो मारित कुर्यादाभिमनुज्ञया’ इति स्थावरस्य विक्रयप्रतिषेधात्, ‘भूमि य प्रतिपृच्छति यश्च भूमिं प्रयच्छति । उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनौ ॥’ इति दानप्रदासादर्शनाच्च । विक्रयेऽपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदक दत्त्वा दानरूपेण स्थावरविक्रय कुर्यादित्यर्थः । पैतृके पैतामहे च घने ज-मनैव स्वस्वेऽपि विशेषं ‘भूर्या पितामहोपात्ता’ ( व्य० १२१ ) इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ इदानीं यस्मिन्काले येन च यथा विभाग कर्तव्यस्तदुक्तं यथाह—

विभागं चेत्पिता कुर्याद्विच्छया विभजेत्सुतान् ।

उपेष्टं वा श्रेष्ठभागेन सर्वं वा स्यु समंशिन ॥ ११४ ॥

यदा विभागः पितः प्रकीर्षति तदा इच्छया विभजेत् पुत्रानामनः सदा शास्त्रं पुत्रं पुत्रौ पुत्रान् । इच्छया निरङ्कुशत्वादनियमप्रप्तौ नियमार्थमाह— उपेष्टं वा श्रेष्ठभागेनेति । उपेष्टं श्रेष्ठभागेन मध्यमं मध्यभागेन, कनिष्ठं कनिष्ठभागेन, ‘विभजेत्’ इत्यनुवर्तते । श्रेष्ठादिविभागश्च मनुनोक्तः ( १।१।२ )— ‘उपेष्टस्य विंश उद्धार सर्वदन्वात्थ यद्दरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्सुरीय तु पथीयसः ॥’ इति । ‘वा’ शब्दो वक्ष्यमाणत्वापेक्षः । सर्वं वा स्यु समंशिन इति । सर्वं वा उपेष्टादथ समोशभाजं कर्तव्यं । अथ च विपमो विभागः स्वामितद्रव्यविषयः । पितृक्रमायाते तु समस्वाऽथव वक्ष्यमाणत्वात्नेत्रुया विपमो विभागो युक्तः । विभागं चेत्पिता कुर्यादिति । यदा पितृर्ध्विभागेच्छा स तावदेकः कालः । अथोऽपि जीवैत्यपि पितरि द्रव्यनिस्पृहे निवृत्तरमणे मानरि च निवृत्तरजस्काया, पितुरनिच्छायामपि पुत्रेन्द्रियैः विभागो भवति । यथोक्तं नारदेन ( १।३।३ )—‘अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेयुर्धनं समम्’ इति पित्रो रूर्ध्वं विभाग प्रतिपाद्य—‘मातृनिवृत्ते रजसि प्रत्तासु मगिनीषु च । निवृत्ते चापि रमणे पितृयुं परतदृष्टे ॥’ इति दर्शितः । अत्र ‘पुत्रा घनं समं विभजेयुः’ इत्यनुपपद्यते । गौतमेनापि—‘ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेरन्’ ( २।८।१ )

इत्युपस्था 'निवृत्ते चापि रजसि' ( गौ० २८।२ ) इति द्वितीय कालो दर्शित ।  
'जायति चेच्छ्रुति' ( गौ० २८।२ ) इति तृतीय कालो दर्शित । तथा सरज  
स्कायामपि मातर्यनिच्छ्रुत्यपि पितर्यभर्मवर्तिनि दीर्घरोषप्रस्ते च पुत्राणामिच्छया  
भवति विभाग । यथाह शङ्ख — अकामे पितरि रिक्यविभागो वृद्धे विपरीत  
चेत्तसि रोगिणि च' इति ॥ ११४ ॥

भाषा—यदि पिता (सपत्नि का) विभाग करे तो उसे अपनी इच्छानुसार  
पुत्रों में बाँटे । जैसे पुत्र को श्रेष्ठभाग ( मझले को मध्यम और  
सबसे छोटे को कनिष्ठभाग ) देकर विभाजन करे भवया सबको समान  
अंश देवे ॥ ११४ ॥

वित्तिच्छ्रया विभ गो द्विधा दर्शित—समो विपमश्च, तत्र समविभागे  
विशेषमाह—

यदि दुर्यात्समानंशान् पत्न्य कन्या समांशिका ।

न दत्तं स्त्रीघनं यासां भर्ता या श्वशुरेण वा ॥ ११५ ॥

यदा स्वेच्छया पिता सर्वाभेन सुतान् समविभागिन करोति तदा पत्न्यश्च  
पुत्रसमाशमाज कर्तव्या, यासां पत्नीनां भर्ता श्वशुरेण वा स्त्रीघन न दत्तम् ।  
इति तु स्त्रीघने भर्ताश वचयति ( व्य० १४८ )—'दत्ते स्वर्धं प्रकल्पयेत्' इति ॥  
यदा तु श्रेष्ठभागादिना ज्येष्ठादीन् विभजति तदा पत्न्य श्रेष्ठादिभागात्  
लभते, किन्तु दुर्योधनोदारासमुदायात्समानेवाश्राद्धम ते ह्योद्वार च ॥  
यथाहापस्तम्ब ( य० २।१४।९ )—'परीभाण्ड च गृहेऽलङ्कारो भार्याया'  
इति ॥ ११५ ॥

भाषा—यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता  
है तो उस उन पत्नि की भी समान भाग देना चाहिये, जि हूँ अपने  
पति से वा श्वशुर स्त्रीघन नहीं मिला है ॥ ११५ ॥

ज्येष्ठ वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्यु समांशिन ( व्य० ११४ ) इति  
पञ्चदशेऽप्यपवादमाह—

शशस्यानीहमानस्य किञ्चिद्वत्त्वा पृथक्क्रिया ।

स्वयमेव द्रव्याज्जनसमर्थस्य पितृद्व्यमनीहमानस्वानिर्जुतोऽपि यत्किञ्चिद-  
सारमपि दात्रा पृथङ्क्रिया विभाग कर्तव्य विद्या । तत्पुत्रादीनां नादनिपृष्टा  
ना भूदिति ॥—



'ज्येष्ठ या श्रेष्ठयागेन' ( स्व० ११४ ) इति न्यूनाधिकविभागो दर्शित । तत्र शास्त्रोक्तोद्गारादिविषमविभागव्यतिरेकेणा-पथाविषमविभागनिषेधार्थमाह—

न्यूनाधिकविभक्ताना धर्म्यः पितृकृत स्मृत ॥ ११६ ॥

न्यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागो यदि धर्म्यं शास्त्रोक्तो भवति तदाऽसौ पितृकृत कृत एव न निवर्तत इति म आदिभि स्मृत । अ-पथा ॥ पितृकृतोऽपि निवर्तत इत्यभिप्राय । यथाह भारद् ( १३।६ )— स्याधित कुपितश्चैव विषवासक्तमानस । अन्वधाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभु ॥ इति ॥ ११६ ॥

भाषा—जो पुत्र स्वयं द्रव्यजंन करने में समर्थ हो उसे उलके न चाहने पर भी कुछ देकर बँटवारा करना चाहिये । यदि पिता द्वारा पुत्रों में कृपा गयी न्यून या अधिक विभाजन धर्म क अनुसार है तो यह परिषत्तमीय नहीं होता ॥ ११६ ॥

हदार्थी विभागस्य काळात्तर कर्त्रं तर प्रकारनियमाह—

विभजेर-मुता पित्रोरुर्ध्वं रिक्थमृण समम् ।

पित्रोर्भातापित्रोरुर्ध्वं प्रयानादिति काळो दर्शित । मुता इति कर्तारो दर्शिता । सममिति प्रकारनियम । सममेवेति रिक्थमृण च विभजेरन् । ननु 'ऊर्ध्वं पितृश्च मातुश्च ( मनु १।१०४ ) इत्युपक्रम्य ( मनु १।१०५ )— ज्येष्ठ एव तु पृथ्वीयादिभ्य धनमशेषत । शेषास्तमुपर्वं वयुर्ध्वैव पितर तथा ॥ इत्युक्त्वोक्तम् ( मनु १।११२ )— ज्येष्ठस्य विस उद्गार सर्वद्रव्याश्च पद्वारम् । तैमोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीय तु वनीयस ॥' इति । सर्वस्माद्द्रव्यसमुदाया द्विशतितमो भाग सर्वद्रव्येभ्यश्च यज्येष्ठ तज्येष्ठाय दातव्यम् तर्धं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यम च द्रव्य मध्यमश्च दातव्यम् तुरीयमशीतितमो भागो हीन द्रव्य च कनिष्ठाय दानव्यमिति मातापित्रोरुर्ध्वं विभक्तानामुद्गारादिभागा मनुना दर्शित । तथा ( १।११६।११७ )— उद्गारेऽनुदृष्टे स्वेषामिय स्याद्दश वक्ष्यता । एकाधिक हरेज्येष्ठ पुत्रोऽर्ध्वं ततोऽनुज ॥ अक्षमस्य धर्वादास इति धर्मो-व्यवस्थित ॥ इति । ज्येष्ठस्य ही भागो, तदन तरजातस्य सार्धं एको भाग ततोऽनुजानामेकैको विभाग इत्युद्गारव्यतिरेकेणापि त्रिषमो विभाग

१ धर्म । २ विभजेयु । ३ ऊर्ध्वंमृण । ४ प्रायणात् ।  
५ तर्धं मध्यमस्य स्यात्तर्धं तु कनीयस इति । ६ दनसमुच्चपात् ।

दर्शितं पित्रोरुर्ध्वं विमज्जताम् । जीवद्विभागे च स्वयमेव विपमो विभागो दर्शित — 'ज्येष्ठ वा श्रेष्ठमागम' ( श्य० ११४ ) इति । अत सर्वस्मिन्नपि काले विपमो विभागोऽस्तीति कथं सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥ अत्रोच्यते— सत्यम्, अथ विपमो विभाग शौचदृष्टस्तथापि लोकविद्विष्टत्वाच्चानुष्ठेय, 'अस्वयं लोकविद्विष्ट धर्म्यमप्याचरेत् तु ( भा० १५६ ) इति निषेधात् । यथा 'महोत्त वा महाज वा श्रोत्रियायोपवृत्तयेत् ( भा० १०९ ) इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम् । यथा वा— मैत्रायणुर्गी वा यदामनु च भ्यामालभेत' इति गवालम्भनविधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम् । उक्त च— 'यथा नियोगधर्मा नो नानुष ध्यावधोऽपि वा । तथोद्धारविभागोऽपि नैव सप्रति घतंते ॥' इति । ( नियोगमनतिक्रम्य यथानियोग, नियोगाधीनो यो धर्मो 'देवराजस्य सुतोऽपति' रित्यादिः स नो भवति ) भावस्तम्भोऽपि ( भा० ध० २१४११ )— 'जीव पुत्रेभ्यो दाय विमज्जेरसमम्' इति 'समतामुभया— 'ज्येष्ठो दायदा इत्येके' ( भा० ध० २१४१५ ) इति 'कृत्स्नधन' प्रदण ज्येष्ठ स्वैकीयमतेनोप-पत्य देशविशेषे<sup>१</sup> सुवर्णं कृष्णा राव कृष्ण भीम ज्येष्ठस्य रथ पितु<sup>२</sup> परिभाण्ड च गृहेऽलकातो भार्याया ज्ञातिधन चेत्येके' ( ध० २१४१ ६-९ ) इत्येकीयमतेनैवमुद्धारविभाग दर्शयित्वा तच्छारत्रैर्विप्रतिपिद्धम्' ( भा० ध० २१४११० ) इति निराकृतवान् । त च 'शास्त्रविर्मतिषेध स्वयमेव वक्ष्यति इम 'मनु पुत्रेभ्यो दाय -वभक्तदित्यविशेषेण श्रूयते' ( भा० २१४१११ ) इति । तस्माद्विपमो विभाग शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधात्कुतविरोधान्प नानुष्ठेय इति सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥—

मातापित्रोर्धनं सुता विभजेरन्नित्युक्त, तत्र मातृधनेऽपराधगाह—

### मातृर्दुहितर शेषमृणात्

मातृर्धनं दुहितो विभजेरन् । श्रणाच्छेष मातृकृतर्णापाकरणावशिष्टम् । अतश्चर्णसम न्यून वा मातृधनं सुता विभजेरन्नित्यस्य विपय । एतदुक्तं भवति— मातृकृतमृणं पुत्रैरेवापाकरणीय, न दुहितुभि । श्रणावशिष्टं तु धनं दुहितरो गृह्णीयुरिति । युक्तं चैतत्— 'पुमान् पुसोऽधिके शुक्रे स्त्री भव यधिके स्त्रिया' ( मनु ३।४९ ) इति स्वययवाना दुहितृषु बाहुवयात् स्त्रीषु न दुहितृगामि, पितृधनं पुत्रगामि, पितृययवानां पुत्रेषु बाहुवयादिति । तत्र च गौतमेन विशेषो

१ दर्शितो मनुना । २ कथं विमज्जेरन्निति सममेव नियम्यते । ३ शास्त्र-दृष्टोऽस्ति । ४ धर्मोऽन्यो । ५ स्वमतमुच्यते । ६ विशेषेषु । विशेषेण । ७ परिभाण्ड । ८ विप्रतिपिद्ध । ९ कृत्स्नम् ।

दर्शित ( २८।२४ )—‘स्रीधनं दुहितृणामप्रदानामप्रतिष्ठितानां च’ इति ।  
अस्यार्थः—प्रत्ताऽप्रत्तासमवायेऽप्रत्तानामेव स्त्रीधनम् । प्रत्तासु च प्रतिष्ठिताप्रति  
ष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठितानां चेवेति । अप्रतिष्ठिता निर्धना ॥—

दुहितृभावे मातृधनमृणावशिष्टं को गृह्णीयादित्यत आह—

ताभ्य ऋतेऽन्वय ॥ ११७ ॥

मातृयो दुहितृभ्यो विना दुहितृणामभावे अन्वयः पुत्रादिगृह्णीयात् ।  
एतच्च—‘विभजेरन्सुता पित्रोरुर्ध्वम्’ ( व्य० ११० ) इत्यनेनैव सिद्धं स्पष्टार्थं  
मुक्तम् ॥ ११७ ॥

भाषा—माता और पिता की मृत्यु के बाद सभी पुत्र मिल कर पिता की  
सम्पत्ति पृथक् पृथक् का बराबर बराबर विभाजन कर लें । माता का धन पुत्रियों  
को लें और पुत्रियों न हों तो ( माता का धन भी ) पुत्र ग्रहण करें ॥११७॥

अविभाज्यमाह—

पितृद्रव्याविरोधेन यद्व्ययत् स्वयमर्जितम् ।

मैत्रमौद्वादिकं चैव दद्यादानां न तद्वयेत् ॥ ११८ ॥

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं ह्यनमप्युद्धरेत्तु यः ।

दायादेभ्यो न तद्वदद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥ ११९ ॥

मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यस्वयमर्जितः, मैत्र मित्रसकाशाद्यल्लब्धः,  
मौद्वादिकं विवाहलब्धं दद्यादानां भ्रातृणां तन्न भवेत् । क्रमात्पितृक्रमादायात्  
परिक्रिद्रव्यं अन्वैर्हृतमसामर्थ्यादिनां पित्रादिभिरनुद्धृतं च पुत्राणां मध्य  
हृतराभ्यनुद्धरेत्तु इति रुदायादेभ्यो भ्रात्रादिभ्यो न दद्यात्, उद्धर्तव्यं गृह्णीयात् ।  
तत्र चेत्तु तुरीयांशमुद्धर्ता लभते शेषं तु सर्वेषां सममेव । यथाह शब्द—‘एवं  
नष्टा तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरेत्क्रमात् । यथाभावा लभन्तेऽन्ये दशवर्षां तु तुरीय  
कम् ॥’ इति । क्रमादभ्यागतमिति शेषः । तथा विद्यया वेदाध्ययनेनाभ्यापनेन  
वेदार्थेष्वपत्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दद्यादभ्यो न दद्यात्, अर्जकं एव  
गृह्णीयात् । अत्र च ‘पितृद्रव्याविरोधेन यद्व्ययत् स्वयमर्जितम् ॥’ इति सर्वत्र  
शेषः । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन अन्वैर्हृतं पितृद्रव्याविरोधेन अर्जितं,  
पितृद्रव्याविरोधेन च क्रमादायात्मुद्धृतं, पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति  
प्रत्येकमभिसम्पद्यते । तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण अन्वैत्रम्,  
आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्येभ्यो यत्क्रमायात्मुद्धृतं तथा  
पितृद्रव्येभ्यो लब्धया विद्यया यल्लब्धम्, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च

१ मप्युद्धरेत् । २ सर्वत्र शेषः । ३ क्रमायात् ।

१८ या०

विभंजनीयम् । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्यविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभंजनीयम् । अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्गाहिकमित्यादिनारव्य-यम् । अथ पितृद्रव्यविरोधेनावि यन्मैत्रादिदृश्यं तस्याविभाज्यत्वात् मैत्रादिवचनमर्थवदितुच्यते । तथा सति समाचारविरोध, विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च ।—'बृहस्पतिः विष्णुपाद् आनुषो विद्यामधिगच्छन् । भागं विद्याधनात्समाप्त लभेनाधुनोऽपि सन् ॥' (नारद १३।१०) इति । तथा विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्त कारत्यायनेन—'परमलोपयोगेन विद्या प्राप्ताभ्यस्तसु वा । तथा लब्ध धन यस्तु विद्याप्राप्त तदुच्यते ॥' इति । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य भिन्नत्वावधारणे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरोद्धत्वापत्तेः । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना ( १।२०८ )—'अनुपपन्नपितृद्रव्य श्रमेण यदुपार्जितम् । दायादेश्चो न तद्दायाद्विद्यया लब्धमेव च ॥' इति श्रमेण मेधा युद्धादिना । ननु पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिदृश्यं तदविभाज्यमिति न यत्तदयम् ; विभागप्राप्त्यभावात् । यद्येन लब्धं तत्तस्यैव, नाम्यस्येति प्रसिद्धमरम् । प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेधः । अत्र कश्चिदित्य प्राप्तिमाह—'यत्किञ्चिदपि तस्मिन्नेते धन उद्येष्टोऽधिगच्छति । भागो यद्योयसो सन्न यदि विद्यानुवादिन ॥' ( मनु १।२०७ ) इति । उद्येष्टो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा वितरि प्रेते अप्रेने वा यवीयसो यर्षीयसो चति स्वाक्यानेन वितरि तस्यसति च मैत्रादीनां विभाज्यत्व प्राप्तं प्रतिषिद्धयत इति,—तद्वत्, नद्यत्र प्राप्तस्य प्रतिषेध, किंतु सिद्धस्यैवानुपायोऽयम् । लोकनिद्रस्यैवानुपादानेय प्रायेणादिमन्मकरणे वचनानि । अथवा समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वं तत्र समाश्रितम् । इति प्राप्तत्वात्प्राद इति सनुच्यते भवान् । अतश्च 'यत्किञ्चिदपि तस्मिन्नेते' इत्यस्मिन्मन्मचने उद्येष्टादिपदाविरक्त्या प्राप्तिरिति व्यामोहमात्रम् । अनो मैत्रादिवचने पितृप्रागूर्ध्वं वैरिभाज्यत्वेनोक्तस्य 'यत्किञ्चिदपि तस्मिन्नेते' इत्येवमाह इति व्यापयेयम् । तथाऽ'यद्वदविभाज्यमुक्तं मनुना ( १।२।१९ )—'यद्यप्यमलकारं कृताशमुदकं क्षिप । योग्येन प्रचारं च न विभाज्यं प्रचलते ॥' इति । धनानामेव यद्यागामविभाज्यत्व, यद्येन धनं तत्तस्यैव । विरुद्धवस्त्राणि तु पितृसत्त्वं विभंजनीयं धातृभोक्त्रे दातृत्वानि । यथाह गृह्यसुनि—'यन्मालकारादप्यादि पितृर्धनं दातृनाः द्विजम् । गन्धमास्यं समस्यस्यं धातृभोक्त्रे समर्पयेत् ॥' इति । अभिगतानि तु यद्यानि विभाज्यान्वेव । यत्र वादनमभक्तिविकादि, तदपि यद्येनारुत तत्तस्यैव । विध्य तु यत्रवदेव, अथादीनां बहुष्ये तु तद्विष्णुवेषादिनां रिभा-

१ सम विभंजनीयम् । २ विरोधप्रापयेन । ३ निषेधः । ४ चाविभाज्यम् ।

५ इत्यवशात्प्रादः । ६ विरुद्धानि ।

उपश्रमव । वैश्वेभ्याविभाज्यस्य उपेक्षस्य ( मनु ९।११९ )—'अत्राविक्र संक-  
 दाय ७ मातु विगम भजेत् । अत्राविक्र संकशक उपेक्षस्यैव विधीयते ॥' इति  
 मनुस्मृत्यात् । अटकारोऽपि यो येन घृत् स तस्यैव । अघृत साधारणो  
 विभाज्य एव । ( मनु ९।२०० )—'पत्नी जीवति य स्त्रीभिरलकारो एवो  
 भवेत् । न त अनरभ्यावादा भ्रममाना पतन्ति ते ॥' इति । 'अलकारो एवो  
 भवेत्' इति <sup>३</sup>विशेषोपादानादघृतानां विभाज्यस्य गण्यते । कृनास्य तद्दुलभोद्  
 वादि तद्व्यविभाज्य यथासम्य भोज्यस्यम् । उदक उदराधार वृगादि तद्य  
 विगम मूलद्वारेण न विभाज्य पराविणोपभोग्यस्यम् । श्रियश्च दास्यो विगमा  
 न मूलद्वारेण विभाज्या, पराविण कर्म कारवित्तव्या । अवरद्वारतु विग्रा  
 रवैरिष्याथा ममा अपि पुत्रैर्न विभाज्या । 'स्त्रीषु च सयुक्तास्त्रिभाग' ( १८।  
 ४३ ) इति गौतमस्मृत्यात् । योगश्च येमस्य योगश्चेमम् । 'योग'शब्देनाल्लभ्यलभ  
 कारणं धीतरमातामिनमाप्य इष्ट कर्म लक्ष्यते । 'येम'शब्देन लभ्यपरिरक्षगहेतुभूत  
 वहिर्बन्दिदानतडागारासनिर्माणादि पूर्णं कर्म लक्ष्यते । तदुभय पैतृकमवि  
 पितृद्वयविशेषार्जितमप्यविभाज्यम् । यथाह लीलाचि—'येम पूर्णं योगमिष्ट  
 मियादुत्तरस्यदशित । अविभाज्ये च ते प्रोक्ते सयनासनमेव च ॥' इति ।  
 'योगश्च' शब्देन योगश्चेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उपपन्ते-इति  
 अचिन् । अथचामरशस्त्रापाजप्रभृत्तय इत्यन्वे । प्रचारो गृहारासादिषु  
 प्रसन्ननिर्गममार्गं सोऽप्यविभाज्य । यत्सूक्तमा चेन्नस्वाविभाज्याश्मुक्तम्—  
 'अविभाज्य सगोपाणामामहस्रकुलादपि । याज्य क्षेत्र च पत्र च घृतास्र  
 सुदक क्षिय ॥' इति, तद्माहृगोप नक्षत्रिवादिपुत्रविपयम् । 'न प्रतिग्रह  
 भूदया क्षत्रिवादिसुनाय वै । वक्ष्येवैर्वा पिता दद्यान्मृते विधासुतो हरेत् ॥'  
 इति स्मृत्यात् । याज्य यजनकर्मलक्ष्यम् । पितृप्रसादलक्ष्यस्याविभाज्यस्य  
 यपयते । नियमातिक्रमार्जितस्याविभाज्यस्यमनन्तरमेव न्यरासि । पितृद्वय-  
 विशेषेण यद्वर्जित सद्भिन्ननीचमिति स्थित, तत्रार्थकस्य भागद्वय वसिष्ठ  
 वचनात्—'यन सैवा स्वयमुपार्जित स्यात्स इवशमेव लभेत' ( १०।५१ )  
 इति ॥ ११८ ११९ ॥

भाषा—माता पिता के धन की महायता के विना स्वय कहीं से स्वय  
 उपार्जित धन, मित्र से मिले हुए तथा विवाह में प्राप्त धन में भाइयों का  
 हिस्सा नहीं होता । पितृ परमेश से आया हुआ धन, जिसे किसी भीर ने  
 बलपूर्वक अधिकार में किया हो, छुड़ाने वाले पुत्र का होता है, उसमें से

१ तु विगम मनुस्मृति । २ पतन्त्यथ । ३ विश्वस्योपादाना ।  
 ४ करण ।

माहृषीं को अश न देवे, तथा अपनी विद्या के द्वारा प्राप्त धन में भी दायदों का अश नहीं होता ॥ ११८-११९ ॥

अस्थापवादमाह—

सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु सम स्मृत ।

अविभक्तानां भ्रातॄणां सामान्यस्यार्थस्य कृषिवाणिज्यादिनाः सम्युक्तसमुत्थाने स्वद्वारार्धने केनचित्कृते सम एव विभागो नार्जयितुरशद्वयम् ॥—

विद्ये द्रव्ये पुत्राणां विभागो दक्षित, इदानीं पितामहे पौत्राणां विभागे विशेषमाह—

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागरूपना ॥ १२० ॥

यद्यपि पितामहे द्रव्ये पौत्राणां जन्मना स्वस्व पुत्रैरविशिष्ट, तथापि तेषां पितृद्वारेणैव पितामहद्रव्ये<sup>१</sup> विभागकल्पना, न स्वस्वपापेक्षया । एतदुक्तमयमि—यदाऽविभक्ता भ्रातर पुत्रानुत्पाद्य दिव्य गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्री, अन्यस्य प्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैपश्ये तत्र द्वावेक स्वपितृमद्य लभेते, अन्ये प्रयोऽप्येकमद्य पितृ, स्वयारोऽप्येकमेवाद्य पितृ लभन्त इति । तथा द्वेषुषि पुत्रेषु द्वियमाणेषु केषुचित्पुत्रानुत्पाद्य दिनष्टेष्वप्यमेव यथा । द्वियमाणा स्थानशानेय लभन्ते, नष्टानामपि पुत्रा विधानेर्वाश्लेष्यन्त इति याचनिकी व्यवस्था ॥ १२० ॥

भाषा—विभाजन के पहले माहृषीं क एक में रहते समय क सामान्य धन की कृषि व्यापार आदि से बृद्धि होने पर उसमें मयका समाग अश होता है । पितामह के धन में पिता के अश क आधार पर ही पुत्र के अश का निर्धारण होता है ( अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में अपने अपने पिता का भाग लगाकर और फिर अपने-अपने पिता क भाग में अपने अश का भाग लगाने पर ही पौत्र का भाग आता है ॥ १२० ॥

अपुत्रा विभक्ते पितृर्धियमानभ्रातृक वा पौत्रस्य पितामहे द्रव्ये विभागो नास्ति ।<sup>२</sup> अद्वियमाणे पितरि 'पितृतो भागरूपना' (व्य० १२०) द्रव्युत्पत्त्यात् । अत्रु ग। राज्ञितवपितृरिच्छयैवेत्याशङ्कित आह—

भूर्यां पितामहोपात्ता नियन्धो द्रव्यमेव चा ।

तत्र स्यात्सदृशं स्वार्थं पितृ पुत्रस्य चैव हि ॥ १२१ ॥

१ साधारणस्यार्थस्य । २ भागद्वयम् । ३ द्रव्यविभाग । ४ विप्रस्य । ५ स्वयमेव । ६ द्वियमाणे तु पितरि । ७ चोमयो ।

भूः शालिक्षेत्रादिका । निवन्ध एकस्य पर्णभरकरस्येयन्ति पर्णानि, तथा एकस्य क्रमुकफरभरकरस्येयन्ति क्रमुकफलानीत्याद्युक्तलक्षणम् । द्रव्य सुवर्णरजसादि वस्तिभामहेन प्रतिग्रहविजयादिना लब्धं तत्र पितु पुत्रस्य च स्वाभ्य लोकप्रतिद्धमिति कृत्वा विभागोऽस्ति । हि यस्मात्तरसदृश समानम्, तस्मान्न पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम् । अतश्च 'पितृतो भागकल्पना' ( १४० १२० ) इत्यन्तरस्याभ्ये समोऽपि वाचनिकम् । 'विभाग चेन्पिता कुर्यात्' ( १४० ११४ ) इत्यन्तरस्वाजितविषयम् । तथा—'द्वावशौ प्रतिपद्यन् विभजन्नामन पिता' ( नारद ११।१२ ) इत्येतदपि स्वाजितविषयम् । 'जीवतोरस्य तत्र स्वाऽन्नरयापि समन्विन इत्येतदपि पारतम्य मातापित्रजितद्रव्यविषयम् । तथा—'अनीशारस्ते हि जीवतो' इत्येतदपि । तथा तरपत्कायां मातरि सरपूहे च पितरि विभागमनिरुद्धस्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति । तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्य दीयमाने विक्रायमाने वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकार, विप्रजिते न तु निषेधाधिकार तत्परत-प्रत्यात् । अनुमनिरुद्धवर्त-या । तथा हि—'पैतुक पैतामह च स्वाभ्य यद्यपि जन्ममैव, तथापि पैतुके पितृपरत-प्रत्यात् पितृर्वाजंकरयेन माथा-वात् पित्रा विनियु-यमाने स्वाजिते द्रव्ये पुत्रेणानुमति कर्तव्या । पैतामह तु ब्रह्मो स्वाभ्यमविशिष्टमिति निषेधाधिकारोऽप्यस्तीति विशेष । अनुरपि ( १।२०२ ) 'पैतुक ॥ पिता द्रव्यमनवाप्त यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्साधमकाम स्वयमपितम् ॥' इति । यरिपितामहाजित केनाप्यपहृत पितामहानुद्धृत यदि पितोद्धरति तस्वाजितमिव पुत्रे सार्धं मकाम स्वय न विभजेदिति वदन् विनामहाजितमकामोऽपि पुत्रेच्छया पुत्रे सह विभजेदिति दर्शयति ॥ १२१ ॥

भाषा—जो भूमि निबन्ध ( बुद्धी आदि ) एव धन पितामह ने उपाजित किये हों उसमें भी उपरोक्त के समान ही पहले पिता का भाग लगाकर फिर उसके अनन्तर्गत पुत्र का भाग होता है ॥ १२१ ॥

विभागोत्तरकालमुप-नस्य पुत्रस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

विभक्तेषु सुतो जात सवर्णाया विभागभाक् ।

विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यावासुत्प-नो विभागभाक् । विभज्यत इति विभाग । पित्रोर्विभागस्त भजतीति विभागभाक्, पित्रोरुर्ध्वं तपोरस्य लभत इत्यर्थः । मानुषाण्य चाम्नायां दुहितरि 'मानुहुदितर गोवम्' ( ४४०

१ भारकरस्य । २ स्वाभ्यमर्थसिद्धमिति । ३ पितु स्वाजंकारेण । ४ कारोऽप्यस्तीति ।

११७) इत्युक्त्वात् । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्वाशमेन पि पावलभते, मातृक तु सर्वमेव । पुत्रदेव मनुनोक्तम् ( १।२१६ )—'ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्' इति । पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्येयम्, 'अनीश पूर्वज पित्रोर्भ्रातृ मांति विभक्तज' इति स्मरणात् । विभक्तयोर्मातापित्रोर्विभागे विभागात्पूर्व-मुत्पन्नो न स्वामी, विभक्तजश्च भ्रातृभ्राते न स्वामीत्यर्थः । तथा विभागोत्तरपाल पित्रा यत्किञ्चिद्भित्त तत्सर्वं विभक्तजस्यैव, 'पुत्रे सह विभक्तेन पित्रा यास्वय-मर्जितम् । विभक्तपद्व तत्सर्वमनीशा पूर्वजा स्मृता ॥' इति स्मरणात् । ये च विभक्ता पित्रा सह सखटा पितृरुर्ध्वं तै सार्धं विभक्तजो विभजत् । यथाह मनु ( १।२१६ )—'सखटास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तै सह' इति ॥—

पितृरुर्ध्वं पुत्रेषु विभक्तेषु पञ्चादुत्पन्नस्य षष्ठ्य विभागदृष्टनेत्यत आह—

दृष्ट्याह्य तद्विभाग स्यादायव्ययविशोधिनात् ॥ १२२ ॥

तस्य पितरि म्रते भ्रातृविभागवमयेऽस्पष्टगर्भायां मातरि भ्रातृविभागोत्तर काठमुत्पन्नस्यापि विभागः । तद्विभाग कुत्र दृश्यत आह । दृष्ट्याह्यतुभिर्गृहीता ज्ञनात् । कीदृशात् ? आयव्ययविशोधिनात् । आय प्रतिदिनस प्रतिमास प्रत्येक वा यदुत्पद्यते, व्यय पितृकृत्तर्णावाकरण, ताभ्यामायव्ययाभ्या यच्छ-धित तत्तस्माद्दृष्टव्यं तदागो दातव्यं स्यात् । एतदुक्तं भवति—मातरिपुत्रेषु भागेषु तदुत्पन्नाय प्रवेरय पितृकृत्तर्णमवगीयात्तद्विष्टेभ्य स्वभ्य स्वभ्यो भागेषु किञ्चिद्विदुदृश्य विभक्तत्रय भाग स्वभागसम वर्तव्य इति । एतच्च विभक्तगणसमयेऽप्रजस्य भ्रातृभ्रातृवामस्पष्टगर्भायां विभागात्पूर्वमुत्पन्न स्यापि धदितव्यम् । स्पष्टगर्भायां तु प्रथमं प्रतीचय विभाग वर्तव्यः । यथाह यतिष्ठ ( १७।४१ )—'अथ भ्रातृणा दापविभागो वाश्रापवा पित्रपस्नामा-मापुत्रलाभात्' इति । गृहीतगर्भाणामाप्रसवाप्रतीकृत्तमिति योजनायम् ॥ १२२ ॥

भाषा—पुत्रां मे संपत्ति वा विभाजन होने क कुछ कालोपरा त यदि सवर्णा पत्नी ॥ पुत्र उत्पन्न होता है तो वह मां भाग का अधिकारी होता है । पिता क मरण पर यदि मातृयो क विभाग क समय माता को गर्भ हो किन्तु वह ज्ञात न हो और उसमे विभाग हान क कुछ कालोपरा १ पुत्र होव तो भाग व्यय का हिसाब करके उसमें से उम भाग देता च हिंदू ॥ १२२ ॥

१ मातृभ्राते तु सर्वमेव । मातृभागः । २ पुत्रमृगः । ३ भागभ्यो यत्किञ्चिद्दृश्यम् । ४ समय भ्रातृभ्रातृवामप्रज्ञायामस्पष्टगर्भायां स्वभागाः । समय भ्रातृभ्रातृवामप्रज्ञस्य स्पष्टगर्भायां विभागात्पूर्वम् ।



विभक्तज पित्र्य मातृक च सर्वं धनं गृह्णातीत्युक्तं, तत्र यदि विभक्त पिता माता वा विभक्त्याय पुत्राय स्नेहवशादाभरणदिक प्रयच्छति, तदा विभक्तजेन दानप्रतिषेधो ॥ कर्तव्यं भापि दत्त प्रत्याहर्तव्यमित्याह—

पितृभ्यां यस्य यद् दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मातापितृभ्यां विभक्त्या पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य बहत्तमलकारादि तत्तस्यैव पुत्रस्य, न विभक्तजस्य स्व भवति । न्यायसाध्यादिमाताप्रागपि यस्य बहत्त तत्तस्यैव । तथा भवति विभक्तजे विभक्तयो वित्रोरशं तदूर्ध्वं विभक्ततां यस्य बहत्त तत्तस्यैव, नाम्यस्येति वेदितव्यम् ॥—

जीवद्विभागे स्वपुत्रसमाशित्व परानामुक्तं, 'यदि कुर्वांसमानशाव्' (१५० ११५) इत्यादिना । पितृरूर्ध्वं विभागेऽपि परानीना स्वपुत्रसमाशित्व दत्तं-वितुमाह—

पितृरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ॥ १२३ ॥

पितृरूर्ध्वं वितुं प्रयाणादूर्ध्वं विभजता मातापि स्वपुत्रांशसममथा हरेत्,— यदि स्त्रीधनं न दत्तम् दत्ते त्वर्धांशहारिणीति धैष्यते ॥ १२३ ॥

भाषा—माता पिता जिय ( विभक्त ) पुत्र को जो वस्तु दते हैं वह उसी का धन होता है । पिता की मृत्यु के बाद ( यदि स्त्रीधन न मिला हो ) तो विभाग के समय माता भी पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करे ॥ १२३ ॥

पितरि प्रते यद्यत्सकृता आतर सन्ति, तदा तत्संस्कारे कोऽधिक्रियत इत्येव भावः—

“असंस्कृतास्तु संस्कार्यां भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृती ।

पितृरूर्ध्वं विभक्तजिर्नागुभिरसंस्कृता आतर समुदायद्वयेन संस्कर्तव्या ॥—  
असंस्कृतास्तु भगिनीषु विशेषमाह—

भगिन्यश्च निजादंशाव् दत्त्वाशं तु तुरीयकम् ॥ १२४ ॥

अस्वार्थं—भगिन्यश्चासंस्कृता संस्कर्तव्या भ्रातृभिः । किं कृत्वा ? निजादंशा-चतुर्थमंश दत्त्वा । अनेन दुहितरोऽपि पितृरूर्ध्वमंशमाति य इति सम्प्रते । तत्र निजादंशात् इति प्रत्येकः परिकविरतादंशाद्दृष्ट्य चतुर्थांशो दातव्य इत्येवमर्थो न भवति, किंतु यज्जातीया वन्या, तज्जातीयपुत्रमाणाचतु

१ तस्यैव । २ मातु स्वपुत्र । ३ प्रायणा । ४ वधवति । ५ असंस्कृताश्च । ६ संस्कार्या । ७ इत्येवमर्थो । इत्यर्थो ।

धांसभागिनी सा कर्त्तव्या । एतदुक्तं भवति—यदि ब्राह्मणी सा कन्या तदा ब्राह्मणीपुत्रस्य दावानशो भवति, तस्य चतुर्थांशतस्या भवति । तद्यथा—यदि कस्यचिद् ब्राह्मणस्यैका पत्नी पुत्रश्चैक कन्या चैका, तत्र पित्र्य सर्वमेव द्रव्य द्विधा पत्नी पुत्रश्चैक कन्या चैका, तत्र पित्र्य सर्वमेव द्रव्य द्विधा विभज्य तत्रैक भाग विभज्य तत्रैक भाग चतुर्धा विभज्य तुरीयमश कन्यायै दत्त्वा शेष पुत्रो गृह्णीयात्, यदा तु द्वौ पुत्रौ एका च कन्या, तदा पितृधन सर्वं त्रिधा विभज्य एक भाग चतुर्धा विभज्य तुरीयमश कन्यायै दत्त्वा शेष द्वौ पुत्रौ विभज्य गृह्णीत, अथ स्येक पुत्रो द्वे कन्ये, तदा पितृधन त्रिधा विभज्य एक चतुर्धा विभज्य तत्र द्वौ भागौ द्वाभ्या कन्याभ्यां दत्त्वाऽवशिष्ट सर्वं पुत्रो गृह्णातीत्येव समानजातीयेषु भ्रातृषु भगिनीषु च योजनायम् । यदा तु ब्राह्मणीपुत्र एक चतुर्याकन्या चैका, तत्र पितृधन सप्तधा विभज्य चतुर्यापुत्रभागार्थं चतुर्धा विभज्य तुरीयांश चतुर्याकन्यायै दत्त्वा शेष ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णाति । यदा तु द्वौ ब्राह्मणी पुत्रौ चतुर्याकन्या चैका, तत्र पित्र्य धनमेकादशधा विभज्य तेषु त्रानशान् चतुर्यापुत्रभागार्थं चतुर्धा विभज्य चतुर्थमश चतुर्याकन्यायै दत्त्वा शेष सर्वं ब्राह्मणीपुत्रा विभज्य गृह्णीत ॥ एव जातिवैषम्ये भ्रातृणां भगिनीना च सपत्याया सास्ये वैषम्ये च संप्रभोहनीयम् । नच<sup>१</sup> 'निजादशादशांश तु तुरीयक'<sup>२</sup>मिति तुरीयांशाविवक्षया संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्य दत्त्वेति व्याख्यान युक्तम् । मनुवचनविरोधात् ( ९।१।८ )—स्वेष्वोऽशोऽयस्तु कन्याभ्य प्रदद्युर्भातर पृथक् । स्वास्वादाशास्यतुर्भाग पतिता स्तुरदिःसव ॥<sup>३</sup> इति । अर्थार्थ—ब्राह्मणादयो भ्रातरो ॥ ब्राह्मणीप्रभृतिभ्यो भगिनीभ्य चैव स्वजातिविहितोऽशोऽशेभ्य चतुर्यांशांशहरेद्विप्र<sup>४</sup> ( मनु ९।१।५३ ) इत्यादिवचनमात्रेण स्वास्वादाशादाश्रीया दाश्रीयादाशास्यतुर्भाग चतुर्थं भाग दद्यु । न चात्राश्रीयमातादुदरस्य चतुर्थांशो देव ह्ययुच्यते, किंतु स्वजातिविहितादेकरमादेकरमादशास्यतुर्भागोकरवाप्यकरस्ये कन्यायै चतुर्थांशो देव इति जातिवैषम्ये सपत्यावैषम्ये च विभागावलृप्तिरनैव । 'पतिता स्तुरदिःसव' इत्यत्रणे प्रपत्यापक्षवणादत्रयदानस्यता प्रतीयते । अत्रापि चतुर्थभागत्रयमविवक्षित संस्कारमात्रोपयोगिदत्त्वादानमेव विवक्षितमिति चेत् । स्मृतिद्वयेऽपि चतुर्थांशदानाविवक्षया प्रमाणाभावाद्दाने प्रपत्या यध्यगश्चेति । यदपि कैश्चिदुच्यते—अज्ञानविवक्षया बहुभ्य गृह्याया वैधुधनाय, यदुभगिनीकरस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति, तदुक्तरीत्या परिहृतम् ।

१ कस्यचिद् ब्राह्मणस्यैका । २ अथ तु । ३ गृह्णीयात् पृथक् । ४ पित्र्य धन । ५ गृह्णायात् । ६ गृह्णीयाताम् । ७ नच दत्त्वांश तु । ८ संस्कारोपयोगि । ९ बहुधनकरस्य ।

नक्षत्रात्मीयाद्भागानुदृष्ट्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्, अतोऽस्य  
हायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यातमेव चतुर्दश, न भाग्ये । तस्मात्पितृहृष्यं  
वन्याप्यशभागिनीं पूर्वं चैरिक्तचिरिपता ददाति, तदेव लभते, विशेषवचना  
भावादिति सर्वमनवद्यम् ॥ १२४ ॥

भाषा—पिता की सृष्ट्यु के बाद यदि माई विभाजन करें तो जिन  
भाइयों का सरकार न हुआ हो उनका सरकार सबक सम्मिलित धन द्वारा  
होना चाहिए और बहनों का विवाह सरकार न हुआ हो तो सभी भाई अपने  
भाग से चतुर्थांश देकर उनका सरकार करें ॥ १२४ ॥

एव 'विभक्त्ये रिपता कुर्वात्' ( २५० ११४ ) इत्यादिना प्रव-धेन समा-  
नजातीयानां स्रतृणां परस्पर पित्रा च सह विभागस्तृप्तिरुक्ता, अधुना भिन्न-  
जातीयानां विभागमाह—

चतुस्त्रिद्वयेकभागा स्युर्वर्णशो ब्राह्मणारमजा ।

क्षत्रजास्त्रिद्वयेकभागा विड्जास्तु द्वयेकभागिनः ॥ १२५ ॥

'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' ( भा० १७ ) इति ब्राह्मणस्य अतश्च, अत्रिपरस्य  
तिस्र, वैश्वस्य द्वे शूद्रस्यैकति भागां दर्शिता । तत्र ब्राह्मणारमजा ब्राह्मणो  
स्वशा वर्णश — 'वर्ण'शब्देन ब्राह्मणादिवर्णं क्षिप उच्यन्ते । सत्यैकवचनाच्च  
वीप्सायाम्' ( पा० ५।४।४३ ) इत्यधिकरणकारकादेकवचनाद्द्वीप्सायां सत् ।  
अतश्च वर्णं वर्णं ब्राह्मणोत्पन्नां यथाक्रमं चतुस्त्रिद्वयेकभागा स्युर्भवेयुः । एत-  
दुक्तं भवति—प्र हणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशत्रुत्पन्नसुतो भागांलभन्ते ।  
तेनैव अत्रियायामुत्पन्ना प्रत्येक श्रींक्षीन् वैश्यायां द्वौ द्वौ शूद्रायामेकमेकमिति ।  
अमजा अत्रियेणोत्पन्ना, 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रम, त्रिद्वयेकभागा ।  
अत्रियेण अत्रियायामुत्पन्ना प्रत्येक श्रींक्षीन्, वैश्यायां द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमे-  
कम् । विड्जा वैश्वेणोत्पन्ना । अत्रापि 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रम द्वयेक  
भागिनः । वैश्वेण वैश्यायामुत्पन्ना प्रत्येक द्वौ द्वौ भागां लभन्ते । शूद्राया  
मेकमेकम् । 'शूद्रस्यैकैव भागां' इति भिन्नजातीयपुत्राभावात्पुत्रजाणां पूर्वोक्त  
एव विभागः, यद्यपि 'चतुस्त्रिद्वयेकभागा' इत्यविशेषोक्त, तथापि प्रतिग्रह  
प्राप्तभूयतिरिक्तविषयमिदं दृष्टव्यम् । यत स्मरन्ति—'न प्रतिग्रहभूदेवा  
अत्रियादिसुताय वै । यत्तप्येवा पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥' इति ।  
प्रतिग्रहमहणा क्रयादिना लब्धा भू अत्रियादिसुतानामपि भवत्येव । शूद्रापुत्रस्य

१ वरिष्ठ, न भागुरेः । २. विड्जौ तु द्वयेकभागिनौ । ३ वर्णाग्रय  
उच्यन्ते । ४. स्वशा एकैकशत्रुक्षि ।

विशेषप्रतिषेधाच्च । 'शूद्रा हिजातिभिर्जातो न मूमेर्भावमर्हति' इति । यदि  
 क्र्यादिप्राप्ता भू चत्रियादिसुताना न भवेत्तदा शूद्रापुत्रस्य वितेषप्रतिषेधो  
 नोपपद्यते । यत्पुन ( मनु १।१५५ )—'ब्राह्मणचत्रियविश्रां शूद्रापुत्रो न विष्य  
 भाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्व धन मनेत् ॥' इति, तदपि जीवता विप्रा  
 यदि शूद्रापुत्राय किमपि प्रदत्त स्यात्तद्विषयम् । यदा तु प्रसाददान नास्ति,  
 तदैकाग्रभागित्यविरुद्धम् ॥ १२५ ॥

भ्रात्या—वर्णानुसार ब्राह्मण के (क्रमन चार वर्णों की बरिन्दों से उत्पन्न)  
 पुत्रों के चार, तीन, दो और एक भाग होते हैं, चत्रिय के ( प्रमन्न चत्रिया,  
 वैश्या और शूद्रा पत्नी से उत्पन्न ) पुत्रों का तीन, दो और एक भाग, वैश्य  
 क ( क्रमश वैश्या और शूद्रा पत्नियों से उत्पन्न ) पुत्रों के दो और एक भाग  
 होते हैं ॥ १२५ ॥

अथ सर्वविभागशेषे किंचिदुच्यते—

अन्योन्यापहृतं 'द्रव्यं विभक्ते यंचु दृश्यते ।

तत्पुनस्तं समैरशौचिभजेरन्निति स्थिति ॥ १२६ ॥

परस्परापहृत समुदायद्रव्य विभागकाले 'वाशात विभक्ते पितृधने पद्-  
 दृश्यते, तत्समैरशौचिभजेरन्नित्येष स्थिति शास्त्रमर्थादा । अत्र 'समैरशौ' इति  
 बहोवचनविभागो निविद्य । विभजेरन्निति वदता येन दृश्यते तत्रैव न प्राद्य  
 मिति दर्शितम् । एष च ब्रह्मणस्वार्थवत्त्वात् समुदायद्रव्यापहारे दोषाभावपर-  
 त्वम् । ननु मनुना उपलक्ष्यैव समुदायद्रव्यापहारे दोषा दक्षिणे न क्तावसाम्  
 ( मनु १।२१३ ) 'या' ज्येष्ठो विनिष्कृषति लोभाद् भ्रातृ-पत्नीयम् । सोऽप्यष्ट  
 द्वादशभागश्च नियन्तव्यश्च राजभि ॥' इति वचनात् । नैतत्, यत् सभावित  
 स्वात स्वस्य पितृस्वामीवस्य उपेष्टस्वापि दोष वदना उपेष्टपरत प्राणा वनीयतां  
 पुत्रस्वामीयानां दण्डापुत्रिकत्वात्वा सुतरा दापो दर्शित एव । तथा चादिशवेजैव  
 शौच धूयते । गौतम — यो वै भागिन भागानुदत्ते चपते सैन स पक्षि सैन न  
 चपतेऽथ पुत्रमथ पौत्र चपत' इति । यो भागिन भागाहं भागानुदत्त भागादया  
 करोति भाग तस्मै न प्रयच्छति, स भ गानु चपत नोचौर चपत गात्रयति दोषिण  
 करोति, यदि त ग नाशयति, तदा तस्य पुत्र पौत्र वा नाप्यतीति, उपेष्टविशेष-  
 म-परेणैव साधारणद्रव्यापहारिणो दाप र्थुत । अथ साधारण द्रव्यमाभ्यना  
 ऽपि स्व भवतामि स्वत्वपुद्गला गृह्यमाण न दोषमावहन्ति मतम् । तदप्यत्,

१ प्रस । २ यदि दृश्यते । ३ वा श्वार । च ज्ञात । ४ यो लोभाद्दि  
 निष्कृषति । ५ चोचौर । ६ धूयते ।

अबुद्ध्या गृहीतेऽप्यवजं नीयतया परस्वमपि गृहीतमेवेति निषेधानुपवेशाद्दोष-  
मात्रहस्येव । यथा मौद्रे चरौ त्रिपक्षे सदृशतया मापेषु गृह्यमाणेषु 'अवजिवा  
वै मापा' इति निषेधो न प्रविशति, मुद्रावयवबुद्ध्या गृह्यमाणत्वादिभिः पूर्वप-  
क्षिणोक्ते मुद्रावयवेषु गृह्यमाणेष्ववजं नीयतया मापावयवा अपि गृह्यन्त एवेति  
निषेध प्रविशत्येवेति रादान्तिनोक्तम् । तस्माद्ब्रह्मचरतो न्यायतश्च साधारणद्र-  
व्यापहारे दोषोऽस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

भाषा—विभाग के समय भाषस में क्षिप्रकर रटा गया धन यदि वितृ-  
धन के विभाग के उपरान्त दिखाई पड़े तो वे सभी भाई उसका समान भाग  
करके विभाजन कर लें, यही नियम है ॥ १२६ ॥

द्वयामुप्यायणस्य भागविशेष दर्शयस्तस्य स्वरूपमाह—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादित सुतः ।

उभयोरप्यसौ रिषधी विण्डदाता च धर्मन ॥ १२७ ॥

'अपुत्रां पुत्रं बुद्ध्यात्' ( भा० ६८ ) इत्याद्युक्तविधिना अपुत्रग देवरादिना  
परक्षेत्रे परभाषायां गृहणिय मेनोत्पादिन पुत्र उभयोर्बीजक्षेत्रिणीरक्षौ  
रिषधी रिषधहारी विण्डदाता च धर्मन इति । अत्रार्थ—यदाऽसौ  
नियुक्तो देवरादि स्वयमप्यपुत्रोऽपुत्रस्य' क्षेत्रे स्वपरपुत्रार्थं प्रवृत्तो य जनयति, स  
द्विविधो द्वयामुप्यायणो द्वयोरपि रिषधहारी विण्डदाता च । यदा तु नियुक्त  
पुत्रवान् क्वचल क्षेत्रिण पुत्रार्थं प्रवृत्तते, तदा तदुत्पन्न क्षेत्रिण एव पुत्रो भवति,  
न बीजिन । स च न नियमेन बीजिनो रिषधहारी विण्डेशे वेति ।  
यद्योक्त मनुना ( १।५३ )—'क्रियाभ्युपगमाक्षेत्रे बीजार्थं यत्प्रवृत्तते । तस्येदं  
भागिनी इष्टौ क्षत्री क्षेत्रिक एव च ॥' इति । क्रियाभ्युपगमादिनि अत्रोत्पन्न  
सपरवमात्रोहभयोरपि भवति किं सतिद्वीकैः णाशाक्षेत्रं क्षेत्रानिगा "बीजाव  
पनार्थं बीजिने वृत्तते तत्र तन्निम्बक्षेत्रे तापक्षरवापारस्य बीजिक्षेत्रिणी भागिनी  
स्वामिनी इष्टौ महर्षिभिः । तथा ( मनु १।५२ )—'फल रजनमिमथाप  
क्षेत्रिणां बीजिनां तथा । प्रत्यक्ष क्षेत्रिणामर्थो बीजात्तो निर्वर्ण्येवसी ॥' इति ।  
फल रजनमिमथावेति । अत्रोत्पन्नसपरवमात्रोहभयोररिस्वरूपेयमनमिमथाप  
परक्षेत्रे यदपारवमुत्पाद्यते तदपस्य क्षेत्रिण एव । यतो यान्ते विषंभीयन्ते,  
गवाधादिषु तथा दर्शनात् । अत्रापि 'नियोगो वात्कृत्त्रिपय एव, इतरस्य  
नियोगस्य मनुना निषिद्धत्वात् ( १।५९, ६० )—'देवराद्वा सविशाद्वा श्रिया

१. अपरस्य । २. प्रवृत्तते । ३. विण्डदाता च । ४ कश्चन परक्षेत्र ।  
५ बीजवापनार्थं । ६ तथानियोगो ।

सम्बद्धनियुक्तया । प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिश्रमे ॥ विधवायां  
 नियुक्तरतु पृताक्तो वाग्यतो निधिः । एस्मुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥  
 इत्येवं नियोगमुपन्यस्य मनुः स्वयमेव निषेधति ( १।६४, ६८ )—‘नाम्न-  
 स्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन्निह नियुजाना  
 धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ नोद्वाहिनेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्यते क्वचित् ।  
 न विवाहविधायुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो  
 विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो- वेने राज्यं प्रज्ञासति ॥ स महीमखिला  
 शुक्लरू राजपिंपरः पुरा । वर्णानां संस्तरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ततः  
 प्रभृति यो मोहाप्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपराधार्थं गर्हन्ते तं  
 हि साधवः ॥’ इति ॥ न च विहितप्रतिपिद्वश्वाद्विवक्ष्य इति मन्तव्यम् ;  
 नियोक्तानां निन्दाध्वनात्, स्त्रीधर्मेषु व्यभिचारस्य बहुदोषध्वनात्, संघमस्य  
 प्रज्ञात्प्राप्त्या । यथाह मनुरेव ( ५।१५७ )—‘काम तु चरयेद् देहं पुष्पमूलफलैः  
 शुभैः । ननु गामापि गृहीयात्प्राथो मते परस्य तु ॥’ इति जीवनाथं पुराणात्-  
 राश्रयण प्रतिपिद्वय ( मनुः ५।१५८।१६१ )—‘आसीतामरणारुह्यान्ता नियता  
 प्रह्लाचारिणी । यो धर्मं धृक्पत्नीर्णां प्राङ्मुन्ती तमनुत्तमम् ॥ अनेकानि सहस्राणि  
 कीमारमहाचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसतनिम् ॥ मृते  
 भर्तारि साधवी स्त्री प्रह्लाचर्यं व्यनरिधताः । स्वर्गं गच्छन्त्यपुत्रापि यथा से  
 मण्डुचारिणः ॥ अपरथलोभाया तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोनि  
 परलोकाद्य हीयते ॥’ इति पुत्रार्थमपि पुराणात्पराश्रयणं निषेधति । तस्माद्-  
 पिहितप्रतिपिद्वश्वाद्विवक्ष्य इति न युक्तम् ॥ एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिपिद्वे  
 परतद्दि धर्म्यो नियोग इत्यत आह ( मनुः १।६९।७० )—‘यस्या द्विधैत  
 यस्यावा वाचा स्वयं कृते वतिः । तामनेन विधानेन निजो रिन्देत देवः ॥ यथा-  
 विद्वदधिगम्यैनां शुद्धशत्रां शुचिघनाम् । विधो भजेताप्रमवास्तुसहृदतागुणौ ॥’  
 इति । यस्मै वाग्दत्ता कन्या स प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरिष्येत्तद्वेष  
 ध्वनाद्भगव्यते । तस्मिन्प्रेते देवरस्तस्व उपेष्ट कनिष्ठो वा निज स्तोत्रो वि-द्वेत  
 परिणयेत् । यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिणीय अनेन विधानेन घृताम्ब-  
 द्वादिनपमादिनां शुद्धशत्रां शुचिघतां मनोवाक्कायसयतां विधो रहस्यागर्भग्रह-  
 नात्प्रत्येकव्यारं गच्छेत् । अथ च रिताहो यथाचिकी घृताम्बद्वादिनियमत्,  
 नियुक्ताभिगमनग्नमिति न देवरस्य; भार्यात्वमापादयति । अतस्तदुत्पद्यमपर्यं  
 चेत्प्रवामिन एव भवति, न देवरस्य सविदा तृमयोरपि ॥ १२७ ॥

भाषा—पुत्रहीन देवर आदि द्वारा दूमरे की पत्नी से नियोग विधि से

उत्पन्न पुत्र दोनों की सम्पत्ति का अधिकारी होता है और धर्मानुसार विण्ड दान देने वाला होता है ॥ १२७ ॥

समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागावप्यसिद्धा, अधुना मुपपत्तीण पुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थां दर्शयिष्यस्येति स्वरूप तावदाह—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्सम पुत्रिकास्तु ।

क्षेत्रज क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणोत्रेण वा ॥ १२८ ॥

उरसो जात औरस पुत्र, म च धर्मपत्नीज -सवर्णा धर्मविवाहोदा धर्मपत्नी, तस्यां जात औरस पुत्रो मुख्य । तत्सम पुत्रिकास्तु तत्सम औरससम पुत्रिकायां तु पुत्रिकास्तु । अत एवौरससम । यथाह ऋषिष्ट - अन्नात्पुत्रा प्रदास्यामि तुभ्य कन्यामत्कृताम् । अस्यां यो जायते पुत्र स मे पुत्रो भवदिति ॥' इति । यथा पुत्रिकैव तु पुत्रिकास्तु, साऽस्यै रससम एव विप्रत्रयवाक्यामकपस्यात्, मात्रत्रयवानां बाहुक्याच्च यथाह ऋषिष्ट ( १७।१५ )—'तृतीय पुत्रिकैव' इति । तृतीय पुत्र पुत्रिकैवेत्यर्थ । द्यामुष्पा- एणस्तु जनकरथौरसोदपृष्ट अ-यच्छेत्रोपग्रवात् । 'क्षेत्रज क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणोत्रेण वा । इतरं सपिण्डेन क्षेत्रेण चोत्पन्न पुत्र क्षेत्रज ॥ १२८ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक विवाहिता सवर्णा पत्नी से उत्पन्न पुत्र औरस जाता है पुत्रिकास्तु ( पुत्रों का पुत्र जाती अथवा एकमात्र पुत्रो जो पुत्र ही होती है ) वस ( औरस पुत्र ) के समान ही होता है । क्षेत्रज और क्षेत्रजान पुत्र सगोत्र वा दूसरे सपिण्ड आदि द्वारा उत्पन्न होता है ॥ १२८ ॥

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गृहजस्तु सुत स्मृत ।

कानीन कन्यकाजातो मातामहसुतो मत ॥ १२९ ॥

गृहज पुत्रो अर्तुगृहे प्र-च्छन्न उत्पन्ना हीनाधिकतार्तीयपुत्रव्य वपरिहारेण पुत्रविवापत्तवनिष्पत्ताभावेऽपि सवर्गजस्तुनिष्पत्ते स्मि चोद्वेग । कामीनस्तु क-वकायानुत्पन्न पूर्ववत्सवर्गास्त मातामहस्य पुत्र । यद्यन्तासा भवत्तथा विनृगृह एव ससिधना एष ता तदा चोद्वेग पुत्र । यथाह मनु ( ९।१७२ )— 'वितृपेशमनि क या तु य पुत्र जनवेदह । त कानीन बद्ध नागता वेदु कन्याम- सुजवम् ॥' इति ॥ १२९ ॥

भाषा—घर में ( निम्न जाति के पुत्रों जन्म के कारण ) प्रपन्न-न रूप से उत्पन्न पुत्र गृहज कहलाता है और कुंवारी कन्या से उत्पन्न कानीन मातामह अर्थात् माता का पुत्र होता है ॥ १२९ ॥

अक्षतायां क्षताया वा जात पौनर्भव. सुतः ।

दद्यान्माता पिता वा य स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १३० ॥

पौनर्भवरतु पुत्रोऽप्युताया उताया वा पुनर्भां सवर्णादुत्पन्न । मात्रा भर्तृपुत्र्या प्रापिते प्रेते वा भर्तरि पित्रा चोभाभ्यां वा सवर्णाय परमै दीयते, स तस्य दत्तक पुत्र । यथाह मनु ( १।१६८ )—‘माता पिता वा दद्याता यमग्नि पुत्रमापदि । सदृश प्रातिसयुक्त स ज्येष्ठो दत्त्रिम सुत ॥’ इति । आपद्महणादनापदि न देय, दानुरय प्रतिषेध । तथा एकपुत्रो न देय । ‘न स्वैक पुत्र दद्यात्प्रतिगृहीयाद्वा’ ( १।५।३ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथाऽनेकपुत्रमज्ञावेऽपि ज्येष्ठो न देय । ‘ज्येष्ठन जातमात्रेण पुत्री भवति मातव्य’ ( मनु १।१०६ )—इति तस्यैव पुत्रकार्यकरणे सुख्यत्वात् । पुत्रप्रतिग्रहप्रकारश्च ‘पुत्र प्रतिग्रहीष्य-धन्धूनाह्वय राजनि चावेद्य निवेदानमप्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूर-वान्धव्य धन्धुसनिवृष्ट एव प्रतिगृहीयात्’ इति वसिष्ठेणोक्त । ‘अदूरयान्धवम्’ इत्यवस्तदेशभाषाविप्रकृष्टस्य प्रतिषेध । एव क्रीतस्वयदत्तकृत्रिमैःपि योजनीयम्, समा-याप्यात् ॥ १३० ॥

भाषा—अज्ञान ( पहले पुरुष सम्पर्क से वञ्चित ) या उता ( जो पहले यौन मध्य-ध का अनुभव कर चुकी हो ) सवर्णा पुत्रम् ( पुत्र विवाहिता ) का पुत्र पौनर्भव होता है, जिस पुत्र को माता और पिता किसी को दे देवे वह दत्तकपुत्र कहलाता है ॥ १३० ॥

क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीत कृत्रिम स्वयस्वयंहत ।

दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विद्य सद्योदज ॥ १३१ ॥

क्रीतरतु पुत्रस्ताभ्यां मातापितृभ्या मात्रा पित्रा वा विक्रीत पूर्वजत्, नयैक पुत्र ऽप्यष्ट ष्व वर्जयित्वा आपदि सरगं ह्येष । यत्तु मनुभोक्तम् ( १।१७४ )—‘नाणीयाद्यस्त्रयस्यार्थं मातापित्रोर्धमनित्कात् । स क्रीतक मुत्स्यस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥’ इति, तद्गुणै सदृशोऽसदृशो पति व्यापय, न जायता, ‘सजातायेष्वय प्रोक्तस्तनयेषु’ ( व्य० १३३ ) इत्युपसंहारात् । कृत्रिम स्वयस्वयंहन । कृत्रिमस्तु पुत्र स्वय पुत्रार्थिता धनचेप्रदर्शनादि प्रलोभनै पुत्रीकृतो मातापितृविहीन तस्यजावे तत्परतन्त्रत्वात् । दत्तात्मा तु पुत्रो या मातापितृविहीनस्ताभ्यां स्वता वा तवगद् पुत्रो भजामोति स्वयर्दत्तस्य



मुपगत । सहोदजस्तु गर्भे स्थितो गर्भिण्यां परिणीताया य परिणीत स  
बोदु पुत्र ॥ १३१ ॥

भाषा—मया पिता द्वारा ( या उनमें से किसी एक द्वारा ) धन लेकर  
दूमरे के दाय बेचा गया पुत्र क्रीतपुत्र होता है और स्वयं बनाया गया पुत्र  
कृतिम कहलाता है । ( माना पिता से त्यक्त या हीन होकर ) स्वयं को पुत्र  
के रूप में अर्पित करने वाला दत्तारमा और विवाह के समय जो गर्भ में रहा  
हो वह सहोदज पुत्र कहलाता है ॥ १३१ ॥

उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुत ।

अपविद्धो मातापितृभ्यामुत्सृष्टो यो गृह्यते, स ग्रहीतु पुत्र सर्वत्र  
सरणं इत्येष ॥—

एष मुषयामुषयपुत्राननुष्णचैतेषां दायग्रहणे क्षमसाह—

पिण्डद्वौऽशहरक्षौवां पूर्वामावे पर पर ॥ १३२ ॥

एतेषां पूर्वोक्तानां पुत्राणां द्वादशानां पूर्वस्य पूर्वस्याभावे उत्तर उत्तर  
श्राद्धद्वौऽशहरो धनहरो वदितस्य । औरमपौरिकेषममशाये औरसस्यैव धनग्रहणे  
प्राप्ते मनुषवाद्माह ( ११३५ )— पुत्रिकायां कृताया तु यदि पुत्रोऽनुजायत ।  
समस्तत्र विभाग इवाऽऽयेष्टना नास्ति हि त्रिधाः ॥ इति । तथा अ-वेवामपि  
पूर्वस्मिन्-पूर्वस्मिन्-सायद्युत्तरेषां पुत्राणां अनुर्धाशभागिष्वमुक्त वसिष्ठेन । 'तस्मि  
क्षयतिगृहीते औरस उत्पद्यत चतुर्धभागभागी स्यात्सक' ( १५१९ ) इति ।  
'दत्तक'ग्रहण क्रीतकृत्रिमादानां प्रदर्शनार्थम्, पुत्रीकरणाविशेषात् । तथा च  
कात्यायन — 'उप-ने स्वीरसे पुत्रे चतुर्धाशहरा सुता । सवर्णा भसवर्गास्तु  
प्रासाच्छादनभाजना ॥' इति । सर्वाणां दत्तकचैत्रजादयस्ते स्वर्गारसे चतुर्धा  
दाहरा । भसवर्णा कानीनगृहोत्पन्नसहोदजवीमर्भवारसे स्वीरसे सति न चतु  
र्धाशहरा, त्रिंशु प्रासाच्छादनभाजना । यदपि विष्णुवचनम्— 'अप्रचारणातु  
कानीनगृहोत्पन्नसहोदजा । वीमर्भश्च नैवैते पिण्डरिचधांशभागिन ॥'  
इति, तदप्यीरसे सति चतुर्धाशनिषेधपरमेव, औरसाद्यभाये तु फानोनादी  
नामपि सकलविषयधनप्रदगमस्येव । 'पूर्वामावे पर पर' इति वचनात् ॥  
यदपि मनुवचनम् ( ११३३ )— 'एक प्यौरस पुत्र पित्र्यस्य वस्तुन प्रभु । शेषा  
णामानुसारयार्थं प्रदद्यात् प्रजीवनम् ॥' इति, तदपि दत्तकादीनामीरसप्रतिपत्त्य  
निर्गुण्ये च वदितस्यम् । तत्र चैत्रप्रत्य विशेषो दर्शितस्तत्रैव ( मनु ११३५ )—

‘पठं तु चेन्नजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो सुतः ।  
 वा ॥’ इति प्रतिकूलस्वनिर्गुणस्वसमुच्चये पठमंशस्य भवेत् ॥ १३० ॥  
 निवेक्ष्यम् ॥ यदपि मनुना पुत्राणां षट्कृद्भवमुपन्यस्य ( मनुः ११५५ )  
 षड्विंशत्कृत्यादायादयान्धवस्वमुपन्यस्य ( मनुः ११५५ )  
 ‘औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च । गूढोत्पन्नोऽपि विद्वश्च दायादा यान्धवा  
 पट् ॥ कानीनश्च सहोदरश्च ऋतः पौनर्भवंस्तथा । स्वयंदत्तश्च शीघ्रश्च पट्टदायाद  
 यान्धवाः ॥’ इति, तदपि स्वपितृसपिण्डसमाभोदकानां सनिहितरिषधहराग्नरा  
 भावे पूर्वपट्टकस्य तद्विषयहरस्यम्, उत्तरपट्टकस्य तु वेजास्ति । यान्धवावं पुनः  
 समानगोत्रस्यैव सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानादिकार्यंकरणं यगद्द्वयस्यापि सममेवेति  
 व्यापयेत् ॥ ( मनुः ११४२ )—‘गोत्ररिषये जनयितुर्न भजेद्दत्तः सुतः ।  
 गोत्ररिषयानुगः पिण्डो स्थपैति दत्तः स्वधा ॥’ इत्यत्र ‘दत्तः’ग्रहणस्य पुत्र-  
 प्रतिनिधिप्रधानार्थत्वात् । विनृधनहारित्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषाम-  
 विधिषट् ॥ ( मनुः ११८५ )—‘न भ्रातरौ न पितरः पुत्रा रिषयहराः पितुः ।  
 हृष्यौरसस्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिषयहारित्यप्रतिपादनपरत्वात् ।  
 औरसस्य तु ( मनुः ११६६ )—‘एक एव औरसः पुत्रः विष्वस्य वसुनाः प्रभुः ।  
 हृष्यनेनैव रिषयमाकर्षस्योक्तत्वात् । ‘दायाद’शब्दस्य ‘दायादानपि द्यापयेत्’  
 इत्यादी पुत्रस्यतिरिक्तरिषयभाविपयत्वेन प्रतिदत्त्वात् । यासिष्ठादिषु यग-  
 द्द्वेषेऽपि कस्यपिद्वयत्वेन षाठो गुणवद्गुणवद्विषयो वेदितव्यः । गीतमीये तु  
 ‘वीत्रिके यस्य दशमत्वेन षाठो विजातीयविषयः । तस्मात्स्थितमेतत्पूर्वपूर्वाभावे  
 परः परांशभागिति ॥ यत्तु ( ११८२ )—‘आतृणामेकजातानामेकक्षे पुत्र-  
 याग्भवेत् । सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुस्मृती ॥’ इति, तदपि भ्रातृपुत्रस्य  
 पुत्रीकरणसंभवेऽप्येषां पुत्रीकरणनियेधार्थम्, न पुनः पुत्रस्यप्रतिपादनाय ।  
 ‘तानुता गोत्रजा वन्तुः’ ( इयं १३५ ) इत्यनेन विरोधात् ॥ १३१ ॥

भाषा—माता पिता द्वारा छोड़ा जाने पर जो पुत्र ग्रहण किया जाता  
 है वह अपविद्ध पुत्र होता है । इन धृती में पहले-पहले के अभावे में पादवाले  
 विषय, दान एवं सन्तति के अग्रग्रहण के अधिकारी होते हैं ॥ १३२ ॥

इदानीमुत्तोपसंहारस्यानेन तथैव नियममाह—

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ।

समानजातीयेष्वेव पुत्रेषु अयं ‘पूर्वाभावे परः पर’ इत्युक्ते विधिः, न भिन्न-  
 जातीयेषु । उत्र च कानीनगूढोत्पन्नसहोदरपौनर्भवाणां सर्वेषां जनकद्वारेण,

सुपगत । सद्योऽस्तु गर्भेऽप्युत्पत्त्यात् । तथानुलोमजानां मूर्धाव  
 धेदु पुत्र ॥ १३१ ॥ पामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दासहरत्व धेदुत्वम् ।

भाषा—माना विना आगम बाभावेऽपि न लभते । यथाह मनु (१।१५४)  
 दूमे स्त्रेण स्वाप्ति संसृज्य यद्युत्रोऽपि वा मयेत् । नाधिक दशसाहस्राच्छुद्रा  
 कृत्राय धर्मन ॥ इति । यदि सपुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो यद्युत्रोऽविद्यमान-  
 बद्धजातिपुत्रा वा स्वात्तरिमन्वृते क्षेत्रजादिर्नाऽ वा या सपिण्ड शुद्रापुत्राय तद-  
 नाहमनादाधिक न दद्यादियदमादेव क्षत्रियावैरयापुत्रयो सवर्गापुत्राभावे  
 सफलधनग्रहण गम्यते ॥

अथवा शूद्रधनविभागे विवेचमाह—

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत् ॥ १३३ ॥

मृते पितरि कुर्युस्त्वं धातरस्तवर्धमागिन्म् ।

अध्यातुको हरेत्सर्वं दुहितृणां सुतादृते ॥ १३४ ॥

शूद्रेण दास्यामुत्पन्न पुत्र कामत पितुरिच्छया भाव लभते । विदुष्यं  
 तु यदि परिणीतापुत्रा सन्ति तदा ते धातरस्त दासीपुत्र अर्धभागिन कुर्युं,  
 रवभागादर्थं ददुरितवर्धं । अथ परिणीतापुत्रा न सन्ति तदा कृत्स्न धर्म दासी  
 पुत्रो गृहीयात् यदि परिणीतादुहितरस्यापुत्रा वा न सन्ति । तत्सजाये तवर्ध-  
 भागिक एव दासीपुत्र । अथ च 'शूद्र ग्रहणाद् द्विजातिना दास्यामुत्पन्न  
 विदुष्ययाऽप्यन न लभते नाप्यर्थं, दुहितर एव कृत्स्नम् । किंपुनश्च-  
 श्रेणीयमात्र लभते ॥ १३३-१३४ ॥

भाषा—मैत्रे समान जाति के पुत्रों के विषय में यह पूर्व और परमाय  
 का उच्यते किया है । शूद्र द्वारा दासी से भी उत्पन्न पुत्र विना की इच्छा से  
 भगमाही होता है । पिता की शूद्र के बाद भाई ( = परिणीता पानी के  
 पुत्र ) उस दासीपुत्र को भाषा भाग प्रदान करें । भाई ( परिणीतापुत्र ) न  
 हो और विवाहिता पुत्रिर्वा एव उनके पुत्र न हो तो दासीपुत्र सम्पूर्ण धन  
 ले ले ॥ १३३-१३४ ॥

मुष्यगीणसुता दास्य शूद्रतीति निम्नितम्, तेनामभावे सर्वेषां दायादृष्टम्  
 उच्यते—

परनी दुहितरभ्येव पितरौ धातरस्तथा ।

तरसुता गोत्रजा यन्पुत्रिष्यसमस्तधारिण्य ॥ १३५ ॥

१ स्वरूपद्वारेण । २. प्यमापुत्रोऽपि वा मयेत् । ३ विभागेऽपि ।  
 ४ धन गृहीयात् । ५ कृत्स्न धन, दूरत एव । ६ यन्पुत्रिष्याः समस्त ।

एवमभावे पूर्वस्य धनमागुत्तरोत्तरः ।

स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ १३६ ॥

पूर्वोक्ता ह्यादकापुत्रा यस्य न सन्ति असात्पुत्राः, तस्यापुत्रस्य स्वर्यातरस्य पर-  
लोक गतरस्य धनभाक् धनग्राही एषां परत्यादीनामनुक्रान्तानां मध्ये पूर्वस्य  
पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो धनमागिति सवन्धः । मर्षेषु सूत्रादित्यादिषु अनुलो-  
मज्ञेषु सूत्रादिषु प्रतिलोमज्ञेषु वर्णेषु च ब्राह्मणादिषु भयं दायग्रहणविधिर्वायमह-  
णकर्मो येषुदित्तव्यः । तत्र प्रथमं परनी धनभाक् । परनी विवाहसकृता 'प्राप्तुर्नो  
यज्ञस्योती' ( अ० ३१।१३ ) इति स्मरणात् । एकवचनं च जात्यभिप्रायेण ।  
साश्च बह्वधोरेसजातीया विजातीयाश्च तदा यथाश विमन्थं धनं गृह्णन्ति । वृद्ध  
ममुरपि पा०पा० समग्रधर्मसवन्धं चति—'अपुत्रा जपनं भर्तुं पाठयन्ती अते  
स्थिता । परन्वेधं यथाचारिण्यं कृत्स्नमश एभेत च ॥' इति । वृद्धनिष्पूरपि—  
'अपुत्रधनं परन्वभिगामि, तद्भावे दुहितृगामि, तद्भावे पितृगामि, तद्भावे  
मातृगामि' इति । फारवायनोऽपि—'पत्नी पर्युर्धनहरी वा स्वाद्वयभिचारिणी ।  
तद्भावे तु दुहिता यच्चूडा भजेत्तदा ॥' इति । तथा 'अपुत्रैस्वयं कृत्वा पत्नी  
दुहितरोऽपि वा । तद्भावे पिता माता भ्राता पुत्राश्च कीर्तिताः ॥' इति । बृह-  
स्पतिरपि ( बृह० २।५८ )—'कुर्व्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृमनाधिषु । अस्तुतस्य  
प्रमीतस्य परनी तज्जागहारीणी ॥' एनद्विस्त्वानीर्धं वाक्यानि एवधन्ते ( ना० १३।  
१५-२९ ) 'भ्रातृणासप्रजा प्रेषाकश्चिन्नेःप्रप्रजेन वा । विभगेरन्वन् तस्य  
दोपास्ते स्त्रीधनं विना ॥ मरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीयनस्ययात् । रचन्ति  
शय्यां भर्तुर्भेदादिषु पितृरामु ॥' इति परनीसदावेऽपि भ्रातृणां धनग्रहणं  
परनीनां च भरणमात्रं नारदोक्तम् । गनुना तु ( १।१८५ )—'पिता हरेवपत्रस्य  
रिषधं भ्रातर एव वा' इत्यपुत्रस्य धनं पितृभ्रातृवैति दर्शितम् । तथा ( मनु १।  
२१७ )—'अनपयस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च धृताया पितु  
माता हरेद्वनम् ॥' इति मातुः पितामहाश्च धनसवन्धो दर्शितः । ब्राह्मेणापि—  
'स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य आतृगामि द्र०प तद्भावे पितरौ हरेवाता उपेष्टा वा परनी'  
इति आतृणां पित्रोर्वैष्ट्याश्च पर०वाः क्रमेण धनसवन्धो दर्शितः । पारथायने  
नापि—'विभक्ते सस्थिते द्रव्यं पुत्रभावे पिता हरेत् । भ्राता वा जननी याश्च  
माता वा तपितु क्रमात् ॥' इत्येवमादीनां विरुद्धार्थानां वाक्यानां धारेधरेण  
व्यवस्था दर्शिता—'परनी गृह्णायात्' इत्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रातृभ्रातृपियम् ।

१ दिव्यनुलोमनेषु सूत्रादिषु प्रतिलोमज्ञेषु ब्राह्मणादिषु भयः । २. भाक्  
विवाहः । ३ गृह्णन्ति यथा । ४ धनग्रहणः । ५. स्वार्थकुलना ।  
६ विरुद्धानि च वाक्यानीह ।

सा च यदि नियोगार्थिनी भवति । कुत एतत् नियोगसम्बन्धेनाया पर-या धनग्रहण  
न स्वतन्त्राया इति । 'विष्ठा द्वेदपुत्रस्य' ( मनु ९।१८५ ) इत्यादिरचनात्तत्र  
व्यवस्थाकारण यत्कथम् । नान्यद् व्यवस्थाकारणमस्ति इति गौतमवचनाच्च  
( २९।५।६ ) 'विष्ठागोत्रर्विसम्बन्धा रिक्थ भजेरन् स्त्री वाऽनपरपत्य बीज लिप्सेत्'  
इति । अस्यार्थं — विष्ठागोत्रर्विसम्बन्धा अनपरपत्यस्य रिक्थ भजेरन्स्त्री वा रिक्थं  
भजेत् यदि बीज लिप्सेतेति । मजुरपि ( ९।१४६ )—'धन यो विभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य  
स्त्रियमेव वा । मोऽपत्य भ्रातुरत्याद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥' इति । अनेनैतदुक्तं  
यति विभक्तधनेऽपि भ्रातुर्युपरस्तेऽपत्यद्वारेणैव पत्न्या धनसम्बन्धो नाग्ययेति ।  
तथाऽविभक्तधनेऽपि ( मनु ९।६२० )—'कनीयान्पेष्टमायायां पुत्रसुप्राप्य  
पदि । समस्तत्र विभाग स्यादिति धर्मो व्यवस्थित ॥' इति । तथा वसिष्ठोऽपि  
( १७।४८ ) 'रिक्थलोभाश्रयित्त नियोग' इति रिक्थलोभाश्रयित्तियोग प्रतिषेधयन्  
नियोगद्वारक एव पत्न्या धनसम्बन्धो नाग्ययेति उक्तंयति । नियोगाभावेऽपि  
पत्न्या भरणमात्रमेव नारदवचनात् 'भरण चास्य कुवीरम्ह्रीणामाजीवनवयात्'  
इति । योगीश्वरेणापि किल उच्यते ( ४५० १४२ )—'अपुत्रा योपिनश्रीषा भर्तृष्या  
सापुत्रस्य । निर्वाहया स्वभिक्षारिक्थ प्रतिकृतास्त्यैव च ॥' इति । अपि च,  
द्विजातिधनस्य वधार्थत्वात् स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकारादनग्रहणमनुक्तम् । यथा च  
केनापि स्मृतम्—'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये । अरिक्थमाजने सर्वे  
प्रासाद्यादत्तभाजना ॥ यज्ञार्थं त्रिहितं वित्तं तस्मात्त्रिनियोजयेत् । स्थानेषु धर्म-  
च्छ्रेषु न स्त्रीमूर्तविधर्मिषु ॥' इति —तदनुपपन्नम्, 'पत्नी दुहितरा' ( ४५० १३५ )  
द्वेषप्र नियोगस्याप्रतीतेः प्ररक्तत्वात् । अपि चेदमत्र यत्कथम्, — पत्न्या धनग्रहणे  
नियोगो वा निमित्तं तदुत्पन्नमपर्य वा । तत्र नियोगस्यैव निमित्तार्थं अनुपपन्न-  
मुपपत्त्या अपि धनसम्बन्धं प्राप्नोति । तत्राप्यस्य च पुत्रस्य धनसम्बन्धो न प्राप्नोति  
अथ तदपरपर्यैव निमित्तत्वं, तथा सति पुत्रस्यैव धनसम्बन्धात्पत्नीति  
नारदवचनम् ॥

अथ स्त्रीणां वतिद्वारको धनसम्बन्धं पुत्रद्वारको वा नाग्ययेति मतम्, — तद्  
व्यसत् ; ( मनु ९।१९४ )—'अप्यव्यवहावहृनिष्ठं दत्तं च प्रीतिर्कर्मणि ।  
अनृमातृपितृमातृ पत्त्रिभ्य स्त्रीधनं स्मृतम् ॥' इत्यादिविशेषात् । किंच, सर्वथा  
पुत्राभावे 'पत्नी दुहितरा' इत्यादिवचनम् । तत्र नियुक्ताया धनसम्बन्धं यदना वेद-  
नस्यैव धनसम्बन्धं उक्तं भवति । स च प्रागेवाभिहित इति 'अपुत्रप्रकरणे पत्नी'  
ति नारदवचनम् । अथ विष्ठागोत्रर्विसम्बन्धा रिक्थ भजेरन्स्त्री वाऽनपरपत्य बीज  
लिप्सेत्' ( गौ० २९।५ ) इति गौतमवचनाच्छ्रियुक्ताया धनसम्बन्ध इति । तद्-

प्यसत्,—नहि यदि धीर्जं लिप्सेत तदाऽनपत्यस्य स्त्री धनं गृह्णीयादित्ययमर्थो-  
ऽस्मात्प्रतीयते । किंतु 'अनपत्यस्य धनं विण्टगोत्रप्रियसंबन्धा भजेरस्त्री वा सा  
स्त्री धीर्जं वा लिप्सेत संबता वा भवेत्' इति तस्या धर्मात्तरोपदेशः; 'वा'शब्दस्य  
पदान्तरवचनात्वेन दशार्थप्रतीतिः । अपि च संयताया एव धनग्रहणं युक्तं, न  
नियुक्तायाः स्मृतिलोकनिन्दितायाः । 'अपुत्रा शयनं भर्तुः पाठयन्ती द्यते  
रिपता । पश्येव दद्यात्परिपण्टं कृत्स्नमंशं तमेव च ॥' इति संयताया एव धन-  
ग्रहणमुक्तम् ॥

तथा नियोगस्य निन्दितो मनुना (१।१४)—'नान्यस्मिन्विधया नारी नियो-  
क्तव्या द्विजातिभिः । अप्परिमम् हि नियुजाना धर्मं इत्युः सनातनम् ॥' इत्यादिना  
यत्तु वसिष्ठवचनम् ( १७।६५ ) 'रिषयलोभात्कारित्वा नियोगा' इति, तद्विभक्तं  
संस्पृष्टिनि वा भर्तारि प्रेते तस्या धनसंबन्धो नारतीति स्वापत्यस्य धनसंबन्धार्थं  
नियोगो न कर्तव्य इति व्याख्येयम् । यदपि नारदवचनम् (१३।१६)—'भरणं  
चार्यं कुर्वीरस्त्रीणामाजीवमक्षयात्' इति, तदपि 'संस्पृष्टानां तु यो भागस्तेषामेव  
स इत्येते' इति 'संस्पृष्टानां प्रातुनश्चात्सखिणांमनपत्यानां भरणमात्रप्रतिपादन-  
परम् । नच 'भ्रातृणामप्रजाः प्रेषात्' (भा० १३।२४) इत्येतस्य संस्पृष्टिविषयाने  
'संस्पृष्टानां तु यो भाग' ( भा० १३।२४ ) इत्यनेन वीनरवशमासङ्घनीयम् ।  
यत्तु पूर्वोक्तविपरनेन स्त्रीधनस्याविभाजयत्वं तस्त्रीणां च भरणमात्रं विधीयते ।  
यदपि 'अपुत्रा योपितर्ष्वपाम्' (स्य० १४०) इत्यादिवचनं, तत् बलीयादिस्रीवि-  
षयमिति 'वच्यते । यत्तु 'द्विजातिधनस्य यज्ञार्थंस्वस्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्भग-  
प्रहणमुक्तमिति,—तदसत्; सर्वस्य द्रव्यजातस्य यज्ञार्थमेव दानहोमाद्यसिद्धेः ।  
अथ यज्ञादस्य धर्मोपलक्षणात्वाद्दानहोमादीनामपि धर्मत्वात्तदर्थंस्वस्त्रीणां विर-  
मत्तम् । एवं तदर्थं कामधोर्धनसाप्यवोरमिद्विरेव स्यात् । तथा सति 'धर्मार्थंका-  
मान्त्वे काले यथाशक्ति न द्यायेत्' (भा० ११५) । तथा 'न पूर्वोक्तमन्दिनापरा-  
ज्ञानफलान्नुपार्थिषादन्ति धर्मार्थं कामेभ्यः' (गी० १।२४) । तथा 'न तथैतानि  
दाक्यन्ते संनियन्तुमसेवया' ( मनुः २।९६ ) इत्यादिवाजवल्क्ययोस्तममनुष्यध-  
विरोधः । अपि च धनस्य यज्ञार्थमेव 'हिरण्यं धार्थम्' इति हिरण्यसाधारणस्य  
ऋत्विग्यानिराकरणेन पुत्रार्थं त्रमुक्तं तत्प्रत्युद्धृतं स्यात् । किञ्च यज्ञादस्य धर्मो-  
पलक्षणपरावे स्त्रीणामपि पूर्वधर्मोपिकाशद्भगप्रहणमुक्ततरम् । यत्तु पारतन्त्र्यवचनं  
'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनुः १।३) इत्यादि तदस्तु पारतन्त्र्य, धनस्वीकारे तु  
को विरोधः ॥ अथ तर्हि 'यज्ञार्थं द्रव्यमुपलभम्' इत्यादिवचनम् ? उच्यते—  
'यज्ञार्थमेवाजितं यद्भूतं नच यत् एव नियोक्तस्य पुत्रादिभिरर्था' इत्येवं परं तत् ।—

‘यज्ञार्थं लब्धमददज्ञास काकोऽपि वा भवेत्’ (भा० १२०) इति द्योपश्रवणस्य पुत्रादिष्वप्यविशेषात् । यद्यपि कार्याधनेनोक्तम्—‘अदौविक राजगामि योपि नृ स्योऽर्धदेहिकम् । अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत् ॥’ इति । अदौविक द्यायादरहित यद्धन सद्राजगामि राज्ञो भवति, योपि द्भृशयौर्ध्वदेहिकमपास्य, नारद्वीणामदानाच्छादनोपयुक्त और्ध्वदेहिक धनिन श्राद्धाद्युपयुक्त चापरस्य परिहृत्य राजगामि भवतीति सध-य । अस्यापवाद उच्यते । श्रोत्रियद्रव्यं च योपि द्भृशयौर्ध्वदेहिकमपास्य श्रोत्रियाथोपपादयेदिति तद्व्यवहृद्वस्त्रीविषयम्; योपि द्भृश-हणात् । नारदवचनं च (१३१५२)—‘अन्यत्र माह्यगात्किंतु राजा धर्मपरायण । तस्त्रीणां जीवन दद्यादेव दायविधि स्मृतं ॥’ इत्यवहृद्वस्त्रीविषयमेव । स्त्रीणां ह्यहणात् । इह तु ‘पत्नी शब्दं दृढाया सधताया धनप्रहणमविदद्धम् । तस्मा द्विमन्ताससृष्टि यपुत्रे स्वयंति पत्नी धन प्रथमं गृह्णतीत्यथमर्थं निदो भवति । विभागस्योक्तः श्रमसृष्टिनां तु वच्यमानत्वात् । एतेनाश्रयधनविषयस्य श्रीकौरादि-भिद्वत्त निरास वेदितव्यम् । तथा स्त्रीरसेषु पुत्रेषु सस्वपि जीवद्विभागे भगीव द्विभागे च पत्न्या पुत्रसमाप्तप्रहणमुक्तम् (व्य० ११५)—‘यदि कुर्वांसमान शान् पर-य कार्या समाप्तिका’ इति । तथा—पितृरूपं विभजता माताप्यदा सम हरेत्’ इति च, तथासत्यपुत्रस्य स्वर्वात्स्य घन पत्नी भरणदतिरिक्त न लभत इति स्वामोहमात्रम् । अथ ‘पत्न्य कार्या समाप्तिका (व्य० ११५) इत्यत्र ‘माताप्यदा सम हरेत्’ (व्य० १२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मत —तदसत्, ‘अदा शब्दस्य ‘सम शब्दस्य चानर्धक्यप्रसङ्गात् । स्वाम्भ तम्—बहुधन जीवनोपयुक्त घनं गृह्णाति अल्पे तु पुत्रांशसमाप्तं गृह्णतीति । तस्य न विधिवैवायमत्रम् । तथा हि ‘पत्न्य कार्या समाप्तिका’ ‘माताप्यदा सम हरेत्’ इति च बहुधने जीवनमात्रोपयुक्त वाक्यांतरमपेक्ष्य प्रतिपादयति, अल्प-धने ॥ पुत्रांशमममश प्रतिपादयतीति । ‘यथा चातुर्मास्येषु ‘द्वयो प्रगद्यति’ इत्यत्र पूर्वपत्तिना सौमिकप्रणयनातिदेशे हेतुत्वेन प्रासाया उत्तरवद्या ‘न वैश्वदेवे उत्तरवदिमुपक्रियति’ ‘न श्रुतासीरीय’ इत्युत्तरवेदिप्रतिषेधे दर्शिते रादान्तैक देशिना ‘न सौमिकप्रणयनातिदेशप्रासाया उत्तरवद्या प्रथम समयो परंगोरथ प्रतिषेध किंतुवात्र वपन्तीति प्राकरणिकेन वचनेन प्रासाया उत्तरवद्या प्रति-षेधोऽपमिधमिहिते पुन पूर्वपत्तिना ‘उपात्र वपति’ इति प्रथमात्समयो परंगो प्रतिषेधमपेक्ष्य पादिकीमुत्तरवेदि प्रौषयति । मध्यमयोरतु निरपचमव निःशयदुत्तरवेदि प्रापयति ( जै० ७।३।२३-२५ ) इति विधिवैवाय दर्शितम् ।

१. दिव्यविशेषात् । २ आदायक । ३ उपवाद । श्रोत्रि-  
 ४ श्रीकौरादिभि । ५ तथा पत्न्य । ६ श्रावणमिति मत । ७ इति  
 ८ तूपात्, तूपात् । ९ प्रतिपादयति ।

रादान्तेऽपि विधिवैषम्यमवाध्यमयोत्तमयो पर्वणोरुत्तरवेदिप्रतिषेधो निव्यानु-  
चादो 'द्वयो म्रणयन्ति' इत्यस्याधर्षवाद्पर्यालोचनया 'उपात्र ययन्ति' इति मध्य-  
मयोरेव वह्नप्रधाससाकमेधपर्वणोरुत्तरवेदि विधत्त इति दर्शितम् । यदपि  
मतम् ( मनु १।१८५ )—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थ भ्रातर एव वा' इति  
मनुस्मरणात्, तथा—स्वर्थात्स्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्य तदभावे पितरौ  
हरेर्यतां उवेष्टा वा पत्नी' इति ब्रह्मस्मरणाच्च अंपुत्रस्य धन भ्रातृगामीति  
प्राप्त, 'भरण चारथ कुर्वार-स्त्रीगामाजीवनवयात्' ( भा० १३।२६ ) इत्यादि-  
वचनान्च भरणोपयुक्तं धन पत्नी लभत इत्यपि स्थितम् । एव स्थिते बहुधने  
अपुत्रे स्वर्थात् भरणोपयुक्त पत्नी गृह्णाति, शेष च ज्ञानरं । यदा तु पत्नीभरण-  
माप्नोपयुक्तमेव द्रव्यमस्ति ततो भूय वा तदा किं वा-येव गृह्णात्युत भ्रात-  
रोऽपीति विरोधे पूर्वबलीयस्त्वज्ञापनार्थं 'पत्नी दुहितर' इत्यारब्धमिति, तद्  
प्यत्र भगवानाचार्यो न सृज्यति । यत्र ( मनु १।१८५ )—'पिता हरेदपुत्रस्य  
रिक्थ भ्रातर एव वा' इति विकल्पस्मरणाच्चेद क्रमपर वचनम्, अपि तु  
धनमहणेऽर्धिकाग्रप्रदर्शनमाश्रयम् । तच्चासाद्यपि वम्यादिगणे घटत इति  
व्याचक्षते । शङ्खवचनमपि सर्वैरभ्रातृविषयमिति । अपि चारवविषयव्यवस्था-  
द्वचनात्प्रकरणाद्वा नावगम्यते । 'धनभागुत्तरोत्तरः' ( व्य० १३६ ) इत्यस्य  
च 'पत्नी दुहितर' इति विषयद्वये चाक्याभतरमपेक्षारूपधनविषयवम्,  
वित्राविपु तु धनमाश्रयविषयवमिति पूर्वोक्त विधिरेपाद्य तदवस्थमेवेति । यत्तु  
हारीतवचनम्—विधवा र्थीवनस्था चे-नारी भवति कर्कशा । आयुष उप-  
गार्थं तु वातस्य जीवन तदा ॥' इति,—तदपि शङ्खितव्यभिचाराया सकल-  
धनमहणविषयपरम् । अस्मादेव विधनादनाशङ्कितव्यभिचाराया सकलधन-  
महण गम्यते । एतदेवाभिनेत्योक्त शङ्खेन 'उवेष्टा वा पत्नी' इति । उवेष्टा  
गुणवेष्टा अनाशङ्कितव्यभिचारा, सा सत्य धन गृहीत्वाऽभ्या कर्कशामपि  
मातृव्यालपतीति सर्वमनवद्यम् । तस्मादपुत्रस्य स्वर्थात्स्य विभक्तस्यावस-  
थितो धन परिणता स्त्री सत्यता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम् ।

तदभावे दुहितरं । 'दुहितर' इति पशुवचन समानप्रातीयानामसमान-  
जातीयानां च समविषयमाज्ञाप्यर्थम् । तथा च कार्यायन —'पत्नी भर्तृर्धनहरी  
या स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यचन्हा भवत्तदा ॥' इति वृहस्प-  
तिरपि ( २।५।५५ ५६ )—'भर्तृर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता सृज्या । अन्नाद्  
द्वांसभवति पुत्रः दुहिता सृज्या ॥ तस्मात्पितृवचनस्यैव यथ सृज्यते मानय ॥'

१ हरेती । २ अपुत्रधन । ३ अथगान् । ४ धिकारमाग्रप्रदर्शनपर ।  
५ सत्यविषय । ६ वचनादशङ्कित ।



इति । तत्र चोष्टान्दासनवायेऽनूढैव गृह्णाति । 'तदभावे तु दुहिता यद्यनूदा भवे-  
त्तदा' इति विशेषस्मरणात् । तथा प्रतिष्ठनाप्रतिष्ठानां समवाये अप्रतिष्ठितैव तद-  
भावे प्रतिष्ठिता 'श्रीधनं दुहितृणामप्रधानामप्रतिष्ठितानां च' (गौ २१।६) इति  
गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात् । न चैतत्पुत्रिकात्रिपयमिति मन्तव्यम् ।  
'तन्मम पुत्रिकासुत' इति पुत्रिकावास्तरसुनस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधा-  
नात् । 'च' शब्दाद्दुहितृभावे दौहित्रो धनमाह । यथाह विष्णु — 'अपुत्रपौत्रसताने  
दौहित्रा धनमाप्नुयु । पूर्वेषां तु स्वभाकारे पौत्रा दौहित्रिका मता ॥' इति मनु-  
रवि (१।१३६) — अहृतो वा कृता वाऽपि थ विन्देत्सदृशास्तुतम् । पौत्री  
मातामहस्तेन दद्यात्पिण्ड हरेर्द्धनम् ॥' इति ॥

तदभावे पितरौ मातापितरौ धनभाजौ । यद्यपि पुत्रपदधिकरणवचनतायां  
द्वन्द्वस्मरणात् तदपरादत्त्वादेकशेषस्य धनग्रहणे विजो क्रमो न प्रतीयते, तथापि  
विग्रहवाक्ये 'मातृ' शब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषभावपक्षे च मातापितराविति  
'मातृ' शब्दस्य पूर्व श्रवणात् पाठ्यमादेवार्थः समावगमाद्धनसव-धेऽपि क्रमापेक्षायां,  
प्रतीतक्रमाशुरोधेनैव प्रथम माता धनभाजः, तदभावे विवेति मन्वते । किञ्च  
पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारण, माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्पतिशयात्  
'अनन्तर सविण्ढाक्षरतस्य तस्य धन भवेत्' (मनु १।१८७) इति वचनाम्मा-  
तुरेव प्रथम धनग्रहण युक्तम् । नच सविण्ढेश्चैव प्रत्यासत्तिर्नियामिका, अपि तु  
समानोद्काश्विष्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकोपस्मादेव  
वचनात्प्रवृत्त इति । मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्पतिशयाद्ग्रहण युक्ततरम् ।  
तदभावे पिता धनभाजः ।

विग्रहावे भ्रातरौ धनभाजः । तथा च (मनु १।१८५) — 'पिता हरेदपु-  
त्रस्य रिचय भ्रातर एव वा' इति । यत्पुनर्भ्रातरेणोक्तम् (१।२१७) — 'अन-  
पायस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च कृत्वायां पितुर्माता हरेद  
नम् ॥' इति मनुवचनाऽजीवस्यपि पितरि भ्रातरि कृत्वायां पितुर्माता पितामही  
धन हरेत् पिता । यत् पितृगृहीत धन विभातीयेष्वपि पुत्रेषु मन्वति, पितामही-  
गृहीत तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामहेव गृह्णातीति । एतदप्याचार्यो नानु-  
मन्वते । विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात्, 'चतुष्टिद्वैकभागा एषु'  
(१५० १२५) इत्यादिनेति । यत्पुन (मनु १।१८७) — 'अद्वयं ब्राह्मणस्य  
राजा निरप्रमिति रिचति' इति मनुस्मरणेन सन्तृपामिप्राय, मनु पुत्रामिप्रायम् ।  
भ्रातृष्वपि सोदरा प्रथम गृह्णीयुः भिक्षोदराणां मात्रा त्रिपञ्चपात् । 'अनन्तर  
सविण्ढाक्षरतस्य तस्य धन भवेत्' (मनु १।१८७) इति स्मरणात् ।

सौदारणामभावे भिक्षोदरा धनभाज , आतृणामप्यभावे तत्पुत्रा पितृश्रेण धनभाज । आतृभ्रातृपुत्रसमवाये अ तृपुत्राणामनधिकार , आत्रभावे भ्रातृपुत्राणामधिकारवचनात् , यदा स्वपुत्रे आतरि स्वयति सद्भातृणामविशेषेण धनसंबन्धे जाते भ्रातृश्रमविभाग, ध्यानेव यदि कश्चिद्भाता मृतरतदा तत्पुत्राणा पितृतोऽधिकारे प्राप्ते तेषा आतृणा च विभज्य धनग्रहणे 'पितृतो भागहृत्पना' (८५० १२० ) इति युक्तम् ॥

भ्रातृपुत्राणामप्यभावे गोत्रजा धनभाज । गोत्रजा पितामही सपिण्डा. समानोदकाश्च । तत्र पितामही प्रथम धनभाक् । 'मातर्यपि च वृत्ताया पितृमाता धन हरेत्' ( मनु ९।२१७ )—इति मात्रमन्तर पितामहा धनग्रहणे प्राप्ते वित्रादीनां भ्रातृसुतपर्यन्ताना बह्वकमयेन मप्येऽनुप्रयेशाभावात् , 'पितृमाता धन हरेत्' इत्यस्य वचनस्य धनग्रहणाधिकारप्राप्तिमात्रपरत्वाद्दुर्कये तासुनामन्तर पितामही शृद्धातीत्यविशेष ॥ पितामहाश्चाभावे समानगोत्रजा सपिण्डा पितामहादपो धनभाज , भिन्नगोत्राणां सपिण्डानां 'बन्धु'कत्वेन ग्रहणात् । तत्र च पितृसन्तानाभावे पितामही पितामहः पितृव्यारतत्पुत्राश्च श्रेमेण धनभाज । पितामहसन्तानाभावे प्रपितामहा प्रपितामहस्तत्पुत्रारतत्पुत्राश्चैत्येवमासप्तमासमानगोत्राणा सपिण्डानां धनग्रहण वेदितव्यम् । तेषामभावे समानोदकानां धनसंबन्धे ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्या । अन्तनामज्ञानानधिकार्या वा । यथाऽऽह बृहस्पतिः—'सपिण्डता तु पुत्र्ये सप्तमे विनिवर्तते । समानोदकभावरतु निवर्तेताचतुर्विंशत् ॥ ज-मनाग्भो रमृतेरेके सपर गोत्रमुपवते ॥' इति ।

गोत्रजाभावे बन्धवो धनभाज । बन्धवश्च त्रिविधा—भ्रातृबन्धव , पितृबन्धव , मातृबन्धवश्चेति । यथोक्तम्—'भ्रातृपितृव्यसु पुत्रा भ्रातृमातृव्यसु सुता । भ्रातृमातृलपुत्राश्च विज्ञेयाः भ्रातृबन्धवा ॥ पितृ पितृव्यसु पुत्रा पितृमातृव्यसु सुता । पितृमातृलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबन्धवा ॥ मातृ पितृव्यसु पुत्रा मातृमातृव्यसु सुता । मातृमातृलपुत्राश्च विज्ञेयाः मातृबन्धवा ॥' इति ॥ तत्र चाग्नाग्नाकारप्रथमसामबन्धवो धनभाजस्तद्भाज पितृबन्धवरतद्भाजे मातृबन्धव इति श्रमो घदितव्यः । बन्धुनामभावे आचार्यः, सद्भावे शिष्य—'पुत्राभावे यः प्रथामश्च सपिण्ड , सद्भावे आचार्य , आचार्याभावेऽ तेयासी' इत्यापरतम्बस्मरणम् ॥

शिष्याभाय समझचारी धनभाक् । यत्र सहेकरमादाचार्यादुपनयनाप्ययन-सादर्पदानमस्ति , स समझचारी । सद्भावे ब्राह्मणबन्धव यः कश्चित् श्रोत्रियो शृङ्गी-यात् 'श्रोत्रिया ब्राह्मणरयानपारस्य रिष्य भजेरत्' (२५।४१) इति शीतमरमर-णात् । सद्भावे ब्राह्मणमाश्रम् । यथाऽऽह मनुः (९।१८८)—'सर्वेषामप्यभावे तु

ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । त्रैविद्या शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ इति ।  
 न कदाचिदपि ब्राह्मणद्वय राजा गृहीवात् ; 'अहार्यं ब्राह्मणद्वयं राज्ञा मिथ्य  
 मिति स्थितिः' ( १।१८९ ) इति मनुवचनात् । नारदेनाप्युक्तम्—'ब्राह्मणार्थस्य  
 तस्मात्तो दाय्यादश्चेत् कश्चन । ब्राह्मणायैव दातव्यमेतस्वी स्वान्नुपोऽन्यथा ॥'  
 इति ॥ अग्निपादिष्वन समह्यचारिपर्य-तानामभावे राजा हरेत् । न ब्राह्मण ।  
 यथाऽऽह मनु ( १।१८९ )—'इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेत्पुत्र'  
 इति ॥ १३५-१३६ ॥

भाषा—जिसके पूर्वाक्त बारह प्रकार के पुत्रों में से किसी भी प्रकार का  
 पुत्र न होवे उस पुत्रहीन के मर जाने पर पत्नी, पुत्रियों, माता पिता,  
 भाई, भाइयों के पुत्र, गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति, धनुष, शिष्य और ब्रह्मचारी में  
 पहले पहले के न होने पर उसके बाद वाले धन के अधिकारी होते हैं । यह  
 विधि सभी वर्णों के लिये है ॥ १३५-१३६ ॥

पुत्रः पौत्राश्च दाय गृह्णति तदभावे पत्न्याश्च इत्युक्त इवानीं तदुभयाप  
 वाद्भाह—

दानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः ।

क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मध्यात्रेकतीर्थिनः ॥ १३७ ॥

दानप्रस्थस्य यतेर्ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिष्ठोमक्रमेणाचार्यं, सच्छिष्यं,  
 धर्मध्यात्रेकतीर्थी च रिक्थस्य धनस्य भागिनः । ब्रह्मचारी नैष्ठिक । उपकुर्वा  
 नास्य तु धनमादास्य एव गृह्णति । नैष्ठिकस्य तु धनं तदपवादात्पेनाचार्यो  
 गृह्णातीत्युच्यते । यतेस्तु धनं सच्छिष्यो गृह्णाति । सच्छिष्यं पुनरप्यात्मशास्त्र-  
 अध्वनधारणतद्दर्शनुष्ठानसमं कुर्वन्समाचार्यैरिव भागानहंस्वात् । दानप्रस्थस्य  
 धनं धर्मध्यात्रेकतीर्थी गृह्णाति । धर्मध्याता प्रतिपन्नो भ्राना, एवतीर्थी एकाध्रमी,  
 धर्मध्याता चाप्यावेकतीर्थी च धर्मध्यात्रेकतीर्थी । एतेषामाचार्यादीनामभावे पुत्रा  
 दिवु मरस्ववेकतीर्थेव गृह्णाति । मनु 'अनघास्त्वाधमात्तरगता' इति वसिष्ठ  
 स्मरणादाधमात्तरगतानां रिक्थसवन्ध एव नास्ति कुतश्चन्द्रिभाग १ मन्व नैष्ठि  
 कस्य स्वाजितधनसर्वस्यो युक्तं, प्रतिग्रहादिनियेधात् । 'अनिचयो मिष्टु' ( ३।७ )  
 इति गौतमस्मरणात् । मिष्टोरपि न स्वाजितधनसवन्धसम्भवः । उच्यते—वान-  
 प्रस्थस्य तावत्—'अह्ना मासस्य पणो वा तथा सयासरस्य वा । अर्थस्य  
 निचयं कुर्यात्कृतमाश्रयुजे षड्रेत् ॥' ( प्राय० ३७ ) इति वचनाद्दनसवन्धो-  
 ऽस्यप्य । यतेरपि—'कौपीनाच्छादनार्थं वा वासोऽपि विभृयात्तथा । भोगसमा-

१ सवन्ध प्रतिग्रहादिः । २ धनसम्पत् । ३ हि वामोऽपि  
 विभृयात्तथा ।

भेदांश्च गृह्णीयात्पाहुके तथा ॥ इत्यादिवचनाद्ब्रह्मपुस्तकसम्बन्धोऽस्त्येष, नैष्टि-  
यस्यापि शरीरयात्रार्थं च्छादिसम्बन्धोऽस्त्येवेति तद्विभागवचन युक्तमेव ॥१३७॥

भाषा—यामप्रस्थ, यति और ब्रह्मचारी की सम्पत्ति का अधिकारी  
क्रमशः धर्मभ्राता और एकतीर्थी ( उसी भाष्य में विवास करने वाला धर्म-  
भ्राता), सन्निध्य (अप्यारम्भाद्यैः निपुणैः शिष्यैः) और आचार्य होते हैं ॥१३७॥

इदानीं स्वर्थात्स्य पुत्रस्य पत्न्यादयो धनभाज इ युक्तस्यापवादमाह—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी—

विभक्त धन पुनर्मिथीकृत संसृष्ट तदस्यास्तीति संसृष्टी; संसृष्टत्व न येन  
केनानि, किंतु पित्रा भ्रात्रा पितृ-वण वा, यथाऽऽह वृहस्पति ( २५५७२ )—  
'विभक्तो य पुन पित्रा भ्रात्रा यैश्च सस्थित । पितृ-वेषेणाधना प्रीत्या स तस्य  
सृष्ट उच्यते ॥' इति । तस्य संसृष्टिनो मृतस्वर्गात् विभाग विभागकाले भवि-  
ज्ञातगर्भाया भार्यायां वश्चादुत्पत्तस्य पुत्रस्य संसृष्टी इत्यात् । पुत्राभावे संसृष्टपे-  
षावहरेद् गृह्णीयात्, न पत्न्यादि ॥

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी' इत्यस्यापवादमाह—

—सोदरस्य तु सोदर ।

दद्यात्पहरेत्पूर्वांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥

संसृष्टिन संसृष्टीश्चनुवर्तते । अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो मृतस्वर्गात् सादर  
संसृष्टी अनुजागरस्य मृतस्य इत्यात्, तदभावे अपहरेदिति<sup>१</sup> पूर्ववत् सम्बन्ध । एव  
च सादरासोदरसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धन सोदर एव संसृष्टी गृह्णीति ॥ भिनोदरः  
संसृष्टवपीति पूर्वोक्तस्यापवाद ॥ १३८ ॥

भाषा—विभाजन के बाद पुन एक साथ धन मिलाकर रहने वाले  
संसृष्टी कहलाते हैं संसृष्टी का धन संसृष्टी लेता है, सोदर ( सगे ) भाई  
का धन उसके मरने पर सोदर भाई को ही मिलता है । सोदर संसृष्टी की  
मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जन्म ले तो उसे उसका अन्न दे, यदि कोई  
पुत्र न हो तो उस धन को ले लेवे ॥ १३८ ॥

इदानीं संसृष्टिग्यपुत्रे स्वर्थात्ते संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य सोदरस्य चासंसृष्टिन  
मन्नाद्यैः करय पनग्रहणमिति विवश्यायां द्वयोर्भिन्नोऽय ग्रहण कारणमाह—

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्या धनं दरेत् ।

असंसृष्ट्यापि योऽऽद्यात्संसृष्टो नान्यमात्सृज ॥ १३९ ॥

१ च सोदर । २ संसृष्टिग्य धन संसृष्टियनुचातस्य । ३ त्रिणि  
महन्ध । ४ भिनोदरस्यासंसृष्टिन सोदरस्य च । ५ वा दद्यात्,  
चाद्यात् । ६ ना-यमात्सृज ।

अभ्योदयं सापत्नो ज्ञाता ससृष्टी धनं हरेत्, न पुनरभ्योदयो धनं हरेत्  
 ससृष्टी । अनेनाभ्योदयव्यतिरेकान्ध्यामभ्योदयस्य ससृष्टित्वं धनप्रदहणे कारणमुक्तं  
 भवति । अससृष्टीत्येतदुत्तरेणापि सचक्षते । अतश्चाससृष्टयपि ससृष्टिनो धन-  
 मादधीत । कोऽसाविरयत आह—ससृष्ट इति । ससृष्ट एकोदरससृष्ट । सोदर  
 इति यावत् । अनेनाससृष्टस्यापि सोदरस्य धनप्रदहणे सोदरस्य कारणमुक्तं,  
 'संसृष्ट' इत्युत्तरेणापि सचक्षते । तत्र च ससृष्ट ससृष्टीत्यर्थः । नान्य  
 मातृत्वं । अथ 'एव' शब्दाप्याहारेण व्याख्यातं कार्यम् । ससृष्टयस्यन्यमा-  
 तृत्वं एव ससृष्टिनो धनं नादधीतेति एव चाससृष्टयपि चाऽऽऽसाविरयविसासृष्ट-  
 धयगात् 'ससृष्टो नान्यमातृत्वं एव' इत्यवधारणनिवेद्यैवासासृष्टसोदरस्य  
 ससृष्टमिच्छोदरस्य च विभज्य प्रदहणं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । द्वयोरपि धनप्रदहण-  
 कारणस्यैकैकस्य सजायात् । एतदेव रचयित्वं मनुना ( १।२१० )—'विभंष्टा  
 न्ह जीवन्तो विभजेरभ्युत्थयति' इति ससृष्टिविभागं प्रकृत्य 'वेदा उपेष्ट कनिष्ठो  
 वा हृदयेतांशप्रदानतः । प्रियेताम्यतरो वाऽपि तस्य भागो न हृष्यते ॥  
 सोदयो विभजेरुत्तमं समेत्य सहिता समम् । ज्ञातरो ये च सासृष्टा भतिश्वस्य  
 सतामय ॥ ( १।२११।२१२ ) इति कृतम् । यथा ज्ञातृणां सासृष्टिनां सस्य उपेष्ट  
 कनिष्ठो मध्यतो वाऽसाविरयतोऽश्वप्रदानः । सार्वपिभक्तिरुत्तमि । विभागकाल  
 इति यावत् । दायेत रवोशात् अश्वत आश्वत्थपरिप्रेक्षेण प्रकृष्टायादिना  
 वा प्रियेत वा तस्य भागो न हृष्यते । अतः शृणुद्वारणीयो न मसृष्टिन एव  
 शृङ्गीपुरित्वार्थः । तस्योद्वारस्य विनियोगमाह—सोदयो विभजेरुत्तममिति ।  
 तमुद्वारं भागं सोदयो सतोदरा अससृष्टा अपि समेत्य देशाग्नरगता अपि  
 समानस्य सहिताः ससृष्टस्यैव ॥ शृणुमाधिकभावेन, ये च ज्ञातरो मिच्छोदरा  
 सासृष्टा, ते च सनामयो भगिर्ग्यैश्च समं विभजेयुः । समं विभज्य शृङ्गीपुरिति  
 तस्यार्थः ॥ १३९ ॥

भाषा—यदि सौतेला भाई ससृष्टी हो तो धन ले यदि सौतेला भाई  
 ससृष्टी न हो तो वह धन न लेव । किन्तु एक ही मता से उत्पन्न मता भाई  
 अससृष्ट भी हो तो धन पाता है । यदि सौतेला भाई ससृष्ट रहता हो तो  
 वह अहमे सब धन न ले, (मूल श्लोक क) सते भाइयों में भी उत्पन्न विभाग  
 करे ॥ १३९ ॥

१. मुक्तम् । अससृष्टी । २. निवेद्याससृष्ट । ३. ससृष्टिनो भिक्त-  
 दस्य च । ४. ससृष्टा ससृष्टीद्वयम् । ५. समससृष्टं ससृष्ट । ६. ससृष्टस्य  
 विभजेयुः ।

पुत्रपर-यादिसृष्टिना यदायप्रहणमुक्त, तस्यापवादमाह—

हृयीयोऽथ पतितस्तज्ज पद्भ्रुन्मत्तफो जट. ।

अन्वोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तृग्या. स्युनिर्देशकाः ॥ १४० ॥

हृयीरत्नीया प्रकृति । पतितो ब्रह्महादि, सज्ज पतितोरप्य, पद्भ्रु पादविकल, उन्मत्तक यातिकपैत्तिकरुष्टैष्मिकसांनिपातिकप्रहावेशलक्षणैरन्मा देरभिभूत, जटो विकलान्त करण, हिताहितावधारणाऽप्यम इति यावत् । अन्वो नेत्रेन्द्रियविकल, अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधेययैद्यमादिरोगप्रस्त, 'आद्य'दाधरेनाभ्रमान्तरगतपितृद्वेष्युपपातकियधिरमूकनिरिन्द्रियाणां ग्रहणम् । यथाऽऽह यपिष्ट ( १७।५२ )—'अनंशास्त्वाध्रमा-न्तरगता' इति । नारदोऽपि ( १३।२१ )—'पितृद्विष्ट पतित पण्डो यज्ज 'रवाहूपपातिक । औरसा अपि नैतंऽह लभेरशेषयजा कृत ॥' इति । मयुरपि ( १।२०१ )—'अनशौ हृयीपतितौ जारवन्धयधिशो तथा । उ मत्तजटमूकाश्च ये च केचिसिरिन्द्रियाः ॥' इति । निरिन्द्रियो निर्गतनिन्द्रिय यस्माद् व्याप्यादिना च निरिन्द्रिय । एते हृयीयाद्योऽनशाः शिष्यभाक्तो न भवन्ति । केवलमशनाच्छादनदानेन पोषणीया भयेषु । अभावे तु पतितरवदोष । 'सर्वेषामपि तु न्याय्य दातु शक्या मनीषिणा । प्रासाच्छादनमत्यन्त पतितो ह्यद्दृश्येत् ॥' ( १।२०२ )—इति मयुरमरणात् । अत्यन्त यावज्जीवमित्यर्थ । एतेषां विभागात्प्रारोग्य दोषप्रासाधन-शाध्यमुपपन्न न पुनर्विभक्तस्य । विभागोत्तरकालमन्वेषादिना दोषनिर्हरणे भागप्राप्तिरत्येव ।—'विभक्तेषु सुतो जात स्वर्णादीं विभागभाक् ( ४५० १२२ ) इत्ययं समानन्यायत्वात् । पतित्वादिषु तु पुष्टिह्रयमविधत्तम् । अतश्च परशुद्विषुमात्तानीनामप्युक्तदोषेषुदानामनदितव वेदितव्यम् ॥ १०४ ॥

भाषा—नपुमक, पतित, पतित का पुत्र, पद्भ्रु पागल, जट, अन्वा, असाध्य रोग से प्रस्त ( औरस आहूयो को भी ) अश न देकर केवल उनका भरण पोषण करना चाहिये ॥ १४० ॥

बलीवादीनामशिक्षायात्पुत्राणामन्वनसिधे प्राप्ते इहमाह—

औरसा क्षेत्रजास्त्येषां निर्दोषा भागहारिण ।

एतया बलीवादीनामौरसा क्षेत्रजा या पुत्रा निर्दोषा अशमदणविरोधिषुष्टे इयादिकोपरहिता भागहारिणोऽज्ञप्राहिणो भवन्ति । तत्र बलीवरय क्षेत्रज पुत्र ममहाय-यथाऔरसा अपि । 'औरस क्षेत्रज'योर्ग्रहणमितरपुत्रभ्युदास्यार्थम् ॥

१. भर्तृग्यास्तु निरक्षकाः । २ सनिपातप्रहा । ३ यथादिरोग । ४ रवाहूपपात्रित । ५ दोषाणामनदितव ।

बलीबादिदुहितृणां विशेषमाह—

सुताश्चैषां प्रमर्तव्या यावद्दे मर्तुं सात्कृता ॥ १४१ ॥

एषां बलीबादीनां सुता दुहितरो यावद्विवाहसकृता भवन्ति, तावद्भरणीया 'च'शब्दात्सकार्वाश्र ॥ १४१ ॥

भाषा—इन (नपुसक आदि) में यदि औरस या चेत्रज पुत्र निर्दोष होते हैं तो भरणमाही होते हैं । इन नपुसक आदि पुत्रों का उस समय तक भरण-पोषण करना चाहिए जब तक उनके पुत्रियों का विवाह न हो जाय ॥ १४१ ॥

बलीबादिपरनीनां विशेषमाह—

अपुत्रा योवित्तश्चैषां मर्तव्या साधुवृत्तय ।

निर्घास्या व्यभिचारिण्य. प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥

एषां बलीबादीनामपुत्रा पत्न्य साधुवृत्तय सदाचारश्रेयस्तर्तव्या भरणीया ; व्यभिचारिण्यस्तु निर्घास्या । प्रतिकूलास्तथैव च निर्घास्या भवन्ति, भरणीया व्यभिचारिण्यश्चेत् । न पुन प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम् ॥ १४२ ॥

भाषा—इनकी पुत्रहीना पत्नियों यदि सदाचारिणी हों तो उनका भरण करना चाहिए, यदि व्यभिचारिणी और प्रतिकूल अथवा भरण करने वाली हों तो उन्हें निर्घासित कर देना चाहिए ॥ १४२ ॥

'विभजेरभ्युता विप्रो' ( ६५० ११७ ) इत्यत्र स्त्रीपुधनविभाग सत्सेवेनाभिधाय पुत्रपुधनविभागो विस्तरणाभिहित, इदानीं स्त्रीपुधनविभाग विस्तरणाभिधायरक्षणरूप तावदाह—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमभ्यन्युपागतम् ।

आधियेदुनिकार्थं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥

विप्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च वदन्त, वदन्त विवाहकालेऽप्रावधिकृत्य मातृकादिभिर्दत्तम्, आधिवेदनिक अधिवेदननिमित्त 'अधिविद्वन्निधये दद्यात्' ( ६५० १४८ ) इति वक्ष्यमाण । 'आद्य'शब्देन शिष्यकृतसद्विभागपरिमहाधिगमप्राप्तमेतास्त्रीधन मन्वादिभिरक्षम् । 'स्त्रीधन'शब्दश्च धौगिको न पारिभाषिक । योगमभवे परिभाषाया अपुत्रावात् । यत्पुनर्मनुजोक्तम् ( ९।१९४ )—'अप्यन्यवप्याह्निक दत्त च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्त पटिवध स्त्रीधन ददतम् ॥' इति स्त्रीधनस्य पटिवधस्य, तन्न्यूनसकथात्पदपदार्थं माधिवेदनस्यवद्वेदस्य ॥ अथवा-वादिस्वरूपे च कथापथनेनभिहितम्—'विवाहकाले वास्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निस्समिधौ । सदस्यग्निवृत्त सज्जि स्त्रीधन परिकीर्ति-

तम् ॥ यद्युनर्त्तते नारी नीयमाना पितृगृहात् । अप्याशुनिकं नाम स्त्रीधनं  
 तदुदाहृतम् ॥ प्राश्या दत्तं ॥ यत्किञ्चिच्छूय्या वा शशुरेण वा । पाद्वन्दनिकं  
 चैव मीनिदत्तं तदुच्यते । उच्यते कन्यया चाऽपि पशुः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः  
 सकाशात्पितृभ्योर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥ इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पिता, माता, पति और भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह में  
 भूमि के निरुद्ध मिला हुआ धन, आधिवेदनिक ( दूमरा विवाह करते समय  
 पति द्वारा पहली स्त्री के सम्बन्ध के लिये प्रदत्त ) धन इत्यादि स्त्रीधन कहे  
 गये हैं ॥ १४३ ॥

यान्धुदत्तं तथा शुल्कमन्याधेयकमेव च ।

त्रिषु यान्धुभिः कन्याया मान्धुभ्युभिः पितृवन्धुभिश्च महत्तम्, शुल्कं  
 यद् गृहीत्वा कन्या दीयते । अन्याधेयकं परिणयनादनु पश्चाद्दत्तं दत्तम् ।  
 दत्तं च कात्यायनेन—'विवाहात्परतो यस्य लब्धं सर्वं कुलाश्रयम् । अन्याधेयं तु  
 तद्दत्तं लब्धं पितृकुलात्तथा ॥' इति स्त्रीधनं परिर्निर्णयमिति गतेन संबन्धः ॥

यत् स्त्रीधनमुक्तं, तद्विभागमाह—

शैलीतायामप्रजसि यान्धवास्तद्व्याप्नुयुः ॥ १४४ ॥

तापूर्वोक्तं स्त्रीधनमप्रजसि भगवत्यायां दुहितृश्रीद्विधीश्रीद्विप्रपुत्रश्रीवरदितायां  
 त्रियामनीतायां यान्धवा भर्त्रादयो यथवमानाः गृह्णन्ति ॥ १४४ ॥

भाषा—स्त्री के मातृपक्ष एवं पितृपक्ष के यन्धुओं द्वारा दिया गया धन,  
 शुल्क ( जो धन लेकर लम्बा ही जाय ), और अन्याधेयक ( विवाह के बाद  
 पतिद्वारा या पितृकुल से प्राप्त ) धन भी स्त्रीधन कहलाता है । स्त्री के  
 पिता मरताम ( पुत्री, नाभी, मागी के पुत्र भादि ) मर जाने पर पति भादि  
 यान्धव स्त्रीधन प्रदत्त करते हैं ॥ १४४ ॥

सामान्येन यान्धवा धनप्रदणायिकारिणो दत्तिताः । इदानीं विवाहभेदेना-  
 धिकारिभेदमाह—

अप्रजस्त्रीधनं भर्तृर्धात्रादिषु सत्तुष्यपि ।

दुहितृणां प्रसूता चैच्छेपेषु पितृगामि तत् ॥ १४५ ॥

अप्रजसः स्त्रियाः पूर्वोक्तायाः साहस्रैषांप्रजायापेषु यत्तुं विवाहेषु  
 भार्यां च प्राप्ताया अतीतायाः पूर्वोक्तं धनं प्रथमं भर्तुर्भवेति । तद्व्यापे नाम-  
 त्यामदानां वन्दिनां भवति । सोपेभ्यामुरवाऽन्यैराहमवेनापेषु विवाहेषु



तदप्रजन्नीधनं विवृणामि । माता च पिता च पित्रो तौ मरुदानीति विवृणामि । एकशेरिदिष्टाया जवि मानु प्रथमं धामग्रहणं पूर्वमेवोक्तम् । तदभाय तत्प्रयासज्ञानं धनग्रहणम् । सर्वेष्वेव विवाहेषु प्रसूतापाययती चेद् दुहितृणां तद्वन्न भवति । अत्र दुहितृ द्वाभ्यां दुहितृदुहितर उच्यते । साद्याद् दुहितृणां 'मातृदुहितर दोषम्' ( १५० ११० ) इत्यश्लेषत्वात् । अतश्च मातृधनं मातरि पृत्तायां प्रथं दुहितरो गृह्णन्ति; तत्र चोद नूताममवायेऽनूदैव गृह्णाति, तदभाय च परिणीता, तत्रापि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति, तदभाय प्रतिष्ठिता; यथाह गीतम ( २९।६ )—'याधा दुहितृणामग्रज्ञानामप्रतिष्ठितां च' इति । तत्र 'च सत्प्रतिष्ठितानां च । अप्रतिष्ठिता अनवस्था निर्धना वा । एतच्च शुद्धस्यतिरेकणः । शुद्धं तु सोऽर्थाणामेव 'भगिनीशुद्धं सोऽर्थाणामूर्ध्वं मातु' ( २९।६ ) इति गीतमयचनात् । सर्वासां दुहितृणामभाये दुहितृदुहितरो गृह्णाति; दुहितृणां प्रसूता चेत् इत्यस्माद्भवनात् । तासां भिन्नमातृणां विषयमाणां समवाये मातृद्वारेण भगिनीशुद्धं प्रतिमातृ वा सर्वैर्गणैः आगच्छति' ( २९।५ ) इति गीतमस्मरणान् ॥ दुहितृदीहिनीणां समवाये दीहिनीणां किञ्चिदप्यदास्यम् । यथाह मनुः ( ९।१९३ )—'वास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथाऽहं । मातामहा चकारिकिप्रदेव पीतिपूर्वम् ॥' इति ॥ दीहिनीणां समवाये दीहिना धाहारिण यथाह नारद—( १३।३ ) 'मातृदुहितरोऽप्यदुहितृणां तद्वन्न भवति । तद्वन्न भवति सनिहितदुहितृवरासत्वात् ॥ श्रीदिप्रानामभाये पुत्रा गृह्णन्ति । 'तास्य प्रथमेऽप्य' ( १५० ११० ) इत्युक्तत्वात् । मनुरपि दुहितृणां पुत्राणां च मातृधनसवम्भं दर्शयति ( ९ १९२ )—'जनयोः सविधतायां तु सर्वं सहोदरा । सप्त भजेर मातृक विषय भगिभ्यश्च समाश्रयः ॥' इति । मातृक विषय सर्वं सहोदरा सप्त भजेरन्, समाश्रयो भगि वन्न सप्त भजेरश्चिन्निमवम्भः ॥ पुनः सहोदरा भगिभ्यश्च समूय भजेरश्चिन्नि हनेतरवोगत्वे इहैव तादाभावात्प्रतीतेः । विभागैर्नृणां स्वव्ययनापि 'च'स्योपपत्तेः, यथा दक्षतृष्टि कृपां चक्षुदत्तमेति । 'सप्त'ग्रहणमुत्तरविभागविशेषणम् । 'सोदर'ग्रहणं भिन्नदरविशेषणम् । अनवस्थाहीनज्ञातिस्वीधनं तु भिन्नोदराप्युक्तमजाभीयसवम्भं दुहितृणां गृह्णाति, तदभाय तदपरायम् । यथाऽऽह मनु ( ९।१९८ )—'द्विष्याणु पञ्चदशित रिप्रा दत्त वधचन । साह्यो तद्वरेकन्या तद्वरापत्य वा भवन् ॥' इति । 'मातृ'ग्रहणमुत्तमभावापुपलक्षणम् । अतश्चापरायवेरपाधनं चरिपारम्भा गृह्णाति । पुत्राणामभावे पीत्रा रिनामहीधनहारिणः । 'रिषयश्चात्र श्लेषं प्रतिष्ठुं' ( १९।० ) इति गीतमस्मरणान्, 'पुत्रवीर्यं देवम्' ( १५० ५० ) इति

पौत्राणामपि पितामहृणापाकरणोऽधिकारात् । पौत्राणामप्यभावे पूर्वोक्ता भर्त्रा-  
दयो बान्धवा धनहारिणः ॥ १४५ ॥

**भाषा—**ब्राह्म, दैव, भार्य और प्राजापत्य-विवाह हो तो स्त्री के निःसन्तान  
मरने पर उसका धन पति को मिलता है । शेष विवाहों में वह धन स्त्री के  
पिता का हो जाता है । किन्तु इन सभी विवाहों में यदि उस स्त्री के पुत्रियाँ  
हों तो उसका धन उन पुत्रियों को ही मिलता है ॥ १४५ ॥

स्त्रीचनप्रसङ्गेन वाग्दत्ताविषयं किञ्चिदाह—

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्डयो उच्यते द्वाण्डश्च सोदयम् ।

कन्यां वाचा द्वाण्डपहरन् द्रव्यानुबन्धाद्यनुसारेण राज्ञा दण्डनीया ।  
पूतद्यापहरणकारणानावे; सति ॥ कारणे 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाग्नेयश्चेद्वा आम-  
जेत्' ( भा० ६५ ) इत्यपहराण्यनुज्ञानाम्न दण्डया । यच्च वाग्दामनिमित्तं  
वरेण स्वसंयन्धिना कन्यासंयन्धिना चोपचारार्थं धनं व्यधीकृतं, तत्सर्वं सोदयं  
सपृथिकं कन्यादाता वराय दद्यात् ॥—

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्कारात्प्राद् त्रियेत, तदा किं कर्तव्यमिष्यत आह—

मृतायां दत्तमादद्यात् परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

यदि वाग्दत्ता मृता तदा सपृथिकं गृहीयकादि शुद्धं वरेण दत्तं, तद्वर आद-  
दीत परिशोध्योभयव्ययम् । उभयोरात्मनः कन्यादातुश्च यो व्ययः, तं परि-  
शोध्य विर्गमदद्यात्पिष्टमाददीत । यच्च कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं पिरोभूयणा-  
दिकं वा क्रमागतं, तस्यहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः; 'रिबधं मृतायाः कन्याया  
गृह्णीयुः सोदारसदभावे मातुस्तदभावे पितुः' इति वीधायनस्मरणात् ॥ १४६ ॥

**भाषा—**कन्या का वाग्दान करके पुनः उसका हरण करने ( दान न  
करने ) पाले को उसके लिये व्यय किया गया धन मृत्ति सहित दण्ड लेकर  
वर को दिलावे । वाग्दत्ता कन्या के मरने पर दोनों ( पिता और वर ) के  
व्यय का शोध करके ओ शेष बचे वह वर को देवे ॥ १४६ ॥

मृतप्रजास्त्रीधनं भर्तृगामीशुक्तम् ; इदानीं जीवन्त्याः सप्रजाया भवि श्रिया  
धनग्रहणे कचिन्नर्तुरन्वयुशामाह—

दुर्मिक्षे धर्मकार्ये च श्याघी संप्रतिरोधके ।

गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न खियै दानुमर्हति ॥ १४७ ॥

१. पितामहृणापाकरणाधिकारात् । २. दधारसहोदयम् । ३. त्रियते  
सदा । ४. सर्वमादद्यात् । ५. शुद्धं वा वरेण । ६. विगण्टय ।  
७. क्रमागतं । ८. भर्ता, भर्ता न खियो ।

दुर्मित्रे ऋद्रुग्भरणाथं धर्मकार्ये अवश्यम्भवे व्याधी च सप्रतिरोधके,  
 यदिमहणनिप्रहादी, द्रुधान्तररहित मीघन गृहभर्ता ५ पुनर्दातुमर्हति,  
 प्रकारान्तरेणोपहरन्दद्यात् । मनुष्यनिरेकण जीवन्त्या श्रिया धन केमापि  
 दायादेन न ग्रहीतव्यम्, जीवन्तीना तु तावत् वे तद्धरेषु स्वयान्धवा ।  
 तांश्चैव्याचौरदण्डेन धार्मिकं पृथिवीपति ॥' (मनु ८।२९) इति दण्डविधा  
 नात् । तथा—'परसौ जीवति ॥ श्रीभिरलङ्कारो घ्नो भवेत् । न त भनेरन्धा-  
 यादा भजमाना पतन्ति ते ॥' ( मनु ९।२०० ) इति दोषश्रवणाद्य ॥ १४७ ॥

भाषा—दुर्मित्र क समथ, धर्म कार्य में, रोग में और बन्दी होने पर  
 लिये गये स्त्री धन को पनि खो जो पुन देने का भागी नहीं होता ॥ १४७ ॥

आधिषेदनिक श्रीधनमुक्त, तदाह—

अधिविचस्त्रियै दद्यादाधिषेदनिकं समम् ।  
 न दत्तं स्त्रीधनं यस्ये दत्ते स्वर्ध प्ररुहपयेत् ॥ १४८ ॥

यस्या उपरि विवाह साऽधिषिद्या, सा चामो एी च, तस्यै अधिविचस्त्रियै,  
 आधिषेदनिकमधिषेदनिकमित्त धन सम दावदधिषेदनार्थं स्वयीकृत तावद्दद्यात् ।  
 यस्यै भर्त्रा शशुरेण वा स्त्रीधन न दत्तम्, दत्ते पुन स्त्रीधने आधिषेदनिक-  
 द्रव्यपर्यार्थं दद्यात् । नर्थं दावदश्वात्र समविभागतश्चनो न भवति, अतश्च  
 यावता नरपूर्वदत्तमाधिषेदनिकसम भवति तावद् देयमित्यर्थं ॥ १४८ ॥

भाषा—जिस स्त्री क रहने दूमरा विवाह करे तो उस पहली स्त्री को  
 यदि उसे स्त्री-धन न मिला हो तो दूमरे विवाह में स्वयं किये गये धन के  
 बराबर आधिषेदनिक ( समतोपार्थ ) धन द्ये, यदि उसे स्त्री-धन मिला  
 हो तो दूमरे विवाह क स्वयं का भाषा धन हा देना विहित है ॥ १४८ ॥

एवं विभागमुक्त्वा इदानीं तत्सदेहे निर्णयदत्तनाद—

विभागनिश्चये ज्ञातियन्धुसाक्षयमित्तेष्वितै ।  
 विभागभाजना श्रेयो गृहदोषैश्च यौतकैः ॥ १४९ ॥

विभागस्य मिद्वये अपलाये ज्ञातिभि पित्र्यन्धुभिर्मातृ-पुत्रि मातुला-  
 दिभि साजिभि पूर्वोक्तलक्षणैरेक्येन च विभागपत्रेण विभागभावना विभाग  
 निर्णयो ज्ञातव्य । तथा यौतकै पृथक्कृतैर्गृहपद्वैश्च । पृथक्कृत्यादिचार्यप्रवर्तन  
 पृथक्पञ्चमहापञ्चादिधर्मनुष्ठान च । नारदेन विभागलिङ्गमुक्तम् (१३।३७, ३९)-  
 इति । 'विभागधर्मस्य ददायाद नां विनिर्णय । ज्ञातिभिर्घातलेक्येन पृथक्-

१ नापहत दद्यात् । २ देयमाधि । ३ प्रकीर्तितम् । ४ शशुरेण  
 भर्त्रा वा । ५ श्रेया श्रेयस्गृहयौतकै ।

कार्यप्रवर्तनात् ॥ आस्तृणामविभक्तानामेको धर्म प्रवर्तते । विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्सेवा पृथक्पृथक् ॥' तथाऽवराण्यपि विभागलिङ्गानि तेनैवोक्तानि— 'साक्षिण्य प्रातिभाष्य च दान ग्रहणमेव च । विमक्ता भ्रातर कुर्वुर्नाविभक्ता कथंचन ॥' ( ना० १३।४२, ४३ ) इति ॥ १४९ ॥

भाषा—विभाग को जरूरीकार करने पर जाति के लोगों, वन्धुनों, साक्षियों, देण और पृथक् किय गये घर और देण स विभाग का निर्णय होता है ॥ १४९ ॥

इति दायविभागप्रकरणम् ।

### अथ सीमाविवादप्रकरणम् ९

अधुना सीमाविवादनिर्णय उच्यते—

सीम्नो विवादे क्षेप्रस्य सामन्ता. स्थविरादयः ।

गोषा. सीमाकृपाणां ये सर्वे च वनगोक्षराः ॥ १५० ॥

नयेपुरेते सीमानं स्थलाहारतुपद्रुमैः ।

सैतुघट्मोक्मिन्नास्थिवैस्याद्यैरुपसक्षिताम् ॥ १५१ ॥

ग्रामद्वयसन्धिघन चरस्य क्षीमा विवादे तथैकसामान्तर्भक्तिक्षेप्रमर्षा-  
दाविवादे च सामन्तादय स्थलाहारादिति पूर्वकृतै सीमाकृपाणैरलङ्घिता  
षिद्धिता सीमा नयेपुरेनिष्ठितुषु । सीमा क्षेत्रादिमर्षादा, सा अतुर्विधा—जनप-  
दसीमा, ग्रामसीमा, क्षेत्रसीमा, गृहसीमा चेति । सा च यथासमय पञ्चलक्षणा ।  
तदुक्त नारदेन—'ध्वजिनी मरिच्यनी चैव नैधानी भयवर्जिता । राजशासननीता  
च सीमा पञ्चविधा स्मृता ॥' इति ॥ ध्वजिनी पृष्ठादिपिता, पृष्ठादीनां  
प्रकाशकस्य च ध्वजतुषुयथात् । मरिच्यनी मल्लिकवती, 'मरिच' काङ्क्षस्य  
इवाधारजललक्षकस्यात् । नैधानी निगतातनुवाहारादिमती, सेवा निगतात्वेन  
निधानतुषुयथात् । भयवर्जिता अविमर्षनिपरस्परसन्तुष्टिपत्तिनिमिता । राजशा-  
सननीता ज्ञातृच्छिद्भावे राजेश्वर्या निमिता । पृष्ठादीनां षोडश विवाद  
समयति । पयाऽऽह कात्यायन—'आधिषय न्यूनता चांशं अस्तिधारिताऽमेव  
च । समोऽभुक्ति सामा च यद् भूवात्स्य हेतव ॥' इति ॥ तथा हि—'समाप्र-  
पञ्चनियर्तनाया भूमिधिक्या भूस्ति' इति केनचिदुक्त पञ्चनियर्तनेन नाधिटे-

१ स्थविरा गणा ।

२. वृषाणाञ्च (= वृद्धवादिना) । ३. यान्ते ।

४. इत्यलङ्घिताः ।

रथाधिक्ये विवाद । 'पञ्चनिवर्तना मदीया भूमि' इत्युक्ते न ततो पूनैवेति न्यूनतायाम् । पञ्चनिवर्तनो ममाश इत्युक्ते जगत् एव नास्तीत्यस्तिनास्तिव विवादः सम्भवति । 'मदीया भू प्रागविद्यमानभोगेव मुच्यते' इत्युक्ते न सतता चिरतमेव मे 'भुक्ति रित्यभोगभुक्तौ विवादः । इय मयादिय वेति सीमाविवाद इति पट्प्रकार एव विवादः सम्भवति । पट्प्रकारेऽपि भूविवादे ध्रुवार्धाभ्या मीमाया अपि निर्णयमानस्वास्तीमानिर्णयप्रकरणे नस्यान्तर्भावः । सम-नाङ्ग्या सामन्ता । चतसृषु दिग्बन् तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीम स्ववस्थिता । 'ग्रामो ग्रामस्य साम-न क्षेत्र क्षेत्रस्य कर्णितम् । गृह गृहस्य निर्दिष्ट ममन्तापरिरभ्य हि ॥' इति कारयायनवचनमात् । ग्रामादि'शब्देन तरस्था पुरुषा लक्ष्यन्ते । ग्राम पण्यित इति यथा । साम-त'ग्रहण च तत्सक्त्याद्युपलक्षणार्थम् । उक्त च प्राशयायनेन—'रथसक्त्यास्तु सामन्तास्तत्सक्त्यास्तथोचरा । समस्त सक्त्यास्तथा पदाकारा प्रकर्तिता ॥' इति ॥ स्वविरा वृद्धा । 'आदि'ग्रहणेन मौले'द्वयप्रहणम् । वृद्धादिलक्षण च तन्नैवोक्तम्—'निष्पद्यमानैर्दृष्ट ताकार्यं तद्गुणान्वितैः । वृद्धा वा यदि षाऽवृद्धास्ते तु वृद्धा प्रकीर्तिता ॥ ये तत्र पूर्व साम-ता पश्चाद्देशान्तर गता । त-मूलत्वात्तु ते मौला कृषिभिः परिकीर्तिता ॥ उपभ्रवणसभोगकार्यात्वात्तौपचिह्नता । वृद्धरन्ति पुनर्यस्मादुद्धृतारस्ते तत स्मृता ॥' इति ॥ गोपा गोचारका । सीमावृषाणा सीमासहितैश्चैवर्षका । मर्षं च घनगोचरा घनचारिणो इवाधादयः । ते च मनुनोक्ता ( ८१२६० )—'वाधापशाकुनिका-गोपा कर्णान्-मूलत्वात्तान् । स्वालप्राहानुद्धृत्सीन-याश्च घनगोचरान् ॥' इति ॥ स्थलमुन्नतो भूवदेश अद्धारोऽवेरिद्विष्टम्, तुपा धा-वत्त्वच, हुमा न्यग्रोधादयः सेतुर्बलप्रवाहव ध, चैत्य पापागादिबन्ध, आदिशब्देन वेणुवालुकामदीना ग्रहणम्, एतानि च प्रशास्यप्रकाशभेदेन द्विप्र काराणि । यथाऽऽह मनु ( ८१२६१-२६८ ) सीमावृषाश्च कुर्वन्त्य-ग्रोधाश्चाथ किञ्चुकान् । शाश्वमलीनालतालाश्च क्षीरिणश्चैव पादवान् ॥ सुवमा वेणुश्च विविधा ऋग्मीवदशीस्थलानि च । जरा कुञ्जकगुल्मश्च यथा सीमा न नश्यति ॥ तडागा-युदपानानि वाप्य प्रस्रवणानि च । सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥' इति प्रकाररूपाणि । ( मनु ८ २४९-२५२ )—'उप-द्वेषानि चा-यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणा वीच्य निश्च लोके विपर्ययम् ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवा-स्तुपा-भस्म कपालिका । नरीपमित्ताद्धारशर्करावा तुकास्तथा ॥ यानि चैवप्रकाराणि कालाद् भूमिर्न भक्षयेत् । नानि सन्धिषु सीमावामप्रकाशानि कारयेत् ॥ एतैर्निर्द्देनय सीमां राजा विवदमानयो ॥'

इति प्रच्छदलिङ्गानि ॥ एतैः प्रकाशाप्रकाशरूपैर्निर्द्दिः सामन्तादिर्प्रदक्षिणैः सीमां प्रति विवदमानयोः सीमानिर्णयं कुर्याद्वाजा ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—( दो गाँव की धपवा ) खेत की सीमा के विवाद में सामन्त, घुड़पुरुष, गोप ( चरवाहे ), सीमा पर के खेत जोतने वाले, और सभी वनचारी ( वधाध भादि )-के ऊँची भूमि, कोयला, भूँसी, वृष, रेत ( जल-प्रवाहवग्ध ), खोदियों की खाँधी, गड्ढों, हड्डियों और पथर भादि में चिह्नित करके सीमा का निर्धारण करें ॥ १५०-१५१ ॥

यदा पुनर्द्विहानि न सन्ति, विद्यमानानि वा लिङ्गलिङ्गतया संक्षिपानि, तदा निर्णयोपायमाह—

सामन्ता वा समग्रामाश्चत्वारोऽप्यौ दशापि वा ।

रक्तस्रग्धसनाः सीमां नयेयुः क्षितिर्वारिणः ॥ १५२ ॥

सामन्ताः पूर्वोक्तलङ्गानां, समग्रामाश्चत्वारोऽप्यौ दशापि क्षेत्र्यं समसदृशाः प्रयासन्नप्रामीणाः । रक्तस्रग्धसनाः रक्तस्रग्धरः मूर्च्छारोषितक्षितिदण्डाः सीमानं नयेयुः प्रदर्शयेयुः । 'सामन्ता वा' इति विक्रमभिधानं रक्षयस्तरोक-साक्ष्यमिप्रायम् । यथाऽऽह मनुः ( ८।२५३ )—'साक्षिप्रवय एव स्यात्सीमा-यादविनिर्णय' इति ॥ तत्र च साक्षिणां निर्णेतृत्वं युक्तम् । तदभावे सामन्तानाम् । तदुक्तम् ( मनुः ८।२५८ )—'साक्ष्यभावे तु चत्वारो प्राभ्याः सीमास्तजासिनः । सीमाविनिर्णयं कर्तुं प्रयत्ना राजसंनिधौ ॥' इति; तदभावे तत्सकाक्षिणां निर्णेतृत्वम् । यथाऽऽह कार्यापनः—'स्वार्थमिदौ प्रवृष्टेषु सामन्तेऽप्यर्थावशात् । तत्संसक्तैस्तु कर्तव्यं उदारो नात्र मक्षयः ॥ सत्सत्सर्कदापे तु सामसक्ताः प्रकीर्तिताः । कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञा धर्म विजानता ॥' इति । सामन्ताद्यभावे मौढ्याद्यो प्राज्ञाः, 'तेषामभावे सामन्त-मौढ्यदुष्टोद्घटनादयः । स्वावरे पदपूरारेऽपि कार्या मात्र विचारणा ॥' इति कार्या-यनेन प्रमेविधानात् । एते च सामन्तादयः नक्ष्यागुणातिरेकेण तभ्यन्ति । 'सामन्ताः साधन पूर्व निर्दोषाः स्युर्गुणान्विताः । द्विगुणास्तुत्तरा ज्ञेयारततोऽन्यं त्रिगुणा मताः ॥' इति रमरणत् ॥ ते च साक्षिणां सामन्तादयश्च सर्वः सर्वः सपथैः दापिताः सन्तः सीमां नयेयुः ( मनुः ८।२५६ )—'शिरोभिस्ते पृथ्वीयोर्वा' स्रग्धसना रक्तवासनाः । सुकृतैः दापिताः रक्तैः स्वैर्नयेयुस्ते समजसम् ॥' इति रम-णात् । नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैवत्य । 'एवञ्चेदुक्तं सीमां सोपधासः

१ प्रकाशितैः ।

२. समा ग्रामा ।

३. कुर्यात् ।

४. दोपेयु ।

५. समाभिधानात् ।

समुद्ययेत् । रक्षमाक्षयान्तरधरो भूमिमादाय मूर्धनि ॥' ( भा० १११७०१९ )  
इति नारदेनैकरथाभ्यनुज्ञानात् ॥ योऽथ—'नैक समुद्ययेत्सीमा नर प्रत्ययवा  
नपि । गुरवादाभ्य कार्यस्य क्रियेया बहुषु ग्विना ॥' इत्येकस्य निषेधे ॥ उभया  
नुमनधर्मविद्वपतिरिक्तत्रिपय इत्यविरोधे ॥ स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षिसामन्ता-  
दीना सीमाज्ञाने उपायविशेषा नारदेनोक्त—'भिन्नगापहृतोरसृष्टनष्टचिह्नासु  
भूमिषु । तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाद्भोगदर्शनात् ॥' ( भा० १११६ ) इति ।  
निष्ठागाया मया अपहृतेनापहरणेनोरसृष्टानि स्वस्थानात्प्रत्युतानि मष्टानि वा  
लिङ्गानि यासु मर्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानादुरसृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीन  
प्रदेशानुमानात् प्रामादरस्य सहस्रदण्डपरिमित क्षेत्रमस्य प्रामस्य पश्चिमे भागे  
इत्यवधिधात्प्रमाणाद्वा प्रत्यधिसमस्यमविप्रतिपक्षाया अस्मात्कालोपलक्षितभुक्तेर्वा  
मिश्रितुषु ॥ वृहस्पतिना चात्र विशेषो दत्तत—'भागम च प्रमाण च भोगं  
काल च नाम च । भूभागलक्ष्यं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिग ॥' इति । एते च  
साक्षिसामन्तादय अपथे ध्याविता सम्यक् कुलादिममस्य राज्ञा प्रष्टव्या । यथाह  
मनु ( ८।२५४ )—'प्रामयन्कुलानां तु समस्य सीद्धि साक्षिग । प्रष्टव्या सीम  
लिङ्गानि तयोश्चैव विधादिभो ॥' इति । ते च पृष्टा साक्ष्यादय समस्ता  
देकमस्यन साग्नि निर्णय मूषु । तैर्निर्णीता सीमा तत्प्रदर्शितसङ्कलिङ्गयुक्तां  
साक्ष्यादिनामान्विता चाविस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत् । उक्तं च मनुना  
( ८।२६१ )—'ते पृष्टास्तु यथा मूषु समस्ता सीम्नि निर्णयम् । निवृत्ती-  
यास्तथा सीमा त्वर्थात्साश्चैव नामत ॥' इति । एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां  
सीमाचङ्कमणदिनादारभ्य चाक्षत्रिपय राजदेधिकस्यमभास्यसम चेन्नोरपद्यते  
तदा तत्प्रदर्शनाभ्युमानिर्णय । अथ च राजदेविकस्यसनावधि कात्यायने  
नोक्त—'सीमाचङ्कमणे कोने पादपर्वत तथैव च । त्रिपद्यत्सप्तदह द्वैवराजि  
कमिष्यत ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—( यदि कोई चिह्न न हो तो ) सामन्त, आमवास क चार, आठ  
या दस प्रामस्ताला एाल रम का वल धारण करके पृथ शिर पर मिट्टी का  
रेखा रचकर सामा निर्धारित करें ॥ १५२ ॥

यदा स्वम यामुक्तसाक्ष्यरचसा त्रिपद्याभ्यन्तरे रोगादि दरयते, अथवा प्रति  
वादिनिदिष्टाभ्यधिकमकपागुणसाक्ष्यन्तरविरुद्धवचनता तदा ते सृवाभापितया  
दण्डनीयास्तद् द—

अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ।

अनुने मिथ्यैवदने निमित्तभूते सति सर्वे सामन्ताः प्रत्येक मध्यमसाहसेन चत्वारिंशदधिकेन पणपञ्चशतेन दण्डनीयाः । सामन्तविषयता चास्य साक्षि-  
मौलादीनां स्मृत्यन्तरे दण्डान्तरविधानादागम्यते । यथाऽऽह मनु (८।५७)-  
'यथोक्तेन मयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीत वयन्तस्तु दाप्या रयुर्हि-  
शतं दमम् ॥' इति ॥ नारदोऽपि ( ११।७ )—'अथ चेद्वृत म्रुतु सामन्ता  
सीमनिर्णये । सर्वे पृथक्पृथक्दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥' इति सामन्तानां  
मध्यमसाहस दण्डमभिधाय—'दोषाश्चेद्वृत म्रुतुर्नियुक्ता भूमिकर्मणि । प्रत्येक तु  
जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम् ॥' इति, तत्सप्तसप्तदश प्रथम साहसमुक्तवान् ।  
मौलादीनामपि तमेव दण्डमाह—'मौलवृद्धाद्यप्यस्वयं दण्डात्पृथक् पृथक् ।  
विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानुने स्थिताः ॥' ( ना० ११।८ ) इति । 'भादि'-  
शब्देन गोपशाकुनिवृद्ध्याद्यवन्नगोचराणां ग्रहणम् । यद्यपि शाकुनिवृद्धिना  
पापरत्वाद्दण्डप्रदर्शनं एवोपयोगो न याज्ञात्मीयानिर्णये तथाऽपि लिङ्गदर्शनं एव  
मृषाभाविशसंभवाद्दण्डविधानमुपपद्यत एव । 'अनुते तु पृथक् दण्डया' इत्येत-  
दण्डविधानमज्ञानविषयम्; 'बहुजां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णय यदि । ह्युर्ध्वं  
याद्वा लोभाद्वा दण्डवार्युत्तमसाहसम् ॥' इति ज्ञानविषये साक्षयादीनां कारणा-  
यमेव दण्डान्तरविधानात् । तथा साक्षियचनभेदेऽप्ययमेव दण्डरतेनैवोक्त—  
'कीर्तित यदि भेद स्याद्दण्डवार्युत्तमसाहसम्' इति । एवमज्ञानादिनानृतवदने  
साक्ष्यादीन्दण्डयित्वा पुन सीमानिचार प्रवर्तयितव्यः । 'अज्ञानोक्ती दण्डयित्वा  
पुन सीमा विचारयैत्' इत्युक्त्वा 'अन्त्यां कुशास्तु सामन्तानन्त्यामौलादिभि  
सह । समिष्य कारयेत्सीमानेव धर्मविदो विदुः ॥' इति निर्णयप्रकारश्चेन्नैवोक्तः ॥-

यदा पुन सामन्तप्रभृतयो ज्ञातारद्विहानि च न मन्ति, तदा कथ निर्णय  
इत्यत आह—

अभावे ज्ञातृच्छिहानां राजा सीम्नः प्रवर्तिता ॥ १५३ ॥

ज्ञातृणां सामन्तादीनां लिङ्गादीनां च वृत्तादीनामभावे राजैव सीम्न-  
प्रवर्तिता प्रवर्तयिता । अन्तर्भावोऽत्र पठ्यते । ग्रामद्वयमध्यवर्तिनां विवादा-  
स्पदीभूता भुव सम प्रविभस्य 'अस्यैव भूरस्ययम्' इत्युभयो समर्थं तन्मध्ये  
सीमालिङ्गानि कुर्यात् । यदा तस्यां भूमावन्यतरस्योपनारातिशयो दृश्यते, तदा  
तस्यैव ग्रामस्य सकला भू समर्पणीया । यथाऽऽह मनु (८ २६५)—'सीमा  
यामविप्लवायां स्वयं राजैव धर्मवित् । प्रदिशद्भूमिमेतेषामुपकारादिनि  
स्थितिः ॥' इति ॥ १५३ ॥



भाषा—इन ( सामन्त आदि ) के हूट बोलने पर राजा को इन्हें मध्यमयाहम का दण्ड देना चाहिए । जानने वाले सामन्त आदि और वृत्त आदि चिह्न न हों तो राजा ही सीमा निश्चित करे ॥ ३२३ ॥

असत्यामप्यतद्भावाद्यद्भावात्सत्याः स्मृतेर्न्यायमूलता दर्शयितुमतिदेशमाह—

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु ।

एव एव विधिर्ज्ञयो र्घर्षाम्बुप्रचंदादिषु ॥ १५४ ॥

आराम पुष्पकरोपचयहेतुर्भूभाग, भायतन निवेशन 'पलायकृताद्यर्थं विभक्तो भूप्रदेश, ग्राम प्रसिद्ध, ग्राम' ग्रहण च नगराद्युपलक्षणार्थम्, निपान पानीयस्थान चाप कृषमसृष्टिश्च, उद्यान क्रीडार्था भूमि, वेश्म गृहम्, एतेष्वारामादि षयमेव सामन्तमाचरादिलक्षणं विजिज्ञातव्य । तथा प्रत्यंगो-  
द्वनजलप्रवाहेषु जनघोशुद्वयोर्मध्यम जलौघ प्रवहति भयघोर्षेयैवप्रकारे विवादे 'आदि' ग्रहण श्वासादादिविधि प्राचीन एव विधिर्वेदितव्य । तथा च कारणा यत्—'चेत्रकृष्यत्तानां कदाशामगोरपि । गृहप्रामादावसयन्तुपदेवगृहेषु च ॥' इति ॥ १५४ ॥

भाषा—यही विधि घाटिका, भायतन ( बैठक ), गाँव, बापी, दूर आदि जलस्थल, उद्यान और घर की सीमा का निर्धारण करने में भी होती है । र्घर्षा का जल जिन मार्ग से बहता हो उसके तत्र-थ में भी यह विधि समझनी चाहिए ॥ १५४ ॥

सीमानिर्णयमुच्यते तत्प्रसङ्गेन र्घर्षादाप्रभेदेनादौ दण्डमाह—

र्घर्षादाया प्रभेदे च<sup>१</sup> सीमातिक्रमणे तथा ।

क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममप्यमा ॥ १५५ ॥

अनेकक्षेत्रमवच्छेदिका साधारणा भूमिर्घर्षादा, तस्या प्रकृष्टेण भेदेन सीमातिक्रमणे सीमाभ्रान्तिलद्वय कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिपदार्थेन हरणे यथा-  
क्रमेण अधमोत्तममप्यमसाहवा दण्डा यद्विनस्या । 'क्षेत्र' ग्रहणं चात्र गृहा-  
रामाद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुन स्त्रीवध्या-त्या क्षेत्रादिकमपहरति, तदा द्विसती दमा यद्विनश्य । यथाऽऽह भजु ( ८।२६४ )—'गृह तद्यापमाराम चत्र या भीषया हरन् । शकानि पश्य दण्डय रथादज्ञान द् द्विगमो दम ॥' इति ।

१ प्रवहेषु च । २ पलायकृताद्यर्थः । ३. मु । ४ एतस्य हरणे तथा । ५ सामातिक्रमणे दण्डया । ६ साधारणी । ७ सीमा नमन्तिलद्वय ।

अपह्नियमाणचेवादिभूयस्त्रयपर्यालोचनया । कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः ।  
अत एवाह—'वधः सर्वस्वहरणं पुराचिरांतनाशने । तद्वद्वेद इत्युक्तो दण्ड  
उत्तमवाहसः ॥' इति ॥ १५५ ॥

भाषा—मर्षादा ( खेतों के बीच में यनी हुई में ) को तोड़ने और  
स्त्रीजा को पार करने ( अधिक जोतने ) और घमकी देकर खेत छीन लेने पर  
क्रमशः अथम, उत्तम और मध्यमसाहस का दण्ड समझना चाहिए ॥ १५५ ॥

यः पुनः परचेत्रे संतुकूपादिकं प्रार्थनार्थार्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमि-  
च्छति तन्निषेधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्याह—

न निषेधोऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ।

परभूमिं क्षेत्रं कूपः स्वस्वक्षेत्रो बहुदकः ॥ १५६ ॥

परकीयां भूमिसपहरणात्तपन्नपि सेतुर्जलप्रदाहवधः क्षेत्रस्वामिना न  
प्रतिषेधः स वेदीषःपीडाकरो बहुपकारकश्च भवति । कूपश्चाक्षेत्रेणैवापिषेना-  
क्षेत्राधी बहुदकत्वेन कल्याणकारकश्चेन्नो यद्बहुदको नैव निवारणीयः । 'कूप'  
ग्रहणं च पापीपुष्करिण्याद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनरस्मी सर्वक्षेत्रवर्तितया बहु-  
बाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्तितया वाऽऽक्षेपकारकस्तदास्मी निषेध इत्यभादुक्तं  
भवति । तैत्तिरीय द्विविधमुक्तं नारदं ( १५।१८ )—'सेतुश्च द्विविधो क्षेत्रः  
स्वयो वन्धवस्तथैव च । तोयप्रवर्तनात्येवो बन्धवः स्वात्तन्निवर्तनात् ॥' इति  
यदा स्वयनिर्मितं सेतुं भेदनादिना तष्टं स्वयं संस्करति तदा पूर्वस्वामिनं  
तद्वरपं घृषं वा घृष्टवैव संस्कर्षात् । यथाऽऽह नारदः ( १।१२० ११ )—'पूर्व-  
प्रवृत्तपुरसन्नमघृष्ट्या स्वामिनस्तु यः । सेतु प्रवर्तयैत्कश्चिन्न स तत्कलभारभवेत् ॥  
मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वरये वाऽपि मानवे । राजानगामन्य तसां कुर्यात्सेतु-  
प्रवर्तनम् ॥' इति ॥ १५६ ॥

भाषा—धोरी भूमि क लगने से बहुत कल्याण देने वाला सेतु दूसरे  
के भूमि में यताने पर भी भूमि का स्वामी मना न करे । दूसरे की  
भूमि लेकर कुर्खों घनवाने पर भूमि की हानि कम होती है और उससे जल  
का लाभ अधिक होता है ॥ १५६ ॥

क्षेत्रस्वामिनं प्रयुषदिष्टम् , इदानीं सेतोः प्रवर्तयितारं प्रत्याह—

स्वामिने 'योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयेत् ।

वत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तद्भावे महीपतेः ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिनमनम्युपगम्य तदभावे राजान वा य परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्त-  
यत्यमौ फलभाद् न भवति, अपि तु तदुत्प ने फले क्षेत्रस्वामिनो भोगस्तद्  
भावे राज्ञ् । तस्मात्प्रार्थयथा अर्थदानेन वा क्षेत्रस्वामिन तदभावे राजान  
चाऽनुज्ञाप्यैव परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्तनीय इति तात्पर्यार्थं ॥ १५७ ॥

भाषा—जो खेत के स्वामी ने बिना पूछे ही खेत में सेतु बनाता है,  
उसमें फल होने पर खेत का स्वामी ही उपरका अधिकारी होता है । उसके न  
होने पर वह लाभ राजा को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिना सेतुर्न प्रनिषेध इत्युच्यम्, इदानीं तस्यैव प्रसक्तानुमत्तस्या  
अधिहित-तस्माद्—

फालाहतमपि क्षेत्रं न कुर्याद्यो न कारयेत् ।

स<sup>३</sup> प्रदाप्या फलफलं क्षेत्रमग्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

य पुन क्षेत्रस्वामिपार्षे 'अहमिद क्षेत्रं कृषामि' इत्यङ्गीकृत्य पञ्चाहुतात्  
गति, न चान्येन कर्षयति, तच्च क्षेत्रं यद्यपि फालाहत इंपदलेन विदारित  
न मत्परवीजावापार्हं तथाऽपि तस्वाहृष्टस्य फलं यावत्तत्रोत्पद्येहं साम तादि  
कल्पित भावदमी कर्षको दापनीय । तच्च क्षेत्रं पूर्वकर्षकादाङ्घ्रिद्यान्येन  
कारयेत् ॥ १५८ ॥

भाषा—जा खेत के स्वामी से खेत लेकर थोड़ा जोतकर फिर न  
अपने जोतता है और न किसी दूसरे को जोतने देता है उससे उस खेत में  
जिनका पैरा होता है उतना भन्न दिखावे और खेत दूसरे को जोतने के  
लिए देवे ॥ १५८ ॥

इति सीमाविवादप्रकरणम् ।

अथ स्वामिपालविवादप्रकरणम् १०

अथहारापदाना परस्परहेतुहेतुसद्भावाभावात् 'तेषामाद्यमृगादानम्' इत्यादि  
पाठक्रमो न विवक्षित इति व्युत्क्रमेण स्वामिपालविवादोऽभिधीयते—

मापानथौ तु महिषी सस्यघातस्य परिणी ।

दण्डनीया तर्द्धं तु गौरस्तर्द्धमजायिवम् ॥ १५९ ॥

१ अनुपगमयत् । २ यो न कुर्या-न । ३ न प्रदाप्या  
कृष्टमद् (= षड् क्षेत्रस्य फल, अहृष्टस्य क्षेत्रस्य षड् । अहृष्टेऽपि क्षेत्रे  
त प्रदाप्य क्षेत्रम यस्यापदत् ) । ४ हेतुसद्भावात् ।

परसस्यविनाशकारिणी महिषी भष्टी मापान्दण्डनीया । नीस्तदर्धं चतुरो मापान् । अजा मेपाद्य मापद्वय दण्डनीया । महिष्यादीनां धनसयन्ध भायात्तस्वामी पुरुषो लप्यते । मापश्चात्र ताञ्जिकपणस्य विंशतितमो भाग । 'मापो विंशतितमो भाग पणस्य परिकीर्तित' इति नासदहमरणात् । एतच्चाज्ञानविषयम्, ज्ञानपूर्वं तु 'पणस्य पादौ द्वौ गौ तु द्विगुण महिषी तथा । तथाऽज्ञादिकवत्साना पादो दण्ड प्रकतिर्त ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्त द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्भरिदेनोक्तम् ( ११।३१ )—'माप मा दापवेदण्ड द्वौ मापौ महिषी तथा । तथाऽज्ञादिकवत्सानां दण्ड स्यादर्धमापिक ॥' इति तत्पुन प्ररोहयोःपमूला यदोपभक्षणविषयम् ॥ १५७ ॥

भाषा—यदि किसी की जैस दूसरे की फसल नष्ट करे तो उससे शाठ माप दण्ड लेना चाहिए, गाय करे तो उसका आधे चार माप दण्ड ले और बकरा तथा भैंस करे तो उसके भी आधा ( दो माप ) दण्ड पट्ट करे ॥ १५७ ॥

अपराधातिशयेन कनिदण्डद्वैगुण्यमाह—

भक्षयिश्चोपविष्टानां यथोक्ताद् द्विगुणो दम ।

यदि पशव वाचेरे सस्य अक्षयित्वा तत्रैवानिवारिता क्षेरते तदा यथोक्तादण्डाद् द्विगुणो दण्डो घदितव्य । सवत्साना पुनर्भक्षयिषोपविष्टानां यथोक्तदण्डाच्चतुर्गुणो दण्डो घदितव्य । 'वसता द्विगुण प्रोक्त सवत्सानां चतुर्गुण' इति घचनात् ॥

क्षेत्रा-तरे वन-तरे वातिदेशमाह—

सममेवा विधीतेऽपि क्षरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥

विधीत प्रश्चुरशुगकाष्ठो रक्ष्यमाण परिशृहीतो भूपदेश तदुपघातेऽशीत रक्षेत्रदण्डेन सम दण्डमेवा महिष्यादीनां विद्यात् । एतद्व्य उभूध्व क्षरोष्ट्र त-महिषीसमम् । महिषी यत्र दाहनेन दण्डेन दण्ड्यते तत्र साहशेनैव दण्डेन क्षरोष्ट्रमपि प्रत्येक दण्डनीयम् । सस्योपरोधकत्वेन एगोष्ट्रयो प्रत्येक महिषीनु श्यायादण्डस्य चापराधानुसारिवाक्षरोष्ट्रमिति ममाहारो न विवक्षित ॥ १६० ॥

भाषा—यदि पशु किसी दूसरे की फसल चरकर चटो बैग भा हो तो, भी यथाय मय दण्ड का दूना दण्ड होना है । त्रिवीत ( पाड़े ) में भस आदि प्रवेश करे तो पहले क समान ही दण्ड ले । इस लक्ष-ध में गद्दा और ऊँ के लिये भी जैसे के समान दण्ड दाना है ॥ १६० ॥

परसस्यविनाशो गोस्वामिनो दण्ड उच, इदानीं क्षेत्रस्वामिने फलमप्यसौ दापनीय इत्याह—

यांघत्सम्यं विनश्येत्तु ताघत्स्यात्क्षेत्रिण फलम् ।

गोपस्नाह्यश्च गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥ १६१ ॥

‘सस्य’ग्रहण क्षेत्रोपचयोल्लङ्घनार्थम् । यस्मिन्क्षेत्रे स्वावपलालधाम्यादिक गवादिभिर्विनाशित नावत्क्षेत्रफल ‘एतावति क्षेत्रे एतावद्भवति’ इति साम-तै परिकल्पित तत्क्षेत्रस्वामिने गोमी दापनीय । गोपस्तु ताडनीय एव, न फल दापनीय । गोपस्य च ताडन पूर्वोक्तघनदण्डसहितमेव फलदोषेण सस्यनाशो द्रष्टव्यम् । ‘वा नष्टा पालदोषेण गौरसु सस्थानि नाशयत् । न तत्र गोमिनां दण्ड पालस्त दण्डमर्हति ॥’ इति वचनात् ॥ गोमी पुन स्वापराधेन सस्यनाशे पूर्वोक्त दण्डमेवाहति, न ताडनम् । फलदानेन पुन सर्वत्र गोस्वामिन एव, तत्फलपुष्टमहिष्यादिद्वारेणोपभोगद्वारेण तत्क्षेत्रफलभागित्वान् । गवादि भक्षितावशिष्ट पञ्जालादिक गोमिनैव ग्रहीतव्यम् । मध्यस्थकविर्पुत्रमूल्यदानन क्रीतमायनात् । अत एव नारद — गोमिस्तु भक्षित सस्य यो नर मनियाचते । सामभ्नातुमत देय धाम्य वनात्र वापिनम् ॥ पञ्जाल ‘गोमिने देय धाम्य वै कर्षकस्य तु ॥’ इति ॥ १६१ ॥

भाषा—गौर के निष्कट क मार्ग में, और पशुओं के चढ़े के निष्कट क जितनी फसल खरे या नष्ट किये हो उतने का फल खेत के स्वामी को मिले ; चरगाहे को पीटना चाहिए और गाव के स्वामी से उपरोक्त दण्ड ही लेना चाहिए ॥ १६१ ॥

क्षेत्रविशेषे भवत्याह—

पथि ग्रामविधीतास्ते क्षेत्रे द्योपो न विद्यते ।

अकामत. कामचारे औरवदण्डमर्हति ॥ १६२ ॥

पथि मार्गसमीपवर्तिनि क्षेत्रे ग्रामविवीतसमीपवर्तिनि च क्षेत्रे अकामतो गोभिर्भक्षिते गोपगोमिनोर्द्वयोरप्यदोष । देयाभावप्रतिपादन च दण्डाभावार्थं विनष्टसस्यमूल्यदानप्रतिषेधार्थं च । कामचारे कामतश्चारेण औरवत् औरस्य यास्तौ दण्डस्तादृश दण्डमर्हति । एतच्चात्रानुवृत्तक्षेत्रविषयम्, ‘तत्रापारितृत धाम्य विहिंस्यु यशवे यदि । न तत्र प्रणयेदण्ड नृगति पशुाचिनाम् ॥

१. विनश्येत् ताघत्क्षेत्री फल लभेत् ।
२. पालस्ताह्येत गोमी तु पूर्वव-  
दण्ड । पालस्ताह्योऽथ गोमी तु पूर्वोक्त ।
३. गोमिन एव ।
४. मूल्यद्वारेण ।
५. गोमिनो देय ।

८।२३८) — इति दण्डाभावस्थानात्तुतचेत्रविषयत्वेन मनुनोक्तत्वात् । धातुने पुनर्मानादिस्त्रेऽपि दोषोऽस्त्येव । वृत्तिकरणं च तेनैवोक्तम् । 'वृत्तिं च तत्र कुर्वीत यामुप्यो नाच्लोकयेत् । द्विद्र निवारयेत्सर्वं शमूकरमुपायुगम् ( मनुः ८।२३९ ) इति ॥ १६२ ॥

भाषा—गाँव के निचट के मार्ग में और पशुओं के चारे से सटे हुए चेतन ॥ मूल से पशुओं के पद जाने पर कोई दोष नहीं होता । जानपूत कर पशुओं को छोड़ने वाला चोर के समान दण्डनीय होता है ॥ १६२ ॥

पशुविशेषेऽपि दण्डाभावमाह—

महोक्षोरसृष्टपशवः सूतिकागन्तुकाद्यः ।

पाशो येषां न ते मोक्ष्या दैवराजपरिप्लुता ॥ १६३ ॥

महाश्यासातुका च महोक्षो वृष सेका । उच्छृष्टपशवः वृषोत्सर्गादिनिषानेन देवतोद्देशेन वा व्यक्ता । सूतिका प्रसूता अनिर्दशाहा, भाषण्तुका इत्युभयोपरिभ्रष्टो वैशान्तराज्ञागतः । एते मोक्ष्या परमस्यमक्षणेऽपि न दण्ड्या । येषां च पाशो न विद्यते तेऽपि दैवराजपरिप्लुता दैवराजोपहना सस्यविनाशकारिणो न दण्ड्या । आदिज्ञानमहणात्सस्यवधादप्यो गृह्यन्ते । ते चोक्तान् स्तोत्रा — 'अदण्ड्या हरितचो ह्यथा प्रजापाला हि ते स्मृता । 'अदण्ड्यौ काणकुञ्जी च ये जश्वाकृतलज्जना ॥ अदण्ड्यागन्तुकी गौश्च सूतिका चाऽभिचारिणी । अदण्ड्याश्रोत्रमवे गात्र आशुक्ताके तथैव च ॥' इति । अत्रोच्छृष्टपशुनाम स्वामिकत्वेन दण्ड्यावासभवात् इष्टान्तार्थमुपादानम् । यगोच्छृष्टपशवो न दण्ड्या एव महोक्तादप्य इति ॥ १६३ ॥

भाषा—साँड, यज्ञ विधि से छोड़े पड़े पशु, दस दिन से कम की ब्याई हुई गाय, अपने गिरोह से भटक कर भागे हुए पशु को छोड़ देना चाहिए ( दण्ड नहीं देना चाहिए ) । जिसने पालने वाला न हो और जो राजा या देव से पीड़ित हो ऐसे पशु को ( खेत चरने पर भी ) छोड़ देना चाहिए ॥ १६३ ॥

गोस्वामिन उक्तम् , इदानीं गोप प्रत्युपदिश्यते—

यथापिताम्वशून्गोप सार्यं प्रत्यर्पयेत्तथा ।

प्रमादन्तनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतचेतनः ॥ १६४ ॥

१ सूतिकागन्तुकी च गौ । २ च । ३. राजदैवपरि । ४ अदण्ड्या वागकृताश्च घृताश्च कृतलज्जना ।

गोरस्वामिना प्रातः काले यथा गणयित्वा समर्पिता पशवस्तथैव सायंकाले गोपो गोरस्वामिने पशून् विगणय्य प्रत्यर्पयेत् । प्रभादेन स्वापराधेन मृताक्ष-  
 षाश्च पशून् कृतवेतन कल्पितवेतनो गोप स्वामिने दाप्य । वेतनकल्पना च  
 नारदेनोक्ता ( ६।१० )—‘यथा शताक्षरसतरो धेनु स्याद् द्विशताभृति ।  
 प्रतिसवस्वर गोपे सशोहश्याष्टमेऽहनि ॥’ इति । प्रभादनाशब्ध मनुना स्पष्टी-  
 कृत ( ८।२३२ )—‘नष्ट जग्ध च कृमिभिः श्वहत त्रिपमे मृतम् । हीन पुण्य  
 कारणेन प्रदद्यात्पाप एव तु ॥’ इति ॥ प्रसह्य चौरैरपहत<sup>२</sup> न दाप्य । यथाऽऽह  
 मनु<sup>३</sup> ( ८।२६३ )—‘विक्रय<sup>३</sup> तु हत चौरैर्न पालो द्यात्तुमर्हति । यदि देतो च  
 काले च स्वामिन इत्यस्य संसति ॥’ इति । ‘दैवमृतानां पुन कर्णादि प्रदर्श-  
 नीयम् । ‘कर्णौ चर्म च वालाश्च वर्तिन स्नायु च रोचनाम् । पैशुपु स्वामिना  
 दद्यान्मृतेष्वङ्गानि<sup>४</sup> दर्शयन् ॥’ ( ८।२३४ ) इति मनुस्मरणात् ॥ १६४ ॥

भाष्य—प्रातः काल जैसा पशु स्वामी ने गोप ( चरवाहे ) को सोंपा हो  
 वैसा ही ( उतने ही ) पशु सम्भवा को वह ( गोप ) स्वामी को लीटाये । यदि  
 पशु उसरी असाउधानी से मर गया हो या खो गया हो तो स्वामी उसका  
 धेनन ठहवा कर उसमें से उस पशु का मूष्य ले लेवे ॥ १६४ ॥

पालदोषविनाशे तु पालो दण्डो विधीयते ।  
 अर्धत्रयोदशपण. स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥

किंच, ‘पालदोषेणैव पशुविनाशे अर्धाधिकत्रयोदशपण दण्ड पालो दाप्य ।  
 स्वामिनश्च द्रव्य विनष्टपशुमूष्य सध्वरथकल्पितम् । दण्डपरिमाणार्थं रत्नोऽ,  
 अन्यपूर्वोक्तमेव ॥ १६५ ॥

भाष्य—चरवाहे के दोष से पशु का नाश होने पर चरवाहे से साढ़े  
 तेरह पण दण्ड स्वामी को दिलावाये ॥ १६५ ॥

गोप्रसङ्गात् गोप्रचारमाह—

प्राग्भ्येच्छया गोप्रचारो भूमिराज्यशेन वा ।  
 द्विजस्तृणैश्च पुष्पाणि सर्वत सर्वदा हरेत् ॥ १६६ ॥

प्राग्भ्येच्छया प्राग्भ्यजनेच्छया भूम्यक्षरवमहत्त्वापेक्षया राज्ञेच्छया वा गोप्र-  
 चार कर्तव्य । गजादीनां प्रचारणार्थं कियानपि भूभागोऽकृष्ट परिरक्षणीय

१ द्विशताभृति । २ अपहतान् । ३ विघ्नप्य स्थिति । ४ दैव-  
 राजमृतानां । ५ पशुस्वामिपु दद्यात्तु मृतेष्वङ्गानि । पशुस्वामिपु दद्यात्तु  
 मृतेष्वङ्गानि । ६ अङ्गादि दर्शयेत् । ७ स्वामिने । ८ दोषेण पशु ।  
 ९ प्राग्भ्येच्छया । १० सर्वत समुपाहरेत् । ११ चरणार्थं ।

इत्यर्थः । द्विजस्तृणेष्वनाद्यभाये गशान्निदेवतायं नृणकाष्ठकुसुमानि सर्वतः स्वय-  
दनिवारिण आहरेत् । फलानि त्वपट्टनादेव । 'गोऽग्न्यर्थं तृणमेधासि वीरून्-  
स्वतीनां च पुष्पाणि स्वयद्रादृशित फलानि चापरिवृत्तानाम्' ( गौ. १२।२८ )  
इति गौतमस्मृत्यात् । एतच्च परिवृत्तविषयम् । अपरिवृत्तते तु द्विजस्यति-  
रिक्तस्यापि परिग्रहादेव स्वयमिन्देः । यथा तेनैवोक्तम्—'स्वामी रिक्तप्रय-  
संविभागपरिग्रहाधिगमेषु' ( गौ. १२।३९ ) इति । यत्पुनरुक्तम्—'नृणं वा  
यदि वा याष्टं पुष्पं वा यदि वा फलम् । अनापृच्छन्निह गृह्णानो हस्तच्छेदन-  
मर्हति ॥' इति, तद्द्विजस्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा गवादिष्यतिरिक्तविषयं  
येति ॥ १६६ ॥

भाषा—गाँव के लोगों की कृपणा से अथवा राजा की आज्ञा से गीलों  
के चरागाह के लिये भूमि चनाभी चाहिए । द्विज जलाने के लिये ईंधन और  
पुष्प सभी स्थानों में सदा से रोक टोक ले सकता है ॥ १६६ ॥

इदमपर गवादीनां स्थानासन्नसौकर्यार्थमुच्यते—

धनुःशतं परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत् ।

द्वे शते ऽर्षटस्य स्थापनगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥

ग्रामक्षेत्रपौरान्तरं धनुःशतपरिमितं परीणाहोः सर्वतोदिशंमनुससस्यं वा-  
च्यम् । ऽर्षटस्य प्रभुरण्टइत्यन्तानस्य ग्रामस्य द्वे शते परीणाहः । नगरस्य  
यद्भुजतत्तंशीर्णस्य धनुषां चतुःशतपरिमितमन्तरं वाच्यम् ॥ १६७ ॥

भाषा—गाँव के चारों ओर सौ धनु स्थान छोड़े, ऽर्षट ( कस्ये ) के  
चारों ओर दो सौ धनुष और नगर के चारों ओर चार सौ धनुष स्थान  
छोड़ देना चाहिए ॥ १६७ ॥

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम् ।

### अथास्यामिविक्रयप्रकरणम् ११

संप्रत्यस्मान्निविक्रयार्थं व्यवहारपदमुपजमते । तस्य च लक्षणं नारदो-  
क्तम् ( ७।१ )—'निवृत्तं वा परद्रव्यं यत् लब्ध्वापहृत्य वा । विधीयतेऽयमर्षं  
यास्य श्रेयोऽस्यामिविप्रयः ॥' इति, तत्किमित्याह—

स्यं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते ।

हीनाद्रहो हीनमूल्ये विलाहीने च तस्करः ॥ १६८ ॥

१. स्वपरिवृत्तादेव । २ परीणाहः ( = परिवृत्तं कृष्यादिकं ) । ३. ग्राम-  
क्षेत्रान्तरं । ४. ऽर्षटस्य ( = ग्रामनगरोदयधर्मोक्तस्य ) । ५. परि-  
णाहः । ६. विचचनुससस्यं ।



स्वमात्मसंबन्धि द्रव्य अन्यविक्रीतमस्वामिविक्रीत यदि पश्यति, तदा लभेत गृहीयान्, अस्वामिविक्रयस्य स्वस्वहेतुत्वात्वात् । 'विक्रीत' ग्रहण दत्ता हितयोरपलक्षणार्थम्, अस्वामिविक्रीतत्वेन तुल्यत्वात् । अत एवोक्तम्— 'अस्वामिविक्रय दानमार्धि च विनिवर्तयेत्' इति । केतु पुनरप्रकाशने गोपिते ऋये दोषो भवति । तथा हानात्तत्तद्द्रव्याद्यमोपायहीनाद्रहसि चैकान्ते सभाष्य-द्रव्यादपि हीनमूल्येनाद्यतरेण च मूल्येन ऋये घेलाहीने बेलया हीनो घेला हीन', ऋयो राश्यादौ कृतस्तत्र च केता तस्करो भवति । तस्करवद्वृण्डभा रभवतीत्यर्थः । यथोक्तम् (ना० ७।१।३-५)—'द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी तदाप्नुवात् । प्रकाश कथन शुद्धि केतु स्तेय रह क्रयात् ॥' इति ॥ १६८ ॥

भाषा—अपनी वस्तु किसी दूसरे के पास बेची हुई देखे तो उसे ले लेवे । चोरी छिपे ऋय करने में केता को दोष होता है । हीन ( जिसके पास वह वस्तु सामान्यतः नहीं होनी चाहिए ) व्यक्ति से एकान्त ॥ स्वमूल्य पर और अयुक्त समय पर ( शत्रु में ) खरीदे तो केता चोर होता है ॥ १६८ ॥

स्वाभ्यमित्युक्ते केता किं कर्तव्यमित्यत आह—

नष्टापहतमासाद्य हतारं प्राहयेन्नरम् ।

देशकालातिपत्तौ च गृहीत्वा स्वयमर्पयेत् ॥ १६९ ॥

नष्टमपहत वाऽऽन्यहीय क्रवादिना प्राप्य हतारं विक्रेतारं नरं प्रहयेत् चोरोद्धरणकादिभिः नारमविशुद्धयर्थं राजदण्डप्राप्त्यर्थं च । अथाविविधदेशान्तरगत कालान्तरे वा विपन्नरतदा मूलसमाहरणाशक्तेर्विक्रेतारमदर्शयित्वा स्वयमेव तद्वन नाष्टिकस्य समर्पयेत् । तावत्तैवासौ शुद्धो भवतीति श्रीकराचार्येण वदाश्यात्,—तद्विदमनुपपन्नम्, विक्रेतुर्दर्शनान्पुत्रि' ( अथ० १७० ) इत्यनेन पौनस्वल्पप्रसङ्गात् । अतोऽन्यथा व्याख्यायते नष्टापहतमिति । नाष्टिक प्रत्यय-मुपदेश । नष्टमपहत वाऽऽस्मीयद्रव्यमासाद्य केतुदस्तस्थ ज्ञात्वा ॥ हतारं केतारं स्थानपालादिभिर्प्राहयेत् । देशकालातिपत्तौ देशकालातिक्रमे स्थानपालाद्यसन्निधाने तद्विज्ञापनकालात्पाक् पलायनाशङ्कया स्वयमेव गृहीत्वा लेभ्य-समर्पयेत् ॥ १६९ ॥

भाषा—अपनी खोई हुई वा चोरी गई हुई वस्तु देखे तो उसके विक्रेता को पकड़वाये, यदि उसके कहीं भाग जाने या देर होने की आशङ्का हो तो स्वयं पकड़ कर स्थानपाल के पास ले जावे ॥ १६९ ॥

१ अस्वामिविक्रीतः ।

२ ऋये ।

३ वा ।

४ विक्रेतार

प्राहयेत् ।

५ तद्विज्ञापकात्पाक् ।

प्राहिते हर्तारि किं कर्तव्यमित्यत आह—

विक्रेतुर्दशानाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम् ।

क्रेना मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयो ॥ १७० ॥

यद्यसौ गृहीतः क्रेना 'न मयेदमपहनम्, अन्यसत्ताशास्वीनम्' इति वक्ति, तदा तस्य क्रेनुविशेषतुर्दर्शनमात्रेण शुद्धिर्भवति । न पुनरसावभियोऽयः, नितु तस्यदर्शितेन विवेका सह नाष्टिकस्य विवादः, यथाऽऽह दृहरगनिः—'मूले समाहृते श्रेता नाभियोऽयः कथंचन । मूलेन सह यादस्तु नाष्टिकस्य विधीयते ॥' इति ॥ तस्मिन् विषादे यद्यस्वामिविक्रयनिश्चयो भवति, तदा तस्य गृहपाद-तस्य गृहादिद्रव्यस्य यो विक्रयी विक्रेता तस्य सकाशात्स्वामी नाष्टिकः स्वीयं द्रव्यमवाप्नोति; नृपश्चापराधानुरूपं दण्डं; क्रेना च मूल्यमवाप्नोति । अथामी देशान्तरगतस्तदा योजनसंख्यया भानवभार्य कालो देयः; 'शक्ता वा कथं कुर्यान्मूलं वापि समर्पयेत् । मूलानवयनकालश्च देयस्तथाऽस्मिन्वयया ॥' इति स्मरणात् ॥ अथाविज्ञातदेशतया मूलमाहर्तुं न शक्नोति, तदा कथं शोधयिष्येव शुद्धो भवति; 'असमाहार्यमूलस्तु मयमेव विशोधयेत्' इति वचनात् ॥ यदा पुनः साध्यादिभिर्द्विष्येन वा कथं न शोधयति मूलं च न प्रदर्शयति, तदा स एव दण्डभाग्भवति ॥ इति; 'अनुपस्थापयन्मूलं कथं वाऽप्यविशोधयत् । यथाऽभियोगं धनिने धनं दाप्यो दमं च सः' ॥ इति मत्तुरस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—यदि ऐसी वस्तु को बेचने वाला अपने पूर्य के विवेका को नष्ट कर दे तो दण्ड जाना है । राजा इन विक्रेता से स्वामी को वस्तु दिखाये क्रेता अपना मूल्य उत व्यक्ति से प्राप्त कर लेता है जिनने उसे पहले बेचा हो ॥ १७० ॥

'स्वं लभेताप्यविक्रीतम्' ( स्व० १९८ ) इत्युक्तं, तद्विद्वत्सुना किं कर्ताप-मिरयत् आह—

आगमेनोपभोगेन मर्ष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ।

पञ्चमन्धो दमस्त्वेस्य राज्ञे तेनाधिप्राविते ॥ २७२ ॥

आगमेन रिषयत्तपादिना उभयं येन च 'न नृपमिधं द्रव्यं तस्यैवं गृहमप-हनं वा दपयि' भाष्यं साधनार्थं तस्वामिना । अतोऽन्यथा तेन स्वामिना अदिप्राविते पञ्चमन्धो नष्टद्रव्यस्य पञ्चमन्धो दमो नाष्टिकेन राज्ञे देवः । अप्र-चार्यं मम—पूर्वस्वामी नष्टमाधीय साधयेत्, ततः क्रेता चायं परिहारार्थं गृहपलाभाय च विक्रेतारमानयेत्, अथानेतुं न शक्नोति तदाभ्यं परिहारार्थं कथं साधयिष्यादस्य नाष्टिकस्य समर्पयेदिति ॥ १७१ ॥

१. स्तत्र ।

२. स्तत्र राजस्वतेनापि भाष्यते ।

३. येन भाष्यं ।

४. शोधयिष्या ।

भाषा—जागम ( लेप ) और उपभोग द्वारा खोई हुई वस्तु पर अपने स्वयं को प्रमाणित करे, अन्यथा प्रमाणित न कर सकने पर वस्तु क मूल्य का पञ्चमाश राजा दण्ड के रूप में उसमें वसूल करे ॥ १७१ ॥

तस्करस्य प्रच्छादक प्राणाह—

हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परदस्तादवाप्नुयात् ।

अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु पण्यवर्ति पणान् ॥ १७२ ॥

हम प्रनष्ट या खोरादिद्रव्यस्य द्रव्य 'अनेन मया द्रव्यमपहृतम्' इति मृपस्यानिवेशेन वर्षादिना यो गृह्णाति अस्मै बहुसारासवति पणान्दण्डनीय, तस्करप्रच्छादकस्येन दुष्टवान् ॥ १७२ ॥

भाषा—जो अपनी खोरी गई हुई या खोई हुई वस्तु दूसरे व्यक्ति के हाथ से राजा से बिना प्रार्थना किये हा लेता है तो उसे दियानधे पणों का दण्ड देना होता है ॥ १७२ ॥

राजपूज्यानीत प्राणाह—

शौक्तिकैः स्थानपातैर्या नष्टापहृतमाहृतम् ।

अर्थाकसंघतसरारस्वामी हरेत परतो नृप ॥ १७३ ॥

यदा तु शुल्काधिकारिभिः स्थानरजिनिवर्तैः नष्टमपहृतं द्रव्यं राजपाथं प्रापयानात्, तदा स्वस्वराजार्थात् प्राप्तश्चेत् शौक्तिकसद्द्रव्यमवाप्नुयात्, ऊर्ध्वं पुन सनसराद्वाजा गृह्णीयात् । स्वपुरुषानीतं च द्रव्यं जनममूत्रेपुद्गोप्य वावस्तव स्मर राज्ञा रक्षणीयम्, यथाऽऽह गीतम् ( १०-३६:३० )—'प्रनष्टस्वामिन्मधिगम्य राज्ञे प्रमूयु । विदवाप्य सत्रभर राज्ञा रक्षयम्' इति । यत्पुनर्मनुनाऽव्यभक्तसुक्तम् ( ८:३० )—'प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा अवश्यं निधापयत् । अर्थाकं स्वराजद्वारास्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥ इति,—सच्छुतशुक्तसप्तमब्राह्मणविययम् । रत्ननिमित्तपद्मागादिग्रहणं च तेमैवोक्तम् ( मनु ८:३३ ) 'जादहीताथ पद्मागं प्रनष्टाधिगतामृष । दशमं द्वादशं वापि सता धर्ममनुमरान् ॥' इति ॥ तृतीयं द्वितीय-अध्यायसप्तमरेषु यथाक्रमं पष्ठदशो भागा वेदितव्या । प्रपञ्चितं चैतत्पुररतान् ॥ १७३ ॥

भाषा—शुल्क लेने वाले अधिकारी और स्थानपाल यदि किसी की खोई हुई या खोरी गई वस्तु लेकर राजा का दण्ड यदि उस का स्वामी उसे एक वर्ष के भीतर ही लेने आवे तब तो वह पात्र है अन्यथा ( एक वर्ष के बाद ) वह राजा का ही जाना है ॥ १७३ ॥

मनुक्तपद्भागादिप्रहणस्य द्रव्यविशेषेऽपवादमाह—

पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे ।

महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥ १७४ ॥

पञ्चशफे शखादी प्रनष्टाधिक्ये तस्वामी शस्त्रे रक्षणनिमित्तं चतुरः पणा-द-  
द्यात् । मानुषे मनुष्यजानाम्ये ऋष्ये पञ्च पणान्, महिषोष्ट्रगवां रक्षणनिमित्तं  
प्रत्येकं द्वौ द्वौ पणौ, अजाविके पुनः प्रत्येकं पादं पादम् । 'दद्यात्' इति सः त्रा-  
नुपयजते । अजाविकमिति समासनिर्देशेऽपि 'पादं पादम्' इति बौध्मायला-  
प्रत्येकं संवन्धोऽवगम्यते ॥ १७४ ॥

भाषा—एक खुरघाले घंठे आदि पशुओं के लो जाने के बाद पुनः  
मिलने पर चार, लोने दुपु मनुष्य के मिलने पर पाँच, भैस, ऊँट और गाय  
के मिलने पर दो-दो पण और बकरा तथा खेड़ के मिलने पर चौथाई पण  
रामा लो देंगे ॥ १७४ ॥

दत्तप्रदानिकप्रकरणम् ।

### अथ दत्तप्रदानिकप्रकरणम् १२

अधुना विहितविहितमार्गद्वयाश्रयतया दत्तानपवर्गं दत्तप्रदानिकमिति च  
सद्व्याभिधानद्वयं दानाश्रयं स्वयंकारपदमभिधीयते । तस्वरूपं च नारदेनोक्तम्  
(४११)—'दत्त्वा द्रव्यममपवर्गः पुनरादानुमिच्छति । दत्ताप्रदानिकं नाम स्वय-  
ह्वारपदं हि तत् ॥' इति । असम्यग्निहितमार्गाश्रयेण द्रव्यं दत्त्वा पुनरादानु-  
मिच्छति अस्मिन्निर्वाहपदे तद्दत्ताप्रदानिकम्—दत्तस्याप्रदानं पुनर्हरणं अस्मिन्दा-  
नाद्यं तद्दत्ताप्रदानिकं नाम स्वयह्वारपदम् । विहितमार्गाश्रयत्वेन तत्प्रतिपद्यभूतं  
सदेव स्वयह्वारपदं दत्तानपवर्गमेवार्थाहुक्तं भवति । दत्तस्यानपवर्गं अधुनराटानाश्रयं  
अत्र दानाश्रयं विवाहपदे तद्दत्तानपवर्गं । तत्र देयादेयादिभेदेन अतुविधम् ।  
यथाऽऽह नारदः ( ४१२ )—'अथ देवमदेयं च दत्तं वाऽदत्तमेव च । स्वयह्वारपु-  
विशेषो दानमार्गश्चतुर्विधः ॥' इति । तत्र देयमित्यनिषिद्धदाननिपायोऽवगम्यते ।  
अदेयमत्रतया निषिद्धगया वा दानानर्हम् । अपुनः प्रकृतिरथेन दत्तमदवावर्त-  
नीयं तद्दत्तमुच्यते । अदत्तं तु स्वप्रवाहार्णीयं तदुच्यते । तदेतत्संघेपतो  
निरूपयितुमाह—

स्यं बुद्ध्याधिरोधेन देयं

स्वमात्मन्य बुद्ध्याधिरोधेन बुद्ध्यानुपरोधेन, बुद्ध्यभरणानिष्टमिति  
यावत् । तद्व्यात् ; तद्भरणस्यापश्यकस्यात् । यथाऽऽह मनुः ( १११ ० )—

१. आदिपोष्ट्र । २. दत्तानपवर्गं । ३. स्वयह्वारपदे । ४. रादानं ।

'वृद्धौ च मानाविनरी म्वाभ्या भार्या सुतः शिशुः । अप्यकार्यंशतं कृत्वा मर्त्यया  
मसुरमवीत् ॥' इति । 'वृद्धुम्वाविनाघेन' इत्यनेनादेवमेकविधं दर्शयति । 'एव  
दद्यात्' इत्यनेन चास्वभूतानामश्राहितयाचिनकाधिसाधारणनिक्षेपार्ता पञ्चानाम-  
प्यदेयत्वं अनिरेवतो दर्शयति ॥ यत्पुनर्भारदेनाष्टविधत्वमदेयानामुक्तम् (४।३ ४)  
— 'अश्राहित याचिनःकाधि स्वाधारण च यत् । निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं  
चान्ये सति ॥ आपश्चपि हि कष्टास्तु वर्तमानेन देहिना । भदेयाभ्यामुराचार्या  
पद्याभ्यस्मै प्रतिभृतम् ॥' इति,— एतद्द्वयमश्राभिप्रायेण, न पुन एवमाभावा-  
भिप्रायेण, पुत्रदारसर्वस्वप्रतिष्ठोपु एतत्स्य मज्जावात् । अश्राहिनादीनां स्वल्पं  
च प्राप्तेः प्रपञ्चनम् ॥

'एव दद्यात्' इत्यनेन दारसुनादेरनि स्वत्वाविद्येव देवत्वप्रसङ्गे प्रतिषेधमाह—  
दारसुतादत्ते ।

शांभवे सति सर्वस्वं यद्यान्यस्मै प्रतिभृतम् ॥ १७५ ॥

दारसुमादने दारसुतप्यनिरिक्त इव दद्यात्, न दारसुनमिश्रयं । तथा  
पुत्रपौत्राद्यन्यथे विद्यमाने मर्त्यं धनं न दद्यात् ; 'पुत्रानुत्पाद्य तस्यैव वृत्ति  
चैर्वा प्रकल्पयेत्' इति स्मरणान्न । तथा हिरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिभृतमन्यस्मै  
न देयम् ॥ १७५ ॥

भाषा—दानं दत्तना ही देना चादिव तिमसे अपने कुटुम्ब के भरण  
पोषण में कटिगाई न हो । पुत्र और स्त्री दान में न देंगे । यदि पुत्र और  
पौत्र आदि हों तो सब कुछ दान नहीं करना चाडिग ॥ १७५ ॥

एव दारसुतादिव्यनिरिक्त इवमुक्त्वा मसुरादेवधनमदण च प्रतिप्रदीप्रा  
प्रकाशमेव कर्तव्यमिच्छाह—

प्रतिप्रदः प्रकाशः स्यात्स्वाधरस्य विद्योपनः ।

प्रतिप्रदणं प्रतिप्रद इ प्रकाश कर्तव्यो विवाश्चिरात्करणार्थम् । स्वाध-  
रस्य च विद्योपनः प्रकाशमेव प्रदत्तं वादेम्, तस्य सुपुत्रादिउत्पत्तिरिति शिवाभ्य  
दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥—

एव प्रागद्विकमुक्त्वा पट्टमनुसरणात्—

देयं प्रतिभृतं चैव दस्या नापदरेत्पुनः ॥ १७६ ॥

देय प्रतिभृतं चैव—दद्यात्तै धर्मार्थं प्रतिभृतं तन्मर्त्ये देयमेव यत्तर्वा 'धर्मा-  
त्सपुनो न भवति । प्रत्युते न पुनर्दानमप्यमः' इति धर्मात्पथरंस्तुत्याय न

१. नागपदे सति सर्वस्य देयं यथाशक्यमिति । २. धर्मस्युतो ।

दद्यात्' (गी० ५।२३) इति शीतमरभरणात् । दद्यात् नापदरेषुनः न्यायमात्रेण  
 यद्दत्तं तामसविधमपि पुनर्नापहर्तव्यम्, किंतु तर्थाशानुमन्तव्यम् । दत्तपुनरन्यायेन  
 दत्तं तद्दत्तं पोदद्यात्प्रकारमपि प्रायाहर्तव्यमेवार्थाशुचि भवति । नादेन च  
 (४।३)—'दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं पोदद्यात्प्रकारम्' इति प्रतिपाद्य दत्तादत्तयोः  
 स्वरूपं विद्यूतम्—'पण्यमूह्यं मृत्तिरदृष्टया स्नेहात्प्रयुक्तकारतः । स्त्रीशुद्ध्यानु-  
 ग्रहाय च दत्तं दानविशेषे विदुः ॥ अदत्तं तु भयशोभनोक्त्वेगदत्तान्वितैः । तथो-  
 रकोचपरीहान्स्पर्शकच्छलयोगतः ॥ धालमूढास्वतन्त्रान्तर्गतं प्रसक्तगवर्जितम् ।  
 कर्ता ममेहं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥ अपात्रे वाग्निस्तुक्ते दार्ये चार्धमं-  
 तंहिते । यदत्तं दद्याद्विज्ञानाद्दत्तमिति तत्प्रयुक्तम् ॥' (ना० ४।८, १९, ११)  
 इति । अत्रतर्थाः—पण्यस्य शीतद्रव्यस्य यन्मूह्यं दत्तम्, मृत्तिर्वेतनं कृतकर्मणे  
 दत्तम्, तुष्टया वग्दिचारणादिभ्यो दत्तम्, स्नेहात् शुद्धिपुत्रादिभ्यो दत्तम्, प्रयु-  
 क्तकारतः 'उपवृत्तवते प्रायुपकाररूपेण दत्तम्, खाशुवद परिणयनायं कर्मदाज्ञाति-  
 यो यदत्तम्, यदद्यानुग्रहायंमरुदार्थं दत्तम्, तदेतत्प्रसक्तप्रमपि दत्तमेव न  
 प्रायाहर्णीयम् । भवेन चन्द्रिमाहादिभ्यो दत्तम्, स्नेहेन 'पुत्रादिभ्यो वैरनिर्वात-  
 नापा-न्यस्यै दत्तम्, पुत्रविधोनादिनिमित्तलोकायेभ्यो दत्तम्, उक्तोक्तेन कार्य-  
 प्रतिषेधनिशामार्धमधिष्ठेभ्यो दत्तम्, परिहासेनोपहासेन दत्तम् । ईकः ईरं  
 द्रव्यमन्यस्यै दद्याद्यन्वोऽपि सस्यै ददातीति दानश्चरयात् । दृष्टयोगतः दत्तदान-  
 मग्निसभाय महत्तमिति परिभाष्य ददाति । यत्नेनाप्राप्तपोदकारपेण, मूढेन  
 लोर्कजादानभिज्ञेन, अस्वतन्त्रेण पुत्रदासादिना, भातेन रोयाभिभूतेन, मत्तेन  
 मदनीयमत्तेन, उन्मत्तेन वातिदाशुन्मादप्रस्तेन वा, अपवर्जित दत्तम्, तथा—  
 'अयं मर्दं यमिद् कर्म वरिष्यति' इति प्रतिलाभेच्छया दत्तम्, अक्षतुर्देवाय  
 'अतुर्वंशोऽहम्' इत्युक्तवते दत्तम्, 'दत्तं करिष्यामी' इति धर्मं लब्ध्वा घृतादी  
 विनियुक्तानाम् दत्तम्, इत्येव पात्रप्रकारमपि दत्तमदत्तमिरनुपपत्ते, प्रायाहर्णी-  
 यत्वात् । भातदत्तस्यादृष्टत्वं धर्मैर्जायंस्वतिरिक्तविषयम्, 'स्वस्तेनातेन वा  
 वत्तं श्राद्धित धर्मकारणात् । अदत्ता तु सृते द्वाप्यस्तस्सुतो नात्र स्तव्यः ॥'  
 इति कार्यापत्तरमरणात् ॥ तथेदमपहं सप्तिसार्धवचनं स्वर्जिवात्साधारणम् ॥  
 (मनु ८।१६५)—'योगाधमनविधीत योगदानप्रतिग्रहम् । यस्य चाऽप्युपधि  
 पश्यत्तसर्वं विनिवर्तयेत् ॥' इति ॥ योग उपाधिः । यन्वागामिनोवाधिविशेषे-  
 णाधिविच्छेददानप्रतिग्रहाः कृतारतदुपाधिविद्यमे तान् कथादीन्विनिवर्तयेद्विष-

१. धर्मस्तयुते । २. उपवृत्ते । ३. पुत्रादिवैर । ४. पक्षोऽपि स्व  
 द्रव्यः । ५. अभास्यवहारेण । ६. लोकरेजा । ७. मर्दाय कर्म । ८. येनो-  
 पाधि । ९. धिगमे क्रयाङ्गीन् ।

रयार्थः । न पुनः पं दशप्रकारमपि भदत्तं गृह्णति, यश्चादेयं प्रयच्छति, तयो-  
र्दण्डो नारदेनोक्तः (८।१६५)—‘गृह्णात्यदत्तं यो लोमाशश्चादेयं प्रयच्छति ।  
अदेयदायको दण्डयस्तथा दत्तप्रतीच्छुक्र ॥’ इति ॥ १७६ ॥

भाषा—दानं सबके समस्त लेना चाहिपु और वह भी विशेषतः स्थावर  
(भूमि आदि) का दान तो सबके सामने लेना चाहिपु । जो वस्तु मित्रको देने  
का संकल्प किया हो उसे वह वस्तु भवश्य देवे और देकर पुनः अपहरण  
न करे ॥ १७६ ॥

इति दत्ताप्रदानिक नाम प्रकरणम् ।

### अथ क्रीतानुशयप्रकरणम् १३

अथ क्रीतानुशयं वक्ष्यते । तत्परवरूपं च नारदेनोक्तम् (९।१)—‘क्रीत्वा  
मूषयेन यः पण्यं श्रेता न ब्रह्म मन्वते । क्रीतानुशयं ह्यस्येतद्विवाह्यदमुच्यते ॥’  
इति । तत्र च यस्मिन्नहनि पण्यं श्रेता तस्मिन्नेवाहि तद्विद्वत् प्रत्यर्पणीयमिति  
तेनैवं कम्—‘क्रीत्वा मूषयेन यः पण्यं कृत्वा श्रेता मन्वते कथी । विद्वेत्तुः प्रतिदेयं  
मत्तस्मिन्नेवाह्वयविपलम् ॥ ( १।० ९।२ इति ) । द्वितीयादिविने तु प्रत्यर्पणे  
विशेषस्तेनैवोक्तं—‘द्वितीयोऽह्नि द्वाक्रेता मूषयाग्निप्रशाशमाहरेत् । द्विगुणं तु तृती-  
येऽह्नि परतः श्रेतुरेव तत् ॥’ ( १।० ९।३ ) इति ॥ परतोऽनुशयो न कर्तव्य  
इत्यर्थः । एतच्च शाजादिव्यतिरिक्तापयोगाग्निविनश्वरयस्तुविषयम् ॥

बीजादिकथे पुनरप्यं च प्रत्यर्पणाग्निरिवाह—

दक्षीकपश्चसमाहमासऽप्रहार्धमातिकम् ।

बीजायांवाप्यारत्नर्क्षांशोऽष्टपुंसां परीक्षणम् ॥ १७७ ॥

बीजं प्रह्लादिवाजम्, भवो लोहम्, वाद्यो बलीवर्दादिः, रत्नं मुक्ताप्रवा-  
लादि, स्त्री दासी, श्रेया मद्रिव्यादि, पुमान् दाम, पूर्वा बीजादीनां यथाक्रमेण  
दशाहादिकं वशाकालो विज्ञेयः । परीक्ष्यमाने च बीजादी यथाऽवश्याऽपुदधाऽ-  
नुशयो भवति तदा दत्तं दद्यात्पश्चत्तर परं कथमिच्छति, न पुनरुत्पत्तिर्युपदेश-  
प्रयोजनम् । यस्तु मनुवाचनम् (८।२२२)—‘कस्याऽपि क्रियया किञ्चिदप्येहानु-  
शयो भवेत् ॥ ३ अतर्दनाहं तद्दम्यं दयं चर्षनाददेत च ॥’ इति,—ननु लोहादिव्य-  
तिरिक्तोऽप्येवमग्निविनश्वरगृह्येऽथयामप्रथनामनादिविषयम् । सर्वं चैतदपरीक्षित-  
कृतविषयम् । यत्पुनः परीक्षितं ‘न पुनः प्रत्यर्पणीयम्’ इति तत्रैव ह्यथा कीर्त-

१. तस्मिन्नहनि योऽहनिम् । २. मायदेत् । ३. लोहादिः । ४. माद्रि-  
व्यादिः । ५. पयोगविनश्वरः । ६. परीक्षयः ।

तद्विमेषे न प्रत्यर्पणीयम्; तदुक्तम्—'जेता पण्यं परीचेत प्राकृ र्वर्षं गुणदोषतः ॥  
परीक्षयाभिमत्तं शीतं विमेषतुर्न भवेत्पुनः ॥' ( ना० ११८ ) इति ॥ १७७ ॥

भाषा—दोह्नि आदि का बीज, लोहा, भार छाने वाले बैल आदि पशु, रत्न, स्त्री ( बामी ) भैंस आदि दूध देने वाले पशु और पुत्र्य ( दास ) का ऋष के उपरान्त परीक्षण का काल क्रमशः दूध, एक, पाँच, गान, दिन, एक मास, ३ दिन और एक पक्ष का होता है । ( अर्थात् निर्दिष्ट समय के भीतर ही फेर बदल हो सकता है ) ॥ १७७ ॥

दांश्यादिपरीक्षासङ्गेन स्वर्णादिरपि परीक्षामाह—

अग्नी सुवर्णमस्त्रीणं रजने द्विपलं शते ।

अष्टौ प्रपुणि सीसे च नाम्ने पञ्च दशायति ॥ १७८ ॥

पहली प्रताप्यमान सुवर्णं च स्त्रीपते, लताः कटरादिनिर्माणार्थं यथास्वर्ण-  
कारहस्ते प्रशिक्षित तावत्तुलित तै प्रत्यर्पणीयम्, इतरथा चय दाप्या दण्ड्याश्च ।  
रजते तु शतपले प्रताप्यमाने पञ्चद्वय स्त्रीपते । अष्टौ प्रपुणि सीसे च,  
'शते' इत्यनुवर्तते । प्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽष्टौ पणानि स्त्रीपते ।  
ताम्ने पञ्च, दशायति,—ताम्ने शतपले पञ्चपलानि, अथपि दशपणानि  
स्त्रीपते । अत्रापि 'शते' इत्येव । कास्यस्य तु प्रपुणास्योनिस्वात्<sup>१</sup>द्विपुणारेण  
चयः कल्पनीयः । <sup>२</sup>ततोऽधिरक्षयकारिणः शिक्षिणो दण्डयाः ॥ १७८ ॥

भाषा—आग में तपाने पर सोना बम नहीं होता, चाँदी सौ में दो पल कम हो जाती है, पीतल और शीशा सौ में आठ पल, ताँबा पाँच पल और लोहा दस पल घट जाता है ॥ १७८ ॥

कश्चिदश्वलादो वृद्धिमाह—

शते दशपला वृद्धिरौर्णं कार्पाससोत्रिके ।

मध्ये पञ्चपला वृद्धि सूक्ष्मे तु द्विपला मता ॥ १७९ ॥

शृङ्गेनीसूत्रेण अश्वलादिकं विवते तस्मिन् शतपले दशपला वृद्धि-  
वेदितव्या । पत्र कार्पाससूत्रनिर्मिते पटादी वेदितव्यम् । मध्य धनतिसूत्रम  
सूत्रनिर्मिते पटादी पञ्चपला वृद्धि । सुसूक्ष्मसूत्ररचिते शते द्विपला वृद्धिर्वेदि-  
तव्या । पत्रधाम्नादिपत्रासोत्रियम् ॥ १७९ ॥

१. द्विपल रजने शतम् । अष्टौ तु प्रपुणीमे च । २. तददाःपुणारेण ।  
३. इतोऽधिक । ४. कार्पासिरे तथा, कार्पासहेऽथ वा । मध्ये पञ्चपला  
हानिः ।



भाषा—ऊन और कपास के मटे सूत से कम्बल आदि बनाने में सौ पल में दस पल, मोटाई में मध्यम धेनी के सूत में पाँच पल और पतले सूत से रानी वस्तु में सौ पल में तीन पल की वृद्धि समझनी चाहिए ॥ १७९ ॥

द्रव्यान्तरे विशेषमाह—

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिशङ्गाय क्षयो मत ।

न क्षयो न च वृद्धिश्च क्रोशेषे चोल्कलेषु च ॥ १८० ॥

कार्मिक कर्मणा चित्रण निर्मितम् । यत्र निष्पन्ने पटे चक्रवर्तिनः काचित् चित्रं धृत्वा क्षिप्यत तस्कार्मिकमित्युच्यते । यत्र प्राञ्चारादौ रोमाणि बध्यन्ते स रोमबद्धः, तत्र त्रिशङ्गा मो भाग चोषो येदित्येव क्रोशेषे चोल्कलेषु पृष्ठादङ्गुलिनिर्मितेषु ध्वजेषु दृष्टिहासौ न स्तः, त्रिभु य वद्भवन्तर्था दुर्विम्बादिभ्यो ह्यस्य नावद्वेष प्रत्यादेवम् ॥ १८० ॥

भाषा—कपीदाकारा, भीर किनारों में रोम बाँधने में तीसरे भाग का चयन बनाया जाता है। क्रोशेष और चोल्कल के पट्टे बनाने में न तो कमी क्षति है और न वृद्धि है। हाजी है ॥ १८० ॥

द्रव्यानन्तरेष्वप्रतिद्रव्येषु चद्रव्यान्तरेष्वप्रतिपादनासत्ते सामान्येन ह्यमवृद्धिज्ञानोपायमाह—

देशं कालं च भोगं च छात्रा नष्टे रत्नावलम्बम् ।

द्रव्याणां कुशला द्रव्युत्सदाप्यमसंशयम् ॥ १८१ ॥

शाकशीमादी द्रव्ये नष्टे ह्यममुपगते द्रव्याणां कुशला द्रव्यवृद्धिक्रयामिशा देशं कालमुपभोग तथा नष्टद्रव्यस्य मलापल सारामारतो च परीक्षण पादह्य यन्नि तदसंशय सिद्धिर्गो वाप्या ॥ १८१ ॥

भाषा—द्रव्य के नष्ट हो जाने पर देश काल, भाग उस वस्तु की मारता और क्षमता जानकर उस द्रव्य के विषय में विशय ज्ञान रखने वाले जितना कहें उतना ही ( सिद्धिर्गो वा ) दिया जा चाहिए ॥ १८१ ॥

इति द्वात्रिंशत्तुल्यवकरणम् ।

### अव्याभ्युपेत्याशु तूपात्रकरणम् १४

सांप्रतमभ्युपेत्याशुभूय क्वमपर विनाद्वयमभिजातुत्तुपक्रमे तादररूप य मारदभोगम् ( ५१ )— अत्र्युपे य तु शुभ्रुषा यस्तां न र्तिपद्यते । अष्ट

१ वृद्धि इत्याम् । २ कावले तथा नष्टद्रव्यु । ३ त्रिभु सूत्रे । ४ प्राञ्चारादी । ५ रोमबध्य । ६ प्राञ्चारादी । ७ यत्तदाप्य अमसंशयम् पक्षे परवृत्तद्रव्यम् ।

धूपाभ्युपेक्ष्यैतद्विवाद्यपदमुच्यते ॥ इति । १ आशु-रुं शुश्रूषा, तामनीकृत्य  
 पश्चाद्यो न सपादयति तद्विवाद्यपदमभ्युपेक्ष्याशुभुपाद्ययम् । शुश्रूषाश्च पत्रविधि-  
 द्विष्योऽ तेषाम्नी भृतकाऽधिरर्मकृद्दास इति । तेषामासाक्षस्वार कर्मकरा इ यु-  
 च्यन्ते । ते च शुभकर्मकारिणः । दासा पुनर्गृहजातादयः पञ्चदशप्रकारा-  
 गृहद्वाराशुचिरथानरथावस्त्ररक्षोघ्नाशुभकर्मकारिणः । तदिदं नाम देन स्वष्टी-  
 कृतम्— शुश्रूषक पञ्चविधं शास्त्रे दृष्टो मत्तं विधिः । चतुर्विधं कर्मकरातेषां  
 दासाश्चिपञ्चकः ॥ द्विष्या तेषातिभृतकाश्चतुर्भेदा-चिर्कर्मकृत् । एते कर्मकरा-  
 ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ॥ सामान्यमस्या-प्रारम्भेषामाशुर्मनीविणः । जानि  
 कर्मकृतास्तु<sup>१</sup> विनोयोः श्रुतिरेव च ॥ कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमदयः ।  
 अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां भृशम् ॥ गृहद्वाराशुचिस्थानरथावस्त्ररक्षोघ-  
 नम् । गृहद्वारपक्षमोन्दिष्टविष्णुप्रदणोऽस्तनम् ॥ इत्युक्तं स्वामिनोऽर्हद-  
 रथागमथा ततः । अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभं यदतः परम् ॥ ( भा० ५।२-७ )  
 इति ॥ तत्र द्विष्योः चद्विषयार्थं, ८ तत्रामां विषयविषयार्थं मूलगतम् ॥ ९ कर्म  
 करति स भृशम् कर्मकर्तव्यतामधिष्ठायाऽधिककर्मकृत्, अशुचिस्थानमुन्दिष्टपद-  
 पार्थं गतांश्चिक्त् अवरकरा गृहगानि-पास्त्रादिनिषेधस्थानम्, उद्धानं स्थानम् ।  
 भृशम्कात्र त्रिविधम् । तदुक्तम्—उत्तमस्यायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीयत् ।  
 अधमा भारवाही स्वादिष्येय त्रिविधो भृशः ॥ ( भा० ५।२२ ) इति । दासा  
 पुनः— गृहजातस्तथा स्त्रीतो लब्धो दायादुपागतः । अत्राकालभूतस्तद्ददाति  
 स्वामिना च यः ॥ मार्त्तनो महत्प्रार्थयुद्धपास एणे जितः । तयादमिर्युपगत-  
 प्रथयापमित दूतः ॥ ३ कृदापञ्च विद्ययस्तथैव वदन्नाहृतः । विज्ञेया चापन-  
 शास्त्र दासा पञ्चदश स्मृताः ॥ ( भा० ५।२९ ) गृहं दास्यां जानो गृहजातः,  
 स्त्रीतो मूलगतः, लब्ध प्रतिग्रहादना दायादुपागतः विद्यादिदासः अनाका-  
 लभृशो दुर्मिच्छे यो दासस्याथ माणादचित् आहित स्वामिना भनमदण-  
 माधिगतां जातः, अष्टमाशुभं दामरथमशुपगताः कण्ठदासः युद्धपासः मगरे  
 विज्ञेया गृहजातः, एणे विद्य—यद्यस्मिं यथाद् पराजिताऽहं तदा तद्दासो  
 भवानि इति परिभाषा जितः, तय दमिःपुपगता तयाद् दस इति रथ-  
 समतिपन्नः प्रथयापमितः प्रथयापुपगताः कृषः एता रथालः रथदासः  
 दूयपुपगमितः, अकण्ठदासः सर्वकालं अकार्पण्येय दमरथमशुपगता यः प्रविष्ट-  
 पदवाहन—उद्धानं गृहदासो तथा हृतः तस्य मेव तामुद्दह्य दामरथेन प्रविष्टः,  
 यः अष्टमा रिक्रान्तऽयावत्प्रविष्टता, इत्येव पञ्चदश प्रकाराः ॥ यस्तु मनुना  
 ( ८।४१५ )— एवताहता अकण्ठदासो गृहजातः कतदप्रिमीः । पैतृका दण्डदासश्च

१ आशुकारणम् । २ अशुचिस्थानम् । ३ कर्मकराशुभम् । ४ रथागम-  
 रथाङ्गम् । ५ विद्यास्थानम् । ६ भृशम् । ७ मर्त्याम् ।

मसैते दासयोः नय ॥' इति सप्तविधत्वमुक्तं,—तत्तेषां दासत्वप्रतिपादनार्थं, ननु परिसरुपार्थम् । सत्रैषां शिष्यः—तेषामिभृतकाधिकर्महृद्दासानां मध्ये शिष्यवृत्ति प्रागेव प्रतिपादिता ।—आहुतश्राप्यधीवीत लब्ध चामै निवेद्येत्' (भा० २७) इत्यादिना । अधिर्महृद्भृतकानां तु श्रुतिं वेतनादानप्रकरणे वक्ष्यते ।—'यो याशुकुहने कर्म तावत्तस्य तु वतनम्' ( इय० १९६ ) इत्यादिना ॥

दामाः—तेषामिभोरसु धर्मविशेषं वक्तुमाह—

यत्नादासीकृतधोरैरिक्कीनश्चापि मुच्यते ।

इयामिप्राणप्रदो भक्तस्यागात्तस्त्रिंशत्क्रियादपि ॥ १८२ ॥

यत्नात् यत्नाद्यष्टभेन यो दासीकृतः, यथोरैरपहस्य विक्रीतः, 'अपि' दास्या दाहितो दत्तश्च स मुच्यते । यदि स्वामी न मुञ्चति तर्हि राज्ञा मोचयितव्यः । उक्तं च नारदेन ( ५१३८ )—'चौरपह्ननविक्रीता ये च दासीकृता यत्नात् । राज्ञा मोचयितव्यस्तैः दास्य तपु हि नेष्यते ॥' इति । चौरपह्नात् प्रवृत्तस्य स्वामिना प्राणान्य प्रददाति रक्षत्यसावपि मोचयितव्यः । तद्विद् सर्वदासानां साधारण दास्यनिवृत्तिप्रणयम् ।—यत्नया स्वामिना कश्चिन्मोचयत्प्राणसंगत्यात् । दामावाप्य विमुच्यत पुत्रभाग लभेत् च ॥' ( ५१३० ) इति नारदस्मरणात् ॥ भक्तदामादानां प्रातिदिवसमपि मासकरणमुच्यते । भक्तानालभृतभक्तदामी भक्तस्य स्यागादानभावाद्दास्य स्वामिद्वयं यावदुपभुक्तं तावद्दासा मुच्यते । आहितनादासी तु तस्त्रिंशत्क्रियात् यद्गृह्णात्वा स्वामिना आहितः, यद्य दासा यतिनोत्तमर्णा-माश्रितः, नरथ त्रिंशत्क्रियात्तद्विद्विदस्य प्रवर्षणा-मुच्यते । नारदेन विशेषतोऽप्युक्तं—'भक्तानालभृतो दास्या-मुच्यते गोपुग दत्त् । स्वभक्तिं यद्गुभिर्चे न तच्छुद्धयत् कर्मणा ॥' भक्तस्यारक्षेणगात्मस्यो भक्तदाम प्रमुच्यते ।, 'आहित इपि धन दत्त्वा स्वामी यत्नेनमुद्धरेत् ॥', ऋण तु मोक्षय दत्त्वा षष्ठी दारवारमुच्यते ( ना० ५१३१ ३६ ३२, ३३ ) ॥' इति ॥ तथा 'गयादम्' इत्युपगतसुदप्रान्णनिनर्तकउडडाहनाया च प्रातिदिवस मोचयकारणं च 'तनैवोपम्— गवाहमित्युपगतो युद्धपाश्र्ण १मे जितः । 'प्रतिदीप्यदाते ग मुच्यरैस्तुष्टवकर्मणा ॥ कृतकालस्यपवमागृह्णोऽरि विमुच्यत ॥', मिप्रहाद- दवायास्तु मुच्यते षष्ठ्यदत्त ॥ ( ना० ५१३४ २३, ३७ ) इति । दामेन मह सभ गतिराधादिष्यथ । तदत्र गृह्णातत्र मल्लकरदायप्रसासारमरिक्किनी स्वामिप्रा- णप्रदाननरप्रसादरूपमाधारणकारणवनिरेकं च मोक्षा नास्ति, विशयकारणानभि

३ प्रतिपादनपरम् । ४ भक्तस्यगात्त । भक्तस्यस्यागात्तस्त्रिंशत्क्रियादपि ( = भाक्त भक्तदाम ) । ५ मोचनाय । ६ कृतवदत्ता । ७ नारदनेत्र । ८ प्रदायात्प्रसाद ।

घनात् । दासमोक्षश्चानेन क्रमेण कर्तव्यः—'एव दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं  
 प्रीतमानसः । इच्छादादाय तस्यासौ मिच्छाकुर्मं सहात्मसा ॥ साधनाभिः  
 सपुत्राभिर्मूर्ध-वह्निरवाकिरेत् । अदास इत्ययोस्त्वा त्रि प्रादुगुत्त तमवाश्चेत् ॥'  
 ( भा० ५।४२, ४३ ) इति तेनैवोक्तम् ॥ १८२ ॥

भाषा—वर्षपूर्वक घनाया गद्या और चोरो द्वारा वेचा गया दास स्वामी  
 का प्राण बचाने पर, स्वामी क राजे हुए धन को लौटाने पर अथवा निधन  
 का मुख्य शुक्रा देने पर ( दासता से ) मुक्त हो जाता है ॥ १८२ ॥

प्रमत्तवाचनितस्य तु भं चो नास्तीत्याह—

प्रमत्तवाचसिनो राक्षो दास 'आमरणान्तिकम् ।

अज्ञया मन्वास, मतोऽग्निन. प्रच्युत । अनभ्युपसनप्रायश्चित्तश्लेष्वाश्च पृथ  
 दासो भवति । मरणमेव 'तद्दास' इत्याहो नाभतरा प्रतिमोक्षे इति ॥—

वर्णदिवसया दारव्यवस्थासाह—

वर्णानामानुलोभ्येन दारव्यं न प्रतिलोमत ॥ १८३ ॥

प्राज्ञादीना वर्णानामानुलोभ्येन दारव्यम्—अ ह्यह्य चप्रियादय, चत्रियस्य  
 वीरशूत्री, वीरवस्य शूद्र इत्येवमानुलोभ्येन शसमाजा भवति, न प्रतिलोभ्येन ।  
 स्वधर्मवागिन पुन परिप्राजस्य प्रातिलोभ्येनापि दासत्वमिष्यत एव,  
 यथाह नारद. ( ५।३९ )—वर्णाना प्रातिलोभ्येन दासत्व न विधीयते ।  
 स्वधर्मवागिनाऽप्यत्र दारवद् दासता मता ॥ इति ॥ १८३ ॥

भाषा—सन्वास न च्युत व्यक्ति जीवन भर शान्त वा दास होकर रहता  
 है । दारव भाव पणों व आनुलाभ्य से ही होता है अर्थात् भवने से निश्चय  
 का है दास होता है । प्रातिलोभ्य नहीं होता ( निद्रावर्ण क व्यक्ति का दास  
 उलट उच्यते नाही होता ) ॥ १८३ ॥

अन्तेवासिधर्मानाह—

कृतशिरसाऽपि निवसेत्कृतफालं गुरोर्गृहे ।

अन्तयासो गुरुप्राप्तमोजनस्तत्फलप्रदः ॥ १८४ ॥

अन्तेवासि गुरोर्गृहे कृतकृत 'अन्तेवासिगुरुप्राप्तमोजनस्तत्फलप्रदः'  
 यमामि' इति यादवद्वाक्येन तावत्प्राप्त यमत्,—यद्यपि वर्षवृत्तवादादिति  
 एतदपेक्षितदिग्गतिषु । कथं निवसेत्? गुरुप्राप्तमोजन गुरोः सदाशाप्राप्त  
 भोजन येन न सत्कथं, तावत्प्रद तस्य निवसत्य फलम चावाप्य प्रददातीति

१ मरणान्ति २ स्वान्ता नान्तरा प्रतिमोक्षेन । ३ भं जनं

शाक्यप्रद ।

तस्मात्प्रद', एवभूतो वसेत् । नारदेन विशेषेऽप्यत्र दर्शित — 'स्वशिष्यमि-  
 दृशाहर्तुं पान्धवानामनुज्ञया । आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कार्त्त मुनिश्चितम् ॥  
 आचार्यं शिक्षयेदेन स्वगृहे दत्तभोजनम् । न चान्यत्रकारयेत्कर्म पुनवर्त्तेनमाच-  
 रेत् ॥ शिक्षयन्तमसदुष्टं च आचार्यं परित्यजेत् । यत्पाद्वासयिनस्य- स्याद्रथधर्मो  
 च सोऽर्हति ॥ शिक्षितोऽपि वृत्त कालमन्तेवामी समाप्नुयात् । तत्र कर्म च  
 यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् ॥ गृहीतशिल्प समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम् ।  
 शिक्षितश्चानुमान्यैवमन्तेवामा भिवर्त्ते ॥' (ना० ५।१६-२८) इति । 'धर'त  
 द्योऽत्र ताडनार्थः, दापस्वास्वत्वात् ॥ १८४ ॥

भाषा—पहले निवास की अवधि निश्चित करके गुरु के घर रहने  
 वाली प्रत्यक्षी उससे पूर्व विद्या समाप्त कर लेने पर भा नवमी जीनिजा वा  
 शिक्षण सीखकर उसका फल गुरु का देत हुए और गुरु द्वारा दिया गया भोजन  
 ग्रहण करता हुआ उन्हीं के निकट निवस करे ॥ १८४ ॥

इत्यभ्युपेयाशुभ्रुपाद्य विवाहप्रकरणम् ।

### अथ संविद्यतिक्रमप्रकरणम् १५

ममति सविद्यतिक्रम वक्ष्यते, तस्य च स्मरण नारदेन स्थनिरैकमुत्पेन  
 दर्शितम्—'पाताविद्वनैगमाश्रीना स्थिति समय उप्यते । समप्रस्थानपरकर्म तद्वि-  
 पादपद स्मृतम् ॥' इति पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थान समय, तत्रोपपादकमांश्व-  
 तिक्रम परिपादन तद्विधि, तस्यमाग विरोदपद भवतीत्यर्थः ॥

तदुपक्रमार्थं किंचिदाह—

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्यस्य तत्र तु ।

त्रैविद्यं वृत्तिमभूयास्यधर्मं पाठयतामिति ॥ १८५ ॥

राजा स्वपुरे दुर्गादी स्थान धवलगृहादिकं कृत्वा तत्र ब्राह्मणान्प्रदश्य  
 स्थापयित्वा तद्दत्त धर्ममात्र त्रैविद्य वेदस्यमप-न वृत्तिमभूद्भूद्विरुद्धादिसंपन्नं च  
 कृत्वा स्वधर्मो वर्णाधमनिमित्तं श्रुतिस्मृतिविहितो भवद्विरपुष्टीयतामिति  
 तां ब्राह्मणान्मुवात् ॥ १८५ ॥

भाषा—राजा अपने दुर्ग में स्थान बनाकर उसमें गीर्वा वंदो के भवषण  
 से स्मरण, ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें हुए वृत्ति देकर उनसे वदे कि भाप  
 लोग अपने धर्म का पालन करें ॥ १८५ ॥

एवं नियुक्तैस्तैर्धर्मैर्बर्णैः तदाह—

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।

सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राज्ञःतत्र यः ॥ १८६ ॥

श्रीनरमात्रं धर्मानुसन्धेन समयाधिप्यसौ यो धर्मो य प्रयाते दृक्कथय-  
देवगृहपालनादिरुग सोऽपि यत्नेन चालनीयः । तथा राजा च निजधर्मा-  
विरोधेनैव यः सामयिको धर्मो 'सायणविर' अंजने देवमन्त्रदातिमंश्लं  
पुत्रादयो न मन्त्र-धर्मावा' दृश्येयन्तः कृयाः सोऽपि वक्ष्यतीति ॥ १८६ ॥

भाषा—अत्र धर्मं कं अनुसृज्या धर्मं सामयिकं एते तथा राजा द्वारा  
निर्दिष्ट धर्मं वा यत्नपूर्वकं रक्षां करं ॥ १८६ ॥

एव तस्य धर्मः परिवर्तनीय इत्युक्तं तद्विजयादीं दृष्टमाह—

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविद्ं लक्ष्यं च यः ।

सर्वस्य दृष्टं कृत्वा तं संप्राप्तिदयात्मकम् ॥ १८७ ॥

यः पुनरागत्य कामादिजनसमूहस्य सवधि स्वाध्याय द्वापदृष्टानि,  
सर्वित् समयागी समूहता रीतिरुता वा सो लक्ष्यदृष्टिमेव, सर्वस्य स्य  
धनस्य दृष्टय इत्युक्तं दृष्टयामने-नि-कामने ॥ अर्थं च दृष्टेऽनुसंधान-  
निधय दृष्टयः ॥ अनुसंधानेन च ( मनु ८।११९-१२० )—'या कामेन  
नयामो कृयाः साधनं सविदम् । विगदृष्टेन च लोभायं सांप्राप्तिदयात्मकम् ॥  
निपूणं सावनेन समयाधिसिद्धिम् । अनुसंधानं च विदित्कथयन्तं च राज-  
गम् ॥' इति समुपनिषादिनृपदासो विद्यापलस्य सुवर्णविमलस्य नामो  
अनुसंधानस्य नामः आनिर्वाच्यते इत्येवम् ॥ १८७ ॥

भाषा—यः गणं कं धर्मं च सवधि स्वाध्याय धर्मं वा अर्थपूर्वकं अदृष्टय  
वर्गे भवता राजा द्वारा या समूह द्वारा रीति रीति रवदृष्टया वा  
उपनिषत्तं च दृष्टयः साधनं धर्मं लक्ष्यं च यः ११९ व १२० निर्वाचिनं वा  
देना यादित् ॥ १८७ ॥

इदं च तं कर्मवर्तिनाह—

यस्तु गणिनां मध्ये समूहद्वित्वादिपञ्चनप्रतिबन्धकारी त राज्ञा प्रथम-  
माहसं दण्डनीयः ॥ १८८ ॥

भाषा—( गण के व्यक्तियों में ) समूह का दिन कहे उनका अनुमरण  
सभी को करना चाहिये । जो उसके ( समूह के द्वित के ) विपरीत घे टे  
उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ १८८ ॥

राज्ञा धैर्यं गणितु वर्तनीयमिषाह—

समूहकार्यं आयातान्वृतकार्यान्विसर्जयेत् ।

स दानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥ १८९ ॥

समूहकार्यनिर्घृष्टार्थं स्वपार्श्वं प्राष्ठान् गणितो निर्दमितात्मीयप्रयोजनान्  
दानमानसत्कारैः च राजा परितोष्य विमर्जयेत् ॥ १८९ ॥

भाषा—समूह के कार्य के लिये भाये हुए व्यक्तियों का कार्य करके  
राजा उन्हें दान, मान और सरकार द्वारा समुष्ट करके विश्वास करे ॥ १८९ ॥

समूहदस्तावहारिणं प्राधाह—

समूहकार्यप्रदितो यत्नमेत तदर्पयेत् ।

एकादशगुणं दान्यो यंघसी नार्पयेत्स्वयम् ॥ १९० ॥

समूहकार्यं महाजनैः प्रेरितो राजपार्षेयं ययमदिरव्यादिकं एतत्ते तद्-  
प्रापितं एव महाजनेभ्यो निदेहयेत् । अन्यथा एकादशगुणं दण्डं  
दापनीयः ॥ १९० ॥

भाषा—समूह के कार्य से भेजा गया व्यक्ति जो कुछ पाये उसे समूह  
के श्रेष्ठ जनों के समक्ष अर्पित करे । यदि वह ऐसा धर्म नहीं अर्पित करता  
है तो उससे दसगुण गुना दण्ड देना चाहिये ॥ १९० ॥

एवंप्रकारात् कार्यविस्तारं कार्यं इत्याह—

धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यविस्तारः ।

वर्तव्यं पचनं तेषां समूहद्वितपादिनाम् ॥ १९१ ॥

धीतस्मान्तंभमंजुः बाह्याभ्यन्तरशीघ्रयुक्ता भवेयस्तुष्याः कार्यविस्तारः  
वर्तव्याः । तेषां पचनमिहैव कार्यविस्तारार्थं पुनर्वचनम् ॥ १९१ ॥

भाषा—धीन और समान धर्म जानने वाले, परिश्रम, लोभहीन कार्य-  
विस्तारक बनाने चाहिये । उन समूह का दिन कहेने वार्त्तों के पचनो का पालन  
करना चाहिये ॥ १९१ ॥

इदानीं त्रैविद्यानां प्रतिपादितं धर्मं श्रेण्यादित्यतिदिशसाह—

श्रेणिनैगम<sup>१</sup>पाण्डिगणानामप्ययं विधिः ।

भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

एकपण्यसिंहपांशजीविनः धेगय<sup>२</sup>, नैगमाः ये वेदस्यास्यणीतत्वेन प्रामाण्य-  
मित्युक्तिं पाण्डुपयादयः, पाण्डिगणो ये वेदस्य प्रामाण्यमेव वेदुक्तिं नगनाटक-  
मौगनादयः, गणो ग्रातः छात्रुर्धोयादीनामेककर्म्मोपनाधिना, एषा अतुर्धिधाना-  
मप्ययमेव विधिः—यो 'निजधर्माधिरुधेग' ( ४५० १८६ ) इत्यादिना प्रतिपा-  
दित । एतेषां श्रेण्यादीना भेद धर्मव्यवस्थानं नृपो रक्षेत् । पूर्वावात्ता वृत्तिं च  
पालयेत् ॥ १९२ ॥

भाषा—धेगी ( एक व्यापार या सिद्ध कराने वाले ), नैगम ( एक ही  
वेद को पढ़ने वाले ), पाण्डिगणी ( वेद को प्रमाण न मानने वाले ) और गण  
( छात्रादि विपय एक ही कार्य द्वारा जीविका चलाने वालों ) के विपय  
में भी गड़ी नियम हैं । राजा इन सबके भेद की रक्षा करे और उनकी  
पूर्ववृत्ति का पालन करे ॥ १९२ ॥

इति संविद्वधनिकमप्रकरणम् ।

### अथ वेतनादानप्रकरणम् १६

संप्रति वेतनस्थानपाकमाक्यं व्यवहारात्पूर्वं प्रस्तुयते । तत्सवर्णं च नारद-  
मोक्तम् ( ६११ )—भृत्यानां<sup>३</sup> वेतनस्वोष्ठी दानादानविधिक्रमः । वेतनस्थान-  
पारम्भं तद्विशदपदं स्मृतम् ॥ इति । अस्यार्थः—भृत्यानां वेतनस्य वक्ष्यमाण-  
श्लोकेदृशो दानादानविधिश्चो यत्र विवादादेश्च तद्वेतनस्थानपारम्भोऽप्युच्यते । तत्र  
निर्णयमाह—

गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्निगुणमाचरेत् ।

अगृहीते<sup>४</sup> सप्तं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥

गृहीतं वेतनं वेतनामी दशाद्रीरुत्तं कर्म त्यजन् अकुर्वन् द्विगुणं भृति  
स्वामिने दद्यात् । अथा पुनरभ्युपगतं कर्म अगृहीते एव धनने त्यजति नदा  
सम यायद्वेतनमभ्युपगतं सावदाप्यो न द्विगुणम् । यद्दशाद्रीरुत्तरं भृति दत्त्वा  
यथाशायितस्य ; 'कर्म्मोत्तुर्धननिष्ठुयव कावो दत्त्वा भृतिं यत्नान्' ( ६१५ ) इति  
नारदप्रधानम् । भृतिरिति तेनैवीणा—<sup>५</sup>भृत्याय वेतनं दद्यात्समंस्थामी यथा-

१. पापाण्डि । २. भृत्यानां । ३. मयं कार्यं ४. त्वैः पादय उपस्करः ।

५. भृताय ।



अमम १ धादौ मध्येऽपसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम् ॥<sup>१</sup> ( ११० ६२ ) इति ।  
तैश्च भृत्यैरपस्कर उपकरण लाङ्गलादीना प्रमहयोत्रादिना यथाशक्या रक्षण-  
यम्, इतरथा कृत्यादिनिष्पत्त्यनुपपत्ते ॥ १९३ ॥

भाषा—वेतन स्केर काम छोड़ देने वाले से दूना वेतन राजा को  
दिलावे । विना यतन लिये हा कार्य करना स्वीकार करऊ न करे तो वेतन क  
थापर धन दिलावे । वे भृत्य भी उपकरण ( हल आदि औजार की ) यात्र  
पूर्वक रक्षा कर ॥ १९३ ॥

मृत्तिसपरिच्छिद्य य कर्म कारयति त प्रत्याह—

दाप्यस्तु दशम भागं घणित्यपशुसस्यत ।  
अनिश्चित्य भृति यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यस्तु राजा यणिक गोमी खेत्तिको वा अपरिच्छिद्यत्वेनमेव भृत्य कर्म  
कारयति स तस्माद्घणित्यपशुसस्यत्वात् कर्मणो यल्लभ्य तस्य दशम भागं  
भृत्याय महीक्षिता राज्ञा दापनीय ॥ १९४ ॥

भाषा—जो भृति ठहराय विना भृत्यों से कार्य लेता है वयावार,  
पशुप लय या खेती का काम लेता है उससे राजा तत्तत् कार्यों से होने  
वाले लाभ का दसवाँ भाग भृत्यों को दिलावे ॥ १९४ ॥

अनाशुसकारिण प्रत्याह—

देशं कालं च योऽनीयाह्वारं कुर्याच्च योऽन्यथा ।  
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दांसविकं देयं हृत्नेऽधिके ॥ १९५ ॥

यस्तु भृत्य षण्यविक्रयाद्युचितं देश कालं च षण्यविक्रयाद्युक्तं-देशादि  
नोल्लभ्यसस्मिन्नेव वा देशे काले च लाभमन्यथा व्यवधानिज्ञासाप्यतया हान  
करोति तस्मिन्भृत्ये भृतिदान प्रति स्वामिनश्छन्द इत्या भवेत् यात्रदि  
श्छति तावद्दद्यात् पुन सर्वमेव भृतिमित्यर्थ । यदा पुनदेशकालाभिज्ञतयाऽ  
धिको लाभ कृतस्तदा पूर्वपरिच्छिद्यत्वात् भृत्तेरधिकमपि धन स्वामिना भृत्याय  
दानम्यम् ॥ १९५ ॥

भाषा—जो भृत्य ( वयावार योग्य ) स्थान और समय का उचित धन  
करके लाभ क रथा पर हानि कराता है तो उसके वेतन क त्रिपय में राजा को  
भपने द्युत्थानुसार करे, किन्तु जय देश और समय क ज्ञान से वह अधिक  
लाभ कराता है तो उसे यतन से अधिक धन दना चाहिये ॥ १९५ ॥

१ उपकरण । २ दाप्यस्तुदशम । ३ भृत्यकर्म । ४ यो यात्रकर्म  
कुर्यात् । ५ देशदिनमुह्यद्येव । ६ भृत्तेरपि किमपि धनमधिक ।

अनेकभूयसाप्यकर्मणि श्रुतिदानप्रकारमाह—

या यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तुं चेतनम् ।

उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाधृतम् ॥ १९६ ॥

यदा पुनरेकमेव कर्म नियतचेतनमुभाभ्यां क्रियमाणं उभयोरप्यसाध्यं चेद्दवाप्याद्यभिभवाद्दुभाभ्यामविशब्दाद्बहुभिरपि यदि न परित्यज्यते तदा यो श्रयो वाचकं करोति, तावत्तस्मै तावत्कर्मनुसारेण सप्यस्यश्चित्तं येन न देयं, न पुनः समम् । नपावययथाः कर्मणि येन न शोचिमापितयाद्दाम-  
मिति मन्तव्यम् । साप्ये तूभाभ्यां कर्मणि निर्धने यथाश्रुतं यान्परिभाषित  
तावद्दुभाभ्यां देयं, न पुनः प्रत्येकं कृतं चेतनं, नापि कर्मानुरूपं परिकल्प्य  
देयम् ॥ १९६ ॥

भाषा—यदि एक ही कार्य जो दो भूय करे और ( क्यापि एवं थापि के कारण ) वह समाप्त न हो सके तो जो जितना कार्य किये हो उतना अनुसार उतना देना होता है और कार्य पूरा हो जाने पर जितना पनाया जाय उतना उतना दानों को देना चाहिये ॥ १९६ ॥

आयुर्धायभारवाहकी प्रयाह—

अराजद्विषां नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु याज्ञकः ।

प्रस्थानविष्णुकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणं श्रुतिम् ॥ १९७ ॥

न शिष्टे राजद्विषां वस्य भाण्डस्य तत्तयोक्तम् । तद्यदि प्रशाहीनतया  
याहकेन नाशितं तदा नाशानुसारेणामी नद्भाण्डं दापनीयः । तदाह नारायः  
(६।९)—‘भाण्डं इयमनमागष्ट्येद्यदि वाहकदोषतः । दाप्यो यत्तत्र नश्येत्  
द्वैधराजकृताहते ३’ इति । ३ः पुनरिजाहाद्यर्थं मूल्यवति यामरे प्रतिष्ठमानस्य  
नारस्थानीयविकं धर्मं प्रागङ्गीकृत्य तदानीं ‘न करिष्यामि’ इति प्रस्थानविष्मा-  
चरति तदानीं द्विगुणं श्रुतिं दाप्यः । अन्वतोत्तरवहेतुकर्मनिरोधत् ॥ १९७ ॥

भाषा—राजा और द्वैष के उत्पत्ति के विना छे जाने वाले श्राप से भाण्ड का नाश हो जाय तो उससे भाण्ड दिखाये, जो ( विवाहादि मंगलकार्य के ) प्रस्थान के समय विष्णु करे ( जाने दो कहकर न जाने ) उससे देन का दूना घन द्रिष्टाय ॥ १९७ ॥

प्रक्रान्ते सप्तमं मार्गं चतुर्थं पथि सत्यंजनम् ।

भृतिमर्षपथे सव्यां प्रदाप्यस्त्रयाजकोऽपि च ॥ १९८ ॥

१. च । २. उभयोरप्यशाठ्यं चेत्साप्ये कुर्यात्(यथाश्रुतम्)यथाश्रुतम् ।  
३. अराजद्विषाण्डे । ४. विष्णुकर्ता च । ५. सत्यंजेत् ।

किंच—प्रक्रान्ते अभ्यवसिते प्रस्थाने स्वाङ्गीकृत कर्म यस्त्वजति, अतो भूते सप्तम भाग दाप्य । नन्वत्रैव विषये 'प्रस्थानविभक्तम्' ( ध्य० १९७ ) इत्यादिना द्विगुणभृतिदानमुक्त इदानीं सप्तमो भाग इति विरोध । उच्यते,—भृत्पन्तरोपादानाद्यमरसमये स्वाङ्गीकृत कर्म यस्त्वजति तस्य सप्तमो विभाग । यस्तु प्रस्थानलप्रसमय एव त्यजति, तस्य द्विगुणभृतिदानमियविरोध । य पुन पथि प्रक्रान्ते यमने वर्तमाने सति कर्म त्यजति, स भूतेश्चतुर्थ भाग दाप्य । अर्धपथे पुन सर्वा भृतिं दाप्य । यस्तु त्याजक कर्मात्यजन्त श्राद्धपति स्वामी पूर्वोक्तप्रदेशेष्वसावपि पूर्वोक्तसप्तमभागादिक भृत्वाय दापनीय, एतन्वाग्याधितादिविषयम् । 'भार्योऽनार्तो न कुर्याद्यो र्धारस्वर्गं यथोचितम् । स लण्डव कृष्णला-यष्टौ न देय तस्य वेतनम् ॥' (८।२।५)—इति मनुवचनात् । यदा 'पुनर्वाधावपगतोऽन्तरितदिवसा-परिगणय्य पूरयति, तदा लभत एव वेतनम् । 'भार्तस्तु कुर्यात्स्वस्थ स-ययाभापितमादित । स दीर्घस्वापि कालस्य स्व लभेतैव वतनम् ॥' (८।२।६) इति मनुस्मरणात् ॥ यस्त्वपगत-याधि स्वस्थ एवालस्यादिना स्वस्वस्थ कर्मावपोन न करोति, परेण वा न समापयति, तस्मै वेतन न देयमिति । यथाह मनु (८।२।७)— यथोक्तमार्तं स्वस्थो वा यस्तस्वर्गं न कारयत् । न तस्य वेतन देयमवपोनस्यापि कर्मण ॥ इति ॥ १९८ ॥

भाषा—प्रस्थान के समय कार्य करक जो मार्ग में छोड़ दे तो उस भृत्प से वेतन का सातवां भाग ले और आधे मार्ग में कार्य छोड़ दे तो उससे सम्पूर्ण भूति दिलानी चाहिए और जो उससे काम छोड़वाता है उससे भी सारी भूति दिलावे ॥ १९८ ॥

इति वेतनादानप्रकरणम् ।

### अथ द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्य विवाद्यपदमधिक्रियते, तत्स्वरूपं नारदेनाभिहितम् ( १९।१ )— अक्षयवन्शलाकाक्षौदेवन जिज्ञासविसम् । पण्डीहावथोभिश्च पद द्यूतसमाह्वयम् ॥ इति । अक्षय पाशका, अक्षयशर्पटिका, शलाका दन्तादि मय्यो दीर्घचतुरस्रा, आद्य प्रहणा-च तुरङ्गादिस्त्रीहासापन करितुरङ्गरथादिक गृह्यते । तैरप्राणिभिर्षदेवन स्त्रीहा पणपूर्विका क्रियते । तथा यथोधि पक्षिभि कुचकुटपारावतादिभि च' श-दान्मल्लमेपमहिषादिभिरच प्राणिभिर्य पणपूर्विका स्त्रीहा क्रियते तदुभय यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयारथ विवादपदम् । द्यूत च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम् । उक्तु मनुना ( ९।२२३ )— अप्राणिभिर्यक्रियत सल्लोक द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञय समाह्वय ॥ इति ॥

१ ध्याप्याद्यपगमे । २ व्यवहारपदमधि । ३ अक्षयम् ।

तत्र घृतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—

गृह्णे शतिकवृद्धेस्तु सभिक पञ्चरुं शतम् ।

गृहीयाद् घूर्तकिनवादिनराद्दशकं शतम् ॥ १९९ ॥

परस्परसभतिपरवा कितवपरिकल्पित पणो गृह्ण ह्ययुच्यते । तत्र गृह्णे तदाग्रया शतिका क्षतपरिमिता तदधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिः, तस्माद् घूर्तकितवात्पञ्चक शतमारमवृत्तयश्च सभिको गृहीयात् । पञ्च पणा भाषो यस्मिन् शते सत् पञ्चक शतम् । 'तदस्मि-वृद्धवागलाभ—' ( पा० ५।१।-४७ ) इत्यादिना कम् । जितगृह्णस्य विंशतितम भाग गृहीयादित्यर्थः । सभा कितवनिवातार्थं वस्यास्त्वसौ सभिक । कल्पिताद्यादिनिखिलक्रीडोपकरणस्तद्गुणवित्तद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते । इतरस्मात्पुनरपि पूर्णशतिकवृद्धे त्रितया दशक शत जितद्रव्यस्य दशम भाग गृह्णावादिति यावत् ॥ १९९ ॥

भाषा—घुभा क खेल में घूर्त जुगारी ( जीतने वाले ) के घन में पँच प्रतिशत सभिक ( जुवा चलाने वाला ) छेव और दूसरों से दस प्रतिशत वसूल करे ॥ १९९ ॥

एव वल्लसवृत्तिना सभिकेन किं कर्तव्यमित्याह—

एत सम्यक्पातितो 'दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।

जितमुद्ग्राह्यज्जेने दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥ २०० ॥

ए एव वल्लसवृत्तिर्घृताधिकारी स राजा घूर्तकितवेभ्यो रक्षितरतसै राजे यथा सभतिपक्षमक्ष दद्यात्, तथा जित यद् द्रव्य तदुद्ग्राहयेत् यथाकृतमेना सेधादिना च पराजितसकाशादुद्धरेत् । उद्धृत्य च तद्धन जेने जयिने सभिको दद्यात् । तथा क्षमी भूत्वा सत्य वचो विश्वासार्थं घृतकारिणा दद्यात् । तदुक्त नारदेन ( १६।१ )—'सभिक कारयेद् घृत देय दद्यात्स सवृत्तम्' इति ॥ २०० ॥

भाषा—बह सभिक राजा द्वारा सत्पित होने पर उसे यथोचित अक्ष प्रदान करे और जीतने वाले को जीता हुआ घन दिलावे तथा जमाशील होकर दूसरे घृतकारों के विश्वास के लिये सत्य वचन देवे ॥ २०० ॥

यदा पुन सभिको दापवित्तु न शक्नोति, तदा राजा दापयदित्याह—

प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे घूर्तमण्डले ।

जितं ससभिके स्थाने दापयेद्वन्यथा नै तु ॥ २०१ ॥

१. भाग राजे दद्यात्तथाशुतम् । २. जितमुद्ग्राहयेज्जेने दद्यात्सत्यवचः क्षमी । ३. जित द्रव्यमुद्ग्राहयेत् । ४. प्राप्ते भागे च नृपति । ५. तु न ।

प्रसिद्धे अप्रसङ्गम्ने राजाध्यक्षसमन्विते ससभिके सभिकसहिते कितवस  
माजे सभिकेन च राजमाये दत्ते राजा धूर्तकितवमविप्रतिषन्न जित पण दाप-  
येत् । अन्यथा प्रसङ्गम्ने सभिकरहिते अदत्तराजभागे 'घूने जितपण जेत्रे न  
दापयेत् ॥ २०१ ॥

भाषा—राजा ( सभिक से ) अपना अज्ञ प्राप्त करने पर ज्ञात ( गुप्त  
नहीं अपितु राजा द्वारा सरक्षित ) घूतकरों के मण्डल में सभिक के निरीक्षण  
में जीता हुआ धन जोतने वाले को दिखावे अन्यथा ( सरक्षित घूतकरमण्डल  
न होने पर ) न दिखावे ॥ २०१ ॥

जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायमाह—

द्रष्टारो व्ययद्वाराणां साक्षिणश्च त एव हि ।

घूतव्यवहाराणां द्रष्टार सभवास्त एव किन्वा एव राज्ञा नियोक्तव्याः  
न तत्र 'श्रुताध्ययनसपत्ना' ( व्य० २ ) इत्यादिनिषेधमोऽस्ति । साक्षिणश्च घूते  
घूतकारा एव कार्या न तत्र 'स्त्रीषालवृद्धकितव-' ( व्य० ७० ) इत्यादि-  
निषेधोऽस्ति ॥—

कश्चिद्घूत निषेद्धु दण्डमाह—

राज्ञा संचिह्नं निर्वास्या कूटाक्षोपधिदेविन ॥ २०२ ॥

भूटैश्चादिरूपधिना च मतिवञ्जनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना ये दी-पन्ति  
ताम् अपदादिनाऽऽख्यावा राजा स्वराष्ट्रातिनिषेधेत् । नारदेन तु निर्वासने  
विशेष उक्त ( १६।६ )—'कूटाक्षदेविन पापान् राजा राष्ट्राङ्घ्रिवासयेत् ।  
कण्ठेऽक्षमालामासत्र्य स ह्येषां विनय स्मृत ॥' इति । यादि च मनुवचनानि  
घूमनिषेधपराणि ( मनु १।२२४ )—'घूत समाह्वय चैव य कुर्वात् कारयेत्  
वा । ताप्तर्षा-वातघेद्राजा शुद्राश्च द्विजलिङ्गिन ॥' इत्यादीनि, तास्यपि कूटा  
क्षदेवनविषयतया राजाध्यक्षसभिकरहितघूतविषयतया च घोऽप्यानि ॥ २०२ ॥

भाषा—जुष्ट के व्यवहार को देखने वाले एव साक्षी के ही ( घूमकर ही )  
होते हैं । कपटपूर्वक ( मणि, मन्त्र, औषध आदि से ) जुभा खेड़ने वाले को  
कुत्ते के पजे आदि चिह्न से दायकर राज्य से निर्वासित कर देवे ॥ २०२ ॥

घूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ।

किंच, परपूर्वक घूत तदेकमुख एक मुख प्रधान यस्य घूमरय तत्तथोक्त  
कार्यम्, राजाध्यक्षाधिष्ठित राजा कारविनव्यभिरप्यर्थं, तस्करज्ञानकारणात् ।

तस्करज्ञानरूप प्रयोजन पर्यालोच्य प्रायश्चर्यायांजितघना एव कित्वा भवन्ति,  
अतश्चौरविज्ञानार्थमेकमुक्तं कार्यम् ॥—

घृतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशद्वाह—

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिघृते समाह्वये ॥ २०३ ॥

‘गृहे शतिकघृतेः’ ( ७५० १९९ ) इत्यादिना यो घृतधर्म उक्त, स एव  
प्राणिघृते महलमेपमहिषादिनिर्वृत्यं समाह्वयसङ्के ज्ञातव्य ॥ २०३ ॥

भाषा—चोरों के पहिचान के लिये एक व्यक्ति को घृत का प्रधान  
( अध्यक्ष ) नियुक्त कर देना चाहिए । प्राणिघृत ( पहलवान, भेंडा, भैंसा  
आदि को लड़ाकर खेले जाने वाले जुए ) में भी यो नियम समझने चाहिए ॥

इति घृतसमाह्वयाख्य प्रकरणम् ।

अथ वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

इदानीं वाक्पारुष्य प्रस्तुयते तत्कलक्षणं चोक्तं नारदेन ( १५११ )— दश-  
जातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसयुतम् । यद्ब्रूवति प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥  
इति । देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसयुतम् । उच्यतेर्भाषणमाक्रोशं, न्यङ्गमवद्यं तदु-  
च्यते यत्प्रतिकूलार्थंमुद्गेगजननार्थं वाक्पारुष्यं उच्यते । तत्र ‘कलह-  
मिवा सल्लु गौडा’ इति देशाक्रोशः । ‘मितान्तं लोलुपां सल्लु विमा’ इति  
जात्याक्रोशः । ‘मूरुचरिता ननु वैश्वामित्रा’ इति कुलाक्षेपः । आदिप्रहणाख्य-  
विद्यादिश्रुतिनिन्दया विद्वन्निन्दैत्पादिपुरपाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारत-  
म्यार्थं निष्टुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तत्कलक्षणं तत्रैवोक्तम् ( १५१२ )—  
‘निष्टुरारलीलतीम वादपि तस्त्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्तमात्तर्यं दण्डोऽपि  
स्यात्क्रमाद् गुरु ॥ साक्षेप निष्टुरः शैवमरलील न्यङ्गसयुतम् । पतनीचैरुपाक्रोशै-  
स्तीक्ष्णमाहुर्मनीषिणः ॥ इति । तत्र ‘धिद्मूर्त्तं जाह्नमिस्वयादि साक्षेपम् । अत्र  
न्यङ्गमित्यमभ्यम् । अवद्य भगि यादिगमनं तलुक्तमरलीलम् । सुरापोऽमीत्वा-  
दिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीक्ष्णम् ॥

तत्र निष्टुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डमाह—

सत्यासत्या-यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।

क्षेपं करोति चेदण्ड्य एणानर्धं त्रयोदशान् ॥ २०४ ॥

न्यूनाङ्गा करधरणादिविकला, न्यूनन्द्रिया नत्रधारादिरहिता, रोगिणो  
दुश्चर्मप्रभृतयः, तेषां सरयनासत्याना-यथास्तोत्रेण च निन्दार्थं वा स्तुत्या ।

१ सल्लु लोलुपा । २ शिल्पादि । ३ धिद्मूर्त्तं जाह्नमस्वमि यादि ।

४ त्रयोदश ।

यत्र नेत्रयुगलहीन दृष्योऽन्व दृश्युष्यते तरलस्यम् । यत्र पुनश्चक्षुष्मानेर्वा-  
 दृश्युष्यते तदमस्यम् । यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमपीत्युष्यते तदन्य  
 धास्तोत्रम् । एवविधयं चेष निर्भर्त्सनं करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान्दण्ड-  
 नीय । ( मनु ८।२७४ )—'वाण वाऽन्यथा स्रजमन्य वाऽपि तथाविधम् ।  
 सध्वेनापि द्रुवन्दायो दण्ड कार्पाषणावरम् ॥' इति य-मनुवचन, तदतिदुर्वृत्तव-  
 र्णविषयम् । यदा पुन पुत्रादयो मात्रादीन् क्षपन्ति तदा शत दण्डनीया इति  
 तेनैवोक्तम् । ( मनु ८।२७५ )—'मातर पित्र जाया आतर शशुर गुरुम् ।  
 आहारयन्शत दास्य पम्धान चाद्वद् गुरो ॥' इति । एतच्च सापराधेषु माप्रादिषु  
 गुरो निरपराधाया च जायायां द्रष्टव्यम् ॥ २०४ ॥

भाषा—जो किसी विकलेन्द्रिय और रोगी आदि को सखे या झूठ ही  
 निन्दापरक वचनों से आक्षेप करता है तो उससे सादे सैह पण दण्ड लेना  
 चाहिये ॥ २०४ ॥

अश्लीलाक्षेपे दण्डमाह—

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तयेति हं ।  
 क्षपन्तं दापयेद्भ्राजा पञ्चविंशतिकं दमम् ॥ २०५ ॥

'एदीयां भगिनीं मातर वा अभिगन्तास्मि' इति क्षपन्त अर्थां वा 'ए  
 जायामभिगन्ताऽस्मि' इत्येष क्षपन्त राजा पञ्चविंशतिक पणाना पञ्चाधिका  
 विंशतिर्धिमन्दुके च तथोक्तस्त दम दापयेत् ॥ २०५ ॥

भाषा—'तुम्हारी बहन वा माँ का मैं अभिगन्ता ( जाँ ) हूँ' इम प्रकार  
 का वचन कहकर गाली देने वाले से राजा पञ्चीस पण दण्ड ले ॥ २०५ ॥

एव समानगुणेषु वणिषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्ड प्रतिपादयि  
 सुमाह—

अर्धोऽधमेषु द्विगुण परस्त्रीपूत्तमेषु च ।

अधमेष्वाक्षेप्रपेक्षया न्यूनवृत्तादिगुणेष्वर्धो दण्ड । पूर्वेषावपे पञ्चविं  
 शते प्रकृतत्वात्तदपेक्षयार्धं सार्धद्वादशपणात्मको द्रष्टव्य । परभार्यासु पुनर-  
 विदापेन द्विगुण पञ्चविंशत्यपेक्षयैव पञ्चादासपणात्मको वेदितव्य । तथोक्त  
 मेषु च स्वापेक्षयाधिकश्रुतवृत्तेषु दण्ड पञ्चासपणात्मक एव ॥

वर्णाना मूर्धावसिकादीना च परस्परक्षेपे दण्डकल्पनामाह—

दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरे ॥ २०६ ॥

वर्णां ब्राह्मणादयः, जातयो मूर्धावसिक्ताः । वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः । उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः, वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः, ते वर्णजात्युत्तराधरैः परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे दण्डस्य प्रणयनं प्रकृत्येण नयनमूहनं वदितव्यम् । तच्च दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति विशेषेणोपादानादुत्तराधरभाषावेत्येव कर्तव्यमित्यवगम्यते । यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणाद्धीनं चत्रियादुत्तराधरं चाक्रुर्य ब्राह्मणः चत्रियाक्षेपनिमित्तात्पञ्चादात्पञ्चदण्डार्कधित्थिकं पञ्चसप्तऋतमकं दण्डमर्हति, चत्रियोऽपि तमाक्रुर्य ब्राह्मणाक्षेपनिमित्तात्तदण्डोद्धूतपञ्चमसतिमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताऽपि तावाक्रुर्य तमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताऽप्यष्टयो परस्पराक्षेपे ब्राह्मणचत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ । एवमन्यथाप्यूहनीयम् ॥ २०६ ॥

भाषा—हीन वर्ण की स्त्रियों के विषय में ऐसी गाली देने पर उपरोक्त दण्ड धाधा होता है और उत्तम वर्ण की परस्त्री के लिय कहने पर दूना होता है । इसी प्रकार वर्ण और जाति की उत्पत्ति एवं निम्नता का विचार करके दण्ड देना चाहिए ॥ २०६ ॥

एव सर्वणविषये दण्डमभिधाप्य वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह—

प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा द्वा ।

वर्णानामानुलोम्येन तस्माद्वार्धहानित ॥ २०७ ॥

अपवादा अधिक्षेपाः । प्रातिलोम्येनापवादा प्रातिलोम्यापवादा, तेषु ब्राह्मणाक्रोशकारिणो चत्रियवैश्ययोर्वधाक्रमेण पूर्ववारवाद् द्विगुणपतोपाप्तपञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणा शतपणा, त्रिगुणा सार्धशतपणा दण्डा वदितव्याः । शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे तादृशं त्रिहोत्रेण वा भवति यथाह मनु ( ८।१६७ )—‘शतं ब्राह्मणमाक्रुर्य चत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु षधमर्हति ॥’ इति, किंशूद्रयोरपि चत्रियादनन्तरेका-तरयोरस्तुष्यम्यापतया शतमप्यर्धशतं च यथाक्रमेण चत्रियाक्रोशे वदितव्यम् । शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम् । आनुलोम्येन तु वर्णानां चत्रियविद्विज्जाणा ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद्ब्राह्मणाक्रोशनिमित्तात्तदपरिमितात्चत्रियदण्डात्प्रतिवर्णमधरयाप्येव हानिं कृत्वावशिष्टं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः । तदुक्तं मनुना ( ८।२६८ )—‘पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः चत्रियस्याभिज्ञानतः । वैश्ये

१ विशेषोपादानात् । २ दण्डाद्धीनः । ३ सर्ववर्णः । ४ प्रतिलोमापवादेषु । ५ वर्णानामानुलोम्येन तस्माद्वार्धहानितः । ६ पञ्चविंशत्यर्धद्वादशः । ७ वैश्यस्य सार्धपञ्चाशत् ।



स्यादर्धपञ्चाशच्छब्दे द्वादशको दम ॥' इति ॥ चत्रियेण वैश्ये शूद्रे वामुष्टे यथा क्रम पञ्च शतपञ्चविंशतिकी दमौ । वैश्यस्य च शूद्राङ्कोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम्, 'ब्राह्मणराजन्यवरचत्रियवैश्ययो' ( १२।२४ ) इति गौतमस्मरणात् ।— विटशूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः' इति ( ८।२७७ ) मनुस्मरणाच्च ॥ २०७ ॥

भाषा—बर्णों की प्रतिबलमता से दोष लगाने पर ( अर्थात् जब छोटी जाति वाला बड़ी जाति वाले को दाप लगावे तो ) दूना, तिगुना दण्ड होता है और बर्णों की अनुबलमता से ( बड़ी जाति वाले पर मिथ्या आरोप लगावे तो ) बर्णानुसार दण्ड भाषा कम होता जाता है ॥ २०७ ॥

पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह—

बाहुग्रीयानेत्रसकियविनाशे याचिके दम ।

शक्त्यस्तदधिक पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥

बाह्यादीनां प्रत्येक विनाशे याचिक वाचा प्रतिपादिते 'तत्र बाहु द्विनत्रि' इत्येषरूपे दाम्य शतपरिमितो दण्डो वेदितव्यः । पादनासाकर्णकरादिषु 'आदि'प्रहणादिकगादिषु याचिके विनाशे तदधिक तस्य शतस्थार्धं तदर्धं तद्यथास्यसौ तदधिक पञ्चाशत्पणिको दण्डो वेदितव्यः ॥ २०८ ॥

भाषा—बाहु, गर्दन भौल, हड्डी तोड़ने की धमकी देने परा सौ पण और पैर नाक कान और हाथ आदि तोड़ने की धमकी देने पर उसका भाषा अर्थात् पचास पण दण्ड होता है ॥ २०८ ॥

अशक्तस्तु यदर्धेयं दण्डनीयं पणान्दश ।

तथा शक्त प्रतिभुयं दाम्य क्षेमाय तस्य तु ॥ २०९ ॥

किंच, य पुनर्ज्वरादिना क्षीणशक्ति स्वहाहावहमङ्ग करोमि' इत्येष शतस्थसौ दश पणा दण्डनीयः । य पुन समर्थ क्षीणशक्ति पूर्ववदादिपायसौ पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकाल तस्वाशक्तस्य क्षेमार्थं प्रतिभुव दापनीयः ॥ २०९ ॥

भाषा—यदि अशक्त ( ज्वरादि से क्षीण शक्ति वाला ) इस प्रकार का वचन बोले तो उसे दस पण का दण्ड देना चाहिए और यदि शक्तिशाली व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति से ऐसा वचन कहे तो उससे सौ पण दण्ड लेवे और उस ( दुर्बल व्यक्ति ) की रक्षा के लिये उससे प्रतिभू ( जामिन ) उपस्थित करावे ॥ २०९ ॥

तीयाश्रोत्रो दण्डमाह—

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ।

उपपातकयुक्ते तु दाम्य प्रथमसाहसम् ॥ २१० ॥

पातिरपहेतुनिर्घ्नहृत्वादिभिर्वणिर्नामाद्ये कृते मध्यमसाहस दण्ड ।  
उपपातकस्युक्ते पुन 'गोमनस्त्वमसि' इत्येवमादिरूपे चेषे प्रथमसाहस  
दण्डनीय ॥ २१० ॥

भाषा—धो ऐसा ( प्रह्लादस्यादि ) मिथ्या आरोप लगावे जिससे पतित  
होने की सम्भावना हो तो मध्यम साहस का दण्ड और उपपातक ( गोवध  
आदि का दोष ) लगाने पर प्रथम ( अधम ) साहस का दण्ड देना चाहिए ॥

त्रैविद्यनृपदेशानां क्षेप उत्तमसाहसः ।

मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयो ॥ २११ ॥

किंच, त्रैविद्या वेदत्रयसपञ्चास्तेषा राज्ञा देवाना च क्षेपे उत्तमसाहसो  
दण्ड । ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीना पूगा सधास्तेषामाक्षेपे मध्यम-  
साहसो दण्ड । ग्रामदेशयो प्रत्यकमाक्षेपे प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्य ॥ २११ ॥

भाषा—तीनों वेदों के विद्वानों राजा और देवताओं पर आक्षेप करने  
से उत्तम साहस का दण्ड होता है । जाति, पूग ( सभ ) के आक्षेप में  
मध्यम साहस का और ग्राम तथा देश के आक्षेप में प्रथम साहस का  
दण्ड होता है ॥ २११ ॥

इति याज्ञवल्क्येणानाम विवाद्यपदप्रकरणम् ।

अथ दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९

समति दण्डपारुष्य प्रस्तुपते तस्यरूप य नारदेनोक्तम् ( १५४ )—'परगा  
त्रैव्यभिर्गोहे हस्तपादायुष्मादिभिः । भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥'  
इति । परगात्रेषु रथायुष्मत्प्रमात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुष्मैरादिग्रहणाद् प्राणादिभिर्घो-  
उभिर्गोहो हिसन दु खोत्पादन तथा भस्मना भादिग्रहणाद्गम पङ्कपुरीषाद्यैश्च य  
उपघात तस्यैवैवमनरुप मनोदु खोत्पादन तदुभय दण्डशरूपम् । दण्डप्रत्येकननि  
दण्डो वैय , तेन पर्यारुष्य विकृष्टाचरण अङ्गमादेर्द्वयस्य तदण्डपार यम् । तस्य  
चावगोरणादिकारणभेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोत्तमद्रव्यरूपकर्मत्रैविष्या  
युगलंविष्य तेनैवोक्तम् ( १५५ ६ )—'तेस्वापि दष्ट त्रैविष्य हीनमध्योत्तमक-  
मात् । अत्रगोरानि सैद्धान्तनक्षत्रदर्शनम् ॥ हानमध्योत्तमाना च द्रव्याणा समति  
क्रमात् । आयुष्य साहसा-वाहुस्तत्र दण्डकशोधनम् ॥' इति । नि सैद्धान्तन  
नि दण्डप्रहरणम् । त्रैविष्येव साहसानि त्रिप्रकाराण्येव । सहसा कृतानि दण्ड

१ घर्णनामाक्षेपे । २ सन्धे सु । ३ जातिरूपाणाः । ४ परण-  
भेदेन । ५ तस्योपदष्ट । ६ नि सैद्धान्तन ।

पारुष्याणीत्यर्थः । तथा वाग्दण्डपारुष्ययोश्चमयोरपि द्वयोः प्रवृत्तकलहयोर्मध्ये यः क्षमते न केवलं तस्य दण्डाभावः, किंतु पूज्य एव । तथा पूर्वं कलहे प्रवृत्तस्य दण्डगुरुत्वम् । कलहे च बद्धवैरानुमन्धातुरेव दण्डभाक्त्वम् । तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषापरिज्ञाने दण्डः समः । तथा शपचादिभिरार्याणामपराधे कृते सज्जना एव दण्डदापनेऽधिकारिणः तेषामशक्त्यत्वे तान् राज्ञा घातयेदेव नार्थं गृहीयादित्येव पञ्च प्रकाराः त्रिघयस्तेनैवोक्ता ( भा० १५१७ )—'विधिः पञ्चविधस्तूकपुनयोश्चमयोरपि । पारुष्ये सति सरम्भादुत्पन्ने क्रुद्धयोर्द्वयोः ॥ स मन्वते यः क्षमते दण्डभायोऽतिवर्तते । पूर्वमाचारयेद्यस्तु निवृतस्याःश दोषभाक् ॥ पश्चाद्यसोऽप्यमरकारी पूर्वं तु विनयो गुरुः । द्वयोरापन्नयोस्तु ह्यमनुबन्नाति यः पुनः ॥ स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वं वा यदि वैतरः । पारुष्यदोषादुत्तयोर्दुर्गुणपरसप्रवृत्तयोः ॥ विशेषश्चेन्न लभ्येत विनयः श्यासत्समस्तयोः । श्वपाकपण्डचण्डालभ्रष्ट्रेषु घघट्टितेषु ॥ हस्तिपत्न्याश्वत्सेषु गुर्वाचार्यगृहेषु च । मर्दादातिक्रमे सद्यो घातः प्रवृत्तुयात्समम् ॥ यमेव ह्यतिवर्तेरनेते सन्त जघन्युः । स एव विनयः कुर्यान्न विनयभाडनूपः ॥ मला ह्यते मनुष्याणां यनमेवां मकारसकम् । अतस्ता घातयेन्नामा नार्थदण्डेन दण्डयत् ॥' ( १५१९, १०, ११, १२ ) इति ॥

पुनभूतदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकस्यादण्डप्रणयनस्य तस्वरूपसदेहे निर्णयहेतुमाह—

असाक्षिकद्वये चिद्वैर्युक्तिभिर्भागमेन च ।

द्रष्टव्यो व्ययहारस्तु कूटचिह्नकृतो भयात् ॥ २१२ ॥

यदा कश्चित् रहस्यहरनेन हतः इति शब्दे निवेदयति, तदा चिद्वैर्युक्तिं विस्तररूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया भागमेन जनप्रवादेन च शब्दाद्विश्वेन वा कूटचिह्नकृतसमाधनाभयात्परीचा कार्या ॥ २१२ ॥

भाषा—जो बिना साक्षी उपस्थित किये हुए किसी पर एकात्म में मारने पीटने का अभियोग लगाता है तो चिह्नो, युक्ति ( कारण, प्रयोजन और पर्यालोचन ) और आशय द्वारा उसकी परीचा करे कारण झूठे ( चोड़के ) चिह्न बना लेने की भी शक्ता रहती है ॥ २१२ ॥

एव निश्चिते साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह—

भस्मपङ्कजस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः ।

अमेव्यपाप्मिनिष्ठथूतस्पर्शने द्विगुणस्ततः ॥ २१३ ॥

१ कुर्यात् न तद्विनयभाक् । २ असाक्षिके दृते । ३ कृतादृते । कृतादृशत् । ४ चिद्वैर्युक्तादि । ५ द्विगुण स्मृतः ।

समेधेयं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च ।

हीनेष्वर्धदमो मोहमदादिमिरदण्डनम् ॥ २१४ ॥

भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दण्डपणं दण्डं दाम्यः ।  
अमेधमिति अद्यश्लेष्मनस्त्रकेतकण्विट्पिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते । पार्थिवः  
पादस्य पश्चिमो भागः, निष्ठयूतं मुचनिःसारित जलम्, तैः स्पर्शने ततः पूर्वाहण-  
पणाद् द्विगुणो द्विगुणो द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ गुरीपादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन  
विशेष उक्तः—‘उर्दिभूत्पुरीपाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः । पद्गुणः कायमध्ये  
स्याभूमिनि स्वष्टगुणः स्मृतः ॥’ इति । ‘आद्य’ग्रहणाद्दशाशुकासृज्जानो गृह्यन्ते ।  
एवंभूतः पूर्वोक्तो दण्डः स्वर्णविषये दण्डव्यः । परभार्यासु चाविशेषः । तद्योचनेषु  
स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतश्रुतेषु पूर्वोक्ताहणपणाद्विगुणपणाश्च दण्डाद् द्विगुणो दण्डो  
वेदितव्यः । हीनेषु स्वापेक्षया न्यूनश्रुतश्रुतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो  
दण्डपणश्च वेदितव्यः । मोहश्रुतवैरुष्यम्, मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः ।  
‘आदि’ग्रहणाद् दशाशुकादिकम् । एतैर्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न  
कर्तव्यः ॥ २१३-२१४ ॥

भाषा—भस्म, कीचद् और धूल फेंकने पर इस पण का दण्ड होता है अमेध ( शरीर के विकार और जूठा भोजन ) फेंकने पर पूर्वो से मारने पर और धूल फकने पर उससे दूना अर्थात् बीस पण दण्ड होता है । ये दण्ड समान वर्ण के व्यक्ति पर भस्म आदि फेंकने पर ही होते हैं । परस्त्री और उत्तम जाति के व्यक्ति को भस्मादि फेंककर पीड़ित करने पर दूना दण्ड होता है और अपनी अवस्था निम्नतर वर्ण एवं वृत्ति वाले को इस प्रकार पीड़ित करने पर आधा दण्ड होता है । मोह ( भूल ) और मदपान के कारण ऐसा अपराध करे तो दण्ड का भागी नहीं होता ॥ २१३-२१४ ॥

मातिलोभ्यापराधे दण्डमाह—

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमग्राहणस्य तु ।

उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥

ग्राहणानां पीडाकरमग्राहणस्य चत्विषादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेत्तव्यम् ।  
चत्विषवैश्वयोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव । ( मनुः ८।१७० )—  
‘येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य सन्मनोरनु-  
शासनम् ॥’ इति । द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्वैश्वस्यापि

१ दमः प्रोक्तो मदादिभिः । २ न्यूनश्रुतादिषु । ३. च्चेच्छ्रेष्ठ-  
मन्यजः—मनुः ।

अत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डः ; तुर्यन्यायात्वात् । उद्गूर्णे अघार्थमुच्यते शस्त्रादिके प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः । शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव, ( ८।२८० )—‘पाणिमुच्यते दण्ड वा पाणिच्छेदनमर्हति’ इति मनुस्मरणात् ॥ उद्गूरणार्थं शस्त्रादिरपार्थने ॥ तदर्धिकं प्रथमसाहसादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ मस्मादिसर्वेषां पुन अत्रियवैश्ययो ‘प्रातिलोम्बापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमा’ ( २५० २०७ ) इति वाक्पाठयोक्त-यायेन कल्प्यम् । शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव । ( ८।२८२ )—‘अवनिच्छेदतो र्वाद्वा द्वाकोष्ठौ छेदयेज्युः । अवमूर्जयतो मेढूमवशर्धयतो गुदम् ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ २१५ ॥

भाषा—माहान को पीड़ा देने वाला यदि अघाहान ( अत्रिय भादि ) हो तो उस अग को ( जिससे उसने पीड़ा पहुँचाई हो ) काट डालना चाहिए । मारने के लिये शस्त्र उठाने पर प्रथम साहस का दण्ड होता है और शस्त्र छूकर छोड़ देने वाले को उसका ( प्रथम साहस का ) भाधा दण्ड मिलना है ॥ २१५ ॥

एव प्रातिलोम्बापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकृत्याह—

उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ ।

परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥ २१६ ॥

हरते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णे अघाहान दशपणो विंशतिपणस्य दण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थं शस्त्रे उद्गूर्णे सर्वेषां वर्णिना मध्यमसाहसो दण्डः ॥

( परस्पर अपने समान जाति वाले को ) मारने के लिये हाथ और पैर उठाने पर दश पण और बीस पण और शस्त्र उठाने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २१६ ॥

पादकेशांशुककर्षोऽस्तुञ्जनेषु पणान्दश ।

पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ॥ २१७ ॥

किंच, पादकेशवस्त्रकराणामन्यतम गृहीत्वा य उल्लुम्बति स्तटिपार्षयति अस्ती दशपणान्दण्डस्य । पीडा च कर्षांशुकावेष्टस्य पादाध्यासस्य पीडाकर्षांशु कावेष्टपादाध्यास तस्मिन्समुच्चिते शत दण्डस्य । एतदुक्तं भवति—एशुकै- नावेष्टय गाढमापीठ्याकृत्य च य पादेन घट्टयति, त शत पणान्दोषयेदिति ॥

भाषा—पैर, केश, बस्त्र और हाथ पकड़कर घलपूर्वक खींचने में दश पण दण्ड होता है और जो पीड़ा पहुँचाते हुए, बस्त्र ॥ खींचकर, पैर से मारे उस पर सौ पण का दण्ड लगता है ॥ २१७ ॥

१ वर्णानां । २ करालुञ्जनेषु । ३ पीडाकर्षाञ्जनावेष्टय । ४ दम येदिति ।

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन्नाप्रादिभिर्नरः ।

द्वात्रिंशत् पणान्दण्डयो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥ २१८ ॥

किं च । यः पुनः शोणितं यथा न दृश्यते तथा सृद्रुतादनं पाण्डुलोटादिभिः  
करोत्यसौ द्वात्रिंशत् पणान्दण्डयः ॥ यदा पुनर्गाढतादनेन लोहितं दृश्यते तदा  
द्वात्रिंशत् द्विगुणं चतुःपष्टिपणान्दण्डनीयः । ३। त्वद्यांसास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना  
दर्शितः ( ८।२८५ )—'स्वभेदकः ज्ञतं दण्डयो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेदा  
यः यन्निकाग्रधारस्वस्थिभेदकः ॥' इति ॥ २१८ ॥

भाषा—यदि कोई व्यक्ति लकड़ी आदि से मार कर बिना रुधिर निकाले  
दुःख पहुँचाता है तो बत्तीस पण दण्ड होता है और रुधिर दिखाई पड़ने  
पर उसके दूना दण्ड होता है ॥ २१८ ॥

करपावर्द्धसो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः ।

मध्यो दण्डो मणोज्ञेदे सृतकरूपहते तथा ॥ २१९ ॥

किं च, करपावर्द्धस्य प्रत्येकं भङ्गे कर्णनासस्य च प्रत्येकं छेदने लठमग-  
स्योद्भेदने सृतकरूपो यथा भवति तथा हते ताडिते मध्यमसाहसो वैदितव्यः ।  
अनुपस्थादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम् ॥ २१९ ॥

भाषा—हाथ, पैर, और दाँत तोड़ने पर, काम और चाक काटने पर,  
फोड़ा कुचल देने पर तथा मारते-मारते भधमरा कर देने पर मध्यमसाहस का  
दण्ड होता है ॥ २१९ ॥

चेष्टाभोजनघात्रांघ्रे नेत्रादिप्रतिभेदने ।

कन्धरायाहुसंघर्षनां च भङ्गे मध्यमसाहसः ॥ २२० ॥

किं च, गमनभोजनभाषणनिरोधे नेत्रस्य 'आदि' ग्रहणाजिह्वापाश्र्व प्रति-  
भेदने । कन्धरा ग्रीवा, याहुः प्रतिघ्नः, सन्धि ऊरुस्तेषां प्रत्येकं भङ्गने मध्य-  
मसाहसो दण्डः ॥ २२० ॥

भाषा—चलना, भोजन और बोलना रोक देनेपर, भौत आदि ( जिह्वा  
भी ) फोड़ने या काटने पर, ग्रीवा, बाँह और जंघा तोड़ने पर मध्यमसाहस  
का दण्ड होता है ॥ २२० ॥

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद् द्विगुणो दमः ।

अपि च, यदा पुनर्यदयो मिलिता एकरथाद्भङ्गादिकं कुर्वन्ति, तदा  
यस्मिन्पस्मिन् अपराधे यो यो दण्ड उच्यते तस्माद् द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं

१. पीडां । २. पणान्दाण्डो । ३. मांसास्थिविभेदे । ४. दन्तभङ्गे ।  
५. सव्यपदिप्रभङ्गे । ६. उत्तमसाहसः ।

वेदिनस्य । भतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोम्यानुलोम्यापराधघोरत्वेनस्यैव सर्वगविय  
येऽभिहितस्य दण्डजातस्य चावपारुष्योक्तवमेव हानि वृद्धि च कल्पयेत् ;  
'वावपारुष्ये यं पृथोक्तं प्रातिलोम्यानुलोमत । स एव दण्डपारुष्ये दाप्यो राज्ञा  
यथाक्रमम् ॥' इति स्मरणात् ॥—

कलहापहतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्तत ॥ २२२ ॥

किंच, कलहे वर्तमाने यत्नोपहत तत्तेन प्रत्यर्पणीयम् । अपहतद्रव्याद् द्वि-  
गुणस्यापहारनिमित्तो दण्डो देय ॥ २२१ ॥

भाषा—बहुत से व्यक्ति मिलकर यदि एक व्यक्ति को मारे पाट तो  
जिस जिस अपराध का जो जो दण्ड कहा गया है उसका दुगुना दण्ड देना  
चाहिए । कलह में ली हुई वस्तु लौचानी चाहिए और उसका दूना  
दण्ड देना चाहिए ॥ २२१ ॥

दु स्रमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम् ।

दाप्यो दण्डं च या यस्मिंश्कलहे समुदाहृत ॥ २२२ ॥

किंच, यो यस्य ताडनाद्दु स्रमुत्पादयेत्स तस्य मगरोपणादौ भीषणार्थं  
पष्टवार्थं च यो व्ययं क्रियते स दद्यात् । समुत्थान मगरोपणम् । यस्मिंश्क-  
लहे यो दण्डस्त च दद्यात् , न पुन समुत्थानत्रव्ययमात्रम् ॥ २२२ ॥

भाषा—जो किसी को मारपीट कर चोट पहुँचाने वह उसकी दवा और  
पथ्य में लगे हुए व्यय को भी चुकता करे । और जिस कलह में जो दण्ड कहा  
गया है वह दण्ड उस व्यक्ति को देना चाहिए ॥ २२२ ॥

परगात्राभिज्ञोहे दण्डमुत्थानगतर बहिरद्वार्यनागे दण्डमाह—

अभिघाते तथा चेद्दे भेदे कुडवायपातने ।

पणान्दाप्य पञ्च दश विंशतिं तद्द्वयं तथा ॥ २२३ ॥

मुद्रादिना कुडवस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रम पञ्चदशो  
दण्डपणो विंशतिपणश्च दण्डो वदितव्य । भवपातने पुन कुडवस्यैते  
प्रथो दण्डा संगुञ्चिता प्राप्या पुन कुडवमवादनाथं च पत्र स्वामिने  
दद्यत् ॥ २२३ ॥

भाषा—मुद्रर आदि से दीवळ को फेड़न, छेद करने और गिराने  
पर प्रथम पाँच, दस और बीस पण दण्ड तथा उसको बनवाने का व्यय  
( हानि पहुँचाने वाला से ) दिलाया चाहिए ॥ २२३ ॥

१ पराधेऽप्येतस्यैव । २ य पृथोक्तं प्रातिलोमानुलोमत । स एव  
दण्डपारुष्ये राज्ञा कर्षो यथाक्रमम् । ३ स्तया । ४ त्यागधनप्रथम् ।  
५ दण्डश्च । ६ द्वैधीकरणे । ७ समविना ।

दु खोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ।

पोटशाद्यं पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥ २२४ ॥

अपि च, परगृहे दु सजनक कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन्पोटशापणा-दण्डव्य ।  
प्राणहर पुनर्विपभुज्जादिक प्रक्षिपन्मध्यमसाहस दण्डव्य ॥ २२४ ॥

भाषा—दूसरे के घर में दु स उरपन्न करने वाले ( कण्टक आदि )  
और ( विप, सर्प आदि ) प्राण लेने वाले द्रव्य या जीव फेंकने वाले में पहले  
सोलह पण ॥ २२४ ॥

पक्षभिद्रोहे दण्डमाह—

दु से च शोणितोत्पादे शाखाहच्छेदने तथा ।

दण्ड क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभृतिं क्रमात् ॥ २२५ ॥

सुद्राणां पशूनां अजाविकहरिणप्रायानां ताडनेन दु खोत्पादने असुरस्रा-  
वणे शाखाहच्छेदने । 'शाखा' वादनेन चात्र प्राणसंचाररहित शृङ्गादिक  
रक्षयते । अङ्गानि करचरणप्रभृतीनि, शाखा आह च शाखाह तस्य छेदने  
द्विपणप्रभृतिर्दण्ड । द्वौ पणौ बहव्य दण्डस्य स द्विपण । द्विपण प्रभृतिरा  
द्विर्दण्डव्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभृति । स च दण्डगणा द्विपणश्चतुष्पण पदुप-  
णोऽष्टपण इत्येवमेषो न पुनर्द्विपणस्त्रिपणश्चतुष्पण पञ्चपण इति । कथमिति  
चेदुच्यते ? अपराधगुरुत्वात्तावत्प्रथमदण्डाद् गुरुतरमुपरितन दण्डत्रिगणमपगत्यते ।  
तत्र चाश्रुतत्रिवादिस्वयमाश्रयणाद्धर भुतिहिसवयाया एवाश्रयासाश्रयणेन गुरु  
त्वसपादनमिति निरवयम् ॥ २२५ ॥

भाषा—घकरी, भेंड़, हरिण जैसे सुद्र पशुओं को मारकर हथिर  
निकाटने, और सींग आदि निर्जाति अंग काटने पर क्रमश दो, चार, छ और  
आठ पण दण्ड होता है ॥ २२५ ॥

लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ।

महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दम ॥ २२६ ॥

क्षिप्त, तेषां सुद्रपशूनां लिङ्गछेदने मरने च मध्यमसाहसो दण्ड ।  
स्वामिने च मूल्य दद्यात् । महापशूनां पुनर्गोमूत्रवाज्रिपशूतीनामेतेषु स्था-  
नेषु ताडनलोहित<sup>१</sup>स्त्रावणादिषु विमित्तेषु पूर्वोक्तादण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदि  
तस्य ॥ २२६ ॥

भाषा—उन सुद्र पशुओं का लिङ्ग काटने और उ हें मार डालने पर  
मध्यम साहस का दण्ड होता है और पशु का मूल्य भी देना होता है यदि



नाथ, हाथी, घोड़ा जैसे बड़े पशु हों तो इन स्थानों पर थोटा पहुँचाने पर पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड समझना चाहिए ॥ २२६ ॥

स्थावराभिद्रोहे दण्डमाह—

प्ररोहिशास्त्रिणां शास्त्रास्कन्धसर्वविदारणे ।

उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दम ॥ २२७ ॥

प्ररोहा अद्भुतस्तद्वत् ज्ञाना प्ररोहिष्य, यारिद्ध्या पुनस्तथा प्रतिकण्ड प्ररोहन्ति सा ज्ञाना येषां वटादीनां ते प्ररोहिशास्त्रिन, तेषां शास्त्राच्छेदने, यतो मूलकारण निर्गच्छन्ति स स्कन्ध, तस्य छेदने, समूलवृक्षच्छेदने च यथाक्रम विंशतिर्षणदण्डादारम्य पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्दुत्तरोत्तरो दण्डो द्विगुण । एतदुक्तं भवति—विंशतिषण्यारवारिण्यणोऽष्टीतिषण इत्येव त्रयो दण्डा यथाक्रम शास्त्राच्छेदनादिष्वपराधेषु भवन्तीति । अप्ररोहिशास्त्रिणामप्युपजीव्य-वृक्षाणामाज्रादीनां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पूर्वोक्ता एव दण्डा, अनुपजीव्याप्ररोहि-शास्त्रिषु पुनर्द्वेषु कल्प्या ॥ २२७ ॥

भाषा—कीपलों से युक्त टालों वाले वृक्षों की जाला भीर तथा या सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर यदि वृक्ष ममुष्य के जीविका निर्वाह का साधन (भाम भादि का) हो तो क्रमशः बीस, चालीस और अरसी पण दण्ड लगता है ॥ २२७ ॥

वृक्षविशेषाग्रमाह—

चैत्यप्रमशानसीमास्तु पुण्यस्थाने सुरालये ।

जातद्रुमाणा द्विगुणो दमो वृक्षे च विधुते ॥ २२८ ॥

चैत्यादिषु जातानां वृक्षाणां शास्त्राच्छेदनादिषु पूर्वोक्तादण्डाद् द्विगुण । विधुते च विष्णुपलाशादिके द्विगुणो दण्ड ॥ २२८ ॥

भाषा—धार्मिक स्थान, रामशान, सीमा पवित्र स्थान और देवता के मन्दिर में उत्पन्न हुए वृक्ष और पीपल, पलाश भादि के वृक्ष की जाला भादि काटने पर उपरोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

गुहमात्री-प्रमाह—

गुरुमगुच्छभ्रूपलताप्रतानौपधिषीरुधाम् ।

पूर्वस्मृतादधेदण्ड स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥

गुहमा अनतिदीर्घनिविटलता मालाबादय, गुच्छा अवहरीरुवा भमाल प्रापा कुरण्टकादय, भ्रुपा करवीरादय सरलप्रापा लता दार्यपादि-यो

द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतय, प्रताना काण्डप्ररोहरहिता सरैलयाविन्य सारिवाप्रभृ-  
तय, भोष्य फलपाकानसाना शालिप्रभृतय, वीरुघ क्षिप्ता भवि या  
विविध प्ररोहन्ति ता गुहूचीप्रभृतय, एतेषां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने छेदने  
पूर्वोक्तादण्डादर्धदण्डो वेदितव्य ॥ २२९ ॥

भाषा—गुदम मालती जैसी ( छोटी और घनी लताएँ ), गुच्छ ( कुण्डक  
जैसी लपटाने वाली लता ), क्षुध ( करवीर जैसी साधी लता ), द्राक्षा  
जैसी बड़ी लता, सीधी चलने वाली सारिवा आदि लताएँ, शालि आदि  
भोषधियों और गुहूची आदि विरवों को पूर्वोक्त स्थानों पर काटने का दण्ड  
उपरोक्त दण्ड से भाषा होता है ॥ २२९ ॥

इति दण्डपाठ्यप्रकरणम् ।

### अथ साहसप्रकरणम् २०

सप्रति साहस नाम विषादपद व्याचिष्यामुस्तल्लक्षण तावदाह—

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ।

सामान्यस्य साधारणस्य ३व्येष्टिनियोगानहर्षोविशेषेण परकीयस्य द्रव्य-  
स्यापहरण साहसम् । कुत ? प्रसभहरणात् प्रसभ्य हरणात्, दलादष्टभेन  
हरणादिति यावत् ॥ एतदुक्तं भवति—रामदण्ड अवाक्रोश चोद्धृत्य राजपुरदे-  
तरजनसमष्टि परिक्रि-मारणहरणपरदारप्रधर्पणादिक क्रियते तस्मै साहसमिति  
साहसलक्षणम् । अतः साधारणधमपरधमयोर्हरणस्यापि दलादष्टभेन क्रियमाण-  
स्यात्साहसत्वमिति । नारदेणापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम् (११३)—‘सहसा  
क्रियते कर्म परिक्रिद्धलदर्पितै । तत्साहसमिति श्लोकं तदो यलमिदोऽप्यते ॥’  
इति । तदिदं साहसं श्रीर्यवाग्दण्डपाठ्यस्त्रीसग्रहणेषु व्यासकमपि दलदर्पा-  
दष्टभोपैधितो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं गृधमभिधानम् । तस्य च दण्डधे-  
चिष्यप्रतिपादनार्थं प्रथमादिभेदेन त्रिविध्यमभिधाय लक्षणं तेनैव विवृतम्  
( १४३ )—‘तत्पुत्रास्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा । उत्तमं चेति दाक्षेणु  
तस्योक्तं लक्षणं गृधम् ॥ पलमूलोदकादीनां त्रैप्रोपकरणस्य च । भद्राक्षेपोप  
मर्दायै प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ घाम पञ्चपानाणां गृहापकरणस्य च । एतन्नैव  
प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ व्यापादो विषयार्थं परदारभिमर्शनम् ।  
प्राणोपरोधि यथाप्यदुष्टमुत्तमसाहसम् ॥ तस्य दण्डं क्रियापेव प्रथमस्य

१ दित्यादावि-य । २ हरणं साहसम् । ३. व्येष्टिनियोगः ।  
४ व्याहृतिरेव । ५ पाथिना भिद्यते ।

शतावरः । मध्यमस्य तु साम्प्रज्ञैर्दृष्टं पञ्चशतावरः ॥ उत्तमे साहसे दण्डः  
सहस्रावर इष्यते । यथा सर्वस्वहरणं पुरास्त्रिर्वासनाद्वने । तद्वद्रच्छेद इत्युक्तो  
दण्ड उत्तमसाहसे ॥ इति ॥ यथादयश्चापराघतारतम्बादुत्तमसाहसे समस्ता  
इष्यता वा योजया ॥

तत्र परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डमाह—

तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डो नित्ये तु चतुर्गुणः ॥ २३० ॥

तस्यापहतद्रव्यस्य मूल्यात् द्विगुणो दण्ड । यः पुनः साहसं कृत्वा  
'नाहमकार्यम्' इति निहृते तस्य मूल्याच्चतुर्गुणो दण्डो भवति । एतस्मा-  
देव विशेषदण्डविधानात्प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारस्यतिरिक्तविषयं  
गम्यते ॥ २३० ॥

भाषा—सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपहरण को साहस कहते हैं ।  
उसके लिए उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड होता है और अपराध  
अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड होता है ॥ २३० ॥

साहसिकस्य प्रयोजनितारं प्रयाह—

यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम् ।

यश्चैवमुपरवाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम् ॥ २३१ ॥

यस्तु 'साहसं कुरु' इत्येवमुपवा कारयत्यसौ साहसिकाहण्टाद् द्विगुण दण्डं  
दाप्यः । यः पुनः 'अहं तुभ्य धनं दास्यामि, त्वं कुरु' इत्येवमुपरवा साहसं  
कारयति ॥ चतुर्गुण दण्ड दाप्योऽनुबन्धातिशयात् ॥ २३१ ॥

भाषा—जो व्यक्ति साहस करता है ( करने के लिए उकसाता है )  
उससे साहसिक के दण्ड से दुगुना दण्ड लेना चाहिये और जो ऐसा कहे  
कि तुम करो जो उमेगा वह मैं दूंगा, उससे उसके चौगुना दण्ड लेवे ॥ २३१ ॥

साहसिकविशेष प्रयाह—

अभ्यांशोपातिक्रमकृद् भ्रातृभार्याप्रहारकः ।

संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकम् ॥ २३२ ॥

सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः ।

पञ्चादारपणिको दण्डं प्यामिति विनिश्चयः ॥ २३३ ॥

अभ्यांशोपातिक्रमकृद् भ्रातृभार्याप्रहारकः ।  
साहसिक तथा संदिष्टस्य अनिश्चयस्वार्थस्याप्रदाता यश्च मुद्रितं गृहमुद्रादयति  
तथा समुद्रे सेनादिमत्स्यगृहसेनादिस्वामिनी कुलिकानी स्वगृहोद्भवानि

१. मुद्रितेषु च यश्चैव कारयति । २ अभ्यांशोपाति ।

'आदि' ग्रहणात् स्वमायस्वदेहीवार्ता च नोऽपकर्ता, ते सर्वे पञ्चाशत्पणपरि-  
मितेन दण्डेन दण्डनीया ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—जाचार्य आदि अर्थ व्यक्तियों को आक्षेप करने वाले, भाई की पत्नी को मारने वाले, सन्देश न कहने वाले, बन्द घर का द्वार तोड़ने वाले, सामन्त ( जिसका खेत या घर सग हुआ हो ऐसे ) और अपने कुल में उत्पन्न द्रव्यियों का अपकार करने वाले से पचास पण का दण्ड लिया जाता है, यह नियम है ॥ २३२-२३३ ॥

स्वच्छन्दघिघचागामी विरुष्टेऽनभिघावक ।

व्यकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमंन्स्पृशेत् ॥ २३४ ॥

'शूद्रप्रमजितानां च देवे पिडये च भोजक ।

भयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥ २३५ ॥

घृपक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत् ।

साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥ २३६ ॥

पितृपुत्रस्त्वसृभ्रातृदम्परवाचार्यशिव्यका ।

एवमपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डमाक् ॥ २३७ ॥

किंच, नियोग विना य श्वेच्छया विधवा गच्छति, वीरादिभयाकुले विरुष्टे च य कश्चोऽपि नाभिघावति, यश्च घृथाकोश करोति, यश्च चण्डालो ग्राहणादीन्स्पृशति, यश्च शूद्रप्रमजितान्दिगम्बरादीन्देवे पिडये च कर्मणि भोजयति, यद्यायुक्त 'मातर 'गमिष्यामि' इत्येव शपथ करोति, तथा यश्च भयोऽप एव शूद्रादिवोग्यकर्मपगमनादि करोति, घृपो बलीर्ष्व, क्षुद्रपदावोऽजाद्वरतेषा पुरस्त्वस्य प्रजननक्षेत्रेविनाशक, 'घृपक्षुद्रपशूनाम्' इति पाठे हिंसाधीषधप्रयोगेण घृचादे कलप्रसूनाना पातयिता, साधारणमपत्यपति साधारणदम्पत्य च यज्ञक, दासीगर्भव्य च पातयिता, ये च विप्राद्योऽपतितान् एव सन्तोऽन्योन्य त्यजन्ति, ते सर्वे प्रत्येक पणहारा दण्डार्हा भवन्ति ॥ २३४-२३७ ॥

भाषा—बिना नियोग के अपनी इच्छा से विधवा स्त्री के साथ सम्भोग करने वाला, भयातुर व्यक्ति की पुकार सुनकर दक्षिणाली होते हुए भी न दौड़ने वाला, बिना कारण के आर्षेनाद करने वाला, और ग्राहण आदि उच्च वर्णों को छूने वाला चाण्डाल, शूद्र और सन्ध्यावियों को देवपञ्च पथ श्राद्ध में भोजन देने वाला, झूठी शपथ लेने वाला, और अपने धर्म के अयोग्य कर्म करने वाला, बँह और चक्रा आदि छूटे पशुओं को धरिषा करने वाला,

सामा य धरतु को दवा लेने वाला दानी का गर्भपान कराने वाला और  
पिता पुत्र, वहन, माह पति परनी आचार्य और सिद्ध के निर्द्वि होने पर  
भी उनका ( एक दूसरे का ) श्राग करने वाला—ये सभी सौ पण दण्ड के  
भागी होते हैं ॥ २३४ २३७ ॥

इति साहसमकरणम् ॥

साहसप्रवद्राक्षसटगावराधेषु निर्णजकादीनां दण्डमाह—

यस्तान्स्त्रीन्यणा-दण्डया नेजवस्तु पराशुक्रम् ।

विप्रयाधकयाधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

नेजयो वस्त्रस्य धावक म यदि निणजनाय समर्पितानि यामामि एषव  
मारदादयति तदाऽर्था पणप्रय दण्ड्य । य पुनरनानि विक्रीणते भवक्य  
या 'एतावाकालमुपभोगार्थं वरत्र दायते मद्यमेनाशयून देवम्' इत्येष भाट  
कन यो ददाति आधिव वा नयति, स्वसुहृद्भ्यो वाचित वा ददायसी प्रयप  
राध ददायगा दण्डनीय । तानि च वस्त्रानि श्लेषमशास्त्रमैक एक चालनी  
यानि न पापाने नच इवायमनीयानि, नच स्वगृहे यामयितव्यानि इतरथा  
दण्ड्य । ( ८ ३९१ )— साहसमणकणक श्लेषने निःशयाशुक्रामि नत्रक । नच  
यामामि यामोभिर्निर्द्वैत च यासयत् ॥ इति मनुस्मरणात् ॥ यदा पुन प्रमा  
दानानि नादायति तदा नारदेनोक्त दण्ड्यम्— मूषयाष्टमागो द्वीयन तदृशीतस्य  
वासम । द्वि पाद्विस्त्रिणीयांशक्रुधीतेऽधमेश च ॥ अर्धंयवात्त परत पादा  
दापचय क्रमात् । यात्राशौचदण्डं जर्णं जीणस्यानिचम चय ॥ इति । अष्ट  
पगशीतस्य सतृशीतस्य वस्त्रस्य नाशितस्याष्टमभागपणान मूष्य देवम् ।  
द्विर्धितस्य तु पादानि त्रिर्धितस्य पुनस्तृतीयांशं यूनम् । अतुर्धौनस्यार्धं पण  
अनुदय देवम् । तत्र पर प्रतिनिर्णेतनमवगिष्ट मूष्य पादपादापचयन देवम् ।  
यात्राशीर्णं जर्णस्य पुनर्नाशितस्यचक्रानो मूष्यदानवस्त्रनम् ॥ २३८ ॥

भाषा—यदि धावी धाने क छिप द्विजे गध दूमरों क चटों को रखय  
पहनता है तो उसे तीन पण दण्ड लगना है; यदि वह उसे बेचना है भाद दना  
है अथक रखना है वा संयना देना है ता दश पण दण्ड लगना है ॥२३८॥

पितापुत्रविराध तु साक्षिणां त्रिपणा दम् ।

मन्तरं च त्वार्यं स्वात्तस्याप्यष्टगुणा दम् ॥ २३९ ॥

१ त्रिपणारक्यम धानयाचितेषु ( = म टकनापैगमणक्यम, अापमनमा  
धानम् ) २ साहसमे कणके । ३ अष्टमभागो न पण मूष्य । ४ पादप  
चयवेन । ५ त्रिणशो दम् । ६ तु । ७ स्वदणतो दम् ।

पितापुत्रयोः कलहे यः साधनमद्नीकरोति, न पुनः कलहं निवारयति  
धर्मो पणत्रयं दण्डयः । यश्च तयोः सपणे विवादे षण्णदाने प्रतिभूर्भवत्यसौ,  
चकारात्तयोर्गः कलहं वर्धयति, सोऽपि त्रिपणादष्टगुणं चतुर्विंशतिपणाद्दण्ड-  
नीयः । दम्पत्याद्विष्वग्मेव दण्डोऽनुसरणीयः ॥ २३९ ॥

भाषा—पिता और पुत्र के कलह में जो साक्षी घनता है ( और कलह  
का निवारण नहीं करता ) उसे तीन पण दण्ड देना चाहिए; जो उन दोनों  
में मध्यस्थ बने ( अर्थात् पण का विवाद हो तो प्रतिभू बने और झगड़े को  
बढ़ावे ) उससे उसका भी आठ गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ २३९ ॥

तुलाशासनमानानां फूटकृन्नाणकरय च ।

प्रभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४० ॥

तुला तोलनदण्डः, शासनं पूर्वोक्तम्, मानं प्रथमदोषादि, नाणकं मुद्रा-  
दिषिद्धितं द्रममिष्कादि, एतेषां यः कूटकृन् देशप्रसिद्धपरिमाणादभ्यधा न्यून-  
त्वमाधिक्यं वा द्रममादेरभ्यर्थहारिकमुद्रात्वं ताम्रादिगर्भत्वं वा करोति, यश्च तैः  
कूटैर्नामिषपि व्यवहरति, तापुत्रौ प्रत्येकमुत्तमसाहसं दण्डनीयी ॥ २४० ॥

भाषा—जो तराजू से तोलने, राजा की आज्ञा, तौल के मानों (घटपटों)  
और नाणक ( सिक्कों ) में धूर्तता करे तो उसे उत्तम साहस का दण्ड देना  
चाहिए ॥ २४० ॥

नाणकपरीक्षणं प्रथाह—

अकूटं कूटकं प्रुते कूटं यश्चाप्यकूटकम् ।

स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम् ॥ २४१ ॥

यः पुनर्नाणकपरीक्षी ताम्रादिगर्भमेव द्रममादिकं सभ्यगिति प्रुते, सभ्यक्  
च कूरकमिति अमावुत्तमसाहसं दण्डयः ॥ २४१ ॥

भाषा—जो नाणक की परीक्षा करने वाला परदे सिक्के को गिरा  
कहता है और परे को खोटा कहता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना  
चाहिए ॥ २४१ ॥

चिकिरामकं प्रथाह—

मिपिद्मिष्याच्चरुदण्डयस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम् ।

मानुषे मध्यमं राजपुरुषेषूत्तमं दमम् ॥ २४२ ॥

यः पुनर्मिषक् मिष्या आचुर्धदानभिज्ञ एव जीवनार्थं 'चिकिरित्तजोऽहम्'  
इति तिर्यङ्मनुष्यराजपुरुषेषु चिकिरामाधरायसौ यथाक्रमेण प्रथममल्पमोत्तम-

साहस-दण्डनीय । तत्रापि तिर्यगादिषु मूल्यविशेषेण वर्णविशेषेण राजप्रयासत्तिविशेषेण दण्डस्थ लघुगुहभाव कल्पनीय ॥ २४२ ॥

भाषा—जो अल्पज्ञानी वैद्य ( नीम हकीम ) पशु पक्षियों की झूठी चिकित्सा करता हो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है, मनुष्य की चिकित्सा करे तो मध्यम साहस का और रामपुरख की चिकित्सा करने पर उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २४२ ॥

अयमर्थं यश्च यन्नाति यद्धं यश्च प्रमुञ्चति ।

अप्राप्तव्यवहार च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४३ ॥

य पुनर्थन्धनानर्हममपराधिन राजाज्ञया विना यन्नाति, यश्च यद्ध इत्यवहारार्थमाहृत अनिष्टंस्तव्यवहार चोत्सृजति, असौ उत्तमसाहस दाप्य ॥ २४३ ॥

भाषा—जो धन क अयोग्य व्यक्ति को राजा की आज्ञा क विना य, यता है और जो खट्ट ( व्यवहार क लिये पकड़कर लाये गए और भादि ) को व्यवहार की निवृत्ति क पूर्व ही छोड़ देता है वह उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता है ॥ २४३ ॥

मानेन तुलया यापि योऽशमष्टमकं हरेत् ।

दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानी च क्वचित्तम् ॥ २४४ ॥

य पुनर्बलिक् प्रीहिवाग्वासादे पण्यस्याष्टमसप्त कूटमानेन कूटगुलया वा अ-वधा वा परिहरति असौ पणानी द्विशत दण्डनीय । अण्डहरण द्रव्यरय पुनर्बुद्धौ हानी च दण्डस्यापि वृद्धिहानी कल्पये ॥ २४४ ॥

भाषा—नापने वा लीलने में जा धूर्तता करके किसी वस्तु का आठवाँ भाग ले ले तो उससे दो सौ पण दण्ड लेना चाहिये । अण्डहरण धन के अधिक वा कम होने क अनुसार दण्ड भी कम वा अधिक होता है ॥ २४४ ॥

भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ।

षण्येषु प्रक्षिपन्दीर्णं पणान्दाप्यस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजमौषधद्रव्यम्, स्नेहो घृतादि, लवण प्रसिद्धम्, गन्धद्रव्यमुशीरादि, धान्यगुहो प्रसिद्धौ, 'आदि' श-दादिद्रुमरिचादि, एतेष्वस्य द्रव्य विक्रयार्थं मिश्रयन् षोडशणो दण्ड ॥ २४५ ॥

भाषा—औषध, घृत आदि द्रव्यदार्थ, ममक, गन्ध, धान्य और गुह आदि में विक्रय द्वारा अधिक लाभ पाने क लिये अस्य द्रव्य टालने पर ( मिलावट करने पर ) सोलह पण दण्ड लेवे ॥ २४५ ॥

मृच्चर्ममणिसूत्राय काष्ठवल्कलवाससाम् ।

अजातौ जातिकरणे विकेयांघुणो दमः ॥ २४६ ॥

किंच, न विद्यते बहुमूल्यया जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति, तस्मिन् जातिकरणे विद्ययाथं बन्धवर्णरसान्तरसचारणेन बहुमूल्यजातीयसादृश्यसंपादने यथा—मलिकामोदसचारेण मृत्तिकाया सुगन्धामलकमिति, माज्जरचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन श्यामचर्ममिति, स्फटिकमणौ वर्णांतरकरणेन पद्मराग इति, कापांसिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति, कौलायसे वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति, शिष्यकाष्ठे चन्दनामोदसचारेण चन्दनमिति, कङ्कोले स्वगाटय लवङ्गमिति, कापांसिके वासवि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति, विशेषस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादि पणदस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्य ॥ २४६ ॥

भाषा—सिद्धी, चमड़ा, मणि, सूत, लोहा, लकड़ी, और चण्डक के वस्तु को बटिया होने पर भी अथवा यथाकर बेचने वाले से जितने मूल्य पर बिक्री हो उसके आठ गुना दण्ड लेते ॥ २४६ ॥

संमुद्गपरिवर्तं च सारमाण्डं च कुत्रिमम् ।

आधानं विक्रयं चापि नयतो दण्डकल्पना ॥ २४७ ॥

भिन्ने पणे च पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।

द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ च वृद्धिमान् ॥ २४८ ॥

सुद्व विधान, सुद्गे १ षट् वर्तत इति संमुद्ग करण्डकम्, परिवर्तन स्वरूपस, योऽन्वयैव सुत्तानां पूर्णं करण्डक दर्शयित्वा हस्तलाघयेनान्वयैव स्फटिकानां पूर्णं करण्डक समर्पयति, यत्र सारभावद करतुरिकादिकं कुत्रिमं कृत्वा विक्रयमाधि वा नयति तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कुत्रिमकरतुरिकादर्मुद्यभूते पणे भिन्ने<sup>१</sup> मूने, न्यूनपणमूल्य इति यावत्, तस्मिन् कुत्रिमे विनास पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूढये पुन शतम् । द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्ड इत्येव मूढयवृद्धौ दण्डवृद्धिरुच्यते ॥ २४७-२४८ ॥

भाषा—बहुकर रागी हुई वस्तु को अपने हस्तलाघय से (हाथ की लपाड़ु द्वारा) कुछ और हाथमाकर लोगों को डगता है और जो यथावदा करतुरीय-यक रगता है या बेचना है तो उसको इस प्रकार दण्ड लगाना है—कुत्रिम करतुरी आदि का मूल्य पण में कम में ही तो पचान् पण और एक पण मूल्य हो तो सी पण दो पण मूल्य होने पर दो सौ पण दण्ड होता है और मूल्य की वृद्धि के अनुसार दण्ड बढ़ता जाता है ॥ २४७-२४८ ॥

१ विक्रयेऽष्टगुणो । २ काणां वस च । ३ समुद्गः । ४-५ तु ।  
६. भिन्ने भिद्यमूल्ये ।



वणिज प्रत्याह—

संभूय कुर्वतामर्थं संबाधं कारुशिल्पिनाम् ।

अर्घस्य हासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तम ॥ २४९ ॥

राजनिरूपितार्घस्य हास वृद्धि वा जानन्तोऽपि वणिज संभूय मिलित्वा कारुणा रजकादीनां शिल्पिना चित्रकारादीनां सबाध पीडाकरमर्घान्तर लाभ लोभास्तुर्वन्त पणसहस्र दण्डनीया ॥ २४९ ॥

भाषा—यदि राजा द्वारा निर्धारित मूल्य की वृद्धि और हास को जानते हुए भी व्यापारी लोग आपस में मिलकर रजक आदि को और शिल्पियों को पाबंद करें तो उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४९ ॥

संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपहन्थनाम् ।

विक्रीणता वा विहितो दण्ड उत्तमसाहस ॥ २५० ॥

किंच, ये पुनर्वणिजो मिलित्वा देशान्तरादागत पण्यमनर्घेण हीनमूल्येन प्रार्थयमाना उपहन्थन्ति, महार्घेण वा विक्रीणते तेषामुत्तमसाहसो दण्डो विहितो मन्वादिभि ॥ २५० ॥

भाषा—जो व्यापारी आपस में मिलकर दूसरे देश से लाई गयी वस्तु को कम मूल्य पर विक्रय से रोक देते हैं अथवा अधिक मूल्य पर बेचते हैं उनके लिये उत्तम साहस का दण्ड विहित है ॥ २५० ॥

इत पुनर्घेण पणितव्यमिरपत आह—

राजनि कथाप्यते योऽर्घं प्रत्यहं तेन विनय ।

क्रपो वा नि स्रवस्तस्मात्तणिजां सांभट्टस्सुत ॥ २५१ ॥

राजनि सनिहिते सति वस्तेनार्घं स्थप्यते निरूप्यते सनाद्यण प्रतिदिन क्रपो विक्रपो वा कार्यं । निर्गत स्रोते नि स्रवोऽवशेषैस्तरमाद्राजनिरूपिनार्घाद्यो नि स्रव इत्येव वणिजां लाभकारी, न पुन स्त्रव्यदपरिकल्पितात् । मनुना आर्घ्यकरणे विशेषो दर्शित ( ८।१०२ )—‘पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे मासे तथा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यहमर्घेस्वस्थापन नृप ॥’ इति ॥ २५१ ॥

भाषा—राजा द्वारा जो मूल्य निर्धारित किया गया हो उसी मूल्य पर प्रतिदिन क्रय या विक्रय करना चाहिए । उससे जो कुछ शाय पक्षे वही वनियों का लाभ होता है ॥ २५१ ॥

१ हासे वृद्धी या साहसो दण्ड उच्यते । २ जानता । ३. मभिदिता । ४ लाभक । ५ क्षेत्र ।

स्वदेशपण्ये तु शतं घणित्कृत्वा पञ्चकम् ।

दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यःक्रयधिकयी ॥ २५२ ॥

किंच, स्वदेशप्राप्तं पण्यं गृहीत्वा यो विक्रीणीते असौ पञ्चकं शतं पणशते पणपत्रकं लाभं गृह्णीयात् । पारदेशप्राप्ते पुनः पण्ये शतपणमूहये दशपणाह्वयं गृह्णीयात् । यस्य पणस्य ग्रहणदिवस एव विक्रयः संगद्यते । यः पुनः कालान्तरे विक्रीणीते तस्य कालोत्कर्षवशात्कालोत्कर्षः नश्यति । एवं च यद्यार्थं निरूपिते पणशते पञ्चपणो लाभो भवति तथैवार्थो राज्ञः स्वदेशपण्यपरिपये स्थापनीयः ॥

भाषा—अपने देश की वस्तु लेकर तत्काल बेचने वाला घनिर्वाँ पाँच प्रतिशत लाभ लेये; दूसरे देश से लाकर बेचने वाले को दस प्रतिशत लाभ लेना चाहिए ॥ २५२ ॥

पारदेशपण्येऽर्थनिरूपणप्रकारमाह—

पण्यस्योपरि संस्थाप्य द्वयं पण्यसमुद्भवम् ।

अर्धोऽनुमदकृत्तयः केतुर्विकेतुरेव च ॥ २५३ ॥

देशान्तरादागते पण्ये देशान्तरगमनप्रयागमनभ्रमग्रहणशुचकादिस्थानेषु चाद्यान्पण्यकोऽर्धस्तावन्तमर्थं परिगणय्य पण्यमूहयेन गृह्ये सेटविरथा यथा

कनककरातुरीकुङ्कुमादि मेघ शाङ्खादि, कियया वाहदोहादिरूपयोपलक्षितमध-  
महिष्यादि । रूपत पण्वाङ्गनादि धिया दीप्या मरकतपद्मरागादीति ॥

पुत्रपुत्रप्रकारकमपि पण्य विक्रीयाऽसप्रयच्छतो दण्डमाह—

गृहीतमूल्यं य पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति ।

सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्दामं वा दिगागते ॥ २५४ ॥

गृहीत मूल्य यस्य पण्यस्य विक्रेता तद्गृहीतमूल्य, तद्यदि विक्रेता प्रार्थय-  
मानाय स्वदेशवणिजे क्षेत्रे न समर्पयति, तद्य पण्य यदि क्रयकाले बहुमूल्य  
सफाला-तरेऽवपमूल्येनैव लभ्यते तदाग्राह्यमहृतो च उदयो वृद्धि पण्यस्य  
स्थावरभूतमात्मकस्य तेन सहित पण्य विक्रेता क्षेत्रे दापनीय । यदा  
मूल्यद्वाराहृत पण्यस्योदयो भासित, किं तु क्रयकाले यावदेवेद्यतो मूल्यस्ये-  
षापण्यमिति प्रतिपद्य तावदेव तदा तपण्यमादाय तस्मिन्-देशे विक्रीणानस्य यो  
लाभस्तेनोदयेन सहित द्विक त्रिकमित्यादिप्रतिपादितवृद्धिरूपोदयेन वा सहित  
क्षेत्रवाङ्गावशादापनीय, यथाह नारद ( ८५५ )—‘अर्धरचेर्द्वहृद्वेत् सोदय  
पण्यमावहेत् । स्थानिनामेव निधमो दिग्दाम दिग्दिचारिणाम् ॥’ इति । यदा  
स्वर्धमहावेन पण्यस्य -यूनभावस्तदा तस्मिन्-पण्य वस्त्रगृहादिकस्य उपभोगस्तदा  
वस्त्रादनमुत्तनिवासदिरूपो विक्रेतुस्तामहित पण्यमसौ दाप्य, यथाह नारद  
( ८५४ )— विक्रीय पण्य मूल्यम वा क्षेत्रं प्रयच्छति । स्थावरस्य चय दाप्यो  
जङ्गमस्य क्विचाफलम् ॥’ इति । विक्रेतुरुपभोग चय उच्यते, क्षेत्रसवधिष्येन  
श्रीयमाणत्वात् न पुन कुड्यपांतसस्यघातादिरूप । तस्य तु—‘उपहन्येत वा  
पण्य दह्येतापहियेत वा । विक्रेतुरेव सोऽमर्धो विक्रीयासप्रयच्छत ॥’ ( ना० ८५६ )  
इत्यशौचत्वात् ॥ यदा स्वमी क्षेत्रा देशान्तरापण्यग्रहणार्थमागतस्तदा तपण्य-  
मादाय देशान्तरे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेन सहित पण्य विक्रेता क्षेत्रे दाप-  
यितव्य । अथ च क्रीतपण्यसमर्पणनियमोऽनुशयाभावे द्रष्टव्य ॥ सति स्वगुणये  
‘क्षीया विक्रीय वा किञ्चिदि त्यादि ( ८५२२२ ) मन्वूक वेदितव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—जो विक्रेता सौदे का मूल्य लेकर सौदा करीदने वाले को नहीं  
देता उससे राजा क्याञ्च क साथ सौदा ( खरीदने वाले को ) दिलाव, और  
यदि क्षेत्र दूसरे देश में भाकर सौदा करीद रहा हो तो उसे ले जाकर  
अपने देश में बेचने पर जितना लाभ उसे मिलता वह भी दिलावे ॥ २५४ ॥

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्षेत्र्यगृह्णति ।

हानिश्चेत्क्रेतुर्दोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥

किंच, यदा पुनर्जातानुशयः क्रेता पण्य न त्रिष्टुषति तदा विक्रीतमपि पण्यमन्यत्र विक्रेणम्, यदा पुनर्विक्रेत्रा दोषमान क्रेता न गृह्णाति, तच्च पण्य राजद्विक्रेनोपहत, तदा श्रेतुरेवासौ हानिर्भवेत्; पण्याग्रहणरूपेण श्रेतुदोषेण नाशितत्वात् ॥ २५५ ॥

भाषा—यदि पहले वाला क्रेता पण्य ( सीदा ) न ले तो विक्रे हुए पण्य को भी दूसरे के हाथ बेच दे । यदि इसी बीच ( जब विक्रेता दे रहा हो और क्रेता न लेता हो ) उस वस्तु में क्रेता के दोष से हानि हो जाय तो उसे श्रेता को ही सहन करना होता है ॥ २५५ ॥

राजद्वयोपघातेन पण्ये दोषमुपागते ।

हानिर्विश्रेतुरेवासौ याचितस्याग्रयच्छतः ॥ २५६ ॥

अपि च, यदा पुनः क्रेत्रा प्रार्थ्यमानमपि पण्य विक्रेता न समर्पयति, अजानानुशयोऽपि, तच्च राजद्विक्रेनोपहत, भवति, तदासौ हानिर्विश्रेतुरेव । अतोऽन्यद्दुष्ट पण्य विनष्टमहंश क्रेत्रे देयम् ॥ २५६ ॥

भाषा—यदि क्रेता पण्य माग रहा हो और विक्रेता उसे यह पण्य न देता हो, तथा इसी बीच राजद्विक्रेत या देवहन उत्पात से उस वस्तु में दोष आ जाये तो यह हानि विक्रेता की ही होती है ॥ २५६ ॥

अन्यहस्ते च विक्रीय दुष्टं वाऽदुष्टयद्यदि ।

विक्रीणीते दमस्तन्न भूद्यास्तु द्विगुणो भवेत् ॥ २५७ ॥

किंच, य पुनर्विनैवानुशयमेवस्य हस्ते विक्रीत पुनरग्रस्य हस्ते विक्रीणीते सदोष वा पण्य प्रच्छादितशोप विक्रीणीते, तदा तत्पण्यमूष्याद् द्विगुणो दमो वेदितव्य । नारदेनाप्यत्र विशेषो दर्शित ( ८१८ )—'अन्यहस्ते च विक्रीय योऽन्यस्मै ताम्रवच्छति । इत्थं तद्द्विगुण दाप्यो विनयस्तावदेव तु ॥ निर्दोषं वर्णयिष्या तु सदोषं च प्रवच्छति । स मूष्याद् द्विगुण दाप्यो विनय तावदेव तु ॥' इति ॥ सर्वथाय विचिर्दत्तमूष्ये पण्य द्रष्टव्य. । अदत्तमूष्ये पुनः पण्ये चाद्यात्रकवे श्रेतुविक्रेत्रे नियमकारिणः समयारहते प्रपृसी निवृत्ती या न कश्चिदोप । यथाह नारद ( ८१७ )—'दत्तमूष्यस्य पण्यस्य विधिरेव प्रकीर्तितः । अदत्तोऽन्यत्र तमयात्र विक्रेतुरधिक्य ॥' इति ॥ २५७ ॥

भाषा—जो एक क हाथ बेचा गद् वस्तु को पुन दूसरे स्थिति क हाथ बेचना है अथवा दाणपूर्ण वस्तु को निर्दोष वस्तु बनाकर बेचना है तो उससे राजा वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड लेये ॥ २५७ ॥

विक्रयानुशयोऽभिहित । क्रीतानुशयस्वरूप तु प्राक् प्रपञ्चितम् । अधुना तदुभयसाधारण धर्ममाह—

क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविजानता ।

क्रीरवा नानुशय कार्यः कुर्वन्पट्टभागदण्डभाक् ॥ २५८ ॥

परीक्षितक्रीतपण्याना क्रयोत्तरकाल क्रयकालपरिमाणतोऽर्घ्यहता वृद्धिम पश्यता क्रेप्रा अनुशयो न कार्यम् । विक्रेप्रा च महार्घनिबन्धन पण्यस्यमपश्यता नानुनयितव्यम् । वृद्धिचयपरिज्ञाने पुनः क्रेतृविक्रेतोरनुशयो भवतीति व्यतिरेकादुक्तं भवति । अनुशयकालावधिस्तु नारदेनोक्त ( ८१२ )—‘क्रीरवा मूषेन यै पण्यं तु क्रीतं मन्वते कृषी । विक्रेतु प्रतिदेष तत्तस्मिन्नेवाह्वय विद्यतम् ॥ द्वितीयेऽह्नि दशक्रेना मूषयार्त्त्रिंसांशमाश्रहेत् । द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतं त्रेतुरैव तत् ॥’ इति । अपरीक्षितक्रयविक्रयं पुनः पण्यवैगुण्यनिवर्धनानुशयावधि‘दशैकपञ्चमसाहे’त्यादिना दर्शितं एव । तदनया वाचोयुक्त्वा वृद्धिचय-परिज्ञानस्यानुशयकारणत्वमवगम्यते । यथा गण्यपराचाविधिवलात्पण्यदोषाणां अनुशयकारणत्वं अतः पण्यदोषतद्वृद्धिचयकारणमित्याभावेऽनुशयकालाभ्यन्तरेऽपि यद्यनुशयं करोति तदा पण्यपट्टभागं दण्डनीयम् । अनुशयकारणसद्भावेऽप्यनुशयकालानतिक्रमेणानुशयं कुर्वतोऽप्यवमेव दण्डः । उपभोगीनां चित्तवृत्तौ स्थिरार्थेष्वनुशयकालानतिक्रमेणानुशयं कुर्वतो मन्वते दण्डो दण्डः ( ८१२३ )—‘परेण तु दशाहस्य न दद्यात्तपि दापयत् । आववागो दवृष्येव राज्ञा दण्ड्यं शताभि पट्ट ॥’ इति ॥ २५८ ॥

भाषा—पण्य ( सौदे ) की हानि और लाभ को न जानने वाले वणिक को सौदा परीक्ष कर उसका अनुशय ( फेरपेरी ) नहीं करना चाहिये । यदि वह ऐसा करता है तो सौदे को पट्टाश दण्ड के रूप में चुकावे ॥ २५८ ॥

इति विक्रीयासप्रदान नाम प्रकरणम् ।

### अथ संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थान नाम विवादपदमिदानीमभिधीयते—

समवायेन वणिजा लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ।

लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ ॥ २५९ ॥

‘सर्वे वयमिदं कर्म मिलित्वा कुर्म’ इत्येवरूपा वप्रतिपत्ति समवाय, तेन ये वणिङ्गनटगर्तकप्रभृतयो लाभलिप्सवः प्रातिरिक्क कर्म कुर्वते, तेषां

लाभालाभायुपचयावचयौ यथाद्रव्यं येन चावद्धनं पण्यग्रहणाद्यर्थं वृत्तं तदनुसारेणावसेयौ; यद्वा,—प्रधानगुणभावनपर्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया संविदा समयेन यथा संप्रतिपन्नौ तथा वेदितव्यौ ॥ २५९ ॥

भाषा—यदि अनेक व्यापारी लाभ की इच्छा से इकट्ठे मिलकर ( साझे पर ) कार्य करें तो उन्हें अपनी लगाई पूंजी के अनुसार लाभ और हानि होती है अन्यथा उनमें परस्पर जैसी संविदा हुई हो उसके अनुसार लाभ या हानि का अंश मिलता है ॥ २५९ ॥

प्रतिपिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ।

स तदद्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशमाक् ॥ २६० ॥

किंच । तेषां संभूय प्रचरतां मध्ये 'पण्यमिदमित्यं न व्यवहर्तव्यम्' इति प्रतिपिद्धमाचरता यद्वाशितमनादिष्टमनुज्ञातं वा कुर्वाणिन तथा प्रमादा-  
प्रज्ञाहीनतया वा येन यद्वाशितं स तरपण्यं वणिग्गव्यो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चीरराजादिजनिताद्दशसमापण्यं पाठयति स तस्माद्विप्लवाद्यप्याद्दशम-  
मंशं लभते ॥ २६० ॥

भाषा—एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में जो व्यक्ति निपिद्ध विप्लव से, न कष्टा हुआ कार्य करके अथवा प्रमादवश कोई वस्तु नष्ट कर दे तो यह उस वस्तु को दे ( या हानि को पूरा करे ) । उनमें जो पण्य को राजा और चोर के त्राणत से सुरक्षित रखता है उसे दसवां अंश प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

अर्घ्यप्रक्षेपणाद्विशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।

व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥

'इत्यतः पण्यस्येयममूह्यम्' इत्यर्घ्यं, तस्य प्रक्षेपणात् राजसो निरूपणा-  
न्नेतोरसी गूह्याद्विशतितममंशं शुल्कार्घ्यं गृह्णीयात् । यत्पुनर्व्यासिद्धं 'अस्वप्न न  
विक्षेपम्' इति राज्ञः प्रतिपिद्धं, पण्यं राजयोग्यं मणिमणिषवाद्यनिपिद्धमपि  
सद्भासेऽनियेध लाभलोभेन विक्रीतं चेद्वाजगामि मूह्यदाननिरपेक्षं तस्यर्घ्यं पण्यं  
राजाऽपहरेदित्यर्थः ॥ २६१ ॥

भाषा—विक्रय वस्तु का मूल्य निर्धारित करने के कारण उस वस्तु के मूल्य का भीमवां भाग शुल्क के रूप में वसूल करे । राजा द्वारा विक्रयार्थ निपिद्ध और राजा के योग्य वस्तु खेची जाने पर भी राजा की हो जाती है ( उसका राजा अपहरण कर लेता है ) ॥ २६१ ॥

मिथ्यावदम्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।

दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥

य शुनर्बणिक् शुल्कवञ्चनाथं पण्यपरिमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थाना-  
द्वाऽपसरति यश्च 'अस्येदमस्येद वा' इत्येव विवादास्पदोभूत पण्यं क्रीणाति  
विह्नीणीते वा ते सर्वे पण्यादष्टगुणं दण्डनीया ॥ २६२ ॥

भाषा—शुल्क से बचने के लिये सौदे का सौल कम बताने वाले, शुल्क  
स्थान से भागने वाले और विवादास्पद पण्य को खरीदने वाले से पण्य का  
आठ गुना दण्ड लेये ॥ २६२ ॥

तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णदाप्य पणाम्दश ।

ग्राह्यणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥ २६३ ॥

अथ च, शुल्क द्विद्विविध—स्थलज जलज च । तत्र स्थलजम् 'अर्धप्रक्षेप-  
णाद्विंश भाग शुल्कं नृपो हरेत्' ( व्य० २६१ ) इत्यत्रोक्तम् । जलज तु मानवेऽ-  
भिहितम् ( ८।४०४ ५,० )—पण याम तरे दाप्य पुरुषोऽर्धपण तरे । पाद  
पशुश्च योविष्य पादार्षं रिक्तकं पुमान् ॥ आप्तपूर्णाणि यानानि तार्यं दाप्यानि  
सारतः । रिक्तभाण्डानि यरिक्त्विषुमासश्चापरिच्छदा ॥ गर्भिणी तु द्विमासादि-  
स्त्वया प्रमजितो मुनि । ग्राह्यणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं भूरा ॥ इति ॥  
शुल्कद्वयेऽप्यमपरो विशेष—'न भिन्नकार्पापणमस्ति शुल्कं न शिवपट्टी न  
शिशौ न दूते । न भैरवलोके न हृतावशेषे न श्रोत्रिये प्रमजिते न यज्ञे ॥'  
इति ॥ तीर्थतेऽनेनेति तैरि नावादि, तत्रम्यशुल्केऽधिकृतस्तरिक, स यदा  
स्थलोजव शुल्कं गृह्णाति तदा दशपणाम्दण्डनीयः । वेशो वेशम, प्रतिवेश इति  
व्यवेशमाभिमुखं स्ववेशमपार्श्वं च चोच्यते, तत्र भवा प्रातिवेश्या, ग्राह्यणाश्च  
ते प्रातिवेश्याश्च ग्राह्यणप्रातिवेश्या, तेषां श्रुतवृत्तसंप्रदानां धादादिषु विनये  
सापनिमन्त्रणे एतदेव दशपणारम्भकं दण्डनं वेदितव्यम् ॥ २६३ ॥

भाषा—भौक्य द्वारा नदी पार कराने के लिए शुल्क लेने वाला यदि  
स्थल का शुल्क ग्रहण करता है तो उससे दश पण्य दण्ड देना चाहिए । प्रति  
वेशी ग्राह्यणों को ( उनके शोथ होने पर भी ) धादा आदि में निमन्त्रित  
न करे तो उससे इतना ही ( दश पण्य ) दण्ड लेना चाहिए ॥ २६३ ॥

१. सव्याजक्रयविक्रयी ( = सव्याजौ शौचिकप्रतारणावन्तौ ) ।

२. ग्राह्यण प्रतिवेशानां । ३. तरे—मनुस्मृति । ४. तरो नावादि ।

५. संपूर्णाना ।

देशान्तरमृतवणिप्रियं प्रत्याह—

देशान्तरगतो मृते द्रव्यं दायादवन्ध्या ।

ज्ञातयो वा हरेःशुस्तदागतास्तैर्विना नृपः ॥ २६४ ॥

यदा सम्भूयकारिणा मध्ये य कश्चिद्देशान्तरगतो मृतस्तदा तदीयमश्व-  
दायादा पुत्राद्यप्यवर्णा, चान्धवा मातृपत्न्या मातुलाद्या, ज्ञातयोऽपत्यवर्ग-  
व्यतिरिक्ताः सपिण्डा वा, आगता सम्भूय व्यवहारिणो ये देशान्तरादागतास्ते  
वा गृहीयुः । तैर्विना दायादाद्यभावे राजा गृहीयात् । 'वा'शब्देन च दायादा  
क्षीना वैकल्पिकमधिकार दर्शयति । पौर्वापर्यनियमस्तु 'पानी बुद्धितर'  
( ४०० १३५ ) इत्यादिना प्रतिपादित एवात्रापि 'वेदितव्य । शिष्यमग्रह  
चारिप्राह्मणनिवेधो यणिविनासिद्ध वचनप्रयोजनम् । यणित्नामपि मध्ये य विण्ड  
दानार्णवानादिसमर्थं स गृहीयात् । सामर्थ्यविशेषे पुन सर्वे वणित्र सप्तष्टिनो  
विमश्व गृहीयुः । तेषामप्यभाव दशवर्षं क्षायादाद्यागमन प्रतापयानाततेषु  
स्वयमेव राजा गृहीयात् । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम् 'एकस्य चोरपान्तरण  
दायादोऽस्य तदाप्नुयात् । अन्यो वाऽमति दायादे क्षायादेःसर्वं पृथक् ॥ तद-  
भावे तु गुप्त संस्कारदेहनासरात् । अस्वामिकमदायाद वृत्तवर्षस्थित तत ॥  
राजा तदाश्रमसाकुर्वादेव धर्मो न हीयते ॥' इति ॥ २६४ ॥

भाषा—एक साथ मिलकर स्थापार करने वालों में यदि कोई साश्रेशर  
निदेश चला जाय या मर जाय तो उसका अशभूत द्रव्य उसक पुत्रादि  
दायाद, चाण्डव या ज्ञातिवाले प्राप्त करें, अथवा देशान्तर से लौटकर ये  
सभी स्थापारी हों या उनक म होने पर राजा (उसका धन) ग्रहण  
करे ॥ २६४ ॥

जिह्वं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽप्येन कारयेत् ।

किं च, जिह्वो वज्रक त निर्लाभ निर्गतलाभ लाभमारिद्धय त्यजेयुर्बहि  
ष्कुर्युः । यद्य सम्भूयकारिणा मध्ये भाण्डप्रत्यवेशणादिक कर्तुमममर्थोऽवाचयेन  
स्वक कर्म भाण्डमारवाहनतदायव्ययपरापूर्णादिक कारयेत् ॥—

प्रागुपदिष्ट वणिग्धर्मं गृह्णित्वादिप्रतिदिशति—

अनेन विप्रियत्तपत्त अस्तित्वकर्तृकम्पिण्यत् ५ २६५ ॥

अनेन 'लाभालाभौ यथाद्रव्यम् इत्यादिगणित्कर्तृकमेव ज्ञातिनां दोषादीनां  
गृहीयलानां नदनतं कनसादीनां च शिखरकर्मोपार्जिनां विधिपतनप्रहार  
भारपान । तत्र च श्रितिकर्म धनविभागे विशेषे मनुना दर्शित (८।२।१०)—

१ विशेष । २ तद्भाषेत ।



‘सर्वेषामर्धिनो मुरयास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । वृत्तीयिनस्तृतीयाशाशतुर्थाशाश्च पादिन ॥’ इति । अस्यायमर्थ — उद्योतिष्टोमेन ‘त शतेन दीक्षयन्ती’ति वचनेन गवा शतमृत्विगानतिरूपे दक्षिणाकार्ये विनियुक्तम् । ऋत्विजश्च होत्रादय पोडश । तत्र करय कियानश ह्यपेचायामिदमुच्यते । सर्वेषा होत्रादीना पोडशर्विजा मध्ये ये मुक्याश्चत्वारो होत्रध्वर्युज्योद्गातार ते गोशतस्यार्धिन सर्वेषा भागपूरणोपपत्तिवशादष्टाचत्वारिंशद्गुपाधेनार्धभाज । अपरे मैत्रावरुण प्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाऽऽसिप्रस्तोतारस्तदर्धेन तस्य मुख्याशस्यार्धेन चतुर्विंशति रूपेणार्धभाज । ये पुनस्तृतीयिन अस्त्रावाकनेऽङ्गीभ्रमतिदत्तारस्ते वृत्तादिनो मुषपांशस्य पोडशगोरूपवृत्तीयानेन वृत्तीयंशभाज । ये तु पादिन ग्रावस्तहु-  
 ष्नेतृपोत्सुप्रहण्यारस्ते मुषयभागस्य पञ्चतुर्थांशो द्वादशगोरूपस्तज्जाज ॥ ननु कथमयमशानियमो घटते ? न तावदत्र समय, नापि द्रव्यसमवाय, नापि वचनम्, यद्गशादीदृशभागनियम स्यात्, अतः ‘सम स्यादक्षुत्तावाद्रिति श्यावेन सर्वेषां समाशभाश्व कर्मानुरूपेण चाऽशभाश्वमिति युक्तम् । अत्रोच्यते,—उद्योतिष्टोमप्रकृतिके द्वादशाहेऽर्धिनस्तृतीयिन पादिन इति सिद्धं वृत्तुवादी न घटते, यदि तत्प्रकृतिभूते उद्योतिष्टोमे अर्धवृत्तीयचतुर्थांशभाजस्य मैत्रावरुणादीना न स्यात्, अतो वैदिकर्द्धिप्रभृतिसमाख्यावलात्प्रागुक्तोऽशनिम-  
 मोऽवकल्पत इति निरवद्यम् ॥ २६५ ॥

भाषा—इन एक साथ मिलकर काम करने वाली में जो जिस ( धूर्त या बेहमान ) हो उसे लाभ न देकर बाहर कर दें और जो कोई कार्य स्वयं करने में असमर्थ हो वह ( अपनी ओर से ) किसी दूसरे व्यक्ति से करावे । इसी के आधार पर ऋत्विजों वृषकों और कारीगरों के विषय में भी विधि समझ लेनी चाहिए ॥ २६५ ॥

इति सभ्यसमुत्थानप्रकरणम् ।

अथ स्तेयप्रकरणम् ॥ २३ ॥

इदानीं स्तेय प्रवृत्तये, तल्लक्षण च मनुनाभिहितम् ( ८।३३२ )—  
 ‘स्यात्साहस रवन्वयवत्प्रसभ कर्म यत्कृतम् । निरन्वय भवेत्स्तेय वृत्तौपद्भुवते च यत् ॥’ इति । अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाप्यज्ञादिममद्यम्, प्रसभ बलावष्ट-भेन यत्परधनहरणादिक क्रियते तासाहसम्, स्तेय तु-त्तद्विलक्षण निरन्वय द्रव्य स्वाभ्याससमञ्जसविरत्वा यत्परधनेहरण तदुच्यते । यच्च सांन्वयमपि वृत्त्वा

१ वचने गता । २ नियमो । ३ पद्भवते च यत् । ह्यवाप्ययते-मनु ।  
 ४ अदृण ।

न मयेदं कृतमिति भयाच्चिह्नते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम् ( १४१७ )—  
'अपार्यैर्विधैरेणं ह्यलघिस्वाऽपकर्षणम् । सुप्तमत्तपमत्तेभ्य स्तेयमाहुर्म  
नीयिण ॥' इति ॥

तत्र तरकरग्रहणपूर्वकस्वाप्ननस्य, ग्रहणस्य च ज्ञानपूर्वकत्वात् ॥  
ज्ञानोपाय तावदाह—

ग्राहकैर्गृह्यते चौरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।

पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासक ॥ २६६ ॥

य 'चौरोऽयम्' इति जनैर्विख्याप्यते असौ ग्राहकैः राजपुरपरधानपालप्रभृ-  
तिभिर्ग्रहीतव्यः । लोप्त्रेणापहृतभाजनादिना वा चौर्यचिह्नेन नाशदेशादारभ्य  
चौर्यपदानुसरणेन वा ग्राह्यः । यत्र पूर्वकर्मापराधी प्राक्प्रख्यातचौर्यं, अशुद्धोऽ  
प्रज्ञातो वास स्थान यस्यासावशुद्धवासकः, सोऽपि ग्राह्यः ॥ २६६ ॥

भाषा—जिसे लोग चोर कहे उस व्यक्ति को ग्राहक ( स्थानपाल  
आदि राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी ) पकड़े सुराई गई वस्तु क मिलने, चोरी  
का चिह्न मिलने, चौर्य पद क अनुसरण से, पहले अपराधी होने ( नामजद चोर  
होने ) और निवासस्थान सही न ज्ञात होने ॥ किसी को चोरी क अभिमोग  
में पकड़ना चाहिये ॥ २६६ ॥

अन्येऽपि शङ्कण ग्राह्या जातिनामादिनिहवै ।

शूतस्त्रीपानसत्ताश्च शुकभिन्नमुखस्वरा ॥ २६७ ॥

पद्मभ्यगृह्याणां च पृच्छका गृहचारिणः ।

निराया वपयमत्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रया ॥ २६८ ॥

किंच, न केवल पूर्वोक्ता ग्राह्या, किंत्व येऽपि वपयमाणैलिङ्गैः शङ्कया  
ग्राह्याः । जातिनिहवैः 'नाह शूद्र इत्येवरूपेण, नामनिहवैः 'नाह द्वितीयं'  
इत्येवरूपेण, 'आदि' 'ग्रहणारम्भदेशप्रामकुलाद्यपलापेन च लक्षिता ग्राह्याः ।  
शूतपण्ड्याङ्गनामद्यपानादि-वसनेष्वतिप्रमत्तास्तथा कुतस्तयोऽपि स्वम् ?' इति  
चौरग्राहिभिः पृष्टो यदि शुकमुखः भिन्नस्वरो वा भवति तस्यैवापि ग्राह्यः ।  
यद्बुवचनास्त्विच्छललारादीनां ग्रहणम् । तथा ये निष्कारण 'किंपदस्य धनं किं  
वाऽस्य गृहम्' इति पृच्छन्ति, यं च वपा-तरधारणेनात्मानं गृहयित्वा चरन्ति,  
य चायाभावेऽपि बहुव्ययकारिणः, ये वा विनष्टद्रव्याणां जीर्णवस्त्रभिन्नभाजना  
दीनामविज्ञातस्वामिकानां विक्रयकास्ते सर्वे चौरसमावनया ग्राह्याः । एष

१ नाशदिग्मा । २ नामजात्यादि । ३ गृहवासिनः । ४ लपित्य  
इत्येव । ५ गृहमित्येवविध पृच्छन्ति ।

नानात्रिषधीरलिङ्गान्पुत्रान्गृहीत्या एते चौरा किं वा माधव इति सम्यक्  
परीक्षेत, न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौर्यनिर्णयं कुर्यात् । अचौर्यस्यापि लोप्यादि-  
लिङ्गमवधमभवत् । यथाह नारद — 'अन्वहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुच्छ्रितं भुवि ।  
चौरेण वा परिचितं लोप्यं यथापरीक्षयत् ॥' तथा— 'अस्तथाः सत्यसकाशा-  
सत्याद्यासत्यसनिमा । दृश्यन्ते विविधा भाजास्तरमाद्भुक्तं परीक्षणम् ॥'  
इति ॥ २६७-२६८ ॥

भाषा—अपनी जाति और नाम जियाने वाले, जुआ, बेरवा गमन और  
सघसान भादि स्वयमनों में लिप्त रहने वाले, ( तुम कहां से आये हो ऐसा  
पूछने वा) भिनका मुत्र सुख जाता हो और चोली बदल जाती हो उग स्पन्दित  
को, दूमरे के धन और घर के त्रिष में यानें पूछने वाले को, ( वेप आदि  
बदलकर ) गुप्त निवास करने वाले, भाव न होने पर भी अधिक व्यय करने  
वाले और कोई हुई वस्तु को बेचने वाले व्यक्तियों को भी सम्येह से परखना  
चाहिए ॥ २६७-२६८ ॥

एष चौर्यज्ञान्या गृहीतेनारमा सशोधनीय इत्याह—

गृहीतः शङ्कया चौर्ये नारमानं चंद्रिशोचयेत् ।

दापयित्वा हतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत् ॥ २६९ ॥

एदि चौर्यज्ञान्या गृहीतरतस्त्रिषरणार्थमात्मानं न शोधयति रुद्धिं यत्पमा-  
णधनदापनवधाविदण्डभाभयेत् । अतो मानुषेण तद्भावे द्विषेन वा आत्मा  
शोधनीय ॥ ननु 'नाहं चौर' इति मित्योत्तरे कथं प्रमाणं समरति ? तरथा-  
भावरूपवात् । उच्यते,—दिव्यस्य तावज्जायाभावोत्तरत् 'दृष्या वाऽप्यन-  
कुर्यात्' इत्यत्र प्रतिपादितम् । मानुष पुनर्यद्यपि साक्षात्पुत्रमित्योत्तरे न  
समरति, तथापि कारणेन ससृष्टे भावरूपमित्यकारणसापनमुक्तेनाभावमपि  
शोचाययेव । यथा 'नादापदाशकाके भद्र देनात्तरत्थ' इत्यभिपुत्रैर्भाविते  
चौर्यभावसापवर्णमित्येः शुद्धिर्भावयेव ॥ २६९ ॥

भाषा—जो चोरी की दावा से परका गया हो और अपनी निर्दोषता न  
प्रमाणित करे उससे चोरी गया हुआ धन दिलाकर चोर के लिये विदित दण्ड  
भी देना चाहिए ॥ २६९ ॥

चौरदण्डमाह—

चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विषयैर्षयैः ।

यस्तु प्रागुत्परीक्षया अक्षिप्येत् वा जिज्ञिनचौर्येण स्वामिने अवहृतं घन  
स्वरूपेण मूषपककनया वा दापयित्वा विविधैर्वैषयैर्षयैर्घातयेत् । एतस्यै चमया-

दसदण्डप्राप्तियोग्योत्तमद्रव्यविषयम्, न पुन पुष्पवस्त्रादिसुद्रमध्यमद्रव्यापहारविषयम् । 'साऽमेषु च एवोक्तसिपु दण्डो मनीषिभिः' । स एव दण्ड स्तेदेऽपि द्रव्येषु त्रिच्यनुक्रममात् ॥' (१४३१) इति नारदवचनं यद्यत्पश्योत्तमसादस श्योत्तमद्रव्यविषयं स्यवस्थापितत्वात् ॥ यत्पुनर्वृद्धमनुवचनम्— अन्ययोपास वित्तत्वाद्धनमेवां मलात्मकम् । अतरेता-घातयद्वाजा नार्थदृष्टेन दण्डयत् ॥' इति,—तदपि महापराधविषयम् ॥—

चौरविशेषेऽपवादमाह—

सचिह्नं ग्राह्यं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रधासयेत् ॥ २७० ॥

प्राह्मण पुनश्चौर महत्स्यप्यपराधेऽपि न घातयेत्, अपि ॥ लघाटेऽङ्गुलिःश्चान्नदेनास्त्रिभ्यासयेत् । अङ्गुलं च यपश्चकार कार्यम्, तथा च मनु (९।२३७)—'गृहसंस्थे भग कार्यं सुरापानं सुरापानम् । स्तेये च श्वपदं कार्यं मङ्गलहृष्यतिराः पुमान् ॥' इति । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमधिकीर्षतां द्रष्टव्यम् यथाह मनु (९।२४०)—'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणः सर्वं वर्णा यथोदितम् । आहुत्या राज्ञः लघाते ॥ द्वाप्यात्तुत्तममाहसम् ॥' इति ॥ २७० ॥

भाषा—चौर से चोरी गई हुई वस्तु हिलाकर अनेक प्रकार के बंध ( शारीरिक दण्ड ) द्वारा दण्डित करे । यदि प्राह्मण ने चोरी की हो तो उसका लघाट पर चिह्न बनाकर उसे अपने राज्य से निकाल देवे ॥ २७० ॥

चौरादर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह—

घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।

विधीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरधीनके ॥ २७१ ॥

यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवशो भ्रमापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतरेव चौरवेदादोषः, तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राजेऽर्पयेत् । तददत्तौ कृतं धनं धनिने दद्याद्यदि चौरैरेव स्वग्रामाभितर्तत न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र भविदानि सद्द्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं वाप्ययेत् । तथा च नारद ( १६।७ )—'योचरे यस्य मुच्यते तेन चौरं प्रयत्नत । प्राह्यो द्वाप्योऽपवा शेष एव यदि न निर्गतम् ॥ निर्गते पुनरेतस्माच्च चन्दयत्र पातितम् । सामन्तान्मार्गपालेभ्य दिक्पालेभ्यैव द्वापयत् ॥' इति ॥ विधीतं स्वपहारे विधीतस्वामिन एव दोषः । यदा स्वप्न-येव तदुच्यते भवावधीनके वा विवाताः द-यत्र क्षेत्रे तदा चौरोद्धर्तुर्मागपालस्य दिक्पालस्य वा दोषः ॥ २७१ ॥

१ स्ता वर्तयन् । २ चौरस्य पदः । ३ लुप्तेत मुच्यते । ४ वापराधः ।

भाषा—गाव के भीतर किसी का चध होने या किसी की चोरी होने पर यदि हथियार या चोर के गाव से बाहर न जाने का संकेत मिले तो ग्रामपाल का ही दोष रहता है । विनीत ( सराय ) में चोरी आदि हो तो उसके स्वामी का और उसके अन्यत्र मार्ग आदि में चोरी या चध होने पर मार्गपाल का दोष होता है ॥ २७१ ॥

म्यस्रीग्नि दद्याद् ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति ।

पञ्चग्रामी यदि क्रोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः ॥ २७२ ॥

किञ्च, यदा पुनर्ग्रामाद्विहीनोऽप्यग्ने चेत्रे शोपादिकं भवति तदा तद्ग्राम-  
वापिन एव दद्युः,—यदि सीम्नो वह्निकीरपदं न निर्गतम् । निर्गते पुनर्वत्र  
ग्रामादिकं चौरपदं प्रविशति स एव चौरार्पणादिकं कुर्यात् । यदा स्वनेकग्राम  
मध्ये क्रोशमात्राद् वह्निं प्रवेक्षे घातितो मुपितो वा चौरपदं च जनसमर्थादिना  
भक्त, तदा पञ्चग्रामां ग्रामाणां समाहारं पञ्चग्रामी दशग्रामममाहारो दशग्रामी वा  
दद्यात् । त्रिकरपदधनं तु यथा तत्प्रमाणं पण्यदहनप्रत्यर्पणादिकं कुर्यादित्येव  
मर्थम् । यदा स्वयतोऽपहतं ग्राम्यं दापयितुं न शक्नोति तदा स्वक्रोशादेव राजा  
दद्यात् । 'चौरहतमवशिरव यथास्थानं गमयेत्स्वक्रोशाद्वा दद्यात्' ( २०।३१ ७७ )  
इति गौतमस्मरणात् ॥ मुपितामुपितमन्वेहे भानुपेग द्विष्येन वा निर्गपः कार्यं ।  
'यदि तस्मिन्दाप्यमाने भवेन्मोषे तु सशयः । मुपितं शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि  
साधयेत् ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ २७२ ॥

भाषा—अग्ने गाँव की सीमा के भीतर चोरी आदि हुई हो तो उसका  
दण्ड गाँव के निवासी देवें अथवा जिस गाँव में चोरों के जाने के पदचिह्न  
दिखाई पड़े उस गाँव के लोग देवें । यदि कई गाँवों के बीच एक क्रोश की  
दूरी पर चोरी आदि की घटना हुई हो तो पाँच गाँव या दस गाँव मिलकर  
दण्ड देवे ( चोरी आदि की क्षति पूरी करें ) ॥ २७२ ॥

अपराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

यन्दिग्ग्राह्यस्तथा धाजिकुञ्जराणां च द्वारिणः ।

प्रसह्यघानिनश्चैत्र शूभानारोपयेन्नरान् ॥ २७३ ॥

यन्दिग्ग्राहात्रीन्बलावष्टम्भेन घातकांश्च नरान्शूलानारोपयेत् । अथ च वध  
प्रकारविशेषोपदेशः । ( १।२८० )—'क्रोशायारायुधायारदेवतायारभेदकान् ।  
दस्यधरयदस्य ह्यन्वादेवानिचारयन् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २७३ ॥

१ चौरार्पणादिकं । २ समाहारोपये दशग्रामी वा । ३ शूल-  
मारोपये । ४ अन्वायारा

भाषा—यलपूर्वक चन्दी को हुड़ाने वाले, घोड़ा और हाथी चुराने वाले और किसी का यलपूर्वक घात करने वाले पुरुषों को शूली पर चढ़ावे ॥ २७१ ॥

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशहीनकौ ।

कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥ २७४ ॥

किंच, यथापुच्छिपत्यपहरतीत्युत्क्षेपकः, यथादियदं स्वर्णादिकं विधत्तयोः कृष्य वा योऽपहरत्यसौ ग्रन्थिभेदकः, तौ यथाक्रमं करेण सन्दंशमहोत तर्जन्याहुत्सेन च हीनौ कार्यौ । द्वितीयापराधे पुनः करञ्च पादञ्च करपादं, तस्य तदेकं च करपादैकं, तहीनं ययोस्तौ करपादैकहीनकौ कार्यौ । उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयो-रेकमेकं करं पादं च द्विग्रादित्यर्थः । एतद्व्युत्तमसाहसप्रतिषेधद्रव्यत्रिपयम् । 'तदन्नद्येद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः' ( १४८ ) इति नारदवचनात् ॥ तुनीयापराधे तु षष्ठ एव । तथा च मनुः ( ९१२७७ )—'अशूलीग्रन्थिभेदस्य द्वेद्वेषप्रथमे प्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये षष्ठमर्हति ॥' इति । जातिद्रव्य-परिमाणतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीय इति ॥ २७४ ॥

भाषा—उत्क्षेपक ( चक्र आदि चुराने वाले उत्तकका ) और ग्रन्थिभेद ( गिरहकट के क्रमशः हाथ और संदश ( तर्जनी एवं अंगूठा ) काट लेना चाहिये । हुडारा अपराध में कसका एक हाथ और एक पैर भी काट देना चाहिये ॥ २७४ ॥

जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहविनियोगवयःशक्तिशुणदेशकालादीनां दण्डगुणलघु-भावकारणानामानमयाप्रतिद्रव्यं बहुमशक्तेः सामान्येन दण्डकल्पनोपायमाह—

क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः ।

देशकालययःशक्ति संविभ्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥

क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः । क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम् । ( १४१४-१९ ) 'मृत्प्राण्डात्तनसत्त्वात्थिदाहृचर्मवृगादि यत् । शमीधाम्यं कृतार्णं च क्षुद्रं द्रव्य-मुदाहृतम् ॥ वासः कौशेयधउर्वं च गोवउर्वं पलावस्तथा । हिरण्यवउर्वं लोहं च मध्यं व्रीहियया अपि ॥ हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुत्रो गजवाजिनः । देवमाह्वगराज्ञां च द्रव्यं विशेयमुत्तमम् ॥' त्रिप्रकारेष्वपि द्रव्येष्वौत्सर्गिकः प्रथममध्यमोत्तम-साहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः ( १४१२१ )—'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभि । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' इति ॥ मृत्मध्येषु मणिकमस्त्रिकादिषु गोवौजिन्यतिरिक्तेषु च महिषमेपादिपशुषु ब्राह्मण-संविधिषु च कनकधान्यादिषु तैरत्तमभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां

मूल्याद्यनुसारेण दण्ड कल्पनीय । एष च दण्डरमणि दण्डकक्षत्रनायां तदेतभूत  
 देनफालवय शक्तीति सम्यक् चिन्तनीयम् । एतच्च जानिद्रव्यपरिमाणपरिमहा-  
 दीनामुपलक्षणम् । तथा हि—'अष्टापाद्य स्तेयक्रिदिवय शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेपां  
 प्रतिषणं विदुषोऽतिममे दण्डमूवसस्यम्' इति । अथमर्थ—'क्रिदिवय' इत्येनात्र  
 दृशो लक्ष्यते । यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स विदुषुः शूद्रहारेऽष्टगुण  
 भावाद्नीय । इतरेपां पुनर्विदुषुः प्रमाणादीनां विदुषां स्तेयं द्विगुणोत्तराणि  
 क्रिदिवयाणि योऽष्टापाद्यिदिवयचतुःपष्टिगुणा दण्डा भावाद्नीया । यस्माद्विदुषुः  
 द्रादिशूद्रहारेषु दण्डमूवसस्यम् । मनुनारथयमेशार्थो दक्षित ( ८।३३७  
 ३१८ )—'अष्टापाद्य तु शूद्रस्य स्तेय भवति क्रिदिवयम् । योऽनैव तु वैश्यस्य  
 द्वाविंशत्यन्यस्य तु ॥ द्वाह्यस्य चतुःपष्टि पूर्णं वापि क्षतं भवेत् । द्विगुणा  
 वा चतुःपष्टिस्तदाप्युणवेदिनः ॥' इति ॥ तथा परिमाणकृममपि दण्डगुरस्य  
 दरपते । यथाह मनु ( ८।३२० )—'धान्य दण्डस्य पुत्रेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं  
 यथ । शैवेयैकादशगुण दान्यस्य च सदनम् ॥' इति ॥ विंशतिश्लोक  
 कुर्म । हर्तुद्विपमाणस्यामिगुणापेक्षया मुभिसुदुभिचकालापरचया वा तादना-  
 क्कपदेनवधरूपा दण्डा योऽया ॥ तथा सवधाविशेषादपि दण्डविशेषो रथाद्विपु ।  
 ( मनु ८।३२१।३२२ )—'सुवर्णरजतश्रीमांसुसमानां च कामसाम् । रत्नानां  
 चैव सर्वेषां क्षतादशधिकं यथ ॥ पद्मानरथस्यधिके हरतरदुर्मनिरप्यते ।  
 द्वापेयैकादशगुण मूल्यादण्ड प्रकल्पयेत् ॥' इति ॥ तथा द्रव्यविशेषादपि  
 ( ८।३२३ )—'पुरुषाणां कुलामानां नारीणां वा विशेषतः । रत्नानां चैव  
 सर्वेषां हरणे यथमहंति ॥ अकुलीनानां तु दण्ड ग्तरम्—'पुरुष हरतो दण्ड  
 श्लोक उक्तमपाहम् । स्वपराधे तु सर्वस्य कर्षां तु हरतो यथ ॥' इति ॥  
 शुद्रद्रव्याणां तु मापतो म्यूनमूल्यानां दम्, 'काष्ठभाण्डानादीनां मूत्रमदानां  
 तर्ध्व च ॥ श्लेषैगवभाण्डानां तथा दान्यस्यिचर्मणाम् ॥ दाकाशामात्रंमूलाणां  
 हरणे पटमूदयो । गोश्लेषुविकाराणां तथा लवणैरुदयो ॥ पद्मानानां  
 क्षताशानां मर्यादाशामिपस्य च । सर्वेषामश्वमूल्यानां मूल्यापरश्वगुणो दम् ॥'  
 ( २२।४ ) इति मातृश्रमणात् ॥ य पुन प्रथमपाहम् शुद्रद्रव्येषु क्षतापरा-  
 पद्मानपर्यस्तोऽर्था मापमूल्या तदधिकमूल्या वा यथापेक्ष्य स्वपरापरादीय ॥  
 यत् पुनर्मानय शुद्रद्रव्याणां यथाचयन-तन्मूल्याद् द्विगुणो दम्' इति, तद्व्यपयो  
 जनदाराणादिविषयम् । तथापराधगुराशशुचि दण्डगुरस्यम् । यथा 'मधि भित्त  
 तु म यार्थे शरीरं कुर्वन् नश्यति ॥ तथा दिग्गो मूरो हन्ती तं पशुदे-  
 निवेसयेत् ॥' ( ८।३०६ ) इत्येष मन्वयामात्मनयाऽग्निद्रव्यं यन्मन्वयेऽग्नि

, १ मन्वयामात्मनयाऽग्निद्रव्यं यन्मन्वयेऽग्नि

परिमाणुदिभिः कारणैर्दण्डगुणलघुभावः कल्पनीयः । पथिकादीनां पुनरल्प-  
पहारे न दण्डः । यथाह मनुः ( ८।३४१ )—‘द्विजोऽप्यगः चीणवृत्तिर्द्वाविच्छ-  
द्वे च मूलके । आददानः परचेत्राच्च दण्डं दातुमर्हति ॥’ तथा—‘चणकप्रोहि-  
गोधूमयवानां मुद्गमापयोः । अनिषिद्धैर्वहीतैर्व्यो मुष्टिरिकः पथि स्थितैः ॥  
तथैव सहमे भक्तं भक्तानि पटनक्षता । भयस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥’  
इति ॥ २७५ ॥

भाषा—छोटी, मध्यम आकार या मूल्य की और यड़ी वस्तु की चोरी  
में देव, काल, आयु और शक्ति को ध्यान में रखते हुए चोरी की वस्तु के  
मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २७५ ॥

अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डमाह—

भक्तायकाशाभ्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान् ।

दृवा चौरस्य वा हन्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥ २७६ ॥

भक्तमशनम्, भवकाशो निवासस्थानम्, अग्निचौरस्य शितापनोद्धार्यं,  
उदकं वृषितस्य, मन्त्रव्ययं प्रकाशोपदेशः, उपकरणं चौर्यसाधनम्, व्ययः अपहा-  
रार्थम् देशान्तरं गच्छतः पाथेयम्, यतानि चौरस्य, हन्तुर्वा दुष्टार्थं जानन्नपि  
या प्रयच्छति तस्योत्तमसाहसो दण्डः । चौरोपेक्षिणामपि दोषः—‘शक्ताश्च य  
उपेक्षन्ते तैऽपि तद्दोषभागिनः ।’ ( १४।१९ ) इति नारदस्मरणात् ॥ २७६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति चोर या हत्यारे को उसका पापकर्म जानते हुए भी  
भोजन, निवासस्थान, अग्नि, पीने के लिए जल, ( चोरी की विधि की )  
सहाय, चोरी के साधनभूत उपकरण और चोरी के लिये कही जाते समय  
मार्ग-व्यय देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २७६ ॥

शस्त्रायपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः ।

उत्तमो चाऽधमो चापि पुरुषस्त्रीप्रमापणे ॥ २७७ ॥

किंच परगात्रेषु दास्यथावपातने दासीवाह्यगर्भस्यतिरेकेण गर्भस्य  
पातने चोत्तमो दमो दण्डः । दासीगर्भनिपातने तु ‘दासीगर्भविनाशकृत्’  
( श्व. २३९ ) इत्यादिना क्षतदण्डोऽभिहितः । दास्यण्यगर्भविनाशे तु ‘दृवा  
गर्भमविशाम्’ इत्यत्र ब्रह्मदस्यातिदेशं वैचयति । पुरुषस्य प्रमापणे स्त्रियाश्च  
शीलवृत्ताद्यपेक्ष्योत्तमो चाऽधमो वा दण्डो व्यवस्थितो वैदितव्यः ॥ २७७ ॥

भाषा—दुस्ती के शरीर पर शस्त्र चलाने और गर्भपात करने में उत्तम  
दण्ड होता है । पुरुष और स्त्री को मारने पर ( शील एवं वृत्ति के अनुसार )  
उत्तम अथवा अधम दण्ड देना चाहिये ॥ २७७ ॥



विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम् ।

सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां यध्वा प्रवेशयेत् ॥ २७८ ॥

अपि च, जिनेपेग प्रदुष्टा विप्रदुष्टा, भ्रूणघ्नी स्वगर्भपातिनी च । या च पुरुषस्य हन्त्री सेतूनां भेद्यी च,—यता गर्भरहिताः स्त्रीगले शिलां यध्वा अप्सु प्रवेशयेत् यथा ऽ प्लवन्ते ॥ २७८ ॥

भाषा—( गर्भपात करमे आदि के कारण ) जो स्त्री अत्यन्त दुष्टा हो, और पुरुष की हत्या करने वाली हो, जिमने सेतु ( पुल या बाँध ) तोड़ा हो उसके गर्भवती ब होमे पर उसके गले में शिला बाँधकर पानी में डाल देवे ॥ २७८ ॥

विपाग्निदां पतिगुरुनिजापरयप्रमापणीम् ।

विकर्णकरनासौष्टीं कुर्या गोमिः प्रमापयेत् ॥ २७९ ॥

किञ्च, 'अगर्भिणीम्' इत्यनुवर्तते । या च परवधार्थमज्ञपानादिषु विषं ददाति क्षिपति । या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददाति, तथा या च मित्रपति-गुरुंपर्यापानि मारयति तां विविदुषकर्णकरनासौष्टीं कुर्या अदान्तैर्दुष्टबलीवर्द्ध-प्रधाह्य मारयेत् । इत्येषप्रकरणे षडैतत्साहसिकस्य षडविधामं सत्यासन्निकमिति सम्प्रत्यम् ॥ २७९ ॥

भाषा—जिम स्त्री ने दूसरे को मारने के लिये अन्न में विष दिया हो, घर जलाने के लिए अग्नि दिया हो, जिसने पति, गुरु या अपनी सम्पत्ति का बध किया हो ( यदि वह गर्भिणी न हो तो ) उसके कान, हाथ, नाक और भोट काटकर उसे जैलों से भरवा डाले ॥ २७९ ॥

अविज्ञानपूर्वकं हनने हन्तृज्ञानोपायमाह—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतघान्धवाः ।

प्रष्टया योपितध्यास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥ २८० ॥

अविज्ञातहतस्याविज्ञातपुरुषेण घातितस्य संबन्धिनः, सुतः प्रयासस्रवाग्ध-वाश्च 'केनास्य कलहो जात ' इति कलहमाशु प्रष्टव्याः । तथा मृतस्य संबन्धिन्धो योपितो याश्च परपुंसि रता व्यभिचारिण्यस्ता अपि प्रष्टव्याः ॥ २८० ॥

भाषा—जिस व्यक्ति के हत्यारे का पता न हो उसके पुत्रों और बान्धवों से उसके कलह के विषय में पूछना चाहिये ( अर्थात् इस प्रकार पूछना चाहिये कि इस मृत व्यक्ति का किसके साथ वैर था ), उसकी व्यभिचारिणी स्त्रियों से भी अलग अलग पूछना चाहिये ॥ २८० ॥

अथ प्रष्टव्या दृश्यत आह—

स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वाऽयं गतः सह ।

मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनै ॥ २८२ ॥

‘किमय स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा ?’ तथा ‘कस्या किंसवन्धिन्वा वा स्त्रियामस्य रतिरासीत् ?’, ‘कस्मिन् वा द्रव्ये प्रीति ?’, ‘दुतो वा वृत्तिकाम ?’, ‘केन वा सह देशान्तरं गत ?’ इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योपितं पृथक्पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्या । तथा मरणदेशनिवृत्तिर्निर्णयो गोपाऽट्टिकाद्याः ये जनास्तेऽपि विश्वासपूर्वकं प्रष्टव्या । एव नामाकारं प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य बहुचित्तो दण्डो विधातव्यः ॥ २८१ ॥

भाषा—यह स्त्री, धन, या ‘वृत्ति किस की अभिलाषा रखता था अथवा किस के साथ गया था, इस प्रकार मृत्यु स्थान के निवृत्तार्थी मनुष्यों से विश्वास दिलाकर पूछना चाहिए ॥ २८१ ॥

क्षेत्रघोश्मघनग्रामविधीतललाहका ।

राजपत्न्यभिनामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥ २८२ ॥

त्रिंश, क्षेत्र पक्ष्णस्योपेतम्, घोरम् गृहम्, वनमटवीं काशान वा, ग्रामम्, विधीतमुच्छलणम्, लला वा ये रहन्ति, ये च राजपत्नीमभिगच्छन्ति तान्सर्वा-कटैर्वीणरमयैर्बेष्टयिष्याद्देत् । क्षेत्रादेर्वाहकानां मारणदण्डप्रसङ्गादण्डविधानम् ॥ २८२ ॥

भाषा—किसी दूसरे के खेत, ( पकी फसल ), घर, वन, ( बाटिका ) गाँव, यादा और खलिहान की जलाने वाले तथा राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले को कट ( सरहरी ) में लपेटवाकर जला देना चाहिए ॥ २८२ ॥

इति स्तेयप्रकरणम् ।

### अथ स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणाय विवाहवद् व्याख्यायते । प्रथमसाहस्यविद्वन्प्रमाणपर्यं त्रेषां तत्पररूपं व्याप्तेन विदुतम्—‘त्रिनिध तत्समाखयात् प्रथमं मत्पत्नीत्तमम् । अदे-  
शैकाल्मभाषाभिर्निर्जने च परस्त्रिया ॥ कणाद्यवच्छेदं दास्य प्रथमं साहस्यं स्मृतम् ॥  
त्रेपणं गन्धमाखयानां धूपभूषणवामस्यम् ॥ प्रलोभनं चाखयानैर्मन्थनं साहस्यं स्मृतम् ॥ सहायनं विविधैः तु परस्परैः सुपाश्रयं केशादेभिः प्रहस्यैः सम्पक्-  
संग्रहणं स्मृतम् ॥ स्त्रीपुत्रयामिधुनीभाय संग्रहणम् ॥

समग्रज्ञानपूर्वकरवात्तत्कर्तुर्दण्डविधानस्य तज्ज्ञानोपाय तावदाह—

पुमान्संग्रहणे प्राह्य केशाकेशि परस्त्रिया ।

सद्यो या कामजैश्चिह्नै प्रतिपत्तो द्वयोस्तथा ॥ २८३ ॥

संग्रहणे प्रवृत्त पुमान् केशाकरवादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञात्वा ग्रहीतव्य । परस्पर केशग्रहणपूर्विका क्रीडा कशाकेशि । 'तत्र तेनेदम्' ( पा २।२।२७ ) इति सरूपे' इति बहुव्रीही सति— इच्छ कर्मव्यतिहारे ( पा ५।४।१२७ ) इति समासान्त इच्छ प्रसय । अन्वयत्वाच्च लुप्तगृहीतविभक्ति । तत्तद्व्यायमर्थ — परभार्यया सह केशाकेशिक्रीडननाभिन्वयै कररुहदशननादिवृत्तवगै शगकूनैर्लिङ्गैर्द्वयो संग्रहितवया वा ज्ञाना संग्रहणे प्रवृत्तो ग्रहीतव्य । 'परस्त्री'ग्रहण नियुक्ताघरदादिशुदा सार्थम् ॥ २८३ ॥

भाषा—परायी स्त्री का कश पकड़ कर क्रीडा करने से, तत्काल काम क्रीडा द्वारा बनावे गये ( लम्बलत भादि ) चिह्नों से भयवा दोनों की परस्पर प्रकट प्रीति वलकर ( व्यविचार मं ) प्रवृत्त पुरव को पकड़े ॥ २८३ ॥

मीचीस्तनप्रावरणसन्धिकेशावमर्शनम् ।

अदेशकालसभापं संहैकास्तनमेव च ॥ २८४ ॥

किञ्च, य पुन परदारपरिधानप्रतिप्रदेशकुचप्रावरणजननमूर्धरहादिस्पर्शन साभिलाप हवाचरति । तथा अदो निर्जने जनताकीर्णे वाऽन्वकाराकुले अकाले सलापन करोति । परभार्यया वा सहैकमञ्जुकादौ रिरसयवावतिष्ठते य, सोऽपि संग्रहणे प्रवृत्तो प्राह्य । एतच्छास्त्रद्वयमानदोषपुरुषविवयम्, इतरस्य तु न दोष । यथाऽऽह मनु ( ८।३।५५ )—'यस्त्वनाचारित पूर्वमभिभाषेन कार गत् । न दोष प्राप्नुयात्किञ्चिन्नहि तस्य स्वतिक्रम ॥' इति । ॥ परस्त्रिया स्तृष्ट चमतेऽभाषवि प्राह्य इति तेनैवोक्तम् ( ८।३।५८ )—'खिय स्तृष्टेददो य स्तृष्टो वा मर्षयत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वे संग्रहण स्मृतम् ॥' इति । यद्य मयय विद्वाऽप्यहमिदमित्तरति श्लाघया भुनगजनसमञ्ज स्यात्पथस्यसावपि प्राह्य इति तेनैवोक्तम् । दर्पाद्वा यदि वा मोहाध्वुलाघवा या स्वय यदत् । पूर्वं मयय भुञ्जेति तच्च संग्रहण स्मृतम् ॥ ( भा० १।२।६९ ) इति ॥ २८४ ॥

भाषा—( परायी स्त्री का ) मीचा, खोली या अँचल, जॉय भीर कश कामुकता पूर्वक छूने, अनुचित स्थान ( एकान्त, भेद या अँधरे ) में भीर अयुक्त समय पर ( जैसे रात्रि को ) आपग करने और एक साथ एक भाषन पर धरने वाले पुरुष को पकड़े ॥ २८४ ॥

प्रतिपिद्यो. स्त्रीपुंसयो. पुन. सँज्ञापाविकरणे दण्डमाह—

स्त्री निषेधे शतं दद्याद् द्विशतं तु दमं पुमान् ।

प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥ २८५ ॥

प्रतिपिद्यत इति प्रतिषेध. प्रतिपिशादिभिर्न सह समापणादिक निपिद्य-  
सत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्डं दद्यात् । पुंस्य पुनरेव निपिद्ये प्रवर्तमानो  
द्विशत दद्यात् । द्वयोस्तु स्त्रीपुंसयो प्रतिपिद्ये प्रवर्तमानयो संग्रहणे समीचे  
घर्णानुसारेण यो दण्डो वचयते स एव विज्ञेय । एतच्च चारणादिभार्याश्वति-  
रेकेण । 'नैप चारणद्वारेषु विधिर्नामोपजीविषु । सङ्गवन्ति हि ते नारीं  
निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ( ८३६२ )—इति मनुस्मरणात् ॥ २८५ ॥

भाषा—पति, पिता भाई आदि ने जिस गुरुप के साथ बोलने के लिये  
मना क्रिया हो उससे बोलने पर स्त्री सौ पण नीर इसी प्रकार का निषेध  
किये जाने पर भी किसी स्त्री से बोलने या सञ्च ररने वाले गुरुप से वो सौ  
दण्ड दे । दोनों को वर्जित क्रिया तथा हो तो उन्हें यही दण्ड होता है जो  
उपर्युक्त संग्रहण आदि में होता है ॥ २८५ ॥

नमिदानीं संग्रहणे दण्डमाह—

सजाताद्युत्तमो दण्ड जानुलोभ्ये तु मध्यमः ।

प्रातिलोभ्ये चध. पुंसो नार्या कर्णादिकर्तनम् ॥ २८६ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां बटाकारेण सजातीयगुणपरधाराभिगमने साक्षीतिपण-  
सहस्र दण्डनीय । यदा स्यामुलोभ्येन हीनवर्णं स्त्रियमगुणामभितश्चति, तदा  
मध्यमसाहस्र दण्डनीय । यदा पुन. तवर्णान्निगुणामानुलोभ्येन गुणा वा प्रगति  
तदा मातये विषेप उच ( ८३७८-१८३ )—'सहस्रं ब्रह्मणो दण्ड्यो गुण-  
विमा यथाद् मज्जन् । दातानि पञ्च दण्डय स्यादिदृग्भ्या सह तगत ॥' तथा—  
'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड दान्यो गुणे तु ते मज्जन् । शूद्राया चत्रियविशोः सहस्रं तु  
भवेद्दम ॥' इति ॥ एतच्च गुरुभलिभार्याश्वतिरेकेण द्रष्टव्यम् ।—'माता  
मातृवसा श्रुमूर्तिपुत्राणी पितृत्वसा । पितृत्वसन्निशिष्यस्त्री भगिनी तत्सप्री  
स्तुया ॥ दुहिताधार्यभार्या च सगोत्रा दारणागता । राज्ञी प्रमजिता धात्री  
सप्तक दण्डनीयः च यः ॥ क्षात्राभ्यतमं पञ्चदशदण्डनीय उच्यते । शिश्नरथो-  
कर्तनान्त्रय नान्यो दण्डो विधीयते ॥' ( १२१७३—७५ ) इति नारदस्मर-  
णात् । प्रातिलोभ्ये उरुकृष्टवर्णसंगमने चत्रियादे पुरुषस्य चध । एतच्च गुणा  
विषयम्, अन्यत्र ॥ धनदण्ड । 'उभावपि हि तावेव साक्षण्या गुणया सह ।  
विस्तुनी शूद्रवदण्डवी दग्ध्यो वा बटागिना ॥ ब्राह्मर्षी यद्यगुणां तु सेधेना  
वैरपवार्थिनी । वैश्य पञ्चशत कुर्याच्चत्रिय ॥ सहस्रिणम् ॥' ( ८३७९१२७७ )

उच्च जाति का कन्या का अपहरण करने वाले पुरुष का वध कर देना चाहिए ॥ २८० ॥

भानुलोम्यापहरणे दण्डमाह—

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः ।

यदि सानुरागां हीनवर्णा कन्यामपहरति तदा दोषाभावात् दण्डः । अन्यथा स्वनिर्लुप्तीमपहरतः प्रथमसाहस्यो दण्डः ॥

कन्यादूषणे दण्डमाह—

दूषणे तु कारच्छेद् उत्तमायां धवस्तथा ॥ २८८ ॥

'भानुलोमासु' इत्यनुवर्तते । यद्यकामां कन्यां यत्प्रकारेण नखसतादिना दूषयति तदा तस्य करच्छेत्तस्यः । यदा पुनस्नामेवाहुलिप्रसंगेण योनिच्छतं कुर्वन् दूषयति तदा मन्वृत्तवृत्तसहितोऽहुलिच्छेदः । 'अभिपद्य ॥ यः कन्यां कुर्वाद्दूषेण मानवः । तस्याश्च कर्त्तव्यं अङ्गुली दूषं चार्हति पट्टानम् ॥' ( मनुः ८।३६७ )—इति । यदा पुनः सानुरागां पूर्ववद्दूषयति तदाऽपि तेनैव विशेष उक्तः ( मनुः ८।३६८ )—'सकामां दूषयन्कन्यां नाहुलिच्छेदमर्हति । द्विशतं तु दमं द्वाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ।' इति । यदा तु कन्यैव कन्यां दूषयति, विदाधा वा, सत्रादि विशेषस्तनैषोक्तः । 'कन्यैव कन्यां या कुर्वात्तस्यास्य द्विशतो दमः । या तु कन्यां प्रकुर्वात्सी सा सद्यो मीणक्यमर्हति ॥ अङ्गुलीरेव वा च्छेदं स्तरेणोद्दहनं तथा ॥' ( मनुः ८।३६९ )—इति । 'कन्यां कुर्वात्' इति कन्यां योनिच्छतयतीं कुर्वादित्यर्थः ॥ तदा पुनरङ्गुलिजातीयां कन्यामपि दोषात्सकामामकामां याऽभिगच्छति तदा हीनस्य चित्रिवादेर्वध एव; 'उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति' ( ८।३६९ )—इति मनुस्मरणात् ॥ यदा सवर्णा सकामाभिगच्छति तदा योनिधुनं शुद्धकं तस्मिन्ने दद्यात्, पद्मीच्छति; पितरि तु शुद्धकमनिच्छति दण्डरूपेण तदेव शस्त्रे दद्यात् । सवर्णामकामां तु गच्छतो वध एव; यथाह मनुः ( ८।३६९ )—'शुद्धकं दद्यात्सेवमानः समाभि-च्छेदोपेता यदि' ( ८।३६९ )—'योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयेत्पुत्रयो न वधं प्राप्नुयाधरः ॥' इति ॥ २८८ ॥

भाषा—कन्या का भी प्रेम होने पर और उसके ( पुरुष से ) निम्न जाति का होने पर दोष नहीं होता, अन्यथा ( कन्या का प्रेम न होने पर ) प्रथम साहस्य का दण्ड हाता है, यदि ऐसा ( अर्थात् अपने से हीन जाति की

१. रत्नययाऽधम. (= प्रथमसाहस्य) । २. दूषयन्स्तुत्रयो । ३. विशेषा-स्तानुरागामकामां ।

और न चाहने वाली) कन्या को बलपूर्वक नसचन भादि से दूषित करने पर हाथ काटने और अपने से उच्च वर्ण की अनचाहती कन्या को दूषित करने पर दण्ड का दण्ड होता है ॥ २८८ ॥

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद् द्वे तु मिथ्याभिर्शंसने ।

पेशूगच्छुशत दाप्यो हीनां स्त्रीं गा च मध्यमम् ॥ २८९ ॥

किंच, 'स्त्री शब्देनात्र प्रकृत-वार्त्तव्याऽवमृश्यते । तस्या यदि कश्चिद्विद्यमानानेवापस्मारराज्यचक्रमादिदोषकुसितरोगससृष्टमैथुनत्वादिदोषा-प्रकारय 'दूष मर-या' इति दूषयति, असौ शत दाप्य । मिथ्याऽभिशासने तु पुनरविद्यमान-दोषाविष्कारेण दूषणे द्वे शते दापनीय । गो-व्यतिरिक्तपशुगमने तु शत दाप्य । य पुनर्हीनां स्त्रियमभ्यावसाविषीमविशेषासक्तकामाकामा वा गौ च निगच्छु-त्यसौ मध्यमसाहस दण्डनीय ॥ २८९ ॥

भाष्य—किसी कन्या का वास्तविक दोष भी प्रकाशित करने पर सौ पण और उस पर झूठा दोष लगाने पर दो सौ पण दण्ड दे । पशु मैथुन करने वाले से सौ पण दण्ड ले और हीन स्त्री पशु गाय में मैथुन करने वाले को मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २८९ ॥

साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—

अथरुद्रासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ।

गम्यास्वपि पुमाब्दाप्य पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥

'गच्छन्' इत्यनुवर्तते । उच्छलचला वर्णस्त्रियो दास्य ता एव स्वामिना दूष्याहानिर्भुंदासार्थं गृह भूय स्यात्तन्मिशेष पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा भवरुद्धा, पुरुषनिषतपरिमहा भुजिष्या, यद्वा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या वा भवेदुस्तदा तामु तथा । च'शब्दाद्देश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणां भुजिष्याणां च ग्रहणम् । तामु च सर्वंपुरुषसाधारणतया गम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत्पण दण्डनीय, परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात् । एतच्च स्पष्टमुक्त नारदेन ( ३२।७।७९ )—'स्वैरिष्यमाहाणो वेरया दासी निष्कासिनी च या । गम्या रयुरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिभोगत ॥ आरवेव तु भुजिष्यासु दोष इयात्परदारवत् । गम्यास्वपि हि नोपेयौघनरता सपरिमहा ॥' इति ॥ निष्कासिनी स्वाम्यनयरुद्धा दासी । ननु च स्वैरिष्यादीनां साधारणतया गम्यास्वाभिधानमुक्तम् । नहि जातित आस्यतो वा काश्चन लोक साधारणा

१ मिथ्याभिशासिते, । मिथ्याभिशासिता । २ पशु गच्छुशत दाप्यो हीनस्त्री गा । ३ यतस्ता चरपरिमहा ।

श्रिय उपलभ्यन्ते । तथा द्वि-स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्गर्णस्त्रिय एव; 'स्वैरिणी या पतिं हिंसा सर्वणं कामतः श्रयेत् । वर्णानामानुलोभ्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ नच वर्णस्त्रीणां पर्यौ जीवति भूते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते; 'दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । परिचार्यः श्रिया साध्यः सततं देवव्यपतिः ॥ कामं तु अप्येहेहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु मामापि गृह्णीयात्पर्यौ प्रेते परस्य तु ॥' ( मनुः ५।१५४-१५७ )—इति निषेधस्मरणात् ॥ नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम् । विप्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दास्योपदेशात् । द्वाश्रमायेऽपि तथाविधाया एव स्वयंभरोपदेशात् । न च दासी भावात्स्वधर्माधिकारप्युक्तिः । पारतन्त्र्यं हि दास्यम्, न स्वधर्मपरिहासः । नापि वेरया साधारणी; वर्णानुलोभजस्यतिरेकेण गम्यजात्यन्तरासंभवात् । तदन्तःपातित्ये च पूर्ववद्देवागम्यत्वम्; प्रतिलोमत्ये तु तासां नितरामगम्यात्वम् । अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्मभ्यासेन पानिषात्, पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सत्कलपुरुषोपभोगयोग्यत्वम् । सत्यमेवम् । किं तद्यत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे विप्रादिरक्षरराजदण्डभयादिरष्टदोषाभावाद्गम्यात्वंवाच्योयुक्तिः । दण्डाभावश्चावहृदासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपायितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्वर्थादवगम्यते । स्वैरिण्यादीनां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात् ॥ 'कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टां न किञ्चिदपि दापयेत् ॥' इति टिप्पणिदर्शनाच्चावगम्यते । प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्वल्नमित्तं गम्यानां गन्तृणां पानिषोपाज्ञवायेक । यत्पुनर्देशानां जात्यन्तरासंभवेन वर्णाश्रयातिरेकानुगानापुत्रम्—'वेरया वर्णानुलोभाद्यन्तःपातित्यः; मनुष्यजात्याश्रयात्, प्राज्ञादिपत्' इति । सच; दण्डमोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात् । अतो वेरयाप्या काचिज्जानिनादिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरयादुत्पन्नाःपुरुषसंभोगवृत्तिर्धेयंति प्राज्ञण्यादिःश्लोकप्रसिद्धिद्वयादभ्युपगमनीयम् । नच निर्मूलेय प्रसिद्धिः । समर्थे हि शब्दपुराणे—'पद्मपूजा नाम काश्चनान्तरसा, तस्यन्तर्धेययापया पद्ममी जातिः' इति । अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधियिपुरतया समानोत्कृष्टजानिपुरपाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः । तासु चानवरद्धामु गच्छन्तां पुरयाणां यद्यपि न दण्डस्तथाऽप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव । 'स्वदारनिरतः मदा' ( ३।४५ ) इति नियमात् ।—'पद्मपूरयाभिगमने प्राप्तापयं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवयवम् ॥ २९० ॥

भाषा—यदि कोई पुरुष दूसरे की अउद्धा ( केवल स्वामी की सेवा के लिए रज़ी गई, जिसे घर से बाहर निकलना मना हो ) दासी भीर मुजिप्पा

( अर्थात् किसी विशेष पुरुष को सौंपी गई ) दासी से सम्भोग करे तो उस दासी के गर्भ होने पर भी पुरुष को पचाम पण दण्ड लेवे ॥ २९० ॥

'अवरद्धासु दासीषु' ( ध्य० २९० ) इत्यनेन दासीस्वैरिष्यादिभुजिष्याभि-  
गमने दण्ड विदधतस्तास्वभुजिष्यासु दण्डो नास्तीत्यर्थादुक्त तस्यापवादमाह—

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः ।

एहनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक् ॥ २९१ ॥'

पुरुषसंभोगजीविकासु दासीषु स्वैरिष्यादिषु शुद्धदानविरहेण प्रसह्य बला-  
रकारेणाभिगच्छतो दशपणो दण्डः । यदि एवम् 'दशमनिष्यन्तीमपि  
बलाकारेणाभिगच्छन्ति तर्हि प्रत्येक चतुर्विंशतिपणपरिमित दण्डः दण्डनीयाः ।  
यदा पुनस्तदिरक्षया मादित् दत्त्वा पश्चात्निष्यन्तीमपि बलात्प्रयत्नित तदा तेषाम  
दोषः, यदि ध्याप्याद्यभिगच्छतस्वा न स्यात् 'व्यधिता सप्तमा स्वप्ना  
राजस्रमपराधना । आमन्त्रिता चेकात्पद्येददण्ड्या बद्धा स्मृता ॥' इति  
नारदवचनात् ॥ २९१ ॥

भाषा—( पुरुष संभोग से जीविका चलाने वाली स्वैरिणी ) दासियों  
से बलपूर्वक ( बिना धन दिये ही ) सम्भोग करने का दण्ड दस पण कहा  
गया है । यदि अनेक पुरुष मिलकर न चाहने वाली स्वैरिणी दासी के साथ  
बलाकार करें तो उनमें से प्रत्येक से चौबीस पण दण्ड लेवे ॥ २९१ ॥

गृहीतचेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं बधेत् ।

अगृहीते समं दास्य. पुमानप्येवमेव हि ॥ २९२ ॥

यदा तु शुक्क गृहीत्वा स्वस्थापि अर्धवति नेच्छति तदा द्विगुणं शुक्क  
दद्यात् तथा शुक्क दत्त्वा स्वयमनिष्यत्. स्वस्थस्य पुंसः शुक्कहानिरिव ।  
—'शुक्क गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं बधेत् । अनिष्यन्तशुक्कोऽपि  
शुक्कहानिमवाप्नुयात् ॥' इति तन्नैवोक्तम् । तथाऽन्योऽपि विशेषस्तेनैव  
दर्शितः—'नप्रयच्छुरतथा शुक्कमनुभूय पुमान्निश्रयम् । अन्नमेण च तगच्छन्  
पौद्वन्तनसादिभिः ॥ अयोनी वाऽभिगच्छेद्यो बहुभिर्वाऽपि वासयेत् । शुक्क-  
मष्टगुणं दास्यो विनयं तावदेव ॥ ॥ वेश्याप्रधाना यास्तत्र क्षामुकास्तद्महो-  
पिता । तस्मिन्मध्येषु कार्येषु निर्णय सप्तये विदुः ॥' इति ॥ २९२ ॥

भाषा—शुक्क लेकर ( गौर स्वस्थ होने पर भी ) शुक्क देने वाले  
पुरुष से सम्भोग की इच्छा ॥ रखने वाली वेश्या शुक्क का दूना धन देवे ।

१. अयोनी गच्छतो...वाधिमेहत • ॥ २९२ ॥ २. मयभिलषन्ती ।

३. घातदन्तनता ।



बिना शुक्क लिये ही संभोग की स्वीकृति देने के बाद नष्ट जाने वाली वेश्या शुक्क के बराबर धन दे। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के समीप गये हुए पुरुष के विषय में भी होता है। ( यदि शुक्क देने के बाद स्वस्थ होने पर भी संभोग न करे तो फिर शुक्क वापस लेने का अधिकारी नहीं होता ) ॥२९२॥

अथोनौ गच्छतो योषां पुरुषं चाभिमेहतः ।

चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥ २९३ ॥

किंच, परंतु स्त्रियोषां मुख्यादावभिगच्छति पुरुषं चाभिमुखो नैदति तथा प्रव्रजिता वा तच्छ्रयसौ चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः ॥ २९३ ॥

भाषा—स्त्री की चोरी को छोड़ कर उसके मुख आदि किसी अन्य अंग में मैथुन करने वाले, पुरुष के समझ रति करने वाले और प्रव्रजिता (सम्प्राप्तिनी) का संभोग काने वाले पुरुष को चौबीस पण दण्ड द्यगता है ॥ २९३ ॥

अन्याभिगमने रथद्वयः कुवन्धेन प्रयासयेत् ।

शूद्रस्तथाऽन्य एव स्यादन्त्यस्यायोगमे पथः ॥ २९४ ॥

किंच, अन्या चाण्डाली तद्रमने त्रैवर्णिकाभ्याश्चित्तानभिमुत्तान् 'सहस्रं त्वग्नयन्नियम्' ( ८।३।८५ ) इति अनुवचनारणसहस्रं दण्डयिष्या कुवन्धेन कुमितवन्धेन भगाकारेणाद्वयिष्या स्वराप्ताद्विवातयेत् । प्रायश्चित्ताभिमुत्तस्य पुनर्दण्डनमेव । शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्य एव चाण्डाल एव भवति । अन्यस्य पुनश्चाण्डालादैरदृष्टतात्पर्याभिगमे पथ एव ॥ २९४ ॥

भाषा—चाण्डाली से संभोग करने वाले पुरुष को, उसके तरीर पर भग की आहुति दागकर अपने राज्य से निर्वासित कर दे। शूद्र पुरुष ( चाण्डाली संभोग से ) चाण्डाल ही हो जाता है और उत्तम जाति की स्त्री से रति करने पर चाण्डाल का वध होता है ॥ २९४ ॥

इति स्त्रीसंभोगप्रकरणम् ।

अथ प्रकीर्णकप्रकरणम् २५

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीसुमयोगाध्यमप्यपरं विवादापदं मनुनारदाभ्यां विदु-  
तम् । तत्र नारदः ( १२।१ )—'विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्यते ।  
स्त्रीसुमयोगसञ्ज तद्विवादापदमुच्यते ॥' इति ॥ मनुस्मृत्याह (१।२)—'अस्वतन्त्राः  
स्त्रियः क्वार्थाः पुरुषैः स्वैर्दिवानिदाम् । विषयेषु च सज्जनवः संस्थाप्या ह्यारमनो

१. अन्याभिगमने ॥२९३॥ २ चाभिमेहतः । विद्वान्दशपणो दण्डः ।  
३. स्वेच्छया योषां । ४. त्वाह्वय । ५ कुवन्धेन । ६. स्तथाऽह्वय ।

यस्ये ॥'हायादि ॥ यद्यपि स्त्रीपुंसयो परस्परमयिप्रत्यर्थितया नृपसमस्य व्यवहारो निषिद्धः, तथापि प्रायश्चण कर्णपरस्परया वा विहिते तयो परस्परानिचारे दण्डादिना दम्यती निजधर्ममार्गं राज्ञा स्थापनीया । इतरथा दोषभाभवतीति स्वप-  
हारमकरणे राजधर्ममन्वेऽस्य स्त्रीपुंसधर्मजातरयोपदेयः । एतच्च विवाहप्रकरण एव समपद्य च प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरत्रोक्तम् ॥

योऽप्रत प्रकीर्णकाक्य व्यवहारपद प्रस्तूयने । तद्व्यवहारेण च कथित मारदेन (१७ १-४) - 'प्रकीर्णकं पुं विज्ञया व्यवहारा नृपाधया । राज्ञामाज्ञाप्रतीघातन-  
रुर्मकरण तथा ॥ पुर प्रदाम समेदं प्रहृणीनां तथैव च । वाग्विद्वनैगमथेनि-  
गणधर्मविपर्यया ॥ विप्रापुत्रविवाद्दत्त प्रायश्चित्तस्यसकम् । प्रतिग्रहविहोपश्च  
कीपश्चाधमिणामपि ॥ वर्गसकरदोषस्य तद्व्यवृत्तिनियमनतया । न ह्येव यद्यत् पूर्वेषु  
सर्वं तत्पर्यायप्रकीर्णक ॥' इति ॥ प्रकीर्णकं विवादपदे ॥ विवादा राजाज्ञेऽद्वन्द-  
तद्वाकाकरणाद्विधिव्याप्तौ मृपसमवायिनः । मृप एव तत्र स्मृत्याचारध्यापनमार्गे  
वर्तमानानां प्रतिदूलात्प्राप्त्याय व्यवहारनिर्णय कुर्वाणः ॥ एव च वदता यो  
मृपाधयो व्यवहारस्तत्प्रकीर्णकमित्यर्थाह्वितं भवति ॥

तत्रापराधवितोषेण दण्डवितोषमाह—

'ऊर्णं षोडश्याधिकं षोडपि लिपेद्यो राजशासनम् ।

पारदारिकधीरे<sup>१</sup> वा मुञ्चतो दण्ड उच्यते ॥ २९५ ॥

राजदत्तभूमेर्निजधर्मस्य वा परिमालाभ्यूनत्तमाधिक्य वा प्रकाशवत् राज-  
शासन षोडशिलिपिनि, यद्य पारदारिक धीरे वा गृहीत्या रागेऽनर्पविरहा मुञ्चति  
तादुमायुत्तममाहस दण्डनीया ॥ २९५ ॥

भाषा—जो राजा की आज्ञा को घटा बढ़ाकर लिखता है और जो  
पराधी छद्म से स्वभिवार करने वाले या चर को पकड़ करके भी छोड़ देता है  
उसे उक्त म साहस का दण्ड होता है ॥ २९५ ॥

प्रसङ्गात्प्रायश्चित्तविवेकव्यवहारविषयमपि दण्डमाह—

अमदयेण द्विजं दूष्यो दण्ड्य उच्यतेऽसदसम् ।

मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमधिकम् ॥ २९६ ॥

१ मृपसमीप । २ ऋक पुनर्ज्ञेया । ३ भेदुष्य । ४ मृप वा ।  
५. षोडपि यो लिपिमात्र । ६ वाऽप्यधि । ७ क्षीरी । ८ द्विज  
मृपेयाधरवण दण्ड्य उच्यतेऽसदसम् । क्षत्रिय मध्यम वैश्य प्रथम शूद्रमधि-  
कम् । अमदयेद्वेषवन् विष दण्ड उच्यतेऽसदसम् ।

मृत्पुरीषादिना अमष्येण मध्वानर्हेण दृष्याज्जपानादिभिर्धनेन रवेरूपेण वा प्राह्ण दूपयित्वा खादवित्त्वोत्तमसाहस दण्ड्यो भवति । अग्निं पुनरेव दूपयित्वा मध्यमम्, वैश्यं दूपयित्वा प्रथमम्, शूद्रं दूपयित्वा प्रथममाहस स्वार्थम्, 'दण्ड्यो भवति' इति सवन्ध । लशुनाद्यमद्वदूपणे तु दोषतारत म्यादण्डतारतम्यमूहनीयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—मृत्, पुरीष आदि अग्निं या अमध्व पदार्थं द्वारा प्राह्णकं अन्न और जल को दूषित करने वाला उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता है । अग्नि को इस प्रकार दूषित करने वाला मध्यम साहस के, वैश्य को दूषित करने वाला प्रथम साहस के और शूद्र को इस प्रकार दूषित करने वाला प्रथम माहस के आधा दण्ड के योग्य होता है ॥ २९६ ॥

कूटस्वर्णदण्ड्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी ।

न्यह्नहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यक्षोत्तमसाहसम् ॥ २९७ ॥

किञ्च, इसवेधाद्यापादितयर्णोत्कर्षे कूटे स्वर्णव्यवहारशीलो य स्वर्णकारादि । यश्च विमांसस्य कुरिततमोवस्य आदिरुषदस्य विक्रयशाल सौमिकादि, 'च'दादशाकूटरजतादिभ्यवहारी च, से सर्वे प्रत्येक नामाकर्णकरैश्चिभिरङ्गैर्हिना कार्या । 'च'दादशाकूटस्वर्णदेन समुचितमुत्तमसाहस दण्ड दाप्या । यापुनर्मनु मोक्तम् ( ९ २९२ )—'सर्वदण्डकपाविष्ट हेमकार तु पार्थिव । प्रवर्तमानमन्वाये द्वेदवेहवत्त शुरै ॥' इति,—तदेतद् देवमाह्णराजस्वर्णविषयम् ॥ २९७ ॥

भाषा—कूट स्वर्ण ( सोने का पानी चढ़ाकर बनाये गये लोहे सोने ) का व्यवहार करने वाले और निषिद्ध अर्थान् कुपे आदि का मांस घेचने वाले क तीन अंग ( नाक, कान और हाथ ) काट कर उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २९७ ॥

विषयविशेषे दण्डामाधमाह—

अतुष्यादृष्टो दोषो नापेहीति प्रज्जल्पत ।

काष्ठलोष्टेषुपावर्णयाहुमुग्यकृतस्तथा ॥ २९८ ॥

अतुष्यादृष्टोऽपि न भवति, अथपरेति प्रकृष्टेणोक्तैर्भाष्यकारेण । तथा लङ्कारोत्तममहपावर्णोऽपेणेत चाहुना युग्यं च युग्यं बहुलायादिना हुनो य पूर्वोक्तो दोष सोऽपि काष्ठादीं प्रारथनो न भवत्यथपरेति प्रकृतं । काष्ठाद्युषेवणेन हिंसायां दोषाभायकथनं दण्डामाधपनिषादनार्थम् । प्राथमित्तं पुनरपुदिपूर्वकरणमित्तं मारयत् । काष्ठादिदण्डेण च दान्तिनोमारादेषुलक्षणार्थम् ॥ २९८ ॥

भाषा—'दृष्टो दृष्टो' इस प्रकार विवकाकर स्वामी के सावधान करने पर भी यदि चौपाय (गाय, बैल, हाथी आदि) कोई दोष करें अर्थात् किसी को मार दें तो स्वामी का दोष नहीं होता इसी प्रकार दृष्टने के लिये भावान देने हुए काठ, दल, बाण, पत्थर पेंकने से, हाथ खटाने से और रथ में जुते हुए घोड़ों से किसी की खोट लगन पर भी पेंकने, खटाने या हॉकने वाले का दोष नहीं होता ॥ २९८ ॥

द्विप्रतन्त्रेण यानेन तथा मनुयुगादिना ।

पश्चात्तच्चैवापसरता हिंसने रथाय्यद्वोपभाष ॥ २९९ ॥

किंच, नमि भवा रज्जुर्नस्या द्विष्ठा झकटादियुक्तवलीवर्द्धनया रज्जुर्प-  
सिन्ध्याने तत् द्विप्रतन्त्रेण झकटादि तत्र, तथा मनुयुगेन 'आधि'प्रहणाङ्गना  
अपरादिना च यानेन पश्चात्तच्चैवापसरता 'च'शब्दातिर्घर्षणवत्प्रता प्रतिमुग्ध  
यागवदना च मनुष्यादिहिंसने स्वामी प्राज्ञको वा दोषभाष्य न भवति । अत्राप  
पदप्रतिपत्त्याङ्गिमन्थ । तथा च मनु ( ८।२९१।२९२ )—'द्विप्रतन्त्रेण  
भाग्युगे निर्वर्कप्रतिमुग्धागते । अपभ्रष्टे च यानस्य अक्रमष्टे तथैव च ॥ दृष्टने  
चैव पश्याणां योक्त्वृशशोस्तथैव च । आक रे सत्यपैहीति न दण्ड मनु  
प्रवीत् ॥' इति ॥ २९९ ॥

भाषा—गाड़ी में बैलों को नपिने क लिये लगी हुई रस्सी ( जोता ) के  
टूटने पर और जुए आदि क टूटने से तथा बाण ( गाड़ी ) के लिये खटने से  
किसी मनुष्य आदि की हिंसा हो जाय तो बाण का स्वामी दोषा नहीं  
होना ॥ २९९ ॥

उपेक्षायां स्वामिनो दण्डमाह—

शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी दंष्टिणां गृह्णिणां तथा ।

प्रथमं साहसं दद्याद्विपुष्टे द्विगुणं तथा ॥ ३०० ॥

अपरीणप्राज्ञकमेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गण्ठादिभि गृह्णिभिर्वादिभिर्दण्डमान मय  
र्थाभि तास्वामी पद्यमोक्षयन्नुपपत्ते, तदा अनुकूलप्राज्ञकनिवातननिमित्त  
प्रथमसाहस दण्ड दद्यात् । यदा तु 'मारिनोऽहम्' इति विकुष्टेऽपि न म उच्यति  
तदा द्विगुणम् । यदा पुन पपीणमेव प्राज्ञक प्ररवति तदा प्राज्ञक एव दण्डवा  
न स्वामी । यथाह मनु ( ८।२९४ )—प्राज्ञकश्चेज्जवहास प्राज्ञको दण्डमर्दति'  
इति ॥ प्राज्ञको मत्ता । आस डमिदुक्त । प्राजिगिवावाह दण्डदिद्वय कहरनीय ।  
यथाह मनु ( ८।२९१-२८ )—मनुष्यमारणे चित्र चीरवकिद्विषयो धयत् ।

प्राणभृत्सु महस्वधं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ सुद्राणां च पशूनां तु हिंसायां द्विशतो  
दमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डं शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डं  
स्यात्पञ्चमापकः । माषकस्तु भवेद्दण्डं शशूकरनिपातने ॥ इति ॥ ३०० ॥

भाषा—दोत घाले ( हाथी आदि ) और सींग वाले ( बैल आदि )  
पशुओं का स्वामी यदि समर्थ होते हुए भी इनके आक्रमण से किसी को न  
सुटावे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है और यदि उस व्यक्ति क  
( जिसे पशु मार रहा हो ) रक्षा के लिये चिह्नलाने पर भी नहीं बचाता तो  
वह प्रथम साहस के दण्ड से दूना दण्ड का भागी होता है ॥ ३०० ॥

जारं चोरेत्यभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।

उपजीव्य धनं मुञ्चस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०१ ॥

किंच, स्ववशकटकभयाज्जार पारदारिक 'चौर' निर्गच्छे त्यभिवदन् पञ्च-  
शत पणानां पञ्च दातानि यस्मिन्दमे स तथोक्तत दम दाप्य । य पुनर्जारह-  
स्तादनमुपजीव्य तत्कोचरूपेण गृहात्वा जार मुञ्चत्यसौ यावद् गृहीत तावदष्ट-  
गुणीकृत दण्ड दाप्य ॥ ३०१ ॥

भाषा—यदि कोई अपने लुब्ध की प्रतिष्ठा बचाने के लिए जार ( अर्थात्  
व्यभिचारी ) को चोर चोर कहकर भाग जाने दे तो उससे पाँच सौ पण  
दण्ड लेना चाहिए और यदि उस जार से तत्कोच क रूप में धन लेकर उसे  
छोड़ दे तो उसके अठगुना दण्ड होता है ॥ ३०१ ॥

राज्ञोऽनिष्टप्रयत्नारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।

तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्वा जिह्वां प्रयासयेत् ॥ ३०२ ॥

किंच, राज्ञोऽनिष्टप्रयत्नानभिमतस्यामित्रैस्तोत्रादे प्रकपेण भूवो ध्रुवो यत्तार  
तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिण निन्दाकरणशील तदीयस्य च मन्त्रस्य  
स्वराष्ट्रविकृदिहेतो परराष्ट्रापक्यकरणस्य वा भेत्तार अभिन्नकर्णेषु जपन्त तस्य  
जिह्वामुच्छेत्प स्वराष्ट्रात्क्रोशकारिणम् । क्रोशापहरणादी पुनर्बन्ध एव ।  
( मनु १।२७५ )—'राज्ञः क्रोशापहतुंश्च प्रतिवृत्तेषु च स्थितान् । घातयेद्विधि-  
धैर्दण्डैरीणां चोपकारकान् ॥' इति मनुस्मृत्याम् । विविधैः सर्वस्वापहाराद्भेदे  
द्वधधरूपैरियमैः । सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवनोपकरण तथापहतैश्च यो यो-  
पकरण विना । यथाह नारद —(१७।१०,११) 'आयुधा-वायुधीयानां याद्यारी-  
न्याद्यज्ञीयानाम् । वेरयाञ्जीणामलकारान्वाघातोघादि तद्विदाम् ॥ यद्य यस्वोप-  
करण येन जीवन्ति कारुका । सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हतुंमर्हति ॥' इति ।

ब्राह्मणस्य पुन न शारीरो ब्राह्मणे दण्ड १ ( गौ० १२।४६ ) इति निषेधाद्ब्रह्म  
स्थाने शिरोमुण्डनादिक कृतव्यम्—'ब्राह्मणस्य वधो मीण्ड्य पुरात्रिर्वात्मनाङ्गने ।  
ललाटे चाभिशास्ताङ्ग प्रयाण गदभेन तु ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—पुन पुन राजा का अहित कहने वाले, उसकी निंदा करने  
वाले और उसकी ( राजन्यायिणी ) सुसूक्तियों को खोलने वाले की भी  
काटकर अपने राज्य से निकाल देना चाहिए ॥ ३०२ ॥

मृताङ्गलशयिकेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा ।

राजयानासनारोदुर्वण्ड उचमसाहस ॥ ३०३ ॥

किञ्च मृतशरीरसम्बन्धिनो वक्ष्यन्पादेर्विज्ञेन गुरो वित्राचावादिस्ताडयितु  
स्तथा राजानुमतिं विना तथापि गज्राशयि आसन सिंहासनानि आरोह्योत्तम  
साहसो दण्ड ॥ ३०३ ॥

भाषा—जब क ऊपर की वस्तु ( वक्ष्य भादि ) देखने वाले, पिता एवं  
भाचार्य भादि को ताड़ना देने वाले और राजा की सवारी या सिंहासन पर  
चढ़ने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ ३०३ ॥

द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा ।

विप्रत्येन च शूद्रस्य जीयतोऽष्टशतो दम ॥ ३०४ ॥

किञ्च य पुन क्रोधादिना परस्य भेदहृय मिनसि । यश्च ज्योति शालवित्  
गुर्वादिहितेऽनुत्पत्तिरिक्तो राज्ञो द्विष्टमनिष्ट सवस्सरात्ते तत्र राश्य  
ऽनुत्पत्तिर्भविष्यति' इत्येवमादिरूपमादेश करोति । तथा च य शूद्रो भोजनार्थं  
यज्ञोपवीतादीनि ब्राह्मणलिङ्गानि धारयति तेषामष्टशतो दम । अष्टौ पणशतानि  
परिमन्वसे स तथोक्त । 'भ्रातृभोजनार्थं पुन शूद्रस्य विप्रवेपधारिणस्तस्य  
शालाकया यज्ञोपवीतवद्गुण्यालिपेत् इति स्मृत्यन्तरोक्त द्रष्टव्यम् । वृषार्थं तु  
यज्ञोपवीतादिम ब्राह्मणलिङ्गधारिणो वध एव ।—'द्विजातिलिङ्गिन शूद्रा-घातयेत्'  
इति स्मरणात् ॥ ३०४ ॥

भाषा—किसी की दोषों और खिले फोड़ने वाले राजा क अनिष्ट ( राश्यमाहा  
भादि ) की बात फैलाने वाले और शूद्र होकर ब्राह्मण का वध करनाकर  
ज विका निर्वाह करने वाले को आठ सौ पण दण्ड होता है ॥ ३०४ ॥

रागलोभादिनाऽ-वधा व्यवहारदशने दण्डमाह—

'दुर्दृष्टास्तु पुनर्दृष्टा व्यवहारान्नुपेण तु ।

सभ्या सज्जयिनो दण्डथा विवादाद् द्विगुण दमम् ॥३०५॥

१ न शारीरो दण्ड । २ मन्वससाहस । ३ हितेऽनु । ४ सत्य-  
गद्गा तु दुर्दृष्टान्य । ५ द्विगुण पृथक् ।

दुर्योधनस्यैवाचारमासधर्मोऽस्मिन्नेन राजलोभादिभिरसम्बन्धिष्यारितावेनास-  
 द्भूयमानान् स्वयदारान्पुनः स्वयं राजा सम्बन्धिष्यार्थं निमित्तदोषाः पूर्वमग्नाः  
 राजपितः प्रायेण विवाहपदे यो नृमः पराजितरथ तद्विगुणं दास्याः । अत्रासवेत्-  
 द्बहविधिपर्यायद्रचनरथ राजाज्ञोभादिषादिना शोकेभाषीतदशाम् । यद्  
 पुनः सापिहोयेण स्वयदाररथ दुर्योधनं ज्ञानं तदा सापिग एव दण्डवाः, न  
 जयी नापि राग्नाः । यदा तु राजानुमाया स्वयदाररथ दुर्योधनं ज्ञानं तदा  
 मयं तुव राजमहिताः सन्वाद्यो दण्डनीयाः ।—'वाद्' नपदनि कर्त्तारं वादः  
 सापिगमृष्यति । वादः समापदः सर्वाग्राहो राजानमृष्यति ॥ (८।१०) इति  
 वचनम् । एतच्च प्रायेण राजादीनां दण्डनिपादनपर, न पुनरेकैवैव पावा-  
 पूर्वय विभागाय । यथोक्तम्—'कर्ममन्वायिकलजममदमायवशात्पररथ' इति ॥  
 भाषा—पहले समाप्त हो द्वारा अधर्मपूर्वक दंडे गये स्वयदार पर फिर से  
 न्याय के लिये विचार करके राजा पहले जिसकी धोषिय क्रिये गये स्वकि  
 भीर समाप्त हो से विवाह में हारने वाले पर जिनका दण्ड होता हो उमहा  
 दूना घन दण्ड दण्ड ले ॥ ३०५ ॥

न्यायतो निर्णीतस्वयदाररथ प्राचावर्तयितुर्दण्डमाह—

यो मध्येताजितोऽस्मीति न्यायेनावि पराजितः ।

समापान्तं पुनर्जित्या क्षापयेद् द्विगुणं दमम् ॥ ३०६ ॥

यः पुनर्न्यायमार्गेण पराजितोऽपि भीक्षावान् 'माह पराजितोऽस्मि' इति  
 मन्वने समापान्तं दण्डेणपुनरासेन पुनर्धर्मोपकारिणमितिष्ठता धर्मण  
 पुनः पराजयं नीत्वा द्विगुणं दण्डं दापयेत् ॥ आरदेनाप्युक्तम्—'तीरितं चानुसि-  
 टं च मध्येत विधर्मतः । द्विगुणं दण्डमास्थाप नरकार्यं पुनरदहरेत् ॥' इति ।  
 तीरितं सापिलेपवादिनिर्णीतमनुदण्डनदण्डम् । अनुसिष्टमुदण्डनदण्डम् । दण्डन-  
 र्थं नोत्तमिति वाच्यम् । यत्पुनर्मनुष्यचनम् ( १.२३३ )—'तीरितं चानुसिष्ट  
 च यत्र यत्र विधत्ते । कृतं तद्धर्मतो ज्ञेयं न तत्राज्ञो निवर्तयेत् ॥' इति,  
 तदर्थिप्रत्ययिनोऽप्यतरथचनाद्वयदाररथाधर्मतो पृथरासद्वार्यां पुनर्द्विगुणदण्ड-  
 प्रतिशार्यकं स्वयदारं प्रवर्तयेत्, न पुनर्धर्मतो वृत्तव्यविश्रवेऽपि राजा लोभा-  
 दिना प्रवर्तयितव्यं दृष्टेयं परम् । यत्पुनर्न्यायमार्गेणपि न्यायपेत् कार्यं निर्वर्तितं  
 तदपि स्वयवपरीक्षणेन धर्म्येवथि रथापनीयम् । 'न्यायापेत्तं यदप्येन राजा ज्ञान-  
 कृतं भवेत् । तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेदायेत् ॥' इति स्मरणम् ॥ ३०६ ॥

भाषा—जो न्यायतः पराजित होने पर भी स्वयं को पराजित नहीं मानता  
 उसे पुनः धर्मपूर्वक पराजित करके राजा उससे दुगुना दण्ड चसूल करे ॥ ३०६ ॥

१. जयिमहिताः । २. दुर्योधता तदा । ३. रेकैकरथैव ।

अन्वयगृहीतदण्डधनस्य गतिमाह—

राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो धरुणाय तम् ।

निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिशद्वगुणीकृतम् ॥ ३०७ ॥<sup>२</sup>

अन्वयेन यो दण्डो राज्ञा लोभादिना गृहीतस्त त्रिशद्वगुणीकृत वरणा-  
येदमिति सक्त्वा प्राज्ञेभ्य स्वय दद्यात् । यस्माद्दण्डरूपेण यावद् गृहीतम  
न्वयेन तावत्तस्मै प्रतिदेयम्, इतरथापहारदोषप्रसङ्गात् । अन्वयदण्डग्रहणे  
पूर्वस्वामित एतद्विच्छेदाभावाच्चेति ॥ ३०७ ॥

इति धीमत्पदानाभमट्टोपाध्यायाध्यायस्य श्रीमत्परमहंसवरिमात्रज्ञाचार्य-

विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृती ऋजुमिताक्षराख्यायां याज्ञिकवहीषधर्म-

शास्त्रविद्वत्तौ द्वितीयोऽध्यायो व्यवहाराख्य सपूर्ण ॥

अध्यायस्योपाये प्रकरणानुक्रमणिका कथ्यते । आद्य साधारणव्यवहारमा-  
तृकाप्रकरणम् १ । असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ । जगन्नादानम् ३ ।  
उपनिधिप्रकरणम् ४ । साधिप्रकरणम् ५ । लेख्यप्रकरणम् ६ । दिव्यप्रकरणम्  
७ । दापविभाग ८ । सीमाविवाद ९ । स्वामिपालविवाद १० । अस्वामिवि-  
वाद ११ । दत्ताप्रदानिकम् १२ । क्रीतानुशय १३ । अश्रुवेत्याहुभूया १४ ।  
सविद्वपतिक्रम १५ । वेतनादानम् १६ । धृतसमाह्वयव्ययम् १७ । वाक्पाठ-  
व्ययम् १८ । दण्डवारुण्यम् १९ । साहसम् २० । विक्रियासप्रदानम् २१ । सभूय-  
समुत्थानम् २२ । रतेयप्रकरणम् २३ । स्त्रीसग्रहणम् २४ । प्रकीर्णकम् २५ ।

इति पञ्चविंशतिप्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्य चिन्त्यस्य कृतिरात्मनः ।

धर्मशास्त्रस्य विद्वन्निविज्ञानेश्वरयोगिन ॥ १ ॥

भाषा— यदि राजा ने अन्वय मे कोई दण्ड लिया हो तो स्वयं उसका  
सीमा गुना करके उसे वरुण देवता के लिये सक्त्वा करके ब्राह्मणों को देवे,  
( और जिससे जितना धन अन्वयपूर्वक लिया हो उसे उतना धन लौटा  
देव ) ॥ ३०७ ॥

आधाराध्याय समाप्त



१ अन्वयन तु यो दण्डो । २ राजभिर्दत्तदण्डारणु द्वावा पापानि  
मानवा । निर्मला स्वर्गमावाप्ति सन्त मुहुनिभो यथा ॥ पृथमुद्धृतदण्डागर्  
विशुद्धि पापकर्मिणाम् । स्वधर्मस्थापनाद्वाजा प्रजाग्धो धर्ममस्तुते ॥ यत्र  
दण्डत्रिभिर्नोक्त सर्वैरेव महात्मभि । देवकालादि सचिन्त्य सत्र दण्डा  
विधीयते ॥



## प्रायश्चित्ताध्यायः

### अथाशौचप्रकरणम्

गृहस्थाश्रमिणा विश्वनैमित्तिका धर्मा उक्ता । अभिवेदादिगुणयुक्तस्य  
गृहस्थविशेषस्य गुणधर्माश्च प्रदर्शिता । अधुना तदधिकारसञ्चोचदत्तभूताशौच  
प्रतिपादनमुखेन तेषामपवादो प्रतिपाद्यते । आशौच'शब्दन च कालनामा  
एतन्नोद्य विण्ढोदकदानादिविधः अध्ययनादिपर्युदासस्य च निमित्तभूत पुरुष  
गत कक्षनातिशय कथ्यते, न पुन कर्मानधिकारमाश्रम् । 'अशुद्धा दान्धवा  
मर्षे' ( मनु ५।५८ ) इत्यादावशुद्धश्रमिधानात् । 'अशुद्ध'शब्दस्य च गृह-  
व्यवहारेऽनाहिताग्निहोचितादावनधिकारिमात्रे प्रयोगाभावात् गृहव्यवहार-  
व्युत्पत्तिनिवन्धनत्वाच्च दाद्वार्यावगतौ । किञ्च यथाशौचिनां दानादिनिषेध  
दर्शनात्तद्योग्येऽमाशौचत्वादाभिधेय कथ्यते तर्हि उदकदानादिविधिदर्शनात्  
तद्योग्यत्वमप्याशौचशब्दाभिधेय स्यात् तत्रानेकार्थकत्वपनादोपसक्तं ह्युपेक्षणी-  
योऽयं पक्षः ॥

सप्ताशौचिभिः सपिण्डाद्यैर्यत्कृतं सप्तावदाह—

ऊनद्विवर्षं निजनेन कुर्यादुदकं तत ।

भाश्मशानादनुम्रय इतरो यातिर्मूर्ध्वत ॥ १ ॥

यमसूक्तं तथा गाथा जपञ्जित्वाकिंवाग्निना ।

स द्बन्धु उपेतश्चेदाहिताग्नायापृताथवत् ॥ २ ॥

ऊने अपरिपूर्णं द्वे वर्षे यस्यासाधूनद्विवर्षस्त मेत निष्यन्ते भूमाववट कृत्वा  
निदस्यान्न पुनर्वहेदित्यर्थः । न च 'सकृत्प्रसिच' (युदकम्) ( प्रा ४ ) इत्यादिभि  
मेनोद्देशेन विहितमुदकदानाशौचैर्वदेहिक कुर्यात् । अथ च गन्धमाद्यानुप  
स्तेपनादिभिरलक्ष्य शुची भूमौ श्मशानाद् यत्रास्थिनिचवरहिताया चहिर्माना-  
श्लिवननीयः । यथाऽऽह मनु ( ५।६८ ६९ )—ऊनद्विवापिं प्रेत निदधु  
र्वा-धवा वदि । अलक्ष्य शुची भूमौस्थितवचनात् ॥ नास्य कार्योऽग्नि-  
संकारो नापि कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठवत्पक्वता सिपेयुस्तपश्मेव तु ॥'  
इति । 'अरण्ये काष्ठवत्पक्वता' इत्यस्यायमर्थः यथाऽऽरण्ये काष्ठ तपस्वो  
दासीनास्तद्विषये भवन्ति तथोनद्विवापिक्रमपि साताया भूमौ परित्यज्य  
तद्विषये धाद्याशीष्पदेहिकेषु उदामानैर्नीवितव्यमित्याचारादिप्राप्तप्रादाद्यभावोऽ  
नेन दृष्टान्तेन सूच्यते । से च पृतेनाभ्यन्धय यमगाथा पञ्चद्विनिधातव्यः ।

१ अत्राशुद्धशब्दस्य च व्यवहारेणाहिताग्निः । २ भाश्मशानमनु  
माऽयः । ३ मूर्ध्वतः । ४ नारवः । ५ जपश्च । ६ गायत्रिः ।

‘ऊनद्विवापिकं प्रेतं घृणाकृतं निखनेद्दहिः । यमगाया गायमानो यमसूक्त-  
मनुस्मरन् ॥’ इति यमस्मरणात् ॥ तनस्नस्मादूनद्विवापिकादिनरपूर्णद्विवर्षो  
यो मृतोऽमी रमशानपर्यन्तं ज्ञातिभिः मपिण्डैः समानोदकैश्च उपेष्टः पुरः-  
सरैरनुग्रयोऽनुगन्तव्यः । अस्मादेव घचनादूनद्विवर्षस्वानुगमनमनियतमिति  
गम्यते । अनुग्रय च ‘परेयिवांसम्’ ( श्रु० ७, अ० ६, । १४, ५, ६ )  
इत्यादि यमसूक्तं यमद्वैवत्या गायाश्च अपञ्जिर्लौकिकेनासंस्कृतेनाग्निना  
द्व्यधयो यदि जातारणिर्नाम्नि । तामद्वावे तु तन्मथितेन दावधयो न  
लौकिकेन । तस्याग्निमंवाद्यकार्यमाप्रार्थयेन्नोत्पत्तेः । लौकिकाग्निश्च अपञ्जालादि-  
व्यतिरिक्तो प्राज्ञः, ‘अण्डाह्यग्निरमेध्याग्निः सृष्टिकाग्निश्च कर्हिचित् । पतिना-  
ग्निक्षिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचिताः ॥’ इति देवलस्मरणात् न लौगादिना चाप्र  
विशेष उक्तः—‘तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च । सर्वेषां कृत्स्नानाम-  
न्यप्रापीरक्षया ह्ययम् ॥’ इति अयमर्थः—‘चौलकमानन्तरकाले नियमेनाभ्युद-  
कदानं कार्यम् । अन्यप्रापि नामकरणादूर्ध्वं अकृत्स्नत्वेऽपीरक्षया प्रेताभ्युदयकाम-  
नया ह्ययं भाग्युदकदानात्मकं तूष्णीं कार्यं, न नियमेनेति विकल्पः । मनुनाप्यत्र  
विशेषो दर्शितः ( ५।७० )—‘नाग्निवर्षस्य कर्त्तव्या वाग्धवैरुदकक्रिया । जातध-  
स्तस्य वा कुर्यात्ताग्निं वाऽपि कृते सति ॥’ इति । ‘उदकग्रहणं’ दाहव्यतिरिक्त-  
स्कारस्याप्युपलक्षणार्थम् । ‘नाग्निवर्षस्य’ इति वचनात् । कुलधर्मविषया सूदो-  
रकर्वेऽपि वर्षप्रवाद्ूर्ध्वमभ्युदकदानादिनियमोऽवगम्यते । लौगादिवचनाद्ूर्ध्वप्रवा-  
त्प्रागपि कृत्स्नत्वेन तत्रोर्ध्वम इति विवेचनीयम् । उपेनमेध्याद्युपनीतरत्तर्हि  
आहिताग्न्यावृता आहिताग्नेर्दाहप्रक्रियया स्वगृह्यादिपविद्धया लौकिकाग्निर्नैव  
दग्धव्यः । अर्धवशप्रयोजनवत् । अयमर्थः—‘यद्यस्य बलत् दाहद्वारं कार्यरूपं  
प्रयोजनं समश्नति । भूमिशोषनप्रयोजनादि तदुपादेयम् । अशुभस्तुप्रयोजनं  
पाशप्रयोजनादि तस्मिन्वर्तते । तथा लौकिकाग्निविधानेनोपनीतरस्य अमाहिताने-  
र्दूर्ध्वान्निना दाहविधानेन च अपहनप्रयोजनस्यादाहवनीयादेरपि निवृत्तिरिति ॥  
अन्यत्रविधानं च वृद्धयानुपपत्तयेनोक्तम्—‘आहिताग्निवर्षाद्यार्थं दाघवन्नि-  
भिरग्निभिः । अमाहिताग्निरेकेन लौकिकेनावरो जगः ॥’ इति । न च शूद्रेण  
रमदानं प्रति अग्निनाष्टादिनयनं कार्यम् ; ‘वरयानवति शूद्रोऽग्निं तुमे काष्ठं  
हवीषि च । प्रेतार्थं हि सदा तस्य स चाघर्मोऽपि लिप्यते ॥’ इति यमस्मरणात् ॥  
तथा दाहश्च रनपनाद्यनगर कार्यः—‘प्रेतं दहेत्पुत्रैर्गन्धैः रमापिनं ररिभूवि-  
तम्’ इति स्मरणात् । प्रचेनसाऽप्युक्तम्—‘रनानं प्रेतस्य पुत्रवैर्यथायै रनन

१. उदकदानात्मकं । २. आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया । ३. नाहि-  
ताग्नेः स्वगृह्याग्निना ।

गथा । नानवेहं दहेभैव किंचिद्वेद्यं परिश्वजेत् ॥' इति; किंचिद्वेद्यमिति दातव्यैश्च-  
 देतां रमज्ञानवास्यर्थे द्वेद्यं परिश्वजेदित्यर्थः ॥ तथा प्रेतनिर्हारेऽपि मनुना विनोपो  
 दत्तितः ( ५।१०४ ) — 'न विप्र स्वेषु तिष्ठानु मृतं मृद्गेग हारयेत् । अरवर्षा  
 द्याहुनिः सा इवात्पृथ्व्यं पकं दूषिता ॥' अथ च स्वेषु तिष्ठानु ह्यप्यव्यतिगतम् ।  
 अरवर्षावादिदोषध्वगत् ॥ — 'द्विजेन मृतं मृद्दे परद्वारेण निर्हरेत् । दक्षिणो-  
 सारपूर्वेषु पथासंघटं द्विजातवः ॥' तथा हारीतोऽपि — 'न प्रामाभिमुखं प्रेगं  
 हरेत् ।' इति ॥ यदा तु प्रोपितमरथो शरीरं न लभ्यते तदात्थिभिः प्रतिकृतिं हृत्वा  
 तेषामप्यलभे वर्णशरीः शौनकादिगृह्यं ऋष्यांगेन प्रतिकृतिं हृत्वा संस्कारः कार्यः ।  
 आशीषं पाप दनादादिकमेव । 'आहितानिभ्योऽप्रवसन्निप्रवेन पुनः संस्कारं हृत्वा  
 शक्यशकौचम्' ( ४।३७ ) इति यमिष्ठस्मरणम् । अनाहितानिभ्यस्तु त्रिप्राग्रम् ;  
 'मुपिष्टैर्गलसंमिश्रैर्द्वेष्यव्यञ्ज तथाग्निना । असी स्वर्गाय लोकाय स्वाहेःपुत्राया स  
 वाऽध्वैः ॥ एवं वर्णदारं दत्त्वा त्रिप्राग्रमशुभिर्भवेत् ॥' इति यजुजम् ॥ ततश्चा-  
 यमर्थं — 'नामररणाः शोचिन्तरमभवेत्, च चोदकदानादिः । तत्र उपर्यं पापविशेषं  
 वैकल्पिकमभ्युदकदानम् । तत्र परं वाक्दुपनयनं सृष्णीमेधाभ्युदकदानं निघ-  
 तम् । परंप्रयागमातपि दृग्गृह्येव । उपनयनाभ्युदकदानं पुनराहितान्याप्राप्तः दाहं  
 हृत्वा स्वर्गोपदेहिकं कार्यम् । अथं तु विनोपः—उपनीतस्य लौकिकाग्निना दाहः  
 कार्यः । अनाहितानिभ्योऽग्निना दाहो यथासंगमं पापवोजनं च कार्यम् ॥१-२॥

भाषा—दो वर्ष से कम आयु वाले बालक के मरने पर उसे भूमि में  
 गाड़ देना चाहिए और उसके लिए उदकदान ( प्रेत को उदित कर ही जाने  
 वाली उदकांशुति ) नहीं करना चाहिए । उससे अधिक आयु वाले के मरने  
 पर जाति वाली ( सविण्डों ) के साथ रमज्ञान तक ( शव के पंक्षि-पंक्षि )  
 जावें । यममूक और गथा का पाठ करते हुए ( यदि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री  
 न रहा हो तो ) लौकिक अग्नि से उसका दाह करे, यदि उसका पक्षीपरीत  
 हुआ हो तो अपने गृह में बनाई गई लौकिक अग्नि से प्रयोजन के अनुसार  
 दाह करे ॥ १-२ ॥

संस्कारानन्तरं किं कर्तव्यमित्यत्र आह—

सप्तमादशमाद्वापि धातयोऽभ्युपयन्त्यपः ।

अप नः शोशुचदधमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥ ३ ॥

सप्तमादिवसादशमदशमदिवसाद्वा ज्ञानयः समानगोत्राः सविण्डाः समा-  
 नोदकाश्च 'अप नः शोशुचदधमम्' ( ऋ स १।०।५ ) इत्यनेन मन्त्रेण इदं गी-  
 मुग्गा' अपः अभ्युपयन्ति । अभ्युपयमनेन मन्त्रयोमनभूतोदकदानविधिनिघटनभ्युद-  
 नमन लक्ष्यते, 'एव मावासाहाचार्य' ( पा० ४ ) इत्यनन्तरमुदकदानस्यानिदेश-

दर्शनात् । एतद्यायुग्मासु त्रिषु कार्यम् । 'प्रथममृतीयपञ्चमसप्तमनवमेषु द्वादश्या' ( १४।४० ) इति गौतमस्मरणात् ॥ एतच्च स्नानानन्तरं कार्यम् , 'शरीरमशौ सयोऽयानवेद्यमाणा अपोऽभ्युपपत्ति' इति ज्ञानातपरमरणात् ॥ तथा प्रघेतसाप्यथ विनीषो दक्षित — 'प्रैतस्य चाग्धवा यथावृद्धमुदकमवर्तयं शोद्धर्य-  
 येपुष्टकान्त प्रसिञ्चेपुष्टस्यचजोपधीतवाससा दक्षिणाभिमुगा साप्यगस्याद-  
 द्मुग्या प्रोषद्मुग्याश्च शत्रु-ववैश्वया ' इति । इत्यन्तरे तु यावत्स्यानीषदिनाति  
 नायद्दुदकदानस्यापृत्तिदना । यथाः विष्णु ( १२।१३ )—'वावदाशीच नाय  
 श्रेणस्योदक विण्ड च इदुयु ' इति ॥ तथा च प्रघेनसाप्युक्तम्—'दिने दिनऽभ्र  
 लीङ्गुर्गात्रप्रदद्यात्प्रेतकारणात् । नायद्दुदक्षिञ्च कर्तव्या वाऽऽविण्डः समाप्यत ॥'  
 इति । प्रतिदिनमङ्गलीनां वृद्धि कार्या, यावद्दशम विण्डः समाप्यत इत्यर्थः ॥  
 यद्यप्यनयोर्गुरुत्वात्पुनश्चोश्च्योराशुष्ठानेनापि साप्राय सिद्धस्तथापि षट्पञ्चशत  
 दानेन गुरुरनकषय प्रवृत्त्यनुपपत्ते श्रेणस्योपकारात्मकयो अक्षिप्यतीनि कश्चमी-  
 यम् । अन्वया गुरुरनकषयोऽन्वयापरपालन्येवप्रसङ्गात् ॥ अनिष्टेनापि विनयोऽभि  
 दिग १ ( ४।१९ )—'सप्योत्तराश्वी पानिऽवामुदकक्रियां कुर्वीत' इति ॥ ३ ॥  
 भाष्या—सातये वा दसये दिन से पहले समान श्रेणस्ये वा सविण्ड  
 पुन्य जल क तमीय जाकर 'अथ न शोष्टुचदधम्' इत्य मन्त्र न वितरो की दिना  
 दक्षिण की ओर मुख करक उदकदान करें ॥ ३ ॥

षडपमानसकृत्प्रवेवस्य नामनाश्रादिभिर्गुणैर्विहितस्योदकदानस्यास्यमान-  
 ग प्रपु मातामहादिष्वतिदशमाह—

एवं मातामहाचार्यप्रेतानामुदक विद्या ।  
 कामोदकं सखिप्रेतारयक्षीषभ्यनुररिविजाम् ॥ ४ ॥

यथा मशोवरादिष्टानां श्रेणामामुदक शोवते तथा मातामहाःनामाचार्याणां  
 च श्रेणामां निःशमुदकक्रिया कार्या । मया मित्र प्रसाः परिणीता बुद्धिप्रति-  
 श्वाष्ट, स्वर्णयो भागिनया, अष्टौ प्रभिद्ध, श्रुतिज्ञो वाजरा, एतयां  
 सनवादानां श्रेणामां काग दक कार्यम् । काम इत्यु, कामेनादकदान काग दक,  
 श्रेणामुदकदाननायां मातामुरुक देवम् । अमायां न देवमिति अकरणे,  
 मायवायो नारमीयथ ॥ ४ ॥

भाष्या—इसी विधि से मातामह ( नामा ) और आचार्य क णि भी  
 उदकदान किया जाता है । इत्यानुसार मित्र, विवाहिन्या पुत्रो या बहन,  
 भागिनय, स्वर्णु और श्रुतिज्ञ क णि भी उदकदान करें ॥ ४ ॥

१ म मगुलाह । २ कश्चमीयसा । ३ एव समान । ४ श्रेणामां  
 ओदकक्रिया । ५ मन्तरवर्गीय ।

उदकदाने गुणविधिमाह—

सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामघोत्रेण याग्यताः ।

तत्रचोदकदानमित्थं कर्तव्यम्—सविष्टाः समानोदकाद्य मीनिनां भूत्वा  
प्रेतरस्य नामघोत्रे उरुध्वार्थं 'अमुकनामा प्रेतोऽमुकगोत्रस्तृप्यतु' इति महदेवोदकं  
प्रसिञ्चेयुः त्रिधा; 'त्रिः' प्रत्येकं कुर्युः प्रेतस्तृप्यतु' इति प्रपेतःस्मरणात् ॥ प्रतिदि-  
नमज्जलिदृष्टिस्तु प्रतिपादितैव । तथा अथमपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'नदीपू-  
रतो गत्वा शीघ्रं कृत्वा यथार्थंवेत् । यत्र संशोचयेद्वादी ततः स्नानं समाचरेत् ॥  
सचैलस्तु ततः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः । पापाण तत्र भाषाय विभे दद्याद्-  
द्याजलात् ॥ द्वादश अग्निवे दद्याद्द्वैरथे पञ्चदश स्मृताः । त्रिंशत्पृष्ठाव द्वात्रिंशदा-  
स्ततः संप्रविशेद् गृहम् । ततः स्नानं पुनः कार्यं गृहघोषं च कारयेत् ॥' इति ॥

सविष्टानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधमाह—

न प्रह्वचारिणः कुर्युः उदकं पतित्वास्तथा ॥ ५ ॥

ज्ञातिये सायपि प्रह्वचारिणः समावर्तनपर्यन्तं, पतित्वात् प्रथुनद्विजातिक-  
भाधिकाराः, उदकादिदानं न कुर्युः ॥ प्रह्वचार्यान्तरकालं पूर्वमृतानां सविष्टा-  
दीनां उदकदानमाशौचं च कुर्यादेव । यथाह गनुः (५।८८)—'आदिष्टी नोदकं  
कुर्यादाप्रतस्य समापनात् । समझे तूर्त्वं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति ।  
आदिष्टी 'प्रह्वचार्यसि भवोवात नमं कुरु दिया मा रवास्तीः' ( भाष० ३।२३-  
२ ) इत्यादिप्रतारदेशयोगाद् प्रह्वचार्युत्पद्यते । एतच्च पित्रादिस्पतिरेकेणेति  
व्यवति । 'आचार्यपितृपाश्यापान्' ( प्रा० ३५ ) इति । अत्राचार्यः पुनरेवं  
सग्यते—आदिष्टीति प्रकान्तप्रवक्षितः कल्पते, तस्यैवापमुदकदानादिप्रतिषेधः  
प्रादक्षिण्यरूपमतरस्य समाप्युत्तरकालमुदकदानाशौचविधिरिति । तथा ह्यीवादीनां  
चोदकदापित्वं निषिद्धम् ; 'ह्यीवाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना माया विधर्मिणः ।  
शर्मनर्तुद्वैरथैव सुराप्यरथैव योपितः ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ ५ ॥

भाषा—( सविष्ट लोभ ) मौन होकर गोत्रसहित प्रेत ( मृत व्यक्ति )  
का नाम लेकर एक बार ( या तीन बार ) उदकाजलि दें । प्रह्वचारी और  
पतित व्यक्ति उदकदान न करें ॥ ५ ॥

एवमुदकदाने कर्तृविशेषप्रतिषेधमुक्त्वा संप्रदानविशेषेण प्रतिषेधमाह—

पंखण्डयनाभिताः स्तेना भर्तृभ्यः कामगादिकाः ।

सुराप्य औत्तर्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः ॥ ६ ॥

१. प्रत्येकं कुर्युः । २. आदाय । ३. त्रिरात्रेणैव शुद्धयति । ४. पाप-  
घटानां । ५. आत्मघातिन्यो ।

नरशिर कपालादिश्रुतिवाह्यलिङ्गधारणं पाश्वण्डम्, तद्विषये वेपां ते  
 पाश्वण्डिन, अनाश्रिताः अधिकारे सत्यप्यकृताश्रमविशेषपरिमहा । स्तेना-  
 सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यहारिणः, अर्तुष्वः प्रतिघातिन्य, कामगा कुलाः, 'आदि'प्रहणात्  
 स्वगर्भप्राहणघातिन्यो गृह्यन्ते । सुराप्यो यासा या सुरा प्रतिपिद्धा तापानरताः ।  
 आत्मत्यागिन्य विषाम्बुदकोद्बन्धनाद्यैरात्मान यास्यन्नग्नि । एते पाश्वण्ड्यादयः  
 'त्रिरात्र दशरात्र वा' ( प्रा० १८ ) वक्ष्यमाणस्याशीचस्योदकदानाद्यैर्ध्वदे  
 हिकरणं च भाजना न भवन्ति । भाजयन्तीति भाजना, सविण्ड्यादीनामाशी  
 चादिनिमित्तभूता न भवन्ति, अतस्तन्मरणे सविण्डैरुदकदानादि न कार्यमित्ये-  
 ताप्रतिपादनपरं वचनम् । अत्र 'सुराप्य' इत्यादिषु लिङ्गमविवक्षितम् ।—'लिङ्ग  
 च वचनं देश कालोऽथ कर्मण क्लृप्तम् । सीमांसाकुशलाः प्राहुस्सुपादेय-  
 पञ्चकम् ॥' इत्यनुपादेयमत्तत्वात् । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम्, यथाह गौतम-  
 ( १४।१२ )—'प्रायोऽनाप्तकशास्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैरचेच्छ्रुताम्' इति ।  
 प्रायो महाप्रस्थानम्, अनाप्तकर्मनशनम्, गिरिशिखरादवपातः प्रपतनम् ।  
 अत्र चेच्छ्रुतामिति विशेषणोपादानात्प्रमादकृते क्षोपो नास्तीत्यवगन्तव्यम्, 'अथ  
 कश्चिन्प्रमादेन त्रिवेताम्बुदकादिभिः । तस्याशीच विधानस्य कर्तव्या चोदक-  
 क्रिया' इति अङ्गिरस्मरणात् ॥ तथा सृष्ट्युविशेषादपि आशीचादिनिषेधः—  
 'चाण्डालाहुदकारसर्पाद् प्राहणाद्भ्रुतादपि । दृष्टिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं वापकर्मि-  
 णाम् ॥ उदकं विण्डदानं च प्रेतैर्भ्यो यत्प्रदीयते । नोपतिष्ठति तस्मिन्मन्तरिक्षे विन-  
 रयति ॥' इति । एतदपीच्छापूर्वमात्प्रहननविषयम् । मीक्षमवचनेनेच्छापूर्वकमेधो-  
 दकेन हतस्याशीचादिनिषेधस्योक्तत्वात् । अत्रापि 'चाण्डालाहुदकारसर्पात्' इति  
 तस्माद्बन्धदर्शनाद् बुद्धिपूर्वविषयत्वनिश्चयः । अतो दर्शनात् चाण्डालादाग्न्तु  
 यनो यस्तैर्मारितस्तस्याय 'सर्वत एवामान गोपादेत्' इति विषयतिक्रमनिमित्त-  
 विण्डदानादिनिषेधः । अथ बुद्धिपूर्वविषयत्वनिश्चयः । अथ चाशीचप्रतिषेधो दशाहादिकाला-  
 वधिपञ्जरस्य, 'हतानां नृपगोविप्रैस्त्वच्च आत्मघातिनाम्' ( प्रा० २१ ) इति  
 सद्यशीचस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा दाहादिक्रम्येषां न कार्यम्, 'नाशीच  
 नोदकं नाशु न दाहाद्यन्यकर्म च । महादण्डहतानां च न कुर्यात्कृष्ण-  
 रणम् ॥' इति यमस्मरणात् । महादण्डहता प्राहणदण्डहता । प्रेतवहनसाधने  
 स्रष्ट्यादि 'कट'शब्देनोच्यते । न चाहिताग्निमग्निभिर्दहनं यजराश्रैःपेतत्  
 श्रुतिविहिताग्निवक्रुषणादिप्रतिपत्तिलोपप्रसङ्गात् । अथ स्मार्तो दाहादिनिषेधो  
 विप्रादिहताहिताग्निविषयः नास्तीत्युच्यते । अथ स्मार्तो दाहादिनिषेधो

साहिताशिसमन्वितामग्निपञ्चपात्राणां स्मृत्यन्तरे प्रतिपश्यन्तरं विधीयते-  
 'यैतान् प्रतिपेदस्सु भावसप्य चतुष्पथे । पात्राणि तु दहेद्दशौ यजमाने घृथा  
 मृते ॥' (जमदग्नि) इति । तथा तच्छरीरस्यापि प्रतिपश्यन्तरमुक्तम्, 'आत्मान-  
 रथागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया । तेषामपि तथा गद्गानोपे मस्थापन  
 हितम् ॥' इति स्मरणात् । तस्माद्विज्ञेयेण सर्वेषां दहनादिनिषेध । अतः  
 इनेहादिना निषेधानिक्रमे प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्, 'हृत्पादग्निमुदक स्नान स्पर्शन  
 बहन कथाम् । रजश्चेदाधुपात च तसकृष्टेण शुद्धवति ॥' इति स्मरणात् ।  
 पृथक् प्रायेक पुद्गिपूर्वके वेदितव्यम् । अयुक्तिपूर्वककरणे तु 'एवामभ्यतम प्रेतं  
 यो वहेत दहेत वा । कटोदककिषां हृत्वा हृत्पुं मास्तपन चरेत् ॥' इति सव-  
 नोक्त द्रष्टव्यम् ॥ अ० पुन 'तद्वज्र केवलं शृष्टमथु वा पातित यदि । पूर्वोक्ता  
 नामकारी केदेकराप्रममोजनम् ॥' इति स्पर्शाधुपातयोदपवास उक्तः ॥ अस्मी  
 हृष्टैस्वशाक्तश्च तथा बन्धनच्छेदने दहने वा मास भेदाहारस्त्रिषण च' इति  
 सुमन्तुना भैष्ठाशिवमुक्तः-तदभ्यक्षत्स्यैव । एवमभ्यास्यपि तद्विषयाणि स्मृति-  
 धारयानि व्यवस्थापनीयानि । अथ च दाहादिप्रतिषेधो मिश्रकर्मज्ञुष्टानासमर्थ-  
 जीर्णवानप्रस्थादिभ्यतिरिक्तविषयः । तेषामभ्यनुज्ञादर्शनात् । 'शुद्ध द्वापरमृतेर्लुप्त  
 प्रयासयातभिपविश्रय । आत्मानं घातयेत्तु शृङ्गस्वयनशनाशुभिः ॥ तस्य  
 त्रिरात्रमाशौच द्वितीये स्वस्थिसचय । तृतीये सूद्रक हृत्वा चतुर्थे भ्रातृमाचरेत् ॥  
 इति स्मरणात् ॥

एवं येन येनोपाधिना आत्महननं शास्त्रतोभ्यनुज्ञायते तत्तद्व्यतिरिक्तमार्ग-  
 नात्महनने भ्रातृव्योर्ध्वदेहिकेषु निषिद्धेषु किं पुनरुत्तेषां कार्यमिष्टयेष्टायां शुद्धवा-  
 ज्ञवत्पवद्भागलेयाभ्यामुक्तम्—'नारायणकलि कार्यो लोकगर्हामयासुरैः ।  
 तथा तेषां मवेश्ठीच नामधेयस्वप्नीयमः । तस्मात्तेभ्योऽपि दातव्यमद्यमेव  
 अदक्षिणम् ॥' इति । श्वासेनाप्युक्तम्—'नारायण समुद्दिश्य शिष्यं वा  
 याप्रदीयते । तस्याशुद्धिकरं कर्म तद्भवेत्तदन्वया ॥' एवं इति । एव नारायणवलिः  
 प्रेतस्य शुद्धवापादनद्वारेण श्राद्धादिसंप्रदानत्वयोग्यता जनयतीति और्ध्वदेहिकम  
 वि सर्वं कार्यमेव । अत एव पट्टत्रिघ्नमतेऽपि और्ध्वदेहिकस्याभ्यनुज्ञा दृश्यते-  
 'शोभाक्षणहताना च पतितानां तथैव च । ऊर्ध्वं सवत्सरात्कुर्यात्सर्वमेवौर्ध्वदेहिक-  
 कम् ॥' इति । एव सवत्सरादूर्ध्वमेव नारायणवलिं कुर्यादूर्ध्वदेहिकं कार्यम् ॥

नारायणवलिश्चेत्थं कार्यं—कस्याचिच्छुक्लैकादश्या विष्णु धैरवत्त यमं च  
 यथावदभ्यर्च्यं नरसमीपे मधुपुनपुननास्तिरुमिथान्दश विष्णान्विष्णुरुपिण प्रेत-  
 मनुस्मरन् प्रेतनामगोत्रे उच्चार्यं दक्षिणामेषु दर्शेषु दक्षिणाभिमुखो दत्त्वा गन्धा-

दिभिरभ्यर्च्यं पिण्डप्रवाहणान्तं कृत्वा नद्यां चिपेत्, न पश्यादिभ्यो दद्यात् ॥  
 ततस्तस्यामेव राश्यामयुग्मा-ब्राह्मणानाम-भ्योपोषितं श्वोभूने मध्याह्ने त्रिण्वारा-  
 धनं कृत्वा एकोद्दिष्टविधिना ब्राह्मणपादप्रणालनादितृप्तिप्रदानान्तं कृत्वा पिण्डपितृ-  
 यज्ञावृत्तोदलेखनाद्यनेत्रान्तं तूर्णो कृत्वा विष्णव्यं ब्रह्मणे शिवाय यमाय च  
 परिवारसहिताय चतुर विष्ठा दद्यात् नामगोत्रमहितं तं श्रेत सस्मृत्य विष्णोर्नाम  
 सत्रीत्यं पञ्चमं विष्ठा दद्यात् । ततो विप्रानाचान्तान्दृष्टिणाभिस्तोषयित्वा तन्म-  
 ष्ये चैकं गुणवत्तमं श्रेतयुद्धया सस्मरन् गोभूदिरभ्यादिभिरतिशयेन सतोष्य तत  
 पविप्रपाणिभिर्विप्रैः प्रेताय तिलादिमहितमुद्रकं द्वापयित्वा स्वजनैः, सार्धं भुञ्जीत ॥

सर्वहते ऽथ विशेष-संवासरं यावत्पुत्राणोक्तविधिना पञ्चम्यो नामपूर्णां  
 विधाय पूर्णं सवसरे नारायणबलिं कृत्वा सौवर्णं नाम दद्यात्, गौं च प्रायश्चाम् ।  
 तत सर्वमौषधैर्द्वैहिकं कुर्यात् ॥

नारायणबलिरथरूपं च वैष्णवेऽभिहितं यथा—‘एकादशो समासाद्य शुक्ल  
 पञ्चम्यं वै त्रिभिः । ‘विष्णुं समर्चयहेष यमं वैवस्वत तथा ॥ दशं पिण्डान्  
 पुत्राभ्यक्तान्द्वेषु मधुसमुत्तान् । तिलमिध्रप्रदद्याद्द्वै सयतो दृष्टिगामुत्त ॥  
 त्रिणुं बुद्धौ समासाद्य नद्यभिसि तत चिपेत् । नामगोत्रप्रदं नत्र पुष्पैरभ्यर्चन  
 तथा ॥ धूपशीपप्रदानं च भक्ष्य भोज्यं तथा परम् । निमग्नेषु विप्रा-वै पञ्च-  
 मस्त नयापि वा ॥ विद्यालय समृद्धा-वै कुलोत्पन्नासमाहिनाः । अपरेऽहनि स-  
 प्राप्ते मध्याह्ने समुपोषितं ॥ विष्णोरभ्यर्चनं कृत्वा विप्रैरानुपवेशयेत् ।  
 उदङ्मुत्तान्पथाग्रेष्ठं पितृरूपमनुस्मरन् ॥ मनो निवेश्य विष्णो वै सर्वं कुर्यात्  
 तद्भित्तं । आवाहनादि मन्त्रोक्तं देवपूर्वं तद्वाचरेत् ॥ त्वाग्ज्ञारवा ततो विप्रारतृप्ति  
 पृष्ट्वा यथाविधिः । हविष्यपञ्चनेनैव तिलादिमहितेयं च ॥ पञ्च विष्ठा-मध्याद्य  
 देवैः कृत्वा मनुस्मरन् । प्रथमं विष्णव दद्यात् ब्रह्मणे च शिवाय च ॥ यमाय  
 सौतुचराय चतुर्थं पिण्डमनुस्मरेत् । मृतं सक्तीर्षं मनसा गोत्रपूर्वमत परम् ॥  
 विष्णोर्नामं गृहीत्वैव पञ्चमं पूर्ववत्चिपेत् । ‘विप्रानाचान्दृष्टिणाभि  
 समर्चयेत् ॥ एकं ‘विद्वत्तमं त्रिप्रं दिरभ्येन समर्चयेत् । गवा वस्येण भूया च श्रेत  
 त मनसा स्मरन् ॥ ततस्त्रितलाभ्यो विप्रैस्तु हस्तैर्दक्षैस्तमन्वितैः । चिपेत्तूर्णोत्पूर्वं तु  
 नामं बुद्धौ निवेश्य च ॥ हविर्गन्धतिलाभ्यस्तु तस्मै दद्यात् समाहिता । मित्रभ्रातृ-  
 जनैः सार्धं पञ्चानुत्तं वाचयत् ॥ एव क्त्विणुमते शिवाय यो दद्यादात्मयानिन ।  
 समुत्तरति तं विप्रं नाम कालां त्रिचारणा ॥ सर्वदशनिमित्तं सौवर्णनामदानं  
 प्रतिवृत्तिरूपेण अविश्वरूपुराणे सुमन्तुनाभिहितम्—‘सुवर्णंभारनिपत्रं नाम  
 कृत्वा तथैव गाम् । श्वानाथ दश विधिदत्त्विपुरातृष्णमात्तुयात् ॥’ इति ॥१॥

१. अर्चयेद् देवेत । २. देवरूप । ३. सानुचाराय । ४. विदेगाचर्य ।
५. पृथगम् ।



भाषा—पातण्डी, अनाथित ( जो किसी आश्रम में न हों ), चोर, पति की हत्यादि और व्यवहारिणी आदि द्विर्था सुरा पीने वाले और आमदशा करने वाले आशौचकाल में दिये जाने वाले उदकदान के पात्र नहीं होते । ( अर्थात् इन्हें आशौच में उदकदान नहीं दिया जाता ) ॥ ६ ॥

एउमुदकदान सापवादप्रभिधावान-तरं किं कार्यमिष्यत भाह—

कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाह्वलसंस्थितान् ।

स्नानानपचदेयुस्तानितिहासै पुरातनै ॥ ७ ॥

कृतमुदकदान येस्तान्कृतोदकान् छाता-सम्यग्दकाहुत्तीर्णान्मृदुशाह्वले मधोद्वतद्वगप्रचपायुते भूभागे सम्यक्स्थितान् पुत्रादीन्कलवृद्धा पुरातनैरिति हासैर्षपमाणैरपचदेयु शोकनिरसनममर्थैर्वचोभिर्बोधयेयु ॥ ७ ॥

भाषा—उदकदान के बाद स्वयं जल में स्नान करके जल से निकल कर ( किनारे की ) दरी घास पर बैठे हुए पुत्रादि जनों को पुरागी कथाएँ सुनाकर कुल के प्रबन्ध व्यक्ति उनके शोक को दूर करें ॥ ७ ॥

शोकनिरसनममर्थैरितिहासरूपमाह—

मानुष्ये कदलीस्तम्भनि सारे सारमार्गणम् ।

करोति य स समूढो जलशुद्धवर्निभे ॥ ८ ॥

'मनुष्य'शब्देन जरायुजाण्डजादिषुर्विधभूतजात लप्यते, तस्य भाव मानुष्य, तत्र मसरणपरिभवेन कदलीस्तम्भवदन्त साररहिते जलशुद्धवर्षचिर दिनधरे ससारे सारस्य रियरस्य मार्गम-वेपण य करोति स समूढ अत्यन्त-दिनप्रक्षिप्त तस्मात्ससाररूपपदेदिभिर्भवन्निरित्य न कार्यम् ॥ ८ ॥

भाषा—जो व्यक्ति एक कले के स्तम्भ के समान नि सार और जल के शुद्धकुले के समान नरवर इस मनुष्यलोक में स्थिरता की इच्छा करता है वह मूढ है ॥ ८ ॥

पञ्चधा संभृत- कायो यदि पञ्चत्वमागतः ।

कर्मभि स्वशरीरोर्यैस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

किंच, ज-मा-तरारमीयशरीरजनितै कर्मबीजै स्वफलोपभोगार्थं पञ्चधा पृथि-पादिपञ्चभूतात्मकतया पञ्चप्रकार संभृतो निर्मित काय स यदि फलोपभोगनिपृत्तौ पञ्चत्वमागत पुन पृथि-पादिरूपता प्राप्तस्तत्र भयता किमर्था परिदेवना ? निष्प्रयोजनस्वाध्यानुशोचन कर्तव्यम्, अस्तुस्थितेस्तथा-स्वात् । नहि केनचिद्दस्तुस्थितिरतिक्रमिषु शक्यते ॥ ९ ॥

भाषा—पूर्वजन्म के शरीर द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने के लिए ( पृथ्वी आदि ) पाँच तत्वों के संघात से निर्मित शरीर यदि पुन पञ्चतत्वों के रूप में आ गया तो इसमें दोष करने की क्या बात है ? ॥ ९ ॥

गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्देवानि च ।

फेनप्रत्य. कथ नाश मर्त्यत्वाको न यास्यति ॥ १० ॥

अपि च नेदमाश्रयं मरण नाम यत् पृथिव्यादीनि महान्त्यपि भूतानि  
नाश गच्छन्ति, तथा समुद्रा अपि जलमरणविरहिण अमरा अपि  
प्रलयममये क्षयमान गच्छन्ति, कथमिवास्मिन्नतया फेनसनिभो मरणधर्मा  
भूतसद्यो विनाश क यास्यति ? उचितमेव हि मरणधर्मिण प्रायणम् ।  
अतो निष्प्रयोजन शोकासमावेश ॥ १० ॥

भाषा—पृथ्वी, समुद्र और देवता भी नाश को प्राप्त होते हैं तो फेन के  
समान मृत्युलोक क्यों नहीं नष्ट होगा ? ॥ १० ॥

अनिष्टापादकरवाद्यनुशोचन न कार्यमित्याह—

श्लेष्माशु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवश ।

अतो न रोदितव्यं हि क्रिया कार्या 'म्वशचित् ॥ ११ ॥

परमादनुशोचद्भिर्वा-धवैर्बन्धनवन्ननिर्गमित श्लेष्माशु वा परमादवशोऽ-  
कामोऽपि प्रेतो भुङ्क्ते, तस्मात्त रोदितव्य, किंतु प्रेरहितस्नुभि स्वप्नवश्य  
नुसारेण ध्यादादिक्रिया कार्या ॥ ११ ॥

भाषा—बान्धवों द्वारा शोक में गिराये गये श्लेष्मा ( रजदार ) और  
अशु प्रेत को बाध्य होकर ( न चाहते हुए भी ) खाना पकता है, अतएव रोना  
नहीं चाहिये, अपितु ( प्रेत के हित के लिए ) अपनी शक्ति के अनुसार ( ध्याद )  
क्रिया करनी चाहिए ॥ ११ ॥

इति संभुरय गच्छेयुर्गृहं बालपुर सर ।

विदश्य निम्पपत्राणि नियता द्वारि वेश्मन ॥ १२ ॥

<sup>१</sup>आचम्याम्यादि सल्लिखं गोमय गौरसर्पपान् ।

प्रविशेयु समासभ्य कृत्याऽश्मनि पदं शनै ॥ १३ ॥

एव इहवृद्धवर्षासि सम्यगाकर्ण्यं त्यक्तशोरा स तो बालानप्रत  
इत्या गृह गच्छेयु । गत्वा च वेश्मनो द्वारि स्थित्वा नियता सप्त  
मनसरा निम्पपत्राणि विदश्य दशनै रणदयित्वा आचमन च कृत्वाऽ  
स्युदकगोमयगौरसर्पपानालभ्य, 'आदि' प्रदणत् 'पूर्वाप्रवालममिदृपमौ

च' इति शब्दोक्तौ दूर्वाङ्कुरमृषभाद्यपि स्मृत्या अग्निश्च च दं निधाय तत्रै-  
रद्रुतं घेरमनि प्रविशेयुः ॥ १२-१३ ॥

भाषा—( कुल घृष्टों के ) इस प्रकार के वचन सुनकर ( लोक त्याग  
कर ) घालकों को आगे करके घर जावें । घर के द्वार पर पड़े होकर नीम की  
पत्तियों फूँचकर, भाचमन करके, अग्नि, जल, गोबर और पीले सरसों का स्पर्श  
करें और पत्थर पर पैर रखकर धीरे से घर में प्रवेश करें ॥ १२-१३ ॥

अतिदेशमाह—

प्रवेशमादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शानामपि ।

इच्छतां तस्मिन्नाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमान् ॥ १४ ॥

यदेतत्पूर्वोक्तं निम्नपत्रघननादि घेरमप्रवेशनान्तं कर्म, तत्र केवलं ज्ञाती-  
नामपि तु परेषामपि धर्मार्थं प्रेतालंकारनिर्हरणादिकं कृवंतां भवति । 'प्रवे-  
शनादिकं' इत्यत्र 'आदि' शब्दोऽमात्रलिङ्गत्वात्प्रतिलोमकमाभिप्रायः । तेषां  
च धर्मार्थनिर्हरणादौ प्रवृत्तानां तस्मिन्नाच्छुद्धिमिच्छतां असविष्यन्तानां ज्ञानप्राप्ता-  
यासाध्यामेव शुद्धिः । यथाह पराशरः—'अनाथं प्राण्यं प्रेतं ये बह्विति द्विजा-  
तयः । पदे पदे यत्कलमानुपूर्व्या लभन्ति ते ॥ न तेषामशुभं किञ्चिदापि चा-  
शुभकर्मणि । जलावगाहनात्तेषां सद्यः शीघ्रं विधीयते ॥' इति ॥ स्नेहादिना  
निर्हरणे तु मन्त्रो विशेषः ( ५।१०।१।१०२ )—'असविष्यन्तं द्विजं प्रेतं विप्रो  
निर्हरय यन्धुवत् । विशुष्यति त्रिरात्रेण मातुरास्तांश्च यान्धवान् । यद्यन्नमसि  
तेषां तु दशाहेनैव शुष्यति । अन्नदन्नमह्वैव न चेतस्मिन्गृहे वसेत् ॥' इति ।  
अत्रेयं व्यवस्था—यः स्नेहादिना शवनिर्हरणं कृत्वा तदीयमेवाश्रमभाति, तद्गृहे  
च वसति, तस्य दशाहेनैव शुद्धिः । यस्तु केवलं तद्गृहे वसति, न पुनरतद-  
न्नमरणाति, तस्य त्रिरात्रम् ; यः पुनर्निर्हरणमात्रं करोति, च तद्गृहे वसति,  
न च तदन्नमरणाति, तस्यैकाह इति—पुत्रसजातीयविषयम् ; विजातीयविषये  
पुनर्यज्ञार्थाय प्रेतं निर्हरति तज्जातिप्रयुक्तमाशौच कार्यम्, यथाह गौतमः  
( १४।१९ )—'अथर्ववेदार्णः पूर्वं वर्णमुपस्थितेष्वं वाऽर्चं तत्र तद्द्व्योक्तमा-  
शौचम्' इति । उपस्पर्शनं निर्हरणम् । विप्रस्य शूद्रनिर्हरणे मासाशौचम् ;  
शूद्रस्य ॥ त्रिभिर्निर्हरणे वृशराश्रमस्येव शवचदाशौचं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाषा—शव को छूने वाले दूधरे ( सगोत्र याग्धवों से भिन्न ) व्यक्तिपों  
को घर में प्रवेश करने तक की पूर्वोक्त क्रियाएँ करनी होती हैं, यदि वे तरकाळ  
शुद्ध होने का विचार करें तो स्नान और प्राणायाम से ही उनकी शुद्धि हो  
जाती है ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारिण प्रत्याह—

आचार्यपिशुपाच्यायास्त्रिहृत्यापि वती वती ।

सकटाक्षं च नाशनीयाद्य च तैः सह संवसेत् ॥ १५ ॥

आचार्य उक्तलक्षण, माता च पिता च पितरौ, उपाध्याय पूर्वोक्त, एता-  
त्रिहृत्यापि वती ब्रह्मचारी ब्रह्मेव, न पुनरस्य व्रतश्रम । 'कट'शब्देनाशीच  
लक्ष्यते, तत्सहचरितमज्ञ सकटाक्षं तद्ब्रह्मचारी नाशनीयात्, न चाशीचिभि  
सह संवसेत् । एष वदता आचार्यादिव्यतिरिक्तप्रैतनिर्हरणे ब्रह्मचारिणो व्रतलोप  
द्वयर्थात् भवति । अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मचारिण शयकर्मिणो व्रतादि  
चूतिरश्वन्न मातापित्रो' इति ॥ १५ ॥

भाषा—आचार्य, मातापिता और उपाध्याय के शय श्रमज्ञान तक ले  
जाने पर भी ब्रह्मचारी व्रती ही रहता है ( उसका व्रत खण्डित नहीं होता ),  
किन्तु उसे आशीची का भक्षण नहीं ग्रहण करना चाहिए और न उनके साथ  
निवास करना चाहिए ॥ १५ ॥

आशीचिनां नियमविशेषमाह—

क्रीतलब्धाशना भूमौ स्वपेयुस्ते पृथक् क्षितौ ।

विण्डयज्ञावृता देयं प्रेतायाक्षं दिनत्रयम् ॥ १६ ॥

क्रीतमयाचितलब्ध वा भक्षण वेपा ते क्रीतलब्धाशना, भवेयुरिति  
शेष । क्रीतलब्धाशननियमात्सदलाभेऽनशनमर्षारिसद् भवति । अत एव  
वसिष्ठ —'गृहा मजिस्था भयप्रस्तरे स्वहममरण-न आमीरन् क्रीतोप-नेन  
वा बर्तेरन्' इति । भयप्रस्तर आशीचिनां शयनासनार्थरक्षणमय, प्रस्तर । ते  
च सविण्डा भूमावेव पृथक्पृथक् क्षयीन्, न स्वत्वादी ॥ मनुनाऽप्यत्र विशेषो  
दर्शितः ( ५।७३ )—'अक्षारलवणाका र्मुनिमज्जेयुश्च ते स्वहम् । मांसाशन  
न नाशनीयु क्षयीरथ पृथक् क्षितौ ॥' इति । तथा यौतमेनापि विशेष उक्त  
( १७।३० )—'अथ दद्यात्सनिनो ब्रह्मचारिणं शयकर्मिण' इति । तथा  
विण्डयित्वाश्रयया प्राचीनावागिस्वादिरूपया प्रेताय दिनत्रय विण्डरूपम-न  
तूर्णो क्षितौ देयम् । यथाह मरीचि — प्रतविण्ड बहिर्दद्याद्भ्रमन्प्रविवर्जितम् ।  
प्रागुदीच्यां चरु कृत्वा ज्ञात प्रयतमानस ॥' इति । द्रुमं-प्रविवर्जितत्वमनु-  
पनीतविषयम् । 'असकृतानां भूमौ विण्ड दद्यात्सकृतानां कुशेषु' इति प्रचेत-  
स्मरणात् । तथा कर्तृनियमश्च गृह्यपरिशिष्टाद्विज्ञेय—'असगोत्र समोत्रो वा  
यदि स्त्री यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दद्याद् समापयेत् ॥' इति ।  
तथा द्रव्यविनियमश्च शुन पुच्छेन दर्शित — क्षान्तिना सक्तुभिर्वापि शाकैर्वाऽ

प्यथ निर्वपेत् । प्रथमेऽहनि यद् द्रव्यं तदेव स्याद्दशाहिकम् ॥ तूर्णीं प्रसेकं पुष्पं च द्वीपं भूपं तयैव ॥ ॥ इति । पिण्डश्च पापानो देव । 'भूमौ मावय पिण्डं पानीयं सुपले वा दधु' इति शङ्खस्मरणात् । न च 'दधु' इति बहुवचनेनोदकदान-वत्सर्वं पिण्डदानं कार्यमित्याशङ्कनीयं, किंतु पुत्रैरेव कार्यम् । तदभावे प्रथा-सन्नेन सपिण्डानामन्यतमेऽ, तदभावे मातृमपिण्डादिना कार्यम् ; 'पुत्राभावे सपिण्डाः मातृमपिण्डाः शिष्याश्च दधुस्तदभावे ऋषिगाथार्वा' इति गौतम-स्मरणात् । पुत्रवद्भवे पुन-अच्छेदैव कार्यम् । सर्वैरनुमतिं कृत्वा उपेष्ठेनैव तु पाकृतम् । प्रथेण पाविभजेन सर्वैरेव कृतं भवत् ॥ इति मरीचिस्मरणात् । पिण्डस्य पानीयमश्व-प्राज्ञस्य दश पिण्डाः, उरियस्य द्वादशैरिति । पृथना-शौचदियसत्तपयया विष्णुनाऽभिहितम्—'यात्राशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दधु' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'नवमिदिवर्षेर्दशाश्वं पिण्डान्तमाहितं । दशमं पिण्डमुत्सृज्य रात्रिनेपे शुचिर्भवेत् ॥' इति शुचिस्वर्चनमपरेषु क्रियमा-णप्राज्ञार्थप्राज्ञानिमग्नप्रणाभिमायण । योगीचरेण तु पिण्डप्रदानमभिहितम् । अनयोश्च गुरुलघुनक्षत्रयोर्दशकदानविषयोत्ताः स्वयस्था विज्ञेयाः । अत्रा-परं शातातपीयो विशेष—'आशौचस्य तु हासेऽपि पिण्डान्दद्याद्दशैः तु' इति ॥ त्रिराशौचिणां पुनः पारस्करेण त्रिदशैः दर्शितं—प्रथमे दिवसे देवास्त्रयं पिण्डाः समान्निभे <sup>द्वितीये चतुरो देवाश्च</sup> सचयन तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तानीवेऽहं कदाचि चालयत्तया ॥ इति ॥ १६ ॥

भाषा—आशौची व्यक्ति खरीद कर या विना मति ही मिले हुए भक्षण का भोजन करें और भूमि पर पृथक पृथक् सोखें तथा पृथ्वी पिण्ड पितृपक्ष की विधि से ( दाहिने कंधे पर पञ्चोपवीत करके ) तीन दिन प्रेत के लिए पिण्डदान के रूप में भक्षण दें ॥ १६ ॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च सूत्रमये ।

किञ्च, जल क्षीर च सूत्रमये पात्रद्वये पृथक् प्रथमाकाशे शिक्वादावेकाह-स्थावनीयम् । अत्र विशेषानुपादानप्रथमेऽहनि कार्यम् । तथा पारस्करव-चनात् । 'प्रेताश्च साहि' इत्युदकं स्थाप्य 'पित्रं चेदम्' इति क्षीरम् ॥ तथास्थि-सचयनं च प्रथमादिदिनेषु कार्यम्, तथाह सर्वतं—प्रथमेऽहनि तृतीये वा सप्तमे-नवमे तथा । अस्थिसचयनं कार्यं दिने तद्गोत्रजे सह ॥ इति । कचिद् द्वितीये-अस्थिसचय इत्युक्तम् । वैष्णवे तु 'चतुर्थं दिवसेऽस्थिसचयनं कुर्यात् तेषां च गङ्गाभसि प्रक्षेप' इति । अतोऽन्यतमस्मिन्दिने स्वगृहोक्तविधिनाऽस्थिरुचयनं-कार्यम् अङ्गिरसाः चात्र त्रिदशैः दर्शितं—'अस्थिसचयने यागो देवानां परिकीर्तितः । प्रेतीभूतं तमुद्दिश्य ॥ शुचिर्न करोति चेत् ॥ देवतानां तु यजनं तं शपथयथ

देवता ॥' देवताश्च त्र श्मशानवासिन्य तत्र पूर्वदग्गा 'श्मशानवासिनो देवा  
 शवानां परिकीर्तिता' इति तेनैवोक्तम् । अतस्ता-देवानचिरमृत च प्रेतमुद्गिरय  
 धूपदीपादिभि विष्वक् रूपेण चानेन तत्र पूजा कार्येत्युक्त भवति ॥ तथा वपन  
 च दशमेऽहनि कार्यम् 'दशमेऽहनि रुद्रासु खान ग्रामाद्द्विभंवेत् । तत्र  
 रथाऽयानि वासासि केशरप्रश्रुनखानि च ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ तथा  
 स्मृत्य-तरेऽपि—'द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं चुरकर्म प्रथमतः । तृतीये पञ्चमे  
 चाऽपि सप्तमे चाऽप्रदानत ॥' इति धादप्रदानादर्वागनियम इति यावत् ।  
 वपन च केपामिस्थाकाङ्क्षायामापस्तम्बेनोक्तम्— अनुभाविनां च परिवापनम्  
 इति । अयमर्थ—शात्रु दुःखमनुभव-तीत्यनुभाविन सविण्डा, तेषां चादि  
 दोषेण वपनशुताहवधसामि यपेद्यायामिदमेवोपतिष्ठते— अनुभाविनां च परि  
 वापनम्' इति । अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनोऽहवधसस्तेषां वपनमिति ।  
 अनुभाविन पुत्रा इति केचिन्म य ते, गङ्गायां भास्करप्रेते 'मातापित्रोर्गुरो-  
 र्मृतौ । आधानकाले सोमे च वपन सप्तसु स्मृतम् ॥' इति नियमदर्शनात् ॥  
 अष्टाचिखेन सकलधीतस्मार्तकर्मधिकारनिवृत्तौ प्रसक्त्यायां केवुचिदभ्यनुज्ञा  
 सार्थमाह—

**वैतानोपासना कार्या क्रियाश्च धृतिचोदनात् ॥ १७ ॥**

वितानोऽग्नीनां विस्तारस्तत्र भवा वैताना श्रेताग्निताप्या भग्निहोत्रदशं  
 पूर्णमासाद्या क्रिया उपपत्तेः । प्रतिदिनमुपास्यत इत्युपासनां गृह्याग्निस्तत्र  
 भवा भीपासना सायंप्रातर्होत्रक्रिया उपपत्तेः । सा वैतानोपासना वैदिक्य क्रिया  
 कार्या । कथं वैदिक्यत्वमिति चेत् —धृतिचोदनात् । तथा हि— यावज्जीव  
 भग्निहोत्र जुहुयात्' इत्यादिधृतिभिरग्निहोत्रादीनां चोदना स्पष्टैव । तथा  
 'नहरह स्वाहा कुर्वां दद्याभावे कनचिदाकाङ्क्षात्' इति श्रुत्योपासनहोमोऽपि  
 चोद्यते । अत्र च धीतत्वविशेषणोपादानास्मार्तक्रियाणां दानादीनामनुष्ठान  
 शक्यते । अत एव वैशाखपादेनोक्तम्— 'स्मार्तकर्मपरिषागा राहोर-पत्र सूतके ।  
 भीते कर्मणि सकलाः स्नात शुद्धिभवाऽनुयात् ॥' इति धीताना च कार्यत्वा  
 भिधान नित्यनैमित्तिकाभिप्रायेण, यथाह पैठीनसि— निरयानि त्रिनिवर्तरेभ्यै  
 सानवर्जं शालाग्नी चैके' इति । निरयानि विनिवर्तरेभ्य' इत्यविशेषेण भावरय  
 कानां निरयनैमित्तिकानां निवृत्तौ प्रसक्त्यायां 'वैतानवर्जम्' इत्यन्तिप्रयसाप्या  
 परयकानां पर्युदास नाकाग्नी चैके' इति गृह्याग्नी भवाशामप्यापरयकानां  
 पादिक पर्युदास उक्त । अतस्तेष्वशीच नास्त्यव । काम्यानां पुन सीधा

१ भूतपूर्वदग्गा । २ गुरौ मृते । ३ वैतानो । ४ चोदना ।  
 ५ वपयते ।

भावादतनुष्ठानम् । मयुनाप्यनेनैवाभिप्रायेणोक्तम् ( ५८४ )—‘प्रत्यूहेग्ना-  
ग्निषु क्रिया’ इति । अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेदिति अग्निताभ्यानां पञ्चमहा-  
यज्ञादीनां निवृत्तिः । अत एव सर्वतः—‘होम तत्र प्रकुर्वीत शुक्लान्नेन फलेन  
वा । पञ्चयज्ञविधानं तु न कुर्वन्मृत्युजन्मनो ॥’ इति वैश्वदेवस्याग्निताभ्य-  
त्येऽपि वचनाग्निवृत्तिः । ‘विप्रो दशाहमासीत् वैश्वदेवविवर्जितः’ इति तेनैवो-  
क्तत्वात् ॥ ‘सूतके कर्मणा आयाः सध्यादीनां विधीयते’ इति यद्यपि सध्याया  
विनिवृत्तिं श्रूयते, तथाप्यञ्जलिप्रक्षेपादिकं कुर्यात् । ‘सूतके सावित्र्या चाञ्जलिं  
प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा सूर्यं ध्यायन्नमस्कुर्यात्’ इति पैठीनसिस्मरणात् ।  
यद्यपि ‘वैतानौपासना कार्या’ इति सामान्येणोक्तं, तथाप्य-येन कारयितव्यम् ।  
‘अन्यं पुत्रानि कुर्वुं’ इति पैठीनसिस्मरणात् । गृहस्वतन्त्रताप्युक्तम्—‘सूतके  
मृतके चैव अक्षतौ आह्वयभोजने । प्रवासादिनिमित्तेषु हावयत्तु हावयेत् ॥’  
इति । तथा स्मार्तस्वेऽपि विष्णुदिव्यपञ्चमवनाकर्माश्विषुवदादिकश्च निरपहोम  
कार्यं एव, ‘सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्तं कर्म कथं भवेत् । विष्णुपञ्च चरु होम-  
मसतोत्रेण कारयेत् ॥’ इति जातृकर्मस्मरणात् । यद्यपि साङ्गे कर्मण्यभ्य-  
कर्वुंश्च, तथापि स्वद्वयस्थागारमकं प्रधानं स्वयं कुर्यात्, तस्यान्यनिष्पा-  
द्यात्वात् । अत एवोक्तम्—‘श्रीते कर्मणि तत्कालं स्नात् शुद्धिमथात्सुयात्’  
इति, यत्पुनः—‘दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते’ इति होममतिषेधः,  
स कार्याभिप्रायो वैश्वदेवाभिप्रायो वा व्यवस्थापनीयः । तथा सूतकाग्निभोजन-  
मपि न कार्यम् ; ‘उभयत्र दशाहानि कुलस्वाग्ने न भुञ्जते’ इति पमस्मरणात्,  
उभयत्र जननमरणयोः । ‘दशाहानि’ इत्याशौचकालोपलक्षणम् । कुलस्य सूतक-  
पुस्तस्य सव्यस्यश्च असकुश्वैर्न भोक्तव्यं, सकुश्वानां पुनर्न दोषः, ‘सूतकं तु  
कुलस्यान्नमहोपमजुरप्रवीत्’ इति तेनैवोक्तत्वात् । अथ च निषेधो दातृभोक्तो-  
न्यतरेण जनने मरणे वा ज्ञाते सति वैदितव्यः, ‘उभाभ्यामपरिज्ञाते सूतकं  
नैव दोषकृत् । एकेनापि परिज्ञाते भोक्तृदोषमुपावहेत् ॥ इति पट्टिशा-मते  
दर्शनात् । तथा विवाहादिषु सूतकोत्पत्तेः प्राक् ब्राह्मणार्थं पृथक्कृतमन्नं भोक्तव्य-  
मेव, ‘विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । पूर्वसकश्चितार्थेषु न दोषः परि-  
कीर्तितः’ ॥’ इति गृहस्वतन्त्रताप्युक्तम् । तथाप्येऽपि विशेषः पट्टिशा-मते  
दर्शितः—‘विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । परैर-न प्रदातव्यं भोक्तव्यं च  
द्विजोक्तम् ॥ भुञ्जानेषुषु चिन्नेषु त्वन्तरा मृतसूतके । अन्वगेदोदकाचान्ता  
सर्वे ते शुचयः स्मृताः ॥’ इति । तथाशौचपरिग्रहस्वेऽपि केषुचिद्द्रव्येषु दोषा  
भावः । यथाह मरीचि—‘उच्यते मधुमासे च पुष्पमूलकल्पेषु च । द्राक्  
फाल्गुणेष्वप्युदपिसर्पिपयस्सु च ॥ तिलौषधाग्निं चैव पक्षापके स्वयंग्रहः ।  
पण्येषु चैव सर्वेषु नाशौचं मृतसूतके ॥’ इति । एकं भक्ष्यमात्रं मोदकादि-

अपश्च तण्डुलादि 'स्वयंप्रह' इति स्वयमेव स्वाम्यनुज्ञातो गृहीयादित्यर्थः ।  
 पकारकाम्यनुज्ञानमक्षसत्रप्रवृत्तविषयम्, 'अक्षसत्रप्रवृत्तानामाममक्षसगर्हितम् ।  
 सुवत्सा पक्षान्नमेतेषां त्रिरात्र तु पय विधेत् ॥' इत्यङ्गिरस्मरणात् । अप्र  
 'पक्ष' शब्दो भषय-यतिरिक्तौदनादिविषयः ॥ श्वससर्गनिमित्ताशीचे त्वङ्गिरसा  
 विशेष उक्त — 'आशीच यस्य ससर्गादापतेद्रूहमेधिनः । क्रियारतस्य न लुप्य-ते  
 गृह्याणा च न तद्भवेत् ॥' इति — तदाशीच क्वचल गृहमेधिन एव, न पुनरतद्रूहे  
 भवाना भार्यादीना तद्द्रव्याणां च भवेदित्यर्थः । अतिका-ताशीचेऽप्ययमेवार्थं  
 स्पष्ट-तरे दर्शित — अतिका-ते दशाहे ॥ पञ्चाजानाति चेद्रूही । त्रिरात्रं  
 सूतक तस्य न तद्द्रव्यस्य कर्हिचित् ॥' ( मनु ५।७६ ) इति ॥ १७ ॥

भाषा—एक दिन मिट्टी क ( दो ) पात्रों में पृथक् पृथक् जल और दूध  
 आकाश में ( शिब्या निकहर-पर ) रखना चाहिए । धुति के आदेश से  
 अग्निहोत्र आदि वैतानिक और पय पृष्ठाग्नि से किये जाने वाला उपासन  
 कर्म पय साथ प्रात होम किया करनी चाहिए ॥ १७ ॥

पृथमाशीचिनो विधिप्रतिषेधरूपा-चर्मानमिवापापुना आशीचनिमित्त  
 कालनिषम चाह—

त्रिरात्रं दशारात्रं वा शायमाशीचमिष्यते ।

ऊनद्विषर्षं त्रभयो सूतकं मातुरेय द्वि ॥ १८ ॥

शाचनिमित्त शावम् । 'सूतक'शब्देन च जननवाचिता तद्विमिषमाशीच  
 कथयते । पृथ च श्रुता जननमरणयोराशीचनिमित्तसूक्त भवति । तच्च जनन  
 मरणमुपेक्ष्यज्ञातमेव निमित्तम् । 'निर्देश ज्ञातिमरण भ्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च'  
 ( मनु ५।७७ ) इत्यादिलिङ्गदर्शनात् । तथा ( मनु ५।७५ )— विगत तु विदे-  
 दस्य ऋणुवाचो हनिर्देशम् । यत्क्षेप दशारात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥' इत्यादि  
 वाक्यारम्भसामर्थ्याच्च । उत्पत्तिमात्रावेत्येव द्वाशीचस्य दशाहायाशीचकालनिष  
 मारतसाधन्युक्तिका एवेति अनिर्देशज्ञातिमरणध्रवणे दशारात्रसेपयेवाशीचमर्षादि  
 द्यनीति 'यत्क्षेप दशारात्रस्य' इत्यनारम्भणीय स्यात् । तस्माज्ज्ञातमेव जनन  
 मरण च निमित्तम् । तद्योभवनिमित्तमप्याशीच त्रिरात्र दशारात्र चे यते  
 मन्वादिभिः ॥ अत्राशीचप्रकरणे अहर्ग्रहण रात्रिग्रहण चाहोरात्रोपलक्षणार्थम् ।  
 मन्वादिभिः 'द्वयते'इति वचन तदुक्तवर्षिण्डसमानोदकरूपविषयभेदप्रदर्शनार्थम् ॥  
 तथा द्वि ( मनु ५।५९ )— 'दशाह शायमाशीच सविष्येपु विधीयते ।', 'जनन  
 उपेक्षमेव श्यादिपुनो शुचिमिष्यताम् ॥' ( मनु ५।६१ ) 'जन्म-येऽहोदकानां तु  
 त्रिरात्राण्युद्विरिष्यते' । ( मनु ५।७१ ) 'तावत्पृथो विष्टद्वयन्ति प्यहात्तद्वदा-



दिग ॥' ( मनु ५।१४ ) इत्यतैर्वाक्यैश्चिरात्प्रदक्षराग्रयो समानोदकसपिण्ड-  
विपरत्वेन व्यवस्था कृता । अतः सपिण्डानां रसप्रपुष्टरावधिकानामविशेषेण  
दक्षराग्रम्, समानोदकानां त्रिराग्रमिति ॥ यत्पुत्र स्मृत्यन्तरेवचनम्—'चतुर्थं  
दक्षराग्रं स्यात्पञ्चमं पुंसि पञ्चमे । पष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे त्वदरेव तु ॥'  
इति, सद्भिर्गीतवाद्यादरणीयम् । यद्यप्यविशीतं तथापि मनुष्यैर्हृत्पचालम्भनव  
साकविद्धिश्चैवाप्तानुष्ठेयम् । 'अस्यैर्ष्यं लाकविद्धिश्चैर्ष्यं मन्वाचरेत्तु, (भा० १।५६)  
इति मनुस्मरणात् । अथ सप्तमे प्रत्यासहे सपिण्ड एवाहा विपृष्टाष्टमादिपु  
समानोदकपु स्यदमिति युक्तम् । एवमविशेषेण सपिण्डानामाशीचे प्राप्ते क्वचि-  
न्नियमार्थमाह । 'उन्नद्धिवप सस्ये उन्नवारव मातापित्र र्दक्षराग्रमाशीच न  
सर्वेषां सपिण्डानाम् । तेषां तु वक्ष्यति 'आ दन्तजन्म सद्य' ( प्रा० १३ )  
इति । तथा च वैद्वय — गर्भस्थे प्रेते मातुर्दशाह, जातः त्रयस्यो, कृतं नागि  
सोदशानां च' इति । अथवा अयमर्थ — उन्नद्धिवप सस्येते उन्नयोर्मातापि-  
त्रारेव अस्पृश्यत्वलक्षणमाशीच न सपिण्डानाम् । तथा स्मृत्यन्तरे—'उन्नद्धिवपे  
प्रेते मातापित्रोरेव नतरेषाम्' इति अस्पृश्यत्वलक्षणमभिप्रेतम् । इतरस्य पुत्र  
कर्मण्यनधिकारत्वलक्षणस्य सपिण्डेष्वपि 'आ दन्तजन्म सद्य' ( प्रा० १३ )  
इत्यादिभिर्विहितत्वात् । अत्र दृष्टान्त — सूतक मातुरेव हीति । यथा सूतक  
जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशीच मातुरेव केवलं तथोन्नद्धिवपेपरमे मातापि  
त्रोरेवास्पृश्यत्वमिति । उन्नद्धिवपे सपिण्डानामस्पृश्यत्व प्रतिषेधताऽऽयत्रास्पृश्य-  
त्वमध्यनुज्ञातं भवति । तथा च वैद्वय — 'स्वाशीचकानाद्विज्ञेव स्पर्शनं च  
त्रिमागत । शूद्रविदूचत्रविवाहा यथाशास्त्रं प्रचोदितम् ॥' इति । यतश्चानुपमीत-  
प्रदाननिसिद्धेः अग्निष्ठा-ताशीचे च त्रिराग्रादी यदित्येवम् । अयनीतद्विषयस्य  
सैवोक्तम्—'दक्षाहादित्रिमागेन कृते सचयने ऋतात् । अहस्पृशनमिच्छन्ति  
वर्णानां तावदग्निं ॥ त्रिचतु पञ्चदशभिः स्पृश्या वर्णां प्रमणं तु । भो याज्ञो  
दशभिर्विंश दोषा द्वित्रिपञ्चत्तरैः ॥' इति । द्विचतुरैर्दशभिः शुकुरैर्द्वादशभिः पञ्च-  
त्तरैः पञ्चदशभिरिति दृष्टव्यम् ॥ १८ ॥

भाषा—शब्द तन्त्र-धी (सृष्ट्यु के कारण) आशीच गीव दिग या दन् दिग  
का होता है दो वर्ष से कम आयु के बालक का अशीच माता पिता को होता  
है और सूतक ( जन्म के समय का आशीच ) केवल माता को ही  
होता है ॥ १८ ॥

जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशीचमाह—

पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदस्मृदर्शनाद् ध्रुवम् ।  
तदहर्नं प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ १९ ॥

सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणाशौच पित्रोर्मातापित्रोरेव, न सर्वेषां सपिण्डानाम् । तच्चास्पृश्यत्वं मातृभुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुत ? तदस्यदर्शनात् तस्याः सचन्निभत्वेनासृजो दर्शनात् । अत एव षसिष्ठ (४।२३) — 'नाशौचं विद्यते पुंसः ससर्गं चेन्न गच्छति । इत्यतःप्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते ॥' इति । पितृस्तु ध्रुव न भवति स्नानमात्रेणास्पृश्यत्वं निवर्तते, यथाऽऽह सवर्तं — 'जाते पुत्रे पितुः स्नान सचैलं तु विधीयते । माता शुद्धवेद-शाहेन स्नानात् शुद्धवेदशाहेन' इत्येतच्च सम्भवहारयोग्यतामाश्रम् । अदृष्टार्थेषु पुनः कर्मसु पैठीनसिना विशेष उक्त — 'सूतिका पुत्रवर्तीं विशतिरात्रेण कर्माणि कारयेत् । मासेन स्त्रीजननीम्' इति । अङ्गिरसा च सपिण्डानामस्पृश्यत्वाभावः स्पष्टीकृतः— 'सूतके सूतिकावर्षं संस्पर्शो न निषिद्धयते । सस्पर्शो सूतिकायास्तु स्नानमेव विधीयते ॥' इति । यस्मिन् दिवसे कुमारजन्म तद्दहनं प्रदुष्येत । तन्निमित्तदानाद्यधिकारापहारकृम्य भवतीत्यर्थः । यस्मात्सस्मिन्दिने पूर्वेषां विप्रादीनां पुत्ररूपेण जन्म उत्पन्निरस्मान्मदहनं प्रदुष्येत । तथा च बृहदारण्यकस्येनोक्तम्— 'कुमारजन्मदिवसे विप्रैः कार्यं, प्रति-महः । हिरण्यभूगवाश्वाजवांस दास्यवासनादिषु ॥ तत्र सर्वं प्रतिप्राह्य कृत्वाग्निं तद्भक्षयेत् । भक्षयित्वा तु तन्मोहाद् द्विजस्याम्हायणं चरेत् ॥' इति ॥ व्यासेनाप्यत्र विशेष उक्त — 'सूतिकावासिन्धिया जन्मदा नाम देवताः । ताम्नां यागनिमित्तं तु शुचिर्जन्मनि कीर्तिता ॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा । त्रिध्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि ॥' मार्कण्डेयेनाप्युक्तम्— 'रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः । रात्री जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलि ॥ पुष्टयां द्वात्रिंशत्तन्म नृत्पणीतैश्च योषिणः । रात्री जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके ॥' इति ॥ १९ ॥

भाषा—जन्म का सूतक (अस्पृश्यत्व) मातापिता को ही होता है (सभी सपिण्डों को नहीं), बसमें भी माता का रुधिर दिलाई पड़ने से उसे निश्चित रूप से (दस दिन तक) सूतक होता है । जिस दिन बालक का जन्म होता है वह दिन दान आदि के लिए अच्छा नहीं होता, क्योंकि पूर्वपुरुष (पितर) ही पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं ॥ १९ ॥

नाशौचमध्ये पुनर्जनने मरणे वा जाते 'प्रतिनिमित्त नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेन पुनर्दर्शादायाशौचप्राप्तिं तदपवादमाह—

समंतरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुद्धयति ।

वर्णविशेषा वयोवस्थापेक्षया वा यस्य यावानाशौचकालस्तदन्तरा ताममरत्य ततो न्यूनस्य वाऽऽशौचस्य निमित्तमृते जनने मरणे वा जाते पूर्वाशौचा वशिष्टैरेवाहोभिर्विशुद्धयति । न पुनः पश्चादुत्पन्नजननादिनिमित्तं पृथ-

वपृथगाशीचं कार्यम् । यदा पुनरश्वप्राद्वर्तमानाशीचाहीर्घकालमाशीचमन्तरा  
 पतति तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः । यथाऽऽहोशनाः—‘श्वप्राशीचस्य मध्ये तु  
 दीर्घाशीचं भवेद्यदि । न पूर्वेण विशुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुद्धयति ॥’ इति ।  
 यमोऽप्याह—‘अर्घवृद्धिमदाशीचं पश्चिमेन समापयेत्’ इति । अत्र ‘चान्तरा  
 जन्ममरणे’ इति यद्यप्यविशेषेणाभिहितं, तथापि न सूतकान्तर्गतिनः शावस्य  
 पूर्वाशीचशेषेण शुद्धिः । यथाहाह्निराः—‘सूतके सूतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूत-  
 कम् । तत्राधिकृत्य सूतकं शीघ्रं कुर्यात् सूतकम् ॥’ इति । तथा पट्टिजन्मते-  
 ऽपि—‘शावाशीचे समुत्पक्षे सूतकं तु यदा भवेत् । शावेन शुद्धयते सृतिर्न सृतिः  
 शावदोषिणी ॥’ इति । तस्मान्न सूतकान्तःपातिनाः शावाशीचस्य पूर्वशेषेण  
 शुद्धिः, किंतु शावान्तःपातिना एव सूतकस्य । तथा सजातीयान्तःपातिष्वेऽपि  
 शावस्य कश्चिदूर्ध्वशेषेण शुद्धेरपवादः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—‘मातर्यमे प्रमीलाया-  
 मशुद्धी क्षिपते पिता । पितुः क्षेपेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पश्चिमीम् ॥’  
 इति । अयमर्थः—मातरि पूर्व मृतायां तस्मिन्निजाशीचमध्ये यदि पितुरुपरमः  
 स्यात्तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु पितुः प्रायणनिमित्ताशीचकालेनैव शुद्धिः कार्या ।  
 तथा पितुः प्रायणनिमित्ताशीचमध्ये मातरि स्वर्गसायामपि न पूर्वशेषमाश्राव्युद्धिः  
 किंतु पूर्वाशीचं समाप्योपरि पश्चिमीं क्षिपेत् इति ॥ यथाऽऽशीचसन्निपातकाल-  
 विशेषकृतोऽप्यपवादो गौतमेनोक्तः ( १३।०,८ )—‘रात्रिकेये सति द्वाभ्यां प्रभाते  
 तिसृभिः’ इति । अयमर्थः—रात्रिमाश्रावसिष्टे पूर्वाशीचे यथाशीचान्तरं सञ्चि-  
 पतेत्तर्हि पूर्वाशीचं समाप्यान्तरं द्वाभ्यां रात्रिभ्यां शुद्धिः । प्रभाते पुनस्तस्या  
 रात्रेः पश्चिमे यामे जगनाशाशीचान्तरसन्निपाते सति तिसृमी रात्रिभिः शुद्धिः,  
 न पुनस्तच्छेषमात्रेण । शातातपेनाप्युक्तम्—‘रात्रिशेषे द्वयद्व्युद्धिर्वामशेषे  
 शुचिर्यद्यदात्’ इति । प्रेतक्षिपा पुनः—‘सूतकसन्निपातेऽपि न निवर्तत’ इति तेनैवो-  
 क्तम्—‘अश्वदंवादे जगनापश्चात्स्यात्प्रमरणं यदि । प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यं विष्टदानं  
 श्वधशुभिः ॥ प्रारभ्ये प्रेतविष्टे ॥ मध्ये येज्जननं भवेत् । तथैवाशीचविष्टांस्तु  
 शेषाद्दद्याद्यथाविधि ॥’ इति । तथा शावाशीचयोः सन्निपातेऽपि प्रेतश्राव्यं  
 कार्यम्; तुल्यव्याख्यायात् । तथा जातकर्मादिकमपि पुत्रजन्मनिमित्तकमाशीचान्त-  
 रसन्निपातेऽपि कार्यमेव । यथाह प्रजापतिः—‘आशीचे तु समुत्पक्षे पुत्रजन्म यदा  
 भवेत् । कर्तुस्तारकालिकी शुद्धिः पूर्वाशीचेन शुद्धयति ॥’ इति ॥

पूर्णप्रसवकालजननाशीचमभिधायापुना अप्राप्तकालगर्भानःसरणोर्धोमित्तमा-  
 शीचमाह—

गर्भस्त्रावे मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ॥ २० ॥

ज्ञावतिर्यद्यपि लोके द्रवद्रव्यकर्तृके परिस्थान्दे प्रयुज्यते तथाऽप्यत्र द्रवाद्वद्रवद्रव्यसाधारणरूपेऽथ पतने वर्तते । कुत ? द्रवत्वस्य प्रथममास एव सम्भवात्तत्र च 'मास इत्या निशा' इति बहुवचनानुपपत्ते । गर्भंज्ञावे यावन्तो गर्भप्रहणमासार्त-सप्तमसप्तका निशा शुद्धे कारणम् । एतच्च स्त्रिया एव, 'गर्भंज्ञावे मासतुल्या रात्रय स्त्रीणां, स्नानमात्रमेव पुरुषस्य' इति बृहवसिष्ठस्मरणात् । यत्पुनर्गौतमेन 'ऽयहं च' (१४।१८) इति त्रिरात्रमुक्तं,—सन्मासत्रयादर्वाग्वेदितव्यम्, 'गर्भंस्तु वा यथामासमन्दिरे सूक्ष्मे त्रय । राजन्वे ॥ ८ नृरात्र वैरवे पञ्चाहमेव तु ॥ अष्टाहेन ॥ शुद्धस्य शुद्धिरेवा प्रकाशिता ॥' इति मरीचिस्मरणात् । अन्दिरे मासत्रयादर्वाक् गर्भंज्ञावे उत्तमे ग्राहणजातौ त्रिरात्रमित्यर्थः । एतच्च पणमासंपर्यन्ते द्रष्टव्यम् । सप्तमादिषु पुन परिपूर्णमेव प्रसवाशौच कार्यम्, तत्र परिपूर्णाङ्गगर्भस्य जीवता निर्गमदर्शनात् । तत्र च लोके 'प्रसव'शब्दप्रयोगात्, 'पणमासाभ्यन्तरे पावद्गर्भंज्ञावो भवेद्यदा । तदा माससप्तमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं स्वप्नाद्युक्त तासामाशौचमिष्यते । सद्य शौच सविण्डाना गर्भस्य पतने सति ॥' इति स्मरणात् ॥ एतच्च सविण्डाना सद्य शौचविधानं द्रवभूतगर्भपतने वेदितव्यम् । यत्पुनर्बसिष्ठवचनम् ( ४।३५ )—'ऊनद्विवापिकं प्रेते गर्भस्य पतने च सविण्डानां त्रिरात्रम्' इति,—तत्पञ्चमपष्ठयो कठिनगर्भपतनविषयम्, 'भाचतुर्थाङ्गवैज्ञाव पात पञ्चमपष्ठयो । अत ऊर्ध्वं प्रसूति रथाद्शाह सूतक भवेत् ॥ ज्ञावे मातुश्चिरात्र रथासविण्डानाशौचवर्जनम् । पाते मातुर्ध-थामास विप्रादीनां दिनत्रयम् ॥' इति मरीचिस्मरणात् ॥ सप्तममासप्रभृति मृतजनने जातमृते वा सविण्डानां जनननिमित्त परिपूर्णमाशौचम्, 'जातमृते मृतजाते वा सविण्डानां दशाहम्' इति हारीतस्मरणात्, 'अत सूतके वेदो-थानाद्वाशौच सूतकवत्' इति पारस्करवचनाच्च । भा उथानादासूतिकाया उथानाद्वाहमिति यावत् । सूतकवदिनि शिशुपरमनिमित्तोदकदानरहितमित्यर्थः । बृहस्पतिरपि—'दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रसीते तस्य वा भवे । ज्ञावाशौच न कर्तव्य सूत्याशौच विधीयते ॥' इति । तथा च स्मृत्यन्तरोऽपि—'अभ्यर्द्धशाहोपरतस्य सूतिकाहोमिरेवाशौचम्' इति । एवमादिवचननिषेधपर्यालोचनया सविण्डानां जनननिमित्ताशौचसक्तोचो नारतीति गम्यते । यत्पुनर्बृहद्विष्णुवचनम्—'जाते मृते मृतजाते वा कुलस्य सद्य शौचम्' इति,—तच्छिशुपरमनिमित्तस्याशौचस्य स्नानाच्छुद्धिप्रतिपादनपर न प्रसवनिमित्तस्य । तथा च पारस्करः—'गर्भं यदि विपत्ति रथाद्शाह सूतक भवेत् । सविण्डानां प्रसवनिमित्तस्य विद्यमानत्वात् ।—'जीवजातो यदि प्रेयासद्य एव विशुद्धयति' इति प्रेताशौचाभिप्रायम् । तथा च

इदं चाशीचमाहिताग्नेरुपरमे संस्कारदिवसप्रभृति कर्तव्यम् । अनाहि-  
तान्नेस्तु मरणदिवसप्रभृति संचयनं तृणयोरिति संस्कारदिवसप्रभृतीति विवेच-  
नीयम् । यथाहाङ्गिराः—'अनग्निमत उक्त्वाग्नेः साग्नेः संस्कारकर्मणः । शुद्धिः  
संचयनं द्वाहाभ्युनाहस्तु यथाविधि ॥' इति । 'साग्नेः संस्कारकर्मणः' इति  
अवणादाहिताग्नी पितरि देवान्तरभृते तत्पुत्रादीनामासंस्कारारसंध्यादिकर्मलोपो  
नारतीत्यनुसंधेयम् । तथा च पैटीनसिः—'अनग्निमत उक्त्वाग्नेराशीचं हि  
द्विजानिषु । द्वाहादग्निमतो विद्याद्विदेशश्चे मृते सति ॥' इति ॥ २० ॥

भाषा—एक आशीच के भीतर ही जन्म या मरण आ जावे तो उसके  
बाद प्रथम आशीच के जितने दिन लेष हों उतने ही दिनों में शुद्धि होती है ।  
गर्भलाव होने पर जितने मास का गर्भ रहा हो उतने ही दिन में शुद्धि  
होती है ॥ २० ॥

सपिण्डरवादिना दशाहादिमासौ ऋषिभ्यस्त्युविशेषेण। एवादमाह—

'हतानां नृपगोषिषैरन्वक्षं चारमघातिनाम् ।

नृपोऽभिषिक्तः चन्निषादिः 'गो'ग्रहणं ऋद्धिर्वंद्रवादितिरश्वासुपलक्षगार्धम्,  
'विप्र'ग्रहणमन्वजोपलक्षणम् ; एतैर्हतानां संबन्धिनो ये सपिण्डरतेषाम्,  
विपोद्ग्रन्थादिभिः बुद्धिपूर्वमात्मानं ये व्यापादयन्ति ते आरमघातिनाः; 'आरम-  
घाति'ग्रहणं 'यास्यण्ड्यनाश्रिता' ( प्रा० १-११ ) इत्येकयोगोपात्तपतितपा-  
श्रोपलक्षगार्धम् । तासंबन्धिनो चान्वजमनुगतमघमन्वक्षं सद्यः क्षीचमिष्यर्थः ।  
तासंबन्धिनो च साम्वक्ष यावद्दर्शनमाशीचं न पुनर्दशाहादिकम् । तथा च  
गीतमः ( ११।९—१२ )—'गोमाहणहतानामन्वक्षं राजक्रीषाद्यायुजे प्रायोऽ-  
नाशकवाग्निविपोदकोद्ग्रन्थनप्रपतनैस्त्वेषताम्' इति । 'क्रीष'ग्रहणं प्रमादस्या-  
वाहितनिरामार्धम् । 'अयुद्ध'ग्रहणं युद्धहतस्यैकाहमाशीचमस्तीति ज्ञापनार्धम् ;  
'प्राज्ञगार्धं विपक्षानां गोपितं गोप्रहेऽपि च । आह्वेऽपि हतानो च एकराम-  
शीचकम् ॥' इति स्मरणात् । एतच्च युद्धकालक्षतेनैव कालान्तरविपणरत् ।  
समरमूर्धनि हतरस्य पुनः सद्यः क्षीचम् । यथाह मनु ( ५।१८ )—  
'उद्यतैराह्वे शस्यैः सप्रथमंहतरस्य च । सद्यः संतिष्ठते मङ्गस्तथाऽऽशीचमिति  
रिपयिः ॥' इति ॥—

ज्ञातस्यैव जननादेशशीचनिमित्तरवाज्जन्मदिनादुत्तरकालेऽपि ज्ञाते दशाहा-  
दिप्राप्तावपवादमाह—

प्रोपिते कालज्ञेयः स्यात्पूर्णे दत्तोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

१. घयानिधीनि । २ विप्रगोनृपहतानामन्वक्षं । ३. क्षीचमिष्यर्थः  
न पुनः । ४. स्यादज्ञेये षडहमेव च ।

मोचिते देसाभ्यन्तरेण यत्रस्थेन प्रथमदिवस एव सविण्डजननादिक न ज्ञापते  
 तस्मिन्सविण्डे कालस्य दशाहाद्यवच्छिन्नस्य च दोषोऽवशिष्टकाल स एव शुद्धि  
 हेतुर्भवति । पूर्णे पुनराशीचकाले दशाहादिके स्नातोदक दद्यात् शुद्धिर्भवति ।  
 उदकदानस्य ध्यानपूर्वकरवास्त्राशोदक दद्यात् शुद्धिर्भवति । तदुक्तं शुद्धिर्भवति ।  
 तदुक्तं मनुना ( ५।७७ )—‘निर्दशं ज्ञातिमरणं ध्रुवा पुत्रस्य जन्म च ।  
 सयामा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥’ इति । ‘पूर्णे दशोदकं शुद्धि’  
 इति प्रेतोदकदानसहचरितस्याशीचकालस्य शुद्धिहेतुत्वविधानात् । जन्म-पति  
 ज्ञा-ताशीच सविण्डानां नास्तीति गम्यते । पितृस्तु निर्दशोऽपि जन्मे स्नान-  
 मस्येव, ‘ध्रुवा पुत्रस्य जन्म च’ इति वचनात् । एतच्च ‘पुत्र’ग्रहणं जन्मनि  
 सविण्डानामतिशङ्कान्ताशीच नास्तीति ज्ञापकम् । अस्यथा ‘निर्दशं ज्ञातिमरणं  
 ध्रुवा जन्म च निर्दशम्’ इत्येवावयवत् । न चाक्तम् । तथा च देवळ —‘नाशुद्धि  
 प्रसवाशीचे स्थीतेषु दिनेष्वपि’ इति । तस्माद्द्विपक्षावेवातिशङ्कान्ताशीचमिति  
 सिद्धं नम् ॥ केचिद्-वधेम श्लोकं पठन्ति—‘मोचिते कालशेषे दशाहादे स्नानमथ  
 तु । सर्वेषां वासरे पूर्णे प्रेते दशोदकं शुद्धि ॥’ इति । ‘मोचिते प्रेते सर्वेषां  
 प्राङ्गणत्रियाहीनामविशेषेण कालशेषे शुद्धिरित्युक्तं । अत्रापि पुनरातिशङ्कते  
 दशाहादौ सर्वेषां स्नानमेवाशीचम् । सवासरे पूर्णे यत्र मोचितप्रायणमपगत  
 दशाहादौ सर्वो प्राङ्गणादि स्नातोदकं दद्यात् शुद्धि रथात् । तथा च मनु  
 ( ५।७६ )—‘सवासरे स्थीते तु रघुष्टुवैवापो विद्मद्वयति’ इति । अथ च ब्रह्म  
 दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादूर्ध्वं द्रष्टव्यं । पूर्वोक्तं तु सद्यशीचं तत्रममासादूर्ध्वंमर्षा  
 वसवासराद् द्रष्टव्यम् । यानुवर्तिष्ठ वचनम्—‘ऊर्ध्वं दशाहादूर्ध्वंकराश्रम’  
 इति,—तदूर्ध्वं पञ्चासेधो वाक्स्नानवमम् । यद्यपि गौतमवचनम् ( १४।१९ )—  
 ‘ध्रुवा चोर्ध्वं दशम्या पश्चिमी’ इति, तस्मात्प्रयादूर्ध्वंमर्षाद्रूपम् । तथा च  
 पृथग्विष्ट—‘मासत्रये त्रिरात्र स्नात्पञ्चासे पश्चिमी तथा । अहस्तु नवमाद्  
 वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्धयति ॥’ इति । एतच्च मातापितृव्यनिरिक्तवियवम् ।  
 ‘पितरी च-मृतौ स्नाता दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । ध्रुवा सहिनमारभ्य दशाह  
 रूतकी भवेत् ॥’ इति पैटोनसिस्मरणात् । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि—‘महागुरु  
 निपाते तु भार्गवयोपशसिता । अतीतऽन्तरेऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि ॥’  
 इति । रावत्सारादूर्ध्वमपि प्रेतकार्यंमाशीचोदकदानादियं कार्यं, न पुन स्नानमा  
 प्राण्डुद्विरित्यर्थः । पितृवत्त्वामपि मातृव्यनिरिक्त्यां स्मृत्यन्तरे विनापो  
 ददितम् — पितृवत्त्वामपि मातृव्यं द्विप्रोच्यते । सवासरे स्नानेऽपि त्रिरात्र  
 मनुभिर्भवेत् ॥’ इति । यस्तु नद्यादिव्यवहिते देसान्तरे गृहस्तम्भविण्डानां



चाशीचकल्पा दर्शिता तेषां लोके समाचाराभावाज्जातीय व्यवस्थाप्रदर्शनमुपयो-  
गीति नात्र व्यवस्था प्रदर्शयते । यदा पुनर्ग्राहणादीनां चतुर्विंशत्येव सपिण्डा भव-  
न्ति तदा द्वारिताद्युक्ताशीचकल्पोऽनुसरणीय ।—‘दशाहाच्युद्धवते विप्रो जन्म-  
हानौ स्वयोनियु । पद्भिर्भित्तिभिरथैकेन चतुर्विंशत्युद्धयोनियु ॥’ इति । विष्णुरप्याह  
( २२।२३, २४ )—‘चतुर्विंशत्येव सपिण्डेषु पद्भिरत्रिरात्राभ्यां वैश्वस्य  
शुद्धे सपिण्डे पद्भ्यां शुद्धिर्हीनवर्णानां तूत्कृष्टेषु सपिण्डेषु जातेषु मृतेषु वा तदाऽऽ-  
शीचवपगमे शुद्धिः’ ( २२।२३ ) इति शौचायनेन त्वविशेषेण दशाह इत्युक्तम्—  
‘चतुर्विंशत्जातीया ये स्युर्विप्रस्य चान्धवा । तेषामाशीचे विप्रस्य दशाहाच्यु-  
द्धिरप्यते ॥’ इति । अनयोश्च पञ्चयोरापवनापह्नयवातेन व्यवस्था । वास्यादीनां  
॥ स्वामिशीचेन इत्यथ, कर्मानधिकारस्य तु मासावधिरेव । तदाहात्रिरा—  
‘दासी दासश्च सर्वो वै यद्य वणस्य चो भवेत् । तद्वर्णस्य भवेत्क्षौचदास्या मास-  
स्तु सूतकम् ॥’ इति प्रतिलोभानां त्वाशीचभाव एव, ‘प्रतिलोभा धर्महीना’  
इति मनुस्मरणात् । केवलं मृती प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत्  
शौच भवत्येव ॥ २२ ॥

भाषा—( सपिण्ड व्यक्ति के जन्म पव स्यु पर ) चतुर्विंश को बारह दिन  
का, वैश्व को पन्द्रह दिन का और शुद्ध को तीस दिन का आशीच होता है,  
किन्तु न्यायवर्ती ( द्विज की सेवा में रहने वाले ) शुद्ध को पन्द्रह दिन का ही  
आशीच होता है ॥ २२ ॥

व्यवस्थाविशेषादपि दशाहाचाशीचस्यापवादमाह—

आ दन्तजन्मन सद्य आ चूडाभैशिकी स्मृता ।  
त्रिरात्रमा प्रतादेशादशरात्रमत परम् ॥ २३ ॥

यावता कालेन दन्तानामुत्पत्तिरस्मिन्काले अतीतस्य बालस्य तस्यच  
न्धिना सद्य शौच चूडाकरणादर्वाहसूतस्य सबन्धिना भैशिकी निशाया भवा  
अहोरात्रम्यादि-मशुद्धिः । प्रतादेश उपनयन ततोऽर्वाक् चूडापाद्योर्ध्वमती-  
तस्य भ्यहमशुद्धिः । अत्र च ‘आ दन्तजन्मन सद्य’ इति यद्यप्यविशेषेण  
भिधान तथाप्यग्निसरकाराभावे द्रष्टव्यम्, ‘अदन्तजाते काले प्रेते सद्य एव  
शुद्धिर्नास्याग्निसरकारो नोदनक्रिया’ इति वैष्णवे अग्निसरकाररहितस्य सद्य  
शौचविधानात् । सति त्वग्निसरकारे ‘अदन्तजाते काले चाले च’ ( प्रा० २४ )  
इति वक्ष्यमाण एकाह । तथा च यम—‘अदन्तजाते तनये शिशौ गर्भच्युते  
तथा । सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रमशौचकम् ॥’ इति । नामकरणात्प्राक्सद्य  
शौचमेव नियतम् । ‘प्राह्नामकरणात्सद्य-शुद्धिः’ इति शतुस्मरणात् । चूडाकर्म



च प्रथमे तृतीये वा चर्षे रमर्षते—'पूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽप्ये तृतीये वा कर्त्तव्यं धृतिचोदनात् ॥' इति स्मरणात् । ततश्च दन्तजननादूर्ध्वं प्रथमवार्षिकचूडाकर्मपर्यन्तमेकाहः । तत्र स्वहृतचूडस्य दन्तजनने सप्तपि त्रिपर्यं पापदेकाह एव । तथा च विष्णुः ( २२।२९ )—'दन्तजातेऽप्यहृतचूडे-उद्देशात्तत्रेण शुद्धिः' इति । तत ऊर्ध्वं प्रागुपनायात् इवहः । यत्तु मनुवचनम् ( ५।१७ )—'मृगामहृतचूडानामशुद्धिर्नैशिकी रमृता । निर्घृतचूडकानां तु शिरा-श्राणुदिरिष्यते ॥' इति । तस्याप्यवयवेव विषयः । यत्तु शिष्यमधिहाय तेनै-षोचम् ( ५।१९ )—'अरण्ये काष्ठवपरायाः 'चिपेवुस्वहमेव तु' इति । यच्च यसिष्ठवचनम् ( ४।७५ )—'ऊनद्विचर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां शिराप्रम्' इति,—तत्संवासरचूडाभिमायेण । यत्तु अश्लिषोपचनम्—'यद्यप्यहृतचूडो वै जातदन्तश्च संस्थितः । तथापि दाहविरचैवमासीचं इवहमाचरेत् ॥' इति,—तद्-र्षप्रदानूर्ध्वं कुलधर्मविषया चूडोक्त्यै वेदितव्यम् ; 'विमे म्यूनत्रिचर्षे तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकी' इति तेनैवाभिहितत्वात् । नचापमेकाहो दन्तजननाभाय इति वाङ्मयीयम् । नहि म्यूनत्रिचर्षस्य दन्तानुपपत्तिः संभवति । तथा सप्तपि दन्तजनने अहृतचूडस्यैकाहं यद्वा विष्णुवचनेन विरोधश्च दुष्परिहाः स्यात् । तस्मात्प्राचीनैव व्याख्या उवाचसी । यत्तु कश्यपवचनम्—'बालानामदन्तजा-सानां शिरात्तत्रेण शुद्धिः' इति,—तस्मात्तापि नृविषयम् ; 'निरस्य तु पुमाश्शुक्मु-र्षेवशांश्चिदुद्यति । वैजिकादभिसंवन्धादनुकन्यादाद्यं इवहम् ॥' इति अथ्यज-नकसंवन्धोदाधिकतया शिराश्रमरणात् । ततश्चायमर्थः—'प्राङ्नामकरणासद्यः शीचं तदूर्ध्वं दन्तजननाद्वांगनिर्गसंस्कारक्रियायां एकाहः । इतरथा सद्यः शीचम् । जातदन्तस्य च प्रथमवार्षिकाश्रीकाद्वांगेकाहः । प्रथमवर्षादूर्ध्वं त्रिपर्य-पर्यन्तं हृतचूडस्य इवहम् । इतरस्य त्र्येकाहः । चर्षमयादूर्ध्वंगहृतचूडस्यापि इवहम् । उपनयनादूर्ध्वं सर्वेषां प्राङ्गणादीनां द्वावरायादिकमिति ॥ २१ ॥

भाषा—दाँत निकलने से पहले ही ( बालक की ) मृत्यु होने पर साकाल शुद्धि होती है; चूडाकरणसंस्कार होने से पहले मृत्यु होने पर एक दिनरात आशीच रहता है; उसके उपरान्त मृतवन्ध होने के पहले ( मृत्यु होने पर ) तीन दिन रात और उसके बाद ( मृतवन्ध हो चुकने के बाद ) मृत्यु हो तो दस दिन आशीच रहता है ॥ २३ ॥

इदानीं स्त्रियो च यथोवस्थाविशेषेणापवादमाह—

अहस्त्यवत्सकन्यासु चालेषु च विशोधनम् ।

१. चिपेव तत् इवहमेव । २. कुलवर्णधर्माविषया । ३. सुपस्तरय इति ।

अदत्ता अपरिणीता या कन्यास्तासु कृतचूडासु वाग्दानाः प्राग्दोरात् विशेषेण शुद्धिकारण सपिण्डानाम्, सापिण्डव च कन्यानां त्रिपुरहरपर्यन्तमेव । 'अप्रक्षानां तु स्त्रीणां त्रिपुरुपी विश्रायते' ( ४१८ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । चालेषु चानुषण्णदन्तेषु अभिनयस्कारे सत्येदाहो विशेषणम् । अकृतचूडायाम् कन्याया मय शौचम् । 'अचूडाया तु कन्यार्या सत्य शौच विधीयते' इत्या पश्तरवस्मरणात् । वाग्दानादूर्ध्वं तु सस्कारा प्राक्पतिपक्षे पितृपक्षे च त्रिराश्रमेव । यथाऽऽह मनु ( ५।७२ ) 'स्त्रीणामसस्क्रुतानां तुऽप्यहाच्युद्धयन्ति वान्धवा । यथोक्तेनैव कक्षेन शुद्धयन्ति तु सनामव ॥' इति । वा-धवा पतिपक्षयास्त्रिराश्रमेण शुद्धयन्ति । सनामवस्तु पितृपक्षया सपिण्डा यथोक्तेनैव कक्षेन 'निर्घृत्तचूडकानाम्' इत्यादिभोक्तेन त्रिराश्ररूपेण, न पुनर्दशराश्ररूपेण, विवाहात्प्राक् तस्यां पुत्रवत् । अत एव मरीचि — 'वारिपूर्वं अदत्ता तु वा नैव प्रतिपादिता । असस्क्रुतास्तु सा श्रेया त्रिराश्रमुभयो स्मृतम् ॥' इति । उभयो पतिपितृपक्षयो । विवाहादूर्ध्वं तु विष्णुना विशेषो दर्शित ( २१।३३, ३४ ) — 'सस्क्रुतासु स्त्रीषु नाशौच पितृपक्षे, सप्रसवमरणे चेत्यित्युद्धे स्यातां तथैकदात्र त्रिराश्र च' इति । तत्र प्रसवे एकाहः प्राथमे त्रिराश्रमिति व्यवस्था । इदं च यथोवस्थाशौच सर्ववर्णसाधारणम् । 'अश्रय द्वादशाहानि' ( प्रा० २२ ) इति तदूर्णविशेषोपादानेनाभिधानात् । अत एव मनुना अनुवाचत्ववर्णविशेषाशौचविधे साधारण्यप्रतिपादनार्थं चानुवर्णार्थधिकारे सत्यपि पुन 'अनुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वश' इत्युक्तम् । तथाऽत्रिसाप्युक्तम् — 'अविशेषेण वर्णानामर्वास्स्कारकर्मण । त्रिराश्रानु भवेत्पुद्धि क-वास्वहा विधीयते ॥' इति स्याश्रवदवचनं च 'तुष्य वयमि सर्वेषाम्' इति प्राक् प्रदर्शितम् । अतो यथा 'विण्डयशावृता देवम्' ( प्रा० १६ ) इत्यादिः पिण्डोदकदानविधि सर्ववर्णसाधारणः । यथा वा समानोदकाशौचविधि 'अग्नरा जन्ममरणे' ( प्रा० २० ) इति सनिपाताशौचविधिश्च यद्देव 'दर्भेऽवावे मासतुष्या निशा' ( प्रा० २० ) इति छावाशौचविधि, 'प्रोपिते कालतेप स्यादशेषे ऽयहमेव ॥' ( प्रा० २१ ) इति विदेशस्याशौचविधिश्च, यथा वा तुष्यां वा शौचविधि सर्ववर्णसाधारण तथा यथोवस्थानिमित्तमप्याशौच सर्ववर्णसाधारणमेव अविशुमर्हन्ति । अत एव 'यत्रे पट्मि कृते शौके क्षेपे नवमिठरपते । ऊर्ध्वं त्रिषर्षारुद्धे तु द्वादशाहो विधीयते ॥' तथा 'यत्र त्रिराश्र विमानामाशौच सप्रदरयते । तत्र शुद्धे द्वादशाह यन्नव यत्रवैरययो ॥' इत्यादीनि ऋष्यश्रहादिवचनानि विगीतत्वं बुद्ध्याऽनाद्रियमाणैर्धारेभारविश्वरूपमेघातिथिमृतिमिराचार्यैरयमेव साधारण. पक्षोऽङ्गीकृत । अविगीतानि चार्तानार्तपत्रियादिविषयतया व्याख्येयानि ॥

गुर्वादित्वतिदेशमाह—

गुर्घन्तेषास्यनूधानमातुल्लधोत्रियेषु च ॥ २४ ॥

गुरुरपाण्याय, भन्तेवासी क्षिप्य, अनूधानोऽङ्गानां प्रवक्ता, मातुल्लप्रहणे  
नात्मबन्धवो मातृबन्धव विदुबन्धवश्च योनिसर्गदा उपलक्ष्यन्ते । ते च 'पानी-  
दुहितर' ( ४५० १३५ ) इत्यत्र वृक्षिता । धोत्रिय एवशाखापायी, 'एहां  
शाखामधीः च धोत्रिय' इति षीषायनरभरणात् । पशुपरतेष्वहोरात्रमाज्ञीषम् ।  
पस्तु सुलभो गुरुः पिता सपुत्रमे सपिण्डावाद्दाहमेव । पस्तु पिता  
पुत्रानुत्पाद्य सस्कृत्य वेदानस्याप्य वेदार्थं प्राहवित्वा वृक्षि च विदधाति, तस्य  
महागुरुत्वात्तदुपरमे द्वादशरात्र वा । 'महागुरुषु दानाप्यपने वर्जयेरन्' इति  
आश्रयायनेनोक्त द्रष्टव्यम् । आचार्योपरमे तु त्रिरात्रमेव । यथाह मनु  
( ५।८० )— त्रिरात्रमाहुराज्ञौचमाचार्ये सस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पान्यां  
च दिवारात्रमिति स्थिति ॥' इति । यदा त्वाचार्यादिर स्वर्णि करोति सदा  
दशारात्रमाज्ञीषम् ( ५।६५ )— गुरोः प्रेतस्य शिष्यरद्वि विदुमेध संमाचरेत् ।  
प्रेताहारै सम तत्र दशाहेन विदुदधति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । धोत्रि-  
यस्य तु समानप्राप्तीणस्यैतदाज्ञीषम्, 'एकाह समस्यचारिणि समानप्राप्तीणे  
च धोत्रिये' ( ४।२६, २७ ) इत्याश्रयायनरभरणात् । एकाचार्योपनीत समस्य-  
चारी । एतत्त्वानुसन्धाने द्रष्टव्यम् । सनिहिते तु शिष्यादी त्रिरात्रादि ।  
यथाह मनु ( ५।८१ )— 'धोत्रिये तुपसपने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।  
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यविवादान्धवेदु च ॥' इति । उपसपने मैत्री  
प्रातिवेशरवादिनां सवद्धे शील्युक्ते वा । 'मातुल्लप्रहण मातृबन्धादेरुपल-  
क्षणार्थम् । बान्धवा इत्यात्मबन्धवो मातृबन्धव विदुबन्धवश्चोच्यन्ते । तथा च  
शुद्धसति — 'यह मातामहाचार्यधोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्' इति । तथा प्रचेता —  
'मृते चरिञ्जि वाग्ने च त्रिरात्रेण विदुदधति' इति । तथा च घृद्धसिष्ट —  
'सस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । सस्कृते तु त्रिरात्र स्यादिति चर्मो  
ऽथवरिधत ॥ पित्रीरुपरमे स्त्रीणामूहानां तु कथ भवेत् । त्रिरात्रेणैव शुद्धि-  
स्यादित्याह भगवान्-यम ॥ अशुरयोर्मणि-या च मातुल्ला-या च मातुले । पित्रो  
स्वसरि तद्वच पक्षिणीं उपयेच्छिजाम् ॥' तथा— मातुले अशुरे मित्रे गुरी गुर्वह  
नासु च । सशौच पक्षिणीं रात्रिं मृता मानामही यदि ॥' तथा च शौल्लम्  
( १।४।२० )— 'पक्षिणीमसपिण्डे योनिसवद्धे सहाभ्यायिनि च इति । योनिसवद्धा  
मातुल्लमातृबन्धीमपितृबन्धीयादय । तथा जाशाल — दूकोदकानां तु स्यहो  
गोत्रजानामह स्मृतम् । मातृबन्धी गुरी मित्रे मण्डलाधिपनी तथा ॥' इति ।

१ सवन्धा उप । २ समारभेत् । ३ त्वादिसव धे ।

विष्णु (२२।४६)—‘असपिण्डे स्ववेश्मनि मृतं पृकरात्रम्’ इति, तथा वृद्धः—  
 ‘भगिन्यां सस्कृतायां ॥ भानर्यपि च सस्कृते । मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे  
 भगिनीसुते ॥ शालके तसुते चैव सद्यस्नानेन शुद्ध्यति । ग्रामेश्वरे कुलपती  
 श्रोत्रिये च तपस्विनि । शिष्ये पञ्चवमापन्ने शुचिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥ ग्राममध्यगतो  
 यावत्सुवसितृष्टि कस्यचित् । ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात् ॥’  
 इत्यादीन्वाशौचविशेषप्रतिपादकानि स्मृतिवचनान्वन्वेषणीयानि । प्रन्थगौरव-  
 भयाद्ग्रामे न लिख्यन्ते । पशु चैकविषयगुरुलभ्वाशौचप्रतिपादकस्य परस्परविह-  
 र्त्तौ सनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यतरथाऽनुसंधातव्या ॥ २४ ॥

भाषा—अपरिणीता कन्या के वाग्दान के पहले मरने पर एक दिन रात  
 में ही आशौच की शुद्धि होती है । इसी प्रकार गुरु, शिष्य, वेदाङ्ग के प्रवक्ता,  
 मामा और श्रोत्रिय के मरने पर भी एक दिन रात में शुद्धि होती है ॥ २४ ॥

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ।

निवासराजनि प्रेते सद्दृष्टुदिकारणम् ॥ २५ ॥

किंच । अहरित्यनुवर्तते । अनौरसा चैत्रप्रदक्षकाद्य, तेषु जातेषूपरतेषु  
 चाहोरात्रमाशौचम् । तथा स्वभार्यास्वन्यगतास्वभ्य प्रतिशोमप्रतिरिक्त आधि-  
 तासु भतीतरसु चाहोरात्रमेश न पुन सत्यपि सापिण्ड्ये दक्षरात्रम् । प्रतिशोमा  
 धितासु चाशौचाभाव एव, ‘पालण्ड्यनाश्रिता स्तेना’ (प्रा० १) इत्यनेन प्रतिपे-  
 धात् । एतच्च ‘भार्या पुत्रव्य’शब्दयोः सवन्विशब्दत्वात् वस्मात्तिसौगिक भार्यात्व  
 पुत्रत्व च तस्यैवेदमाशौचम् । सपिण्डानां स्वाशौचाभाव एव । अत एव प्रजा-  
 पति—‘अन्वाधितेषु दास्येषु परस्वनीसुतेषु च । श्रोत्रिय स्नातशुद्धा शुद्धिरात्रेणैव  
 श्रुतिपता ॥’ इति । स्वैरिण्याद्यास्तु यमाश्रितास्तस्य तु त्रिरात्रमेव । यथाह विष्णु-  
 (२२।४३)—‘अनौरसेषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च । परपूर्वासु भार्यासु प्रसूतासु  
 मृतासु च ॥’ इति त्रिरात्रमत्र प्रकृतम् । अनयोश्च त्रिरात्रैवरात्रयोः सनिधिविदे-  
 शस्थापेक्षया व्यतरथा । यदा तु पितृशिरात्र तदा सपिण्डानामेकरात्रम्, यथाह  
 मरीचि—‘सूतके मृतके तैश्च शिरात्र परपूर्वयो । पृकाहस्तु सपिण्डानां त्रिरात्र यत्र  
 वै पितृ ॥’ इति । किंच, निवसत्यस्मिन्निति निवास स्वदेश उच्यते, तस्य यो  
 राजा स्वामी विषयाधिपति स यस्मिन्नहनि भतीतस्तद्दहमात्र शुद्धिकारणम् ।  
 रात्रौ चेदतीतरतदा रात्रिमात्रम् । अत एव अनु ( ५।८२ )—‘प्रेते राजनि  
 सद्योतिर्यस्य स्वपद्विषये स्थित’ इति । उद्योतिषा सह वर्तते इति सद्योतिरा-  
 शौचम् । अद्भि चेषावस्सूर्यदर्शनं रात्रौ चेषावन्नक्षत्रदर्शनमित्यर्थं ॥ २५ ॥

भाषा—औरत के अतिरिक्त अन्य ( चेग्रज, दत्तक आदि ) पुत्रों के जन्म पक्ष मृत्यु पर, और दूसरे पुरुष पर आश्रित रहने वाली पत्नियों की तथा स्वदेव के राजा की मृत्यु पर एक दिन रात आशीर्च होता है ॥ २५ ॥

अनुगमनाशौचमाह—

प्राक्षणेनानुगन्तव्यो न शुद्धो न द्विज क्वचित् ।

अनुगम्याम्भसि स्नात्वा स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिः ॥ २६ ॥

प्राक्षणेन अक्षयिणेन द्विजो विप्रश्चि शुद्धो वा प्रेतो नानुगन्तव्य । यदि स्नेहादिनानुगच्छति तदाऽम्भसि तडागादिस्थे स्नात्वाग्निं स्पृष्ट्वा घृत प्रारय शुचिर्भवेत् । अस्य च घृतप्राशनस्य भोजनकार्यविधाने प्रमाणाभावात् भोजन-प्रतिषेध । इत्थं समाप्तोऽह्णजातिविषयम् । यथाह मनु ( ५।१०३ )—'अनु-गम्यैश्छया प्रेत ज्ञातिमज्ञातिमेव च । स्नात्वा सचैल स्पृष्ट्वाग्निं घृत प्रारय विशुद्धयति ॥' इति । ज्ञातयो मातृसपिण्डाः । इतरेषा तु विहितस्वान्न दोष । निष्कृष्टजात्यनुगमने तु स्मृत्यन्तरोक्त द्रष्टव्यम् । तत्र शूद्रानुगमने—'प्रेतोभूत तु य शूद्र प्राक्षणो ज्ञानदुर्बलः । अनुगच्छेन्नीयमानस त्रिरात्रेण शुद्धयति ॥ त्रिरात्रे तु तत्तत्तीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् । याजावामशत कृत्वा घृत प्रारय विशुद्ध-यति ॥' इति पराशरौक्तम् । अत्रियानुगमने स्वहोरात्रम्, 'मातृप्रास्थि स्निग्ध स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौच भरिण्ये स्वहोरात्र शवानुगमने चैकम्' इति वसिष्ठो-क्तम् । वैश्वानुगमने पुन पश्चिमी । तथा अत्रियस्थानम्बरवैश्वानुगमने भद्रो-रात्र एकान्तरशूद्रानुगमने पश्चिमी वैश्वस्य शूद्रानुगमने एकाह ह्यमूहनीयम् ॥ तथा रोक्ष्णेऽपि पाररकरेणोक्तम्—'मृतरय बान्धवै सार्धं कृत्वा तु परिदेवनम् । वर्जयेत्तद्द्वोरात्र दान आद्यादिकर्म च ॥' इति । तयालकरणमपि न कार्यम्, 'कृच्छ्रपात्रोसपिण्डस्य प्रेतात्करणे कृते । अज्ञानानुपवास रवाद्दशती स्नान-मिष्यते ॥' इति शङ्केन प्रायश्चित्तस्याम्नातत्वात् ॥ २६ ॥

भाषा—प्राक्षण को निम्नगोत्र के द्विज वा क्षत्र वर्ण के मृतक के साथ नहीं जाना चाहिए । यदि ( स्नेहवशा ) जावे तो जल में स्नान करके अग्नि का स्पर्श करके तथा घृत खाकर शुद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

सपिण्डाशौचे क्वचिदपवादमाह—

महीपतीनां नाशीर्चं हतानां विद्युता तथा ।

गोप्राह्वणार्थं संग्रामे यस्य चेच्छति भूमिप ॥ २७ ॥

यद्यपि 'मही'शब्देन कृत्स्न भूगोलकमभिधीयते तथाप्यत्र सकलाया जिते-रेकभर्तृत्वानुपपत्ते 'महीपतीनां' इति बहुवचनानुरोधान्च तदेकदेशभूतानि

मण्डलानि लक्ष्यन्ते । तस्यालनाभिकृतानां चतुर्विधादोनाभमिपित्तानां नाशौचम् । तैराशौचं न कार्यमित्यर्थः । तथा विद्युद्धतानां गोमहाहणरक्ष्यार्थं विपन्नानां च सवन्धिनो ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं न कार्यम् । यस्य च मन्त्रपुरोहितादे-  
भूमिपोऽनग्यसाध्यमन्त्रामिचारादिकर्ममिद्वधर्ममाशौचाभावमिच्छति तेनापि न कार्यम् । अत्र च महीपतीनां यदसाधारणत्वेन विहितं प्रजापरिरक्षणं तद्येन दानमानसरकारव्यवहारदर्शनादिना विना न सम्भवति तत्रैवाशौचाभावो न पुनः पञ्चमहायज्ञादिव्यभिः । तथा च मनु ( ५।१५ )—‘राज्ञो महारिमके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥’ इति ।  
शौतमेनाप्युक्तम् ( १४।४५ )—‘राज्ञां च कार्याविधातार्थम्’ इति राजशूरा-  
देरप्याशौचं न भवति । तथाह प्रचेता —‘कारवः क्षिप्रिनो वैद्यो दासीदासस्त-  
थैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचं प्रकीर्तितम् ॥’ इति । कारवः सूय-  
कारादयः । क्षिप्रिनश्चित्रकारचैरनिर्णयत्वात् । अथ चाशौचाभावे क्षिप्रिनः  
ह्यपवेद्यायां कर्मनिमित्तैः सद्यैरतत्तदाधारणस्य कर्मणो बुद्धिरप्यवाप्तत्रैव दृष्ट-  
व्यः । अत एव विष्णु ( २२।४८-५१ )—‘न राज्ञां राजकर्मणि न मतिनां मते न  
सन्निधां सत्रे न कारुण्यं कारकर्मणि इति मतिनिपतत्रिषधमेवाशौचाभावः दर्शयति ।  
शातातपीवेऽप्युक्तम्—‘मृत्युकर्मकरा शूद्रा दासीदासस्तथैव च । राने शरीर-  
सरकारे शुद्धकर्मण्यद्वयिता ॥’ इति । इयं च दासादिशुद्धिरपरिहरणीयतया मास-  
रपशविपयेऽनुसंधेयम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—‘सद्यःशूरयो गर्भदासो भक्त-  
दासाभ्यहाण्डुचिः ।’ तथा—‘चिकित्सको वरकुरुते तद्-येन न शक्यते ॥ तस्मा-  
च्चिकित्सकः सद्यःशूद्रो भवति निश्चयः ॥’ इति ॥ २७ ॥

भाषा—राजाओं का, बिजली गिरने से मरे हुए व्यक्तियों का, गौ और  
महाहम की रक्षा के लिए पुद्गल में मारे गये पुरखों का आशौच नहीं होता ।  
जिस व्यक्ति का आशौच राजा न होने देना चाहे उसका भी आशौच  
नहीं होता ॥ २७ ॥

अन्त्येर्जां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म पुर्वताम् ।  
सन्निधत्तिग्रहचारिदातृग्रहविदां तथा ॥ २८ ॥  
दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।  
आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥ २९ ॥

किंच, अन्त्येर्जां वरजममृता वैतानोपासनाकर्तृविशेषा । दीक्षया सरहता  
दीक्षितारतेषां यज्ञियं यज्ञे भव च कर्म पूर्वतां ‘सद्यः शौचं विधीयते’ इति

१. रक्षार्थं शासन । २. मृत्या वैद्या दासस्तथैव । ३. वरजकरण-  
संगता । वरजाभरणममृता ।

सर्वशत्रुपक्षः; दीक्षितस्य 'वैतानोपासनाः कार्या' ( प्रा. १० ) इत्यनेन सिद्धे-  
 ऽप्यधिकारे पुनर्यचनं यज्ञमाने स्वयंकर्तृत्वविधानार्थं सद्यःस्नानेन विशुद्धार्थं च;  
 'सग्नि' ग्रहणेन संततानुष्ठानतुल्यवतयाद्यग्रप्रवृत्ता लक्ष्यन्ते; मुषवानां तु सग्निर्गो  
 'दीक्षित'ग्रहणेनैव सिद्धेः । 'प्रति'शब्देन कृष्णचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः स्नानक-  
 म्रतप्रायश्चित्तप्रवृत्ताश्चोच्यन्ते; तथा 'मह्यचारि' ग्रहणेन मह्यचार्यादिप्रतयोगिनः  
 आद्यकर्तृभोक्तृश्च ग्रहणम् , तथा 'स्मृत्यन्तरम्—'निषमद्यप्रदस्यापि कृष्णचान्द्रा-  
 यणादिषु । निवृत्ते कृष्णहोमादीं प्राहणादिषु भोजने ॥ गृहीतनियमस्यापि न  
 स्यादभ्यस्य कश्चिद् । निमन्त्रितेषु विघ्नेषु प्रोक्तये आद्यकर्मणि ॥ निमन्त्रितस्य  
 विप्रस्य स्वाध्यायादिरतस्य च । देहे पितृषु तिष्ठसु माशौचं विद्यते क्वचित् ॥ प्राय-  
 श्चित्तप्रवृत्तानां शत्रुवहाविदां तथा ॥' इति । मयिर्णां ततिर्नां सद्ये मते च शुद्धिर्न  
 कर्ममात्रे संप्रपहारे वा । तथा च विष्णुः (२२।४९,५०)—'न प्रतिर्नां मते, न  
 सग्निर्नां सन्ने' इति ॥ मह्यचार्युपकुर्वाणको नैष्टिकश्च । यस्तु निषं दासैच, न  
 प्रतिग्रहीता स वैश्वानसो 'दासृ'शब्देनोच्यते । मह्यविद्यतिः । एतेषां च ज्ञाना-  
 नाश्रमिणां सर्वत्र शुद्धिः; विशेषे प्रमाणाभावात् । दाने च पूर्वसंकल्पितद्रव्यस्य  
 नाशौचम् ; 'पूर्वसंकल्पितं द्रव्यं दीयमानं ॥ दुष्पति' इति ऋगुस्मरणात् ।  
 स्मृत्यन्तरे चात्र विशेष उक्तः—'विवाहोत्सवयज्ञादिव्यतरा मृगसूतके । दोषमर्घं  
 परैर्देयं द्वातुंभोक्तृं च न स्पृशेत् ॥' इति । यज्ञे वृषोत्सर्गादीं विवाहे च पूर्व-  
 संभृतसंभारे । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'यज्ञे संभृतसंभारे विवाहे धाद्यकर्मणि'  
 इति । सद्यःशौचमत्र प्रकृतम् । 'विवाह'ग्रहणं पूर्वप्रवृत्तचौलोपनयनादित्संस्कार-  
 कर्मोपलक्षणम् । 'यज्ञ'ग्रहणं च पूर्वप्रवृत्तदेवप्रविष्टारामाद्युत्सवमात्रोपलक्षणम् ।—  
 'न देवप्रतिष्ठोत्सर्गविवाहेषु न देशविभ्रमे नापद्यपि च कष्टायामाशौचम्'  
 ( २२।५३-५५ ) इति विष्णुस्मरणात् संप्रामे युद्धे ।—'संप्रामे समुपोलहे  
 राजानं संनाहयेत्' ( गृ. सू. ३।१२।१ ) इत्याश्रुतापमापुक्तसंनहनविधौ  
 प्रारथानिकशान्तिहोमादीं च सद्यःशुद्धिः । देशस्य विस्फोटादिभिरुपसर्गैः, राज-  
 भयाद्वा विप्लवे तदुपशमनार्थं शान्तिकर्मणि सद्यःशौचम् । विप्लवाभावेऽपि  
 क्वचिद्देशविशेषेण पैठीनसिना शुद्धिरुक्ता—'विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि ।  
 न तत्र सूतकं तद्भ्रकर्म यज्ञादि कारयेत् ॥' इति । तथा कष्टायामप्यापदि श्वा-  
 प्याद्यभिभवेन मुमुर्षावस्थायां दुरितशमनार्थं दाने । तथा संकुचितमृतेष्व ज्वपरि-  
 श्रान्तमातापित्रादियहुकृष्टम्वस्य तद्भरणोपयोगिनि प्रतिग्रहे सद्यः शुद्धिः । इयं च  
 शुद्धिर्यस्य सद्यःशौचं विनाऽऽस्त्युपशमो न भवति अथस्तनिकस्य तद्विषया ।

१. याज्ञमानेषु । २. स्नानविषयं । स्नानविशुध्यर्थं । ३. तस्मादभ्यस्य ।

४. प्रवृत्ते । ५. उपलक्षणम् ।

कृतक्रियः ॥' इति । अयमर्थः—'कृतक्रियः' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । विप्रोऽनु-  
भूताशौचकालः कृतक्रियः कृतज्ञानो हस्तेनापः स्पृष्ट्वा शुद्धयति । स्पृष्ट्वेति  
स्पर्शनक्रियैवोच्यते, न स्नानमाचमनं वा; वाहनादिषु तस्यैवानुपह्नात् । अथवा  
कृतक्रियो यावदाशौचं कृतोदकादिक्रियः तदनन्तरं विप्रादिरुदकादि स्पृष्ट्वा  
शुद्धयेत् इत्याशौचकालानन्तरमाविस्नानप्रतिनिधित्वेनोच्यत इति । उप्रियादि-  
वाहनादिकं स्पृष्ट्वा शुद्धयेदिति ॥ २८-२९ ॥

भाषा—ऋषिज, दीक्षित ( जिसने यज्ञ में दीक्षा प्राप्त की हो ), यज्ञ  
का काम करने वाले, यज्ञ करने वाले, मती, ब्रह्मचारी तथा दाता की दान,  
विवाह, यज्ञ, युद्ध देश में व्याप्त उत्पात के उपशमन कर्म में और भाषति  
( रोग-व्याधि ) में ( अक्षय्याण नाश के लिये दान देने में ) तत्काल शुद्धि  
होती है ॥ २८-२९ ॥

कुलश्यापिनीं शुद्धिमभिधायेदानीं प्रसङ्गात्प्रतिपुरुषव्यापिनीं शुद्धिमाह—

उदक्यानुंघिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।

अभित्क्षानि अपेक्ष्यैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजसवला, अशुचयः साक्ष्यगृहालपतितसूतिकायाः शावाशौचिनम  
पत्तैः संस्पृष्टः स्नायात् । तैः पुनरुदक्याशुचिसंस्पृष्टादिभिः संस्पृष्ट उपस्पृशेत्  
आचामेत् । आचम्याद्विद्वानि 'आपोहिष्ठा' (ऋ० ७।६।५) इत्येवमाहीनि त्रीणि  
मन्त्रवाक्यानि जपेत् । त्रिभेव बहुवचनस्य चरितार्थत्वात् । तथा गायत्री च  
सकृन्मनसा जपेत् । मनु उदक्या संस्पृष्टः स्नायादित्येकवचननिर्दिश्य कथं  
तैरिति बहुवचनपरामर्शः । मरयमेवम्, किंवात्र उदक्यादिसंस्पृष्टमपतिरिक्तस्नाना-  
हमात्रस्पर्शोवाचमनविधानार्थं 'तैः' इति बहुवचननिर्देश इत्यविरोधः । ते च  
स्नानाह्वाः स्मृत्यन्तरेवमन्तभ्याः । यथाह पराशरः—'दुःस्वप्ने मैथुने घान्ते  
विरिक्ते कुरकर्मणि । वितियूर्परमशानादस्नां स्पर्शने स्नानमाचरेत्' इति । तथा  
च मनुः ( ५।१४४ )—'घान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतमाचानमाचरेत् । आचा-  
मेदेव भुज्जवाग्मं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥' इति । मैथुनिनः स्नानमृतुकाल-  
विषयम् ; 'अनृतौ तु यदा गच्छेत्प्लौच मूत्रपुरीषवत्' इति बृहस्पतिस्मरणात् ।  
अनृतावपि कालविशेषे स्मृत्यन्तरे स्नानमुक्तम्—'अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा  
पर्वणि मैथुनम् । कृत्वा सचैलं स्नात्वा च बाल्गीभिश्च माज्जयेत् ॥' इति ।  
तथा च यमः—'अजीर्णोऽभ्युदिते घान्ते तथाप्यस्तमिते रथी । दुःस्वप्ने दुर्जन-  
स्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥' इति । तथा च बृहस्पतिः—'मैथुने कटधूमे च

१. शुद्धयतीति । इत्या ।

२. उदक्याशौचिभिः ।

३. बहुवचनादरः ।

४. पूपरमशाना ।



सद्य स्नान विधीयते' इत्येतदसचैलस्पर्शविषयम् । सचैलेन तु चिदादिस्पर्शे सचैलमेव स्नानम् । यथाह ध्यवन — 'श्चान श्चपाक प्रेतधूम देवद्रव्योपजीवि नम् । ग्रामयाजिन सोमविक्रयिण यूँप चिति चितिकाष्ट च मद्य मद्यभाण्ड सस्नेह मानुषास्थि शैवस्पृष्ट रजस्वला महापातकिन शव स्पृष्टवा सचैलमभ्योऽ वगाहोत्तीर्षाग्निमुपस्पृश्य यौषध्यष्टभत जपेत् । घृत प्रारय पुन स्नात्वा त्रिरा- चामेत्' इति । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् । अन्यत्र स्नानमात्रम् । 'शैवस्पृष्ट दिवाकीर्तिं चितिं यूँप रजस्वलाम् । स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्र स्नान कृत्वा विशुद्भवति ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । एषमग्न्यत्रापि वक्ष्यमाणेषु विषय- समीकरणमूहनीयम् ॥ यथाह करयप — 'इद्यास्तमययो रकन्दपिशा भृषि स्पन्वने कर्णाक्रोशने चित्पारोहणे यूर्पसस्पर्शने च सचैल स्नात्वा पुनर्मांम इति जपेन्महाभ्याहृतिभि ससाज्याहुतीशुंङ्गुवात्' इति । तथा च स्मृत्पत्रे— 'स्पृष्ट्वा देवलक चैव सवासा जलमाविशेत् । देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थि वासरत्रयम् ॥ असौ देवलको नाम ह्य्यकण्डेषु गहित' ॥ तथा ब्रह्माण्डपुराणे— 'शैवाग्पाशुपतान्स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थाग्निजा-शुद्धान्तवासा जलमाविशेत् ॥' इति । तथा— 'अस्वर्ष्यां ह्याहुति सा स्वा-ल्लुदसपकंदूपिता' इति लिङ्गाच्च शूद्रस्पर्शने निषेध ॥ तथाहिरा — 'यस्तु जायां श्चपाकस्य प्राङ्गणे ह्यधिरोहति । तत्र स्नान प्रकुर्वीत घृत प्रारय विशुद्भवति ॥' तथा श्याम्रपाद् — 'अण्डाल पतित चैव दूरत परिवर्जयेत् । गोवाल-वज्रमादर्शवस वासा जलमाविशेत् ॥' इति । एतद्वतिसकटस्थलविषयम् । अन्यत्र तु बृहस्पतिनोक्तम्— 'युग च द्वियुग चैव त्रियुग च चतुर्भुगम् । चाण्डाल सूतिकोद्वयापतितानामथ क्रमात् ॥' इति । तथा पैठीनसि — 'काकोल्लकस्पर्शने सचैलस्नानम्, अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलस्नान महाभ्याहृतिहीमथ । अनुदकमूत्रपुरीषकरणे इत्येतच्चिरकालमूत्रपुरीषाशौ- चाकरणपरम् ।' तथाहिरा — 'मासवायसमाज्जोरखरोधू च शशूकरान् । अमे- ध्यानि च सस्पृश्य सचैली जलमाविशेत् ॥' इति । मार्जारस्पर्शनिमित्त स्नान मुच्छिष्टसमयेऽनुष्ठानसमये च वेदितव्य समाचारात् । अन्यथा तु— 'मार्जार श्वैव दर्शे च भारुदश्च सदा शुचि' इति स्नानाभाव । श्वस्पर्शे तु स्नान नाभे रूर्ध्वं वेदितव्यम् । अघस्तात्तु चालनमेव, 'नाभेरूर्ध्वं करी मुक्त्वा शुना यष्टुपहन्यते । तत्र स्नानमघस्ताच्चेत्प्रच्छात्वाधम्य शुद्भवति ॥' इति तेनैवोक्त- त्वात् ॥ तथा पशुस्पर्शे विशेषेण जातूकर्ष्येनोक्त — 'ऊर्ध्वं नाभे करी मुक्त्वा यदङ्ग सस्पृशोत्थरा । स्नान तत्र प्रकुर्वीत शेष प्रच्छात्वा शुद्भवति ॥' इति ।

अभेद्यस्पर्शोऽपि विष्णुना विनोयो दर्शित ( २१७७-८० ) 'नाभेरधस्ताभयाद्बुधु  
 च कायिकैर्मलैः सुराभिमर्षैर्वोपहतो मृतोयैस्तदद्ग प्रक्षालयाचान्त शुद्धयेत् । अन्य-  
 श्रोपहतो मृतोयैस्तदद्ग प्रक्षालय रनायात् । तैरिन्द्रियेषूपहतस्तूपोष्य रनात्वा पद्मय  
 श्वेन दधानच्छदोपहतश्च' इति । पुनश्च परकीयामोष्यस्पर्शविषयम् । आश्रीयमल-  
 स्पर्शं तु ऊर्ध्वमपि नाभे चालनमेव । यथाह देवल — 'मानुषास्थि वसां विष्ठा  
 मार्तव भृशरेतसी । मज्जान शोणित वापि परस्य यदि सस्पृशेत् ॥ स्नात्वा  
 प्रसृज्य लेपादीनाचभ्य स शुचिर्भवेत् । तान्मेव खानि सस्पृशम पूत स्वात्परि-  
 मार्जेनात् ॥' इति । तथा च शङ्ख — 'स्थ्याकर्मतोयेन ह्यीवनाद्येन वा तथा ।  
 नाभेरूर्ध्वं नर स्पृष्ट सद्य स्नात्वेन शुद्धयति ॥' इति । यमेनाप्यत्र विशेष  
 उक्त — 'सकर्मं तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसकरम् । जङ्घोर्भुत्तिकाहितस्र पादयो  
 र्द्विगुणास्तत ॥' इति ग्रामसकर ग्रामसलिलप्रवाहप्रदेश सकर्मं प्रविश्येत्तर्धम् ।  
 भारुतशोपिते तु कर्ममादी न दोष । 'स्थ्याकर्मतोयानि स्पृष्टान्य-स्थश्रदायसैः ।  
 भारुतेनैव शुद्धयन्ति पक्षेष्टकचितानि च ॥' ( भा० १९७ ) इति प्रागुक्तवाच्यम् ।  
 अस्थनि मनुना विशेष उक्त ( ५१८७ ) — 'नार स्पृष्ट्वास्थि सस्नेह स्नात्वा विप्रो  
 विशुद्धयति । आचार्यैश्च तु मि स्नेह गा स्पृष्ट्वा वीच्य वा रविम् ॥' इति । इद द्वै-  
 जातास्थिविषयम् । अ-वत्र घसिष्टोक्तम् — 'मानुषास्थि स्निग्धे स्पृष्ट्वा शिरात्रमाशौ  
 चम् अस्निग्धे श्वहोरात्रम् ।' इति । अमानुषे तु विष्णुक्तम् ( २२१७० ) — 'मद्य  
 वार्थ पद्ममलशयसदस्थि च सस्नेह स्पृष्ट्वा स्नात् पूर्वदेव प्रक्षालित विशुद्धात्'  
 इति ॥ एवम-येऽपि स्नानार्हा स्पृष्टव-नरतोऽवबोद्धव्या ॥ एव स्नानार्हाणा बहु  
 स्वात्तदभिप्राय तैरिति बहुवचनमभिरुद्धम् । 'उक्त्वाशुचिभि रनायात्' इत्ये-  
 तैश्च दण्ड्याद्यचेतनव्यवधानस्पर्शं वेदितव्यम् । चेतनव्यवधाने तु मानवम् ( मनु  
 ५१८५ ) — 'दिवाकीर्तिमुदकवा च पतित सूतिकां तथा । शय सास्पृष्टिन चैव  
 स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धयति ॥' इति । तृतीयस्य स्वात्तमनमेव । 'तस्पृष्टिन  
 स्पृशेद्यस्तु स्नान तस्य विधीयते । ऊर्ध्वमाचमन प्रोक्त दृग्धाणा प्रोक्षण तथा ॥'  
 इति सर्वतस्मरणात् । एतद्याद्युद्धिपूर्वकविषयम् मतिपूर्वं तु तृतीयस्यापि स्नान-  
 मेव । यथाह गौतम ( १४१३० ) — 'पतितचण्डालसूतिकोदकयाशवस्पृष्टित-  
 रस्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलमुदकोपस्पर्शनाच्छुद्धयेत्' । इति । चतुर्थस्य स्वात्तमनम्,  
 'उपस्पृशयाशुचिस्पृष्ट तृतीय वापि मानव । हस्ती पादौ च तोयेन प्रक्षालयाचभ्य  
 शुद्धयति ॥' इति देवलस्मरणात् । अशुचीनां पुनरुदक्यादिस्पर्शं देवलेन विशेष  
 उक्त — 'शपाक पतित व्यङ्गमुन्मत्त शय्वहारकम् । सूतिकां साविकां नारीं

रजसा च परिप्लुताम् ॥ अङ्कुक्कुटवराहांश्च प्राग्वाप्तसस्पृश्य मानव । सचैलः  
सशिरा रनात्वा तदानीमेव शुद्ध्यति ॥' इति । 'अशुद्धांस्वयमप्येतानशुद्धस्तु  
पदि स्पृशेत् । विशुद्ध्यत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुनः ॥' इति । साविका प्रस-  
वस्य कारयित्री । कृच्छ्र अपाकादिविषय आदिषु तूपवास इति व्यवस्था ॥३०॥

भाषा—रजस्वला स्त्री और अशुचि व्यक्ति ( शव, चण्डाल, पतित,  
मृतिका, मृत्यु के कारण भाशौची ) द्वारा छु जाने पर स्नान करे, इन रजस्वला  
स्त्री आदि द्वारा स्पृष्ट व्यक्ति से छु जाने पर आचमन करे और 'आपो द्विष्ठा'  
आदि तीन मन्त्रवाक्यों का जाप करके एक बार गायत्री का जप करे ॥३०॥

अधुना कालशुद्धौ दृष्टान्तत्वेन द्रव्यशुद्धिप्रकरणोत्तरैस्तथैवाश्र प्रकरणे वच्य  
मार्गाश्च शुद्धिहेतून्नुक्तामति—

कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।

पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

यथाऽन-यादयोऽमी सर्वे स्वविषये शुद्धिहेतवस्तथा कालोऽपि दशरात्रादिक ।  
शास्त्रागम्यावाप्यशुद्धिहेतुत्वस्य । अग्निस्तावप्युद्धिहेतु । यथाभ्यधापि ( भा०  
१८७ ) 'पुन पाकान्महीमथम्' इति । कर्म च शुद्धिनिमित्त, यथा वच्यति  
( प्रा० २४४ ) 'अथमेधावमृद्यन्मानात्' इति । तथा मृदापि शुद्धिकारणं, यथा  
कथितम् ( भा० १८९ )—'सलिल भस्म मृदापि प्रचेष्टम्बं विशुद्ध्यै' इति ।  
वायुरपि शुद्धिहेतु, यथोद्गीरित ( भा० १९७ ) 'मास्तेनैव शुद्ध्यन्ति' इति ।  
मनोऽपि वाच शुद्धिधसाधन, यथाऽनापि 'मनसा वा ह्यिता वाग्बदति' इत्यादि ।  
ज्ञान चाध्यात्मिक शुद्धिधनुद्घौ निदान, यथाभिधास्यति ( प्रा० ३४ ) 'चेत्र-  
शरपेश्वरज्ञानात्' इति । तपश्च कृच्छ्रादि, यथा वदिस्यति ( प्रा० २६० ) 'प्राजा  
पाय चरेत्कृच्छ्रं समो वा गुह्यतपसम्' इत्यादि । तथा जलमपि शरीरादे, यथा  
वदिस्यति ( प्रा० ३३ ) 'वर्ष्मणो जलम्' इति । पश्चात्तापोऽपि शुद्धिजनक,  
यथा गदित यथावनेनानुतापेन' इति । निराहारेऽपि शुद्धयुपादान, यथा  
व्याहरिस्यति ( प्रा० ३०१ ) 'त्रिरात्रोपोपितो जंत्वा' इत्यादि ॥ ३१ ॥

भाषा—काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तपस्या, जल,  
पश्चात्ताप और उपवास—ये सभी शुद्धि के कारण होने हैं ॥ ३१ ॥

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।

शोधयस्य मृश्र तोयं च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ॥ ३२ ॥

तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषा वर्ष्मणो जलम् ।

जपः प्रच्छन्नपापानां मनस सत्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ।

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्बुद्धिः परमा मता ॥ ३४ ॥

किंच, अकार्यकारिणां निषिद्धतेविनां दानमेव मुख्यं शुद्धिकारणं, यथा  
 व्याख्यास्यति 'पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा' इति । यथा: निदाघादावहृततोया-  
 या अमेधोपहततीरायाः मूलकथवर्षांशुप्रवाहवेगः शुद्धिहृत् । 'शोधनीयस्य  
 द्रव्यस्य मृच्च तोयं च शुद्धिकृत्', यथैह मणितम् (भा० १९१)—'अमेध्यात्स्य  
 श्रुतोषैः शुद्धिर्गन्धापवर्षणात्' इति । संन्यासः प्रवृत्त्या द्विजन्मनां मानसाप-  
 चारे शुद्धिहृत् । तपो वेदाभ्यासो वेदविदां शुद्धिकारणम् । वृष्ट्यादि तु  
 सर्वसाधारणं न वेदविद्यमेव । चाग्निरुपज्ञानो विदुषां वेदार्थविद्याम् ।  
 धर्मणः शरीरस्य जलम् । प्रवृत्तपापानामविषयातदेषानां अघमर्षणा-  
 दिसूक्तजपः शुद्धिकारणं शुद्धिसाधनम् । मनः सदसत्संस्पर्शपरमकं तस्यासहं-  
 क्षणवाशावृत्तस्य सत्यं साधुसंकल्पः बोधकम् । 'भूत'शब्देन तद्विकारभूतो  
 देहेन्द्रियैसो षट्पथे । तत्र 'स्थूलोऽहं कृणोऽहं काणोऽहं अधिरोऽहम्' इत्येवं  
 तदभिमानावेन योऽयमारामा वर्तते स भूतात्मा, तस्य तपोविद्ये शुद्धिनि-  
 मिक्ते । 'तपः'शब्देनानेकजन्मस्येकरिमस्यपि वा जन्मनि जागरस्वप्नसुषुप्तपथस्था-  
 श्वात्मनो योऽयमन्वयाः, शरीरशब्देन अतिरेकः सोऽभिधीयते । यथा (सै० उ०  
 ३।१।१) 'तपसा प्रज्ञा विमिश्रासत्य' इति पञ्चकोशात्पतिरेकप्रतिपादनपरे यावदे।  
 'विद्या'शब्देन औपनिषद् 'अध्वलमनन्वहस्यम्' (श्रु० उ० ३।१।१६) 'असन्नो  
 हि' (श्रु० उ० २।५।१३) 'अयमात्मा' (श्रु० उ० ३।८।८) इत्यादि  
 त्वंपदार्थनिरूपणविषया यावदग्रम्यं ज्ञानमुच्यते । एतादृशस्य शुद्धिः । शरीरादि-  
 श्वतिरेकबुद्धेः संज्ञाविषयं रूपत्वेनाश्रुद्धायाः प्रमाणरूपं ज्ञानं विशोधनम् ।  
 क्षेत्रस्य तपोविद्याविशुद्धस्य त्वंपदार्थभूतस्य "तत्त्वमसि" (छा० उ० ३।८।७)  
 इत्यादिवाच्यजन्मानावाकाररूपादीश्वरज्ञानात् "परमा विद्युद्विमुक्तिरुत्पत्ता ।  
 यथैताः शुद्धयः परमपुरुषार्थास्तद्गुणतरा कालशुद्धिरपीत्येवं प्रशस्तार्थं भूतात्मादि-  
 विशुद्धवमिधानम् ॥ ३२-३४ ॥

भाषा—निषिद्ध कार्य करने वाली की शुद्धि का कारण दान होता है, नदियों की शुद्धि करने वाला उनका प्रवाह वेग होता है; अशुद्ध धरतु की मिट्टी और जल से, द्विजानियों की संन्यास से, वेद जानने वालों की तप ( वेदाभ्यास ) से, विद्वानों की जप से, शरीर की जल से, गुप्त पापों

१. शोधनम् । २. त्विद्वयसंबन्धो । ३. जागरस्वप्न । ४. तत्त्वमसी-  
 पादि । ५. परमात्मशुद्धिः ।

की शुद्धि जप से होती है और मन की शुद्धि का कारण तप बताया गया है। भूतारमा की शुद्धि का कारण तप और विद्या है तथा बुद्धि को शुद्ध करने वाला ज्ञान है। चेन्नञ्ज ( अर्थात् तप और विद्या द्वारा विशुद्ध ) की शुद्धि ईश्वर के ज्ञान से बताई गई है ॥ ३२-३४ ॥

इत्याशौचप्रकरणम् ।

### अथापद्रुमप्रकरणम् २

‘आपद्यपि च कष्टायां सद्यःकौचं विधीयते’ ( प्रा० १९ ) इत्यापदि मुख्याशौचकस्यानुष्ठानासंभवेन सद्यःशौचाद्यनुकल्पमुख्यत्वेदानीं तत्प्रमत्ताद्यापदि ‘प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनात्पापने तथा’ ( भा० ११८ ) इत्याद्युक्तयाजनादिमुत्पद्यमानसंभवेन धृत्यन्तरमाह—

क्षेत्रेण कर्मणा जीवेद्विज्ञां याव्यापदि द्विजः

निस्तीर्य तामथारमानं पावयिस्वा न्यसेत्पथि ॥ ३५ ॥

द्विजो विप्रो बहुकुटुम्बतया स्ववृत्त्या जीवितुमसमर्थः अत्रसंबन्धिना कर्मणा राजप्रहणादिना आपदि जीवेत् । तेनापि जीवितुमशक्यमुपैश्वर्यसंबन्धिना कर्मणा वाणिज्यादिना जीवेत्, न तु शूद्रवृत्त्या । तथा च मनुः ( १०।८९ )—‘उभान्ध्यामभ्याजीवस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृपिगोरचनास्थाय जीवेद्द्वैतस्य जीविकाम् ॥’ इति । तथा आपद्यपि न हीनवर्गेन ग्राह्यी वृत्तिराश्रयणीया किंतु ब्राह्मणेन चाग्नी, अत्रिवेण वैश्यसंबन्धिनी, वैश्येन च शौत्री, इत्येवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्तिरेव । ‘अजीवन्तः स्वधर्मज्ञानान्तरं पापीवर्ती वृत्तिमातिष्ठेरन्नतु कदाचिज्जयापसीम्’ इति मत्स्यस्मरणात् । जयापसी च ग्राह्यी वृत्तिः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—‘उत्कृष्टं वाऽपकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हिरवा सर्वसाधारणे हि ते ॥’ इति । शूद्रस्योत्कृष्टं ब्राह्म कर्म न विद्यते । यथा ब्राह्मणस्यापकृष्टं शौद्र कर्म । मध्यमे अत्रवैश्यकर्मणी पुनरापद्रुतसर्ववर्णसाधारणे’ इति । शूद्रश्चापद्रुतो वैश्यवृत्त्या शिरुपैर्वा जीवेत् । ‘शूद्रस्य द्विजशुभ्रूया तथा जीवन्वगिरभवेत् । शिरुपैर्वा विविधैर्जैवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥’ ( भा० ११९ ) इति प्रागुक्तत्वात् ॥ मनुना चात्र विशेषो दर्शितः ( १०।१०० )—‘यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुभ्रूप्यन्ते द्विजातयः । तानि कारुण्यकर्मणि शिरुपानि विविधानि ॥’ इति । अनेनैव न्यायेनानुलोमोत्पन्नानामपि स्वानन्तरा वृत्तिरुद्दीया । एव स्वानन्तरहीनवर्णवृत्त्या अपद्रु निस्तीर्य प्रायश्चित्ताचरणेनारमानं पावयिस्वा पथि न्यसेत् । स्ववृत्ताचारमानं स्थापयेद्वैश्यं । उद्गाऽयमर्थः—गर्हित-

वृत्त्याजित धनं पयि न्यसेदुरस्रेदिति । तथा च मनु ( १०।१११ )—'जपहो  
मैरपैरपेभो वाजनाप्यापनै कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव ॥'  
इति ॥ ३५ ॥

भाषा—आपकाळ में ( अपने वर्ण की वृत्ति द्वारा जीविका चलाने में  
असमर्थ होने पर ) ब्राह्मण पत्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म द्वारा  
जीवननिर्वाह करे आपकाळ पार कर लेने पर ( प्रायश्चित्त द्वारा ) अपने को  
पवित्र करके पुनः अपने वर्ण की वृत्ति अपनावे ॥ ३५ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवतो ब्राह्मणस्य यदपणनीयं तदाह—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीर्य ।

तिलौदनरसक्षाराम्दधि क्षीरं घृतं जलम् ॥ ३६ ॥

शुक्रासयमधूच्छिष्टं मधु साक्षा च बर्हिष ।

सूचर्मपुष्पकुंतपकेशतक्रविपक्षिति ॥ ३७ ॥

कौशेयनीललघणमांसैकशफसीसकान् ।

द्याकार्द्वापधिपिण्याकपशुगन्वांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवतो विक्रीणीत कदाचन ।

'नो विक्रीणीत' इति प्रत्येकमभिसंबद्धयते । फलानि कदलीफलादीनि  
बदरेहुद्वयतिरिक्तानि, यथाह नारद —'स्वयशीर्णानि पर्णानि फलानां बदरेहुदे ।  
रुद्र कार्पासिक सुप्र तप्वेदविकृत भवेत् ॥' इति । उपैल मणिमाणिकाद्यश्म  
मात्रम् । सौमसतसीसूत्रमय वस्त्रम्, 'सौम'ग्रहण तान्तवादेरुपलक्षणम् । यथाह  
मनु ( १०।८७ )—'सर्वं च तान्तव रक्तं द्वाणसौमायिकानि च । अपि चोत्पु  
ररक्तानि फलमूले तपोपधी ॥' इति, सोमो लताविशेष, 'मनुष्य'पदेना  
विशेषाच्छीर्षुनपुसकानां ग्रहणम्, अपूप मण्डकादि भक्ष्यमात्रम्, वीर्यो  
वेद्यामृतादिलता, तिला प्रसिद्धा, 'क्षीर'ग्रहण भोज्यमात्रोपलक्षणम्,  
रसा गुबेहुरसशर्करादय, तथा च मनु ( १०।८८ )—'क्षीरं क्षौद्रं इधि घृत  
सैलं मधु गुदं कुशान्' इति । चारा यवचारादय । 'इधि'क्षीरपो'ग्रहण  
भस्मविण्टकिलाट्कृत्तिकादीनां तद्विकाराणामुपलक्षणम् । 'क्षीर सविकारम्' ( ७।  
११ ) इति गौतमरमणाय । 'घृत'ग्रहण तैलादिरसेहमात्रोपलक्षणम्, जल  
प्रसिद्धम्, चरु चदमादि, 'क्षारम्'पदम् मन्त्रमात्रोपलक्षणम्, 'अधूश्चिष्ट  
सिक्कम्, मधु क्षौद्रम्, लापा जतु, बर्हिष कुशा, सूत् प्रसिद्धा, चर्मा  
जिनम्, पुष्प प्रसिद्धम्, 'अंशुलोमशूठ कम्बल कुतप, केशाश्रमयादि-

१. रसचारदधि क्षीरघृत बलम् । २. मधुश्चिष्टमधुलापा सवर्हिष ।

३. कुतुपकेत । ४. मीठी । ५. उपल माणिकादि । ६. अजीर्णलोमशूत ।

सपद्या, सकमुदशित्, विष शृङ्गादि, चितिभूमि, 'नित्य भूमित्रीहियवा-  
जाप्यश्वर्षभधेन्वनहुदश्रैके' इति सुमन्तुस्मरणात् । कौशेय कोशप्रभव वसनम्,  
नील नीलोरसम्, 'लवण'ग्रहणेनैव विदसौवर्चलसैन्धवसामुद्रसोमकृत्रिमाण्य  
विशेषेण गृह्यन्ते । मांस प्रसिद्धम् एकशका हषादय, 'सीस'ग्रहण  
लोहमात्रोपलक्षणम्, शाक सवम्, अविशेषात्, ओषधय फलपाकान्ता,  
'आद्रीषधय' इति विशेषोपादाना-द्युष्केषु न दोष, विण्वाक प्रसिद्ध, पशव  
भारण्या, 'भारण्याश्च पशून्सर्वा-दृष्टिणश्च वर्णाति च' ( १०।८९ )—इति मनु-  
स्मरणात् । गन्धाश्चन्दनभगुरुप्रभृतय, सर्वानेता-वैश्यवृत्त्या जीव-ग्राहण ।  
कदाचिदपि न विक्रीणीत, चत्रियादेशु न दोष । अत एव नारदेन  
'वैश्यवृत्तावविशेष्य ग्राहणस्य पयो वधि' इति ग्राहणग्रहण कृतम् ॥ ३६-३८ ॥

भाषा—फल, उषल (मणि, माणिक्य आदि), अतसी के सूत से निर्मित  
वस्त्र सोमलता, मनुष्य, पुष्पा, वेंत आदि लता तिल, भोजन ( भोजन पदार्थ,  
रस ( घृत, तेल आदि ), चार, दही, दूध, घी, जल, शक्कर, आसव, जूठा मद्य,  
मधु लाख, कुश, मिट्टी, चमड़ा, पुष्प, कुतप ( बकरे के रोदों से निर्मित  
कपडल ), कषा ( चँवर आदि ) तक्र ( मटठा ), विष, भूमि, कौशेयवस्त्र, नील,  
नमक, मांस, एक खुर वाल पशु ( जैसे घोड़ा ) सासा ( और छोहा ), शाक,  
आर्द्र भौवधि, विण्वाक, जगली पशु और ग ध—इन सब वस्तुओं को वैश्य  
की वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते रहने पर भी कभी न बेंचे ॥ ३६-३८ ॥

प्रतिप्रसवमाह—

धर्मार्थं विक्रयं नेपास्तिला धाम्ब्येन तत्समा ॥ ३९ ॥

पद्यावश्यक पाकवज्रादिधर्मा स्वसाधनवीह्यादिधाम्याभावेन न निष्पद्य  
न्ते तर्हि धाम्ब्येन तिला विक्रय नेवा । तत्समा द्रोणपरिमिता द्रोणपरिमिते-  
नेपेव तेन धाम्ब्येन समा । तथा च मनु ( १०।९० )—'काममुत्पाद्य कृत्वापु  
स्वधमेव कृपीवत् । विक्रीणीत तिलाऽशुद्धा-धर्मार्थमधिरस्थितान् ॥' इति ।  
'धर्म'ग्रहणमावश्यकमेवजापुपलक्षणम् । अत एव नारद—'अशक्तौ भेषजस्यार्थं  
यश्चेतोस्तथैव च । यद्यवश्य तु विक्रेपास्तिला धाम्ब्येन तत्समा ॥' इति यद्य  
न्यथा विक्रीणीते तर्हि दोष । ( १०।९१ )—'भोजनार्थजनाहायाद्यद्व्यरुहते  
तिलै । कुमिभूत्वा श्वविष्टायां पितृभि सह मज्जति ॥' इति मनुस्मरणात् ।  
सजातीयै पुनर्विनिमयो भवत्येव । 'रसा रसैर्निगातभ्या नैवेव लवण रसै ।  
कृताश्च कृताधेन तिला धाम्ब्येन तत्समा ॥' ( मनु १०।९४ )—इति ।  
कृताश्च सिद्धाक्षम्, तच्च कृताधेन परिवर्तनीयम् । 'कृताश्च चाकृतान्नेन'

१ गौतमस्मरणात् । २ कृष्णां तु । ३ नखेव लवण । ४ नीवमिति  
यावत् ।

इति पाठे तु सिद्धमङ्गमकृतान्मेव सन्ध्यादिना परिवर्तनीयमिति ॥ ३९ ॥  
भाषा—किन्तु धर्मार्थं ( औषधादिकार्यार्थं ) तिल के घराघर धान्य लेकर  
तिल बेचना उचित है ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्तनिषिद्धानिधमे दोषमाह—

लाक्षालघणमांसानि पतनीयानि विक्रये ।

पयो दधि च मद्यं च हीनघर्णकराणि तु ॥ ४० ॥

लाक्षालघणमांसानि विक्रीयमाणानि सद्यःपतनीयानि द्विजातिधर्म-  
दानिकराणि । पयःप्रभृतीनि ॥ हीनघर्णकराणि सूक्ष्मशुष्कवापाङ्गानि ।  
एतद्द्वयतिरिक्तपण्यविक्रये घैरप्युत्पत्ता । यथाह मनुः ( १०।१९-१३ )—  
'सद्यः पतति मानेन लाक्षया लक्षणेन च । स्पृहेण शुद्धो भवति ब्राह्मणः क्षीर-  
विक्रयात् ॥ इतरेषामप्येषामां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण घैरपभाषं  
च गच्छति ॥' इति ॥ ४० ॥

भाषा—लाक्षा ( लाख ), नमक और मांस बेचने पर पतित हो जाता  
है और दूध, दही तथा घुरा बेचने पर यह निम्नघर्ण का हो जाता है ( अर्थात्  
शुद्ध के समान बन जाता है ) ॥ ४० ॥

आपद्रुतः संप्रमृद्धभुञ्जानो वा यतस्ततः ।

न लिप्येतैतसा विप्रो उत्रलनार्कसमो हि सा ॥ ४१ ॥

किञ्च, पराधनोऽवसन्नद्रुष्टवतया भावद्रुतोऽपि अत्रपुंसि घैरपपुंसि वा  
न प्रविषति ॥ यतरततो 'हीनहीनतरहीनतमेभ्यः प्रतिपुंस्ततश्च  
भुञ्जानोऽपि यो एतसा पापेन न लिप्यते । यतरतस्यामापद्रुत्पामामत-  
प्रतिग्रहादावधिकारित्वेन उत्रलनार्कसमः, यथा उत्रलनोऽर्कश्च हीनसंज्ञेऽपि  
न दुष्यति 'तथाऽवसापद्रुतोऽपि न दुष्यतीत्येतावता तस्याऽप्यम् । एवं च वदता  
आपद्रुतस्य परधर्माश्रयणाद् द्विगुणमपि स्वधर्माशुद्धानमेव मुत्पमिति दर्शितं  
भवति । तथा च मनुः ( १०।१७ )—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारकपः स्व-  
नुष्ठितः । परधर्माश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातितः ॥' इति ॥ ४१ ॥

भाषा—आपद्रुतकाल में जिस किसी का दान एवं भक्षण ग्रहण करने वाले  
ब्राह्मण को पाप नहीं छगता, क्योंकि वह अग्नि और सूर्य के समान  
होता है ॥ ४१ ॥

कृपिः शिल्पं सृतिविद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेवानूपं नृपो भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४२ ॥

१. निगच्छति । २. भुञ्जानोऽपि यत । ३. हीनतरस्ततो । ४. वा  
नैवेनता । ५. सेवानूपो । ६. भैक्षमापत्तौ ।



किंच, 'आरक्षी जीवनानि' इति विशेषणानुभवादीनां मध्ये अनापद्म  
रथायां यस्य या वृत्ति प्रतिपिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते । तथाऽऽपि  
वैश्यवृत्ति स्वय कृता कृषिर्विप्रप्रश्रिययोर्म्यनुज्ञायते एवं शिल्पादी<sup>१</sup>न्यप्यस्या-  
भ्यनुज्ञायन्ते । मिल्प रूपकरणदि मृत्ति प्रेष्यत्वम्, विद्या मृतकाध्याप  
करवाद्या, कुसीद वृद्धयर्थं द्रव्यप्रयोग, नत् स्वयकृतमभ्यनुज्ञायते, शकट भाट  
केन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतु गिरिस्तद्वनतृणैश्चनद्वारेण जीवनम्, सेवा  
प्राचिस्तानुवर्तनम्, अनूप प्रचुरतृणवृक्षजलप्राय प्रवेश, तथा नृतो नृपयाचनम्,  
भैक्ष स्नातकरवापि, एनाभ्यारक्षी जीवनानि । तथा च मनु ( १०।११६ )—  
'विद्या शिल्प भुनि सेवा गोरक्षा विपणि कृषि । गिरिर्भेक्ष कुसीदं च दश  
जीवनहेतवः ॥' इति ॥ ४२ ॥

भाषा—कृषि, शिल्प ( कारीगरी ), मृत्ति ( मजदूरी ), वेतन लेकर  
विद्याध्यापन, व्याज के लिये धनप्रयोग, भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वत ( डल  
पर प्राप्त होने वाले तृण एवं ईंधन ), सेवा, अनूप ( प्रचुर तृण, वृक्ष और  
जल से व्याप्त प्रवेश ), राजा ( राजा से याचना ) तथा भिक्षावृत्ति—य  
भाषितकाल में जीवन के साधन होते हैं ॥ ४२ ॥

यथा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसमवसरतदा कथं जीवनमिष्यत भाह—  
युमुक्षितरूपहं स्थिरया धाम्यमग्राहणाद्धरेत् ।

प्रतिगृह्य तदाशुभेयमभियुक्तेन धर्मत ॥ ४३ ॥

धाम्याभावेन त्रिरात्र युमुक्षितोऽनरनन् स्थिरया अग्राहणाद्दृष्ट्रात्तद्  
भावे वैश्यात् तदभावे चत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्त ध्यान्य हरेत् । यथाह  
मनु ( ६।११७ )—'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि पञ्चनरनता । अश्वस्तन-  
विधानेन हर्तव्य हीनकर्मण ॥' इति । तथा च प्रतिग्रहोत्तरकाल यदपहृत  
तद्धर्मनो यथावृत्तमाशुभेयम् । यदि नौरितकन स्वामिना स्वयेष्ट किं नैमापह  
तमित्यभियुज्यते । यथाह मनु ( ११।१७ )—'ब्रह्मणोऽप्यग्राहणाद्वा यतो वाप्युप  
लभ्यते । आश्रयात्तस्य तु तत्तस्मै वृञ्जते यदि वृञ्जति ॥' इति ॥ ४३ ॥

भाषा—तीन दिन भूम्या रहकर अग्राहण ( शूद्र या शूद्र के अभाव में  
वैश्य और उसके अभाव में क्षत्रिय ) के घर से अन्न सुरावे । पकड़े जाने पर  
ओ कुछ सुरावा हो उसे धर्मपूर्वक बता देना चाहिए ॥ ४३ ॥

इदमपरमापप्रसङ्गाद्वाजो विधीयते—

तस्य वृत्तं कुलं शीलं श्रुतमध्ययनं तप ।

ज्ञात्या राजा कुटुम्बं च धर्म्या वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥ ४४ ॥

१ न्यप्यनुज्ञायन्ते । २ रूपकरणदि । ३ तथाऽऽप्येव । ४ धान्य-  
माहरेत् । ५ नाष्टिकेन । ६ ममापहतमिति ।

योऽश्विनायापरीतोऽवसीदति तस्य वृत्तमाचार, कुलमाभिजात्य, शीलमा-  
त्मगुण, श्रुत द्वात्र्यघ्रवण, अभ्ययन वेदाध्ययन, तथा वृष्ट्यादि च परीष्य  
राजा धर्मादिनपेतां वृत्तिं प्रकरयेत्, अभ्यया तस्य दोषः, तथा च मनु  
( ७।१३४ )—‘यस्य राजस्यु विषये श्रोत्रिय सीदति पुत्रा । तस्य सीदति  
सदाष्ट्र दुर्मिष्याधिपीडितम् ॥’ इति ॥ ४४ ॥

भाषा—उसके आचार, कुल, शील, द्वात्र्यज्ञान, वेदाध्ययन, तप भीर  
कुटुम्ब का शान प्राप्त करके राजा उसके लिए धर्मसम्मत वृत्ति निर्धारित  
करे ॥ ४४ ॥

इत्यापद्धर्मप्रकरणम् ।

### अथ चानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ३

चतुर्णांभूमिणां मत्पे मत्तचारिगृहस्थचोर्धर्माः प्रतिवादिताः । सोमसमजप  
रमाहाभानप्रस्थधर्माः प्रतिवादिताः—

सुतविन्ध्यस्तपस्नीकस्तया चाऽनुगतो वनम् ।

चानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥ ४५ ॥

वनं प्रवर्षेण निचमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थ, वनप्रस्थ एव चान-  
प्रस्थ । सज्ञायां दैर्घ्यम् । भाविर्मां वृत्तिमाधिरथ वनं प्रतिष्ठासुरिति यावत् ।  
असौ सुतविन्ध्यस्तपस्नीक ‘श्वेष्य वरणीया’ इत्येव मुने विन्ध्यस्ता निश्चिन्ता  
पानी येन ॥ तथोक्त । यदि सा पतिपरिचर्याभिलाषेण स्वयमपि वनं जिगमि  
पति तदा तयाऽनुगतो वा सहितः । तथा ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता साग्निवैतानाग्नि  
सहित तथा सोपासनो गृह्याग्निसहितश्च वनं व्रजेत् । ‘सुतविन्ध्यस्तपस्नीक’  
इति वदता कृत्वागार्हस्थ्यो धर्मवासेऽधिक्रियत इति दर्शितम् । एतच्चाध्यम-  
समुच्चयपदमद्गीकृत्योक्तम् । इतरथा ‘अविच्छ्रुतब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तु तमावसत्’  
इत्यकृतगार्हस्थ्योऽपि वनवासोऽधिक्रियत एव । अथ च वनप्रवेशो अराजर्जरक  
सेवरेष्य ज्ञातपीठस्य वा । यथाऽह मनुः ( ६।२ )—‘गृहस्थस्तु यदा परये-  
द्ब्रह्मीपलितमात्मनः । अपरपरस्यैव वाऽवस्थ्य तदारण्य समाश्रयेत् ॥’ इति ।  
अथ ॥ पुत्रेषु पत्नीनिषेधो विद्यमानभार्यस्य । मृतभार्यस्याप्यापस्तम्बादिभि  
वनवासश्मरणात् । जतो यत् ( आ० ८९ ) ‘दाहधित्वाग्निहोत्रेण’ इति पुन-  
राधानविधानं,—तदपरिपक्वपापविषयम् । ‘साग्नि सोपासन’ इत्यत्रापि  
यदार्धाधानं कृतं तदा श्रौताग्निभिर्गृह्येण च सहितो वनं व्रजेत् । सर्वाधाने तु

ध्रीतैरेव केवलम् । यदि कथंचिन्नेष्टभ्रातुरनाहिताग्निस्वादिना ध्रीतानयोऽ  
नाहितास्तर्हि केवल सोपासनो यजेदित्येव विवेचनीयम् । अग्निनयन च  
तन्निर्वर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिद्धयर्थम् । अत एव मनु ( ६।९ )—'वैतानिक च  
ब्रह्मयादग्निहोत्र यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्त्रर्व पौर्णमास च शक्तिन ॥' इति ॥  
मनु च पुत्रनिश्चितपत्नीकस्य तद्विरहिण कथमग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठान घटते ?  
पत्न्य सह यष्टव्यम्' इति सहाधिकारनिबन्धात्, सत्यमेव, किंत्वत्र पत्नीनिक्षेपविधि  
शलादेव तन्नैरपेक्षेणाधिकार कल्प्यते । यथा हि रजस्तलायां 'यस्य प्रीत्येऽहनि  
पान्यमालेभुका रथासामपश्यत्य' यजेते'त्यपरोधविधिबलात्तन्निरपेक्षता । पत्नी  
वन प्रतिष्ठमानमेव पतिं पश्यन्मुमन्यत इति न त्रिशेध । नच यथा ब्रह्मचारिणो  
विधुरस्य वा वन प्रस्थितस्याग्निहोत्रादिपरिलोपस्तथा निश्चितपत्नीकस्याप्य-  
ग्निहोत्राद्यभाव इति लङ्घनीयम्, अपाधिकारत्वेन ध्रुवगात् । नच ब्रह्मचारिविधुर-  
योरप्यग्निसाधकर्मस्वनधिकार । पञ्चममासादूर्ध्वमाहितध्रावणिकारनेस्तद-  
धिकारदर्शनात्, 'वागप्रस्थो जन्मिन्धीराग्निवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत्,  
अकृष्ट मूलफल सचिन्वीत ऊर्ध्वरेता चमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृहीयादूर्ध्व  
पञ्चमो मासेभ्य ध्रावणिकेर्नाग्नीनाषायाहिताग्निर्हृत्समूहको दद्याद् देवपितृ-  
मनुष्येभ्य स वाष्टैस्त्वर्गमानभ्यम्' इति वसिष्ठस्मरणात् । चीर वस्त्रखण्डो  
व्यफल वा । न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत् । ध्रावणिकेन  
वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनार्थम् ॥ ४५ ॥

भाषा—अपत्नी पत्नी को पुत्री क संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ  
लेकर, ( वैतानिक ) अग्नि और उपासना ( गृह्याग्नि ) सहित वन में जाकर  
ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वागप्रस्थ होये ॥ ४५ ॥

'साग्नि सोपासनो यजेत्' ( प्रा० ४५ ) इत्येतदग्निसाधयध्रीतस्मार्तकर्म-  
नुष्ठानार्थमित्युक्त, तत्र गुणविधिमाह—

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन्देवातिथीनपि ।  
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्रमभुज्जटातोमभूदात्मवान् ॥ ४६ ॥

'फाल'ग्रहण कर्षणसाधनोपलक्षणम् । अकृष्टक्षेत्रोद्धवेन नीवारवेशुरयामा-  
कादिना अग्नीरतर्पयेदग्निमाध्यानि कर्माव्यनुनिष्ठेत् । 'च'शब्दाद्भिषादानमपि  
तेनैव कुर्यात् । तथा पितृन्देवानतिथीन् 'अपि स दाद् भूता-पपि तेनैव तर्पयेत् ।  
तथा भृत्यान् 'च शब्दादाश्रमप्राप्तानपि । तथा च मनु ( ६।७ )—'यद्भव  
स्थात्ततो दृष्टाङ्गलिं भिक्षां च शक्तिन । अम्मूलकञ्जमिषामिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥'

१ दर्शमास्कन्दयत् । २ तन्निरपेक्षेणाधिकार । ३ प्रात्येऽहनि ।  
४ लम्बिका । ५ अवकल्प्य यजेतेत्यवरोध । ६ नाग्निमाध्याय ।

इति । एवं पञ्चमहायज्ञान्कृत्वा स्वयमपि तद्वैश्वमेव भुञ्जीत । ( ६।१२ )—  
 'देवताभ्यश्च तद्भुत्वा वन्य मेध्यतर हविः । द्योपमास्मनि युञ्जीत लवण च  
 स्वयकृतम् ॥' इति मनुस्मरणात् । स्वयं कृतमूपरलवणम् । एव भोजनार्थं यागा-  
 र्थं च मुन्यन्नभियग्नाद् प्राग्वाहारपरित्यागोऽर्थतिद्ध । अत एव मनु ( ६।३ )—  
 'रुग्णस्य प्राग्वाहाहार सर्वं चैव परिच्छेदम्' इति । मनु च दर्शपूर्णमासादेर्माहा-  
 दिप्राग्वाद्रस्यसाध्यस्वाकथ तत्परित्यागः ? न च वचनीयम् 'अंकालकृष्टेनाग्नींश्च'  
 ( घसि० १।३ ) इति विशेषवचनसामर्थ्याद् ग्रीह्यादियाद्य इति । विशेषविधि-  
 पद्यापि स्मृत्या धृतिव्याधस्याप्याटपवात्, अफालकृष्टविधेश्च स्मार्तानिनसाध्यकर्म-  
 विषयत्वेनाप्युपपत्तेः । सत्यमेवम्, किंत्वन्न ग्रीह्यादेरप्यफालकृष्टवत्समवाद्य  
 विरोधः । अत एवोक्तं मनुना ( ६।११ )—'वासन्तशरदेर्मेष्यैर्मुंयन्नै स्वयमा-  
 हतैः । पुरोवासाश्चरुश्वेय विधिवर्षार्जपशुषुक् ॥' इति ॥ नीवारादीनां मुन्यक्षानां  
 स्वयमुत्पन्नानां स्वतो मेध्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'मेध्य'ग्रहणं नङ्गार्हं ग्रीह्यादिप्राग्वर्थं  
 कृतम् । मेधो यश्चरुतद्दहं मेध्यमिति । तथा रमभ्रूणि मुपजानि रोमानि जटारु-  
 पांश्च शिरोरुद्राकृष्णादीनि च रोमानि विभृत्वात् । 'रोम'ग्रहणं नजानामप्युपलब्ध-  
 णम् । तथा च मनु ( ६।६ )—'जटाश्च विभृत्वाक्षिरव रमभ्रूलोमनखाराताधा' इति ।  
 तथास्मयानामौषासनाभिरत रथात् ॥ ४६ ॥

भाषा—विना जुती हुई भूमि पर स्वय उत्पन्न ( नीवार, बैलु, रयाम, क  
 आदि ) अन्न से अन्नियों, पित्तों, देवों, अतिवियों एवं सेधकों को तृप्त करे  
 ( पञ्च महायज्ञ करे ) दाही-मूँछ, जटा और शरीर के रोम बढाये रखे तथा  
 आग्निमान् ( उपासना में रत ) रहे ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्तद्रव्यसत्त्वनिबन्धमाह—

अहो मासस्य पण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।

'अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाभ्ययुजे त्यजेत् ॥ ४७ ॥

एकपण्ड सत्त्वन्धि भोजनपत्रवादिहृष्टाहृष्टकर्मण वर्षासिस्वार्थस्य सत्त्व  
 कृपात् । मासस्य वा पण्णा मासाना वा सत्त्वस्य वा सत्त्वन्धि कर्मपर्याप्त  
 सत्त्व कुर्यात्, नाधिकम् । यद्येव क्रियमाणमपि कथंचिदतिरिच्यते तर्हि  
 तदतिरिक्तमाभ्ययुजे मासि त्यजेत् ॥ ४७ ॥

भाषा—एक दिन, एक मास, छ मास या वर्षभर के लिये धन का  
 संचय करे और जो कुछ दोष यत्र जाय उसका आशिवन महीने में त्याग  
 कर डाले ॥ ४७ ॥

दान्तस्त्रिपवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।

स्वाध्यायचान्दानशील सर्वसत्प्रदिते रत् ॥ ४८ ॥

किंच, दान्तो दर्परहित, त्रिषु सवनेषु प्रानमभ्यदिनापराक्षेषु स्नानशील । तथा प्रतिग्रहे पशुहमुख । 'व श्वाघाजनादिनिवृत्तश्च । स्वाध्यायवान् वेदाभ्यासरत । तथा फलमूलभिषादिदानशील सर्वप्राणिहिताचरणनिरतरश्च भवेत् ॥ ४८ ॥

भाषा—दान्त ( दर्परहित ) हो, तीनों सवनों में ( प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न ) स्नान करे, दान न लेवे, स्वाध्याय ( वेदाभ्यास ) में लगा रहे, दान करे और सभी प्राणियों के हित में रत रहे ॥ ४८ ॥

दन्तोलूखलिक कालपकाशी याश्मकुट्टरु ।

'श्रीतस्मार्तं फलस्नेहै कर्म' कुर्यात्तथा क्रिया ॥ ४९ ॥

किंच, दन्ता पृथोलूखल निरतुषीकरणसाधन दन्तोलूखल, तद्यस्वारित स दन्तोलूखलिक । कालेनैव एक कालवत्त जीवारवेणुरयामाकादि यदरेणुदादि फल च तद्गणनशील कालपकाशी । वा'शब्द 'अग्निपकाशनो वा स्वात्काल एकभुगोव वा' ( मनु ६।१० ) इति मनुकाग्निपकाशिस्वामिप्राय । अरमकुट्टको वा भवेत् । अरमला कुट्टनमवहनन यस्य स तपोक । तथा श्रीतस्मार्तं च कर्म इष्टार्थाश्च भोजनाभ्यञ्जनादिक्रिया लक्षुषमधूकादिभ्यतरुफलोन्नवै स्नेहद्रव्यै कुर्यात्, न तु घृणादिकै । तथा च मनु ( ६।१३ )—'नेपघृणो जवानघास्नेहाश्च फलसमवान् इति ॥ ४९ ॥

भाषा—दंतों से ही छीलकर खावे, समय से अपने आप एक हुए फल आदि का भोजन करे, अथवा पत्थर पर घूट कर खावे । शीत एवं स्मार्त कर्म तथा भोजन, अभ्यञ्जन आदि क्रिया फलों से निकले हुए चिकने तेल से करे ( घृण से नहीं ) ॥ ४९ ॥

पुष्टयार्थतया विहितद्विर्भोजनमित्यर्थमाह—

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा ।

पक्षे गते चाप्यशनीयान्मासे वाऽहनि वा गते ॥ ५० ॥

चान्द्रायणैर्वन्द्यमाणलक्षणै काल नयेत् । कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभि काल वर्तयेत् । यद्वा, -पक्षे पञ्चदशदिनात्मनेऽतीतेऽशीयात् । मासे वाऽहनि गते वा नक्तमशीयात् । 'अपि'शब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि । यथाह मनु ( ६।१९ )

१ श्रीतस्मार्तं । २ कुर्यात्क्रियास्तथा । ३ सदा कृच्छ्रैरश्च वर्तयेत् ।

४ यातेऽन्नमरनी ।

‘नक्षं वाऽपि समञ्जोषाद्दिवा वाहृष्य प्रक्षिप्तः । चतुर्थं कालिको वा स्वाद्यद्वाप्यष्ट-  
मकालिकः ॥’ इति । एतेषां च कालनियमानां स्वकारणवेषुषा विहृष्य ॥५०॥

भाषा—चान्द्रायण मन्त्र से समय विनाये भयक्षा सदैव कृष्टु प्रस करे ।  
एक पक्ष या एक मास खीतने पर भोजन करे अथवा दिन खीतने पर ( रात  
को ) भोजन करे ॥ ५० ॥

स्यंप्याद्भूमौ शुची रात्री दिवा संप्रवर्द्धयेत् ।

स्थानासनविहारैर्या योगाभ्यासेन वा तथा ॥ ५१ ॥

किंच, आहारविहारवसरपर्यं रात्री शुचिः प्रपतः स्यप्यात् गोपविनो-  
द्यापि तिष्ठेत् । शिवास्वप्नस्य पुरपम प्रार्थतया प्रतिपिद्धवात् तद्विदुतिपरम् ।  
तथाभूमायेव स्वप्यात् । तच्च भूमायेक, न क्षरवा-तरितायां मलकाशी वा ।  
दिन तु संप्रवर्द्धयेत् । स्थानासनरूपैर्वा विहारैः सचारैः कंधिकाकालं  
स्थानं कश्चिच्चोपवेशनसिद्धये वा दिन मयेत् । योगाभ्यासेन वा । तथा च  
मनुः ( १।२९ ) ‘वित्रिधाक्षीपनिपदांशारप्रमंसिश्ये शुचीः’ इति । आसनः सति-  
त्ये मलस्यप्राप्तये । ‘तथा’ शरदशक्तिविरिलोचनाद्वा नयेत् । ‘भूमौ विपरिषर्त्त  
तिष्ठेद्वा संप्रवर्द्धयेत्’ ( ६।२९ )—इति मनुस्मरणात् । प्रवर्द्धयेत् ॥ ५१ ॥

भाषा—रात्रि को पवित्र होकर ( नवी ) भूमि पर मोचे और दिन  
धूमकर विनाये, अथवा स्थान ( मोचे होने ) और आसन ( बैठने ) के विहार  
से वा योगाभ्यास करते हुए दिन विनाये ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।

आर्द्रघासास्तु हेमन्ते शकःवा यावि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

किंच, ‘श्वर्तुं सवसरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त’ इति द्वादशत्यु ग्रीष्मे चैमाद्दि  
गातचतुष्टये चतस्रसु द्विषु चात्वारोऽप्ययः उपरिष्ठादादस्य स्वपथ पञ्चानामग्नीना  
मध्ये तिष्ठेत् । तथा वर्षासु श्रावणादिमासचतुष्टये स्थण्डिलेशय वर्षाभारा  
विनिवारणविरहिणि भूतले निवसेत् । हेमन्ते मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये क्लिन्न  
वासो वसीत । पृथ्विधतपश्चरणे असमर्थः स्वशक्ययनुरूप वा तपश्चरेत् ।  
यदा शरीरशोषस्तथा मतेत—‘तपश्चरक्षोप्रतर शोषपेहेतुमासनः’ ( १।१४ )  
इति मनुस्मरणात् ॥ ५२ ॥

भाषा—ग्रीष्म ऋतु में पचाग्नि के बीच बैठे, वर्षा ऋतु में भीगी हुई  
भूमि पर सोचे, हेमन्त ऋतु में भीले घस पहन कर रहे अथवा अपनी शक्ति  
के अनुसार तपस्या करे ॥ ५२ ॥

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।

अनुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥

पृथिवीसु स्वपेद्रात्री दिवस म । २. चन्दनैर्वा विधि ।

किंच, य कञ्चित्कण्टकादिभिर्विधिमहानि तुदन्ति स्वययति तस्मै न  
 क्रुष्येत् । यश्चन्दनादिभिरुष्णित्पति सुखयति तस्य न परितुष्येत् । किंतु  
 तयोरुभयोरपि सम स्यादुदासीनो भवेत् ॥ ५३ ॥

भाषा—जो काटा चुमाता हो और जो चन्दन का लेप करता हो उन  
 पर क्रमशः न क्रुद्ध होवे और न प्रसन्न होवे । इन दोनों पर ही समान दृष्टि  
 कोण रख ( अर्थात् उदासीन होकर रहे ) ॥ ५३ ॥

अग्निपरिचर्यासम प्रत्याह—

अग्नीभ्याप्यारमसात्कृत्वा घृक्षायासो मितज्ञान ।

घानप्रस्थगृहेष्वेष यानार्थं भैक्षमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्नानामग्नि समारोप्य घृक्षायासो घृक्ष एव आवास कुटी पश्य स  
 तयोक्त । मितज्ञान स्वल्पपाहार । 'अपि'शब्दात्कलमूलाज्ञानश्च भवत् ।  
 यथाह मनु ( ६।३५ )—अग्नीनामग्नि यैतानामसमारोप्य यथाविधि । अमग्नि-  
 निकेतं स्यान्मुनिमूलकलाज्ञान ॥ इति । मुनिर्मानवमनुक्त । कलमूलासभवे च  
 पाषण्डप्रमाणधारण भवति तावन्मात्र भैक्ष दानप्रस्थगृहेष्वचरेत् ॥ ५४ ॥

भाषा—अग्निशो का अपनी आत्मा में ही समारोप करके, घृक्ष को ही  
 आवास बनाकर ( अर्थात् घृक्ष के नीचे ही निवास करते हुए ) भक्षणा  
 हारी होकर और जीवन यात्रा भर के लिये ही अन्न दानप्रस्थों के घर से  
 मागे ॥ ५४ ॥

यदा तु तदसमथो स्वाभ्यभिभवो वा तदा किं कार्यमित्यत आह—

प्रासादाहृत्य वा प्रासानष्टो भुञ्जीत वाग्यत ।

प्रासादाद् भैक्षमाहृत्य वाग्यतो मौना भूत्वा अष्टौ प्रासा भुञ्जीत । प्राग्य-  
 भैक्षविधाना-मु-पन्नानियमोऽर्थात्सुत । यदा पुनरष्टभिर्प्रासैः प्राणधारण न सम्भवति  
 तदा 'अष्टौ प्रासा मुनेर्भैक्ष वाचप्रस्थस्य वोक्तसे'ति श्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥—

भाषा—अथवा गाँव से अन्न लाकर मौन होकर केवल आठ प्रास  
 ( कौर ) खावे ।

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह—

वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽवर्त्मसंक्षयात् ॥ ५५ ॥

अथवा, -वायुरेव भक्षो यस्वासी वायुभक्षः प्रागुदीचीमैशानीं दिश  
 गच्छेत् । आ वर्त्मसंक्षयात् वर्त्मं वपुस्तस्य निपातपर्यन्तमकुण्डिततिर-  
 ष्येत् । यथाह मनु ( ६।३१ )—'अपराजिता वास्वाय गच्छेद्विशममिदम'  
 इति । महाप्रस्थानेऽप्यशक्ती भृगुपतनादिक वा कुर्यात् 'वाचप्रस्थो वीराध्वान

उपलनाम्नुप्रवेशनं ऋगुपतनं चानुतिष्ठेत्' इति स्मरणात् । घानाचमनादिधर्मं  
 ब्रह्मचारिप्रकरणाद्यभिहिताद्याः त्रिरोधिनोऽस्यापि भवन्ति; 'उत्तरेषां चैतद्विरोधि'  
 इति गीतमस्मरणात् । धवं पागुदितैन्दवादिदीद्यामहाप्रस्थानपर्यन्तं तनुरयागा-  
 न्तमनुतिष्ठन्मदलोके पृथ्वतां प्राप्नोति । यथाह मनुः ( ६।३२ )—'आसां मह-  
 र्पिचर्याणां स्वस्वस्वतमथा तनुम् । धोतनोकमयो त्रिमो मदलोके महीयते ॥'  
 इति । ब्रह्मलोकः स्वानविरोधो ननु नित्यं ब्रह्म । तत्र 'लोक'शब्दस्याप्रयोगात् ।  
 तुरीयाधर्ममन्तरेण सुभाष्यब्रह्मोकारात् । न च 'योथाप्वासेन या पुनः' (प्रा० ५३)  
 इति ब्रह्मोपासनविषयानुपपत्त्या तद्भावापत्तिः परित्यज्यनीया । साहोभ्याद्विप्राप्यर्ष-  
 स्येमापि तदुपपत्तेः । अत एव श्रुतौ 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्युपक्रम्य 'दशोऽध्वयनं  
 दानमिति प्रथमः, नप एवेति द्वितीयः, ब्रह्मचर्याचार्यकुलप्राप्ती तृतीयः । अथन्त-  
 भाचार्यकुल एवमात्मानमवसाद्यन्निति गार्हस्थ्यवानप्रस्थमैष्टिकस्वस्वरूपमभि-  
 धाय सर्वं एते पुण्यलोका भवन्तीति आवाणामाश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिमभिधाय  
 ब्रह्मसंस्थोऽमृत्युस्येति' इति चारिदोष्यापरिधाजकस्यैव ब्रह्मचर्यस्य मुक्तिवृत्त्या-  
 मृतत्वप्राप्तिरभिहिता । यदपि 'ब्राह्महृत्स्वस्यादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते' इति  
 गृहस्थस्यापि मोक्षप्रतिपादनं तद्भवान्तरानुभूतपारिमर्श्यस्येत्यवगन्तव्यम् ॥५५॥

भाषा—अथवा वायु का भक्षण करने हुए (उपवास करते हुए) ईशान दिशा की ओर तब तक चलता जाये जब तक शरीर पात नहीं हो जाता ॥ ५५ ॥

इति धानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ।

### अथ यतिधर्मप्रकरणम् ४

वैद्वान्तमकर्माननुकम्प्य क्रमवाद्याम्परिवाजकधर्मसोप्रतं प्रस्तौति—

चनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदलक्षिणाम् ।

प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीवारोप्य चारमनि ॥ ५६ ॥

अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानघ्नदोऽग्निमान् ।

शकत्या च यक्षकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ ५७ ॥

यावता कालेन सार्वत्रय शोषितवपुषो विपयक्यावपरिपाको भवति  
 पुनश्च मदोन्नपात्तद्वा नोद्धान्धते तावत्कालं धनवासं कृत्वा त समतन्तरं मोक्षे  
 मनः कुर्यात् । 'वन गृह'शब्दान्यां तस्सवन्ध्याघ्नमो लक्ष्यते । 'मोक्ष'शब्देन च  
 मोक्षैकफलकत्रुपर्थायम् ॥ अथवा, गृहाद् गार्हस्थ्यदानन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् ।  
 अनेन च पूर्वोक्तशतुराधर्मसमुच्चयपक्षे पालिक इति धोतयति । तथा



च विक्रवो जाबालश्रुतौ ध्रुवते—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रजजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रजजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति । तथा 'गार्हस्थ्योत्तराश्रमसाधश्च गौतमेन दर्शितः ( ३।३६ )—'देकाश्रम्यं स्वाचार्याः प्रत्येकविधःनाद्गार्हस्थ्यस्य' इति । एतेषां च समुच्चयविकल्पसाधपञ्चानां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वादिष्वप्यत्र विकल्पः । अतो यत्कैश्चिद्विहितंमन्यैरुक्तम्—'स्मार्तस्वान्नेष्टिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन धीतेन साधः गार्हस्थ्यानधिष्ठताभ्यवहारीयादिविषयता चा' इति तत्संवाधायाद्ययमन्यैर्धुर्धनि-यन्धनमित्युपेक्षणीयम् । किञ्च,—यथा विष्णुकर्मणाज्यावेक्षणाराज्यमतया पंगवादीनां धीतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तेष्वप्युद्गुम्माहरणमिच्छाचर्वादिष्वचमत्वारकथं पंगवादि-विषयतया नैष्टिकत्वाद्याश्रमनिर्वाहः अस्मिन्नाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः । मनुः ( ६।१५ )—'भारमन्यम्रोन्ममारोप्य ब्राह्मणः प्रजजेद् गृहात् ।' तथा ( ६।१७ )—'एव घोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकारमतिपादनात् । 'ब्राह्मणाः प्रजजन्ति' इति श्रुतेः ब्राह्मणमन्य एवा-धिकारः, न द्विजातिमात्रस्य । अग्रे तु त्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् 'प्रधानां वर्णानां वेदमधीत्य आचार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनस्य द्विजातिमात्रस्याधि-कारमाहुः ॥ यदा च वनाद् गृहाद्वा प्रजजति तदा सार्थवेदस्य चिगां सार्वदेव्यै सर्ववेदसंबन्धिनी वृत्तिना यस्याः सा तद्योक्तं तं प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदन्ते तापवैतानानघ्नीनारमनि श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य 'च' एतदात् 'उदगयने वीर्णमास्यो पुरश्चरणमादौ कृत्वा श्रुदेत कायेनाष्टौ ध्यात्वानि निर्वपेत् द्वादश वा' इति बौधायनापुक्त पुरश्चरणादिकं च कृत्वा तथाऽधीतवेक्षे जप-हायगो जातपुत्रा दोनाभ्यहृषणापिताथो यथाशरयास्तदश्च भूत्वाऽनाहिता-प्रिर्वेष्टावादिना प्रतिबन्धाभावे कृताधानो निव्यनैमित्तिकाप्यज्ञानकृत्वा मोक्षे मनः कुर्यात्—चतुर्धाश्रम प्रविशेत्तान्यथा । अनेनानपाकृन्तनस्य सृष्टरस्य प्रमथ्यायामधिकारं दर्शयति ॥ यथाह मनुः ( ६।३५ )—'श्रजानि व्रीष्य-पाकृष्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृष्य मोक्षं सेवमानो भ्रतः यथः ॥' इति ॥ यदा तु ब्रह्मचर्याश्रमजनि तदा न प्रजोत्पादनादिनिषयः, अहृन्दास्य-रिप्रहस्य तत्रानधिकारान् रागप्रयुक्तत्वाच्च विनाहरस्य । नच श्रमत्रयावाकरण-विधिरेव दारानाचिपतीति दाहनीयम् । त्रिषाधनाऽननिषयमवदम्यप्रयुक्तदार-संभवे तस्यानाशेषकत्वात् । ननु 'जायमानो वै ब्रह्मण्यिभिर्शर्मथाऽपते प्रह्वचर्षेणपिंम्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति जातमात्रस्यैव प्रजोत्पाद-नादीन्यावरणकानीति दर्शयति । मैवम् ; यदि जातमात्रः अहृन्दास्यरिप्रहो

यज्ञादिव्यधिक्रियते सरमाधिकारी जायमानो ब्राह्मणादिर्षशादीननुतिष्ठेदिति  
सत्यार्थं । ,अतश्चोपनीतस्य वेदाभ्ययनमेवाधरयश्चम् । कृन्दारान्निपरिमहस्य  
प्रजोत्पादनमपीति निरवघाय ॥ ५६-५७ ॥

भाषा— वाचमस्य अधवा गृहस्थाधम के उपरान्तसम्पूर्ण वेद से सपद  
दक्षिणा वाली प्रजापति देवता की इष्टि करके और उसके अन्त में उर्ध्वी  
अग्निथो का अपने आत्मा में समारोप करके, वेदों का अध्ययन करके, उप  
परायण होकर, पुत्रवान् होने पर, ( दीन दु रियों को ) यथाशक्ति अन्न  
देकर, अग्नि में होम और शक्ति के अनुसार यज्ञ करके मोक्षप्राप्ति की  
( रुक्मपर्वक ) इच्छा करे, अन्यथा ( ऐसा न होने पर ) मोक्ष की इच्छा  
न करे ॥ ५६-५७ ॥

एवमधिकारिण निरूप्य सद्धर्मानाह—

सर्वभूतहितः शान्तरिदण्डी सकमण्डलु ।

एकाराम परिग्रय्य मिश्रार्थी ग्राममाधयेत् ॥ ५८ ॥

सर्वभूतेभ्य मिवाभियकारिभ्यो हित उदासीनो, न पुनर्हिताचरण । 'हिंसा  
नुग्रहयोरनारम्भी' ( ३।१४, २५ ) इति शौतमस्मरणात् । 'दान्तो याद्दान्त-  
करणोपरत, तयो दण्डा अस्य सन्तीति त्रिदण्डी । ते च दण्डा यैणवा प्राद्या ।  
'प्राचापत्यैष्टयन-तर त्री-त्रैणवान्दण्डा-मूर्ध्वमाणा दक्षिणेन पाणिना धारयेत्सद्येन  
सोदक कमण्डलुम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । एक वा दण्ड धारयेत् 'एकदण्डी  
त्रिदण्डी वा' ( ३।१०।४० ) इति शौचायनस्मरणात् । 'चतुर्थमाधम गण्ठेद् ॥  
द्विघापरायण । एकदण्डी त्रिदण्डी वा सर्वसगविवर्जित ॥' इति चतुर्वि-  
ंशतिसते दर्शनात् । तथा शिखाधारणमपि वैकल्पिकम् । 'मुण्ड शिखी वा'  
( ३।२२ ) इति शौतमस्मरणात् । 'मुण्डोऽममोऽङ्गोऽपरिमह' ( १।५६ )  
इति वसिष्ठस्मरणात् । तथा यज्ञोपवीतधारणमपि वैकल्पिकमेव । 'सक्षिपा-के-  
दाक्षिण्य विस्तृज्य यज्ञोपवीतम्' इति काठकश्रुतिदर्शनात्—'कुटुम्ब पुत्रधाराश्च  
वेदाङ्गानि च सर्वशः । वेशा-यज्ञोपवीत च स्वयरा गृहश्वरे-मुनि ॥' इति  
वाल्किलस्मरणात् । अथ यज्ञोपवीतमण्डु जुहोति भू स्वाहति अथ दण्डमाधत्ते  
सपे मा गोपाय' इति परिशिष्टदर्शनात् । यथशक्तिस्तदा कन्यापि प्राद्या ।  
'कापायी मुण्डसिदण्डी सकमण्डलुपवित्रपादुकासनकन्यामात्र' इति देवळ-  
स्मरणात् । शौचार्यं कमण्डलुमहितश्च भवेत् । एकाराम प्रयजितान्तरेणा  
सहाय स-वासिनीभि स्त्रीभिश्च । 'स्त्रीणां चैकं' इति शौचायनेन स्त्रीणामपि  
प्रमज्यास्मरणात् । तथा च दण्ड — 'एको भिष्ठुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुन स्मृतम् ।

१ शान्त करणोपरत । २. मनोपरिमह ।

अथो ग्राम समाख्यात ऊर्ध्वं ॥ नगरायते ॥ राजवार्तादि तेषां तु भिद्यावार्ता  
परस्परम् । अथि पैशुन्यमात्सर्ग्यं सन्निकर्षाच्च सशष ॥' इति । 'परिव्रज्य  
परिपूर्वो व्रजतिरस्यागे वर्तते । अतश्चाहममाभिमानं तत्कृतं च लौकिकं कर्म  
निघय वैदिकं च नित्यकाम्यात्मकं सायजेत् । तदुक्तं मनुना ( १२।८८, ८९,  
९२ ) 'सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं  
कर्म वैदिकम् ॥ इह वासुत्रं वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं  
तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने  
शान्ते च स्याद्देवाभ्यासे च यत्नवान् ॥' इति । अत्र वेदाभ्यासं प्रणवाभ्यासरतत्र  
यत्नवान् । भिद्याप्रयोजनार्थं ग्राममाश्रयत् प्रविशेत्, न पुन सुप्रनिवासार्थम् ।  
वर्षाकाले तु न दोषः, 'ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकरयानवासी' इति  
शाङ्खस्मरणात् । अद्यात्तौ पुनर्मासचतुष्टयपर्यन्तमपि स्यात्तस्य न चिरमेकत्र  
वसेदन्यत्र वर्षाकालात्, 'धावणादवश्चत्वारो मासा वर्षाकालः' इति देवल  
स्मरणात् ।—'एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम् । वर्षाभ्योऽयत्र वर्षासु  
मासांस्तु चतुरो वसेत् ॥' इति काण्वस्मरणात् ॥ ५८ ॥

भाषा—प्रिय और अप्रिय सनी जीवों के प्रति उदासीन होकर शान्त  
( बाह्य एवं अन्तःकरण के जोग से रहित ) होकर, तीन वर्ष और कमण्डलु  
धारण करके, सबसे अलग अकेले रहकर, सबका ( अहंकार आदि  
दोष एवं लौकिककर्म का ) त्याग करके केवल भिद्या के लिये गाँव में निवास  
करे ॥ ५८ ॥

अथ भिद्यातनं कार्यमित्यत आह—

अप्रमत्तश्चरेद्भिक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षित ।

रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुप ॥ ५९ ॥

अप्रमत्तो वाक्चक्षुरादिषापलरहितो भैष चरेत् । वसिष्ठेनात्र विशेषो दर्शितः  
( १०।७ ) 'सहागाराण्यसकृषितानि चरेद्भिक्षम्' इति । सायाह्ने भक्ष्यं पचने  
भागे । तथा च मनु ( ६।५६ )—'त्रिपूमे सन्नमुसले भ्यहारे भुक्तवजने ।  
वृत्ते शरावसपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत् ॥' इति । तथा—'एककालं चरेद्भिक्षां  
प्रसज्ये-न ॥ विरतरे । भैषे प्रसक्तो हि यनिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ( ६।५५ )  
इति । अनभिलक्षितं ज्योतिर्विज्ञानोपदेशादिना अपिहितं । मनु ( ६।५० )—  
'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नचश्चाङ्गविद्यया । नासुदासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत्  
कहचिद् ॥' इति तेनोक्तत्वादिति ॥ यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—'जाह्नणकुले वा

यज्ञभेत्तुञ्जीत सायंप्रातर्मानवज्यम्' इति,—तदनाक्तविषयम् । भिक्षुकैर्भिक्षण-  
दीलैः पाषण्डकादिभिर्वर्जिते प्राप्ते । मनुनात्र विशेष उक्तः (६।५१)—'न ताप-  
सैर्ब्राह्मणैर्वा उषोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैरभ्यैरगारमुपसंभजेत् ॥'  
इति । याचना प्राणयाथा वर्तते तावन्मात्र मैर्षं चरेत् । तथा च संवर्त—'अष्टौ  
भिक्षां समादाय मुनिः सप्त च पञ्च वा । अद्भि प्रचाश्य ताः सर्वास्ततोऽ-  
श्नीयाद्य चाप्यतः ॥' इति । अलोलुपो मिष्टान्नव्यञ्जनादिव्यप्रसक्तः ॥ ५९ ॥

भाषा—प्रसादरहित होकर ( बाणी, नेत्र आदि इन्द्रियों की चरलता छोड़कर ), उषीतिप शास्त्र आदि द्वारा विचार न करके, सायंकाल में, तिस गांव में शान्य भिक्षुक न हो' उस गांव में लोभरहित होकर केवल जीवन खटाने भर के लिए पचास भिक्षा ग्रहण करे ॥ ५९ ॥

भिक्षाचरणार्थं पात्रमाह—

यतिपात्राणि शृङ्गेणुदार्वलायुमयानि च ।

सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालेष्वायर्षणम् ॥ ६० ॥

शुद्धादिप्रकृतिकानि यतीनां पात्राणि अवेयुः । तेषां सलिलं गोवालावर्षणं च शुद्धिपापनम् । इयं च शुद्धिर्भिक्षाचरणादियोगाद्भूता, नामेभ्याद्युपवृत्ति-  
विषया । तदुपघाते द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्ता द्रष्टव्या अत एव मनुना (६।५३)—  
'अतैजसानि पात्राणि तस्य शुद्धिर्भ्रणानि च । तेषामद्भि शृङ्गत शौचं चमत्सना-  
मिवाचरे ॥' इति । चमत्सष्टान्तोपादानेन प्रायोगिकी शुद्धिर्दर्शिता । पात्रान्त-  
राभाषे भोजनमपि तत्रैव कार्यम् ; 'तत्रैवम गृहीत्वैकान्ते वेन पात्रेणान्वेन वा  
सूष्णीं प्राणमात्र मुञ्जीते'ति देवलस्मरणात् ॥ ६० ॥

भाषा—मिट्टी, घाँस, काठ और अलायु ( लीजी ) के बने हुए लम्बा-  
सियो' के पात्रों' की शुद्धि जल से और गोवाल द्वारा मलने से होती है ॥ ६० ॥

एवभूतस्य यतेराभोषासनाङ्गं नियमविक्षेपमाह—

संनिरुद्धयेन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च ।

भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः ॥ ६१ ॥

चक्षुरादीन्द्रियसमूह रूपादिविषयेभ्यः सम्यङ्गिरुष्य विनिवर्त्यं रागद्वेषौ  
प्रियाप्रियविषयौ प्रहाय त्यक्त्वा 'च' शब्दादोष्वादीनपि, तथा भूतानामपकारेण  
भयमकुर्वन् शुद्धान्त-करणः भद्रद्वैतासाक्षात्कारेणामृतीभवति मुक्तो भवति ॥

भाषा—इन्द्रियों को सम्यक् रूप से अपने यज्ञ में करके ( विषयों से मोड़कर ), तथा राग और द्वेष का त्याग करके, प्राणियों को अपकार द्वारा

१. भिक्षाहरणप्रयोग । २ विहाय । ३. अपकारणेन ।

अथ न उपपन्न करते हुए ( अद्वैत के साक्षात्कार से ) मुक्त हो जाता है ॥ ६१ ॥

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु मिथुकेण विशेषतः ।

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्यात्तन्म्यकरणाय च ॥ ६२ ॥

किं च, विषयाभिलाषद्वेषननितदोषरुलुपितस्याशयस्यान्त करणस्य शुद्धि फलमपत्तय. प्राणायामै कर्तव्या तस्या शुद्धेरात्माद्वैतसाक्षात्काररूपज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् । एव च सति विषयासक्तितज्जनितदोषात्मकप्रतिय-धत्तये सत्वात्मभयानधारणादौ स्वतन्त्रो भवति । तस्माद्मिथुकेण त्वेषा शुद्धिर्विशेष-पतोऽनुष्ठेया, तस्य मोक्षप्रधानत्वात् । मोक्षस्य च शुद्धागत करणतामन्तरेण दुर्लभत्वात् । यथाह मनु ( १।७।१ )—‘दृष्टान्ते प्मायमानानां धातूनां हि यथा मला । तथेन्द्रियाणां दृष्टान्ते दोष प्राणस्य निग्रहात् ॥’ इति ॥ ६२ ॥

भाषा—सन्ध्यासी को विशेषतया अन्त करण की शुद्धि ( प्राणायाम द्वारा ) करनी चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान उपपन्न करने वाली और ( आत्मभयान एव धारणा भावि में ) स्वतन्त्र बनाने वाली होती है ॥ ६२ ॥

इन्द्रियनिरोधोपायतया सत्सारस्वरूपनिरूपणमाह—

अपेक्षया गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा ।

आधयो व्याधय फलेशा जरा रूपविपर्यय ॥ ६३ ॥

भवो जातिसदृशेषु प्रियाप्रियविपर्यय ।

पैराग्यसिद्धयर्थं मूलप्रुरीपादिपूर्णानामिधगर्भवासा अवेक्षणीया पर्यालोच-  
नाया । ‘ष’शब्दाज्जनोपरमावपि तथा निषिद्धाचरणादिक्रियाजन्या महारौर-  
वादिनिरपपत्तरूपा गतय । तथा आधयो मृग पोषा, व्याधयश्च उपरातीता  
राया शारीरा, फलेशा अविद्यादिमतारागद्वेषाभिनिवेशा पक्ष, जरा वलीपलि-  
ताद्यभिभव रूपविपर्यय स्रक्कुड्मलादिना प्राक्तनस्य रूपस्यान्यथाभाव तथा  
असूकरपरीणाद्यनेकजातिषु भव उपपत्ति । तथा ‘दृष्टस्याप्राप्ति अनिष्टस्य  
प्राप्ति’ ( योगसू० १-२ ) इत्यादिवहुतरक्लेशावह सत्सारस्वरूप पर्यालोच्य  
सत्परिहारार्थमात्मज्ञानोपायभूतेन्द्रियजये प्रयतेत ॥ ६३ ॥

भाषा—गर्भवाम ( के कष्टों ) पूर्व ( निषिद्ध ) कर्म के करने से उपपन्न होने वाली गतियों ( महारौरव नरक आदि ), मानसिक कष्टों, शारीरिक रोगों, घृदायस्था, रूप के ( लगवा, कुबवा आदि होने से ) विपर्यये, पुत्र एव गर्भे जीवों की जाति में अन्म, दृष्ट की अप्राप्ति एव अनिष्ट की प्राप्ति का विचार करना चाहिए ॥ ६३ ॥

पुत्रमवेक्ष्यानन्तरं किं कार्यमिष्यत आह—

ध्यानयोगेन 'संपश्येत्सूक्ष्म आरमात्मनि स्थितिः ॥ ६४ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, आरमैकाग्रता ध्यानं, तस्या एव ध्याद्यविवक्षादोपरमः ध्यानयोगेन निदिध्यासितापरपर्यायेण सूक्ष्मशरीरग्राणादिव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञ आरमा आत्मनि ग्रहणव्यवस्थितः इत्येवं तत्त्वं पदार्थयोगरभेदं सम्यक् पश्येदपरोक्षीकुर्वात् । अत एव धृतौ ( वृ० उ० ५।४।५ ) 'आरमा वाऽरे द्रष्टव्यः' इति साक्षात्काररूपं दर्शनमनूय तास्तावनस्त्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( वृ० ५।४।५ ) इति ध्रुवणमनननिदिध्यासनानि विहितानि ॥ ६४ ॥

भाषा—और ध्यान ( चित्त की एकाग्रता ) और ध्यान ( चित्तवृत्ति के निरोध ) से आत्मा को ग्रह में स्थित देखे ॥ ६४ ॥

नाश्रमः कारणं धर्मं क्रियमाणो भवेद्धि सः ।

अतो यदात्मनोऽपश्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

किंच, प्राक्तनश्लोकोक्तात्मोपासन कये धर्मं नाश्रमो दण्डकगण्डवनाधिधारणं कारणम् । यस्मात्सौ क्रियमाणो भवेदेव नातिबुद्धः । तस्माद्यदात्मनोऽपश्य-मुद्वेगकरं परुषभाषणादि तत्परेषां न समाचरेत् । अनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूताऽन्तःकरणवृद्धपापादनत्वेनान्तरङ्गवाद्भागद्वेषग्रहाणस्य प्रधानत्वेन प्रसंसार्यमाश्रम-निराकरणं न पुनस्तत्परिस्थागाम तस्यापि विहितमिह । तदुक्तं मनुना ( १।६६ )—'दूषितोऽपि चोद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन् । समः सर्वेषु भूनेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥' इति ॥ ६५ ॥

भाषा—किसी धर्म के आचरण में कोई विशेष आश्रम कारण नहीं है, वह तो काने से होता है । इतलिय अपने को जो न कचे ( उद्वेग कर लगे ) वह दूसरों के लिए नहीं करमा चाहिये ॥ ६५ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्यौ शौचं धीर्धृतिर्व्रमः ।

संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्वे उदाहृतः ॥ ६६ ॥

किंच, सत्यं यथार्थप्रियवचनम्, अस्तेयं परद्रव्यानपहाराः, अक्रोधोऽप-कारिव्यपि क्रोधस्यानुत्पादनम्, ह्यौर्ध्वा शौचमाहारादिशुद्धिः, धीर्हिताहित-त्रिवेकः, एनिरिष्टवियोगेऽनिष्टगणौ प्रपठितचित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम्, दमो मद्रपागाः, संयतेन्द्रियता अप्रतिपिद्वैत्वविषयेष्वनतिसङ्घः, विद्या आरमज्ञानम्, एतैः मत्वादिभिर्ननुष्ठितैः सर्वो धर्मोऽनुष्ठितो भवति । अनेन दण्डकगण्डवनाधि-धारणवादादपगतम् ( वृ० उ० ४।५।६ ) सत्याधीनामारमगुणानामन्तरङ्गतां चोत्तयति ॥ ६६ ॥

भाषा—सत्य, अस्तेय, अक्रोध, अज्जा, विवेक, धैर्य (दुःख में विचलित न होना), दम (मदस्याग) इन्द्रियो का समय, और विद्या—ये सभी धर्म कहे गये हैं ॥ ६६ ॥

ननु ध्यानयोगेनात्मनि स्थितमात्मान पर्येदिश्युक्तम्, जीवपरमात्मनोर्भेदा भावाद्भयत आह—

नि सरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तास्फुलिङ्गकाः ।

सकृदादात्मनस्तद्वदात्मान प्रभवन्ति हि ॥ ६७ ॥

यद्यपि जीवपरमात्मनो. परमार्थिको भेदो नास्ति तथाप्यात्मन सकृदाद् विद्योपाधिभेदमिग्नतया जीवात्मानं प्रभवन्ति हि यस्मात् तस्माद्युक्त एव जीवपरमात्मनोर्भेदव्यपदेश । यथा हि तस्मान्नोहपिण्डाद्दोमोलकाद्द्विस्फुलिङ्गका एतेनोवयथा नि सरन्ति मि सृताश्च स्फुलिङ्गव्यपदेश कर्मन्ते तद्वत् । अत उपपन्न आत्मात्मनि स्थितो द्रष्टव्य इति । यद्वाऽयमर्थ—ननु सुषुप्तिसमये प्रलये च सकलचेतना प्रज्ञाणि प्रलीनत्वात्कस्यायमात्मोपावनाविधिरित्यत आह—नि-सरन्तीत्यादि । यद्यपि सूक्ष्मरूपेण प्रलयवेलाया प्रलीनत्वात्तथाप्यात्मन सकृदाद्विद्योपाधिभेदमिग्नतया जीवात्मानं प्रभवन्ति, पुन कर्मवशात्स्थूलशरीरा-भिमानीनो जायन्ते, तस्मान्नोपासनाविधिबिरोध, तैजसस्य प्रथमभावसाग्याहोह-पिण्डवद्वदन्त ॥ ६७ ॥

भाषा—जिस प्रकार तपावे गये लोहे के पिण्ड से धिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (प्रज्ञ) से अनेक आत्मा (जीवात्मा) उत्पन्न होते हैं ॥ ६७ ॥

ननु चानुपात्त-पुत्रां चेतनाया निष्परिस्पन्दतया च तन्निबन्धनो जरायु जाण्डजादिषुविधवेहपरिमह इत्यत आह—

तत्रारमा हि स्थयं किञ्चित्कर्म किञ्चित्स्वभायतः ।

करोति किञ्चिद्भ्यासाद्धर्माधर्मोभयारमकम् ॥ ६८ ॥

यद्यपि तस्यामवस्थाया परिस्पन्दारमकक्रियाभावस्तथापि धर्माधर्मविवेक साध्यात्मक कर्म मानसं भवत्येव । तस्य च विशिष्टशरीरग्रहणहेतुत्वमस्त्येव, 'वाचित् पक्षिमृगतां मानसैरन्वजातिताम्' ( १२।९ ) इति अनुस्मरणात् । एव सृष्टीतत्त्वपु स्वयमेवान्वयव्यतिरेकनिर्पेक्ष, स्तन्यपानादिके कृते सृष्टिर्भवत्यकृते न भवतीत्येवरूपी यावन्वयव्यतिरेको तत्र निरपेक्ष प्राप्तवतीयानुभवभावितभाव नानुभावोद्भूतकार्यावबोध किञ्चित्स्तन्यपानादिकु करोति, किञ्चित्स्वभावतो यद-सृष्ट्या प्रयोजनाभिसन्धिनिर्पेक्ष विधीलिकादिमक्षण करोति किञ्चिद्द्वान्तराभावा-

वशाद्धर्माधर्मोभयरूपं कर्ताति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'प्रतिजन्म यदभ्यस्त  
दानमभ्ययनं तप । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यसते पुनः ॥' इति ॥ एव  
जीवानी कर्मवैचित्र्यात्कृतं जरायुजादिदेहवैचित्र्यं युज्यत एव ॥ ६८ ॥

भाषा—इस दशा में आत्मा धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के कर्म कुछ  
तो स्वयं करता है, कुछ स्वभाव के कारण करता है और कुछ अज्ञान के  
कारण ॥ ६८ ॥

न-वेव सति ग्राहणं च कथञ्चिज्जीवन्मृत्युपदेश्यत्वात्तस्य च मिथ्यात्वादिधर्म  
रक्षाकथं विष्णुमित्रो जात इति व्यवहार इत्यानङ्गवाह—

निमित्तमक्षरं कर्ता बोद्धा ब्रह्म गुणी वशी ।

अजं शरीरग्रहणारसं जात इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

सत्यमात्मा सकलजगत्प्रपञ्चाविर्भावोविद्यात्मत्वावेतन्नद्वारममत्रात्पलमत्रापि  
निमित्तमित्येव स्वयमेव त्रिगुणमपि कारणं, न पुनः कार्यकाङ्क्षिनिविष्ट । परमा-  
वृत्तराजविनश्वरः । ननु सत्त्वादिगुणविकारस्य सुखदुःखमोहात्मकस्य कार्यभूते  
जगत्प्रपञ्चे दर्शनात्तद्गुणधरा प्रकृतेरेव जगत्कर्तृत्वोचिता, न पुनर्निर्गुणस्य ब्रह्मणः ।  
सैव मत्स्याः,—आत्मैव कर्ता । परमादसी जीवोपभोग्यसुखदुःखदृष्टभूतादृष्टादे-  
र्षोद्धा । ननुचेतनायाः प्रकृतनार्मरूपस्याकृतविचित्रमात्तुवर्गभोगानुकूलभावे  
भोगायतनादिभोगिभगत्प्रपञ्चस्यना घटते । तस्मादात्मैव कर्ता । तथा न एव  
ब्रह्म हृदको विस्तारय । नचासी निर्गुणः । अतस्तस्य त्रिगुणसत्त्विविद्या  
प्रकृतिप्रधानाद्यपरपर्याया विद्यते । अत एवमो निर्गुणत्वोऽपि शक्तिमुदेन सत्त्वा  
दिगुणयोगी कथ्यत । नचेताना प्रकृते कारणता, परमादात्मैव वशी स्वतः न  
न प्रकृतिर्नाम स्वतन्त्रतया-तर, तादृशिवधत्वे प्रमाणाभावात् । नच वचनाय  
शक्तिरूपापि सैव कर्तृभूतेति । यतः शक्तिप्रकारकं न शक्तिः, तस्मादात्मैव  
जगत्सिद्धिधर्मपि कारणम् । तथा अजं तत्पत्तिरहितं । अतस्तस्य यद्यपि  
साक्षात्जननमोपपद्यते तथापि शरीरग्रहणमात्रेण जात इत्युच्यते अवस्था-तर  
योगितयोत्पत्तेर्मुद्देशो जात इतिवत् ॥ ६९ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा ( सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का ) निमित्त है भविनाशी  
है कर्ता है, जानने वाला ( सुख दुःख आदि का अनुभव करने वाला ), प्रकृ-  
ति, गुणी, वशी ( स्वतन्त्र ) और अजन्मा है तथापि शरीर ग्रहण करने पर कहा  
जाता है कि आत्मा का जन्म हुआ है ॥ ६९ ॥

शरीरग्रहणप्रकारमाह—

सर्गादौ च यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।

सृजत्येकोत्तरगुणास्तथादत्ते भवन्नपि ॥ ७० ॥

१. हेतुपुण्यापुण्यादेर्बोद्धा ।



सृष्टिसमये ॥ परमात्मा यथाकाशादीन् शब्दैरगुण यगज शब्दस्पर्शगुण पवन, शब्दस्पर्शरूपगुण तेज, शब्दस्पर्शरूपरसगुणबहुदुकम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा जगतीश्वेवमेकोत्तरगुणान् सृजति । तथात्मा जीवभावमापन्नो भवन्नुरपद्यतानोऽपि स्वशरीरस्थारम्भकत्वेनापि गृह्णाति ॥ ७० ॥

भाषा—जिम प्रकार सृष्टि के आरम्भ में वह परमात्मा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की क्रमशः एक एक अधिक गुण से युक्त बनाकर रचना करता है उसी प्रकार जीवन बन कर इन सबको धारण भी करता है ॥

एथ शरीरारम्भकत्वं पृथिव्यादीनामित्यत्र आह—

आहुर्याप्यायते सूर्यं सूर्याद् वृष्टिरथौषधि ।  
तदग्नें रसरूपेण शुभ्रत्वमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यजमानै प्रतिष्ठया आहुर्या पुरोडाशादिरसेनाप्यायते सूर्यं । सूर्याच्च काष्ठश्वेन परिपक्वाऽयादिहजारसाद्गृह्णाति । ततो ॥ आथौषधिरूपमसम् । तच्छान् सन्ति सत् रसरूपिणादिमन्त्रेण शुभ्रशोणितभावमापद्यते ॥ ७१ ॥

भाषा—( यजमान की ) आहुतियों से सूर्य पुष्ट होते हैं, सूर्य से पृष्टि होती है और उससे औषधियाँ ( घीह आदि ) उत्पन्न होती हैं उनका भस्म ( याने पर ) रस बनकर अन्त में धीर्य बन जाता है ॥ ७१ ॥

तत्र किमित्यत्र आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ।  
पञ्चधात्स्वयं पृष्ट आदत्ते युगपत्प्रभु ॥ ७२ ॥

श्रुतवेलाया स्त्रीपुंसयोर्वोने शुक्र च शोणित च शुक्रशोणित तस्मिन्परस्पर रसयुक्ते विशुद्धे 'वातविकारश्लेष्मदुष्टप्रतिषेधशीघ्रमृगपुरीषगन्धरेतारस्यधीजानि' इति स्मृत्यन्तरोक्तदापरहिते स्थित्वा पञ्चधात्स्व पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकत्वा स्वयं पृष्टश्चिदातुरात्मा प्रभु शरीरारम्भकारणादृष्टकर्मयोगितया समर्थो युगपदादत्ते योगायतनावन् स्वीकरोति' । तथा च शारीरकं ( सुश्रुत ३।३ )—'स्त्रीपुंसयो संयोगे योनी रजसाभिससृष्ट शुक्र तरुणमेव सह भूतात्मना गुणैश्च सत्वरजस्तमोभि सह वायुना प्रेर्यमाण गर्भासये तिष्ठति' इति ॥

भाषा—स्त्री और पुरुष के संयोग से धीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर इन पाँच तत्वों को छटा प्रभु ( आत्मा ) स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है ॥ ७२ ॥

१ रसबहुदुकम् । २ सूर्यस्तरसाद् वृ । ३ सुपगच्छति ।

४ रम्भकरणे दुष्ट ।

इन्द्रियाणि मन प्राणो ज्ञानमायुः सुप्तं घृतिः ।  
 धारणा प्रेरणं तु प्रमिच्छाहंकार एव च ॥ ७३ ॥  
 प्रयत्न आकृतिर्घर्णः स्वरद्वेषो भवाभवौ ।  
 तस्यैतदात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छत ॥ ७४ ॥

किंच, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, मनसोभयसाधारणम्, प्राणोऽवानो स्थान उदान. समान इत्येष पञ्चवृत्तिभेदमिच्छा शारीरो वायु प्राण, ज्ञानमवगमः, आयुः कालविशेषोपायच्छिद्य जीवनम्, सुप्तं निवृत्ति, घृतिश्चि त्तर्षैर्षम्, धारणा प्रज्ञा मेधा च, प्रेरण ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातावम्, तु लसुद्वेष, इच्छा इच्छा, अहकारोऽहकृति, प्रयत्न उद्यमः, आकृतिराकार, घर्णो गौरिमादि, स्वर पञ्चगव्यान्धारादि, द्वेषो वैरम्, भव पुत्रपञ्चाविधिभय, भववस्तद्विपर्ययः, तस्यानादेरात्मनो निरवस्थादिमिच्छत शरीर जिपृच्छमाणस्य सर्वमेतदिन्द्रियादिकमात्मजनितं प्राप्तमधीयकर्मवीजजन्यमित्यर्थं ॥ ७३-७४ ॥

भाषा—इन्द्रियों, मन, प्राणादि वायु, ज्ञान, आयु, सुप्त, घैर्य, धारणा ( प्रज्ञा, मेधा ) प्रेरण ( ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाताव ) तुल्य, इच्छा, अहकार, प्रयत्न, आकार, घर्ण, स्वर, द्वेष, भव ( पुत्र, पशु आदि की संपत्ति ), भवव ( विघ्नता ) ये सब उस अनादि आत्मा के शरीर धारण की इच्छा करने पर प्राप्त होते हैं ॥ ७३-७४ ॥

सयुक्तशुक्लशोणितस्य कार्यरूपपरिणती क्रममाह—

प्रथमे मासि संक्षेदभूतो धातुविमूर्च्छितः ।  
 मास्यर्धुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युत ॥ ७५ ॥

असौ श्वेतन पद्यो धातुविमूर्च्छितो धातुषु पृथिव्याविषु विमूर्च्छितो लोली-  
 भूत । शरीरतीरवद्वैकीभूत इति यावत् । प्रथमे गर्भमासे संक्षेदभूतो द्रवरूपतां  
 प्राप्त एवावलिष्ठते न कठिनतया परिणमते । द्वितीये मास्यर्धुदमीपराकठिनमां-  
 सपिण्डरूप भवति । अवममिप्राय -कौटुंबपवनजठरदहनान्ध्या प्रतिदिनमीप  
 हीपच्छोभ्यमाण शुक्लसर्पकंसपादितद्रवीभाव भूतजात त्रिशक्तिर्दिने पाठिभ्य  
 मापदान इति । तथा च सुश्रुते (शा ३।१७) - द्विमासे षोडशोष्णानिलैरनिप-  
 प्यमानो भूतसघातो घनो जायते' इति । तृतीये तु मास्यर्धुद्विन्द्रियैश्च मयुक्तो  
 भवति ॥ ७५ ॥

भाषा—यह ( सयुक्त वीर्य और रज अथवा पचभूतों में पद्य धातु के  
 रूप में पदा हुआ आरमा ) गर्भ के पहले मास में द्रव के रूप में रहता

है, दूसरे मास में अर्जुद ( कुछ फटिन मांसपिण्ड ) धनता है, और तीसरे मास में अर्द्धो एव द्विद्वो से युक्त हो जाता है ॥ ७५ ॥

आकाशाह्लाद्यद्यं सौक्ष्म्यं शब्दं श्रोत्रं यत्नादिकम् ।  
 वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां व्यूहनं रीक्ष्यमेव च ॥ ७६ ॥  
 पित्तात्तु दर्शनं पक्तिमौष्यं रूपं प्रकाशिताम् ।  
 रसात्तु रसनं शैत्यं स्नेहं बलेदं समार्दवम् ॥ ७७ ॥  
 भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौर्यं मूर्तिमेव च ।  
 आत्मा गृह्णात्यज सर्वं तुतीये स्पन्दते ततः ॥ ७८ ॥

किंच, 'आत्मा गृह्णाति' इति सर्वत्र सम्भवते । गगनाह्वयमान लहानक्रियोपयोगिताम्, सौक्ष्म्यं सूक्ष्मेष्टित्वम् शब्द विषयम्, श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम्, बल दाह्यम्, 'आदि' ग्रहणारम्भविशेष विविकतां च, 'आकाशाह्लाद्यद्यं श्रोत्रं विविक्ततां सर्वेन्द्रियसमूहाश्च' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्, पवनारस्पर्शेन्द्रियम्, चेष्टां गमना गमनादिकाम्, व्यूहनमङ्गानां विविध प्रसारणम्, रीक्ष्यं कर्कशत्वं, 'च' शब्दारस्पर्शं च, पित्तात्तेजसो दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम्, पक्तिं भुक्तस्याश्रय पचनम्, औष्यमुष्णस्पर्शस्वरूढानाम्, रूपं रयामिकादि, प्रकाशितां आभिप्लुताम्, तथा सतापामर्षादि च, 'कीर्त्तमर्षतैष्यपक्षवीष्यन्न जिष्णुतासतापवर्णरूपेन्द्रियाणि तैजसानि' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्, एव रसादुदकाद्रसनेन्द्रियम्, शैत्यमङ्गानाम्, निरघता गृह्णत्वमहित, बलेदमार्दवताम्, तथा भूमेर्गन्धं घ्राणेन्द्रिय गरिमाण मूर्तिं च । सर्वमेतत्परमार्थतो जन्मरहितोऽप्यारमा तुतीये मासि गृह्णाति । तत्तत्तुर्धे मासि स्पन्दते चळति । तथा च क्षारीरशे- 'तस्मात्तुर्धे नामि चळनादावभिप्राय करोति' इति ॥ ७६ ७८ ॥

भाषा—आकाश से लाघव ( जो लौघने की क्रिया के लिये उपयोगी होता है ), सूक्ष्मता, शब्द, श्रवणेन्द्रिय और बल आदि ग्रहण करता है, वायु से स्पर्शेन्द्रिय, चेष्टा (गमनागमन) अर्गों का फैलाना, कर्कशता, पित्त (तेज) से दृष्टि, पाचनशक्ति, उष्णता, रूप और प्रकाशित करने की शक्ति, रस अर्थात् जल से रसनेन्द्रिय, अर्द्धों की शीतलता, स्निग्धता, शीघ्रापन और कोमलता, पृथिवी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता ( मारीपन ) और आकार—इन सबका जन्मरहित होते हुए भी आत्मा ( गर्भ क ) तीसरे मास में ग्रहण कर लेता है ॥ ७६-७८ ॥

दौर्हृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।  
 वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात्कार्यं प्रियं ह्यिया ॥ ७९ ॥

किंच, गर्भस्यैवं हृदय गर्भिण्याद्यापरमित्येवं द्विहृदया तस्याः स्त्रिया पदमि-  
लपितं तत् 'दोहदं, तस्याप्रदानेन गर्भो विरूपता मरणरूपं वा दोषं  
प्राप्नोति । तस्मात्सद्वेषपरिहारार्थं गर्भपुष्टयर्थं च गर्भिण्या स्त्रियाः यत्प्रियमभि-  
लपितं तत्संपादनीयम् । तथा च सुश्रुते—द्विहृदयां नारीं दोहदिनीमाचक्षते,  
तदभिलपितं दद्यात्, यीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति' इति । तथा च इत्याद्या  
मादिकमपि गर्भग्रहणप्रभृति तथा परिहरणीयम् । 'ततः प्रभृति इत्याद्यामन्वयाया-  
सितर्पणदिवास्वप्नरात्रिज्जागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुक्ष्यासनशोणितमो-  
क्षणानि परिहरेत्' इति तन्मैत्राभिधानात् । 'गर्भग्रहणं च श्रमादिभिर्द्विहृदयगत-  
इवम् । 'सद्यो गृहीतगर्भाया श्रमो ज्ञानि पिपासा 'सन्धिष्यन्तं शुक्रशोणित-  
योर्वैद्यस्य इक्षुरणं च घोने' इत्यादि तत्रैवोक्तम् ॥ ७९ ॥

भाषा—दोहद ( गर्भिणी द्वारा खाही हुई वस्तु ) न देने पर गर्भ में  
क्रूरपता या मरण का दोष भा जाता है, अतएव गर्भिणी स्त्री को जो प्रिय  
लगे उसे अवश्य करना चाहिए ॥ ७९ ॥

इथैर्यं चतुर्थं स्वप्नानां पञ्चमे शोणितोद्भव ।

षष्ठे षष्ठस्य घर्णस्य नद्यरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

किंच, तृतीये मासि प्राहुर्भूतस्याङ्गसङ्घातप चतुर्थं मासि इथैर्यं इथेना भवति ।  
पञ्चमे लोहितस्योद्भव उत्पत्ति । तथा षष्ठे षष्ठस्य घर्णस्य नद्यरोम्णां  
च संभव ॥ ८० ॥

भाषा—तीथे महीने में अङ्गों में स्थिरता आती है, चौथे मास में रुधिर  
की उत्पत्ति होती है और छठे महीने में चल्, रग, वायु एवं रोस भा  
जाते हैं ॥ ८० ॥

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्त्रायुशिरायुतः ।

सप्तमे घाष्टमे चैवं त्वष्ट्यांसंभृतिमानपि ॥ ८१ ॥

किंच, असौ पूर्वोक्तो गर्भ सप्तमे मासि मनसा चेतनया च  
युक्तो नाडीभिर्वाहिनीभि स्त्रायुशिरस्थिवन्धनै शिराभिर्वातवित्तरहेत्सनादिनी-  
भिश्च संयुतः । तथाष्टमे मासि स्वचा मासेन स्त्रया च युक्तो भवति ॥ ८१ ॥

भाषा—यह ( पूर्वोक्त गर्भ ) सातवें मास में मन, चैतन्य, (वायुवाहिनी)  
नाडियों ( अस्थि को बाँधने वाली ) रनायुओं एवं ( वात पित्त श्लेष्मवाहिनी )  
शिराओं से युक्त होता है, तथा आठवें मास में स्वचा, मास और स्मरणशक्ति  
से युक्त होता है ॥ ८१ ॥

१. द्विहृदयाया स्त्रिया । २. दोहदम् । ३. सन्धिष्यन्तं । ४. रजु  
वन्ध । ५. चाऽपि ।

'पुनर्धात्री पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।

अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८२ ॥

किंच, तस्याष्टममासिकस्य गर्भस्थीजः कश्चन गुणविशेषो धात्रीं गर्भं च प्रति पुन पुनरतितर्षा चञ्चलनया द्वाघ्न गच्छति । अतोऽष्टमे मामि जातो गर्भं प्राणैर्वियुज्यते । अनेनौज स्थितिरिव जीवनहेतुरिति दर्शयति ॥ भोज स्वरूपं च स्मृत्यन्तरे दर्शितम्—'इदि तिष्ठति यच्छुद्धर्मापदुष्णं सपीतकम् । भोज, शरीरे सवयात् तसासाक्षात्सृष्टुनि ॥' इति ॥ ८२ ॥

भाषा—भाट महीने क गर्भ का भोज पुन पुनः कभी गर्भ की भोर तो कभी माता की भोर दीघना से जाता है । इसलिये भाटों महीने में डावल होने पर गर्भ से प्राण निकल जाता है ॥ ८२ ॥

नवमे दशमे वापि प्रबलै स्तुतिमायतैः ।

निसार्यते वाण इव यन्त्रच्छिउद्रेण सज्यतः ॥ ८३ ॥

किंच, एव कश्चरणचतुरादित्तिपूर्णाद्रेन्द्रियो नवमे दशमे वापि मासे 'अपि तद्व्याप्राक् सप्तमेऽष्टमे वा आशायामादिशेषवत्प्रबलमूतिहेतुवमजनप्रेरित-स्नायत्रिधिसर्मादिनिर्मितवपुर्द्वयस्य द्विद्रेण सूक्ष्मसुगिरेण सज्यतो हु सहहु वा-मिभूयमानो नि सार्यते धनुर्ध्वजेण सुधशप्रेरितो वाज इवातिवगेन निर्गमस-ममन्तर च बाह्यरजसपृष्ठे नष्टयाचीमसृतिर्भवति । 'जालः स बाधुना एतुष्टो न स्मरति पूर्वं जन्म मरण कर्म च ह्यनाद्यमम्' इति विरुणस्याष्टादशोऽ-भिधानात् ॥ ८३ ॥

भाषा—नवें वा दसवें मास में प्रबल प्रभूति वायु ( प्रसव को प्रेरित करने वाली वायु ) द्वारा गर्भ कुछ उपर के साथ द्विद्र से उल प्रहार बाहर कर दिव जाता है जीव किसी धनुषरुपी यन्त्र से प्रेरित होकर बाण बाहर निकलता है ॥ ८३ ॥

वापश्चरुप विवृण्वप्राह —

तस्य पौंटा शरीराणि षट् स्थंचो धारयन्ति च ।

पट्टहानि तंथाऽऽर्चना च सह पट्टया शनप्रयम् ॥ ८४ ॥

तस्यामनो यानि जरापुत्राण्डजशरीराणि तानि प्रायेकं पट्टपट्टराणि रक्षादिरह्णानुपरिवाचहेतुभूतपट्टशाखानयोगिभेन, तथा द्वि—भङ्गमो जाट-शानिना पट्टयमानो हन्तरी प्रतिपद्यते । रज च ह्यङ्कोत्तरधेराग्निना परधमानं

१. पुनर्गर्भं पुनर्धात्री । २. तवाष्टम । ३. मामि । ४. स्य ।

५. तपारपीनि सह ।

मासत्वम् । मौस च स्वकीजानलपरिपक्व मेदस्त्वम् , मेदोऽपि रजकोशाद्विना  
पक्रमस्थिताम् , अस्त्वपि स्वकोशाद्विपरिपक्व मज्जात्वम् , मज्जापि स्वकोशावा-  
वर्णपरिपक्वमानशरमधातुतया परिणमते । चरमघातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स  
एवात्मनः प्रथम कोश । इत्येव षट्कोशाद्विभोगित्वात् षट्पञ्चरस्य शरीरा-  
णाम् । अक्षरसरूपस्य तु प्रथमघातोरेनियतश्चाज्ञ तेन प्रकारान्तरत्वम् । तानि च  
शरीराणि षट् स्वचो धारयन्ति रश्ममासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यप्यपि  
धातव एव रश्मास्तश्मत्यगिष वाह्याश्वन्तरकूपेण स्थिता रश्मिवास्त्राद्दृष्ट्वा  
स्वचस्ता षट् स्वचो धारयन्ति । तद्विदमायुर्वेदमसिद्धम् । तथाऽपि च पक्षेव  
करयुग्म अरण्युगलमुत्तमाङ्गमात्रमिति । अस्त्वना तु षट्सहित शतत्रयमुपरित-  
नषट्श्लोक्या वक्ष्यमाणमवगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

भाषा—उक्त आत्मा के ( रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र  
इन छ कोषों की अग्नि के योग से ) छ प्रकार के शरीर होते हैं, जो छ  
स्वचाओं, छः अङ्गों ( दो हाथ, दो पैर, मुख और शरीर ) तथा तीन सौ  
साठ अस्थियों को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

स्थालैः सह चतुर्षु पटिर्दन्ता वै विंशतिर्नखः ।

पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किञ्च, स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्पस्थीनि द्वाविंशत् , तै सह द्वाविंश  
हन्ताश्चतुर्षु पटिर्भवन्ति । मला करचरणदहा विंशति , हस्तपादस्थानि शलाका-  
काराण्यस्थीनि मणिवन्धरयोपरिवर्तिनि अङ्गुलिमूलस्थानि विंशतिरेव । तेषा  
नखानां शलाकाश्चत्त च स्थानचतुष्टय द्वौ चरणी करी चेत्यवमारम्भर चतुष्टयं  
शतम् ॥ ८५ ॥

भाषा—दोँत के मूल प्रदेश की अस्थियों को लेकर चौमठ अस्थियों  
दोँतों की, बीस नाखून, बीस हाथ और पैर की शलाका जैसी बीस अस्थियों  
और उनके चार स्थान ( दो हाथ और दो पैर )—॥ ८५ ॥

पृथङ्गुलीनां द्वे पाण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।

अन्वार्थरत्निकास्थीनि जह्वयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किञ्च, विंशतिरङ्गुल्यस्तासं, पृथङ्गुस्थानि त्रीणोत्थेवमङ्गुलिसचदान्य-  
स्थीनि पटिर्भवन्ति । पृथो पश्चिमी भाग्यो वाण्यौ तथोरस्थीनि द्वे पृथङ्गु  
रिम-पादे गुल्फौ द्वावित्येव चतुर्षु गुल्फेषु चान्वार्थस्थीनि, बाह्योररत्निकामाणि  
अन्वार्थस्थीनि, जह्वयोस्तावदेव अन्वार्थेवेत्येव चतुसष्टति ॥ ८६ ॥

भाषा—जंगुलियों की साठ, पद्मी की दो, गुक्फों की चार ( प्रत्येक पैर में दो दो ), भरुनिका की चार और दोनों जंघों की भी उतनी ही अर्थात् चार भरिघर्षा होती हैं—॥ ८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।

अक्षतात्पके थोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच, जङ्घोरुपन्धिर्जङ्घुः, कपोलो रुद्रकः, ऊरुः सन्धि तरफलक, अंसो मुजगिरः, भयः कर्णनेत्रयोर्मध्ये शङ्खादधोभागः, तालूपकं काकुद्, थोणी ककु-  
हनी तरफलक, तथामेकैकप्रस्थीनि द्वे द्वे विनिर्दिशेत्; इत्येवं चतुर्दशस्थीनि भवन्ति ॥ ८७ ॥

भाषा—घुटने, कपोलों, ऊरुकलक ( पट्टे ), कंधा, भय ( कान और आँवों के मध्य का स्थान ), तालूपक और थोणी के फलक में प्रत्येक की दो-  
दो भरिघर्षा—॥ ८७ ॥

भगास्थयेकं तथा पृष्ठे चरवारिशद्य पञ्च च ।

प्रीवा पञ्चदशस्थिः स्याज्जयेकैकं तथा हनुः ॥ ८८ ॥

किंच, गुह्यारस्थेकं पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचरवारिशदस्थीनि भवन्ति । प्रीवा कंधरा, सा पञ्चदशस्थिः स्यात् भवेत् । चर्षोसयोः सन्धिर्जङ्घुः, प्रतिमसन्धि एकैकम्, हनुश्चिबुकम्, तत्राप्येकमस्थीत्येव चतुःषष्टिः ॥ ८८ ॥

भाषा—भग की एक अस्थि, पीठ में पश्चीम और गर्दन में पश्चिम होती हैं, प्रत्येक जङ्घु ( छाती और कंधे के जोड़ ) में एक एक तथा चिबुक में एक अस्थि होता है ॥ ८८ ॥

सम्भूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका ।

पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमभ्युदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ८९ ॥

किंच, तस्य हनोर्भूलेऽस्थिनी द्वे ललाट भालं अस्ति चतुः, गण्डः कपोला-  
चयोर्मध्यप्रदेशः, तथा समाहारो ललाटाक्षिगण्डं, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम् ।  
नासा घनमंशुकास्थिमती । पार्श्वका कक्षाध.प्रदेनामंबद्धाग्यस्थीनि तथाचार-  
भूतानि स्थालकानि, तैः स्थालकैः अभ्युदैश्चास्थिविदोषैः सह पार्श्वका द्विस-  
प्ततिः । पूर्वोक्तैश्च ऋषभिः सार्धमेकाशीनि भवन्ति ॥ ८९ ॥

भाषा—चिबुक के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट, आँव और गण्ड ( कपोल  
एव आँव के बीच का भाग ) में भी प्रत्येक में दो दो, नाक में घन नास की

मासत्वम् । मांस च स्वकोशानलपरिवक्त्र मेदस्त्वम् , मेदोऽपि स्वकोशवह्निना पक्षमस्थिताम् , अस्थयपि स्वकोशनिद्रिपरिवक्त्र मज्जात्वम् , मज्जापि स्वकोशपापत्रपरिवक्त्रमानद्वरमधातुतया परिणमते । चरमधातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स पृथगामनं प्रथम कोशः । इत्येव पट्कोशाग्निभोगित्वात् पट्प्रकारत्व शरीराणाम् । अक्षरस्वरूपस्य तु प्रथमधातोरेनियतत्वात् तेन प्रकारान्तरत्वम् । तानि च शरीराणि पट् स्वचो धारयन्ति रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्या पट् धातव एव रश्मास्तस्मत्स्वगिव याद्याभ्यन्तररूपेण स्थिता रश्मिवाप्युद्गाइत्वा स्वचस्ता पट् स्वचो धारयन्ति । त्विदमायुर्वेदपविद्धम् । तथाऽपि च पक्षेव करयुग्म चरणयुगलमुत्तमाङ्ग नाप्रमिति । अस्त्नां तु पटिसहित घातप्रपमुपरितनपट्प्रलोक्षया वक्ष्यमाणमत्रगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

भाषा—उस आत्मा के ( रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन छ कोशों की अग्नि के योग से ) छ प्रकार के शरीर होते हैं, जो छ स्वचो, छ अङ्गों ( दो हाथ, दो पैर, मुख और शरीर ) तथा तीन सौ साठ अस्थियों को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

स्थालैः सह चतु पटिर्दन्ता ये विशतिर्नखाः ।

पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किञ्च, स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्स्थानि द्वात्रिंशत् , सै सह द्वात्रिंशद्दन्तास्तु पटिर्भवेति । नखा करचरणरुहा विशतिः , इत्तपास्थानि शलाकाकाराण्यस्थानि मणिबन्धरथोपरिवर्तीनि अङ्गुलिमूलस्थानि विशतिरेव । तेषां नखानां शलाकास्थाना च स्थानचतुष्टय द्वौ चरणी करौ चेत्येवमस्थाना चतुस्तरघातम् ॥ ८५ ॥

भाषा—दोत के मूल प्रदेश की अस्थियों को लेकर चौसठ अस्थियों दोतों की, बीस नाखून, बीस हाथ और पैर की शलाका जैसी बीस अस्थियों और उनके चार स्थान ( दो हाथ और दो पैर )—॥ ८५ ॥

पृथ्यहुत्तीनां द्वे पाण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।

चत्वार्यरत्निकास्थीनि जह्वयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किञ्च, विशतिरङ्गुल्यस्तासां एकैकस्यास्तीनि त्राणीत्येवमङ्गुलिसबद्धान्यस्थीनि पटिर्भवन्ति । पृथ्यां पञ्चमी मागौ पाण्यौ तथोरस्थीनि द्वे एकैकस्मिन्पादे गुल्फौ द्वात्रिंशदेव चतुर्षु गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि, चाद्धोरत्निकप्रमाणानि चत्वार्यस्थीनि, जह्वयोस्तावदेव चत्वार्येवेत्येवं चतु सप्तति ॥ ८६ ॥



भाषा—अगुलियों की साठ, एही की दो, गुहकों की चार ( प्रत्येक पैर में दो दो ), अरुनिका की चार और दोनों जघों की भी उतनी ही अर्थात् चार अस्थियाँ होती हैं—॥ ८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।

भक्षतात्पके श्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच जहोरुषन्धिर्जानु, कपोलो रुहल, ऊरु सन्धि तत्फलक, नसो मुजगिर, भक्ष कर्णनन्धोर्मध्ये शङ्खादधोभाग, सात्पक काकुद, श्रोणी ककु लती तत्फलक, तेषामेकैकप्रस्थीनि द्वे द्वे विनिर्दिशेत्; इत्येव चतुर्दशास्थीनि भवति ॥ ८७ ॥

भाषा—घुटने, कपोलों, ऊरुकक ( पट्टे ), कथा, भक्ष ( कान और भ्रौंलों के मध्य का स्थान ), सात्पक और श्रोणी के फलक में प्रत्येक की दो-दो अस्थियाँ—॥ ८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

प्रीया पञ्चदशस्थि स्याज्जन्धेकैकं तथा हनु ॥ ८८ ॥

किंच, गुह्यारथ्येक पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचत्वारिंशदस्थीनि भवन्ति । प्रीया पञ्चरा, सा पञ्चदशस्थि रथात् भवत् । वसोसयो सन्धिर्जनु, प्रतिजन्धस्थि एकैकम्, हनुद्वियुक्तम्, तन्नाथ्येकमरथाथव चतु पष्टि ॥ ८८ ॥

भाषा—भग की एक अस्थि, पीठ में पञ्चीस और गर्दन में प-दह होती हैं, प्रत्येक जनु ( छुती और कचे के जोड़ ) में एक एक तथा धियुक्त में एक अस्थि होता है ॥ ८८ ॥

तन्मूल द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका ।

पार्श्वका स्थालकै सार्धमर्मुदैश्च द्विसप्तति ॥ ८९ ॥

किंच, तस्य हनोमूलेऽस्थिनी द्वे ललाट भाल अस्थि चतु, गण्ड कपोला चदीर्गपदश तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्ड, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम् । नासा घनमज्ज्वास्थिमती । पार्श्वका कक्षाच प्रदेशमवख्यान-वस्थीनि तदाधार-मूयानि रथात्कानि, तै स्थालकै अयुदैश्वास्थिविज्ञेयै सह पार्श्वका द्विस-प्तति । पूर्वोक्तैश्च -सभि सार्धमेकाशतिर्भवति ॥ ८९ ॥

भाषा—धियुक्त के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट भ्रौंण और गण्ड ( कपोल पय भ्रौंण के बीच का भाग ) में भी प्रत्येक में दो दो नाक में घन नाम की

एक अस्थि, पाथों ( पसलियों में ) और उनके आधार स्थानों वाली भर्तुद नाम की अस्थियों को मिलाकर बहत्तर अस्थियाँ होती हैं ॥ ८९ ॥

द्वौ शङ्कुकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।

उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ९० ॥

किंच, भ्रूणयोर्मध्यमदेशावस्थितोऽपी शङ्कुकौ, शिरसः संवन्धीनि कपालानि कपालानि । उरो वच, तसप्तदशान्यकमित्येव प्रयोगिनितिः । पूर्वोक्तेश्च सह पृथक् अधिकं सप्तत्रयमित्येवं पुरुषस्यास्थिसंग्रहः कथितः ॥ ९० ॥

भाषा—मौड़ और कान के बीच की दो अस्थियाँ, शिर के कपाल की चार, वच मदेश की सप्तदश अस्थियाँ होती हैं—इस प्रकार इन तीन मी साठ अस्थियों का मनुष्य शरीर में संग्रह रहता है ॥ ९० ॥

सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाण्युवाह—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ।

नासिका लौचने जिह्वा रज्जु थोत्रं चेन्द्रियाणि च ॥ ९१ ॥

एते गन्धादयो विषयाः पुष्टरस्य बन्धनहेतवः, 'विषय'शब्दस्य 'विष्' बन्धने' इत्यस्य धातोर्भुत्वान्नात्वात् । एतैश्च गन्धादिभिर्बोध्यायेन व्यवस्थितैः स्वस्वगोचरसद्विमाधनतयानुमेयानि प्राणादीनि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति ॥ ९१ ॥

भाषा—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियों के विषय हैं; और नाक, भौंह, जिह्वा, रज्जु एवं कान ये बाँध इन्द्रियों हैं ॥ ९१ ॥

कर्मेन्द्रियाणि दर्शयितुमाह—

हस्तौ पायुरुपस्थं च जिह्वा पादौ च पञ्च ये<sup>१</sup> ।

कर्मेन्द्रियाणि जानीयाभ्रनक्षौबोभयारमकम् ॥ ९२ ॥

हस्तौ प्रसिद्धौ, पायुर्गुद, उपस्थं रतिसंवाद्युत्पत्तावन, जिह्वा प्रसिद्धा, पादौ च, एतानि हस्तादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि आदाननिर्हारानन्दव्याहारविहारोदिकर्मसाधनानि जानीयात् । मनोऽन्तःकरणं युग्मत्वं ज्ञानानुपस्थितमप्य तच्च बुद्धिकर्मेन्द्रियसहकारितबोभयारमकम् ॥ ९२ ॥

भाषा—दोनों हाथ, गुदा, उपस्थ ( संज्ञेनेन्द्रिय ), जिह्वा और दोनों पैर इन्हें कर्मेन्द्रियों समझना चाहिये; मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों हैं ॥ ९२ ॥

प्राणायतनानि दर्शयितुमाह—

नाभिरोजो शुद्धं शुक्रं शोणितं शङ्कुकौ तथा ।

मूर्धासकण्ठहृदयं प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९३ ॥

नाभिप्रभृतीनि दश प्राणस्य स्थानानि । समाननाम्न पवनस्य सरुलाङ्ग-  
सघारिष्वेऽपि नाभ्यादिस्थानविशेषवाचोक्तिं प्राचुर्याभिप्राया<sup>१</sup> ॥ ९३ ॥

भाषा—नाभि, गोज्ञ, गुदा, शुक, रुधिर, दोनों शङ्खक, मूर्धा, कण्ठ और  
हृदय ये ( दस ) प्राण के निवास स्थान हैं ॥ ९३ ॥

प्राणायतनानि प्रपञ्चयितुमाह—

यथा वसावहनम् नामि क्लोमं यकृत्प्लिहा ।

ध्रुवान्त्रं वृक्षकौ वस्ति पुरीपाधानमेव च ॥ ९४ ॥

आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुद एव च ।

उदरं च गुदौ कोष्ठयौ विस्तारोऽयमुदाहृत ॥ ९५ ॥

यथा प्रसिद्धा, वसा मासस्नह, भयहमन कुण्डुस, नाभि प्रसिद्धा,  
प्लीहा आयुर्वेदप्रसिद्धा, लौ च मांसपिण्डाकारौ स्त सभ्यकुक्षिगतौ ॥ यकृत्  
कालिका, क्लोम मांसपिण्डरतौ च दक्षिणकुक्षिगतौ, ध्रुवा-त्र हृदया व्रम्,  
वृक्षकौ हृदयसमीपयौ मांसपिण्डौ, वस्तिमूत्राशय, पुरीपाधान पुरीपाशय,  
आमाशयोऽपलासस्थानम्, हृदय हृत्पुण्डरीकम्, स्थूलान्त्रगुदोदरानि प्रसि  
द्धानि, वाह्याद् गुदवलयान्तर्गुदवलये द्वे लौ च गुदौ कोष्ठयौ कोष्ठे नामैरथ-  
प्रदेशे भवौ । अथ च प्राणायतनस्य विस्तार उक्त । पूर्वरलोके तु सद्येव ।  
अत एव पूर्वरलोकोक्तानां केषांचिदिह पाठ ॥ ९४-९५ ॥

भाषा—यथा, वसा, कुण्डुस, नाभि क्लोम ( दाहिनी कोर के मांस  
पिण्ड ), यकृत्, प्लीहा, ध्रुवात्र ( हृदय की भाँती ), दो वृक्षक ( हृदय क  
समीप स्थित मांसपिण्ड ), मूत्राशय, मलाशय, आमाशय, हृदय मोटी भाँत,  
गुदा उदर, गुदा का भातरी भाग, ( नाभि के नीचे क ) दो कोष्ठ—ये प्राण-  
स्थानों के विस्तार हैं ॥ ९४ ९५ ॥

पुन प्राणायतनप्रपञ्चार्थमाह—

कमीनिके चादिकूटे शङ्खुली वर्णपत्रकौ ।

वर्णौ शङ्खी भ्रुयौ देन्तयेष्टाशोष्टौ ककुन्दरे ॥ ९६ ॥

यङ्क्षणी वृषणी वृको श्लेष्मसंघातजौ स्तनौ ।

उपजिह्वास्फिजौ याह जहोरुपु च पिण्डिक ॥ ९७ ॥

तात्पदं वस्तिशीर्षं चिबुके गलगुण्डिके ।

अघटशैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरक ॥ ९८ ॥

१ अभिप्रायेण । २ क्लोमा । ३ वृक्षको । ४ कोष्ठौ विस्तरोऽय ।  
५ द-नायेष्टायेष्टौ ककुन्दरे । ६ सघातकौ । ७ पिण्डिका । ८ चिबुक ।  
९ अघटु ।

अक्षिकर्णचतुष्कं च पञ्चस्तद्वदयानि च ।

नद्यच्छिद्राणि तान्येव प्राणस्थापयतनानि तु ॥ ९९ ॥

कनीनिके अक्षितारके, अक्षिपूटे अक्षिनासिकयोः मन्धी, शकुली कर्णशकुली, कर्णपत्रकौ कर्णपादयोः, कर्णौ प्रसिद्धौ, दन्तवेष्टौ दन्तपादयोः, ओष्ठौ प्रसिद्धौ, मकुन्दरे जघनकूपकौ, बह्वृणौ जघनोरुसंधी, पृष्ठी पूर्वोक्ती, स्तनौ च श्लेष्मसंघातभौ, उपनिद्धा घण्टिका, रिक्तौ कटिमोर्धौ, बाहू प्रसिद्धौ, जहोरुषु च विण्डिका जह्वयोरुर्वोच्छ्रि विण्डिका मसिउप्रदेशः, गल-  
शुण्डिके हनुमूलगण्डयोः सन्धी, शीर्षं शिरः, अवटः शरीरे यः कक्षन मित्रो देशः कण्ठमूलकचादिः 'अवटुः' इति पाठे कृत्वाटिका; तथाद्योः कनीनिकयोः प्रवेशकं श्वेतं वार्शङ्गवमिति कर्णचतुष्टयम् । यद्वा अक्षिपुटचतुष्टयम् । दोषं प्रसिद्धम् । एवमेतानि कुण्डिते शरीरे स्थानानि । तदाविद्युगलं कर्णमुग्मं—नासाबिव-  
रङ्गवमास्यं पाशुरुपरधनियेतानि पूर्वोक्तानि नद्यच्छिद्राणि च प्राणस्थाप-  
यतनाग्नेय ॥ ९९-९९ ॥

भाषा—भ्रौं की पुतळियाँ, अक्षिपूट ( भ्रौंकी एवं नाक की सन्धि ), शकुली ( कानों का भीतरी खण्ड ), दोनों कर्णपत्रक ( बाहर से दिखाई पड़ने वाले कान ), दोनों कान, दोनों शङ्ख, दोनों भ्रौं, दोनों दन्तवेष्ट ( नखड़े ), दोनों ओठ, मकुन्दर ( जघन के दो गड्ढे ), दोनों बह्वृण ( जंघा और ऊरु के जोड़ ), वृषण ( अण्डकोश ), दोनों पृष्क, श्लेष्मा ले बने हुए दोनों स्तन, उपनिद्धा ( घण्टिका ), दो रिक्त ( कटिमोर्ध ), बाहें, जाँघों और ऊरुओं की विण्डिका, तालु उदर, पेहू, बिटुक टुहड़ी ), गलशुण्डिका, ( टुहड़ी और गले का जोड़ ), शिर, शरीर में निम्न प्रदेश ( जैसे कण्ठमूल, कंठ आदि ), दो भ्रौंके चार वर्ण, पैर, हाथ और हृदय तथा नी छिद्र ( दो भ्रौंके, दो कान, नाक के दो छिद्र, मुख, पायु, उपरध )—ये सभी प्राण के निवासस्थान हैं ॥ ९९-९९ ॥

शिराः शतानि ससैव नद्य स्नायुशतानि च ।

घमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ १०० ॥

किंच, शिरा नाभिसंघट्टाश्वत्वारिशसंख्या वातपित्तश्लेष्मवाहिन्यः सङ्घ-  
कलेवरस्यापिन्यो नानाशाखाः सस्यः सप्तशतसंख्या भवन्ति । सधाङ्गप्रत्यङ्ग-  
संधिवन्धनाः स्नायवो नवशतानि । घमन्यो नाम नाभेहृत्ताश्वतुर्विदाति-  
संख्या. प्राणादिवायुवाहिन्यः शाखाभेदेन द्विसप्तं भवन्ति । पेश्यः पुनर्मांस-  
लाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गसन्धिन्य. पञ्चशतानि भवन्ति ॥ १०० ॥

भाषा—( वात पित्त श्लेष्मवाहिनी ) शिरासुं सात सौ हैं, अस्थियों की बांधने वाली रनायुष् घमनिया ( प्राणवाहिनी नादिकां ) दो सौ और पेशियां पांच सौ होती हैं ॥ १०० ॥

पुनश्चासामेव शिरादीनां शाखाप्राचुर्येण सवधान्तरमाह—

एकोनत्रिंशत्पञ्चाणि तथा नव शतानि च ।

पट्पञ्चाशच्च जानीत शिरा घमनिसंज्ञिता ॥ १०१ ॥

शिराधमन्यो मिलिता। शाखोपशाखाभेदेन एकोनत्रिंशत्पञ्चाणि तथा नवशतानि पट्पञ्चाशच्च भवन्तीत्येव हे सामग्र्यव प्रमृत्तव मुनय ! जानीत ॥१०१॥

भाषा—( हे मुनियो ) शिरा और धमनियां मिलकर ( अपनी शाखाओं पक्ष उपशाखाओं के भेद से ) उन्नीस लाख नौ सौ छप्पन होनी हैं इसे जानिये ॥ १०१ ॥

अथो लक्ष्मास्तुं पिश्रेया श्मश्रुकेशा शरीरिणाम् ।

सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ॥ १०२ ॥

किंच, शरीरिणा श्मश्रुणि कक्षाश्च मिलिता सन्तस्तयो लक्षा विश्रेया । मर्माणि मरणकराणि बलेशकाणि च स्थानानि तेषां सप्तोत्तरं शतं विज्ञेयम् । अस्या तु द्वे सन्धिशते रनायुशिरादिमन्धव पुनरनन्ता ॥ १०२ ॥

भाषा—मनुष्यों के दाढ़ी-भूँस और शिर के केश कुल मिलाकर बालों की संख्या तीन लाख सप्तहत्ती बाहिस । एक सौ सात मर्मरंध्र होते हैं और दो सौ अस्थियों के जोड़ होते हैं ॥ १०२ ॥

सकलशरीरमुपिरादिसंख्यामाह—

रोग्णां कोट्यस्तु पञ्चाशच्छतस्र कोट्य पय च ।

सप्तपष्टिस्तथा लक्षा सार्धा स्येदायनै सह ॥ १०३ ॥

वायवीयैर्विगण्यभ्ते विभक्ता परमाणवः ।

यद्यप्येकोऽनुयेत्येपा भावनां चैव संस्थितिम् ॥ १०४ ॥

पूर्वोदितशिराकेशादिसहिताना रोग्णां परमाणव सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपा भागा स्वेदस्रवणमुपिरै सह चतु पञ्चाशत्कोट्य तथा सप्तोत्तरपष्टिलक्षा सार्धा पञ्चाशत्सहस्रपष्टिता वायवीयैर्विभक्ता पवनपरमाणुभि पृथक्कृता विगण्य ते । एतच्च शास्त्रदृष्ट्याभिहितम् । चक्षुरादिकरणपथगोचरत्वाभावादस्यार्थस्य । इमं मतिगहनमर्थं शिरादिमावपरस्थानरूप हे मुनय ! भवतां मध्ये य कश्चिदनु वेत्ति सोऽपि महान् अग्रबो बुद्धिमताम् । अतो यन्नो बुद्धिमता बोद्धव्या भावसंस्थिति ॥ १०३-१०४ ॥

१ लक्षाश्च । २ केशरमश्च शरीरिणाम् । ३ एकोऽनु वैदेषां । ४ वैदेषां ।

भाषा—म्बेदायनों ( रक्षा पर पत्नीना निकालने वाले सूचम छिद्रों ) के रोओं को मिटाकर चौवन करोड़, सत्सठ लाख, पचास हजार रोएँ हैं । इनकी गिनती वायु के परमाणुओं द्वारा पृथक्-पृथक् किये जाने पर ही होती है । यदि भाव लोगों ( मुनिशों ) में कोई व्यक्ति इसे जानता है तो वह महान् है, क्योंकि इन्हें बुद्धिमान् व्यक्ति ही यत्नपूर्वक जान सकता है ॥ १०३-१०४ ॥

शारीररसादिपरिमाणमाह—

रसस्य नद्य विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश ।

सप्तैष तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०५ ॥

पट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च ।

घसा त्रयो द्वौ तु मेदो मञ्जीकोऽर्ध्वं तु मस्तके ॥ १०६ ॥

श्लेष्मौजसस्तावद्वेष रेतसस्तावद्वेष तु ।

इरपेतकस्थिरं घर्भं यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०७ ॥

सम्बन्धपरिणताहारस्य सारो रसस्तस्य परिमाणं नवाञ्जलयः । पार्थिवपर-  
माणुसश्लेषनिमित्तस्य जलस्याञ्जलयां दश विज्ञेयाः । पुरीषस्य सप्तैकस्य  
सप्तैव । रक्तस्य माटरानलपरिपाकापादितकौहिस्यस्याक्षरसस्याष्टौञ्जलयः प्रकी-  
र्तिताः । श्लेष्मणः षफस्य पञ्चञ्जलयः । पित्तस्य सेजसः पञ्च । मूत्रस्योष्धारणस्य  
चत्वारः । घसाया मांसस्यैकस्य त्रयः । मेदसो मांसरसस्य द्वावञ्जली । मज्जा  
स्वस्थिगणमुपिरगतस्यैकोऽञ्जलिः । मस्तके पुनरर्धाञ्जलिः मज्जा श्लेष्मौजसः  
श्लेष्मसारस्य । तथा रेतसश्चरमघातोस्तावदेवार्धाञ्जलिरेव । एतच्च समवातुपुण-  
वाभिप्रायं गोकम् । विषमघातोस्तु न विषमः; 'देलक्षणात्पुरीशगामस्यापिस्ता-  
वधेव च । दोषघातुमलानां च परिमाणं न विद्यते ॥' इत्यायुर्वेदस्मरणात् । इती-  
दशमस्थिनाद्यथाधारस्यमेतदष्टुचिनिधानं सप्तैकस्थिनामिति यस्य बुद्धिरसौ कृती  
पण्डितो मोक्षाय समर्थो भवति । वैराग्यनिश्चयान्तिव्यविकेकयोर्नोद्योपायात् ,  
भरिधमूत्रपुरीषादिमाधुर्यज्ञानस्य वैराग्यहेतुत्वात् । अत एव व्यासः—  
'सर्वाष्टुचिनिधानस्य कृत्तमस्य विवाग्निनः । शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि  
सुर्वते ॥ यदि नामास्य कायस्य यदन्तरतद्बहिर्भवेत् । दण्डमादाय लोकोऽर्थं  
सुनः काकांश्च वारयेत् ॥' इति । तस्मादीदृशकुत्सितशरीरस्यारयन्तिकविनि-  
चुर्यर्थमासोपानने प्रवर्तितस्यम् ॥ १०५-१०७ ॥

भाषा—( शरीर में आहार का सारभूत ) रस नौ अञ्जलि समस्तवी  
चादिप, जल दस अञ्जलि, पुरीष सात अञ्जलि और रक्त आठ अञ्जलि यथाया  
गया है । षफ दस, पित्त पाँच, मूत्र चार, घसा तीन, मेदस् दो और मज्जा

( अस्थि की ) एक अङ्गलि होती है तथा मस्तक में बाधी अङ्गलि मञ्जा होती है । रज्ज्वम का सार भी उतना ही ( बाधी अङ्गलि ) होता है और चीर्य भी उतना ही ( बाधी अङ्गलि ) होता है । इस प्रकार निमित्त यह शरीर अग्निधर है ऐसी मति वाला व्यक्ति ही मोक्ष प्राप्ति में समर्थ होता है ॥ १०५-१०७ ॥

उपासनीयामस्वरूपमाह—

द्वांसततिसहस्राणि हृदयाद्भिनि सूता ।

'हिताहिता नाम ऋत्विग्स्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ १०८ ॥

मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा द्वीप इवाचलः ।

स ह्येयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०९ ॥

हृदयप्रदेशाद्भिनि सूता कद्रवकुसुमकेसरवत्सर्वतो निर्गता हिताहित-  
करावेन हिताहिततिसहस्राणि नाड्यो भवन्ति । अपरास्तित्तो  
नाड्यस्तासामिडापिङ्गलाद्ये द्वे नाड्यौ सव्यदक्षिणपार्श्वगतौ हृदि विपर्यस्ते नासा-  
विवरसवक्षे प्रागापानावतने । सुषुप्तावथा पुनस्तृतीयं दण्डवन्मध्ये ग्रहण-  
विनिर्गता । तासां नाड्यानां मध्ये मण्डलं चन्द्रप्रभं तस्मिन्नात्मा निर्वातस्फुटोप-  
द्राजलं प्रकाशमानं भास्ते स षष्ठभूतो ज्ञानव्यः । यत्तस्तस्याच्चारण-  
विहं ससारे न पुनः ससरति अमृतत्वं प्राप्नोति ॥ १०८-१०९ ॥

भाषा—हृदयप्रदेश से निकली हुई हृत् और अहित नामकी बहस्र  
सहस्र नाडियाँ होती हैं और शुक, विङ्गला और सुषुप्ता नाम की तीन नाडियाँ  
हैं, इन सभी नाडियों के बीच चन्द्रमा के प्रकाश के समान उद्योति से प्रकाशित  
मण्डल है, उसके बीच में आत्मा दापरु के समान अचल होकर स्थित रहता  
है । उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । उसे जानने पर मनुष्य पुनः  
इस ससार में जन्म नहीं लेता ॥ १०८-१०९ ॥

ह्येयं चारण्यकमहं यदावित्याद्व्याप्तवान् ।

योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ह्येयं योगमभीप्सता ॥ ११० ॥

किंच, चित्तवृत्तेर्विषयान्तरतिरस्कारेणात्मनि स्वैर्यं योगस्तरप्राप्त्यर्थं बृहदार-  
ण्यकाख्यमादिषाद्यन्मया प्राप्तं तच्च ज्ञातव्यम् । तथा यन्मयोक्तं योगशास्त्रं  
तदपि ज्ञातव्यम् ॥ ११० ॥

भाषा—( चित्तवृत्ति के निरोध के लिए ) 'बृहदारण्यक' का ज्ञान प्राप्त  
करना चाहिए, जो मैंने सूर्य देवता से पाया है, और योग की इच्छा रखने वाले  
को मेरा रचा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए ॥ ११० ॥

कथं पुनरसाधारमा ध्यातव्य इत्यत आह—

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ १११ ॥

आत्मव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य आत्मैकविषयाणि कृत्वा आत्मा ध्येयः । योऽसौ प्रमुनिर्वातिस्वपद्मीपंखहीप्यमानो विष्प्रहृत्यो हृदि तिष्ठति । एतदेव तस्य ध्येयत्वं यच्चित्तवृत्तेर्वह्निर्विषयावभासतिरक्षारेणारमप्रवणता नाम शाराखलंपुटनिहृद्प्रमाणप्रदानप्रसरस्येव प्रदीपव्यैकतिष्ठत्वं ॥ १११ ॥

भाषा—मन, बुद्धि और स्मृति इन्द्रियों को विषयों से मोक्षकर एकाग्रचित्त हो आत्मा का ध्यान करना चाहिये, जो हृदय में दीपक के समान स्थित है ॥ १११ ॥

एव्य पुनश्चित्तवृत्तिर्निराकारालम्बनतया समाधी नाभिरमते तेन हृद्प्रसङ्गोपासनं कार्यमित्याह—

यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् ।

साधधामस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११२ ॥

स्वाध्यादावगतमागानतिक्रमेण सामगायं सामगानम् । साम्नो गानात्मकावेऽपि गायमिति विशेषणं प्रगीतमम्बुदासार्थम् । अविच्युतमखलितं सावधानः सामध्वन्यनुस्यूतामैकप्रचित्तवृत्तिः पठन्तदभ्यासवशात् तत्र निष्णातः शब्दाकारशून्योपासनेन परं ब्रह्माधिगच्छति । तदुक्तम्—‘शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति’ इति ॥ ११२ ॥

भाषा—( समाधि करने में असमर्थ होने पर ) विधिपूर्वक नियमित रूप से एवं सावधान होकर सामगान का पाठ करने वाला एवं उसके अभ्यास में तत्पर रहने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ११२ ॥

एव्य पुनर्बुद्धिर्वा गीती चित्तनाभिरमते तेन श्रीकृष्णगीतानुरस्यमानोपासनं कार्यमित्याह—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं मकरीं तथा ।

श्रीवेणकं सरोविन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥ ११३ ॥

ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।

गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥ ११४ ॥

१ यथाविधानेन पठन्साम गायमविच्युतम् । २. स्तथाध्यासात्प ।  
३. अनुस्मृत्यामैक । ४. अपरान्तिक । ५. मकरी । ६. श्रीवेणुकं  
सुराविन्दुम् । ७. ऋग्गाथाः । ८. ब्रह्मगीतिकाः । ९. गायन्नेतत् ।



अपरान्तकोत्सोप्यमद्रकप्रकर्यैविणकानि सरोविन्दुसहितं चोत्तरमित्येतानि-  
प्रकरणाख्यानि सप्त गीतकानि । 'व' शब्दादासारितवर्धमानकादिमहागीतानि-  
गृह्यन्ते । ऋग्याथाद्याश्रतसो गीतिका इत्येतदपरान्तवादिगीतजातमध्यारोपिता-  
त्मभावं मोक्षमाधनत्वान्मोक्षसञ्चित मन्तव्यम् । तदभ्यासस्यैकाग्रतापादनद्वारे-  
णात्मैकतापत्तिकारणत्वात् ॥ ११३-११४ ॥

भाषा—( सामगान में भी मन न लगने पर ) अपरान्तक, उत्सोप्य, मद्रक, प्रकरी, भौवेणक तथा सरोविन्दु सहित उत्तर गीतों का, ऋग्याथा, पाणिका, दशविहिता और ब्रह्मगीतिका का गान करे । इनके अभ्यास से मोक्ष का माधन ( चित्त की एकाग्रता ) की प्राप्ति यथाई गयी है ॥ ११३-११४ ॥

वीणावादनतत्त्वञ्च श्रुतिजातिविशारदः ।

तालशब्दाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ ११५ ॥

ऋषि, भरतादिमुनिप्रतिपादिनवीणावादनतत्त्वज्ञो । धूषत इति श्रुतिः  
द्वाविंशतिविधा मन्त्रशब्देषु । तथा द्वि—पङ्कमभ्यमपङ्कमाः प्रत्येक चतु श्रुतया  
ऋषभर्षतौ प्रत्येक त्रिध्रुती गान्धारनिषादी प्रत्येक द्विध्रुती इति । जातयस्तु  
पङ्कजादयः सप्त शुद्धाः सकरजातपरत्येकादशोऽयं वमष्टादशविधास्तासु विशारद-  
प्रवीणः । ताल इति गीतपरिमाणं कथ्यते । तस्वरूपज्ञश्च तदनुविद्वद्ब्रह्मोपासन  
तया तालादिभङ्गभयाच्चित्तहृत्तेरात्मैकाग्रताया सुकरत्वादश्यासेनैव मुक्तिपथ  
नियच्छति प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

भाषा—( भरत आदि मुनियों द्वारा प्रतिपादित विधि से ) वीणा-  
वादन का मर्मज्ञ, श्रुति ( जो ताल स्वरों में बाइस प्रकार की होती है ),  
तथा जाति ( पङ्क आदि सात शुद्ध और ग्यारह सकर जातियाँ कुल मिलाकर  
अटारह ) में प्रवीण, और ताल का ज्ञान रखने वाला ( चित्त की एकाग्रता के  
सुकर होने से ) जहण प्रयत्न से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लेता है ॥ ११५ ॥

चित्तविक्षेपाद्यन्तरायहतस्य गीतज्ञस्य कलांतरमाह—

गीतज्ञो यदि योगेन<sup>१</sup> नाप्नोति परमं पदम् ।

रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११६ ॥

गीतज्ञो यदि कर्माचक्षोणेन परम पदं नाप्नोति तर्हि रुद्रस्य सचिवो भूत्वा  
तेनैव सह मोदते क्रीडति ॥ ११६ ॥

भाषा—गीत जानने वाला यदि किसी प्रकार योग द्वारा परम पद नहीं  
प्राप्त कर पाता तो रुद्र का अनुचर होकर उन्हीं के साथ क्रीडा करता है ॥ ११६ ॥

१. प्रयत्नेन । २. गीतप्रमाणं कल्प्यते । ३. गीतेन । ४. भूत्वा सह  
तेनैव ।

पूर्वोक्तमुपमंहरति—

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम् ।

‘आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगत्तद्वात्मसंभवः ॥ ११७ ॥

पातुशरीरया अनादिरात्मा ऐश्वर्यस्तस्य च शरीरग्रहणमेवांश्चन्द्रपः कथितः ‘अजः शरीरग्रहणाद्’ (पा० ६९) इत्यत्र । परमात्मनश्च सकाशात्पृथि-  
व्यादियत्कलभुपनोद्धयः तस्माद्गुणैरप्येव पृथिव्यादिभूतसंघानात्जीवानां स्थूलशरी-  
रतया संभवश्च कथितः ‘सर्गादौ स यथाकाशं’ (मा० ७०) इत्यादिना ॥ ११७ ॥

भाषा—( उपरोक्तं रीतिं से ) आत्मा अनादि है : उसका शरीर से युक्त होना ही उद्भव कहा गया है । आत्मा ( अर्थात् परमात्मा ) से ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथिवी आदि जगत्प्रपंच से आत्मा स्थूल शरीर में उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

एतदेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—

कथमेतन्निमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ।

जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्बुद्धे नः ॥ ११८ ॥

यदेतत्सकलसुरामनुजादिमद्वितं जगदात्मनः सकाशात्प्रथमोत्पत्तं, आत्मा च तस्मिन् जगति कथं निर्यद्वन्द्वरसरीमृणादिशरीरभाभयतीत्येतस्मिन्कथं विमु-  
ह्यामः । अतो मोहापनुत्पत्तयर्थमस्माकं विस्तारतो ब्रुव ॥ ११८ ॥

भाषा—( मुनिर्षो मे प्रश्नं श्रिया ) देवता, असुर और मनुष्य आदि से युक्त यह संसार आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ और उस जगत्प्रपंच में आत्मा किस प्रकार शरीर ग्रहण कर लेता है, इसे हम समझ नहीं पा रहे हैं, कृपया विस्तारपूर्वक बतावें ॥ ११८ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टः प्रब्रुवन्महा—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ।

सदस्यकरपद्मैश्च सूर्यवर्चाः सदस्यकः ॥ ११९ ॥

स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ।

विराजः सोऽन्नरूपेण यद्यत्त्वमुपगच्छति ॥ १२० ॥

इह जगति यदिवं स्थूलकलेवरादावनात्मन्यात्माभिमानरूपं मोहजालं तद-  
पास्य तद्दृष्टनिमित्तो यः पुरूपोऽनेककरपरणलोचनः सूर्यवर्चाः अनन्त-  
रश्मिः सदस्यक बहुशिरा दृश्यते । एतच्च नसद्वैचरज्ञानस्याधारतयोप्यते; तस्य  
साक्षात्कारादियद्वन्धाभावात् । स एवात्मा यज्ञः प्रजापतिश्च । गतोऽस्ती

विश्वरूप सर्वात्मकः । वैश्वरूपमेव कथयति वेत् । यस्माद्सौ विराज-  
पुरोडाशाद्यष्टरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति । यज्ञाच्च वृष्ट्यादिद्वारेण प्रजासृष्टि-  
रिभ्येः वैश्वरूप्यम् ॥ ११९-१२० ॥

भाषा—( याज्ञवल्क्य मुनि ने उत्तर दिया— ) इस ससार में ( स्थूल  
कलेवर भादि में, जो आत्मा नहीं है, आत्मा का मान करने के ) मोहजाल  
को छोड़कर जो अनेक हाथ, पैर नेत्र बाला, सूर्य के समान भग्नत करिणों  
बाला तथा अनेक शिरवाला दिग्राई पदता है वही जात्य है, यज्ञ और  
प्रजापति है, वह विश्वरूप है जिससे विराज ( पुरोडाश आदि ) अग्नि के  
रूप में यज्ञ होता है । ( यज्ञ से सृष्टि होती है और उससे प्रजा की सृष्टि  
होती है ) ॥ ११९-१२० ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

यो द्रव्यदेयतास्यांगसंभूतो रस उत्तमः ।

देवान्संतर्ह्यं स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२१ ॥

संयोग्य धायुना सोमं भीयते रश्मिभिस्ततः ।

ऋग्यजु सामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ १२२ ॥

संमण्डलादसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम् ।

यज्ञान्म सर्षभूतानामशानानशनारमनाम् ॥ १२३ ॥

तस्माद्घ्रातपुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुन कतुः ।

एयमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२४ ॥

द्रव्येव चरुपुरोडाशादेर्देवतोद्देशेन त्यागाद्यो रसः अदृष्टरूपमात्मन  
परिणत्यन्तरमुत्तम सकलजगज्जन्मबीजतयोत्कृष्टतम सभूत स देवा-सप्रदा  
नकारकभूताऽसम्पक्षीणयिश्वा यजमान चाभिलषितफलेन सद्योऽप पवनेन  
मेर्यमाणश्चन्द्रमण्डलं प्रति नीयते । ततः क्षामिण्डलाद्दशिमभिर्भानुमण्डलम् ।  
सैषा ब्रह्मैव विद्याः तपतीत्यभेदाभिधानात् ऋग्यजु साममथ प्रत्युपनीयते ।  
ततश्च खमण्डलादसौ सूर्योऽमृतसः सृष्टिरूपमुत्तम यस्सकलभूतानामशानान-  
शनारमना चराचराणा जनननिमित्त तत्सृजति । तस्माद् सृष्टिसपादितौषधिम  
याप्रजोरपत्तिहेतोरन्नात्पुनर्यज्ञः, यज्ञाच्च पूर्वाभिहितं मद्रथा पुनरन्नं, अ-नाच्च  
पुन कतुरित्येवमेतदस्ति ससारचक्रं प्रमाहरूपेणोत्पत्तिविनाशविरहित मध्य-  
वपरिवर्तत इत्यनेन क्रमेणात्मन सकाशादस्तिजगदुत्पत्तिः । तत्र ध्यात्मन  
स्वकर्मानुरूपविग्रहपरिग्रह ॥ १२१-१२४ ॥

१ त्यागारसभूतो ।

२ तन्मण्डलमसौ ।

३ प्रत्युपनीयते ।

४ भिहितसशात्पुनरन्नं ।

भाषा—जो वह पुरोडाश आदि द्रव्य की देयताओं के निमित्त अर्पित करने पर उत्तम ( सम्पूर्ण जगत् के जन्म का योज होने से उत्कृष्टतम ) उत्पन्न होता है वह रम देयताओं को वृत्त करके और अभिलपित फल से यजमान को युक्त करके, वायु द्वारा प्रेरित हो कर चन्द्रमण्डल में पहुँचता है, वहाँ से वह सूर्य के मण्डल में पहुँचता है, जो, अङ्क, यज्ञम् और साम तीव्र वेदों का ही रूप होता है । यह सूर्य अपने मण्डल से उत्तम अमृत ( वृष्टि ) छोड़ता है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी और अचर भूतों के जन्म का कारण होता है । इस वृष्टि से उत्पन्न अन्न द्वारा पुनः यज्ञ होता है, पुनः अन्न होता है और तब फिर यज्ञ होता है, इस प्रकार वह अनादि और अनन्त चक्र घूमता रहता है ॥ १२१-१२४ ॥

ननु पद्यात्मन मसरणमनारान्त तद्वानिर्मुक्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नन्तरात्मान ।

समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मज ॥ १२५ ॥

पद्यप्यात्मनोऽनादिवात्संभूतिर्न विद्यते अन्तरात्मान शरीरव्यापिन तथापि पुरुष शरीरेण समवायी भवति भोगापत्तेः सुशुद्धप्रत्यक्ष भोग्यजान्मुपभुङ्क्ते इत्येवभूतेन सवन्धेन समवायी भवत्येव । स च समवायो मोहेच्छाद्वेषजनितकर्मनिर्मेयो ननु निसर्गजात । तस्य कार्यत्वेन विनाशोपपत्तेर्न निर्मुक्ति ॥ १२५ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा के अनादि होने से शरीरव्यापी अन्तरात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, तथापि पुरुष ( आत्मा ) शरीर से समवायी होता है ( सुप्त हुआ आदि का भोग करता है ) और वह समवाय मोह, इच्छा और द्वेष जनित कर्मों ॥ उत्पन्न होता है ( नैसर्गिक नहीं होता ) ॥ १२५ ॥

आत्मनो जगज्जन्मेत्युक्त तद्व्यपन्नवितुमाह—

सहस्रात्मा मया यो य आदिदेव उदाहृत ।

मुखबाहुरुपजा स्युस्तस्य वर्णा यथाकमम् ॥ १२६ ॥

पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो घौरजायत ।

नस्त- प्राणा दिश- श्रोत्रात्पृष्ठाद्वायुर्मुखात्त्रिज्वली ॥ १२७ ॥

मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकर ।

जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२८ ॥

योऽसौ सकलजीवात्मकतया प्रपञ्चात्मकतया च सहस्रात्मा बहुरूपस्तथा सकलजगद्भेदतया आदिदेवो मया पुष्पाकमुदाहृत तस्य बहवभुजसन्धिवचरण-

जाता यथाक्रममग्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णाः । तथा तस्य पादाद् भूमि, मस्तका-  
स्सुरसद्य, घ्राणाघ्राणाः, कर्णात्ककुभ, स्पर्शात्पवन, वदनाद्भुतवह, मनस-  
शाशाङ्कः, नेत्राद् भानुः, जघनाद्गगन, जद्रमाजद्रमात्मक जगच्च ॥१२६-१२८॥

भाषा—जिस (सकलजीवात्मक) अनेक रूप वाले आदिदेव का मैंने  
वर्णन किया है, उसके मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः चारों वर्ण हुए।  
उसके पैरों से पृथिवी और शिर से एलोक उत्पन्न हुआ। नासिका से  
प्राण, श्रोत्र से दिशाएँ, स्पर्श से वायु और मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ।  
उसके मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और नेत्रों से सूर्य, उसके जघन से  
अन्तरिक्ष एवं चर और अचर सत्तार की उत्पत्ति हुई ॥ १२६-१२८ ॥

अत्र चोदयन्ति—

यद्येषं स कथं ब्रह्मम्पापयोनिषु जायते ।

ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२९ ॥

हे ब्रह्मन् योगीश्वर ! यद्यथाऽयं जीवादिभाव भजते तर्हि कथममी पापयो-  
निषु मृगपक्षपादिषु जायते ? अथ मोहरागद्वेषादिदोषदुष्टस्वाचरं जन्मेत्युच्यते ।  
तस्य न,—यस्मादाश्वरः स्वतन्त्र ब्रह्मनिष्टैर्मोहरागादिभावे सयुज्यते ॥१२९॥

भाषा—हे ब्रह्मन् (योगीश्वर-पाञ्चवक्ष्य) ! यदि ऐसी बात है  
तो वह आत्मा (मृग, पक्षी आदि) पाप योनियों में क्यों जन्म लेता है ?  
वह ईश्वर होकर किस प्रकार (मोह, राग आदि) दुर्भावनाओं से युक्त  
होता है ? ॥ १२९ ॥

कर्णैरन्वितस्यापि पूर्यं स्नानं कथं च न ।

वेत्ति सर्वगतं कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥ १३० ॥

किंच, तथेदमन्वत्र दूषणम् । मन प्रभृतिज्ञानोपायैः सहितस्यापि तस्या-  
त्मन पूर्वज्ञान जन्मान्तरानुभूतविषय कस्मात्सोत्पद्यते ? तथा सर्वगणितं  
वेदनां सुखदुःखादिरूपां स्वयं सर्वगोऽपि सर्वदेहगतोऽपि कस्मान्न वेत्ति ?  
तस्मादाश्वरैश्चरो जीवादिभाव भजत इत्ययुक्तम् ॥ १३० ॥

भाषा—मन, आदि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों से युक्त होने पर भी  
उस आत्मा का पूर्वज्ञान (विच्छले जन्म का अनुभव) क्यों नहीं होता ?  
स्वयं सभी शरीरों में विद्यमान होने पर भी वह सभी प्राणियों की (सुख-  
दुःख आदि) वेदना को क्यों नहीं जान पाता ॥ १३० ॥

१. तत्तज्जन्मेत्युच्यते । २. कर्णेनान्वितस्य । ३. पूर्वज्ञान कथं च न ।

४. सर्वज्ञोपि ।

तत्र पूर्वोक्तस्थोत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्यावरणां मनोवाङ्मायकर्मजैः ।

दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनिशतंषु च ॥ १३१ ॥

यद्यपीश्वरः स्वरूपेण सत्यज्ञानानन्दलक्षणः तथाप्यविद्यासमावेदावदान्मोह-  
रागादिभावैरभिभूयमानो नानाहीनयोनिजनसमाधनं मानसादित्रिविधं कर्मनिचय-  
माधरति । तेन चान्तरपादिहीनयोनितामापद्यते । अन्त्याश्रण्डालादयः, पक्षिणः  
काकादयः, रथाधरा वृक्षादयः तेषां भावोऽन्त्यपक्षिस्थावरता तां यथाक्रमेण  
मनोवाङ्मायारब्धकर्मदोषैर्जन्मसहस्रेष्वयं जीवः प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

भाषा—(याज्ञवल्क्य प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं) यह जीव (नस्व, ज्ञान  
और आनन्द स्वरूप ईश्वर होते हुए भी ) मन, वाणी और शरीर द्वारा किये  
गये कर्म से उत्पन्न दोषों के कारण चण्डाल, पर्वा और वृक्ष आदि स्थावर  
पदार्थों का रूप लैकड़ों योनियों में प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

अनन्ताश्च यथा भाषा- शरीरेषु शरीरिणाम् ।

कृपाप्यपि तथैवेह सूर्ययोनिसु देहिनाम् ॥ १३२ ॥

किंच, शरीरिणां जीवानां शरीरेषु भाषा अभिप्रायविशेषाः सत्त्वाद्युक्ते-  
त्तारतस्याद्याऽनन्तास्तथा तत्कार्याप्यपि रूपानि कुञ्जवाममस्वादीनि देहिनां  
सर्वयोनिसु भवन्ति ॥ १३२ ॥

भाषा—जीवों के अपने अपने शरीरों में जिस प्रकार के अनन्त भाव  
होते हैं उसी प्रकार के रूप भी सभी योनियों में देहियों को प्राप्त होते हैं ॥

ननु यदि कर्मजन्मानि कुञ्जवादीनि तर्हि कर्मानन्तरमेव तैर्भवितव्यमिष्टा-  
वाङ्मायैः—

विषाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ।

इह याऽमुत्र चैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

केषांचिउपोतिष्टोमादिकर्मणां विषाकः फल प्रेत्य देहान्तरे भवति । केषां-  
चिकारीयादिकर्मणां वृष्ट्यादिफलमिदं भवति । केषांचिश्चिन्नादीनां फलं पश्चा-  
दिकमिह देहान्तरे तेष्यनियतम् । नह्यनन्तरमेव कर्मफलेन भवितव्यमिति  
शास्त्रार्थः । अत्र च कर्मणां शुभाशुभफलजनकरणे सत्त्वादिभाव एव प्रयोजक-  
भूतस्तदायत्तत्त्वात्फलत्वारतम्भवस्य ॥ १३३ ॥

भाषा—कुल ( ज्योतिष्टोम आदि ) कर्मों के फल मृत्यु के उपरान्त  
दूसरा शरीर मिलने पर प्राप्त होते हैं और कुल कर्मों के फल इती लोक में

मिल जाते हैं। कुछ कर्मों का फल इस लोक में या देहान्तर में निश्चित रूप से प्राप्त होता है। कर्मों के शुभाशुभ फल के विषय में सत्त्वादि भाव ही प्रयोजन हैं ॥ १३३ ॥

मनोवाक्यायकर्मजैरन्वयादिषोनी प्राप्नोतीत्युक्त तत्रपञ्चमितुमाह—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथानिष्ठानि चिन्तयन् ।

वितथाभिनिवेशो च जायतेऽऽत्यासु योनिषु ॥ १३४ ॥

परधनानि कथमहमपहरेयमित्याभिमुख्येन स्वायस्तथाऽनिष्ठानि प्रकृत्यादीनि हिसात्मकानि करिष्यामानि चिन्तयन् वितथ असत्यभूत वस्तुनि अभिनिवेश पुन पुन मन्त्रपस्तद्वाक्शब्दपञ्चालाद्यन्वयोनिषु जायते ॥ १३४ ॥

भाषा—दूमरे के धन के अपहरण का भयमर दूढ़न रहने वाला, ( प्रकृत्यादि ) पापी का ही चिन्तन करने वाला, तथा असत्य वस्तुओं में पुन पुन संकल्प करने वाला कुत्ता, चण्डाल आदि अनल्पयोनिषो में जन्म लेता है ॥ १३४ ॥

पुरुषोऽमृतयादी च पिशुन परुषस्तथा ।

अनिवद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

किंच, परुषमृतमदनकील पुरुष पिशुन कर्णजप पक्षय परोद्देशकरभापी अनिवद्धप्रलापी प्रकृत्यासङ्गतार्थवादी च बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वादिपारतम्यादीनां रूपादिषु मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

भाषा—असत्यवादी पिशुन ( सुगुलसोर ), कठोर वचन कहने वाला और अज्ञान भाषण करने वाला मृग और पक्षी की योनि में जन्म लेता है ॥

अदत्तादाननिरत परदारोपसेवकः ।

हिसकश्चाविधानेन स्थावरेष्वभिजायते ॥ १३६ ॥

किंच, अदत्तादाननिरत अदत्तपरधनापहारपसक परदारपसकश्च अविहित मार्गेण प्राणिना घातकश्च शोषगुरलघुभावनासम्यासरुलनाप्रतानादिस्थावरेषु जायते ॥ १३६ ॥

भाषा—बिना दिए हुए ही दूमरे की वस्तु का अपहरण करने में रत, परत्या में आमक और ( अविहित विधि से यज्ञ प्रयोजन के बिना ही ) प्राणियों की हिसा करने वाला स्थावर ( बृह, लता आदि ) की योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १३६ ॥

१ योनितो प्राप्नोतीति । २ पुरुषस्तथा । ३ पूर्वावृत्त्यादि ।

४ स्थावरेषु जायते ।

सखादिगुणपरिपाकमाह—

द्वारमघ्नः शौचचान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ।

धर्मकृद्वेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम् ॥ १३७ ॥

भाष्य—शौचाद्यनाभिजनाद्यभिमानरहितः, शौचवान् वाद्याभ्यन्तरशीष-  
युक्त, दान्त उपशमान्वित, तपस्वी कृत्वादिनपेयुक्त, तथेन्द्रियार्थेऽप्रसक्त,  
नियमैमित्तिकधर्मानुष्ठाननिरतः, वेदार्यवेदी च य, सात्त्विक । स च मत्तोद्रेक  
ताः तस्यैवशाहुः कृष्टाः कृष्टतरसुरयोनिता प्राप्नोति ॥ १३७ ॥

भाषा—भारमज्ञानी, पवित्र, दान्त चित्त वाटा, तपस्वी, इन्द्रियों को  
बश में रखने वाला, धर्मनिष्ठ और वेद विद्या का ज्ञान रखने वाला, मन्त्रगुण  
संपन्न व्यक्ति श्रेष्ठ की योनि में जन्म पाता है ॥ १३७ ॥

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भो विपयी च य ।

स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति ॥ १३८ ॥

किंच, असत्कार्येषु तृषेवादित्रत्यादित्वभिरतो ॥ तथा अधीरो व्यप्रचित्त  
आरम्भो सदा कार्याकुलो निषयेऽतिप्रसङ्गः, ॥ रजोगुणयुक्त । मद्गुणतार-  
तभ्यास्त्रीनोऽवृष्टमनुष्यजातिषु अरणाभतरसुरपत्ति प्राप्नोति ॥ १३८ ॥

भाषा—जो असत्कार्य ( मृत्यु, गीत आदि ) में रत, अधीर, सदा  
कार्याकुल और निषेधों में डिस रहता है वह रजोगुणी मृत्यु के उपरान्त मनुष्य  
योनि में जन्म पाता है ॥ १३८ ॥

निद्रालुः क्रूरकृत्तुम्भो नास्तिको याचकस्तथा ।

प्रमादवान्भिग्रवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३९ ॥

तथा च, य पुनर्निद्राशील, प्राणिपीडाकरो, लोभयुक्तः, तथा नास्तिको  
धर्मनिन्दक, याचनशील, प्रमादवान् कार्याकार्यविवेकशून्य, विरद्याचारः,  
असौ तमोगुणयुक्तस्तत्तारतभ्यास्त्रीवहीनतरपश्चादिवानिषु जायते ॥ १३९ ॥

भाषा—निद्रालु ( अधिक सोने वाला ), प्राणियों को पीड़ित करने  
वाला, लोभी, नास्तिक, याचक, प्रमादी ( विवेकहीन ) और विरुद्ध आचरण  
वाला तमोगुणी पशु पक्षियों की योनि में उत्पन्न होता है ॥ १३९ ॥

पूर्वोक्तमुपमहरति—

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ।

भावेरनिष्टै संयुक्त संसारं प्रतिपद्यते ॥ १४० ॥

१ धर्मकृद्वेदविद्यावित् सात्त्विको । २ तारतभ्याहुः कृष्ट । ३ पुनर्जन्मा-  
धिगच्छति ।



एवमविद्याविद्वोऽयमात्मा रप्रस्तमोऽथा मय्यगाविष्ट इह मयारे पर्यटन्  
नानाविधदु व्यप्रदैर्भावैरमिमूल पुन पुन ससार देहप्रहण प्राप्नोतीति । ईश्वर'  
॥ कथ भावैरनिष्टे सप्रयुज्यत इत्यस्य चोत्थस्यानवकाश ॥ १४० ॥

भाषा—( इस प्रकार अविद्या से युक्त ) यह आत्मा रजोगुण एव तमो-  
गुण से पूर्णत आविष्ट होकर इस लोक में भटकता हुआ, अनेक दुःखप्रद  
भावों से युक्त होकर पुन पुन ससार में जाता है अर्थात् शरीर धारण  
करता है ॥ १४० ॥

यदपि 'करणैरन्वितस्थापि' ( प्रा० १३० ) इति द्वितीय श्लोच तस्योत्तर  
माह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षम ।

तथाऽविपक्करुण आत्मज्ञानस्य न क्षम ॥ १४१ ॥

यद्यप्यात्मा भन्त करणोदिज्ञानसाधनमपक्वस्तथापि जन्मान्तरानुभूताधार-  
योधे न समर्थ अविपक्करुणो रागादिमलाक्रान्तचित्तो यस्मात्, यथा त्वर्पणो  
मलच्छम्नो रूपज्ञानोत्पादनसमर्थो न भवति ॥ १४१ ॥

भाषा—( दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं— ) जिस प्रकार मलिन त्वर्पण  
रूप का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा राग आदि  
दोष से युक्त होने के कारण दूसरे जन्म के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में  
असमर्थ रहता है ॥ १४१ ॥

तनु प्राग्भवीयज्ञानरवाप्यात्मप्रकाशत्वात् तस्य च स्वत सिद्धत्वाच्चानुपलभो  
युक्त इत्याशङ्कयाह—

कट्वेर्वारी यथाऽपक्वे मधुर. सन्नसोऽपि न ।

प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्करणे क्षता ॥ १४२ ॥

अपक्वे कट्वेर्वारी तिक्तकर्कटिकायां विद्यमानोऽपि मधुरो रसो यथा नोप-  
लभ्यते तथात्मव्यपक्करणे विद्यमानापि ज्ञाना ज्ञातुना प्राग्भवीयवस्तुगोचरा न  
प्राप्यते ॥ १४२ ॥

भाषा—जिस प्रकार कटुई ककड़ों में रस होने पर भी वह बिना पके  
प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान रहते हुए भी अपक्वकरण  
की अवस्था में ( रागादि विकारों से चित्त के मलिन रहने पर ) उसे पूर्व-  
जन्म के अनुभव का ज्ञान नहीं हो पाता ॥ १४२ ॥

‘वेत्ति सर्वगतं कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम्’ ( प्रा० १३० ) इति यदुक्तं, तत्रोत्तरमाह—

सर्वाध्यां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ।

योगी मुक्तश्च सर्वासां यो न चाप्नोति वेदनाम् ॥ १४३ ॥

यः पुनर्देही देहमभिमानयुक्तः, स सर्वाध्यामाभ्यात्मिकादिरूपां वेदनां स्वकर्मापाजित एव देहे प्राप्नोति, न देहान्तरगतं भोगावतनाभ्यादष्टवैलक्यपादेव; यस्तु योगी मुक्तो मुक्ताहंकारादिः सकलचेद्रजगतानां सुखदुःखादिसंघिदां वेदितः भवति परिष्ककरजत्वात् ॥ १४३ ॥

भाषा—जो जरीरधारी अपने जरीर के अभिमान से युक्त होता है वह सब प्रकार की ( आध्यात्मिक आदि ) वेदनाएँ उस जरीर से ही प्राप्त करता है । योगी और मुक्त ( अहंकारहीन ) सभी प्राणियों की सुख-दुःखादि वेदना का ज्ञान होता है । ( क्योंकि उसका चित्त रागादि मल से आच्छान नहीं रहता ) ॥ १४३ ॥

अन्वेषस्मिच्छात्मनि सुरगादिदेहेषु भेदप्रत्ययो न घटत इत्याक्षरवाह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।

तथारमैको ह्यनेकश्च जलाधारेऽपि यानुमान् ॥ १४४ ॥

यद्यैतन्नैव गगनं कृष्णुभाषुपाधिभेदमिन्न ज्ञानेवानुभूयते, यथा वा भानुरेकोऽपि मिश्रणेषु जलभाजनेषु करकमणिकमल्लिकादिषु ज्ञानेवानुभूयते, तथैकोऽप्यात्मा अन्तःकरणोपाधिभेदेन ज्ञाना प्रतीयते । द्वितीयदृष्टान्तोपादान-मानभेदस्वापारमार्थिकत्वघातकार्यम् ॥ १४४ ॥

भाषा—जिस प्रकार आकाश एक ही है किन्तु घट आदि पात्रों में पृथक्-पृथक् अनेक प्रतीत होता है एवं जिस प्रकार सूर्य एक होता हुआ भी मिश्र-मिश्र जलपात्रों में अनेक प्रतीत होता है; वसी प्रकार आत्मा भी ( समष्टि और स्वष्टि भेद से ) एक थीर अनेक है ॥ १४४ ॥

‘पञ्चधात्स्ववर्गं पञ्च आदत्ते युगपत्प्रभुः’ ( प्रा० ७२ ) इत्याद्युक्तमर्थतुपसहरवाह—

ब्रह्मक्षानिलतेजांसि जलं भूश्चेति घातवः ।

इमे लोका एव च्चात्मा तस्मान्त्व सच्चराचरम् ॥ १४५ ॥

ब्रह्म आत्मा, एवं गगनं, अनिलो वायुः, तेजोऽग्निः, जलं प्रसिद्धं, भूधे-र्यंते वातादिघातव एव जरीरं व्याप्य धारयन्तीति घातवोऽभिधीयन्ते । तत्र खाद्यं पञ्च घातवः लोकवन्ते दरयन्ते इति लोकाः । जडा इति यावत् । एव चिदातुरात्मा पृथग्माजडाजडसमुदायात्सयावजजडमारमकं ब्रह्मदुःपद्यते ॥ १४५ ॥

१. ज्ञाता चाप्नोति वेदनाम् । यो न चाप्नोति । २. रिमकादिबहुः । ३.

भाषा—ब्रह्म ( आत्मा ), आकाश वायु तेज, अग्नि, जल और पृथिवी ये ( शरीर को व्याप्त कर धारण करने के कारण ) घट्टु कहे जाते हैं । ये ही ( आकाश आदि अवलोकित होने के कारण ) लोक ( वा जड़ ) हैं और यह ज्ञानमय आत्मा होता है इन्हीं के समुदाय से चर और अचर ससार की उत्पत्ति होती है ॥ १४५ ॥

व्ययसंसारमा जगत्सृजतीत्याह—

मृदुष्वक्षयसंयोगात्सृज्मकारो यथा घटम् ।

करोति सृणसृत्काष्ठैर्गृह वा सृष्टकारकः ॥ १४६ ॥

हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारक ।

निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारक ॥ १४७ ॥

कारणाभ्येवमादाय तामु तास्विह योनिपु ।

सृजत्यारमानमात्मा च संभूय करणानि च ॥ १४८ ॥

यथा हि कुलालो मृत्पृष्णचीवरादिक कारणभातमुपादाय करकधरावादिक नानाविधकार्यभात रचयति, यथा वा बधकिस्तृणसृत्काष्ठै परस्परतापेसै एकं पृष्टारय कार्यं करोति, यथा वा हेमकार कवल् हेमोपादाय हेमानुगतमेव वटक मुकुटकुण्डलादिकार्यमुपादयति यथा वा कोशकारक कीटविशेषो निजलाल-यार-धमात्मध-धन कोशारयमारभते, तथास्मावि पृथिव्यादानि साधनानि परस्परमापेक्षाणि, तथा करणा-यपि श्रोत्रादी-मुपादाय अरिम्-ससारे तामु तामु सुरादियोनिपु स्वयमेवार्मान निजकर्मव-धवत् शरारितया सृजति ॥ १४६-१४८ ॥

भाषा—जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी, डटे और चाक के संयोग से घड़ा बनाता है, घर बनाने वाला तिनकों, मिट्टी और लकड़ी से घर बना देता है अथवा जिस प्रकार स्वर्णकार कवल् सोना लेकर उससे अनेक प्रकार के रूप ( आभूषण आदि ) बना डालता है अथवा जिस प्रकार अपनी ही छार से मकड़ी अपना जाल बना लेता है उसी प्रकार आत्मा भी पृथिवी आदि साधनों और श्रोत्र आदि इन्द्रियों को लेकर स्वय ही इव ससार में भिन्न भिन्न योनियों में शरीरों के रूप में अपना रचना करता है ॥ १४६-१४८ ॥

किं पुनर्वैपयिक ज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्ता मसद्भावे प्रमाणमित्याशङ्क्याह—

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।

कोऽन्यथैकन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४९ ॥

धाचं धा को विजानाति पुन संश्रुत्य संश्रुताम् ।

यथा हि पृथिव्यादिमहाभूतानि सत्यानि प्रमाणागम्यत्वात् तथाऽऽत्मापि सत्यः । अन्यथा यदि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता भूवो न स्यात्तर्हि एकैव चक्षुरिन्द्रियेण दृष्टं वस्तु अन्येन स्पर्शनेन्द्रियेण को विजानाति 'यमहम-  
द्राघ तमहं स्पृशामि' इति ॥ तथा कस्यचित्पुररस्य याचं पूर्वं श्रुत्वा 'पुनः श्रूयमाणो याचं तस्य यागियमिति कः प्रत्यभिजानाति । तस्मात्  
ज्ञानेन्द्रियातिरिक्तो ज्ञाना भूव इति सिद्धम् ॥ १४९३ ॥

भाषा—जिस प्रकार पृथिवी आदि महाभूत सत्य हैं उसी प्रकार ( बिना प्रमाण के भी ) आत्मा सत्य है; अन्यथा ( यदि बुद्धि, इन्द्रिय से अलग ज्ञाता नहीं होता तो ) एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखी गई वस्तु दूसरी ( स्पर्श की ) इन्द्रिय से कौन जानता ? अथवा किसी व्यक्ति की पहले सुनी हुई बातों को पुनः सुनने पर कौन पहचान पाता, ? ॥ १४९३ ॥

'अतीतार्थस्मृतिः कस्य कां वा स्वप्नस्य कारकः ॥१५०॥

जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरदंशतः ।

शाब्दादिविषयोद्योगं कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५१ ॥

किंच, यद्यात्मा भूवो न स्यात् तर्हानुभूतार्थगोचरा स्मृतिः पूर्वानुभव-  
भावितसंस्कारोद्घोषनिबन्धना कस्य भवेत् ? नह्यन्येन दृष्टे वस्तुव्यत्यस्य स्मृति-  
रूपपद्यते । तथा कः स्वप्नज्ञानस्य कारकः । नहींन्द्रियाणांमुपरतव्यापारानां  
संस्कारकत्वम् । तथाहमेवाभिजनत्वादिमंपक्ष इत्येवंविधोऽनुसंधानप्रशयः  
कस्य भवति स्थित्यात्मव्यतिरिक्तस्य ? तथा शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगनिश्चय-  
र्थमुद्योगं मनोवाक्यायैः कः कुर्यात् ? तस्मादपि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा  
स्थितः ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—( यदि आत्मा सत्य न होता तो ) अतीत काल के अनुभव की याद कैसे रह पाती ? ( एक व्यक्ति द्वारा देखी गई वस्तु दूसरे व्यक्ति की स्मृति में नहीं रहती है ), स्वप्न का ज्ञान कौन कराता है ? जाति, रूप, आयु, वृत्त, विद्या आदि का अहंकार करने वाला कौन है ? तथा शब्द स्पर्श आदि विषयों के भोग के लिये कर्म, मन और वाणी से उद्योग कौन करता ? [ अतएव बुद्धि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निश्चित है । ] ॥१५०-१५१॥

उपासनाविशेषविषयैर्षं संसारस्य रूपं विवृण्वज्राह—

स सांदिग्यमतिः कर्मफलमस्ति न वेति धा ।

'विप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५२ ॥

१. अतीतार्थस्मृतिः । अतीतार्था । २. विषय सक्तः । ३. सिद्धपर्यं ।

४. संप्लुतः ।

योऽसौ पूर्वोक्त आत्मा विप्लुतोऽहकारदूषितः स सकलकर्मसु कर्मरहित  
 ॥ वेति संदिग्धमतिर्भवति । तथाऽसिद्धोऽप्यकृताद्योऽपि सिद्धमेव कृतार्थमात्मान  
 मन्वते ॥ १५२ ॥

भाषा—यह आत्मा अहकार से दूषित होकर शून्य करने लगता है कि  
 सभी कर्मों का फल होता है या नहीं, और अकृतार्थ होते हुए भी अपने को  
 कृतार्थ मानने लगता है ॥ १५२ ॥

मम दारा सुनामात्या महमोपमिति स्थितिः ।

हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः स्वश ॥ १५३ ॥

किंच, तस्य विप्लुतमतेर्मम फलप्रयुक्तप्रेष्याद्वोऽहमेवामिष्यतीव मम-  
 ताकुलस्थितिर्भवति । तथा हिताहितकरे कार्यप्रकरे स विप्लुतमतिर्विप-  
 रीतमतिः सदा भवेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—उसकी ( अहकार ॥ दूषित आत्मा की ) 'ये मेरी पत्नी हैं'  
 'ये मेरे पुत्र हैं' 'ये मेरे सेवक हैं' 'मैं इनका हूँ' ऐसी ममताकुल दृष्टा होती  
 है, तथा हित एव अहित क कार्यों में उसकी सदैव विपरीत मुद्दि  
 होती है ॥ १५३ ॥

श्रेयसे प्रवृत्तौ चैव विकारे चाविशेषयान् ।

अनाशकानलाघातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५४ ॥

पर्यवृत्तऽधिनीतारमा वितयाभिनिवेशयान् ।

कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव वन्वते ॥ १५५ ॥

किंच, श्रेय जानातीति श्रेयज्ञानस्मिच्छामनि प्रवृत्तौ चात्मनो गुणसाधवा-  
 र्थाया विकारे आहकारादावविशेषयान् विवेका अभिशो भवति । तथातदा-  
 बहुताःतनारयुप्रवेशविवासानादिषु विच्छेदवशात्कृतप्रययो भवेत् । एव नानाप्रहा-  
 राकार्यप्रवृत्तोऽधिनीतात्माऽमवतारमा असाक्षायाभिनिवेशयुक्तः सन् तात्कर्म-  
 जानेन शमद्वेषाभ्यां मोहेन च वन्वते ॥ १५४-१५५ ॥

भाषा—श्रेयज्ञ ( श्रेय विषयों को जानने वाला ) आत्मा प्रवृत्ति में  
 ( अपने गुणों की साधवावस्था में ) अहंकारादि विकार से विशेषरूप  
 हो जाता है और भोजन त्याग, अग्नि, जल में प्रवेश अवस्था गिरकर मरने  
 के कार्य में रत करता है । इस प्रकार अनेक कार्यों में प्रवृत्त अवस्था  
 आत्मा सुखकर्म में लयकर ( उन कर्मों से उत्पन्न ) राग, द्वेष और मोह से  
 र्दित होता है ॥ १५४-१५५ ॥

शरीरग्रहणद्वारेण वधं पुनस्तस्य विस्त्रम्भो भवतीत्यत आह—

आचार्योपासनं वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता ।

तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५६ ॥

ऋषालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।

त्यागः परिग्रहार्था च जीर्णकापायधारणम् ॥ १५७ ॥

विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्राक्षस्यविवर्जनम् ।

शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५८ ॥

नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः ।

एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥ १५९ ॥

विद्यार्थमाचार्यसेवा, वेदान्तार्थेषु पातञ्जलदियोगशास्त्रार्थेषु च विवेकि-  
त्वम्, तत्प्रतिपादितध्यानकर्मणामनुष्ठानम्, मशुस्यसङ्गः प्रियहितवचनत्वम्,  
छलनालोकनालम्भयोः परित्याग, सर्वभूतेष्वारामवर्दाने समत्वदर्शनम्, परि-  
ग्रहणा च पुत्रपुत्रकलत्रादीना त्याग, जीर्णकापायधारणम्, ऋषद्वेषार्थादि-  
विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियार्था प्रवृत्तिनिरोध, तन्द्रा मिद्रानुकारिणी, आलस्य-  
मनुत्साहा तयोर्विशेषेण त्यागः, शरीरस्य परिसंख्यानमस्तिधराशुद्धिर्वादिदोषा-  
नुसंधानम्, तथा सकलगमनादिषु प्रवृत्तिषु सूक्ष्मप्राणिष्वधादिदोषपरामर्श, तथा  
रजस्तमोविधुरता, प्राणायामादिभिर्भावशुद्धि, निस्पृहता विषयेष्वनभिलाप,  
शमो बाह्यान्तरकरणसयम, एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् इत्युक्तं  
केवलसत्त्वयुक्तो ब्रह्मोपासनेनामृती भवेत् इत्युक्तं भवति ॥ १५६-१५९ ॥

भाषा—विद्याशास्त्रि के लिये आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों में ( वेदान्त  
के अर्थ और पातञ्जल आदि योगशास्त्रों में ) विवेक, उनमें प्रतिपादित  
ध्यान कर्म का अनुष्ठान, सत्संगति, प्रिय एवं हितकर वचन, द्विषों के दर्शन  
एवं स्पर्श का परित्याग, सभी प्राणियों पर अपने समान दृष्टि ( समदर्शिता ),  
परिग्रह ( पुत्र, कलत्र आदि ) का त्याग, जीर्ण कापाय वस्त्र का प्रयोग,  
ऋषद्वेष, स्पर्श आदि विषयों से इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निरोध, तन्द्रा ( नींद  
के बाद की स्थिति ) और आलस्य ( उत्साहहीनता ) का त्याग, शरीर की  
अपवित्रता आदि दोषों का अन्वेषण, मृती ( यज्ञ, आदि ) प्रवृत्तियों के  
( सूक्ष्म प्राणियों का वध होने से ) पाप देखना रजोगुण एवं तमोगुण का  
परित्याग, ( प्राणायाम आदि द्वारा ) माय की शुद्धि, निस्पृहता ( विषयों  
में अभिलाषा का अभाव ) और शम ( बाह्य और अन्तःकरण का सयम )

इन उपायों द्वारा सम्यक् रूप से शुद्ध और केवल सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १५६-१५९ ॥

वधममृतस्वप्नातिरिष्यत आह—

तस्वस्मृतेरुपस्थानात्सस्त्रयोगात्परिक्षयात् ।

कर्मणा सनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आमारयत्सश्वरमृतेरारमणि निश्चलतयोपस्थानात् सत्त्वशुद्धियोगात्केवलसत्त्वगुणयोगात्कर्मधीजाना परिचयात् सत्पुरुषाणा च सर्व-धात् आत्मयोग प्रवर्तते ॥ १६० ॥

भाषा—आत्मा नाम के मृत्यु का सदा स्मरण करने, आत्मा में निश्चल होकर ध्यान लगाने, केवल सत्त्वगुण के योग से, कर्मरूपी बीज क नष्ट होने से और सत्पुरुषों के सयोग से आत्मयोग प्राप्त होता है ॥ १६० ॥

शरीरसंक्षये यस्य मन सस्वस्यमीश्वरम् ।

अविप्लुतमति सम्यक्सं जातिम्भरतामियात् ॥ १६१ ॥

किंच, यस्य पुनर्धोगिनोऽविप्लुतमते शरीरसंक्षयसमय मन सत्त्वयुक्तं सम्यगेकाग्रतयेश्वर प्रति ध्याप्रियते स यद्युपासनाप्रयोगाप्रधीयतयारमान माधि गच्छति तर्हि विनिष्टमस्कारपाटववशेन आत्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनागार्भ चासादिसमुद्भूतदुस्वप्नराय प्राप्नुयात् । तस्मरणेन च जातोद्देगत्तस्मिन्नेव कारिणि मोक्षे प्रवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—शरीर त्याग क समय जिस अविप्लुतमति ( अहंकार आदि से जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है उस ) योगी का मन सत्त्वगुण से युक्त होकर सम्यक् रूप से केवल ईश्वर में लगा होता है वह यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता तो भी उसे विप्लुके जन्म में अनुभूत दुखों की स्मृति रहता है ( जिससे वह मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है ) ॥ १६१ ॥

यत्सर्वपटुसस्कारतया पूर्वा आनि न स्मरति तस्य का गतिरित्यप्राह—

यथा हि भरतो वर्षेर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ।

नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनु ॥ १६२ ॥

भरतो नर, स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्वाण मितामितपीता दिभिर्वर्णैरामनस्तनु वर्णयति रचयति तथैवतमा सत्कर्मफलोपभोगार्थं कुर्वत चामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेऽरण्यादृते ॥ १६२ ॥

१ अविप्लुतमति सत्त्वगुणजाति । २ सत्स्मरतामियात् । ३ यत्सर्वपटुसस्कार ।

भाषा—जिस प्रकार मट ( नाटक खेलने वाला ) अनेक रंगों से अपने शरीर को रंग लेता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने कर्मों का फल भोगने के लिए अनेक रूपों वाले शरीर धारण करता है ॥ १६२ ॥

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।

गर्भस्य चैकृते दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६३ ॥

किंच, न केवल कर्मैव कुञ्जयामनरवादिनिमित्त, किंतु कालकर्मणि स्वकारणस्ववित्प्राज्ञदोषो मातृशेषश्रेति सर्वमेतत्सहकारिकारणम् । एतेन दृष्टादृष्ट-स्वरूपेण कारणकलापेन गर्भस्वाङ्गहीनरवादिविकारो जन्मन आरभ्यामिष-तजालो दृष्ट ॥ १६३ ॥

भाषा—( न केवल पूर्वजन्म के कर्मों से अर्पित ) काल, कर्म और अपन कारणभूत पिता के दोषों के दोष से तथा माता के दोष से ( इन सभी सहकारी कारणों में भी ) जन्म से अङ्गहीन होना आदि गर्भ का विकार दृष्टिगोचर होता है ॥ १६३ ॥

ननु प्राकृतिकप्रलयपरतरे महदाद्यतिलविकारविनाशे कर्मणो नाशाकथ-  
तन्निवन्धन प्रथमविष्टपरिमह इत्याशङ्क्याह—

अहंकारेण मनसा चरया कर्मफलेन च ।

शरीरेण च नारमार्यं मुक्तपूर्वं कथंचन ॥ १६४ ॥

मनोऽहकारी प्रतिह्नी, गति समरणहेतुभूतो (दोषराशि, कर्मफल धर्मा-  
धर्मरूपम्, शरीर लिङ्गात्मकम्, एतेरहकारादिभिरवमात्मा कदाचिदपि न  
मुच्यते यावन्मोक्ष ॥ १६४ ॥

भाषा—अहकार, मन, गति, धर्म अधर्म रूप कर्मों का फल और शरीर  
से यह भाषा ( मोक्ष होने से पूर्व ) कदापि मुक्त नहीं रहता है ॥ १६४ ॥

ननु प्रतिनियतकर्मणां जीवानां प्रतिनियतकालमेवोपरतिर्युक्ता, न पुनः  
सप्रामादी युगपदकाले प्राणस्यव इत्याशङ्क्याह—

धर्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ।

विक्रियापि च दृष्टेयमकाले प्राणसंशयः ॥ १६५ ॥

यथा हि मलु तैलविलम्बानेकैवर्तिवर्तिनीनां नानाज्जालानां युगपरसंस्थि-  
ति तामां च स्थितानां तदुत्तर दोषूपमानवधनाहतिरूपविषत्तिहेतूनिपात-  
धीगपद्याद्युगपदुपरतिर्यथा भवति तथैव स्थितारविद्याजिकुञ्जरादिजावानां  
युदाद्योपरतिदुषीगपद्यादकालेऽपि प्राणपरिणया नानुपपन्न । एतदुक्त  
भवति—प्रतिनियतकालविषत्तिहेतुमूनादृष्टस्य तद्विरुद्धकार्यंकरदृष्टेनूपनिपातेन  
प्रतिबन्ध इति ॥ १६५ ॥



भाषा—जिन प्रकार एक ही दीपक में तेल से भीषी हुई अनेक बत्तियों से कई लौ एक साथ निकलती हैं और वायु का प्रबल झोंका उन सबको एक साथ ही जुझा देता है उसी प्रकार भकाल में भी अनेक मनुष्यों का एक साथ ही प्राण-नाश हो जाता है ॥ १६५ ॥

सोऽमार्गमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।

सितासिता- क्ववुरूपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १६६ ॥

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भिरग सूर्यमण्डलम् ।

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

योऽसौ हृदि प्रदीपवस्थितो जीवस्तस्यानन्ता रश्मयो नाड्य सुखदुःख-हेतुभूता 'द्रामसतिसहस्राणि' ( प्रा० १०८ ) हृत्पादिनोक्ता सितासितकर्तु-रादिरूपाः सर्वतः स्थितास्तेषामेको रश्मिरूर्ध्वं व्यवस्थित योऽसौ मार्तण्डमण्डल निर्भिद्य हिरण्यगर्भमिच्छय चातिक्रम्य वर्तते तेन जीवः परा गतिमपुनरावृत्ति-लक्षणा प्राप्नोति ॥ १६६-१६७ ॥

भाषा—हृद्य में दीपक के रूप में स्थित जीव की अनन्त रश्मियाँ ( सुख दुःख की हेतुभूत नाडियों ) खेत, कृष्ण, कबरी, कपिला, नीली और लाल वर्ण की होती हैं । उनमें एक नाड़ी ऊपर की ओर स्थित है जो सूर्यमण्डल को भेदकर ब्रह्मलोक क भी पार पहुँचती है, इसके द्वारा ही जीव परम गति प्राप्त करता है ॥ १६६-१६७ ॥

द्वयमार्गमाह—

यद्वस्याभ्यद्रश्मिस्तभूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।

तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

यद्वस्यामनो मुक्तिमार्गभूताद्दशमेरुभ्यद्रश्मिस्तभूर्ध्वकारमेव व्यवस्थितं तेन सुरशरीराणि तैजसानि सुखैकभोगाधिकरणानि सधामानि कनकरजत-रत्नरचितामरपुरसहितानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

भाषा—इस आत्मा के मुक्ति का मार्गभूत नाडियों से भिन्न ऊपर की ओर जाने वाली सौ नाडियाँ हैं, उनके द्वारा ही देवताओं के लोक और शरीर प्राप्त होते हैं ॥ १६८ ॥

संसरणमार्गमाह—

येऽनेकरूपाश्चाघस्ताद्दर्शमयोऽस्य मृदुप्रभा ।

इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽघशः ॥ १६९ ॥

१ कर्तुनीला कपिला. पीतलोहिता । बभ्रुनीला । २. रश्मयश्च ।  
३. मितप्रभा ।

परमादेतानि लिङ्गानि भूतेष्वनुपपन्नानि साधारणस्वरथा वा परमात्मनो द्योत-  
कानि दृश्यन्ते, तस्मादस्ति देहातिरिक्त आत्मा सर्वत्र ईश्वर इति सिद्धम् ॥

भाषा—अहंकार, स्मृति, मेधा, द्वेष, बुद्धि, सुरत, धैर्य, इन्द्रियान्तर  
संचार ( एक इन्द्रिय द्वारा दृष्ट अर्थ का दूसरी इन्द्रिय को ज्ञान ) इच्छा,  
शरीरधारण, प्राणधारण, स्वर्ग, स्वप्न, भावना, इन्द्रियों की प्रेरणा, मन की  
गति, निमेष ( पलक गिराना ), चेतना, यत्न, और पृथिवी आदि पञ्चभूतों  
को धारण करना,—ये प्राणियों में पाये जाने वाले चिह्न परमात्मा के द्योतक  
दिएलाई पद्यते हैं अतएव देह से परे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है जो  
सर्वगतो और ईश्वर है ॥ १७४-१७६ ॥

शैत्रज्ञस्वरूपभाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मन कर्मेन्द्रियाणि च ।  
अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ १७७ ॥  
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञ क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।  
ईश्वर सर्वभूतस्य सन्नसत्सदसश्च य ॥ १७८ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सार्थानि वाग्वादिविषयसहितानि मन कर्मे  
न्द्रियाणि वागादीनि तयाऽहंकारो बुद्धिश्च निष्कारिण्यत्वात् पृथिव्यादीनि पञ्च-  
भूतानि अव्यक्त मूर्तिरित्येतत् क्षेत्रमस्य योऽसावीश्वर सर्वगत अत एव  
सद्रूप प्रमाणान्तराग्राह्यात् । असन् अव्यक्तप्रतीतिरस्यात् । सत्सद्रूपोऽसा-  
त्मा क्षेत्रज्ञ इति निगद्यते ॥ १७७-१७८ ॥

भाषा—बुद्धि, अपने शब्द आदि विषयों सहित श्रोत्र आदि इन्द्रियों,  
मन, कर्मेन्द्रियों अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पञ्चभूत, अव्यक्त ( मूर्ति ),  
ये सब जिस के क्षेत्र हैं वह ईश्वर, सभी प्राणियों में स्थित, सत्, असत्  
और सत्सद् रूप आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १७७-१७८ ॥

बुद्ध्यादेशपत्तिगाह—

बुद्धेरुत्पत्तिरन्यत्तात्ततोऽहंकारसंमयः ।  
तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ १७९ ॥

सत्त्वादिगुणसंगमव्यक्तम् । तत्तद्विप्रकाराया स्वस्वरजस्तमोमय्या बुद्धेरु-  
त्पत्ति, तस्याश्च चैकारिकरतैजसो भूतादिरिति त्रिविधोऽहंकार एत्यद्यते । तत्र  
तामसाद्गतादिसञ्ज्ञकाहंकाराद्यन्मात्रानि, 'आदि'प्रहणाद्गुणनादीनि तानि चैको  
त्तरगुणान्युत्पद्यन्ते । 'व'शब्दाहंकारिकतैजसाम्बा बुद्धिकर्मेन्द्रियाणामुत्पत्ति ॥

भाषा—अव्यक्त ( सत्व, रज और तमस् इन तीन गुणों की साम्या वस्था ) से त्रिगुणात्मकबुद्धि की उत्पत्ति होती है, उस बुद्धि से ( त्रिविध ) अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से आकाश आदि एक एक गुण की वृद्धि द्वारा उत्पन्न होते हैं ॥ १०९ ॥

गुणस्वरूपमाह—

शब्द स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणा ।

यो यस्मात्ति सृजश्चैषा स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

तेषां शक्त्यादिपञ्चभूतानां एकोत्तरवृद्ध्या पञ्च शब्दादयो गुणा वेदिन्याः ।  
एषां च कुञ्जवाविविकाराणां मध्ये यो यस्मात्प्रवृत्त्यादेरुपपन्न स तस्मिन्नेव  
सूक्ष्मरूपेण प्रलयसमये प्रलीयते ॥ १८० ॥

भाषा—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ( उन आकाश आदि पञ्च-  
भूतों के ) गुण हैं । इन ( बुद्धि आदि ) में जो जिससे उत्पन्न होता है वह  
मलय के समय उसी में विलीन हो जाता है ॥ १८० ॥

प्रकरणार्थमुपसंहारमाह—

यथारमानं सृजत्यारमा तथा च कथितो मया ।

विषाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥ १८१ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिता ।

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चकवद् अभ्यते ह्यसौ ॥ १८२ ॥

अनादिरादिमाश्चैव स एव पुरुष पर ।

लिङ्गेन्द्रियप्राणरूप सविकार उदाहृत ॥ १८३ ॥

मानसादित्रिप्रकारकर्मणा विषाकादीश्वरोऽपि सञ्जायते यथारमान एतत्ति  
तथा युष्माकं कथितः । सत्त्वाद्याञ्च गुणास्तस्यैवाविष्टाविसिष्टस्य कीर्तिता ।  
तथा ॥ एव रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चकवदिह ससारे अभ्यसीत्यपि कथितम् । स  
एवानादि परमपुरुष शरीरग्रहणेनादिमान् कुञ्जवामनादिविकारसहितस्तथा  
स्थूलाकारतथा परिणतो लिङ्गेन्द्रियैश्च प्राणरवरूप उदाहृत ॥ १८१-१८३ ॥

भाषा—जिस प्रकार ईश्वर होते हुए भी मानस आदि तीन प्रकार के कर्मों  
के फल से आत्मा स्वयं को उपजाता है वह मैंने कह दिया । सत्व, रज और  
तमस् गुण उसी ( अत्मा से युक्त आत्मा ) के हैं । रजोगुण और तमोगुण  
से युक्त होकर यह ( आत्मा ) चक्र के समान दृग् समार में घूमता रहता  
है । उसी को अनादि, ( शरीर ग्रहण करने से ) आदिमान्, परमपुरुष,

शरीर के विकार से युक्त होने तथा श्वूल आकार का होने ॥ इन्द्रियों द्वारा प्राहुष यत्ताया गया है ॥ १८१-१८३ ॥

श्वरामार्गमाह—

पितृयानोऽज्जवीच्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।

तेनाग्निदोषिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अज्जवीच्यामरमागः तस्यागस्त्यस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निदोषिणः स्वर्गकामाः दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

भाषा—अज्जवीची ( देवताओं के मार्ग ) और अगस्त्य के बीच पितृयान ( पितरों का मार्ग ) है, इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निदोष करने वाले स्वर्ग में पहुँचते हैं ॥ १८४ ॥

ये च दानपराः सम्यगष्टामिश्च गुणैर्युताः ।

तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यमतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिरस्मार्तकर्मपराः सम्यग्दम्भरहिताः तथाऽष्टामिरामगुणैः 'दयादान्तिरनसूयासौचमनायासो मद्गलमकार्पण्यमस्पृहा' ( ८।२३ ) इति गीतमादिप्रतिपादितैर्युक्ताः । तथा च संशयवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृयानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

भाषा—जो दान ( स्मार्त कर्म ) में तत्पर रहते हैं, सम्यक् ( अहंकाररहित होकर ) आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं के उसी पितृयान से देवलोक को जाते हैं ॥ १८५ ॥

ननु नैमित्तिकादिप्रतिसंशयेऽस्त्रिकाध्यापकमलयाद्विहितवेदास्तस्योपरितना जनाः कथमग्निदोषादिकं कर्म करिष्यन्ति कथंतरा आकृतकर्मणा श्वरामार्गमधिरोपयन्तीत्यत आह—

तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरावृत्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसाहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाधमिणः पुनरावृत्तिपर्याणः सर्गादी वेदस्योपदेशकतया धर्मतरूणाद्युभवे बीजभूताः सन्तोऽग्निदोषादिधर्मप्रवर्तकाः, अतो न प्रागुदितदोषसंमामङ्गः ॥ १८६ ॥

भाषा—उस पितृयान में अठ्ठासी हजार गृहस्थ मुनि विद्यास करते हैं ; जो ( सृष्टि के आरम्भ में ) पुनः पुनः वेद का उपदेश करने से धर्मरूपी वृक्ष की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं ॥ १८६ ॥

संसर्पिणागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाधिता ।

तावन्त एव मुनय सर्वाः रम्भविवर्जिता ॥ १८७ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।

तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसंश्लवम् ॥ १८८ ॥

किंच, संसर्पण प्रसिद्धा नागवीथी पेशावतप-या, तद-तराले ताव-त एव अष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनय सर्वाः रम्भविवर्जिता कथञ्चाननिष्ठा तपो ब्रह्मचर्ययुक्ता तथा सङ्गत्यागिना देवलोक समाधिताः आभूतसंश्लव प्राकृत प्रलम्बपर्यन्तमवतिष्ठ-न्ते । तत्र च स्थिता सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्माणां प्रवर्तका ॥ १८७ १८८ ॥

भाषा—संसर्पिणों और नागवीथी ( पेशावतपथ ) के बीच उतने ही मुनि सभी क्रियाओं से विरत होकर ( केवल ज्ञाननिष्ठ होकर ) तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, संग त्याग कर, मेधा से युक्त होकर, देवलोक का आश्रय लेकर महाप्रलय तक स्थित रहते हैं ॥ १८७ १८८ ॥

कथंभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदा पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यंश्च किञ्चन वाङ्मयम् ॥ १८९ ॥

यतो द्विविधादपि मुनिसमूहाश्चत्वारो वेदा पुराणाश्चविद्योपनिषदश्च नि प मूला एवाध्वेतृपरम्परावता प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासात्मका सूत्राणि च भाष्यानुशासनमीमासागोचराणि भाष्याणि च सूत्रधारकारुण्यानि च-यथायुर्विद्यादिक वाङ्मय तदपि वरसकाशाप्रवृत्त तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तका । एव सति वेदस्यापि नातिर्यतादोषप्रसङ्ग ॥ १८९ ॥

भाषा—जिन मुनियों से वेद, पुराण, अङ्गविधार्थ, उपनिषद्, इतिहासात्मक श्लोक, सूत्र, भाष्य और सभी दूसरे ( आयुर्वेद आदि ) वाङ्मय प्रचलित हुए हैं ॥ १८९ ॥

तत किमिरयत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दम ।

अस्योपवास स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतव ॥ १९० ॥

वदरय निरत्यन्व सति तत्प्रामाण्यबलाद्देवानुवचनावय सत्त्वशुद्ध्यावादनद्वा-रेणारमज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्न भवति ॥ १९० ॥

शरीर के विकार से युक्त होने तथा स्थूल आकार का होने से इन्द्रियों द्वारा  
ग्राह्य प्रताया गया है ॥ १८१-१८३ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

पितृयानोऽज्जवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।

तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अज्जवीथ्यमरमार्गं तस्यागराश्वस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निहोत्रिणः  
स्वर्गकामा दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

भाषा—अज्जवीथी ( देवताओं का मार्ग ) और अगस्त्य के बीच पितृयान  
( वितरों का मार्ग ) है, इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निहोत्र करने वाले  
स्वर्ग में पहुँचते हैं ॥ १८४ ॥

ये च दानपरा सम्यगष्टमिश्च गुणैर्युताः ।

तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिस्मार्तकर्मपराः सम्यग्दम्भरहिताः तथाऽष्टाभिरात्मगुणैः  
'दयाशान्तिरनसूयाशौचमनायासो मद्गलमकार्पण्यमशुभा' ( ८।२४ ) इति  
गौतमादिप्रतिपादितैर्युताः । तथा ये च सत्यवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृ  
यानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

भाषा—जो दान ( स्मार्त कर्मों ) में तत्पर रहते हैं, सम्यक् ( अह-  
काररहित होकर ) आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं  
के उसी पितृयान से देवलोक को जाते हैं ॥ १८५ ॥

अनु नैमित्तिकादिप्रतिसंचरेऽक्षिराप्त्वापकप्रलयवाद्बिहितवेदारत्तस्योपरितना  
जनाः कथमग्निहोत्रादिकं वर्जं करिष्यन्ति कथतरां चावृत्तकर्मणः स्वर्गमार्गम-  
धिरोषवन्तीत्यत आह—

तत्राष्टाशीतिसहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरावृत्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाथमिणः पुनरावृत्तिध-  
र्माणः सर्गादीं वेदस्योपदेशकतया धर्मतरुप्रादुर्भावे बीजभूताः सन्तोऽग्निहोत्रा-  
दिधर्मप्रवर्तकाः अतो न प्रागुदितदोषसंमाम्नाः ॥ १८६ ॥

भाषा—उस पितृयान में अष्टाशी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं ;  
जो ( सृष्टि के आरम्भ में ) पुन पुनः वेद का उपदेश करने से धर्मरूपी वृक्ष  
की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं ॥ १८६ ॥

१ सत्यव्रत । २ अष्टाशीतिसहस्राणि । ३ पुनरावृत्तिनो ।

४ समागमः ।

संसर्पिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।

तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।

तत्र गत्वायतिष्ठन्ते यावदाभूतसंस्तवम् ॥ १८८ ॥

किंच, संसर्पयः प्रसिद्धाः, नागवीथी देशवत्पथ्या, तदन्तराले तावन्त एव भट्टाशीतिसहस्रसख्या मुनयः सवारम्भविवर्जिताः कथलज्ञाननिष्ठाः तपो-ब्रह्मचर्ययुक्ताः तथा सङ्गत्यागिनो देवलोक समाश्रिताः आभूतसंस्तवः प्राकृत-प्रलयपर्यन्तमवतिष्ठन्ते । तत्र च स्थिताः सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्मार्णव-प्रवर्तकाः ॥ १८७-१८८ ॥

भाषा—संसर्पियों और नागवीथी ( देशवत्पथ ) के बीच उतने ही मुनि सभी क्रियाओं से विरत होकर ( कथल ज्ञाननिष्ठ होकर ), तपस्या और ब्रह्मचर्य में युक्त होकर, सग त्याग कर, मेधा से युक्त होकर, देवलोक का आश्रय लेकर महाप्रलय तक स्थित रहते हैं ॥ १८७-१८८ ॥

कथभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यंच किंचन वाङ्मयम् ॥१८९॥

यतो द्विविधावपि मुनिसमूहाश्चत्वारो वेदाः पुराणाश्चविद्योपनिषश्च निष्क-भूता एवाप्येतत्परायाताः प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासगमकाः सूत्राणि च शब्दानुशासनमीमांसागोचराणि भाष्याणि च सूत्रस्याएवार्कपाणि षडम्बदायुर्वि-द्यादिक वाङ्मय, तदपि यासकाशात्पट्टञ तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः ॥ एष सति वेदस्यापि नाभिव्यतादोषप्रसङ्गः ॥ १८९ ॥

भाषा—अतः मुनियों से वेद, पुराण, अङ्गविद्याएँ, उपनिषद्, इति-हासात्मक श्लोक, सूत्र, भाष्य और सभी दूसरे ( आयुर्वेद आदि ) वाङ्मय प्रचलित हुए हैं ॥ १८९ ॥

तत किमित्यत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।

धर्दोपवासं स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतव ॥ १९० ॥

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्देवानुवचनमादयः सत्त्वशुद्धपापादनद्वा-रेणामनुसरय हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

भाषा—वेद समस्त घचन, यज्ञ, ब्रह्मपर्व, तप, दम ( इन्द्रियों क  
दमन ), धृद्धा, उपवास और ( विषयामक्ति के दोष का नाश होने प  
ध्यान और धारणा में ) आत्मा की स्वतन्त्रता—ये ज्ञान के हेतु हैं ॥ १९० ॥

स ह्याधमैर्विजिज्ञास्यः संमस्तैरेवमेव तु ।

द्रष्टव्यस्त्वय मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥

यं एनमेघं विन्दन्ति ये धारण्यकमाश्रिताः ।

उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥

किंच, परमादिशयतयासमप्रमाणभूतो वेदस्तस्मादसायुक्तमार्गेण सकलाधमि-  
भिर्निर्नामप्रकार जिज्ञासितव्यः । तमेव प्रकार दर्शयति—द्विजातिभिर्द्रष्टव्योऽपरो-  
क्षीकर्तव्यः । तत्रोपाय दर्शयति—श्रातव्यो मन्तव्य इति । प्रथमतो वेदान्मभवा-  
णेन निर्णेतव्यः, तदनन्तर मन्तव्यः पुत्रिभिर्विचारयितव्यः, ततोऽसौ एवानेनाप-  
रोक्षी भवति । ये द्विजातयोऽतिशयश्रद्धायुक्ताः सन्तो निर्जनप्रदेशमाश्रिता मन्त  
पृथगुक्तेन मार्गेण एवमात्मान सत्यं परमार्थभूतमुपासते ते आत्मान विन्दन्ति  
लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९१-१९२ ॥

भाषा—द्विजाति सभी आधर्मों में उस आत्मा के विषय में जिज्ञासा  
करें, ( वेदान्त ) अध्याय द्वारा उसका निर्णय करें, पुनः उस पर मनन  
अर्थात् युक्तियों द्वारा विचार करें और तब ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार  
करें । जो द्विन अश्वस्त श्रद्धा से युक्त होकर निर्जन प्रदेश में निवास करते  
हुए उपरोक्त विधि से इस परमार्थभूत आत्मा की उपासना करते हैं वे ही  
इसे प्राप्त करते हैं ॥ १९१-१९२ ॥

प्राप्तिमार्गं देववानमाह—

क्रमात्ते संमधम्यखिरहः शुक्लं तयोत्तरम् ।

अपनं देवलोकां च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥

ततस्तां पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।

करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ते विदितप्रमाण क्रमादन्यापामिमानिदेवतारथानेषु मुक्तिमार्गभूतेषु विधम्य  
तैः प्रस्थापिताः परमपद प्राप्नुवन्ति । अर्चिर्बहिः, अहर्दिन, शुरुपचः, तयोत्तरा-  
यण, सुरसम्र, सविता सूर्य, वैद्युतं च तेजः, तान् एव क्रमादर्चिरादिस्थानगता-  
न्मानसः पुरुषो ब्रह्मलोकमाह्वयं करोति । तेषामिह समारे पुनरावृत्तिर्न विद्यते,  
किंतु प्राकृतप्रतिसंचारावसरे त्यक्तलिङ्गशरीरा परमात्मन्येकीभवन्ति ॥ १९३-१९४ ॥

१ समस्तैरेवमेव । २ ॥ एवमेव ।



भाषा—वे आरामशाली क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देव लोक, सवितृ और तेज के लोक में जाते हैं। तब उन्हें मानस पुरुष ब्रह्मलोक में पहुँचाता है और उनके इस ससार में पुनर्जन्म नहीं होता ( अर्थात् वे परमात्मा में विलीन हो जाते हैं ) ॥ १९३-१९४ ॥

पूर्वोक्तपितृयानमाह—

यद्येन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ।  
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥  
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ।  
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥  
एतथो न विजानाति मार्गद्वितीयमारमयान् ।  
दग्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमि ॥ १९७ ॥

ये पुनर्विहितैर्मानैर्दण्डदानतपोभि स्वर्गफलभोक्तारस्ते क्रमाद्धूमाद्विचन्द्रपर्व  
स्तपदर्शाभिमानिर्भावेकता प्राप्य पुनरेव वायुवृष्टिजलभूमी प्राप्य व्रीह्याद्यन्नरू-  
पेण शुक्रत्वमवाप्य ससारिणो योनिं व्रजन्ति । एतन्मार्गद्वयममत्तो यो न विजा-  
नाति मार्गद्वयमत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयोपायभूतधर्मनुष्ठान न करोति  
असौ दग्दशूको भुजङ्ग, पतङ्ग शलभ कृमि कीटो वा भवेत् ॥ १९५-१९७ ॥

भाषा—पशु, तपस्या और दान से जो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे  
धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक और चन्द्रलोक के देवताओं में  
जा पहुँचते हैं और फिर वायु, वृष्टि, जल और पृथिवी को प्राप्त कर ( प्रादि-  
आदि भग्न से शुक्र घनवर ) क्रमशः इस ससार में पुनर्जन्म लेते हैं।  
जो प्रमत्त व्यक्ति इन दोनों मार्गों को नहीं जानता है ( इन दोनों मार्गों के  
उपायभूत धर्म का अनुष्ठान नहीं करता है ) वह दग्दशूक सर्प, पतंगा,  
कीटा अथवा कृमि का जन्म पाता है ॥ १९५-१९७ ॥

उपासनाप्रकारमाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणं सव्ये न्यस्योत्तरं करम् ।  
उत्तानं किञ्चिदुन्नाभ्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥  
निमीलिताक्ष सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंसृशन् ।  
तालुस्थाचलसजिह्वश्च संवृतास्य सुनिश्चल ॥ १९९ ॥  
संनिदग्दधेन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः ।  
द्विगुणं त्रिगुणं चापि प्राणायाममुपकमेत् ॥ २०० ॥

ततो ष्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ।

धारयेत्तत्र चात्मानं धारणां धारयन्बुधः ॥ २०१ ॥

ऊहस्थायुत्तानौ चरणौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्माननः, तथोक्ताने सश्यकरे दक्षिणमुत्तान न्यस्य मुगं किंचिदुज्ञाम्भोरमा च विष्टम्प स्तम्भपिरया तथा निर्मालिताशः, सश्वरथः कामकोषादिरहितः, दन्तैर्दन्तानसंस्पर्शयन् तथा तालुनि रियता अचला जिह्वा यस्य स तथोक्तः, तथा सशु-  
तास्यः पिहिताननः, सुगिबलो निष्पङ्कम्पः, तथा सम्पनिन्द्रियसमूहं विषये-  
भ्यः प्रत्याहार्य नातिनीचामनो नात्युष्टितामनो यथा चित्तविद्येवो न भवति तथोपविष्टः सन्, द्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामाभ्यासमुपक्रमेत् । ततो वहीकृत-  
पवनेन योगिना योऽसौ हृदये दीपवदपङ्कम्पः प्रभुः स्थितोऽसौ, ध्यातास्यः ।  
तत्र च हृदि आत्मानं मनोगोचरतया धारयेत् । तत्र धारणां च धारयेत् ।  
धारणास्वरूपं च जान्वन्नभ्रमणेनच्छोटिकादानकालो मात्रा, ताभिः—पञ्चदशमा-  
प्राभिरश्रमः प्राणायामः, त्रिंशद्भिर्मध्यमः, पञ्चचत्वारिंशद्भिर्हस्तम इति । प्राणा-  
यामप्रथारिमकैका धारणा, ताविस्रस्रो 'योरा'शब्दवाच्यारसाश्च धारयेत् । यथो-  
क्तमन्वय—'सभ्रम्य श्लोऽटिकां दद्यात्कराम जानुमण्डले । मात्राभिः पञ्चदशभिः  
प्राणायामोऽधमः रम्यः ॥ मध्यमो द्विगुणः श्रेष्ठस्त्रिगुणो धारणा तथा । त्रिभि-  
स्त्रिभिः स्मृतैकैका ताभिर्योगस्तथैव च ॥' इति ॥ १९८-२०१ ॥

भाषा—पद्मासन लगाकर ( जंघों के ऊपर चरणों को उल्टा रखकर )  
दायें हाथ में दाहिने हाथ को उत्तान रखकर, मुग्न को कुछ ऊपर बटाकर  
और वक्षस्त्रल से रोक कर, भौंशों को बन्दकर, काम, क्रोध आदि का त्याग  
करके, दाँतों को बिना मिलाये हुए, तालु स्थान में जिह्वा को निरचल रखकर,  
मुह बन्द करके, अत्यन्त विरचल होकर ( बिना हिले हुले ), इन्द्रियों को  
विषयों से पूर्णतः मोड़कर तथा न अधिक नीचे और न अधिक ऊँचे आसन  
पर बैठकर दुगुना या त्रिगुना प्राणायाम करने का अभ्यास करे । तदुपरान्त  
हृदय में निरचल दीप के समान स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिए और  
तब धारणा ( जो तीन प्राणायामों की होती है ) करते हुए उस हृदय में  
आत्मा को धारण करे ॥ १९८-२०१ ॥

धारणात्मकयोगाभ्यासे प्रयोजनमाह—

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रघृता तथा ।

निर्जं शरीरमृत्सृज्य परकायपनेशनम् ॥ २०२ ॥

१. धारणामवधारयन् । २. सिद्धेशः सिद्धिर्हि ।

अर्थानां छन्दतः सृष्टियोंगसिद्धेर्हि लक्षणम् ।

सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय वरूपते ॥ २०३ ॥

अग्निमैत्राप्स्या परैरहरयस्वमन्नधानम्, स्मृतिरतीन्द्रियेष्वर्षेषु मन्वादेरिव स्मरणम्, कान्तिः कमनीयता, इष्टिरतीतानामतेष्वर्षेषु, तथा श्रेयज्ञता भक्ति-  
द्वीयसि देशोऽभिव्यज्यमानतया ओन्नपथमनासेदुपामपि शब्दानां ज्ञातृता,  
निजशरीरस्यागेन परशरीरप्रवेशनम्, स्ववाञ्छावशेनार्थानां वर्णननिरपेक्षतया  
सृष्टि, इत्येतद्योगस्य सिद्धेर्लक्षणं लिङ्गम् । मथैतावदेव प्रयोजन, किंतु सिद्धे  
योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ब्रह्मत्वप्राप्तये च प्रभवति ॥ २०२-२०३ ॥

भाषा—अन्तर्धानं होमा ( दूसरों द्वारा न देखा जाना ), स्मृतं ( भती-  
न्द्रिय विषयों का स्मरण ), शोभा, इष्टि ( भूत और भविष्यत् का ज्ञान ),  
अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, अपनी इच्छा के अनुसार  
वरपुत्रों की सृष्टि—ये सभी योग की सिद्धि के लक्षण हैं । योग की सिद्धि  
हो जाने पर शरीर का पारत्याग करके योगी ब्रह्मत्व-प्राप्ति में समर्थ  
होता है ॥ २०२-२०३ ॥

पञ्चदानाद्यसंभवे सप्तष्टुदाशुपायान्तरमाह—

अथवाप्यभ्यसभ्येर्दं भ्यस्तकर्मा वने वसन् ।

अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

अथवा सप्तकामनिषिद्धकर्मा अभ्यतमं वेदमभ्यसन्, एकाग्रतशीलो-  
ऽयाचितमिताशनापादितसप्तष्टुद्विराशोपासनेन परां मुक्तिलक्षणां सिद्धिं  
प्राप्नोति ॥ २०४ ॥

भाषा—अथवा ( यज्ञ, दान आदि न कर सकने पर ) सभी काम्य  
निषिद्ध कर्मों का त्याग करके, किसी वेद का अभ्यास करते हुए, वन में  
रहकर ( वानप्रस्थाश्रम में ), विना माँगीही मिले हुए भोजन करने  
वाला, अक्षपाहारी व्यक्ति परम सिद्धि ( मुक्ति ) प्राप्त करता है ॥ २०४ ॥

भ्यायागतधनस्तस्वेषाननिष्ठाऽतिथिप्रियः ।

आद्रकृत्स्नसत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ २०५ ॥

किंच, सत्यप्रतिग्रहादिन्यायेनोपाजितधनं अतिथिपूजातत्परः निःसर्गैति-  
त्तिक्रम्यादानुष्ठाननिरतः सत्यवदनशील सद्वाक्यतरवभ्याननिरतो गृहस्थोऽपि  
हि यस्मान्-मुक्तिमवाप्नोति तस्माच्च केवलमैहिकपौरित्वज्यपरिग्रह एव मुक्ति-  
साधनम् ॥ २०५ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक घनोपार्जन करने वाला, भतिपिसरकार में तत्पर (निर्यनैमित्तिक) श्राद्ध अनुष्ठान में रत, सत्यवादी और आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन रहने वाला गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २०५ ॥

दृश्यध्वारमपकरणम् ।

## अथ प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५

( १ ) कर्मविपाक

'वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रुहि धर्मानदोषतः' ( भा० १ ) इत्यत्र प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञातपद्विषयधर्ममध्ये वज्रपकार धर्ममभिधायाधुनाऽऽशिष्ट नैमित्तिक धर्मजात प्रायश्चित्तवदाभिलष्य प्रारिप्सु प्रथमतस्तत्प्रतोचनार्थमधिकारिविशेष-प्रदर्शनार्थं आर्षंवादरूप कर्मविपाक तावदाह—

महापातकजाभ्योराघ्नरकान्प्राप्य दारुणान् ।

कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्रिह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिपञ्चकस्य महापातकसज्ञा 'ब्रह्महा मद्यव' ( प्रा० २२७ ) इत्यत्र चक्षते तद्योगिनो महापातकिनस्ते महापातकजमितास्तामिन्द्रादिनरकान्पञ्च-नितदुष्कृतानुरूपान् चारानतितीप्रवेदनापादकत्वेनातिभयकरान्दारुणान्द्रु त्रैक-भोगनिलयान् प्राप्य कर्मक्षयात् कर्मज-घनतरकहु खोपभोगक्षयात्घनस्तर कर्मक्ष-यात्पुनरिह सप्तारे दुःखबहुलश्रमगालादितिर्यग्योनिषु प्रक्षेपेण भूयो भूयो जायन्ते । 'महापातकि'महणमितरेषामप्युपपातक्यादानामुपलक्षणम् । तेषां च तिर्यगादिषोनिप्राप्तेर्भयमाजन्त्यात् ॥ २०६ ॥

भाषा—( ब्रह्महत्या आदि ) महापातकीं से उत्पन्न तामिस्र आदि घोर नरकी को ( अपने कर्म क अनुसार ) भोगकर कर्मों का क्षय होने पर महा पातकी पुन-पुन इस सप्तार में ( दुःख से व्याप्त योगियों में, जो जागे उदिल्लित हैं ) जन्म लेते हैं ॥ २०६ ॥

महापातकिना सप्तारप्राप्तिमुक्त्वा तद्विशेषकथनायाह—

मृग(गा)श्वसूकरोप्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ।

घ्नरपुस्कसचेनाना सुरापो नात्र संशय ॥ २०७ ॥

कुमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समान्पुयात् ।

तृणशुभ्रमलतात्वं च क्रमशो गुरुतरुपग ॥ २०८ ॥

मृगा हरिणादयः, असूकरोऽपि प्रसिद्धा, तेषां योनिं ब्रह्महा स्वकर्मशेषेण प्राप्नोति । खरो रासभ, पुरकस प्रतिभोमनिपादेव शूद्रत्वा जात वैदेहकेना भ्रष्टत्वा जातो वेन, तेषां योनिं सुराप प्राप्नोति । क्रम्य सजातीयसभोगनि-  
 ग्नेषां मांसविष्टाभोगमयादिज-या, तत किञ्चित्स्थूलतरा षडारिपरहिता सजातीयसभोगनिरपेक्षा पिपीलिकादयः कीटा, पतङ्ग शलभ, तेषां योनिं ब्राह्मणस्वर्णहारी प्राप्नुयात् । वृण काशादि गुरुमल्ल प्रागुक्ते, तज्जातीयतां क्रमेण गुरुतरण्य प्राप्नोति । एतन्नाकामकृतविषयम्, कामकारकृते तन्व्यास्वपि  
 ॥ अशुद्धयोनिषु ससरन्ति, यथाह मनु ( १२।५५-५८ )— असूकरखरो  
 मृगा गोऽजोविमृगपक्षिणाम् । चाण्डालपुष्कसाना च ब्रह्महा योनिमृज्जनि ॥  
 इमिकीटपतङ्गानो विड्भुजा चैव पक्षिणाम् । हिंसागो चैव सन्वाना सुरापे  
 ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ एताऽऽहिसरठानां च तिरश्चा चाण्डुचारिणाम् । हिंसाणां च  
 पिशाचाना स्तेनो विप्र सहस्रज ॥ एता उर्णमाभ । सरठ कृकलास ।—  
 वृणगुरुमल्लताना च क्रम्यादां दम्बिणामपि । मूरकर्महतां च व शतशो गृह्य  
 ष्यन् ॥ इति ॥ २०७ २०८ ॥

भाषा—ब्रह्महत्या करने वाला हरिण कुत्ता, सूअर और जै का जन्म पाता है, सुरा पीने वाला गधा पुरकस ( निपाद द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुरुष ) और वेण ( वैदेहक द्वारा भ्रष्टत्वा से उत्पन्न ) की योनि पाता है इसमें स-वैद नहीं । ( ब्राह्मण का ) सोना सुरापीे वाला कृमि ( मांस, विष्टा आदि में उत्पन्न होने वाले काड़े ) कीट ( चींटी आदि ) और पक्षियों की योनि प्राप्त करता है । गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाला क्रमया वृण, गुरुम ( छोटी लता ) और लता का जन्म पाता है ॥ २०७-२०८ ॥

एव च तिर्यक्त्वाद्युत्तीर्णना मानुष्ये रोगादि लक्षणानि भवन्तीत्याह—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुराप श्याचदन्तक ।

हैमहारी तु कुनखी दुग्धर्मा गुरुतरण्य ॥ २०९ ॥

यो येन सवसरयेषा स तद्विज्ञोऽभिजायते ।

किञ्च, एव रौरवादिभरकपु असूकरखरादिवानिषु च दारुण दुःखमनुभूया-  
 नन्तर दुरितशेषेण जननसमय एव चक्षुरोगादिलक्षण्युष्मा । प्रजुरेषु मानव शरारेषु ससरन्ति । तत्र ब्रह्महा क्षयरोगी राजयक्ष्मी भवेत् । निषिद्धसुरापे स्वभावतः कृष्णदशन, ब्राह्मणहेम्नो हर्षा कुस्तिवनसत्वम्, गुरुदारुगामी दुग्धर्मत्व कुष्ठिताम् । एतेषां ब्रह्महादीनां मध्ये वेन पतितेन य पुरुष सवसति सवसति स तद्विज्ञोऽभिजायते ॥ २०९ ॥

भाषा—( मनुष्य का जन्म पाने पर ) ब्राह्मण की दृष्टा करने वाले राजपक्षमा का रोगी होते हैं; सुरा पीने वाले के दौंत स्वभागतः काले होते हैं; ( ब्राह्मण का ) सोना पुराने वाले के भस्म भटे होते हैं और गुरपानी का भोग करने वाला कोढ़ी होता है । इन प्रकृष्टा आदि महापातकियों में जिसके साथ कोई निवास करता है वह भी उसी के समान महापातकी होता है ॥ २०९३ ॥

अथद्वर्ताऽऽमयाधो स्यान्मूको घागपहारकः ॥ २१० ॥

धाम्यमिधोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।

तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिघण्टस्तु सूचकः ॥ २११ ॥

क्रिच, अथद्वर्ताऽऽमयाधो अजीर्णाङ्गः । घागपहारकोऽननुज्ञाताध्यायी पुरतकापहारी च मूको घामिन्द्रियविकलो भवेत् । धाम्यमिधोऽतिरिक्ताङ्गः पङ्कजवादिः पिशुनो विद्यमानपरक्षोपप्रख्यापनदीलः । पूतिनासिकः दुर्गन्धनासिकः, तैलरस्य द्वर्ता तैलपायी कीटविशेषो भवति । सूचकोऽसहोपसंकीर्तनो दुर्गन्धघटनो जायते । एतच्च तिर्यक्त्वमाप्नुयुस्त्वाकालं मानुषक्षरीरप्राप्तौ द्रष्टव्यम् ( १२।६० )—‘यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहस्य बलाघरः । अवर्यं याति तिर्यक्त्वं जन्वा चैवाहुतं हविः ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ २१०—२११ ॥

भाषा—अन्न पुराने वाले को अजीर्ण का रोग होता है और वागी ( अर्थात् पुरतक ) पुराने वाला गूँगा होता है । धाम्य में मिलावट करने वाले का कोई भग ( भंगुकी आदि ) बन्धा होता है और पिशुन ( बूतरो का होप कहने वाले चुगलखोर ) की नाक दुर्गन्धयुक्त रहती है ॥ २१०—२११ ॥

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्थमपहस्य च ।

अरण्ये निर्जले देशे भयति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

क्रिच, या परदारामपहरति, ब्रह्मत्वं च सुवर्णव्यतिरिक्तमपहरति, भसावरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो जायते ॥ २१२ ॥

भाषा—परायी स्त्री का और ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला -वध में निर्जल स्थान पर ब्रह्मराक्षस होकर जन्म लेता है ॥ २१२ ॥

हीना जातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।

पत्रशाकं शिखी हृत्वा गन्धाञ्छुच्छुन्दरी शुभान् ॥ २१३ ॥

क्रिच, हीनजातौ हेमकाराख्यायां पत्रिजातौ पररत्नापहारको जायते । तथा च मनुः ( १२।६१ )—‘मणिमुक्ताप्रनालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विवि-  
।।नि च रानानि जायते हेमकर्तृषु ॥’ इति । पत्रात्मकं शाकं हृत्वा मयूरः ।  
।मानगन्धानपहस्य शुच्छुन्दरी राजदुहिताख्या मृषिका जायते ॥ २१३ ॥

भाषा— दूसरे के रत्न को सुराने वाला हेमकार नाम के निम्न कोटि के पक्षियों की योनि में ज म लेता है पक्षों वाला शाक सुराने पर मयूर और सुगंधद्रव्यों को सुराने पर ब्रह्म दर का ज म मिलता है ॥ २१३ ॥

मूपको घान्यहारी स्याद्यानमुष्टू कपि फलम् ।

जल प्लव पय काको गृहकारी ह्युपस्करम् ॥ २१४ ॥

मधु दश पक्षं गृध्रो ग गोघान्नि वकस्तथा ।

श्वित्री वस्त्र श्वा रसं तु चीरी लवणहारक ॥ २१५ ॥

किं च, घा पहारा अस्तु यान ह्युषोष्टू फल वानर जल प्लव, शकटविलापय पक्षी पय चीर काको षड्भु गृहोपस्कर सुमलादि ह्यावा गृहकारी चटकाक्षय कीटविशेष मधु हत्वा दशाख्य कीट पल मांस तद्दुग्धा गृध्राख्य पक्षी गा ह वा गोघाट्य प्राणिविशेष अग्नि हुरवा वकाक्षय पक्षी वक्र हत्वा श्वित्री ह्यवादिस्व हत्वा नारमेय लवणहारी श्विर्घाट्य उच्चैस्वर कीट ॥ २१४-२१५ ॥

भाषा—घा य सुरान वाला चूहा होता है और यान ( खयारी ) सुराने वाला ऊँट तथा फल सुराने वाला बन्दर होता है । जल सुराने वाला शकटविल पक्षी का दूध सुराने वाला कौए का और मूलज भादि जैसे गृहस्थी का उपकरण सुराने पर गृहकारी ( चटक ) पक्षी का ज म मिलता है । मधु सुरान वाला दश ( मन्डर ) भाप सुराने वाले गृध्र गाय सुराने वाला गोह अग्नि सुराने वाला वक पक्षी वस्त्र सुराने वाला कुष्ठ ईश आदि का रत्न सुराने वाला कुत्ता और नमक सुरान वाला चीरी कीड़ा होकर ज म लेता है ॥ २१४-२१५ ॥

एष प्रदर्शनार्थं किञ्चिदुक्त्वा प्रतिद्वयं पृष्टाकोट यावेन वक्तुमशक्तेरकोपा धिना कर्मविपाक दर्शयितुमाह—

प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं भ्नेयकर्मणि ।

द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातय ॥ २१६ ॥

द्रव्यस्यापदिभमाणस्य यादृशा प्रकारस्तादृशा एव प्राणिजातय रतैय कर्मण्यपहर्तारो भवति । यथा वीर्यहारी हस इति । अथवा यफलसाधन द्रव्यमपहरति ताम्नाधनत्रिकल -यथा बहुतामघहारक इति ॥  
 वाग्ज्येय, चर्चिद्भयोके, द्दिकत १, अहह, कुष्टी, सैवसापहारी, जप्यन्ती, देव्य, गृणा, क्रीशक, खलति, शरदाग्निदातु मत्तौ गुरु प्रतिह-तापस्मारी गोमशा घ,

धर्मदर्शनी स्यवसान्वयत्र प्रवृत्त शब्दवेधो प्राणिविशेष, कुण्डाशी भगभक्षो देवज्ञेहस्वापहारी पाण्डुरोगी, न्यासापहारी च काण, स्त्रीपण्योपज्ञोषो पण्ड, कौमारदारभ्यागो दुर्भंग, मिष्टैकाशी घातगुल्मी, अमन्वयमक्षको गण्डमाली, प्राज्ञगोगामी निर्वांजी, क्रूरकर्मा वामन, ब्रह्मापहारी पतंग, शर्यापहारी चपगक, शङ्खशुक्लपहारी कपाली, श्लेषापहारी कौशिक, मित्रद्रुक क्षपी, मातापित्रोराक्रांश रज्जुक इति ॥ गौतमोऽपि कचिद्विशेषमाह—अमृतवा-  
 गुद्वल मुहर्मुहु सलज्जवाक्, दाररव्यागी जलोदरी, कूटपाक्षी रलीपदी उच्छ्रृण  
 ब्रह्माचरण, विवाहविप्रकर्षा क्षिप्रोष्ठ, अक्षगूरण क्षिप्रहस्त, मातृघ्राण्ड,  
 ह्युगामो वाहवृषग, चतुष्पथे विष्णुविसर्जने मृगकृच्छ्री, कन्यादूषक पण्ड,  
 ह्यर्षालुमंसक, पित्रा विषदमानोऽपस्मारी, न्यासापहारी अनपाथ, रत्नापहारी  
 भयन्तदरिद्र, विद्याविक्रयो पुरुषमृग, वेदविक्रयो द्वीपी, बहुयाजको जलप्लव,  
 अद्यायदाजनी वराह, अनिमप्रतमोक्षी वायव, मृष्टैकमोक्षी वानर, पतस्त  
 तोऽश्नभ्राजार, कक्षधनदहनारस्योत, दारकाचार्यो मुखविगन्धि, पर्युपि-  
 नभाशी कृमि, अदत्तादायी बलीवर्द, मरुती भ्रमर, अस्पृश्यादी मण्डलकुष्टी,  
 शूद्राचार्य श्पथ, गौहर्ता सर्प, रनेहापहारी क्षयी, अज्ञापहारी अजीर्णी,  
 ज्ञानापहारी मूक, चन्डालीपुष्कलीगमने अजगर प्रस्रजितागमने महविशाच,  
 युद्धीगमने दार्घकीट, सवर्णाभिगामा क्षिप्र, जलहारी मरुप, क्षीरहारी  
 बलाक, बाहुंपिकोऽद्रहान, अतिक्रेश्विक्रयी शूभ्र, राजमहिषीगामी जपुसक,  
 रापाक्रोशको गर्दभ, योगामी मण्डूक, अनप्यावाप्यवने सृगाल, परद्रव्यापहारी  
 परप्रेष, मरुपवधे गमवासी, ह्यवेतेऽनूर्ध्वगमना इति ॥ क्षिप्रोऽप्येतेषु निमित्तेषु  
 पूर्वोक्तारवध नातिषु न्यायमनुभवन्ति । यथाह मनु ( १२।६९ )—'क्षिप्रोऽ-  
 प्यत एवमेव कृशो दीपमयाऽप्युषु । एतेषामेव ज नूनं भार्याश्चमुपयान्ति  
 ता ॥' इति । एतच्च क्षयिवादिदण्डन प्रायश्चित्तोन्मुखीभूतप्रह्लादुद्देश  
 जनार्धं न पुन क्षयिवादिदण्डनयुक्ताना ह्यदशायादिकादिपतत्राप्यधं समर्ग  
 निवृत्त्यर्थं च । तथा हि—यावत्कार्यं शक्यञ्चित्तम् । नच प्रायश्चित्तन मारुधक  
 लपानापूर्वविनाशे किञ्चन प्रयोजनमस्ति । नहि क मुंकिमुंको यागो लप्यधये  
 यद्बुधसहस्रावारस्य वा सैतन्तर पुनरपेक्षते । न च तदारुधकलमाशार्धं पूर्व  
 माशाऽ-वपणीय । नहि निमित्तकारणीभूतचक्रपीररादिविनाशेन तदारुधकर-  
 कादिविनाशः । नच नैसर्गिक कौनव्यादिक प्रयानेषु क्षयते । किञ्च नरक  
 तिर्यगान्यादिभ्रष्टदुत्परपरामर्शुंभूतस्य हि कौनव्यादिको विकारधरम फलम् ।

- १ प्रह्लादवह । २ मृष्टैकाशी ३ गण्डकाः । ४ अक्षयुजसृष्ट ।  
 ५ अक्षगूरणी । ६ मिष्टैकमोक्षी । ७ ह्यवा होप । ८ न च प्रारुध ।  
 ९ सप्ता पुनरपेक्षते । १० क रणभूत । ११ मनुभूय तस्य ।



तेन चोत्पन्नमात्रेण स्वकारणापूर्वनाशो जन्यते मन्थनजनिताशुशुभ्रिनेवार-  
गिस्तयः । तस्माच्च पापविनाशार्थं प्रतपरिचर्या, नापि सम्भवहारार्थम् । नहि  
शिष्टाः कुनख्यादिभि सह सचन्ध परिहरन्ति । प्राचीनव्याख्यापनाशेन सम्भव-  
हार्यत्वस्यापि सिद्धेर्नार्थो व्रतचर्याया ॥ यच्च वसिष्ठेनोक्तम् ( ३०६ )—‘कुनखी  
रयापदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्’ इति तच्छामकत्वादिबन्धनैमित्तिकमात्रं न  
पुन पापक्षयार्थं सम्भवहार्यत्वसिद्धयर्थं वेति मन्तव्यम् ॥ २१६ ॥

भाषा—इतना भैने उदाहरण के लिये कहा है । दूसरे का द्रव्य सुराने  
पर हो जिस प्रकार का द्रव्य होता है उसी प्रकार की योगि ( चोरी करने  
वाला ) प्राप्त करता है ।

यथाकर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात् ।

जायन्ते लक्षणधरा दरिद्राः पुष्टपाधमाः ॥ २१७ ॥

किंच, यथाकर्म स्वष्टसुकृतानतिक्रमेण तदनु रूप नरवादि फल तिर्यक्त्वं च  
प्राप्य कालक्रमेण क्षीणे कर्मणि दुष्टलक्षणा दरिद्राश्च पुष्टपेषु निकृष्टा जायन्ते ॥

भाषा—अपने किए हुए कर्म के अनुसार नरक आदि फल और पशु  
पक्षियों की योगि प्राप्त करते ( कालक्रम से कर्म के क्षीण होने पर ) वे कुरूप  
दरिद्र और पुरवों में निकृष्ट होकर जन्म लेते हैं ॥ २१७ ॥

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः ।

जायन्ते विधयापेता धनधान्यसमन्विता ॥ २१८ ॥

किंच, ततो दुर्लक्षणमशुभजन-मानन्तर निष्कल्मषीभूता नरकापुनभोगद्वारेण  
क्षीणपापा प्राग्भवीषनुकृतशैवेण महाकुले भोगसपत्ना विद्याधनधान्यसंपन्ना  
जायन्ते ॥ २१८ ॥

भाषा—तब ( इस प्रकार के मनुष्य ) जन्म जन्मान्तर में नरक आदि  
के भोग द्वारा पापों के क्षीण होने पर भोगसपत्न उच्छ कुल में धनधान्य से  
युक्त और विद्या से सम्पन्न होकर जन्म लेते हैं ॥ २१८ ॥

एष प्रायश्चित्तेषु प्ररोचनार्थं कर्मविपाकमभिधायाधुना तेष्वेवाधिकारिण  
निरूपयितुमाह—

विदितस्याननुष्ठानाग्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिप्रहाञ्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ २१९ ॥

तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।

एषमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति ॥ २२० ॥

१. प्राचीनन्यात् । २ सम्भवहार्यत्वस्यापि । ३. यथा कर्म ।

विहितमिति यदावश्यक सध्वोपासनाग्निहोत्रादिक नियमशुचिरस्पर्शादी  
 नैमित्तिकत्वेन चोदित छावादिक च तदुभयमुच्यते तस्याकरणत्, निन्दितस्य  
 निषिद्धस्य सुरापानादे करणात्, इन्द्रियाणामनिग्रहाच्च नर पतनमृच्छति  
 प्राप्नोति । प्रत्यवायी भवतीति यावत् ॥ ननु 'इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत  
 कामत' ( मनु ४।१६ ) इतीन्द्रियप्रसक्तेरपि निषिद्धत्वात् 'निन्दित' ग्रहणे-  
 नैव गतार्थत्वात्किमर्थं 'अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणाम्' इति पृथगुपादानम् ? अत्रो-  
 च्यते,— इन्द्रियप्रसक्तिनिषेधस्य नैकान्ततत प्रतिषेधरूपता स्नातकमतमध्येऽस्य  
 पाठास्तत्र च 'व्रतानीमानि धारयेत्' ( मनु ४।१६ ) इति 'व्रत'शब्दाधिहारा-  
 न्नाश्रवणाच्चेन्द्रियप्रसक्तिप्रतिषेधक सत्स्यो विधीयते । स 'बोधय रूप इति  
 पृथगुपादानम् ॥ ननु विहिताकरणात् प्रत्यवेतीति कुतोऽवसितम् ? न तावदग्नि  
 होत्रादिचोदना पुरूपप्रवर्तनारिमकाऽननुष्ठानस्य प्रत्यवायहेतुतामाक्षिपति । विप-  
 यानुष्ठानस्य पुरूपार्थत्वावगतिमात्रपर्यवसायिनी हि सा तावन्मात्रेण प्रवृ-  
 पपत्तेर्न पुनरकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमपि वक्ति, क्षीणशक्ति वादनुपपत्ते ।  
 किञ्च, यद्यनुपपत्त्युपपत्तेऽपि प्रवृत्तिसिद्धपर्यवसाय-तर कल्प्यते तर्हि निषिद्ध  
 नामक्रियाजन्मप्रत्यवायपरिहारार्थतयैव तद्वर्जनस्य पुरूपार्थत्वसिद्धापि फलान्तर  
 कल्प्येत । नचैतरकस्यचिदपि समतम् ॥ ननु यथा निषिद्धैस्त्वर्थवादावगतप्रत्य-  
 वायपरिहारार्थतयैव पुरूपार्थत्व तथा विहितत्वमर्थवादावगतकरणजन्यप्रत्यवाय-  
 परिहारार्थता कस्माच्च स्यात् ? मैवम्, नहि सर्वत्राग्निहोत्रादिविषु तादृशार्थ  
 वादा सन्ति । न च 'विहितस्याननुष्ठानाच्चर पतनमृच्छति' इतीय स्मृतिरेव  
 यावदशेषरथानीयेति चतुरश्रम् । नहि वाक्यान्तरप्रमिते कार्ये वाक्यान्तरे-  
 णार्थवाद्य सभवति । भवतु वा कथंचिदेकयावदतपार्थवाद्दरतथापि नैभाव-  
 रूप विहिताकरणे कार्यान्तर जनमितु समते । ननु 'उभरे चैवातिसारे  
 च लहान परमौपधम्' इत्यायुर्वेदवचनाद्भोजनाभावरूप लहान उवरशान्ति  
 जनयतीति यथावगमयते तपान्नापि भवतु । मैवम्, यतो नात्रापि लहनाऽऽवर-  
 शान्ति, किं तर्हि उवरनाशप्रतिषेधकभोजनाभावे सति अदरानलपरिपार्कजनित-  
 द्वागुष्माद्यादिति मन्तव्यम् । तस्मात् 'विहितस्याननुष्ठानाच्चर पतनमृच्छति'  
 इति कथमस्या स्मृत्यन्तरितिरिति वाच्यम् । उच्यते,— अग्निहोत्रादिविषयाधिका  
 रामिन्द्रिरूपप्रत्यवायामिषायेनेति न दोष । ननु ( १२।७१।७२ )—'वाग्ना  
 रमुष्कामुत्त प्रेतो विमा धर्मास्त्वकाच्युत । अमेधपशुणपासा च अग्नि  
 कटपूतम् ॥ मैत्राण्यन्वोतिक प्रेतो वैश्यो भवति पूषशुक् । चैलाशकस्तु भवति

१ च भावरूप ।

२ यद्यप्यनुप ।

३. नामावरूपविहिताकरण ।

४ परिपाकजननाद्यानु ।

५ विप्रो भवति विद्युत् ।

शुद्धो धर्मास्वकान्बुधत् ॥ इत्येतानि विहिताकरणप्रत्यवायपराणि मनुवच-  
नानि कथं घटन्ते ? उच्यते,—यथा वान्तमश्रुत उदकया वा दह्यमानमुग्रस्य  
दुःखं तथास्यापि विहितमनुर्वन्तं पुरस्यैव पुरशार्थमिद्वैरिष्यकरः निन्दनमनुष्ठान  
प्ररोचनार्थमित्यविरोधः । यद्वा,—प्राग्भवीयनिषिद्धाचरणासिद्धविहितानुष्ठान-  
विरोधिरागालस्यादिज्ञ-यवान्ताशुद्धकामुत्प्रेतत्वादिस्वरूपमिति न कश्चिद्भावस्य  
कारणतेति मन्तव्यम् ॥ ननु पुण्ड्रकीवानरस्वरदष्ट(शदष्ट)मिथ्याभिज्ञानादी विहि-  
ताकरणादिनिमित्तानामन्वयतमम्याप्यभावात्कथं प्रत्यवायिता ? कथं च तद्भावे  
प्रायश्चित्तविधानम् ? उच्यते,—अस्मादेव पापक्षयार्थंप्रायश्चित्तविधानाज्जमान्त-  
राचरितनिषिद्धत्वेवादिज्ञयपापापूर्वं समासिसमित्यभिज्ञानादिकं तस्मिन्निमित्तप्राय-  
श्चित्तापनोद्यमनेनानुष्ठितमिति कल्प्यते; पुरुषप्रयत्नैरपेक्ष्येण कार्यरूपवापोप-  
पन्नोपपत्तेः । नच पुण्ड्रक्यादिगतप्रयत्नेन पुरपात्नरे पावोत्पत्ति, कर्तृममत्वाविश-  
नियमाद्दर्माधर्मयो, तस्मात्पुत्रैव प्रार्थयित्वा निमित्तजगत्परिमज्जना । तथा च  
मनु ( १११४४ )—‘अनुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेद्भि-  
यार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥’ इति । ‘नर’ग्रहणं प्रतिशोभनात्तानामपि प्रायश्चि-  
त्ताधिकारप्रत्यवर्धम्, तेषामप्यहिसादिसाधारणधर्मस्यतिष्ठमममत्वात्, यस्मादेव  
निषिद्धाचरणादिना प्रत्यवैति तस्मात्तेन कृतनिषिद्धत्वेवादिना पुरुषेण प्राय-  
श्चित्तं वर्तमानमिह लोकं परत्र च विशुद्धवर्धम् । प्रायश्चित्तसदृश्याय पाप-  
क्षयार्थं नैमित्तिके कर्मविशेषे रुढः । एव प्रायश्चित्ते कृते अरपा-गरामां तुद्  
तया प्रसीदति लोकस्य सर्वैवहर्तुं प्रसीदति । एव यद्वैतैतद्विहितम्—नैमित्तिकोऽथ  
प्रायश्चित्ताधिकारः, तथा आर्थवाद्गतदुरितक्षयोऽपि जातस्त्रिग्यायन साध्यतया  
वशीक्रियत । नच दुरितपरिनिहासुनानुष्ठीयत इत्येतावता कामाधिकारोऽज्ञा-  
कार्यः । यस्मात् ( मनु १११५३ )—‘अरितक्षयमनरे निष्य प्रायश्चित्तं विशुद्धय ।  
निष्ठीर्हि लक्ष्णैर्युक्ता ज्ञायन्तेऽनिष्कृतैरनसः ॥’ इत्यकरणे दोषध्वयेनादरयत्तथा-  
यगमात् ॥ २१९-२२० ॥

भाषा—निष्य, नैमित्तिक आदि विहित कर्मों के न करने से तथा सुरा-  
पान आदि निषिद्ध कर्म करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य  
पतित हो जाता है । इस लिये मनुष्य की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना  
आहिय और इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा और लोक सभी प्रसन्न होते हैं ॥

प्रायश्चित्ताकरणे दोषमाह—

प्रायश्चित्तमनुर्घाणा पापेषु निरता नरा ।  
अपेक्षात्तापिन कष्टात्तरकान्यान्ति दारुणान् ॥ २२१ ॥

१. प्रायश्चित्तनिमित्त । २. लोकक्षय सम्भव । ३. चिकान्द्रा ।  
४. अपेक्षात्तापिनो यावन्ति नरकानतिदारुणान् ।

पापेषु शास्त्रार्थव्यतिक्रमजनितेषु प्रसक्ताः पुरुषाः अपश्चात्तापिनो मया दुष्कृतं  
कृतमायेवमुद्वेगरहितैः प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः दुःसहाज्जरकान्माप्नुवन्ति ॥ २२१ ॥

भाषा—पापकर्मों में निरत रहने वाले मनुष्य प्रायश्चित्त न करने  
( किये हुए कर्म ) पर पश्चात्ताप न करने पर अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय  
नरकों में जाते हैं ॥ २२१ ॥

नरकरस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

तामिघ्नं लोहशङ्कुं च महानिरयशात्मली ।  
रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २२२ ॥  
संघातं लोहितोदं च सविषं सप्रपातनम् ।  
महानरककाकोलं संजीवनमहापथम् ॥ २२३ ॥  
अवीचिमन्धतामिघ्नं कुम्भीपाकं तथैव च ।  
असिपत्रवनं चैव तापनं चैकविंशकम् ॥ २२४ ॥  
महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ।  
अग्निता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥ २२५ ॥

तामिघ्नप्रमृतीस्तापनपर्यन्तानेकविंशतिनरकानन्वर्थसंज्ञाद्योतितावान्तरभेदा-  
न्महापातकोपपातकजनितभयंकरदुरितैरग्निता अनाचरितप्रायश्चित्ताः पुरुषाधमाः  
माप्नुवन्ति ॥ २२२-२२५ ॥

भाषा—तामिघ्न, लोहशङ्कु, महानिरय, शास्त्रमली, रौरव, कुड्मल, पूति-  
मृत्तिक, कालसूत्रक, संघात, लोहितोद, सविष, संप्रपातन, महानरक, काकोल,  
संजीवन, महापथ, अवीचि, अन्धतामिघ्न, कुम्भीपाक, असिपत्रवन, तापन ये  
हृदयी नरक हैं । घोर महापातकों एवं उपपातकों से युक्त अधम मनुष्य  
प्रायश्चित्त न करने पर इन नरकों की श्राप्ति करते हैं ॥ २२२-२२५ ॥

उपासदुरितभिरासार्थं प्रायश्चित्तमित्युक्तं, तत्र विदोषमाह—

प्रायश्चित्तरूपैरयेनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।  
कामतो व्यथहार्यस्तु यद्यन्नाविह जायते ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्तरूपमणल्लुण्णैरज्ञानाद्यदेनः पापं कृतं तदपैति तद्दृष्टि, न  
कामतः कृतम् । किंतु तत्र प्रायश्चित्तविधायकवचनयलादिह लोके व्यथहार्यो  
जायते । अत्र च प्रायश्चित्तरूपैरयेनो यदज्ञानकृतम् इत्युपक्रमोत्तरप्रतियोगि-  
तया 'ज्ञानत' इति पक्षे यत् 'कामतः' इत्युक्तं, तन्न ज्ञानकामयोस्तुदयव-  
प्रदर्शनार्थम् । तथा हि—'विहितं यदकामासां कामात्तद्-द्विगुणं भवेत् ।' तथाऽपुदि-

पु 'क्रियायामर्धं प्रायश्चित्तम् । नया 'भ्लेच्छेनाधिर्गतं शुद्धस्वज्ञानात् कथंचन ।  
 कृत्स्नस्य प्रकुर्वीत ज्ञानात् द्विगुणं भवत् ॥' इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानकामनयोस्तुल्य-  
 प्रायश्चित्तदर्शनात्तुल्यफलत्वेन । किञ्च, स्वतः-प्रवृत्तिविषयज्ञानकामनाभ्यां  
 नियता, तयोरन्यतरापायेऽपि तस्या असमवादन 'कामत' इत्युक्तम्, 'ज्ञाना-  
 ज्ञानत' इत्युक्तेऽपि काम प्राप्नोत्यविनाभावात् । नच चौरादिभिर्वलात्प्रवर्त्य  
 मानस्य सत्यपि विषयज्ञाने कामनाभावात्तदविनाभाव इति वाच्यम् । यतोऽत्र  
 विद्यमानस्यापि ज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावेनासत्समत्वम् ॥ यत्तु-शुद्धेऽपि विप-  
 लिपोर्ध्नाभ्यां कर्ममपत्तन, तत्रापि चास्तवज्ञानाभावात्तद्विषयकामनायाश्चाभाव  
 एव । एवमज्ञानाकामनयोरन्यत्वमिच्छार एव ॥ ननु 'प्रायश्चित्तैरपैयेन' इति न  
 युक्तम्, फलविनाशपरत्वात्कर्मणः । मैवम् ; यथा पापोरपत्ति शास्त्रगम्या तथा  
 तत्परिहृतयोऽपीति नात्र प्रमाणा-तर क्रमते । अतएव गीतमेव पूर्वोत्तरपक्षभङ्गवा  
 भयमर्थो दर्शितः । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसते । न कुर्यादित्या  
 हुर्न हि कर्म स्वीयते इति । कुर्यादित्यपरे । 'पुन स्तोमेनेष्ट्वा पुन सवनमा  
 घान्तीति विज्ञावत् । प्रायस्स्तोमेनेष्ट्वा तैरति सर्वं पाप्मानं तरति भूगह्रया  
 योऽश्वमेधेन यजते' इति पुन सवनमायान्ति इति सवनमपादादयोतिष्टोमादि  
 द्विजातिकर्मणि योग्यो भवतीत्यर्थः । न चेत्सर्वथात्मानम्, अधिकारिविशेषणा  
 काङ्क्षामा रात्रिसम्राज्यायेनार्धंवादिफलस्यैव कल्पनाया -यादयस्वात्, अतो युक्त  
 प्रायश्चित्तैरपैयेन' इति ॥ ननु कामकृते प्रायश्चित्ताभावात्कथं स्ववहार्थत्वं तद्-  
 भावश्च 'अनभिसधिकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तम्' इति ( २०११ ) वसिष्ठवचनात् ॥  
 'इय विशुद्धिरदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न  
 विधीयते ॥' इति ( १११८९ ) मनुवचनात्चाद्यगम्यते । नैतत्, 'य कामतो  
 महापाप नर कुर्यात्कथंचन । न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृगवक्षिपननादने ॥' इति ।  
 तथा—'विहितं पदकामानां कामात्तद्विगुणं भवेत्' इति च कामकृतेऽपि प्राय  
 श्चित्तदर्शनात् । यत्तु वसिष्ठवचनं तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धि  
 करम्' इत्यभिप्रायो न पुन कामकृते प्रायश्चित्ताभाव इति ॥ यत्तु मनुवचनं—'इय  
 विशुद्धिरदिता' इत्यादि तदपीयमिति सर्वनामपराष्टद्वादशवार्षिकादिवत्  
 चर्षाया एव । 'कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते' इत्यनेन प्रतिषेधो  
 न पुन प्रायश्चित्तमात्रस्य, मरणान्निकादे प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् ॥ ननु यदि  
 कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि कस्मात्त रथाद्विनोवाद्यदि पाप-

१ धिगता शुद्धा स्वज्ञानात् । २ ज्ञानात्तद्विगुणं, ज्ञाने शु द्विगुण ।  
 ३ इत्याद्यपूर्ववचनैः । ४ अ-न्यतरामात्रेऽपि । ५ विश्वमानस्याप्रवृत्तिः ।  
 ६ नेष्ट्वा घट्टचर्यं चरेत्पुनयनत इति सर्वं पाप्मानं ।

क्षयोऽपि नास्ति तर्हि व्यवहार्यतापि कथं भवति ? उच्यते,—उभयत्र प्रायश्चित्त-  
विशेषेऽपि फलविशेषं शास्त्रतोऽवगम्यते । अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः । यत्र  
तु 'ब्रह्महत्यापराधगुरुनक्षत्रमातृपितृबोनिभबन्धसर्वदावागमस्तेन नास्ति कनिन्दित-  
कर्माभ्यासिपतितारायतयपतितत्यामिनः पतिता. पातकसयोजकाश्च' ( २०।१।२ )  
इति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं निषिद्धं, तस्मिन्वतनीये कर्मणि कामत-  
कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय इति । नच पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुप-  
पन्नम् । हे हि पापस्य शक्ती नरकोऽपादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । तत्रैतर-  
शास्त्रविनाशोऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपद्यते तस्मात्पापानप-  
गमेऽपि व्यवहार्यत्वं नानुपपन्नम् । यत्तु मनुवचनम् ( १।१।५५ )—'अकामतः  
कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधा' । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥'  
इति,—तत्रपि कामकृते प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थं, न पुनः पार्ष्वपप्रतिपादनपरम् ।  
अपतनीये पुन कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव; 'अकामतः कृतं पार्ष्व-  
पदेशाभ्यासेन क्षुद्रपति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तं पृथग्विधै ॥ इति  
( १।१।५६ ) मनुस्मरणात् । पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्निष्प्रायश्चित्तेषु  
कवमपक्षयो भवत्येव । कल्याणराभासात् । नैऋत्यादिमहोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते  
कवमप तु निहन्त्यते' ( १।२४—२६ ) इत्यापरस्तम्भस्मरणात् ॥ २२६ ॥

भाषा—जो पापकर्म अज्ञानवत्त किये गया होता है वह प्रायश्चित्त से  
दूर होता है । जानपूछ कर पापकर्म करके प्रायश्चित्त करने पर ( वह पाप  
दूर तो नहीं होता किन्तु ) प्रायश्चित्त के बचन द्वारा लोक में व्यवहार की  
योग्यता प्राप्त होती है ॥ २२६ ॥

निषिद्धाक्षरणादिकं प्रायश्चित्ते निमित्तमित्युक्तं तत्प्रपञ्चविनुमाह—

ब्रह्महा मद्यप स्तेनस्तथैव गुरुनक्षत्रगः ।

एते महापातकिनो यद्य तैः सौह संयसेत् ॥ २२७ ॥

इतिरथं प्राणवियोर्तकरे व्यापारे कृष्ट, यद्व्यापारसमनन्तरं ब्रह्मान्तरे वा  
कारणान्तरनिरवेषं प्राणवियोगो भवति न, ब्राह्मण इतवानिति ब्रह्महा,  
मद्यपो निषिद्धमुराया पाता, स्तेनः ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, 'ब्राह्मणसुवर्णाव-  
हरणं महापातकं' इत्यापरस्तम्भस्मरणात् । गुरुनक्षत्रगो गुरुभार्यागामी । 'तद्व-  
पत्त्वेन शयनवाचिना साहचर्याद्भार्यां त्यजेते । एते ब्रह्मदादयो महापात-  
किनः । पातयन्तीनि पातकानि ब्रह्मदाद्यादीनि । महत्पद्वदेन तेषां गुरुयं

१. ब्रह्महा सुरापो गुरुनक्षत्रगो मातृपितृ । २. सवन्धावगम । ३. पाप-  
क्षयं प्रति प्रतिपादन । ४. नैऋत्यादिमहोके । ५. संप्रियेत्तमाम् । ६. वियोग-  
गकरणे ।

रयाप्यसे तद्योगिनो महापाकिन इति षाष्वार्थं सङ्गाकरणम् । यत्र तैर्महाहा  
दिभि प्रत्येक सह सवसति 'धमिस्तु सवसेद्यो वै व सर सोऽपि तस्म' <sup>१</sup>  
( प्रा० २६६ ) इति वक्ष्यमाणन्यायन साऽपि महापातकी । 'तथा'शब्द  
प्रकारवचनोऽनुग्राहकप्रयोजकादिकर्तृसमर्थाय । अनुग्राहकश्च य पलायमानम-  
मित्र उपरु-धन् परेभ्यश्च हन्तार परिरथ-हन्तुर्द्रादिमानमुपजनयन्नुपकरोति स  
उच्यते । अत एव अनुमानुग्राहकस्य हिंसाफलसंबन्धो दक्षित — बहूनामेक-  
कार्पाणां सर्वेषां लक्ष्यशरिणाम् । यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातका सृष्टा ॥'  
इति । तथा प्रयोजकादीनामप्यापस्तम्भेन फलसंबन्ध उक्त — 'प्रयोजितानु-  
मना कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फल  
विशेष' इति तत्राप्रवृत्तस्य प्रवर्तक प्रयोजक । स च त्रिप्रकार — आज्ञापयि-  
ताभ्यर्थयमान उच्येतेति । तत्राज्ञापयिता नाम स्वयमुच्यते । स्व-नीच भृशवा  
दिषु य प्रेरयति मदीयममित्रं जहीति स उच्यते । अभ्यर्थयमानस्तु य  
स्वयमसमर्थं सन् प्रार्थनादिना मच्छत्रु स्वापादयेत्युच्यते प्रवर्तयति सोऽभिधीयते ।  
अनयोश्च स्वार्थसिद्धयर्थमेव प्रयोक्तृत्वम् । उपदेष्टा पुनर व शत्रुमिस्थं स्वापादयेति  
समोद्घाटनाद्युपदेशात् सर प्रेरयन्कथ्यते । तत्र च प्रयोऽयगतमेव फलमिति  
तेषां भेदः । अनुमन्ता तु प्रवृत्तस्य प्रवर्तकः <sup>२</sup> । स द्विप्रकार — कश्चात्स्वार्थसिद्धय-  
र्थमनुजानाति कश्चिस्वार्थमिति ॥ ननु अनुमनस्य कथं हिंसाहेतुत्व, न तत्र प्राण-  
विपागोरपादनेन तस्य साक्षात्कर्तृत्वात्पारङ्ग-वदवान् । नापि प्रयोजकत्वेन, साचा-  
त्कर्तृप्रवृत्त्यापादनद्वारेण प्रवृत्तस्य प्रवर्तकत्वात् । नच साधु स्वयाप्यवसितमिति  
प्रवृत्तमेवानुमनस्य इति शङ्कनीयम् । तादृशस्थानुमनस्य हिंसां प्रत्यहेतुत्वात्प्रवर्त-  
त्वाच्च । उच्यते,—यत्र हि राजादिवारतन्वास्त्वय मनसा प्रवृत्तोऽपि प्रवृत्ति  
विच्छेदभयादागामिच्छन्मयाद्वा शिथिलप्रयत्नो राजाद्यनुमतिमपेक्षते तत्रानुमति-  
हेतु प्रवृत्तिमुपोद्बलवन्ता हिंसाफल प्रति हेतुता प्रतिपद्यते । तथा सोऽपि  
भर्त्सनाद्वनघनावहाशादिना परान्कोपयति सोऽपि मरणहेतुभूतमन्युत्पादनद्वार-  
ेण हिंसाहेतुर्भवत्येव । अत एव विष्णुनोक्तम्—'आकृष्टस्तादितो वापि धर्मैर्वा  
विप्रयोजित । यमुद्दिश्य स्वजेप्राणांस्तमाहुर्महाघातकम् ॥' इति तथा—'ज्ञाति  
मित्रफलप्राप्तं मुद्देप्रेत्रार्थमेव च । यमुद्दिश्य स्वजेप्राणांस्तमाहुर्महाघातकम् ॥'  
इति । नच कृतेष्वप्याज्ञानादिषु कस्यचिन्मन्युत्पत्त्यदर्शनादकारणतेति शङ्कनी  
यम्, पुरुषस्वभाववैचित्र्यात् । ये अल्पतरेणापि निमित्तेन ज्ञातमन्यवो भवन्ति  
तेऽप्यभिचार इति नाकारणता । एतेषां चानुग्राहकप्रयोजकादीनां प्रत्यासत्तिश्च

१ समर्थं प्रवर्तयति । २ तादृशमनस्य । ३ तथान्योपि ।

वधानापेक्षया व्यापारगतगुरुलाघवापेक्षया च फले गुरलाघवात् प्रायश्चित्तगुरलाघवं धोद्वयम्, 'यो मूय आरभते तस्मिन्-फलविशेष' इति वचनात् । तथा अनुप्रादकस्य तावत्स्वयमेव हिंसायां प्रवृत्तत्वेन स्वतन्त्रकर्तृत्वे सापि साक्षात्प्राण-त्रियोगफलकत्वरूपमहारादिव्यापारयोगिरथाभावेन साक्षात्कर्तृवद्भयो हिंसारम्भक-त्वाभावादप्यफलस्यमल्पप्रायश्चित्तत्व च । प्रयोजकस्य तु स्वतन्त्रप्रवृत्तप्रवृत्तजनकत्वेन स्ववहितस्वात्ततोऽप्यफलत्वम् । प्रयोजकानां मध्ये परार्थप्रवृत्तत्वेतोपदेष्ट-रूपफलत्वम् ॥ ननु प्रयोजकहस्तस्थानीयत्वाभ्ययोऽप्यस्य न फलसंबन्धो युक्तः । यच्च परमपुरुषायां प्रवर्तमानस्यापि फलसंबन्धस्तर्हि स्वपतिगहागतवितृष्टशृतीना-मपि मूलत्वेन प्रवर्तमानानां स्वर्गादिकलमाप्तिप्रसङ्गः । उच्यते, दास्यात्क फल प्रयोज-रीति न्यायेनाधिकारिकर्तृगतफलजनका देवकूपतडागनिर्मादाद्य । नच स्वपति-तडागं तनिप्रादयो देवकूपतडागकरणादिवधिकारिणः, स्वर्गकामिस्तात् । अप्र पुन परमपुरुषायां प्रवर्तमानानामप्यहिंसायामधिकारित्वाज्जवत्त्वे तद्वपतिहमनिब-न्धनो दोषः । अनुमन्तुस्तु प्रयोजकादप्यल्पफलत्व प्रयोजकस्यापारादहिरङ्गत्वा-ह्युपायाद्यनुमनस्य । निमित्तकर्तृ पुनराक्रोशकादे प्रवृत्तिहेतुभूतमप्युपनकात्वेन स्ववहितस्वान्तराणानुसंधान विना प्रवृत्तत्वाच्चानुमन्तु तकाशादप्यल्पफलत्वम् ॥ ननु यदि स्ववहितस्यापि कारणत्वमिह मानाविश्रोत्रपि हस्तपुरुषोत्पादनद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते,—नहि पूर्वमावित्त्वमात्रेण कारणत्वम्, कारण-तयापि तथाभाविबोधयते । यावत्तु स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणायापारयोगि भवति तद्धि कारणम् । यदि स्वप्तरमासा सोम स्यादै-द्रवायदाप्रान् प्रदान् शुक्लीयादिति स्वप्तरमासत्वेव प्रतीरैन्द्रवायदाप्रतायो कारणम् । नहि तत्र सोमपान इव रूपेण कारण, यच्चिच्छात् । नच विश्रोत्रादशिवकारणलक्षणयोगिप्राप्तौ नैतिप्रसङ्गः । अनेनैव न्यायेन चर्माभिसन्धिना निमित्तकूपवात्वाद्दे प्रमादपति-प्रादगादिगणने त्वापितुर्दोषाभावः । नहि क्वोऽनेन त्वानित अतोऽहमात्मानं व्यापाद्यामीत्येव कूपस्यननिमित्त इवापादन यथाच्छेदात् । अत कूपशतुरपि कारणत्वमेव, न पुनर्हिंसाहेतुत्वमिति मानापितुमुत्पत्तैव । तथा कृमिस्त इपि हिंसा निमित्तयोगात् परोपकारार्थप्रवृत्तौ यथाज्ञानाभावात् । यथाह संवत् — 'वन्धने गोश्विकित्सायै मूढसमविमोचने । यान हने विपत्तिधे'प्राय-श्चित्तं न विद्यते ॥ भीषण स्नेहमाहार ददन्नामाह्वयविषुः । शेषमान विपत्ति-स्याद्य न पापेन लिखते ॥ दाह्येद्विनाभेदप्रदानैर्यकुर्यताम् । प्राणसत्राग-निशुष्यं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति ।—एतच्छादाननिदानत्रिपुनभिवरिदप्यम् ।

१. फलगुरु । २ देवकूपतडाग । ३ तडागकर्तृद्वयोः । ४ दप्य-फलत्वम् । ५ प्रमा कारणम् । ६ कारित प्रसंगः ।



इतरस्य तु भिषह्मिष्याचरन्दाप्य' ( व्य० १४२ ) इत्यत्र दोषो दत्तित । यत्तु मन्थुनिमिच्छाक्रोशनादिकमकुर्वतोऽपि नाम गृहीत्वोन्मादादिनात्मानं व्यापादयति तत्रापि न दोषः, 'अकारणं तु यः कश्चिद् द्विजं प्राणान्परित्यजेत् । तस्यैव तत्र दोषः स्यात्तु यः परिकीर्तयेत् ॥ इति स्मरणात् ॥ तथा यत्राप्याक्रोशकादिजनितमन्थुरात्मानं खड्गादिना प्रहस्य मरणादर्वागाक्रोशनादिकर्त्ता धनदानादिना सतः पितो यदि जनसमक्षमुर्ध्वं ध्यावथति नात्राक्रोशकस्यापराध इति, तत्रापि वचनान्न दोषः । यथाह विष्णु — उद्दिश्य कुपितो हत्वा तोपित ध्यावथे स्पृश । तस्मिन्मृते न दोषोऽस्ति द्वयोरुच्छ्रावणे कृते ॥ इति । एतेषां च प्रयोजकादीनां दोषगुरुत्वमुभावपर्यालोचनवा प्रायश्चित्तविशेषं वक्ष्याम ॥ २२७ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हरया करने वाला सुरा पीनेवाला, ( ब्राह्मण का ) स्वर्ग सुराने वाला तथा गुरुपरमो मे भोग करनेवाला—ये महापातकी होते हैं और इनके साथ निवास करने वाले भी महापातकी होते हैं ॥ २२७ ॥

ब्रह्महरयात्समान्वाह—

गुरुणामध्यधिकेपो वेदमिन्दा सुहृद्वध ।

ब्रह्महरयासमं श्रेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

गुरुणामाधिकवेनाधिकेषु अनृताभिशासनम् । 'गुरोरनृताभिशासनमिति महापातकसमानि' ( २११० ) इति गौतमस्मरणात् । एतच्च लोकाविदितदोषाभिशासनवियवम् । 'दोषं बुद्ध्वा न पूर्वं परेषां समाशयात्ता स्यात्सभ्यवहारे चैन परिहरेत्' ( ११२१२० ) इत्यापरमम्बस्मरणात् । नारितकषाभिनिवेशेन वेदकुलसम् । सुहृन्मित्र तस्यायाह्वानस्यापि वधः । अधीतस्य वेदस्यासह्यास्त्रविभोदेनालस्यादिना वा नाशनं विस्मरणम् । एतानि प्रत्येकं ब्रह्महरयामानि । यथुन 'शवाप्यावाग्निमुत्स्यात्' ( प्रा० २१९ ) इत्यधीतरयागस्योपातकमध्ये परिगणनं, तत्कथञ्चिद्बुद्ध्वाभरणाकुलतयाऽसंख्येयध्वज-वप्रतया वा विस्मरणे ब्रह्मण्यम् ॥ २२८ ॥

भाषा—गुरु पर मिथ्या दोषारोपण, वेद की निन्दा, मित्र की हत्या और पठित वेद एवं शास्त्र का आलस्यवश विस्मरण—इन सबको ब्रह्महरया के समान ही समझना चाहिये ॥ २२८ ॥

सुरापानसमान्वाह—

निषिद्धमक्षणं जैह्वथमुत्कर्षं च यजोऽनृतम् ।

रजस्यलामुखास्वाद् सुरापानसमानि तु ॥ २२९ ॥

१ मन्थुनात्मानम् । २ कर्त्ता धनदाना । ३ तत । ४ मुत्कर्षं च ।

निषिद्धं लशुनादिकं, तस्य मतिपूर्वं भक्षणम् । अत एव मनुः (५।१९)—  
 दृत्राकं विद्वराहं च लशुनं ग्रामकृकुटम् । पलाण्डुं मृज्जनं चैव मरया जग्ध्वा  
 पतेक्षरः ॥' इति । भ्रमतिपूर्वं तु प्रायश्चित्तान्तरम् ( ५।२० )—'भ्रमथैतानि  
 पद् जग्ध्वा कृच्छ्रं मान्तपनं चरेत् । यन्निचान्द्रायणं वापि शेषेपूर्वसेदहः ॥'  
 इति तेनैवोक्तत्वात् । जैह्वयं कौटिल्यं, भ्रम्याभिसंधानेनान्यवादित्रमभ्यकर्तृत्वं च ।  
 भ्रम्य च जैह्वयमिति यद्यपि सामान्येनोक्तं, तथापि प्रायश्चित्तस्य गुरुवाग्निमित्त-  
 र्थापि गुरुविषयं जैह्वयमिति गौरवं गम्यते । अस्ति च नैमित्तिकपर्षालोचनया  
 निमित्तस्य विशेषावगतिः । यथा 'यस्योभावग्नौ अनुमती स्यातां हुष्टौ भवेताम-  
 निमित्तलोक्षेद्वा पुनराधेयं तत्र प्रायश्चित्ति' इत्यश्रोभाविष्यस्य निमित्तविशेषण-  
 त्वेन हविर्भयत्वाद्दिव्यचित्तत्वेऽप्यग्निद्वयनिष्पादकपुनराधेयरूपनैमित्तिकविधिब-  
 लाद्भिद्वयानुगतितरेव निमित्तमिति कल्प्यते; तथाप्रापीति युक्तं निमित्तगौरवक-  
 ल्पनम् । तथा समुत्कर्षनिमित्तं राजकुलादानचतुर्धेद एव चतुर्वेदोऽहनिष्यमृतभा-  
 षणम् । रजस्वलाया (कामवशेन) वरत्रासवमवनम्, एतानि सुरापानसमानि ॥

भाषा—निषिद्ध ( लहसुन आदि ) पदार्थ का जानबूझ कर भक्षण,  
 कुटिलता, उरकरुप प्राप्ति के लिए भ्रमस्य भाषण और रजस्वला स्त्री के मुल का  
 मुग्धन—यं सुरापान के समान ही होते हैं ॥ २२९ ॥

सुवर्णस्तेषममाप्त्वाह—

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा ।

निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम् ॥ २३० ॥

अधादीनां मातृगसंभन्धिना, निक्षेपस्य च सुवर्णस्वतिरिक्तयापहरण-  
 सेतासर्वं सुवर्णस्तेयसमं वेदितव्यम् ॥ २३० ॥

भाषा—( मातृग के ) घोडा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि और गाव तथा  
 निक्षेप का अपहरण—'वे सभी सोने की चोरीके समान ही होते हैं ॥ २३० ॥

गुरुवशममाप्त्वाह—

सखिभार्याकुमारीषु स्थयोनिष्वन्त्यजासु च ।

सगोत्रासु भुनक्सीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥ २३१ ॥

मया मित्रं, तस्य भार्या; कुमार्त्समजानीया कन्यका, तासु 'सकामा-  
 र्वनुश्रीमासु न दीवस्तकन्यया दमः । दूषणे तु करच्छेद उत्तमार्या वषस्तथा ॥'  
 ( द्य० २८८ ) इति तत्रैव दण्डविशेषप्रतिपादनाप्रायश्चित्तगुरत्वं युक्तम् ।

१. द् द्वित्र । २. विषयं यज्ञैह्यमिति । ३. विशेषत्वं ।

स्वयोनिर्भगिनी, अन्वयात् चाण्डाली, समोत्रा समानगोत्रा, सुनद्यी स्नुषा, पत्नीसं गमने प्रत्येक गुरुतद्वपसमम् । एतच्च रेतःश्लेकादूर्ध्वं वेदितव्यम्; अर्वाह्निघृत्ती तु न गुरुतद्वपसमम्, किंत्वपमेव प्रायश्चित्तम् । 'रेत सेक. स्वयो-  
नोपु कुमारीत्वन्वयात्सु च । सहस्रं पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतद्वपसमं विदुः ॥'  
( ११५८ ) इति मानवे 'रेत सेव' इति विदोषणोपादानात् । 'समोत्रा महनेनैव  
सिद्धे पुनः 'सुनद्यी'ग्रहण प्रायश्चित्तगौरवप्रतिपादनार्थम् । अत्र च मह-  
हत्यादिसमवयवमन्तुर्गर्भच्छेषादेस्तत्तद्विषयप्रतिपाद्यश्चित्तोपदेशार्थम् । ननु वेद-  
निष्ठादी दोषस्य लघुत्वाद् गुरुतर महहत्यादिप्रायश्चित्तं न युज्यते । मैवम् ।  
गुरुप्रायश्चित्तोपदेशबलादेव दोषगुरोर्वावगतेः । न च महहत्यादिप्राय-  
श्चित्तातिवेशार्थमेवेद् वचनं भवति, किंतु दोषगौरवभाप्रतिपादनपरमिवा-  
ज्ञानीयम् । यतस्नातवन्मात्रप्रतिपादनपरस्य महहत्यावयवमिदं गुरुतद्वपसममि-  
त्यादिभेदेन समावाभिधानं नोपपद्यते । नच प्रायश्चित्तं 'सम'शब्देनोपदिश्यमानं  
महहत्यादिप्रायश्चित्तस्य किञ्चिन्म्यूनमेवोपदिश्यते । 'छोके राजस्यमो मग्नी'  
इत्यादिवाक्येषु 'सम'शब्दस्य किञ्चिद्विज्ञाने प्रयोगदर्शनात्, महताः पातकरयेतरस्य  
च मुषयवस्यापुक्तत्वाच्च । एव च सति याज्ञवल्क्येन महहत्यावयवमेवोक्तानामपि  
महाउक्ताववेदनिष्ठागुरुद्वयानां मनुना यत्पुराणानमापम् ( ११५९ )—  
'महोऽसता वेदनिष्ठा कौटमाप्य सुद्वयम् । गर्हिताद्याउपयोर्गैव सुराणान-  
समानि पट् ॥' इत्युक्तं, तत्राप्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । एवमन्येत्वपि वचनेषु विरोध-  
परिहर्तव्यः । यत्तु वमिष्टेन—'गुरोर्लीकनियन्धे कृष्टं द्वादशरात्रं चरिषा  
सर्षट् । ज्ञातो गुरुपमादान् पूजो भवति' इति लघुप्रायश्चित्तमुक्तं, तद्वन्निर्णयं  
सहस्रमुक्ताने च वेदितव्यम् ॥ २३१ ॥

भाष्या—मित्र की पत्नी, ( उत्तम ज्ञानि की ) भविष्यहित कथा, भगिनी,  
चाण्डाली, समानगोत्रवाली स्त्री और पुत्रवधू ( पतोहू )—इनके साथ समं व  
गुरुतद्वपसमम् क समान कहा गया है ॥ २३१ ॥

गुरुतद्वपसमम्—

पितुः म्यस्वारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।

मातुः सपरनीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २३२ ॥

माचार्यपरनीं म्यस्तुतां गच्छंस्तुं गुरुतद्वपसमम् ।

लिङ्गं छिष्या घर्षंस्तस्य सशमायाः स्त्रिया अपि ॥ २३३ ॥

१. गुरुतद्वपसमम् । २. गर्हिताद्याउपयोः । ३. यत्पटम् । ४. यत्  
रत्नम् । ५. यथा ।

पितृष्वस्रादय प्रसिद्धा, ता गच्छन् गुरुतरूपग, तस्य लिङ्ग द्विधा राज्ञा वध कर्तव्यो दण्डार्थं, प्रायश्चित्त च तदेव । 'च' शब्दाद्वाञ्छीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम् । यथाह नारद ( १२।७३-७५ )—'माना मातृष्वसा श्वधूमंतुलाती पितृःससा । पितृःससत्तिनिष्यस्त्री भगिनी तरसस्त्री स्त्रुणा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । रक्षी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च वा ॥ आसामन्वतमा गच्छन्गुरुतरूपग उप्यते । शिरस्योरकर्तृनात्तत्र नाम्पो दण्डो विधीयते ॥' इति । राज्ञी राज्यस्य कर्तृभार्या न क्षत्रियस्यैव, तद्रामने प्रायश्चित्तान्तरोपवेद्यात् । धात्री मातृःससतिरिक्ता स्त यद्दामादिना षोडश्री, साध्वी व्रतधारिणी, वर्णोत्तमा ब्राह्मणी । अत्र 'मातृ'ग्रहण इष्टान्तार्थम् । अथ च लिङ्गश्लेषबधधामको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य, 'न जातु ब्राह्मण ह-वाससर्वपापेष्ववस्थितम्' इति तस्य बधनिषेधात् बधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात् । अस्य च विषय गुरुनरूपप्रायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्याम । अत्र स्त्रुणाभगिण्यो पूर्वश्लोकेन गुरुतरूपसमीकृतयो पुनर्ग्रहण प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । यदा पुनरेता क्षिप सकामा सस्य पतानेव पुरुषान्वशीकृत्योपभुञ्जते तदा तासामपि पुरुषबद्धेष एव दण्ड प्रायश्चित्त च । एतानि गुर्वधिषेदादितमयागम पर्यन्तानि महापातकानिदेशविषयाणि सद्य, वननहेतुस्वरापातकान्युच्यन्ते । यथाह यम — मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा । मातृलाती स्वसा स्वधू गांवा सद्य पतेक्षर ॥' इति गौतमेन पुनरुच्यमानपि पातकत्वमुक्तम् ( ११। १३ )—'मातृपितृयोनिस्सद्यद्द्विस्तेननास्तिकनिन्दनकर्माभ्यासिपतितारायापय तितस्थागिन पतितः पातकसगोजकाश्च' इति । तथा च महापातकोपपातक-मध्यपाठान्महापातकान्यूनत्वमुपपातकाच्च गुरुत्वमवगम्यते । तदुक्तम्—'महा-पातकदुष्पानि पापाण्युक्तानि यानि तु । तानि पातकसञ्ज्ञानि तान्यूनमुपपा-तकम् ॥' इति । तथा चाङ्गिरा—'पातक्यु सहस्र स्वाग्महस्तु द्विगुण तथा अपपापे सुरीय स्वास्रक वैपंसस्यथा ॥' इति ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—पिता की बहन ( सुधा ) माता, मामी, स्त्रुणा ( पतोह ), सौतेली माता, बहन, आचार्य की पुत्री, आचार्य की पत्नी, या अपनी पुत्री से सम्भोग करने वाला गुरुपत्नीभोगी के समान होता है; उसका लिङ्ग काटकर वध कर देना ऋषिहृत्, और यदि ये स्त्रियाँ स्वच्छा से सम्भोग कराती हैं तो उनका लिङ्ग भी वध का दण्ड प्रायश्चित्त होता है ॥ २३२-२३३ ॥

एव महापातकानि तस्यमानि च पातकानि परिगणय्योपपातकानि परिगणयितुमाह—

गोषधो मात्पता स्तेयमृणानां चानपाक्रिया ।

अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रय परिवेदनम् ॥ २३४ ॥  
 भृतादभ्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।  
 पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३५ ॥  
 स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम् ।  
 नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रय ॥ २३६ ॥  
 धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ।  
 पितृमातृसुतस्यागस्तडागारामविक्रय ॥ २३७ ॥  
 कन्यासंदूषणं चैव परिविन्दकयाजनम् ।  
 कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम् ॥ २३८ ॥  
 आत्मनोऽर्थे द्वियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेधनम् ।  
 स्वाध्यायाग्निमुत्तत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥ २३९ ॥  
 इन्धनार्थं धुमच्छेदं स्त्रीहिंसोपघजीवनम् ।  
 हिंस्रय-अविधानं च व्यसमान्यारमविक्रय ॥ २४० ॥  
 शूद्रप्रेष्यं ह्रीनसख्यं ह्रीनयोनिनिषेधनम् ।  
 तथैवानाश्रमे घास पराग्नपरिपुष्टता ॥ २४१ ॥  
 बससच्छास्त्राधिगमनमाकरेभ्वधिकारिता ।  
 भार्याया विक्रयक्षौषामेकैश्चमुपपातकम् ॥ २४२ ॥

गोषधो गोविण्डाध्यापादनम्, कालेऽनुपनीताव वारपक्षा, द्राक्षणसुवर्णनसम  
 १५निरिक्तपरद्रव्यापहरण स्तेयम् गृहीतस्य सुवर्णादेरप्रदानसृणानामनपाकर  
 णम्, तथा देवदिवित्तजा सर्वेभ्युपस्थानपाकरण च । तस्यधिकारेऽनाहिताग्नि  
 त्वम् ॥ ननु ज्योतिष्टोमादिकामधुतव स्वाह्वृताग्निभिरप्यर्थमाधाय प्रयुञ्जत  
 इति सीमासकप्रसिद्धि, अतश्च यस्याग्निभिः प्रयोजनं तस्य तदुपाधभूताधाने प्रवृ  
 त्तिर्वाद्याद्यर्धिन इव धनार्जने । यस्य पुनरग्निभिः प्रयोजनं नास्ति तस्याप्रवृत्तिरिति  
 कथमनाहिताग्नितादोष ? उच्यते,—अस्मादेवाधानस्वावरयकत्ववचनान्निःश्रुत  
 योऽपि साधिकारित्वाग्निशोपादाधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकारणामभिप्रायो  
 लक्ष्यत इत्यदोष । तथा अपण्यस्य लवणादेर्विक्रय सहोदरस्य ज्येष्ठस्य  
 निष्ठत कनीयसो आशुदाराग्निसयोग परिवेदनम्, पणपूर्वाध्यापकादप्ययन  
 ग्रहणम्, पणपूर्वाध्यापनम्, परदारसेवनं गुरुदारतत्समभ्यतिरेक्षणं पारि  
 व्रिय कनीयसि कृतिव्याहे ज्येष्ठस्य विवाहाराहित्यम्, वार्धुष्य प्रतिपिबृद्धपुप-  
 जीवनम्, लवणक्रिया लवणस्वात्पादानम्, स्त्रिया वध आग्नेयी सगर्भा ऋतु

१ परिवेदक । २ सब ध्यर्णस्या । ३ साधिकारत्वाविशेषी ।

४ वृशुपजीवित्वम् ।

त्वात् । एतच्च मैत्रं ब्राह्मणादिवर्णेष्वेव कार्यम् ; 'चातुर्वर्ण्ये चरेद्भैष्य स्रष्टाद्भी  
सयतोऽभवान्' इति संवर्तस्मरणात् । तथा 'ब्रह्महाऽस्मि' इति स्वकर्म रथापयन्  
द्वारि स्थितो भिक्षां याचेत् ; 'वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थं दक्षघानकः'  
इति पराशरस्मरणात् । अथ च मैत्राशित्वनियमो चण्वैर्जीवनाशकौ द्रष्टव्यः ;  
'भिक्षार्थं प्रविशेद् ग्रामं चण्वैर्षदि न जीवति' इति संवर्तस्मरणात् । तथा  
प्रब्रह्मचर्यादियुक्तेन च तेन भवितव्यम् । खट्वाङ्गकपाष्ठवाणिर्द्वादशवत्सरान्द्रह-  
षारो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत्कर्मचक्षणः । यथोपक्रमेण संदर्शनादर्थस्य  
( 'इत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निश्चिः । एतद्दीरासनं नाम सर्वपाप-  
प्रणाशनम् ॥' )—'स्थानासनाभ्यां बिहरेत्सवनेपूङ्कोपस्वर्षी शुद्धवेत्'  
( १११६ ) इति गौतमस्मरणात् । 'ब्रह्मचारिप्रहणं वर्जयेन्मधुमासगन्ध-  
मास्यदिवास्वप्नाऋतनाभ्यऋतनोपानच्छप्रकामञ्चोद्यलोभमोहहर्षनृपगीतपरिवादन-  
भयानि' इति ब्रह्मचारिप्रकरणोक्ताविरुद्धधर्मप्राप्त्यर्थम् । अत एव शब्द-  
'स्थानवीरासनी मौनी मौञ्जी दण्डरुमण्डसु' । भिक्षाचर्याग्निकार्यं च  
कृत्वाण्डीभिः सदा जपः ॥' इति, तस्य भवेदिति शेषः । अत्र सवनेपूङ्क-  
स्वर्षीति स्नानविधानात्तद्भूतमन्त्रादिप्राप्तिरप्यवशस्यते । तथा 'शुचिना कर्म  
कर्त्तव्य'मित्यस्य सर्वकर्मसोपाहारत्वाद् अतश्चर्वाङ्गभूतशौचसंपत्तयर्वा ज्ञानवत्संप्यो-  
पासनमपि कार्यम् । तस्यापि शौभापादनद्वारेण सर्वकर्मसंपत्तयवात् । तथा च  
वृचः—'संस्वाहीनोऽशुचिर्निश्चमनहंः सर्वकर्मसु । यरिक्विरिक्वुरते कर्म न तस्य  
फलभाग्भवेत् ॥' इति । न च 'द्विजातिकर्मस्यो हानिः पतनम्' इति वचनात्  
मध्योपासनायाश्च द्विजातिकर्मत्वाद्प्राप्तिरिति शङ्कनीयम् । यस्यापत्तिरस्यैव  
अतश्चर्वापदेशात्तद्भूतस्यैव संस्वोपासनादिप्राप्तिः । अतो 'द्विजातीनामप्यवगमिष्या  
हान ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादीनामेव द्विजातिकर्मणां  
अतश्चर्वाङ्गभूतानां हानिर्न सर्वेषाम् ; तावन्मात्रथापेन हानिवचनस्य चरितार्थ-  
त्वात् । इयं तु मनुयाञ्चक्षत्रयगीतमादिप्रतिपादिता द्वादशवापिकर्मनचर्वाकैव  
न पुनर्भिक्षा । परस्परसापेक्षत्वादविरोधाच्च । तथा हि—भिक्षादी कर्म वेद्य-  
वियुक्ते किं भिक्षापात्रं कर्षां वा गृहेषु कतिपु वेत्थाकाङ्क्षा जायेतैव । तत्र  
'लोहितकेन स्रष्टाशरणेण' ( १११७१३ ) इत्यापस्तम्ब्यादिवचनैः परिपूरणम-  
विरुद्धम् । अतः सर्वैरेकैकस्योपदेशाकैश्चिदुक्तं मनुगौतमाद्युक्तेति शक्तं स्यतायाः  
परस्परसापेक्षत्वादेऽपि विवक्ष्य इति तद्वनिरूप्येवोक्तमिति अन्तर्भवम् । इयं द्वादश-  
चर्याग्नि प्रतश्चर्वाभाषणं ब्रह्महाः शुद्धिमाप्नुयात् । इयं चाकामृतमद्भयघविदया  
( १११८९ )—'इयं विदुर्द्विरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणघपे

१. संघतः पुमन् ।                      २. भिक्षां चरेत् ।                      ३. स्रष्ट्वाङ्गपाणिः ।  
४. स्थानासनाभ्याम् ।                      ५. साधारणस्मरणत्वात् ।

निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात् । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं द्वित्रै-  
 वाह्यवधे प्रायश्चित्तस्य सन्त्रस्वमुतावृत्तिरिति । तत्र केचिन्मन्यन्ते ब्रह्महा-  
 द्वाद्दशाब्दानोत्थं ब्रह्मसन्दस्यैकस्मिन्-द्वयोर्वहुषु साधारणत्वादेकस्मिन्प्रायश्चित्तवधे  
 एतदप्रायश्चित्तं नदेव द्वितीये मृतीयेऽपि । तत्रैकवाह्यवधनिमित्तैकप्रायश्चित्तानुष्ठाने  
 सतीदं कृतमिदं नेति न शक्यते वक्तुम् । देशकालकर्तृणां प्रयोगानुबन्धभूता-  
 गामभेदेनागृह्यमाणविशेषत्वात्तन्प्रायश्चित्तानेनैव पापघ्नत्वव्यवहारकार्यनिष्पत्तियुक्ता ।  
 यथा तन्प्रायश्चित्तैः प्रयाजादिभिराग्नेवादिषु सन्त्रेणैवानेकोपकारलक्षणकार्याणां  
 निष्पत्तिः । मन्थेय वाच्यम् 'द्वित्रैवाह्यवधे पापस्य गुरुत्वादेनसि गुरुणि गुरुणि  
 लघुनि लघुनि' (१९।१९) इति, गौतमवचनादाकृतमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तम्,  
 विलक्षणकार्ययोस्तन्त्रेण निष्पत्त्यनुपपत्तेरिति । यतो नेदं वचनमावृत्तिविधायकं  
 कृत्यपदिष्टानां गुरुलघुलक्षणानां व्यवस्थाप्रतिपादनपरम् । नच द्वितीयप्रायश्चित्तवधे  
 पापस्य गुरुत्व, प्रमाणाभावात् । यच्च मनुदेवलाभ्यामुक्तम्—'विधेः प्राथमिकाद्  
 समाद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् । मृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थं नास्ति निष्कृतिः ॥'  
 इति,—तदपि 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकंशास्त्रमावर्तते' इति न्यायेन, द्वित्रैवाह्यवध-  
 धगोचरनैमित्तिकशास्त्रात्प्रनुपादेन चतुर्थं तदभावविधिपरम्, न पुनर्द्वितीय-  
 ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानद्वैगुण्यविधिपरमपि, शक्यभेदप्रसगात् । तस्माद् द्वित्रैवा-  
 ह्यवधेऽपि सकृदेव द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानं युक्तम्, यथा अत्रनये चामवते पुरो-  
 काशमष्टाकपालं निर्वपे'दित्यादिगृहदाहादिनिमित्तेषु चोदितानां चामवत्यादीनां  
 युगपदनकल्पवि गृहदाहादिनिमित्तेषु सकृदेवानुष्ठानम् । अत्रोक्त्ये—नहि वचन-  
 विराधे न्यायः प्रभवति । वचनं च विधेः प्राथमिकादित्यादिकं द्वित्रैवाह्यवधे  
 प्रायश्चित्तानुष्ठानावृत्तिविधिपरम् । एव सति न्यायलभ्यतन्प्रायश्चित्तानुष्ठानवाधेनावृत्ति-  
 विधाविदं वचनं प्रवृत्तिविशेषकरं स्यात् । इतरथा शास्त्रतः प्रायश्चित्तानुष्ठानकालेना-  
 नर्धकं स्यात् । नच वाक्यभेदः । चतुर्थादिब्रह्मवधपर्युदासेनेतरप्रायश्चित्तप्रायश्चित्त  
 विधानेनैकार्थत्वात् । किंच, 'चतुर्थं नास्ति निष्कृतिरिति लिङ्गदर्शनाद्भवमान-  
 ब्राह्मणस्यशोःकर्षेण दोषगीहव गम्यते । तथा देवलाहित्वनाच्च 'यत्स्यादनभि-  
 सधाय पापं कर्म सकृत्कृतम् । तस्येयं निष्कृतिर्दृष्टा धर्मविद्भिर्मनीषिभिः ॥'  
 इति । मथ विलक्षणयोगुरुलघुदोषयोः स्यस्तन्त्रेण निष्पत्त्येन । अत एवविधेषु  
 दोषगुरुत्वेन कार्यवैलक्षण्यादपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकस्यावृत्तियुक्ता । चामव-  
 र्यादिषु पुनः कार्यवैलक्षण्याच्चस्तन्त्रभाव इत्यलं प्रपञ्चेन । यच्चेदं 'चतुर्थं  
 नास्ति निष्कृतिरिति, तदपि महापातकविषयम्, पापस्यातिगुरुत्वेन प्रायश्चित्त-  
 भावप्रतिपादनपरत्वात् । अतः शृङ्गाजसेवनादी बहूशोऽप्यभ्यस्यते तदनुगुणं प्राय-

१. किं तत्र द्वित्रैवाह्यवधे । २. द्वित्रैवाह्यवधे । ३. द्विगुणं चरेत् ।  
 ४. नैमित्तिकमावर्तते । ५. परममिति । परमेव । ६. वृत्तिप्रायश्चित्तम्

शिक्षावृत्ति कल्पनीया, न पुन प्रायश्चित्ताभाव । अत एवोक्तं मनुना ( ११। १४० )—'पूर्णे चानस्यनस्येना तु शूद्रद्वयामत चरेत्' इति । इदं च द्वादश-  
वार्षिकं व्रतं साध्याद्धन्तुरेव, ब्रह्महेति तस्यैवाभिधानात् । अनुप्राहकप्रयोजकादेस्तु  
तत्तद्दोषानुसारेण प्रायश्चित्तारतम्यं कल्पनीयम् । तत्रानुप्राहको यः प्रायश्चित्तभाज  
पुरुषमनुशुद्धाति स तत्प्रायश्चित्तं पादोनं कुर्यात् । अतस्तस्य द्वादशवार्षिकं पादोनं  
त्रैवार्षिकं प्रयोजकसत्त्वोर्न षट्षवार्षिकं कुर्यात् । अनुमन्ता पुन साध्वपादं सार्धं  
चतुर्वार्षिकं त्रिवार्षिकं त्रैवार्षिकम् । अत एव सुमन्तु —'निरस्कृतो यदा  
विप्रो द्वादशाऽऽमानं गृहो यद्दि । निर्गुणं साहस्रात्कोषाद् गृहक्षेत्रादिकारणात् ॥  
त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यात्प्रतिशोभा सरस्वतीम् । गच्छेद्द्वार्षिकं विष्टुद्धयं तत्रापश्येति  
निश्चितम् ॥ अथर्वं निर्गुणो विप्रो एष्वर्थं निर्गुणोपरि । कोषाद् द्वै श्रियते यस्तु  
निर्मिमिक्तं तु मरिचिक्तं । वस्त्रत्रितयं कुर्याच्चरं कृच्छ्रं विशुद्धये ॥' इति । यथा  
पुनर्निमित्तस्य तद्गुणवान् आरमघाती चार्थस्तन्निर्गुणस्तद्वैकल्पमेव ब्रह्महत्याव्रतं  
कुर्यात्, केशशमयुनखादीनां कृत्वा तु वपनं वने । ब्रह्मवर्षं चाग्निव्रतं वर्षं गैकैकं  
शुद्धयति ॥' इति तेनैवोक्तावात् ॥ अनर्थैव विशाऽनुप्राहकप्रयोजकादीनां षडनु-  
प्राहकप्रयोजकाद्यवशेषामपि प्रायश्चित्तकल्प्यम् । अस्यां च कल्पनायां प्रयोगवि-  
ताऽनुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मि  
नकल्पविशेषः' (२।२९।१) इत्यापस्तम्बीय वचनं मूलम् । तथा प्रोक्ताहकादीनां  
मपि षड्वार्षिकं कल्प्ये । यथाह पैटीनसि —'हन्ता म सोपदेष्टा च तथा सप्रति-  
पादकः । प्रोक्ताहकं सहापञ्च तथा मार्गाशुदेष्टकं ॥ आश्रयं सत्प्राता च  
भक्तदाता विकर्मिणम् । उपेक्षकं नक्तिमाश्रेहोपवक्ताऽनुमोदकः ॥ अकार्यकारि  
णस्तत्रैषां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् । यथाशक्त्यनुरूपं च दण्डं चैषां प्रकल्पयेत् ॥'  
इति । तथा बालपृष्ठादीनां साक्षात्कर्तृत्वेऽप्यर्धमेव 'अशीतिवर्षं चर्षणिं यालो  
षाऽप्यूनयोऽनं । प्रायश्चित्तार्धं मर्हन्ति क्षियो रोगिण एव च ॥' इत्यद्विरस्मरणात् ।  
तथा सुमन्तु —'अतोक्तुं द्वादशाह्वार्षिकं द्वादशतेरुध्वमेव वा । अर्धमेव भवेत्पुला  
सुरीय तत्र योचितम् ॥' इति ॥ तथाऽनुपनीतस्यापि बालकस्य पादमाधमेव  
प्रायश्चित्तम्, 'स्त्रीणां गर्भं प्रदातव्यं बृहदानां रोगिणां तथा । पादो बालेषु दातव्य  
सर्वपापेष्वपि विधिः ॥' इति विष्णुस्मरणात् । अतश्च यच्छ्रुतेन—'ऊनैकादशव  
र्षस्य षड्वर्षपर्यवस्य च । प्रायश्चित्तं चरेद् भ्राता पिता याऽप्य सुह-  
जनः ॥' इति प्रतिपाद्योक्तम्,—'अतो बालवत्सस्यास्य नापरार्धो न पातकम् ।  
राजदण्डो न सारयासितं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति,—तदपिसपूर्णं प्रायश्चित्ता-  
भावप्रतिपादनपरं, न पुन सर्वोत्तमा तदभावप्रतिपादत्परम् । आश्रमविशेष  
निरपेक्षेण ध्रुवमाणेषु 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' तस्माद् ब्राह्मणराजन्धौ धैरपरश्च न सुरी



पिबेत्' ह्येवमादिष्वनपेक्षितयथोपरोपरस्यैवाधिकारात् । अतश्च तदीयमपि प्राय-  
श्चित्त पित्रादिभिरेवाचरणायम्, 'पुत्रानुराघ सस्कृत्य वेदमध्याप्य वृत्तिं विदध्यात्'  
इति तस्यैव पुत्रादिदिनाचरणेऽधिकृतत्वात् । यत्र पुन कस्मिंश्चिद् ब्रह्मवधे प्रयो-  
जकभावमापन्नस्यान्यस्मिन्-साधारणत्वे गुरुलघुप्रायश्चित्तसंपातस्तत्र द्वादशवार्षि-  
कादिगुरुप्रायश्चित्तान्त पातिन प्रयोजकसवन्धिषुप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कार्यसिद्धि ।  
नचैव सरयविशेषास्तुक्त्वेन महतोऽपि सिद्धि स्यादित्याशङ्कनीयम् । अत्र  
ह्यस्त पातितयाऽनुष्ठान विशेषानवगमात्प्रसङ्गात्कार्यसिद्धिरैवगम्यते । नच लघु-  
न्त पाती महाकण्ड इति कुत प्रसङ्गाशङ्का ? नच चैत्रवधजनितकर्मपक्षयार्थ-  
मनुष्ठितेन ऋथ विष्णुमिन्नवधोरथाद्यवापनिवृत्तिरिति वाच्यम्, चैत्राशुदशस्या-  
त-प्रशक्त । अतो यथा काम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थं स्वार्थं वाऽनुष्ठितैरानेयादिभि  
नित्यनियोगनिष्पत्तिरस्तद्ब्रह्मप्रायश्चित्तस्यापि कार्यसिद्धि । यत्पुनर्मध्यमाग्निरोव-  
चनम्— गवां सहस्र विधिवशेषेभ्य प्रतिपादयेत् । ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपा-  
पेभ्य एव च ॥' इति,—तस्मिन्मध्यगुणवद्ब्राह्मणविषयम् । एतच्च 'द्विगुण सवनस्ये  
तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत्' इत्येतद्वाक्यविहितद्विगुणद्वादशवार्षिकव्रतचर्वाशक्तस्य  
वैदित्तस्यम्, प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । न त्वनावृत्तद्वादशवार्षिकविषयम् । तत्र हि  
द्वादशदिनाभ्यकैवप्राजापर्यामिति गणनायां प्राजापर्यायां षष्ट्यधिकशतत्रय  
भवति । यद्यपि प्राजापर्यवशान्तेऽप्यहमुपवासोऽधिकस्तथाऽप्यत्र वनवासजटाधारण-  
चमयाहारवादिहोतपोविशेषयुक्त-वादुपवासोभावेऽप्येकैकरस्य द्वादशाहस्य प्राजा-  
पर्यवशेषम् । तत्रच 'प्राजापर्यवशेषाशक्ती धेनु एवाद्विचक्षण । गवामभावे  
दातव्य तन्मूढय वा न सहाय ॥' इत्यनेन न्यायेन प्रतिप्राजापर्यमेकैकरवां  
धे-वा दीयम गवां धेनूनामपि षष्ट्यधिक शतत्रय भवति, न पुन सहस्रम् ।  
अतो यथाक एव विषयो युक्त । यदपि शङ्कवचनम्—'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्द-  
शेषेण विप्र प्रमाप्य द्वादशवत्सरास्पृष्ट् श्री-सार्धं सवत्सर च व्रताग्वादिशेतेषामग्नौ  
गोमहस्र तदर्धं तस्यार्धं तदर्धं च दद्यात्सर्वेषा वर्णानामानुपूर्व्येण' इति द्वादशवार्षि-  
कगोमहस्रयो समुच्चयविधिर्वर, तदाचार्यादिहननविषय द्रष्टव्यम्; तस्यातिगुरु-  
त्वात् । तथा च दृष्ट —'सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणमुवे । नाचार्ये शतसाहस्र  
धोत्रिये दत्तमत्तयम् ॥' इति प्रतिपाद्योक्तवान्—'समं द्विगुणसहस्रमानस्य च  
यथाक्रमम् । दाने फलविशेष स्वादिंसायां तद्देव हि ॥' इति । तथाऽऽपस्तम्बे  
न (१।२४।२४) द्वादशवार्षिकमुक्त्वोक्तमस्मिन्नेव विषये—'गुरु हत्वा धोत्रिय  
चा एतदेव व्रतमोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्' इति, तत्र यावज्जीवमावर्तमाने व्रते यदा

१ पुत्रदिताचरणे । २ प्रयोजकामावापन्न । ३ सिद्धिरुच्यते ।

४ मनुष्ठेयेन । ५ रूपतया विशेष । ६ समुच्चयपरम् । ७ शोक्तत्वात् ।

त्रैगुण्यं चानुगुण्यं वा संभाव्यते तदा तत्राऽसमर्थस्य बहुधनस्यायं दानतपलोः  
समुच्चयो ऽष्टमः । द्वादशवार्षिकव्यतिरिक्तानां तु सुमन्तुपराशाराद्युक्तानां प्राय-  
श्चित्तानामुत्तरत्र व्यवस्थां वक्ष्यामः । ननु द्वादशवार्षिकादिकक्षपानां व्यवस्था  
कुतोऽवसिता ? न तावद् द्वादशवार्षिकादिविधायकत्वावयैरिति युक्तम्; तत्रापीतेः ।  
नच वाच्यं प्रमाणावगतगुरुरलघुकक्षपानां बाधो मा प्रसाह्यीदिति व्यवस्था कल्प्यत  
इति । विकल्पसमुच्चयाद्वाद्भिभावावामन्यतमाश्रयणेतापि बाधस्य सुपरिहरत्वा-  
त् । अश्लेषते—न तावद् द्वादशवार्षिकसेतुदर्शनादीनां विषमक्षपानां विकल्पो-  
ऽवकल्प्यते; विकल्पाश्रयणे गुरुक्षपानामनुष्ठानापमत्वेनानर्थक्यप्रसङ्गात् । नच  
षोडशिम्रहणाग्रहणवद्विषमयोरपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यम् । यतरतप्रापि  
सति संभवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम् । यद्वा षोडशिम्रहणानुगृहीतेनाति-  
रात्रेण क्षिप्तं स्वर्गदिसिद्धिरनिश्चितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम् ।  
इतरथा ग्रहणविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि समुच्चयः । उपवेशातिवेशप्रति-  
मन्तरेण समुच्चयो न संभवति; उपदेशावगतनैरेवस्य बाधप्रसङ्गात् । नचा-  
द्वाद्भिभावः, ध्रुवादिबिन्दुजकानामभावात् । श्रुतिलिङ्गानामप्रकरणस्यान-  
समायदानि विनियोजकानि । अतः परस्परामर्दपरिहारार्थं विषयव्यवस्थाक-  
ल्पनैवोचिता । सा च जातिशक्तिगुणाद्येवमा कल्पनीया, 'जातिशक्तिगुणाद्येव  
सहृद् बुद्धिर्न तथा । अनुपगमादिविज्ञानं प्रापश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥' इति दैवल-  
स्मरणान् ॥ २४३ ॥

भाषा—ग्राहण की हरण करने वाला महापातकी ( उसी हन ग्राहण  
के ) सिर की छोपड़ी हाथ में लेकर और दूसरी छोपड़ी बाग के हरे के  
ऊपर धोपकर, अपने किये हुए कर्म को सबसे बताने हुए भक्ष्य भोजन करते  
हुए बारह वर्ष स्थित करने पर शुद्ध होता है ॥ २४३ ॥

पूर्वोक्तस्य मन्त्रहत्यादिप्रापश्चित्तस्य नैमित्तिकसमोत्पद्यधिमाह—

ग्राहणस्य परिश्रानाद्गर्वा द्वादशवल्क्ये च ।

तथाऽऽत्रमेघाद्यभ्यस्तानाहा शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४४ ॥

यशोरभ्यामादिभिर्भ्यांवाचमानस्य ग्राहणरत्नैकरथाप्यसमप्राणानन्तरे कृत्वा  
प्राणप्राणं करोति गर्वा द्वादशैकरथाप्यासंपूर्णोऽपि द्वादशवार्षिके शुद्धयेत् ।  
यद्यपि प्राणप्राणे प्रवृत्तरतदृष्ट्यैव श्रियते तथाऽपि शुद्धयेत्येव । अत एव मनुना  
( ११।७९ )—'ग्राहणार्थं गयार्थं वा नचः प्राणान्परित्यजेत् । मुरयते मन्त्रह-  
त्याया गोहाः गोमार्द्रणस्य च ॥' इति । ग्राहणरचण तदर्थं मरणं च पृथगुवा-  
चम् । तथा परकीयाद्यभेदायमृषाऽप्यकर्मोद्भूतस्नायममये स्वयमपि स्नात्वा  
मन्त्रहत्यायाः शुद्धिं प्राप्नुयात् । स्नानं च स्वच्छमपं विकल्प्य कुर्यात् । तथा

च मनु\* ( ११८२ )—‘शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽव-  
 मृधे स्नात्वा हयमेधे विशुद्ध्यते ॥’ इति । भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋत्विजस्तेषां राज्ञा  
 नरदेवेन यजमानेन राज्ञा समवाये स्वीयमेन. शिष्ट्वा विष्यात्पारवमेधाव-  
 मृधे स्नात्वा शुद्धयति यदि तैस्नुज्ञातो भवति, ‘अश्वमेधाभृथ गत्वा तत्रानु-  
 ज्ञात स्नात सद्य पूतो भवति’ इति शङ्खस्मरणात् । अश्वमेधावमृथमहणम-  
 ग्निष्टुम्भध्याना पञ्चदशरात्रादिक्रत्वन्तराणामग्निष्टुस्समाप्तिकाना च सर्वमेधादी-  
 नामुपलक्षणम् । ‘अश्वमेधावमृधे वाऽभ्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत्’ ( २११९, १० )  
 इति गौतमस्मरणात् । अथ च प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य कथञ्चिद्ब्राह्मणमात्रा-  
 णादिक कुर्वतो व्रतसमाप्त्यवधिरुच्यते । यथा सारस्वते सत्रे प्लास प्रजक्षण  
 प्राप्नोधानमृथभैकशतानां वा गवां बृहत्समवाये सर्वस्वदान गृहपतिमरणे  
 चेति । न पुन. स्वतन्त्र प्रायश्चित्तान्तरम् । तथाच शङ्ख —‘द्वादशो वर्षे शुद्धि-  
 प्राप्नोतान्तरं वा ब्राह्मण ओर्ध्वदिस्वा, गवां द्वादशानां परित्राणारसद्य एवाश्व-  
 मेधावमृथशतानाद्वा पूतो भवति’ इति । अत एव मनुना ( ११७८ —‘हन-  
 वापनो वा निवसेत्’ इति द्वादशवार्षिकस्य गुणविधि प्रक्रम्य ( ११७९ )—  
 ‘ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्य. प्राणान्परित्यजन् । शुच्यते बृहद्वहत्याया गोसा गोर्धा-  
 ह्यस्य च ॥’ इत्यादिना मध्ये ब्राह्मणत्वाणादिकमभिधाय ( ११८१ )—‘एव  
 एवव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहित । समाप्ते द्वादशे वर्षे बृहद्वहत्या व्यपोहति ॥’  
 इति द्वादशवार्षिकमेवोपसहस्रम् । ननु बृहद्वहत्याया शुद्धिमाप्नुयादिति ब्राह्म-  
 णत्वादीना द्वादशवार्षिकेण सदैककलत्वावगमात्स्वातन्त्र्यमेव युक्तं न पुनर-  
 ङ्गत्वम्, किंच प्रधानविरोधित्वादपि नाङ्गत्वम् । प्रधानानुप्राहक ऋद्ध भवति ।  
 नच प्रारब्धद्वादशवार्षिकस्यैव विधानम् । येन तत्कार्ये विधानं गम्यते । यथा  
 ‘सत्रायावगूर्णं विश्वजिता यजेत’ इति सन्नप्रयोगप्रवृत्तस्य तत्परिसमापनाद्यमस्य  
 विश्वजिह्विधानमतोऽपि स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । यथाऽग्निप्रवेशलक्ष्यभावादीनाम् ।  
 नच तेषामपि द्वादशवार्षिकोपक्रमोपसहारमध्यपठितत्वेन तदङ्गत्वमिति शङ्कणी-  
 यम् । यत सरयपि मध्यपाठे निर्ज्वालप्रयोगमत्वेन प्रयोगनाकाङ्क्षाविरहात् पर-  
 स्परमद्वाङ्गत्व युक्तम् । यथा सामिधेनीप्रकरणमध्यवैर्तिनां निर्विपदानामग्नि  
 समिन्धनप्रकाशनेन सामिधेनीभि सदैककार्याणां न सामिधेन्यङ्गत्वम् । न  
 चैकान्तोऽग्निप्रवेशादीनां द्वादशवार्षिकमध्ये पाठं नमिष्टगीतगादिभिरपि द्वाद-  
 शवार्षिकप्रकाराण्येव पठितत्वात् । इदमेव स्वातन्त्र्यं प्रकटयितुं मनुना ( १११  
 ७३ )—‘लघय शुश्रुतां वा स्वात्’ ‘यास्येदारमानमग्नौ वा’ इति प्रतिपाक्य

१ विशुद्ध्यति । २ स्नात्वा शुद्धयेत् । ३ सर्वस्वजान्या, सर्वस्व-  
 याऽयाऽयाम् । ४. भोजयित्वा । ५. वर्तिनामग्निविदासग्नि ।

'वा'शब्दः पठितः । तथा प्रतिप्रायश्चित्तमेवोपसंहृतम्—'अतोऽन्यतममास्याप विधिं विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं स्वपोहत्यात्मशुद्धये ॥' ( मनुः ११।८६ ) इति । अतोऽग्निप्रवेशादीनां स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । अतश्च ब्राह्मण-  
त्राणादेश्येकफलत्वाद्याह्वयमिति । उच्यते,—परिहृतमेतत् 'अन्तरा ब्राह्मणं मोचयिष्ये'त्यादिना सङ्ख्यवचनेनाह्वयत्वावगमात् । अङ्गस्यैव मृतः प्रधानद्वारेण फलसंबन्धः । न च प्रधानविरोधः यतो ब्राह्मणत्राणावधिकस्यैव मृतानुष्ठानस्य फलसाधनत्वं विधीयत इति न विरोधः ॥ २४४ ॥

भाषा—( व्याघ्र आदि द्वारा मारे जाते हुए ) किसी ब्राह्मण का प्राण बचाने, अथवा चारह मासों की प्राणरक्षा करने पर तथा अश्वमेधयज्ञ में अवभृथ स्नान करने पर ( चारह वर्ष के पहले भी ) ब्रह्महत्या के दोष से शुद्ध हो जाता है ॥ २४४ ॥

दीर्घेतीवामयमस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा ।

बहुा पथि निरातङ्गं कृत्वा तुं ब्रह्महा शुचिः ॥ २४५ ॥

किञ्च, दीर्घेण बहुकालस्यापिना तीव्रेण दुःसहेनामयेन कृष्णादिश्यापिना मस्तं वीक्षितं ब्राह्मणं वा वा तथाविधां पथि इच्छ्वा निरातङ्गं वीर्यं कृत्वा ब्रह्महा शुचिर्भवति । मनु 'ब्राह्मणस्य परिभ्रानाद्' ( मा० २४४ ) इत्यत्र यदुक्तं ब्राह्मण-  
रक्षणं तदेव विमर्षं पुनरुच्यते—'ब्राह्मणं गामथापि वा' इति ? समयमेवम् । किन्वात्मप्राणपरिस्थानेनाशरत्नवाक्ये ब्राह्मणरक्षणमुक्तमपुनः पुनरीपध्वानादि-  
नेति विशेषः । अमुनेनाभिप्रायेणोक्तं मनुना ( ११।८० )—'विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते' इति ॥ २४५ ॥

भाषा—बहुत दिनों से किसी दुःसह रोग से पीड़ित ब्राह्मण को अथवा गौ को मार्ग में देखने पर उसको बीरोग करने पर भी ब्रह्महत्या का पापकी शुद्ध हो जाता है ॥ २४५ ॥

आनीय त्रिप्रसवस्यं हृतं घातित एव वा ।

तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ २४६ ॥

किञ्च, त्रिप्रस्थापहतमर्षस्वनपावसीदतः संवग्धिं द्रस्यं भूहिरण्यादिकुं वीरै-  
हृतं माकदयेनानीय रक्षणं यः करोति स विशुद्ध्यति । आनयने मपृप्तः स्वयं वीरैर्घातितो वा, यदि वा तन्निमित्तं ब्राह्मणस्यैस्वानयनार्थं तत्र युष्म-  
मानः शस्त्रैः एतौ मृतकदपो जीवन्नपि विशुद्ध्यति । 'शस्त्रैः' इति यदुच्यते  
एतयदुच्यतेप्रायश्चित्तम् । अत एव मनुना ( ११।८० )—'स्ववरं प्रतिरोद्धा वा मर्ष-  
स्वमवजिाह वा' इति 'स्ववरं'ग्रहणं कृतम् । एतस्य स्थोत्रद्वयोक्तपरपरब्रह्मस्य

प्रायश्चित्तगणरूपत्वेनान्तरा वा 'प्रायश्चित्तं मोचयित्वा' इत्यनेन शङ्खवचनेन क्रोडी  
 कृतत्वाद् द्वादशवार्षिकसमाप्यवधिर्वेनेतरग्रहणे विनियोगाच्च स्वातन्त्र्यम् ॥२४६॥

भाषा—किसी प्रायश्चित्त का छीना गया सभी घन अपहरणकर्ता से  
 ( युद्ध करके ) चोट ग्राहक भी छुड़ाकर छा देते हैं और उसके निमित्त शस्त्रों  
 से घायल होकर भी जीवित रहता है तो ब्रह्महत्या के पातक में शुद्ध हो  
 जाता है ॥ २४६ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्य र्वाहेत्येवं हि लोमप्रभृति वै तनुम् ।  
 मञ्जान्तां जुहुयाद्वाऽपि मन्त्रैरेमिर्यथाकमम् ॥ २४७ ॥

'लोमभ्य र्वाहा' इत्येषमादिभिर्मन्त्रैर्लोमप्रभृतिमञ्जान्ता तनु जुहुयात् ।  
 'इति'शब्द करणत्वनिर्देशार्थं । 'एव'शब्द प्रकारसूचनार्थं । 'हि'शब्द स्मृत्य-  
 न्तरप्रसिद्धत्वादीनां प्रभृतिशब्देनाच्छिष्यमाणानां शोतनार्थं । ततश्च लोमा-  
 दीनि होमद्रव्याणि चतुर्धा निर्दिश्यन्ते र्वाहाकार पठित्वा तैर्मन्त्रैर्जुहुयात् ।  
 ते च हृद्यमानद्रव्याणां लोमत्वलोहितमांसमेव ज्ञात्वस्थिमञ्जानामपत्पत्वा-  
 दपी मन्त्रा भवन्ति । तथा च वसिष्ठ—'ब्रह्महत्यादिमुपसमाधाय जुहुयाहो-  
 मानि सृष्योर्जुहोमि लोमाभिमृष्यु वाशय' इति प्रथमात् १ । 'एव च सृष्यो-  
 र्जुहोमि एव च सृष्यु वाशय' इति द्वितीयात् २ । 'लोहित सृष्योर्जुहोमि लोहि-  
 तं च सृष्यु वाशय' इति तृतीयात् ३ । 'मांसानि सृष्योर्जुहोमि मांसैर्मृष्यु  
 वाशय' इति चतुर्थीम् । ४ । 'मेदो सृष्योर्जुहोमि मेदसा सृष्यु वाशय' इति  
 पञ्चमीम् । ५ । 'जायूनि सृष्योर्जुहोमि जायुभिर्मृष्यु वाशय' इति षष्ठीम् । ६ ।  
 'भस्मीनि सृष्योर्जुहोमि भस्मिभिर्मृष्यु वाशय' इति सप्तमीम् । ७ । 'मज्जा  
 सृष्योर्जुहोमि मज्जाभिर्मृष्यु वाशय' इत्यष्टमीम् । ८ ॥' इति । अत्र च लोमप्र-  
 भृति तनु जुहुयादिति लोमादीनां होमद्रव्यत्वावगमाल्लोमभ्य र्वाहेति सत्यपि  
 अनुधीनिर्देशे लोमादीनां न देवतात्वं कल्प्यते, द्रव्यप्रकाशनेनैव मन्त्राणां होम-  
 साधनत्वोपपत्तेः । किंतु 'लोमभिर्मृष्यु वाशय' इत्यादिविष्टमन्त्रवर्षालोचनया  
 सृष्योरेव हवि सव्यत्वावगमाद्देवतात्वं कल्प्यते । अतश्च लोमादीनि सामर्थ्यात्स्व-  
 धितितानावदाय सृष्युद्रव्येनाष्टौ होमान्कृत्वाऽन्ते तनु प्रक्षिपेत् । अतो यस्मैश्चिदुक्त  
 मनादिपट्ट-यत्वादावहविष्का होमा इति,—तदतिरूपवैचोक्तमित्युपेक्षणीयम् ।  
 जुहुयादित्यनेनाष्टौ सिद्धे अणुहाग्निमुपसमाधायेति पुनरग्निग्रहण लौकिकाग्नि-  
 प्राप्त्यर्थम् । युक्त चैतत्, पतितान्नीनां प्रतिपत्तिविधानात्—'आदितानिस्तु

१. र्वाहेति हि । २ मज्जा-तम् । ३ अणुहाग्निम् ४ हविष्कामो  
 होम इति ।

यो विप्रो महापातकभाग्यमेव । प्रायश्चित्तैर्न शुद्धयेत् तदग्नीवा तु का गति ॥  
 वैतान प्रक्षिपेत्तोये शालाऽग्निं शमयेद् धुष ॥ इत्युशन स्मरणात् । तथा—'महा  
 पातकगुण्यो देवास्त्वाग्निमा-यदि । पुत्रादि पातयेदग्नीन्पुत्रादीपसत्तयात् ॥  
 प्रायश्चित्तं न कुर्वीत कुर्वन्वा भ्रियते यदि । गृह्य निवार्ययेत्प्रीतमस्त्वस्येत्सपरि  
 रक्षदम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । तनुप्रक्षेपश्चोत्थायोत्थाय त्रिघोमुखेन कर्तं  
 य । यथाह मनु ( ११।७३ )—'प्रायश्चित्तमात्मनो वा समिद्धे त्रिरवाक्  
 क्षिरा' इति । गौतमनाप्यत्र द्विघोषो दर्शित ( २२।१,२ )—'प्रायश्चित्तमात्मी  
 सन्निपद्यन्नक्षिरसत्तयात्' इति । अथकृत्वात्स्य अन्नशतकर्मितकलेवरस्येत्पर्यं ।  
 तथा च काठकश्रुति — अन्नशनेन कर्मितोऽग्निमारोहेत्' इति । इदं च मरणा  
 न्तिक प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । यथाह मध्यमाङ्गिरा—'प्राणान्तिक च  
 यःप्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । तत्कामकारविषयं विज्ञेयं नाम सशय ॥' इति ।  
 तथा—'य कामतो महापापं नरं कुर्वीतकथञ्चन । न तस्य शुद्धिर्निर्दिष्टा  
 मृतवग्निसपत्नाहते ॥' इति । एतच्च प्रायश्चित्तं स्वतन्त्रमेव ॥ प्राणान्तराणादिषु  
 द्वादशवार्यिकान्तर्भूतमित्युक्तं प्राक् ॥ २४७ ॥

भाषा—अथवा 'होमश्च स्वाहा' आदि मन्त्र से कर्मश्च होम से लेकर  
 मज्जा तक ( होम स्वधा, रक्त, मांस, मेदस्, र्नायु, अस्थि, मज्जा ) अपने  
 नारीर का होम करे ( हो प्रकृष्टश्या के पाप से मुक्त हो जाता है ) ॥ २४७ ॥

संभामे वा इतो लक्ष्यभूत शुद्धिमवाप्नुयात् ।

मृतकस्य प्रहारात्तो जीवन्नपि विद्युद्धवति ॥ २४८ ॥

किंच अथवा समाप्ते पुद्गलमक्षुभयबलप्रेरितसरसपातरमाने लक्ष्यभूतो  
 मृत शुद्धिमवाप्नुयात् । शाठमर्मप्रहारजनिततीव्रवेदनो मृतकस्यो मूर्च्छितो  
 जीवन्नपि विद्युद्धवति । हृत्पथभावश्च प्रायश्चित्तो अथमिषय विदुषो धनु  
 विद्याविद्वा समाप्ते स्वच्छया कर्तव्यो न तु राज्ञा बलात्कारयितव्य । यथाह  
 मनु ( ११।१७ )—'लक्ष्यं शक्यभृतां वा स्याद्दिदुषामिच्छुपात्मन' इति । इदं  
 च मरणातिक्रमसाधारणकर्तुं चत्रियस्य कामकारविषयम् । 'अपि'शब्दाद्व्यमे  
 धादिनाऽपि विद्युद्धवति । यथाह मनुः ( ११।७४ )—'यजेत वाऽथमेधेन स्वर्जिता  
 गोमयन च । भामिद्विषजिह्वया वा त्रिवृताऽग्निष्ठाऽपि वा ॥' इति । अथमेधो  
 नुष्ठानं सार्वभौमचत्रियस्यैव ।—'यजेत वाऽथमथेन चत्रियस्तु महीपति' इति  
 पराशरस्मरणात्, 'नामार्यभौमो यजेत' इत्यसार्वभौमस्य प्रतिषेधदर्शनात् । इदं  
 चाथमेधानुष्ठानं सार्वभौमस्य कामकारकृते मरणातिक्रमस्थानं द्रष्टव्यम्, 'महा  
 पातककर्तारप्रायारो गतिपूरकम् । अग्निं प्रविश्य शुद्धयन्ति स्थिवा या मृदि

कनौ ॥' इति यमेन मरणकालानिप्रवेशतुल्यतया महाकृतोरथमेघस्य निर्दिष्ट-  
त्वात् । स्वर्जितादयश्च त्रैवर्णिकरयाहिताग्नेरिष्टपथमयज्ञस्य द्वादशवार्षिकेण सह  
विकल्पन्ते । न च स्वर्जिताद्यर्थमाधानं प्रायमयज्ञानुष्ठान वा कार्यम्; पतितस्य  
द्विजातिकर्मस्वनधिकारात् । न च सप्योपासनवदविरोध इति युक्तम्; आधा-  
नादेरत्तरत्तनुशेषरथाभावात् । ते च दक्षिणान्युनाधिकयाश्रयणेन द्वादशवार्षिका-  
घटेषु साक्षाद्ग्रादिषु श्यवस्थापनीयाः ॥ २४८ ॥

भाषा—अथवा शुद्ध भूमि में ( दोनों पक्षों से बाण चलते रहने पर  
बीच में पड़ा होकर ) बाणों का लक्ष्य होकर मर जाने पर शुद्ध होता है;  
कठिन प्रहार की वेदना से घायल होकर जीवित रहने पर भी वह प्रकृत्या  
के पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २४८ ॥

अरण्ये नियतो जप्या त्रिर्वेदे वेदस्य संहिताम् ।

शुद्धयेत वा मिताशित्वाप्रतिज्ञांतः सरस्वतीम् ॥ २४९ ॥

किंच, अरण्ये निर्जनप्रदेशे नियतो नियताहारः—'जपेद्वा नियताहारः'  
( ११।७७ ) इति मनुस्मृत्याम् । अथवा मन्त्रग्राह्यजातकं वेदं जपित्वा  
शुद्धयति । 'संहिता'ग्रहण पदक्रमशुद्धासार्थम् । यद्वा मिताशनो भूत्वा प्लाशात्  
प्रत्यवगादारम्य पश्चिमोदधे, प्रतिज्ञोत, स्रोत स्रोत, प्रति सरस्वतीं इत्या गत्वा  
विशुद्धयति । अथवा च हविष्येण कार्यम्—'हविष्यपुरशाऽनुचरेः प्रतिज्ञोतः सर-  
स्वतीम्' ( ११।७७ ) इति मनुस्मृत्याम् । अथ च वेदजपो विदुषो ह्यगुर्निधं  
नरयाथन्तगुणवतो निर्गुणव्यापादमे प्रमादकृते दृष्टव्यः । सरस्वतीगमनं तु तादृश  
पूर्व विषये विद्याविरहिणो दृष्टव्यम् । निर्मात्तनश्च—'तिरस्कृतो यदा विप्रो  
निर्गुणो नियते यत्' इति सुमन्तुवचनस्य दर्शितत्वात् । यत्पुनर्मन्तुवचनम्  
( ११।७५ )—'जपित्वाऽप्यतम वेदं योजनानां शतं प्रजेत्' इति तदपि 'अरण्ये  
नियतो जप्या' इत्येतस्यैव विषयेऽज्ञात्स्य दृष्टव्यम् ॥ २४९ ॥

भाषा—निर्जन स्थान में परिमित भोजन करता हुआ तीन बार सम्पूर्ण  
वेदों की संहिता का जप करने पर अथवा अज्ञातकार करते हुए सरस्वती  
नदी के किनारे-किनारे पश्चिम समुद्र तक जाने पर शुद्ध होता है ॥ २४९ ॥

पात्रे घनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ।

आदातुश्च विशुद्धयर्थमिष्टिवैश्वानरी स्मृता ॥ २५० ॥

किंच, 'न विद्यया केवलया' ( भा० २०० ) इत्याद्युक्तलक्षणे पात्रे गोभू-  
हिरण्यादिकं जीवनपर्याप्तं समर्थं घनं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् । तदनं यः प्रति-

१. द्वादशवार्षिकपञ्चवार्षिकत्रैवार्षिकादिषु साक्षाद्ग्रादिषु । २ शुष्य-  
स्यथ मिताशी वा ।

स्त्रिगुणाद्येसुया प्रागुक्तवद् व्यवस्था घेदितव्या । एवं गर्भवधादिऽपि । मरणातिक्र-  
 म् नानादिश्यत, मृतमृदणात् । अत कामतो यागस्यसुप्रियादिवधे मृतस्यैव  
 द्वैगुण्यम् । एतच्च मृत सपूर्णमेव कर्तव्यम्,—‘पूर्वयोर्घर्णयोर्वेदाभ्यामिह ह्या’  
 (धर्म १।२४,६,५) इति मन्त्रस्यापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकमभिधानात् । गर्भं च  
 विज्ञामु समृत हत्वा ययागर्णं यद्दण्डपुरुषवधे यत्प्रायश्चित्तमुक्त तद्दण्डगर्भवधे  
 तत्रचरेत् । एतच्छानुपजातस्त्रीपुनपुसकस्यजनगर्भविषयम्, ‘हत्वा गर्भमविज्ञातम्  
 (१।१।८७) इति मानवे विदोषदर्शनात् । अत्र च यद्यपि द्वादशगर्भस्य द्वादशगर्वा-  
 देव तद्बधनिमित्तमृतप्राप्तिरसथाऽपि स्त्रीवस्थापि समवात्—‘स्त्रीशूद्रविट्पत्र-  
 पध—’ (भा० २३६) इत्युपपातकत्वेन तत्रप्रायश्चित्तप्राप्तिरपि स्यात्, अत स्त्रीपुन-  
 पुसकार्येणाविज्ञातेऽपि द्वादशगर्भत्वमात्रमुक्त ‘मृद्वहत्वात्त कुर्वात्’ इत्यर्थवद्  
 तिदेशवचनम् । उपजाते स्त्रीपुनादिविशेषम्यजने यथावधमेव प्रायश्चित्तम् ।  
 यथात्रेयानि निपूदको व्यापादक सोऽपि तथा मृत चरेत् । हन्यमानात्रेयीवर्णाजु-  
 ळप मृत चरेदित्यर्थः । आत्रेयी‘शब्देनर्तुमस्युच्यते ‘रजस्वलामृतज्ञातामात्रेयीमा  
 दुर्घम होमदपय भवति’ इति वसिष्ठस्मरणात् । अत्रिगोत्रजा च ।—‘अत्रिगोत्रा  
 वा नारीम्’ (५०।९) इति विष्णुस्मरणात् । एतदुक्तं भवति द्वादशगर्भवधे  
 द्वादशवार्षिके च मृद्वहत्वात्तम् । अत्रिगर्भवधे अत्रिवात्रेयीवधे च अत्रहत्वा-  
 मृतम्, एवम-यत्रापीति । ‘च’शब्दात्साधये भनृतवचनान्द्विवि । तथाह मनु  
 ( १।१।८८ )— उक्त्वा चैवामृत साधये प्रतिरुच्य गुरु तथा । अपहृत्य च निक्षेप  
 कृत्वा च स्त्रीशूद्रवधम् ॥’ इति । यत्र व्यवहारे अस्त्यवधनेन प्राणिनां वधप्रा-  
 प्तिरनद्विषयमेतत्, प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । प्रतिरोध कोधावेश । निक्षेपश्च  
 द्वादशवार्षिक-धी । स्त्री चादितासिमार्या पतिमृतात्वादिगुणयुक्तोऽप्यते सवनस्था च ।  
 यथाहात्रिरा—‘आहिताग्नेद्विजाप्रवस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । मृद्वहत्वात्त  
 कुर्वादात्रेयीमस्तथैव च ॥’ इति । ‘सवनस्था स्त्रिय हत्वा मृद्वहत्वात्त चरेत् ॥’  
 इति पराशरस्मरणात् । एव च सवनस्याग्निहोत्रिण्यात्रेयीवधे मृद्वहत्वात्प्रायश्चि-  
 तातिदेशात्तद्वपतिरिक्तस्त्रीवधस्य ‘स्त्रीशूद्रविट्पत्रवध’ (भा० २३६) इत्युपपातक  
 मध्यवाठादुपपातकत्वमेव ॥ ननु ‘मृद्वहत्वात् न हन्तव्य’ इत्यथ निषेधेऽनुपादेयगत-  
 त्वेन लिङ्गवचनयोरवि-चित्तत्वाद् द्वादशगर्वात्त स्त्रीपुसयोरविशेषात्तदतिष्ठमनिमि-  
 त्तप्रायश्चित्तविधे— मृद्वहत्वात् द्वादशाब्दानि’ (भा० २४३) इत्यस्योभयत्र प्रास्तवा-  
 र्किकमर्थं ‘तथात्रेयीनिपूदक’ इत्यतिदेशवचनम् ? उच्यते,—सत्यपि द्वादशवार्षिकेऽ  
 नात्रेय्या वधस्य च महापातकप्रायश्चित्तनिराकरणार्थमस्तस्मिन्प्रायश्चित्तस्यापि पातकमध्यपा-  
 ठादुपपातकप्रायश्चित्तमेव । आतिदेशिकेण च प्रायश्चित्तस्यैवातिदेशात् न पातित्य-  
 स्य । अत पतितस्यागादिकार्यमत्र न भवति ॥ २५१ ॥



भाषा—यज्ञ में (दीक्षणीया और उदयनीया पर्यन्त सोमयाग में वर्तमान) अग्नि और वैश्य की हत्या करने वाला ब्रह्महत्या वाला व्रत करे, गर्भपात कराने वाले और रजस्वला स्त्री की हत्या करने वाला वर्ण के अनुसार (जिस वर्ण का गर्भ या स्त्री हो) हत्या का प्रायश्चित्त करे ॥२५१॥

चरेद् व्रतमहत्याऽपि घातार्थं चेत्समागत ।

द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् ॥ २५२ ॥

किंच, यथावर्णमित्यनुवर्तते, ब्राह्मणादिद्वन्द्वे कृतमिश्रयस्तद्द्वयापादनार्थं सम्यगागत्य दाम्नादिप्रहारे कृते कथंचित्प्रतिषम्भषणादसौ न मृतस्तदा अहत्याऽपि यथावर्णं ब्रह्महत्यादि व्रत चरेत् । तथा च गौतम (२२।१।१) - 'सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे अहत्याऽपि' इति । ननु इनने तद्भावे चैकप्रायश्चित्तता न युक्ता-सत्यम् ; अत एवौपदेशिकेभ्यो न्यूनत्वादानिदेशिकानां पादोमान्येषु ब्रह्महत्यादिघ्नानि द्वादशवार्षिकादीनि भवन्ति । एषश्च प्रपञ्चित्वाक् । किंच, यस्तु मन्त्रसपाद्य सोमयागमनुतिष्ठन्त ब्राह्मण व्यापादयति तस्मिन्द्वादशवार्षिकादिमत्र द्विगुण समादिशेत् । तेषां च व्रतानां गुण्यपुत्रानां जातिशक्तिगुणाद्येष्वपि सत्यपि सवन्त्वावस्थाविशेषे पूर्ववदेव व्यवस्थाऽवगन्तव्या । ब्रह्महत्यासमागता तु गुण्येषु पादोमान्यानिदेशिकेभ्योऽपि न्यूनत्वात्पूर्वोक्तं द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तमित्युक्तम् ॥ २५२ ॥

भाषा—वध करने के लिए आकर (किसी कारणवश) वध न होने पर भी (वर्ण के अनुसार ब्रह्महत्या आदि का) व्रत करे । सोमयाग के अनुष्ठान में लगे हुए ब्राह्मण को मारने पर द्वा (दोहरा चौबीस वर्ष का) व्रत करे ॥ २५२ ॥

इति ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अथ ऋमप्राप्त सुरापानप्रायश्चित्त प्रक्रमते—

सुराम्बुधृतगोमूत्रपयसामग्निर्निभम् ।

सुरापानोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥ २५३ ॥

सुरादीनां मध्येऽन्यतममग्निर्निभं क्वाम्यापादितमिदं शोदाहृत्किकि कृत्वा पीत्वा सुरापो मरणाच्छुद्धिं प्राप्नोति । गोमूत्रमाहचर्षाद्व्ये एव घृतपयसी ब्राह्मे । घृतपयसाहचर्षाच्च खेजमेव गोमूत्रम् । एतच्चाद्र्वासला कार्यम् । 'सुराप्राप्तं चर्षात्वात् अग्निवर्णं सुरा पिबेत्' इति वैठीनसिस्मरणात् । तथा—'लौहेन पात्रेण सुरापानोऽग्निवर्णं सुरामायसेन पात्रेण तात्रेण वा पिबेत्'

इति प्रचेत स्मरणात् । एतच्च सकृत्पानमात्रे, 'सुरापानं सकृत्कृत्वाऽप्यग्निवर्णां सुरां पिबेत्' इत्यङ्गिरस्मरणात् । यत्तु नलिष्ठवचनम्—'अभ्यासे तु सुरायाश्च अग्निवर्णां पिबेद् द्विज' इति,—तत्सुराण्यतिरिक्तमद्यपानविषयम् । एतच्च कामकारविषयम्, 'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तं विनिक्षिपेत् । मुखे तथा विनिर्दग्धे मृतं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । यत्तु सुरा पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्' ( ११।१० ) इति मनुना मोहग्रहणं कृतं, तच्छास्त्रार्थपरिज्ञानाभिप्रायेण । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं 'सुरा'शब्दो मद्यमात्रे कृत इति तिसृष्वेव गौडीमाध्वीपैष्टीपैष्टीहोस्वित्पैष्टीयामेवेति । तत्र केचिन्मद्यमात्रे कृत इति वर्णयन्ति, 'अभ्यासे तु सुराया' ( १०।१२ ) इति वासिष्ठे पैष्टीयाङ्गिरस्यपतिरिक्तेऽपि मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगदर्शनात् । न चासौ गौणप्रयोग इति शङ्कनीयम् । मद्यजननशक्तिमत्त्वोपाधिकृतया सर्वत्र मुख्यशेषवत्तौ गौणस्वप्नरमाया अभ्यास्यत्वाच्चिति,—तद्व्युक्तम्, 'वानसं ब्राह्मणं माधुकं खार्जूरं तालमैश्वरम् । मधूयं सैरमारिष्टं मैरयं नालिकेरजम् ॥ समानानि विजाभीषान्मद्या-पेकादसौयं तु । द्वादशं तु सुरामद्य सर्वेषामद्यमं स्मृतम् ॥' इति पुलस्तयेन मद्यविशेषादेन सुरामा निर्दिष्टत्वात् । अतश्च मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगो गौणः । अभ्ये पुन पैष्टीयादिषु तिसृषु 'सुरा'शब्दस्य कृडिं मन्यन्ते । तथा हि—यद्यप्यनेकत्र सुराशब्दप्रयोगो दृश्यते तथाऽपि कुत्रानादिस्वमितिसद्वैद्वे—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा' ( ११।१४ ) इति मनुवचनाद्गुह्यमधुविष्टविकारेष्वनादित्वनिर्धारणात्तत्रैव मुख्यत्वं व्युक्तम् । नचा नेकत्र शक्तिकल्पना दोषः, मद्यशक्तेरुपाधिरवाध्यमणेन तस्य सुपरिहरत्वात् । नच तालादिरसेष्वप्युपाधेर्विद्यमानत्वादितिप्रसङ्गः, पञ्चजातिशब्दवद्योगकृष्टत्वा-ध्ययनात् । अतश्च—'यथेवैका तथा सर्वा न पातन्वा द्विजोत्तमै' ( मनु ११।१४ ) इति तिसृणां सुराणां समानदोषावप्रतिपादनपरं न पुनरनयोर्गौडीमाध्वीपैष्टीसुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । 'द्विजोत्तमं ग्रहणं द्विजाद्युपलक्ष्यणम्,—एतदप्यव्युक्तम्, 'द्वादशं तु सुरामद्य सर्वेषामद्यमं स्मृतम्' इति पुलस्तयवचने गौडीमाध्वीम्यामपि सुरामद्यस्यातिरेकदर्शनात् । तथा—'सुरा वै मलमलानां पाप्मा च मलमुच्यते' ( मनु ११।१३ ) इति । अद्यविकारस्यैव सुरात्स्वनिर्देशादज्ञशब्दस्य च 'अन्नेन व्यञ्जनम्' इत्यादियुं व्रीह्यादिविकार एव प्रयोगदर्शनाद् गुह्यमधुनोश्च रसरूपत्वात्तथा मौत्रामणिग्रहेषु चाद्यविकारे एव 'सुरा'शब्दस्य श्रुतत्वात् पैष्टीयेव सुरा मुख्योच्यते । इतरयोस्तु सुराशब्दो गौणः, यत्तु—'गौडी माध्वी' इति मनुवचनात्तिसृष्वप्यौपत्तिकत्वनिर्धारणेति,—तदप्यव्युक्तम्, यतो नेदं ज्ञेयानुशासनवच्छब्दाद्यर्थसंबन्धानादित्वप्रतिपादनपरं,

किंतु कार्यप्रतिपादनपरम् । अतो गुरुप्रायश्चित्तनिमित्ततया गौडीमाध्वयोगेण  
 'सुरा'शब्दयोग । एव च नानेकप्रतिष्ठापनादेषो नाप्युपाध्यायव्ययं कृतम् ।  
 न चात्र 'द्विजोत्तमग्रहणस्योपलक्षणत्वम् । अतश्च—'सुरा वै मलमन्नाना वाप्सा  
 च मलमुच्यते । तस्माद् ब्राह्मणराजन्थौ वैश्यश्च न सुरां विवेत् ॥' ( मनु  
 १११२ ) इति पक्षेण एव वर्णत्रयसंबन्धित्वेन निषेधः । गौड्यादीनां तु  
 मद्यार्थां ब्राह्मणसंबन्धित्वेनैव निषेधः, न चत्रियवैश्ययोः, 'यद्यत्तु विद्यायाश्च  
 मद्यं सर्वं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तस्य देवानामश्नता हविः ॥' ( ११  
 १५ ) इति भाष्ये ब्राह्मणेनेति त्रिजोपोपादानात् । बृहद्विष्णुनाऽपि ब्राह्मणस्यैव  
 मद्यप्रतिषेधो द्रष्टव्यः—'माधूकमैश्वर्यं सैर सात् स्वार्जूरपानसम् । मधूश्च चैव  
 माध्वीकं मैश्वर्यं नालिकेरजम् ॥ अमेध्वानि द्रव्यैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य ॥'  
 इति ॥ बृहदाश्वक्वयेनापि चत्रियवैश्ययोर्दोषाभावो द्रष्टव्यः—'कामादपि हि  
 राज्ञो यो वैश्यो वाऽपि कथञ्चन । मद्यमेव सुरां पीत्वा न दोषं प्रतिपद्यते ॥'  
 इति । 'वासेनापि तयोर्माध्वीपानमनुज्ञातम्—'उभौ मध्वासवचीवाधुभौ  
 च-दमवचितौ । एकपथं ह्यरिभौ दृष्टौ मे केशवाजुर्वी ॥' इति । एव ब्राह्मण-  
 संबन्धित्वेन मद्यमात्रनिषेधः सत्यपि—'गौडी माध्वी च वैश्यी च विज्ञेया  
 त्रिविधा सुराः । यथैकैका तथा सर्वा न पातन्वा द्विजोत्तमै ॥' ( मनु ११  
 १७ ) इति गौडीमाध्वो बृहद्विष्णुनिषेधश्च न दोषगुरुत्वेन सुरासमावप्रतिपाद-  
 नपरम् । अथ च सुरानिषेधोऽनुपनीतस्यानुवायाच्च कन्वाया भव्ये च, 'तस्माद्  
 ब्राह्मणराजन्थौ वैश्यश्च न सुरां विवेत्' ( मनु १११२ )—इति जातिमा-  
 ध्वावच्छेदेन निषेधात् । अतश्च 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्' ( १११० ) इति  
 प्रायश्चित्तविधिवशमेव अनुमाद्यद्ब्रह्मग्रहणं कृतं तद्दर्शनस्योपलक्षणार्थम् । निमित्त-  
 त्वमृतनिषेधसापेक्षत्वाच्चैमित्तिकविषेर्निषेधश्च वर्णमात्रस्यावच्छेदकरत्वात् । यथा  
 'यस्य हविर्मिष्टं पुरस्तात्-चन्द्रमा अश्रुदेति' इति मिमित्तवाक्ये हविर्मात्राश्रु-  
 दस्य निमित्तत्वावगतौ तत्सापेक्षमैमित्तिकवाक्ये धूयमाणमपि श्रेया तद्दुला-  
 न्निवभवेत् इति त-दुलग्रहणं त-दुलादिरूपहनिर्मात्रोपलक्षणम् । इत्यास्तु विशेष—  
 पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वप्य विधिः' इति वचनात्कामकारेऽपि न मह-  
 गान्तिकं किंतु पादमेव द्विगुणीकृत्य पडवाचिकं दैवम्, 'विहितं यदकामाना  
 कामात्तद्द्विगुणं चरेत् इत्यद्विस्मरणात् । एव बृहदासुरादित्त्वपि योग्यम् ।  
 तथा 'तद्ब्राह्मणेन नात्तस्य देवानामश्नता हविः' ( मनु १११५ )—इति  
 मद्यस्यापि जातिमाध्वावच्छेदेन निषिद्धत्वादनुपनीतेनापि न पेषम् । ननु कथं  
 अनुपनीतस्य दोषः ? 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवात्काममद्या' ( २१ ) इति

गौतमवचनात्, तथा—'मद्यमूत्रपुरीषाणां मद्यने नारित कश्चन । दोषस्त्वाऽऽपञ्च  
माहर्षादूर्ध्वं पित्रो सुहृद्गुरोः ॥' इति कुमारवचनाच्च दोषाभावात्प्रगते ।  
उच्यते,—सुरामद्ययोर्निषेधवाक्ये जातिमात्रस्वावच्छेदकत्वध्वनादप्रतिहतैव नि  
षेधप्रवृत्तिः । अत एव स्मृत्यन्तरे निषेधवचनम्—'सुरापाननिषेधस्तु जात्याश्रय  
इति स्थितिः' इति । अत 'पादो चालेषु दातव्य सर्वपापेष्वयं त्रिभिः' इति ।  
'सर्षपापेषु सुरापानादिवि' इति वचनात्पाद एव सुरापाने प्रायश्चित्तम् । तथा  
ज्ञातृरूप्येन मद्यपानेऽपि प्रायश्चित्तमुक्तम्—'अनुपेतस्तु यो बालो मद्य मोहा  
दिपेद्यदि । तस्य कृत्स्नस्य कुर्यात्-माता भ्राता तथा पिता ॥' इति । अतो  
गौतमवचनं सुरादिभ्यतिरिक्तशुक्लपर्युषितादिनिषेधम् । कुमारवचनं तु स्वल्प  
दोषरथापनपरम् । अत एव प्राणुपनयनात्कृतदोषस्थोपनयनमेव प्रायश्चित्तमित्युक्तं  
मनुना ( २।२७ )—'तार्भहोमैजातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः । ऐजिक शार्भिक  
चैमो द्विजानामप्युच्यते ॥' इति । अयमप्रायश्चित्तं त्रैवर्णिकानामुपस्तिप्रभृति पैष्टी-  
प्रतिषेधः । ब्राह्मणस्य मद्यमात्रनिषेधोऽप्युपस्तिप्रभृतेषु । राज-वधैर्ययोस्तु  
न कदाचिदपि गौड्यादिमद्यप्रतिषेधः । शूद्रस्य न सुराप्रतिषेधो नापि  
मद्यप्रतिषेधः ॥ २५३ ॥

भाषा—सुरा पीने बाला महापातकी सुरा, जल, घृत, गोमूत्र और  
दूध में किसी एक को खूब खोलाकर पीए और उससे उसकी मृत्यु हो  
जाय तब यह शुद्ध होता है ॥ २५३ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

वाल्वासा जटी याऽपि ब्रह्महत्यामृतं चरेत् ।

विष्याकं वा कणाभ्याऽपि भक्षयेत्त्रिसमा निशि ॥ २५४ ॥

गोहृगादिभिरनिर्मितवस्त्रपातुतो बालवासा, 'बालवातो'महण श्रीरवहक-  
कयोदपलङ्गार्थम् ; 'सुरापगुह्नस्वगौ श्रीरवहककवासती ब्रह्महत्यामृत चरेत्  
राम्' इति प्रचेत श्रमणात् । 'जटि महण मुष्टिदन्तिराकरणाथम् । ब्रह्म  
हत्यामृत चरेत्' इत्यनेनैव सिद्धे ब्रह्मालवसनादिमहण तदन्वयं सभैषि स्वयं  
भारितशिर कपालादिनिवृत्त्यर्थम् । इदमकामतो जलशुद्धया च सुरां वियति  
तद्विषयम् ; 'इयं विद्युद्विरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम्' ( मनु १।१८९ )—  
इत्यकामोपाधिनेन विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । अत्र च सुरा  
पानस्य महापातकत्वात्सत्यप्यातिदेशिकत्वे सर्वमेव द्वादशवार्षिकं कुर्यात् पादो  
नम् । अत एव घृद्धारीन—'द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्मपातकिन एवन्ते' इति ।

१ चरेद् ब्रह्महति मृतम् । २ मद्यपेक्षु सर्गां निशि । ३ सभय श्रूय-  
माणस्यमन्त्रिण स्वयम् ।

अथवा विषयाक विण्डित विसमा चर्पत्रषपर्यन्त रात्री मस्येत् । कणा-  
रन्-दुल्लेखवास्तान्वा पूर्ववद्भक्षयेत् ।-एतच्च सृष्टदेव कार्यम्, 'कणान्वा भक्ष  
येदद्द विषयाक वा सृष्टिभिः' ( १११२ ) इति मनुस्मरणात् । अस्य च विषया-  
कादिभक्षणस्य भोजनकार्ये विहितत्वाद्दशान्तरपरिस्थाय । एतद्योदकतुदवा सुरा  
पाने छर्दोत्तरकाले वेदितव्यम् 'एतदेव घृतं कुर्यान्मद्यवच्छर्दने कृते । पत्रगम्य  
च नश्योक्तं प्रायह कायशोधनम् ॥' इति व्यासवचनान् । नच सुराससृष्टेपदु-  
पलभ्यमानसद्र-धरसोदकपानविषयमिदमिति सुन्दरम् । सतस्रसि सुरासव्या  
नवायात् । यथाऽऽभ्यस्य पृथक् । अत एव भाष्येण इति निगमा कार्या  
न पृथक्प्रायश्चित्तं इत्येवमुक्तं व्यासविद्वि । यत्पुनरापस्तम्बवचनम् ( ११२५ )—  
'स्तथ कृत्वा सुरा पीत्वा गुरुवाराम्बास्वा प्रकृष्टत्वा च कृत्वा चतुर्थं काल मित  
भोजनोऽभ्युपेयास्त्वनासुकवप स्थानासनाभा विहरश्चिन्निर्वर्षं पाप भ्यपनुदति'  
इति । यत्त्वशिरोवचनम्—'महापानकमयुक्ता वर्षे शुद्धयन्ति ते त्रिभिः' इति,  
तदुभयमपि 'विषयाक वा कणाभ्या' इत्यनेनैकविषयम् । यदपि यमेन प्रायश्चित्तद्वय-  
मुक्तम्—'दृष्टवतिसयेनेष्टवा सुरापो प्राह्वय पुन । समस्य प्राह्वयैर्ग-ञ्चेदिवेषा  
वेदिकी धृति ॥ भूमिप्रदान च कुर्यात्सुरा पीत्वा द्विभोत्तम । पुनर्न च  
विषेताः तु सस्कृत स विष्टवति ॥ इति,—तदुभयमपि पूर्वैण सङ्केतविषयम् ।  
यद्वा अतिरिक्तदक्षिणाकल्पाभवत्वाद् द्वादशरात्रिकेण सह विकल्पते । अत्रापि  
वाल्लुद्धादीनां सार्धैकवर्षाद्यनुपमीतानां तु नश्यमासिकमित्यत्र कल्पना कार्या ।  
यत्तु मनुवचनम् ( १११२ )—'कणा-वा भक्षयेद्-द विषयाक वा सृष्टिभिः ।  
सुरापानापनु-वर्षं वाल्लवासा जटी च्चमी ॥' इति,—तत्तत्प्रायश्चित्तयोगे सुरापा  
अनुद्विपूर्वे दृष्टव्यम् । ननु च द्रवद्रव्यस्याभ्यवहरण पानमित्युच्यते । अथवा  
हरण च कण्टादुद्योतयन न तादृवादिसधोयमात्र, अत कथं तत्र पाननिसित  
प्रायश्चित्तम् ? उच्यते—येन तादृवादिसधोयमेन विना पानक्रिया न निर्वर्तत  
सोऽपि पानक्रियाप्रतिषेधेन प्रतिषिद्ध । अतो यद्यपि मुख्यपानाभावात् महा  
पातकस्य तथापि तत्प्रतिषेधेन तद्द्रव्यभूतात्प्रतिषेधितत्वात्सधोयस्यापि प्रति-  
षिद्धत्वेन दोषस्य विद्यमानत्वाद्भवयेव प्रायश्चित्तम् ।-अरेद् घृतमहत्वाऽपि घातार्थं  
चेत्समागत' इति । यथा हननप्रतिषेधेन तद्द्रव्यभूतात्प्रवसतायादेरपि प्रति  
षिद्धत्वात्प्रायश्चित्तविधानम् । यत्तु बोधायनीयम्—'श्रैमासिकमभवा सुरापाने  
दृष्ट्वात्पदाद चरित्वा पुनरुपनयनम्' इति; यच्च चाप्यम्—'सुरा पीत्वा द्विज  
हत्वा स्वम हत्वा द्विजमन । सधोय पतितैर्गत्वा द्विजप्राग्द्वयण चरेत् ॥'  
इति, यदपि बार्हस्पत्यम्—'गौदीं माप्रीं सुरां पैठीं पीत्वा विप्र समाचरेत् ।

१ विषयाकविण्डान् । २ तदुल्लेखवास्तान्वा ।

तत्कृच्छ्रं पराक ॥ चान्द्रायणमनुकृत्वा ॥' इति,—तरित्रतयमप्यनन्यौषधसाध्य-  
व्याध्युपशमार्थं पाने धेदितव्यम्, प्रायश्चित्तस्याख्यत्वात् । यदा तु सुरासृष्ट  
शुष्करसमेवाद्य भक्षयति तदा पुनरुपनयनम् । यथाह मनु ( १११५० )—  
'अज्ञानात्प्राण विष्मूत्र सुरासृष्टमेव च । पुन संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा  
द्विजातय ॥' इति । यदा च शुष्कसुरामाण्डस्पोक्क पिवति तदा घातातपोक्त  
कुर्यात्—'सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रोपवासश्च' इति । यत्तु  
वीधायनीयम् (२११२१)—'सुरापानस्य षो भाण्डेष्वपि पर्युषिता पिवेत् । शङ्ख-  
पुष्पीनिपक ॥ चौरं सर्वं पिवेत्पयहम् ॥' इति,—तत्पर्युषितत्वात् अधिकम् । अकाम  
तोऽभ्यासे पुनर्मनुनोक्तम् ( १११४७ )—'अप सुराभाजनस्था मद्यभाण्ड-  
स्थितास्तथा । पञ्चरात्रं पिवेत्पोत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पय ॥' इति यत्तु विष्णुक्तम्  
( ५२१२३ )—'अप सुराभाजनस्था पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयं पिवेत्'  
इति,—तन्मतिपूर्वकपाने । ज्ञानतोऽभ्यासे तु बृहस्पति आह—'सुराभाण्डे स्थित  
तोयं यदि कश्चिदपिबेद् द्विज । स द्वावसाह चरेण पिवेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति ।  
सुरापश्य जुषण-धम्राणे तु नागवम् ( १११४९ )—'ब्राह्मणस्तु सुरापश्य  
गन्धमाघ्राय सोमप । प्राणान्त्सु त्रिरायस्य घृतं प्राय विशुद्धयति ॥' इति,—  
तत्सोमयाजिन एवामतिपूर्वं, मतिपूर्वं तु द्विगुणम् । अपीतसोमस्य तु कल्पम्,  
साचासुरागन्धम्राणस्य तु 'घ्रातिश्चैवमद्यो' इति जातिश्चशकरत्वात्—'जाति  
श्चशकरं कर्म कृत्वा-यत्तममिच्छया । चरेत्प्राणान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापश्यमनिच्छया ॥'  
( १११२४ ) इति मनुक्तं ब्रह्म-वम् ॥ २५४ ॥

भाषा—अथवा यकरा आदि के बाल से बना हुआ वस्त्र धारण कर  
एव जटा रत्न के प्रहारस्या के लिए विहित व्रत करे । अथवा तीन वर्ष तक  
केवल रात्रि को विष्याक ( पिण्डी ) या कण का भोजन करे ॥ २५४ ॥

एव मुत्पसुरापाने प्रायश्चित्तमुक्त्वा मद्यपाने प्रायश्चित्तमाह—

अज्ञानात् सुरां पीत्वा रेतो विष्मूत्रमेव च ।

पुन संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातय ॥ ५५ ॥

य पुनरज्ञानाद्दुदकशुद्धया सुरा मद्यं ब्राह्मणः पिवति, ये च ब्राह्मणादयो  
रेतो विष्मूत्राणि प्राशनन्ति, ते त्रयोऽपि द्विजातयो वर्णास्तसकृच्छ्रपूर्वकं पुनरुप-  
नयनं प्रायश्चित्तमर्हन्ति । अत्र मद्यपाने योज्यं पुन संस्कारं च ब्राह्मणस्यैव,  
त्रयविधो रतदम्पनुज्ञानस्य दर्शितत्वात् । 'सुरा'शब्दश्चात्र मद्यपरं, प्रायश्चित्त  
स्यातिलघुत्वात्, अज्ञानतो मुदकशुद्धया सुरापाने द्वादशवापिकस्य विहितत्वाच्च । अत

एव गीतमेनात्र मद्यशब्द प्रयुक्त ( २३।२ )—‘अमस्या मद्यपाने पयो घृत-  
मुदकं वा ष्वह तप्तानि पिबेत्स तप्तवृच्छस्ततोऽस्य सस्कारो मूत्रपुरीषकुणपरेतसां  
प्राशने च’ इति । यदप्यस्मिन्नेव विषये मनुनोक्तम् ( ११।१४६ )—‘अज्ञानाद्वाहर्णो  
पीत्वा सस्कारेण विशुद्धवति’ इति,—तदपि तप्तवृच्छपूर्वकमेव गीतमवाक्यापुरो-  
धात् । पुन सस्कारश्च पुनरुपनयनम् । तच्चाश्रयायनाद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम् । यद्यो  
क्तम्—‘अद्योयेतपूर्वस्य कृताकृत केशवपन मेधाजनन चानिरुक्त परिदान कालश्च  
तस्मन्नितुर्वृणीमह इति सावित्रीम्’ इति । मतिपूर्वमद्यपाने वसिष्ठोक्त द्रष्टव्यम्—  
‘माया मद्यपाने स्वमुराया सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्री घृतप्राशनं पुन सस्का-  
रश्च’ इति । चाग्द्रायण वा शङ्कोक्तम्—‘अमुरामद्यवापी चाग्द्रायण चरेत्’ इति ।  
सुखप्राप्तप्रवेशे तु मद्यस्यापस्तम्बीय पद्मपत्रम्—‘अभ्रव्याणामपेयानामलेष्टामा च  
भक्षणे । रेतोमूत्रपुरीषाणां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् । पद्मोदुम्बरविल्वानां पलाशस्य  
कुशस्य च । पृतेपामुदकं पीत्वा पद्मपत्रेण विशुद्धवति ॥’ इति ।—एतच्च तालादि-  
मद्यविषयम् । गौडीभाष्यो पुनरज्ञानत पाने ‘अमुराया सुरायाश्चाज्ञानत’ इति  
वसिष्ठोक्त वृच्छ्रातिकृच्छ्रसहितं पुन सस्कारो घृतप्राशनश्च द्रष्टव्यं तयोर्मतिपूर्व  
पाने तु ‘पिण्याकं वा कणान्वा’ (मा० २५४) इति त्रैवार्षिकम् । कामतरु तप्ताना-  
भ्यासे ‘अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां सुरा विभेग्मरणत्पूने भवति’ इति वसिष्ठ  
मरणाश्रितक द्रष्टव्यम् । नात्र ‘सुरा शब्द वैश्वरिप्राय, तस्याः सङ्कल्पानेऽपि मर-  
णान्तिकस्य दर्शितत्वात् । मद्यवासितशुष्कभाण्डस्थोदकरवाज्ञानत पाने घृहघमे  
नोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित तोयं यदि कश्चित्पिबेद् द्विज । कुशमूलविपलेन ष्वह  
चारेण वर्तयेत् ॥’ इति । अज्ञानतोऽभ्यासे तु वसिष्ठेनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित  
तोयं यदि कश्चित्पिबेद् द्विज । पद्मोदुम्बरविल्वानां पलाशस्य कुशस्य च ॥ पृतेपा-  
मुदकं पीत्वा त्रिरात्रेण विशुद्धवति ॥’ इति । ज्ञानत पाने तु विष्णुक्तम्—‘मद्य  
भाण्डस्थित तोयं पीत्वा पश्चरात्रं शङ्खपुष्पीश्रितं पयं पिबेत्’ इति । ज्ञानतोऽभ्यासे  
तु शङ्खेनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित तोयं पीत्वा सप्तरात्रं गोमूत्रपायकं पिबेत्’  
इति । अत्यग्ताभ्यासे तु हारीनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित तोयं यदि कश्चित्पिबेद्  
द्विज । द्वादशाहं तु पयसा पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥’ इति । एषु च पात्रयेषु  
‘द्विज’ग्रहणं ब्राह्मणमिप्रायम्, चत्रियवैश्वयोरप्रतिषेधादिति दर्शितं प्राक् । इदं  
च गौडीभाष्योभाण्डस्थितपानविषयं गुरुत्वात्प्रायश्चित्तस्य । तालादिमद्यभाण्डो-  
दकपाने तु कल्प्यम् ॥ २५५ ॥

श्याय—अज्ञान से सुरा, पीष, विष्टा या मूत्र पीने पर तीनों द्विजाति  
वर्ण पुन सस्कार करने योग्य हो जाते हैं । ( सुरापान में पुन सस्कार केवल  
ब्राह्मण का ही होता है ) ॥ २५५ ॥

द्विजातिभार्या प्रत्याह—

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।  
इद्वैव सा शुर्ना गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥

या द्विजातिभार्या सुरां पिबति सा कृतपुण्याऽपि सती पतिलोकं न याति किंत्विद्वैव लोके श्वगृध्रसूकरलक्षितां तिर्यग्योनिं क्रमेण प्राप्नोति । 'ब्राह्मणी' ग्रहणं चात्र 'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' ( भा० ५७ ) इति श्रवायेन यस्य द्विजातेर्भाार्यो भार्यास्नासामुपकरणम् । अत एव मनुः—'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् । पतिगार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति । धर्मार्थकामेषु सहाधिकाराद्गर्भपोरेकशरीरत्वमेव, अतो यस्य द्विजातेर्भाार्या सुरां पिबति तस्य भार्या-रूपमर्धं शरीरं पतति । पतितस्य च भार्यारूपस्यार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते । तस्माद् द्विजातिभार्यया ब्राह्मण्याद्यया न सुरां पेया । 'तस्माद् ब्राह्मणराजस्यो दैत्यश्च न सुरां पिबेत्' इति निषेधविधौ लिङ्गस्याविषयित्वत्वेन वर्णत्रयभाषाणांमपि प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्वचनं द्विजातिभार्यायाः शूद्राया अपि सुरामतिषेध-प्राप्त्यर्थम् । अतो द्विजातिभार्याभिः सुरापाने प्रायश्चित्तस्यार्धं कार्यम् । शूद्र-भार्यापारतु शूद्रायाः शूद्रमदेव न प्रतिषेधः । सुरापानसमेषु तु निषिद्धमन्त्रादिषु सुरापानप्रायश्चित्तार्थमित्युक्तं प्राक् ॥ २५६ ॥

भाषा—ओ ब्राह्मणी स्त्री सुरापान करती है वह पतिलोक नहीं प्राप्त करती है; वह इसी लोक में कृतिया, गिद्धनी और सूकरी होकर जन्म लेती है ॥२५६॥

इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

ममसातं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।  
स्वकर्म यथापयस्तेन इतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥

ब्राह्मणस्वामिकं सुवर्णं योऽपहरत्यसौ सुवर्णस्तेयं मया कृतमिदमेवं स्वकर्म यथापयन् राज्ञे मुसलं समर्पयेत् । मुसलसमर्पणस्य दृष्टाध्वेत्वात्तेन मुसलेन राजा तं हन्वाद् । तेन राज्ञा दतो मुक्तो वा शुद्धो भवति । 'अपहरण'शब्देन च समर्पणं परोक्षं वा बलात्क्षौर्येण वा क्रवादिस्वाच्छेत्तुं विना ग्रहणमुच्यते । 'मुसलं ममर्पयेत्' इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि तस्य हननार्थत्वात् तत्समर्पणस्या-द्योमयादेर्ग्रहणम् । अत एव मनुजोक्तम् ( ८।३।५ )—'स्वर्णस्तेनादाय मुसलं लुप्तं वापि सादिरम् । भूमिं शोभयतस्तीक्ष्णभायसं द्रष्टमेव वा ॥' इति । दाहनेना-प्यत्र विशेष उक्तः ( १।१।०० )—'सुवर्णस्तेनः प्रदीर्घकेश भार्गवासा भायसं



मुसलमादाय राजानमुपतिष्ठेत् 'इदं मया पापं कृतमनेन मुसलेन मा घातयस्व'  
 इति स राज्ञा शिष्टं सन्पूतो भवति' इति । हननं चार्चनविधानाभावात्सकृदेव  
 कार्यम् । अत एव मनुनोक्तम् ( १११०० )—'ततो मुसलमादाय सहृद्  
 न्यात्तु तं स्वयम्' इति । एवं महत्तादनेन राज्ञा हतो मृतं शुद्धयेत्, मुक्तो  
 वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्धयेदिति यावत् । तथा च सत्रतनोक्तम्—'ततो मुसल-  
 मादाय सकृद्न्यात्तु तं स्वयम् । यदि जीवति स स्तेनस्तत स्तेवाद्द्विशुद्धयति ॥'  
 इति ॥ यथोक्तं ब्राह्मणवधे—'मृतकवप प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्धयति' इति ।  
 मन्वतादित एव राज्ञा मुक्तं स्तेनं शुद्धयेदित्ययमर्थः कस्मात्तेष्वप्येते ? उच्यते,—  
 'अनमन्नेनस्वी राजा' इति शीतमाये साङ्गमकुर्वतो राज्ञो दोषाभिधानात् ।  
 भवतु राज्ञो दोषस्तथाप्यतिक्रान्तनिषेधेन राज्ञा स्नेहादिना मुक्तं स्तेनं कथं  
 न शुद्धयेदिति चेत्,—उच्यते—एव च सति अकारणिका शुद्धिरापत्तेत् । अयो-  
 च्यते—मोक्षोत्तरकालं द्वाद्वाद्वार्षिकपञ्चम्याद्युद्यमेन शुद्धयङ्गीकरणात्कारणिकेति,—  
 तदप्यसुन्दरम्, मुक्तं 'शुचि' इति मोक्षरथैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात् । अत-  
 प्रायेणैव व्याख्या उवाचसी । मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्धयेदिति यावत् ।  
 इत्थं च मरणान्तिकं सार्ववर्णिकस्यापहतुर्न तु ब्राह्मणस्यैव । ब्राह्मणस्वर्णदारीति  
 नैमित्तिकवाक्ये विशेषानुपादानात् कश्चिदासीनां च महापातकरिवाविशेषात्प्राय-  
 क्षित्यान्तरस्थानाम्नात् । अतः पुनर्मानवे ( १११९९ )—'सुवर्णस्तेयकृद्भिर्प्र'  
 इति 'विप्र'ग्रहणं तस्मात्प्रोक्तम् । 'प्रायश्चित्तीयते नर इति तस्यैव प्रकृत-  
 तत्वात्, 'ब्रह्महाया सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागम' ( मनु १११५७ ) इति  
 निमित्तवाक्ये विशेषानुपादानात् । तस्मात्प्रोक्तं नैमित्तिकवाक्ये 'सुवर्णस्तेयकृ-  
 द्भिर्प्र' ( १११९९ ) इत्यत्र श्रूयमाणमप्युपलक्षणमेव युक्तम् । यथा 'अशुद्धिते  
 एवा यस्य हवि' इति वाक्यं 'तन्मुल'ग्रहणं हविर्मात्रस्य । इत्थं च राज्ञा हननं  
 ब्राह्मणवधतिरिक्तस्य, 'न जानु ब्राह्मणं हन्त्यासर्वपापेष्वपि श्रियतम्' ( ८ ३८० )  
 इति मानवे ब्राह्मणवधस्य निषिद्धत्वात् । यदि कश्चिदतिक्रान्तनिषेधे राज्ञा  
 हन्ते तथाऽपि शुद्धो भवति, 'वधेन शुद्धयति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा' ( मनु  
 १११०० ) इति ब्राह्मणस्यापि वधेन शुद्धयमिधानात् । नच 'तपसैव वा'  
 इत्येवकारेण वधनिषेधं, तस्य केवलतपसाऽपि शुद्धयमिधानपरत्वात् । यदि  
 वधो निषिद्धस्तर्हि 'तपसैव वा' इति विवक्षामिधानमनुपपन्नम् । नच दण्डा-  
 भिप्रायं विवक्षामिधानम्, तस्यानिर्दिष्टत्वात् । किंच 'पकार्यास्तु विकल्पेत्'  
 इति न्यायेनैकार्थानामेव विवक्ष्यो ब्रूहिष्यवयोरिव । नच दण्डतपसोरेकार्थत्वम्,  
 दण्डस्य दमनार्थत्वात्तपसश्च पापक्षयहेतुत्वात् । नच 'वधेन शुद्धयति स्तेन'  
 इति सामान्याविषयेण वधेन ब्राह्मणस्तपसैव वेति विशिष्टविषयस्य तपसो  
 विवक्ष्योपपत्तिः । नहि भवति 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीवतां सक्रं कौण्डिन्याय च'

इति विद्वत्पस्तस्माद् द्वयोरपि सामान्यविषयत्वमेव । यद्वा क्षत्रियस्यापि न निषेधः, मनुना—‘सुवर्णस्तेयकृद्दिप्र’ ( ११।१९ ) इत्यभिधाय—‘गृहीत्वा मुसल राजा सृष्ट्वन्यात्तु त स्वयम् ।’ ( ११।१०० ) इति सर्वनाम्ना प्रकृतब्राह्मणपरामर्शेनैव हननविधानात्—‘न जातु ब्राह्मण हन्यात्’ इत्यस्य प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तदण्डरूपहननविषयत्वेनाप्युपपत्तेः ।—एतच्च मरणान्तिकमतिपूर्वसुवर्णस्तेयविषयम् । ‘मरणान्तिकं हि यथोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । यस्तु कामकृते पापे विशेयं मात्रं सञ्चय ॥’ इति मध्यमाङ्गिरश्मरणात् । अत्र च ‘सुवर्णं’शब्दपरिमाणविशिष्टहेमद्वयवचनो न जातिमात्रवचनः । ‘जाल-सूर्यमरीचिरथ जसरेण रजं स्मृतम् । तेषु लोचिषां तु तारितलो राजसर्पं षड्यते ॥ गौरस्तु ते अथ पद्भिर्भवंको मापस्तु ते अथ । कृष्णलं पञ्च ते मापस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥’ इति षोडशमापपरिमिते हेमनि ‘सुवर्णं शब्दस्य परिभाषितत्वात् । अतो ‘ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकम्’ इत्यादिप्रयोगेषु कृतपरिमाणस्यैव सुवर्णस्य ग्रहणं युक्तम्, परिमाणकरणस्य दृष्टार्थत्वात् । न ह्यत्र दृष्टार्थपरिमाणस्मरणम् । नापि श्लोकव्यवहारार्थम्, अतरपरत्वात्स्मृतिकारप्रवृत्तेः । अत एवोक्तं न्यायविज्ञैः—‘कार्यकाले सञ्जापरिभाषाव्यवस्थानम्’ इति । तथा नामानि गुणफलोपवन्धेनार्थवदित्युक्तं ‘षड्दशान्याऽयानि’ इत्यत्र । न च दण्डमात्रोपयोगिपरिमाणस्मरणमित्युक्तमिति युक्तम्, तावन्मात्रार्थत्वे प्रमाणाभावात् । अतोऽविशेषात्सर्वशेषत्वमेव युक्तम् । किंच, दण्डस्य दमनार्थत्वाद्दमनस्य च परिमाणविशेषमन्तरेणापि सिद्धेर्नातीव परिमाणस्मरणमुपयुज्यते । अतदैकसमधिगम्ये ॥ महापातकित्वादायैकान्ततः स्मरणमुपयुज्यते । अतः षोडशमापातकसुवर्णपरिमितहेमहरणं एव महापातकित्वं तन्निमित्तं मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तविधानं च । द्वित्रादिमापातकहेमहरणं तु क्षत्रियादिहेमहरणवदुपपातकमेवेति युक्तम् । किंच सुवर्णान्म्यूनपरिमाणहेमहरणे प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्परिमाणस्यैव हेमो हरणे मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तमिति युक्तम् । तथा श्लोकपट्टिप्रसंगे—‘वालाप्रमात्रेऽपहृते प्राणायामसमाचरेत् । लिङ्गमात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रयं युध ॥ राजसर्पं पमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम् । गायत्र्यष्टमहस्रं च जपेत्पापविशुद्धये ॥ गौरसर्पं पमात्रे च सावित्रीं चैतद्दिनं जपेत् । यवमात्रे सुवर्णस्य प्रायश्चित्तं दिनद्वयम् ॥ सुवर्णकृष्णलं श्लोकमपहृत्य द्विजोत्तमः । कुर्यात्साम्भतपनं कृच्छ्रं तत्पापस्यापनुत्तये ॥ अपहृत्य सुवर्णस्य मापमात्रं द्विजोत्तमः । गोमूत्रयावकाहासस्त्रिभिर्गोमूत्रैर्विशुद्धयति ॥ सुवर्णस्यापहरणे चास्य यावकाशनं भवेत् । ऊर्ध्वं प्राणान्तिकं ज्ञेयमथवा ब्रह्महत्यात् ॥’ इत्यत्र च चास्य यावकाशनं किञ्चिन्म्यूनसुवर्णापहारविषयम्, सुवर्णापहारे नन्यादिमहा

स्मृतिषु द्वादशवार्षिकविधानात् । 'बलाद्ये कामकारेण गृह्णन्ति स्व नराधमा ।  
तेषां तु बलहतृणौ प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥' सुवर्णपरिमाणादवर्गपीत्यभि-  
प्रेतम् । इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहनघन तस्त्वामिने दसैव कार्यम् । स्तेये  
ब्रह्मस्वभूतस्य सुवर्णादे कृते पुनः । स्वामिनेऽपहत देयं हर्त्रा त्वेकादशाधि-  
कम् ॥' इति स्मरणात् । तथा—'चरेत्सान्तपन कृच्छ्रं तन्निर्वास्यात्मशुद्धये'  
( ११ । १६३ ) इति मनुस्मरणाच्च । दण्डप्रकरणेऽप्युक्तम्—'शेपेत्वेका-  
दशगुण द्वाप्यस्तस्य च तद्धनम् ।' इति । यद्वाऽऽवशकरवत् राजा हस्तुमसमर्थस्तदा  
वसिष्ठोक्तं दृष्टव्यम्—'स्तेन प्रकीर्णकेशो राजानमभियाचेत् । ततस्नस्मै राज्ञी-  
शुम्भर शस्त्र दद्यात्तेनारमान प्रमापयेत् मरणास्पृशो भवतीति विज्ञायते' इति ।  
श्रीशुम्भर तान्नमयम् । यद्यपि द्वितीय प्रायश्चित्त तेषोक्तम्—'निष्कालको गोघृ-  
ताको गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं प्रमापयेन्मरणास्पृशो भवतीति विज्ञा-  
यते' इति,—तद्यपि गुरुश्रोत्रिययामस्थादिविप्रद्वन्द्यापहारविषयं त्रिपाद्यपहर्षुं  
विषय वा । तत्र 'निष्कालक' इति निर्गतकेशरमशुलोमाभिधीयते, तथाश्च  
मेघाद्यनुष्ठानेन वा । तथा प्रचेतसा मरणान्तिकमभिधायोक्तम्—'इष्ट्वा चाऽथ  
मेघेन गोसधेन वा विशुद्धयेत्' इति ।—एतच्च विटत्रिपाद्यपहर्षुविषयम् ॥ २५७ ॥

भाषा—माह्वज का सोना सुराने बाला अपने कर्म को यतलाते हुए  
राजा के हाथ में मूसल दे राजा द्वारा ( मूसल से ) मारे जाने पर अथवा  
मुक्त कर दिये जाने पर भी यह शुद्ध हो जाता है ॥ २५७ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अनिघेद्य नृपे शुद्धयेत्सुरापव्रतमाचरन् ।

आत्मतुष्ट्यं सुवर्णं वा दद्याद्वा विप्रतुष्टिदम् ॥ २५८ ॥

श्वीय स्तेय राज्ञम्यनिघेद्य सुरापव्रतं द्वादशवार्षिकमाचरन् शुद्धयेत् ।  
पावशिशोर्ध्वजे तत्कपालधारणभिराकरणार्थं सुरापव्रतमित्युक्तम् ।—एतच्चाकामकार-  
विषयम् । 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्त्वाकामनो द्विजम्' ( मनु ११।८९ )—इत्य-  
कामतो विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । अन्धकामनोऽपहार एव न  
सम्भवतीति कथं तद्विषयत्वम् ? उच्यते,—यदा वक्ष्यन्तप्रथितं सुवर्णादिकम्  
दानादपहरति रजतादिद्रव्यान्मरयुद्धया वा हृत्वाऽनन्तरमेवाग्न्यस्मै दत्तं नाशितं  
वा न पुनः स्वामिने प्रेषयति तदा सम्भवत्येवाकामतोऽपहारः । यस्तु  
ताम्रादिकस्य रसवेधाद्यापादितसुवर्णरूपस्थापहारो न तत्रेदं प्रायश्चित्तम् ।  
सुक्यजातिसमवायाभावात् । नच सुरावसाहरयमात्रेण शौणे सुक्यधर्मा भवन्ति ।  
यद्यपीदंशमेवासुवर्णं सुवर्णंभ्रान्त्यापहरति, तथाऽपि नेदं प्रायश्चित्तम् । असुवर्णां

१ तन्निर्वास्यात्मशुद्धये । २ द्वै विप्रतुष्टिदम् ।

तथैकत्वावगमादेककृत्त्वमेव युक्तम् । अथवा मृगमौ सलिङ्गी स्वयमुत्सृज्य  
 द्विप्राऽञ्जलिना गृहीत्वा नैर्ऋत्यां दृष्टिप्रतीच्यां त्रिभिः देहवातान्तमकुटिलग  
 तिर्गवा सनुमुत्सृजेत् । यथाह मनुः ( १११०४ )—'स्वयं वा शिरनमृगणा  
 मुत्सृज्याथाप चाञ्जली । नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानीपातादग्निह्वया ॥' इति ।  
 गमनं पृथतोऽनाद्यमानेन कर्तव्यम्, 'सुरेण शिरनमृगणायाः कृत्वापानवेष्टमानो  
 यजेत्' इति शब्दाद्विहितमरणत्वात् । एव गच्छन् यत्र कुटवादिना प्रतिवध्यते  
 तथैव मरणात् तिष्ठेत् । 'समृपणं शिरनमुत्सृज्यापजलावापाय इष्टिगामिमुत्तो  
 गच्छेद्यत्रैव प्रतिहतस्त्रैत्रै त्रिष्टेदाप्रलयात् ( १०१३३ ) इति वसिष्ठमरणात् ।  
 दण्डोऽप्यप्रापमेव । यथाह नारदः ( १११०५ )—'आसामन्यतमां गच्छन् गुरु-  
 तद्वपत् उच्यते । शिरनस्योत्कर्तनात्तत्र मानवो दण्डो विधीयते ॥' एव  
 दण्डार्थमपि लिङ्गाद्युत्कर्तनं पापस्यार्थमपि भवति । इदमेव मरणान्तकदण्डम  
 भिन्नेत्युक्तं मनुना ( १११३३८ )—'राजभिर्दंतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।  
 निर्मला स्वर्गमावाप्ति सन्त सुदृष्टिनो यथा ॥' इति । धनदण्डेन पुन  
 प्रायश्चित्तं भवापद्य, प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणा सव वर्णा यथोदितम् । नाड्या राजा  
 ललाटे ह्युर्ध्वं व्यास्तुत्तमसाहसम् ॥' ( १११४० ) इति तेनैवोक्तावात् । अथोच्च  
 मरणान्तकघोर-यत्तरालुच्छानेन गुरुतद्वपनं शुक्यवेत् । 'गुरुत्त-दक्षायं मुपयथा  
 द्यायाः पितरि वर्तते 'निपेकादीनि कर्माणि य इरोति यथाविधि । समापयति  
 चानेन स विप्रो गुरुकथ्यते ॥' ( १११४१ ) इति मनुना गुरुत्वप्रतिपादनपरं  
 धारये निपेकादिकर्तुर्जनकस्यैव गुरुत्वमिधानात् । योगेश्वरेण च निपेकादिक  
 र्माभिप्रायेणोक्तम् । 'स गुरुर्न द्विषां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति' ( भा० ३४ )  
 इति । ननु गुरु'शब्दस्या-यन्नापि प्रयोगो दृश्यते । उपनीय गुरु शिष्यम्'इत्या  
 दिनाथाय ( मनु १११४२ )—'स्वल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति स ।  
 तमपीह गुरुं विधात्' इत्युपाध्याये । स्वात्तेनाप्य यत्र प्रयोगो दर्शितः—'गुरवो  
 मातृपितृपत्न्याचार्यविद्यादातृशैष्ठ्यभ्रातरः ऋत्विजो भवश्राताऽश्रदाता च इति । न  
 चानेकाधश्चपनादौष, 'गुरु शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तभूताया पूजार्हताया सर्वत्रा  
 नुस्यूते । दर्शितं च तस्या प्रवृत्तिनिमित्तत्वयोगेश्वरेण ( भा० ३५ )—'पते  
 मान्या यथापूर्वमेव्यो माता परोपसी' इति 'मा-या इत्युपक्राम्य परोपसी'  
 इत्युपसहार कुर्यात् । नच उपाध्यायाहताचार्य आचार्याणां सतः पिता'  
 ( मनु १११४५ ) इत्युपाध्यायादधिकार्यात्पितृव्यतिशयितस्ववचनात्स एव  
 मुत्सृज्य इति वाच्यम् आचार्योऽप्यतिशयितस्वस्याविशिष्टत्वात् । उत्पादकप्रह्लादा  
 न्नोर्गरीषा प्रह्लादः पिता' ( मनु १११४६ )—इति गौतमेनाप्युक्तम् ( २।५० )—  
 'आचार्यं श्रेष्ठो गुरुनाम्' इति । किंच, यद्यतिशयितत्वमात्रेण मुत्सृज्यत्वमुच्यते  
 तर्हि 'सहस्रम्' इति वचनात्मातुरेव गुरुं व स्यात् । तस्मात्सर्वे गुरुवस्तत्परनी



पानकिनरिपमे ॥' इति,—तस्मिन्मूर्त्तमवर्णपितृदारगमने अकामहृते वा द्रष्टव्यम् । तत्रैव कामत प्रवृत्तस्य रेत सेकात्प्राद्वनिवृत्ती पद्वार्पिकम् ; अकामनस्तु त्रैवार्पिकम् । जनन्या ॥ कामत प्रवृत्तस्य रेत मेकाद्याद्विवृत्ती द्वादशवार्पिकम् । अकामतस्तु पञ्चवार्पिकमिति वदन्वयम् । यत्तु संवत्सेन—'पितृद्वाराग्ममाग्न्या मातृ-घर्ष्यं नराघम ' इत्यादिना समासेहणमात्रे तत्तद्वृत्त उक्तं, स ह्यनवर्णगुरदारेषु रेत मेकाद्वार्पिकद्रष्टव्याः ॥ २५९ ॥

भाषा—गुरु परनी का भोग करने वाला तत्त होकर छाल घनी हुई छोटे की शर्या पर जलती हुई छोटे की स्त्रीमूर्ति के साथ सोवे, अथवा लिङ्ग और जण्डकोप को काटकर हाथ में लेकर नैर्ऋत्य दिशा को चलता-चलता दारीर स्वाग दे ( तो शुद्ध होता है ) ॥ २५९ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतरुपय ।

खान्द्रायणं वा त्रीन्मासागभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

अथवा प्राजापत्य कृच्छ्रं चक्ष्यमाणलक्षण समा वर्षप्रय चरेत् । पतरुच त्राहणीपुत्रस्य शुद्धजातौगुरुभार्यागमने मतिपूर्वं द्रष्टव्यम् । यदा ॥ गुरुवरनी सवर्णां वपभिचारिणीमबुद्धिपूर्वं गच्छति तदा वेदत्रयसहितं खान्द्रायणत्रयं कुर्यात् । तत्रैव कामत प्रवृत्तावीक्षणस—'गुरनरुपाभिगामी सवस्मर प्रहृष्टमत यन्मासान्वा तत्तद्वृत्तं चरेत्' इति । चत्रियागमनस्तु मतिपूर्वं याज्ञवल्कीय (पा० २१२)—'मातु सपरनीं भगिनीमाचार्यनया तथा' इति गुरुतरुपघनातिवेदा-क्षववार्पिकम् । इदं चातिदेनिक सवर्णगुरुभार्यागमनविषय ॥ भवति, तत्र कामतो मरणातिरुपकाकामतो द्वादशवार्पिकस्य विहितत्वात् । अतः चत्रियाद्विविषयमेवति युक्तम् । तत्रैव कामतोऽप्यामे मरणातिकम्, 'मरणा गत्वा पुनर्भावां गुरो चत्रिपुता द्विज । अण्डाभ्या रहिते लिङ्गमुत्कृत्य स सृतं शुचि ॥' इति कण्व-स्मरणात् । अत्रैव विषये प्रायश्चित्तं यदा न चिकीर्षति तदा 'क्षिया लिङ्गं वधस्तस्य सकामाया क्षियास्तथा' इति याज्ञवल्कीयो वधदण्डं प्रायश्चित्तस्थाने द्रष्टव्यं । वैरयावा तु गुरुभार्याया कामतो गमने पद्वार्पिकम् । जल पृथ स्मृत्यन्तरम्—आहणीपुत्रस्य चत्रियायां मातरि गमने पादहा-या द्वादशवार्पिकम् । एवमन्यवर्णां स्वपि । अथमर्थं—प्राहणीपुत्रस्य चत्रियायां मातु सपर-या गमने पादन्यूचद्वादश-वार्पिकं, नववार्पिकमिति यावत् । तस्यैव तथाभूताया वैरयाया पद्वार्पिकम्, शुद्धायां तु त्रैवार्पिकं प्रायश्चित्तमिति । एव चत्रियापुत्रस्य वैरयायां मातरि नववार्पिकम्, शुद्धायां ॥ पञ्चवार्पिकम् । एवमेव वैरयापुत्रस्यापीति, वैरयायां ॥ कामतोऽ

भ्यासे मरणान्तिकमेव 'गुरोर्भावां तु यो वैश्यां मत्या गच्छे पुन पुन । लिङ्गाप्र  
 छेदविरवा तु तत शुद्धये ॥ किरिवपात् ॥' इति छीगाचिरमरणात् । शूद्राया तु  
 कामनोऽभ्यासे द्वादशवार्षिकम्, 'पुन शूद्रां गुरोर्भावा बुद्धया विप्र समाहित ।  
 प्रह्लाचर्मदुष्टारमा मचरेद् द्वादशाब्दिकम् ॥' इत्युपमन्युस्मरणात् । उग्रियायां तु  
 गुरुभार्यायामबुद्धिपूर्वगमने यमोक्ष त्रैवापिक्रमष्टमकालाशन द्रष्टव्यम् । 'कालेऽष्टमे  
 वा भुज्जानो प्रह्लाचारी सदा प्रती । स्वानासनाभय विहरश्चिरहोऽभ्युपपक्षप ।  
 अथ शायी त्रिभिर्वर्षेस्तदपोहेत फानकम् ॥' इति । अत्रैवाभ्यासे जातृकण्ठोक्त—  
 'गुरो चत्रमुत्तं भावां पुनर्गत्वा स्वकामत । अण्डमात्र समुत्क्राय छुद्दयेजी-  
 वमृगोऽपि वा ॥ इति । वैश्यायां स्वकामतो गमने 'प्राजापरय चरेत्कृच्छ्रम्'  
 (मा० २६०) इत्येतदेव याज्ञवल्कीयम् । तथा च बृद्धमनु—'गमने गुरभा-  
 र्याया विदुभार्यागमे तथा । अन्द्रयमकामात्तु कृच्छ्रं नित्य समाचरेत् ॥' इति ।  
 तत्रैवाभ्यासे हारीतोक्त मरणान्तिक प्रह्लाचर्यम्—'अध्यस्य विप्रो वैश्याया गुरा  
 रज्ञानमोहित । षडङ्ग प्रह्लाचर्यं च स चरेत्पावदायुषम् ॥' इति । गुरुभार्यायां  
 शूद्रायां स्वमनिपूर्वं मानवम् ( १११०५ )—'खट्वाङ्गो चीरवासा वा रमथुलो  
 विजग्ने वने । प्राजापरय चरेत्कृच्छ्रमग्नेरु समाहित ॥' इति । अथवा 'गुरुदा-  
 राभिरामी सवासर कण्ठकिर्णं शालां परिवेज्जवाभ शायी त्रिपवणी भैराहा  
 पूनो भवति' इति सुमन्वृत कुर्यात् । तत्रैवाभ्यासे मानवम् ( १११०६ )—  
 'आन्द्रायण वा प्रीत्यामानभ्यसेन्नियतेन्द्रिय' इति । उग्रियायां कामत प्रवृत्तस्य  
 रेत सेकादर्वाङ्गिपुत्री व्याघ्रोक्तम्—'कृच्छ्रं चैशानिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रानि  
 कृच्छ्रम् । चरेन्मासप्रय विप्र उग्रियागमने गुरा ॥' इति । अत्रैव व्यवस्था-  
 तथा प्रोक्ताहितस्य त्रैमासिक प्राजापराचरणम् । उभयेच्छात प्रवृत्तस्यातिकृच्छ्र  
 चरण तावदेव । स्वेन प्रोक्ताहितार्यां पुन कृच्छ्रातिकृच्छ्रानुष्ठान च तावदेवति ।  
 तत्रैव कामत प्रवृत्तस्य रेत सेकापूर्वं कण्ठोक्त द्रष्टव्यम्—'आन्द्रायण तप्तकृच्छ्रम-  
 निकृच्छ्रं तपैव च । सङ्गत्वा गुरोर्भावांमज्ञानात्त्रिषो द्विन ॥' इति । तथा  
 प्रोक्ताहितस्यातिकृच्छ्रं, उभयेच्छात प्रवृत्तस्य तप्तकृच्छ्रं, स्वेन प्रोक्ताहितार्यां  
 तु आन्द्रायणम् । वैश्यायां कामत प्रवृत्तस्य रेत सेकापूर्वं निवृत्ती कण्ठोक्तम्—  
 'तप्तकृच्छ्रं पराक च तथा सान्तपन गुरो । भार्या वैश्यां सङ्गत्वा बुद्धया मास  
 चरेद् द्विन ॥' इति । अत्रोभयोरिच्छात प्रवृत्ती तप्तकृच्छ्रं, स्वेन प्रोक्ताहितार्यां  
 पराकः, तथा प्रोक्ताहितस्य सान्तपनम् । अत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य प्रजापतिराह-  
 'पञ्चरात्र तु नाश्रीयाससष्टौ वा तपैव च । वैश्यां भार्यां गुरोर्भावा सङ्गत्वा  
 नतो द्विन ॥' इति । तथा प्रोक्ताहितस्य तु पञ्चरात्रम् । उभयेच्छात प्रवृत्ती  
 सष्टरात्रम् । स्वेन प्रोक्ताहितार्यामष्टरात्रम् । शूद्रायां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतः  
 सेकापूर्वं निवृत्ती आवालिराह—'अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराक वा तपैव च । गुरो

शुद्धा सहृद्वा बुद्ध्या विप्रः समासरेत् ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्यातिकृष्टः, उभयेच्छातः प्रवृत्तौ तसकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहिताया पराकः । तत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य दैर्घ्यंतमसम्—'प्राजापत्यं सान्तपन सप्तरात्रोपवासकम् । गुरोः शुद्धा सहृद्वा चरेद्विप्रः समाहितः ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यम् । उभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनम् । स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रोपवास इति । अनयैव दिशाऽन्येषामपि स्मृतिवचसा विषयव्यवस्थोहनीया । पुरपवत्थ स्त्रीणा- मप्यत्र महापातकिस्वमविशिष्टम् । तथा हि कारवायन—'एवं दोषश्च शुद्धिश्च पतिमानामुदाहता । स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेव एव विधिः स्मृतः ॥' इति । सतस्तस्या अपि कामतः प्रवृत्तौ मरणान्तिकमविशिष्टम् । अत एव पुरुषस्य मरणान्तिकमुक्त्वा स्त्रिया अपि योगीश्वरेण मरणान्तिकं दर्शितम् ( प्रा० २३३ )—'स्त्रिया लिङ्ग यद्यस्तस्य सकामाया स्त्रियास्तथा' इति । कामतस्तु मनुमोक्तम्—( १११४८ ) 'एतदेव अत कार्यं योपितु पतितास्वपि' इति । द्वावशर्षाधिकमेवाधर्षवचनवा कार्यम् । यानि पुनर्गृह्यतस्वपि—'सतिभार्या- कुमारीषु स्वयोनित्वमवजासु च । सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतस्वपि समं स्मृतम् ॥' इति प्रतिपादितानि, यानि चातिदेशविषयभूतानि 'पितु स्वसारं मातुश्च मातुलार्थं श्रुयामपि । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छस्तु गुरुतस्वपि ॥' इति प्रतिपादितानि,—तेष्वेकरात्रादूर्ध्वमैकामतोऽभ्यस्तैषु यथाक्रमेण षड्वार्षिक नववार्षिक च प्रायश्चित्त विज्ञेयम् । अस्मिन्नेव विषये कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकम् । तथा च शूद्रधर्म—'रेत सिरसा कुमारीषु स्वयोनित्वमवजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणरपातो विधीयते ॥' इति । अमत्यजाश्चात्र—'चण्डालः अपच उता सूतो वैदेहिकस्तथा । मागधा- योगवी चैव सर्वेतेऽमत्यावसायिनः ॥' इति मध्यमाद्विरोदशिता ज्ञातव्याः । ननु 'रजकर्मकारश्च' इत्यादिप्रतिपादिता, तेषु लघुप्रायश्चित्तस्वीकृत्वात् । तथा—'चाण्डालः गयस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतयज्ञानतो विप्रो ज्ञानासाम्यं तु गच्छति ॥' ( १११७५ ) इति चाण्डालादिसाम्यं प्रतिपादयता मनुनाऽपि कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकं दर्शितम् । तथा हि—अज्ञानतश्चण्डालीगमनाभ्यासे पतति, अतः पतितप्रायश्चित्तं द्वादशवार्षिकं कुर्यात् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे चण्डालैः साम्यं गच्छति । अतो द्वादशवार्षिकाधिकं मरणान्तिकं कुर्यात् ।—एतच्च षड्कालाभ्यासविषयम् । एकरात्राभ्यासे तु वर्षत्रयम् । यथाह मनु ( १११७८ )—'वर्करोऽथेकरात्रेण घृणलीसेवनाद् द्विजः । सज्जैश्च भुङ्क्त- पन्निरय त्रिमिर्वर्षैर्भ्यपोहति ॥' इति । अत्र 'घृणली'शब्देन चण्डालविधीयते— 'चण्डाली बन्धकी वरया रजःस्या या च कन्यका । उदा या च सगोत्रा



स्याद् वृषद्वय पञ्च कीर्तिता ॥' इति स्मृत्यन्तरे चण्डालाद्या 'वृषलो शब्दप्रयोग-  
दर्शनात् । बन्धकी स्वैरिणी । कथं पुनरत्राभ्यामावगम ? उच्यते,—'धरकरोत्ये-  
करात्रेण' इत्यन्त्यन्तसयोगापरवर्गवाचिन्यास्त्वृणीयाद्या दर्शनात् । एकरात्रेण चात्य-  
न्तमयोगो गमनस्याभ्यास विनाऽनुपपन्न इति गमनाभ्यासोऽवगम्यते । अत  
पूर्वैकरात्राद्दृष्टकालाभ्यासविषय प्रायुक्त द्वादशवर्षादिगुरुत्वव्यवहारातिदेशिक मर  
णान्तिक च । यदा पुनर्ज्ञानतोऽज्ञानतो वा चण्डालाद्या सहृद्भ्यति तदा  
'चण्डालपुत्रकसानां ॥ भुक्त्वा गत्वा च योषितम् । हृत्प्राग्माचरेऽज्ञानादज्ञा-  
नाद्देवद्वयम् ॥' इति यमाद्युक्त सवस्सर हृत्प्राग्नुष्ठान चा द्वायणद्वय यथाक्रमेण  
द्रष्टव्यम् । 'स्वयोनिव्यवसासु च' इत्येकवाक्यसमभिव्याहारात्तन्निष्ठादिष्वपीव  
मेव व्यवस्था धेदितव्या । मरणान्तिक चाग्निप्रवेशनम् । जनन्या च भगिन्यां  
च स्वसुताया तथैव च । स्तुपायां गमन चैव विशेषमतिपातकम् ॥ अतिपात-  
किनस्यैव प्रविशेयुर्हुताशनम् ॥' इति कात्यायनस्मरणत् । जनन्यां सहृद्भ्यने  
भगिन्यादिषु चासहृद्भ्यने भग्निप्रवेश इति द्रष्टव्यम् , महापातकस्य जननी-  
गमनस्य तद्धतिवैतन्निष्यभूतातिपातकस्य भगिन्यादिगमनस्य च दुष्पराधा-  
योगात् । यस्तु बृहस्पतेनोक्तम्—'चाण्डालीं पुत्रकसीं ग्लेच्छीं स्तुपां च भगिनीं  
सखीम् । मातापित्रो स्वसार च निचिष्टा स्तरणायताम् ॥ मातुलानीं प्रमज्जितां  
स्वगोत्रां नृपयोषितम् । क्षिप्यभार्यां गुशेर्भार्यां वास्या चान्द्रावण चरेत् ॥' इति,  
यस्याङ्गिरोषचनम्—'पतितान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । मासोपवास  
कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥' इति,—तदुभयमपि गुरुत्वव्यतिदेशविषयेषु का-  
मत् प्रवृत्तस्य रेत सेकादर्थाद्द्विगृहीतं द्रष्टव्यम् ; यदपि सर्ववैषम्यम्—'भगिनीं  
मातुराज्ञा च स्वसार चान्यमातृभ्याम् । एता गत्वा स्त्रियो मोहात्तत्पु-  
त्रमाचरेत् ॥' इति,—तदनन्तरोक्त एव शिष्ये अकामत् प्रवृत्तस्य रेत सेकाद्  
र्थाद्द्विगृहीतं द्रष्टव्यम् । यदा पुनरेता एवात्यन्तस्वभिचारिणीर्गच्छति तदापीदमेव  
प्रायश्चित्तयुगल चान्द्रायणतत्पुत्रात्मक क्रमेण कामतोऽकामतश्च प्रवृत्तौ द्रष्टव्यम् ,  
साधारणश्रीषु ॥ गुरुणोपभुक्त्वास्वपि गमने गुरुत्वव्यतिदेशो नास्ति । 'जात्युक्त  
पारदार्यं च कस्यादृशमेव च । साधारणश्रियां नास्ति गुरुत्वव्यतिदेशो ॥'  
इति स्यात्प्रस्मरणत् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्युच्चावचप्रायश्चित्तप्रतिपत्ति  
पराण्यन्विय विषयव्यवयोहनीया, प्रत्यगौरवमवाञ्छ लिख्यन्ते ॥ २६० ॥

भाषा—अथवा गुरुवर्गो वा भोग करने वाला तीन वर्ष तक प्राजापत्य  
हृत्प्राग्नुष्ठान करे अथवा तीन मास तक वेदमहिता का उप करता हुआ  
चान्द्रायण मन करे ॥ २६० ॥

इति गुरुत्वव्यतिदेशप्रकरणम् ।

एवं ब्रह्महादिमहापातकिप्रायश्चित्तमभिधायावसरप्राप्तं तत्संसर्गिप्रायश्चित्तमाह—  
**एभिस्तु संवसेद्यो चै चरसरं सोऽपि तत्समः ।**

एभिः पूर्वोक्तैर्ब्रह्महादिभिरेकं संवसरं योऽत्यन्तं संवसति सहाचरति सोऽपि तत्समः । यो येन सहाचरति सोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति तदीयप्रायश्चित्तातिदेशार्थं तत्समग्रहणम्, न पुनः पातकस्वातिदेशार्थम् । तस्य 'यश्च सै सह संवसेत्' ( प्रा० २२३ ) इत्युपदेशत एव सिद्धत्वात् । अत्र च सत्यप्यतिदेशार्थं कृत्स्नमेव द्वादशवार्षिकं कार्यम्, साक्षात्महापातकिस्वातिसंसर्गिणः । 'अपि' शब्दात् केवलं महापातकिसंबोगी तत्समः कित्वातिपातकीपातक्युपपातकयादीनां मध्ये यो येन सह संसर्गं करोति, सोऽपि तत्सम इति तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति दर्शयति अत एव मनुना सकलं प्रायश्चित्तजातमध्यायान्तोऽभिधायाभिहितम् ( १११८१ )—'यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मामयः । स तस्यैव प्रतं कुर्यात्संसर्गविद्युद्धये ॥' इति । विष्णुनापि सामान्येनोपपातकयादेनस्विसमाश्रितसंसर्गं तत्प्रायश्चित्तमावस्यं दर्शितम्—'पापात्मना येन सह यः संसृज्येत स तस्यैव प्रतं कुर्यात्' इति । अत एव मनुना सामान्येनैत्रस्विमाश्रयित्वेऽपि कृतः ( १११८२ )—'एनस्विभिरनिर्जिकेनाथं कंचिरसमाचरेत्' इति । तथा—'न संसर्गं भजेःसक्तिः प्रायश्चित्ते कृते सति' इति च ।—एतच्च द्वादशवार्षिकादिरतिसप्तप्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वसंसर्गनिपद्यम् ; 'पतितेन सहोपियावा जानन्संवासरं नरः । मिथिनस्तेन सोऽद्वाभ्ते स्वयं च पतितो भवेत् ॥' इति देवकस्मरणत्वात् । अज्ञानतः संसर्गं पुनर्वसिष्ठोक्तम् ( १९१५,४६ )—'पतितसंमयोगे ॥ ब्राह्मेण यौनेन वा स्त्रीयेण वा यास्तेभ्यः सकाशात्मात्रा उपलब्धास्तासां परिश्यागस्तैश्च न संवसेदुद्दीर्घं दिशं नरवाऽनभ्रमंहिताप्यनमपीयानः पूतो भवतीति विज्ञावते' इति । तथा—'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतदपगः । एते महापातकिनो यश्च सैः सह संवसेत् ॥' इति, 'तैरिति शृतीयया सर्वनामपरासृष्टप्रकृतब्रह्महादिचतुष्टयसंसर्गिण एव महापातकिवचनान्तसंसर्गिणो न महापातकित्वम् । मनु महापातकिसंसर्गं एव महापातकित्वे हेतुर्न ब्रह्महादिविशेषसंसर्गः; तस्य इदमिच्छारात् । अतोऽत्र ब्रह्महादिमंसर्गिसंसर्गिणोऽपि महापातकिसंसर्गो विद्यत इति तस्यापि महापातकित्वं स्यात् च प्रतिषेधः । उच्यते,—स्यादेवं यदि प्रमाणांतरगम्यं महापातकित्वं स्यात् । शब्दैकसमधिगम्ये तु तैस्मिन्नैवं भवितुमर्हतीति । तैरिति प्रकृतविशेषपरामर्शना सचनान्ना ब्रह्महादिविशेषसंसर्गस्यैव महापातकिस्वहेतुःपरमावगमितात्वात् । एवं च सति प्रतिषेधाम्बोऽप्यहेतुः प्राप्यमावादेव ।

१. पातकित्वा । २. अतिदेशकत्वे । ३. इति सर्वं निरदत्तम् ।  
 ४ तैरिति सर्वनाम । ५ तस्मिन्नेव ।

अतः ससर्गिससर्गिणां द्विजातिकर्मण्यो हानिर्न भवति, प्रायश्चित्त ॥ भवत्येव ।  
 न च ससर्गिससर्गिण पातिरव्याभावे कथं प्रायश्चित्तमिति वाच्यम्, 'एनस्विभि-  
 रनिर्गिस्तैर्नाभं कच्चिसमाचरेत्' ( ११११८९ ) इति सामान्येनैतस्विमात्रप्रतिषेधेन  
 महापातकिससर्गिससर्गिस्त्वापि प्रतिषिद्धत्वात्पानिरव्याभावोऽपि युक्तमेव प्रायश्चित्तम् ।  
 तच्च पादहीनम्, 'यो येन सवसेद्वर्षं सोऽपि तस्समतामियात् । पादहीन  
 चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रत द्विज ॥' इति व्यासोक्तं द्रष्टव्यम् । एव चतुर्थपञ्च  
 मयोरपि कामतः ससर्गिणोरघहीन शिष्यादीन च द्रष्टव्यम् । अतः साक्षाद् ब्रह्महा  
 दिससर्गिण एव तदीयप्रायश्चित्ताधिकारो न ससर्गिससर्गिण इति सिद्धम् । अप्र  
 च ब्रह्महादिषु यद्यपि कामतो मरणान्तकमुच्यते तथापि ससर्गिणस्तथाति-  
 दिरवते । स तस्यैव व्रतं कुर्यात् इति व्रतस्यैवातिदेशात्, मरणस्य च 'व्रतं'  
 वाच्यत्वात्प्रायश्चित्ताभावात् । अतोऽत्र कामकृतेषु ससर्गो द्वादशवार्षिकमकामतस्तु  
 सदर्शम् । ससर्गश्च स्वनिबन्धनकर्मभेदादनेकधा भिद्यते । यथाह शूद्रतृहस्पति -  
 'एकशतयासन्न पट्टकिर्माण्ड पट्टवज्रमिध्रणम् । याजनाध्यापने योनिस्नया च  
 सहभोजनम् ॥ नवथा सकर प्रोक्तो न कर्तव्योऽथमै सह ॥' इति । देवलोऽपि-  
 'सलापस्पर्शानि आससहस्यानामनाशनान् । याजनाध्यापनाद्यौनाश्याप सक्रमते  
 शृणुम् ॥' इति । एकशतयासन्नमेकवटकासनमेकपट्टकिर्माण्डभोजनमेकमाण्डपचनमनेन  
 मिध्रण ससर्गस्तदीयानभोजनमिति यावत् । याजन पतितस्य स्वस्थ वा तेन,  
 अध्यापन तस्य स्वस्थ वा तेन यौन तस्मै कन्यादान तस्य राजाद्वा कन्यायाः  
 प्रतिग्रह, सहभोजनमेकामत्रभोजनम्, सलाप राभाषणम्, स्वर्णां गात्ररुमर्दं,  
 निश्वास पतितमुखवायुसपर्कं, सहसन्नमेकनुरगाक्षारोहणम्, एतेषां मध्यं कन  
 कर्मणा कियता काठेन पातिरस्यमित्येवेषां सृष्टद्विष्णुनोक्तम्—'सद्यसरेण  
 पतति पतितेन सहाचर-नेकयानभोजनासनशयने, यौनसौवमुच्यैस्तु सव-धै  
 सद्य एव' इति । अत्रैकभोजनमेकपट्टकिर्माण्डम् । एकामत्रभोजने तु  
 सद्य पातिरस्य, 'याजन योनिस्वग्ध स्वाध्याय सहभोजनम् । कृत्वा  
 सद्य पतस्यैव पतितेन न सहाय ॥' इति देवलस्मरणम् । 'सौव'द्वारेण याजन  
 मभिधीयते । मुख'द्वारेण मुखमन्त्रवेनाध्यापनम् । यौनसौवमुच्यैरिति मध्यपि  
 द्वन्द्वनिर्देशे प्रायेकमेव तेषां सद्य पतनहेतुत्वम् 'य पतितै' सह यौनमुख्य  
 सौवानां 'सवग्धानामन्यतम सव-ध कुर्यात्तस्याप्येतद्वै प्रायश्चित्तम्' इति  
 मुम-तुस्मरणात् । एकवानादिषुपुष्टस्य तु समुदितस्यैव पतनहेतुत्वम्, 'एकवा  
 नभोजनासनशयनै' इति हतरेतरयुक्तानां निदन्तात् । प्रायेकानुष्ठानस्य तु पतन  
 हेतुत्वाभावाऽपि दोषहेतुत्वमस्येव, 'असन्नान्ययुयनाक्षरानामन्यतमस्यसहभोजनात् ।  
 मय्यामन्ति हि पापानि तैलविन्दुमिवाग्मभि ॥' इति पराशरवचनेन निरपेका  
 णामपि पापहेतुत्वावशमात् । सलापस्पर्शानि आसनानि तु यानादिषुपुष्टेमानुपदि

पतया समुच्चितात्तामेव पतनहेतुस्य न पृथग्भूतानामवस्थात्, पापहेतुस्य  
 पुनरस्येव; 'संलापस्पर्शानि.श्वास' इति देवउपचनस्य दर्शितत्वात् । अतः संलापा-  
 द्भिरहिते सदयानादिचतुष्टये कृते पञ्चममागोर्न द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं कुर्यात् ।  
 तस्यदिते तु पूर्णम् । एवं च सति पृथिरस्तुरंगमेधो वै धर्मसं सोऽपि तस्मिन् । इति  
 योगीश्वरवचनमपि सदयानादिचतुष्टयपरमेव युक्तम् । यतः संलापादीनां पृथक्पा-  
 न्नायहेतुस्यं नास्ति । अत एव अनुना (११११८०)—'संवासरैण पतति पतितेन  
 सदाचरन् । याजनाप्यापनाधीनान् तु यानामनाज्ञमात् ॥' इति यानादिचतुष्ट-  
 यस्यैव संवासरैण, पातियाहेतुत्वमुक्तम् । अत्र 'आसन' प्रदणं जयनस्याप्युपलक्षणम् ।  
 अत्र च 'संवासरैण पतति पतितेन सदाचरन् ।' 'यानाज्ञनामनात्' इति श्यवहि-  
 तेन संबन्धः; प्राग्दर्शितविष्णुपञ्चानुरोधत्, तथा—'संवासरैण पतति  
 पतितेन सदाचरन् । ओजनामनवाट्यादि कुर्वाणः मार्चकालिकम् ॥' इति देवल्-  
 वचनात् । न चानश्ववद्वेपः; यानासनाज्ञनादिहेतोराचरणाचारं कुर्वन्निभि भेद-  
 विवक्षया सवन्धोपपत्तेः । यथा एतथा पुनराधेयसमितयेष्टवेत्येति । यद्वा 'भाचरन्'  
 इति शत्रा हेतुर्धर्म्य गमितत्वात् । यानाज्ञनामनात् इति द्वितीयायं पञ्चमी ।  
 याजनाप्यापनाधीना (सहभोजना) यत्तु संवासरैण पतति, किंतु मद्य एव प्राचीन-  
 मचननिष्पानुरोधादेव । अतो धीनादिचतुष्टयेन सद्यः पतति यानादिचतुष्टयेन  
 तु संवासरै निरन्तराभ्यासेनेति युक्तं 'वासरं सोऽपि तस्मिन् ।' इति आयन्तसंयोग-  
 वाचिष्या द्वितीयया दर्शनादुत्तरितदिवसगणना ऋषीः । यथा पष्टयधिकदात-  
 त्रयदिवसश्चापि स्य संलग्नस्य भवति, ततो न्यूनैः तु न पतितप्रायश्चित्तं, किंश्चन्य-  
 देव । यथाह पराशर—'ससर्गमाचरन्विम्व- पतितादिष्वकामतः । पश्चाद् वा  
 दशाह वा द्वादशाहमथापि वा ॥ मासार्धं मासमेक वा मासत्रयमथापि वा ।  
 अर्धशर्धमेकमर्धं वा मयेदुर्घ्यं तु तस्मिन् ॥ त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमा-  
 चरन् । चरेत्सान्तपत्रं कृच्छ्रं तृतीये पक्ष एव तु । चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पराशर-  
 पञ्चमे ततः । षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्षष्ठमे सौन्दवद्वयम् ॥ अष्टमे च तथा पक्षे  
 णमासात्कृच्छ्रमाचरेत् ॥' इति । कामतः ससर्गे पुनर्विशेषः । श्चरन्तरेऽभिहित-  
 सुमन्तु—'पञ्चारे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे तस्य कृच्छ्रकम् । पराकल्पार्धमासे स्यान्मासे  
 चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । 'मासत्रये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणोचरन् । पाण्मा-  
 सिके तु ससर्गे कृच्छ्रं श्वद्वार्धमाचरेत् ॥ ससर्गे त्याब्दिके कुर्याद्वद् चान्द्रायणं  
 नरः ॥' इति । अत्र त्याब्दिके ससर्गे इति किंविन्म्यून इति द्रष्टव्यम्; पूर्णे तु  
 वासरै मन्वादिभिर्द्वादशवार्षिकस्मरणम् । यत्तु चार्हस्यैव वचनम्—'पाण्मासिके  
 तु ससर्गे याजनाप्यापनादिना । एकत्रासनशय्याभिः प्रायश्चित्तार्धमाचरेत् ॥' इति,

याजनाध्यापनयौनैकपात्रमोजनाना पश्मासात्पातित्यवचनमेतदकामतोऽप्यन्तापदि  
 पञ्चमहायज्ञदिप्राये याजनेऽन्नाध्यापने दुहितृभगिनीभ्यतिरिक्ते च योनिसम्बन्धे  
 द्रष्टव्यम् प्रकृष्टयाजनादिभि सद्य पातित्यस्योक्तत्वात् । पृतदिगवलम्बनेनैव दुहि-  
 तृभगिनीस्तुपागाभ्यतिपातकिससर्गिणां कामतो नवराषिक, अकामत सार्धचतुर्वा-  
 पिक कल्पनीयम् । ससिपितृ-यदारादिगामिपातकिससर्गिणां कामत पद्वार्षिकम्,  
 अकामतस्यैवार्षिकम् । अथोपपातक्यादिससर्गिणामपि कामनस्तदीयमेव त्रैमासि-  
 कम्, अकामतोऽर्धमित्यूहनीयम् । पुरुषवस्त्रीणामपि महापातक्यादिमसर्गात्पा-  
 तित्यमविसिष्टम् । यथाह शौनक — 'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि  
 साम्येव ।' ब्राह्मणी ह्येनवर्णसेवायामधिक पततीति, अतस्तस्यामपि महापात-  
 किप्रभृतीनां मध्ये येन सह ससर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तमर्घं बलुण्यां योजनीयम् ।  
 एव बालवृद्धातुराणामपि कामतोऽर्धम्, अकामत पाद । तथानुपनीतस्यापि  
 बालस्य कामत पादोऽकामतस्तर्धमित्येषा दिक् ॥

पतितससर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौनसम्बन्धस्य क्वचित्प्रतिषेधमाह—  
**कन्या समुद्गहेदेपां सोपवासामर्कित्वनाम् ॥ २६१ ॥**

एषा पतितानां कन्या पतितानवस्थायामुत्पन्ना सोपवासार्थं कृतनाससर्गकालो-  
 चितप्रायश्चित्तमर्कित्वनामगृहीतवस्त्रालकारादिविपुष्यनामुद्गहेत् । 'कन्यां समुद्ग-  
 हेत्' इति वदन्स्वयमेव क-यां त्यक्तपतितससर्गां समुद्गहेत् पुन पतितदस्ताप्रति-  
 गृहीयादिति दर्शयति । एष च सति पतितयौनससर्गप्रतिषेधविरोधोऽपि परिहृतो  
 भवति । अथ चाधो वृद्धद्वारितेन स्पष्टीकृतं, — 'पतितस्य तु कुमारीं विवचाम-  
 होराप्रोषिता प्रातः शुक्लेभाहृतेन वाससाब्दादिनां नाहमेतेषां म मपैते इति  
 शिरुष्वैरभिधाना तीर्थे स्वगृहे बोद्धेत्' इति । तथा 'एषां कन्यां समुद्गहेत्'  
 इति यचनास्त्रीभ्यतिरिक्तदीयापत्यस्य ससर्गानर्हतां दर्शयति । अत एव वसिष्ठ  
 — 'पतितेनोपज्ञ पतितो भवति अ-वन्न स्त्रिया, सा हि परगामिनो तामरि-  
 बधामुपेयात्' इति ॥ २६१ ॥

भाषा—इन महापातकियों के साथ जो एक वर्ष तक निवास करना है  
 वह भी इनके समान महापातकी हो जाता है । इन पानकियों की कन्या से  
 उन्हें उपवास करा के पिता का ( वस्त्रादि ) कुछ भी न लेते हुए विवाह  
 किया जा सकता है ॥ २६१ ॥

इति ससर्गप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निषिद्धमसर्गं प्रायश्चित्तप्रसङ्गाच्चिद्विससर्गोत्पन्नप्रतिशोभरथे प्रायश्चित्तमाह—  
**चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टाग्निदस्य तु ।**

अवकृष्टा सूतमागधाद्यः प्रतिशोभोत्पन्नास्तेषां प्रत्येक हनने चान्द्राय-  
 णम् । तथा च शङ्ख — 'सर्वेषामवकृष्टानां वधे प्रत्येक चान्द्रायणम्' इति । यद्वा

द्विरमोक्तम्—'सर्वानयजानां गमने भोजने संवमापने । परादेण विशुद्धिः स्यादित्याद्विरसभाषितम् ॥' इति पराकं कुर्यात् । तत्र कामतः सूतादिवधे चान्द्रायणम् , अकामतस्तु सूतवधे पराकः, वैदेहकवधे पादोनम् , चण्डालवधे द्विपादः, मागधवधे पादोनः पराकः, उत्तरि द्विपादः, आयोगवे च पादद्वयम्, अमयैव दिनाः चान्द्रायणस्यापि तारनम्यं कल्प्यम् । यत्तु महगमं वचनम्— 'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विपद् ॥' इति,—तदावृत्तिविषयम् । तत्र सूतवधे पण्मासाः, वैदेहकवधे चत्वारः, चण्डालवधे द्वाविति योग्यतयान्वयः । तथा मागधवधे चत्वारः, उत्तरि द्वैमासिकं, आयोगवे च द्वैमासिकमिति व्यवस्था ।

नैमित्तिकप्रतानां जपादिसाप्यत्वाद्विद्याविरहिणां च शूद्रादीनां तदनुपपत्ते-  
शायावेक्षणादिसाप्येत्विद्याभ्यानामनधिकारमाज्ञाह—

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुद्ध्यति ॥ २६२ ॥

यद्यपि शूद्रो जपाद्यधिकारहीनस्तथाप्यनेन द्वादशवारिकादिकाळसंवाधेन प्रतेन शुद्ध्यति । 'शूद्रप्रदहनं स्त्रीणां प्रतिलोमजानां चोपलवणम् । यद्यपि तस्य शाप्यादिमपासंमवस्तथापि नमस्कारमन्त्रद्वयो भवति । अत एव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'उद्विष्टं चक्षुःशोचनमनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः' इति । यद्वा यच्चणबलाजपादिविहितमेव यत्ते कुर्यात्—'तस्मात्शूद्रं समासाद्य सदा धर्मवधे स्थितम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविरहितम् ॥' इत्यङ्गिरः-  
रमरणात् । तथाऽप्यपि तेनैवोक्तम्—'शूद्रः कालेन शुद्ध्येत गोमास्यगहिते रतः । दानैर्वाऽप्युपवासेर्वा द्विजशूद्रभूषया तथा ॥' इति । यत्तु भागवम् ( ४।८० )—'म चास्योपदिशेऽहं न चास्य व्रतमाचरेत्' इति शूद्रस्य व्रतोपदेशनिषेधपरं चत्वनं,—तदनुपपत्तेशूद्राभिप्रायम् । यद्यपि स्मृत्यन्तरचत्वनम्—'कृच्छ्राप्येतामि कार्याणि सदा वर्ज्यवेण तु । कृच्छ्रेऽप्येतेषु शूद्रस्य भाधिकारो विधीयते ॥' इति,—तत्काम्यकृच्छ्राभिप्रायम् । अतः स्त्रीशूद्रयोः प्रतिलोमजानां च त्रैवर्णिकवद् अथाधिकार इति सिद्धम् । यत्तु गौतमवचनम् ( ४।२५ )—'प्रति-  
लोमा धर्महीनाः' इति,—तदनुपपत्त्यादिविशिष्टधर्माभिप्रायम् ॥ २६२ ॥

भाषा—समो अवकृष्टो ( सूत, मागध आदि उच्चवर्ण की स्त्री से निम्न-  
वर्ण के पुरुष द्वारा उत्पन्न ) में किसी की हत्या करने पर चान्द्रायण व्रत करे ।  
यद्यपि शूद्र को जप आदि करने का अधिकार नहीं होता तथापि वह निर्धारित  
समय तक व्रत करने पर पाप से शुद्ध हो जाता है ॥ २६२ ॥

इति महापातकश्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

नात्, गोषु घ्राहणसस्थास्त्विति दण्डभूषस्थदर्शनाद्य । वैश्यसधन्धिन्वास्तु ताद-  
 ग्विधे स्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्यात् । अतिकृच्छ्रे स्वाधे त्रिरात्रत्रये पाणिप्राश्न-  
 भोजनमुक्तम् । अल्पे त्रिरात्रेऽनशनम् । अतोऽतिकृच्छ्रपमेण मासमते क्रियमाणे  
 पद्भ्रात्रमुपवासो भवति । अर्धविंशत्यहे च पाणिप्राश्नभोजनम् । ततश्च कृच्छ्रमत्या-  
 न्नायकृषणया किञ्चिन्मूत्रं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्माद् अतद्व्याहृतिविषयेन वैश्य-  
 स्वामिकगोवधविषयता युक्ता । तादृश एव विषये शुद्धस्वामिकगोहत्यायां मास  
 प्राजापरपञ्चकं द्वितीयम् । तत्र च सार्धप्राजापरपञ्चकस्यैव प्रत्यान्नायेन किञ्चिद्  
 धिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वम्यो लघुतमस्वाकृच्छ्रद्विषयतोयिता । अथ जैत्रमास-  
 खिलपक्षेऽप्येव सापारकर्तुंमाहकमधोजकानुमन्त्यु शुभलघुभावतारतम्यादेव्या  
 पूर्वोक्त एव विषये योजनीयम् । यत्तु वैष्णव प्रतप्रयम्—‘गोमस्य पञ्चगव्येन  
 मासमेकं पक्षत्रयम् । प्रयहं स्यात्पराकी वा चान्द्रायणमथापि वा ॥’ इति, यच्च  
 काश्यपीयम्—‘गां हत्वा तच्चर्मजा प्राप्नोती मास गोष्ठेऽथस्त्रिपञ्चायां निरय  
 पञ्चगव्याहार’ इति, यच्च छातासपीयम्—‘मास पञ्चगव्याहार’ इति, तस्य  
 ऋकमपि पाञ्चगव्यकीयपञ्चगव्याहारसमानविषयम् । यच्च शङ्खप्रथेनोभ्यामु-  
 क्तम्—‘गोमस्य पञ्चगव्याहार पञ्चविंशतिरात्रमुपयसेऽसिञ्ज बभन कृत्वा गोच  
 र्मजा प्राप्नोती गान्धानुगच्छन् गोष्ठेऽथयो गां च दद्यात्’ इति । एतच्च पाञ्च  
 गव्यकीयमासातिकृच्छ्रप्रतसमानविषयम् । ‘दद्यात्त्रिरात्र चोषोष्य’ इत्येतद्विषय  
 चाऽऽयगुणिनो ह-गुर्वेदितम् । अत्रैव विषये पञ्चगव्यासक्तस्य तु द्वितीय  
 कारयपीय ‘मास पञ्चगव्येने ति प्रतिपाद्य ‘बहे काले पयोभयो वा गच्छन्तीष्व  
 शुभलघुतास्तु सुलोपविष्टास्तु चोपविशेऽतिष्ठेत्तव गच्छेऽतिविषमेणाधनारयेऽन्ना  
 एषोदके पायवेदते प्राह्णान्भोजयित्वा तिलधेनु दद्यात्’ इति द्रष्टव्यम् । अत्रा  
 प्यशक्तस्य ‘गोमो मास यदागू प्रसूतितन्दुलशृतं भुञ्जानो गोम्य प्रिय कुर्वन्  
 शुद्धयति’ इति पैठीनसिनोक्त वेदितव्यम् । यत्तु सौमन्तम्—‘गोमस्य गोप्रदान  
 गोष्ठे शयन द्वादशरात्र पञ्चगव्याशन गवानुगमन च’ इति, यच्च सवर्तेनो  
 क्तम्—‘सक्त्यावकमेसाश्री ययो दधि घृतं सकृत् । एतानि क्रमतोऽरनीया-  
 न्मासार्धं सुसमाहित ॥ घ्राहणान्भोजयित्वा तु गा दद्यादात्मशुद्धये ॥’  
 इति, यच्च दार्हस्पत्यम्—‘द्वादशरात्र पञ्चगव्याहार’ इति तत्रितयमपि  
 याज्ञवल्क्यमासप्राजापरपञ्चकस्यैव समानविषय, मृतकल्पगोहत्याविषय चा, विषमप्र-  
 देशत्रासेन अनित्यव्याधितो मरणविषय वा वेदितव्यम् । तदिदं सर्वं प्रागुक्तमका  
 मविषयम् । यदा पुनरीदृग्निषामविशिष्टविषयस्वामिकामविशिष्टा गां कामत  
 प्रमापयति तदा मनुना मास यवागूपान, मासद्वयं हविष्येण चतुर्थकालभाजन,

मामत्रय वृषभैकादशागोदारयुक्तं साकादिना वर्तनमिति प्रतद्विप्रतयमाभनातम् ।  
यथाह ( १११०८-११६ )—‘उपपातकसयुक्तो गोघ्नो मास यत्रान्निषेत् । कृत-  
चापो वसेद्रोष्ट्रे चर्मणाद्देणं’ सवृत । अतुर्थकालमरणीयादचारलवण मितम् ।  
गोमूत्रेण चरस्नान द्वौ मासौ निघतेन्द्रिय ॥ दिवानुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्पूर्वं  
रज पिबेत् । शुभ्रपिशा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासन वसेत् ॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु  
ग्रहन्तीष्वप्यनुग्रजेत् । आसीनासु तथासीनो निघतो वीतमस्तर ॥ नातरामं  
भिशरतां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भये । पतितां पङ्कलग्ना वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥  
उरणे वर्षति शीते वा मारुते चाति वा शृणम् । न कुर्वीतामनघ्राण गोरकृशा  
तु शक्ति ॥ आरामो यदि वाऽ-पेर्षा गृहे चेत्रेऽथवा खले । मचद-ती न कथ-  
येरिपक्ष्त चैव वस्त्रकम् ॥ अनेन विधिना वस्तु गोघ्नो या अनुगच्छति । न  
गोहत्याकृत पापं त्रिभिर्मासैर्भयोहति ॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रत ।  
अविद्यमाने सर्वेष्व वेदविद्भयो निवेदयेत् ॥’ ( १११०८-११६ ) इति, एन-  
त्रितय पाञ्चवक्कीयमासमात्रापत्यमासपञ्चगव्याशनवृषभैकादशागोदानयुक्तत्रिरा-  
त्रोपवासरूपव्रतश्रितव्यविषय यथाक्रमेण द्रष्टव्यम् । यवहिरसा माभवेत्कर्त्तव्य  
सायुक्त प्रैमाभिकमभिधायाधिकमभिहितम्—‘अक्षारलवणं रुक् पष्टे कालेऽस्य  
भोजनम् । गोमतीं वा जपेद्द्विधामोह्वार वेदमेव च ॥ व्रतवद्धारयेद्दण्डं समन्त्रा  
चैव सेखलाम् ॥’ इति, तन्मानवविषयम् । एव पुष्टितारुण्यादिकिञ्चिदुणातिश-  
ययोगिण्यां द्रष्टव्यम् । ‘अतिबालामतिवृद्धां च रोमिणीम् । हावा पूर्व-  
विधानेन चरेद्दर्भं व्रतं द्विज ॥’ इति पुष्टितारुण्यादिरहितायां गव्यर्धप्रायश्चित्त-  
दर्शनात् । यथा तु पाञ्चवक्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतनिमित्तभूतां यामविशिष्टस्वा-  
मिकां जातिमात्रयोगिनीं कामतो व्यापादयति नदा ‘विहितं यदकामानां कामात्तद्  
द्विगुणं चरेत्’ इति न्यायन पूर्वोक्तमेवाकामविहितमासातिकृच्छ्रव्रतं द्विगुणं कुर्यात् ।  
यत्तु हारीतेन—‘गोघ्नस्त-चर्मोर्ध्वबाल परिधाव’ इत्यादिना मानवीमतिकर्त्तव्यता-  
मभिधायोक्तम्—‘वृषभैकादशात्र या दत्त्वा त्रयोदशे मासे पूतो भवति’ इति  
तरसवनस्थश्रोत्रिमगोवधे अकामकृते द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठेन—‘गां वेद-दा-  
त्तस्याश्चर्मणाद्देणं परिवेष्टितं पण्मासान् कृच्छ्रतसकृच्छ्रान्वातिष्ठेत्पधवेहसौ दद्यात्’  
इति पाण्मासिक कृच्छ्रतसकृच्छ्रशुष्ठानमुक्तम्, यद्वि देवलेन—‘गोघ्नं पण्मासा  
स्तश्चर्मपरिवृतो गोघ्रासाहारो गोघ्ननिवासी गोभिरेव सह चरन् प्रमुच्यते’  
इति,—तद् द्वयमपि हारीतीयेन समानविषयम् । तत्रैव कामकारकृते कात्याय-  
नीय त्रैवार्धिकम्—‘गोघ्नस्तश्चर्मसवीतो वसेद्रोष्ट्रेऽथवा पुन । गाद्यानुगच्छेत्स  
सत मौनी चौरासनादिभि ॥ वर्षशीतातपस्त्रेणवद्विपङ्कमवार्दित । मोचयेत्स



धन्यत्वेन पृथगे वसतैः छभि ॥' इति द्रष्टव्यम् । यच्च शाङ्खं त्रैवापिकम्—'पादं तु  
 शूद्रहायायामुदङ्गयामने तथा । गोवधे च तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथा ॥'  
 इति,—तदपि कार्यायनीयव्रतसमानविषयम् । यत्तु यमेनाङ्गिरसीमितिकर्तव्य  
 तामभिधाय 'गोसहस्र शत चापि दद्यात्सुचरितव्रत । अविद्यमाने सर्वस्य वेद  
 विद्मणे विवेदयत् ॥' इति गोसहस्रयुक्त गोशतयुक्त च द्वैमासिक व्रतद्वयमभि  
 हितम् , तत्र यदा सवनस्थश्रोत्रियादिदुर्गतचहुक्त्रुद्विवद्राहणसयन्धिनीं कपिला  
 कर्माद्भूता गर्भिणीं बहुवारतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवोन्मसप्रयान  
 खद्गादिना श्यापादयति तदा गोसहस्रयुक्त त्रैमासिक कुर्यात् ; 'गर्भिणीं कपिलां  
 दोग्ध्रीं होमधेनु च सुपताम् । खद्गादिना घातयित्वा द्विगुण व्रतमाचरेत् ॥' इति  
 विज्ञाष्टाया गधि चार्हत्स्ये प्रायश्चित्तविशेषदर्शनात् ; अत एव प्रचेतसा—  
 'स्त्रीगर्भिणीगोगर्भिणीवाल्लवृद्धवधेषु ब्रूणहा भवति' इति । ईदृग्विधमेव गोवध  
 मभिसंधाय ब्रह्महायाव्रतमतिदिष्टम् । द्वितीय तु वास्य गोशतदानयुक्त त्रैमा  
 सिक व्रत कार्यायनीयव्रतविषये धनवत्तो द्रष्टव्यम् । यत्तु गीतमेव ( २२।१८ )  
 वृषभैकशतगोदानसमुपित त्रैवापिकं ग्राहृतं ब्रह्मचर्यं वैश्ववधेऽभिधाय गोवधे  
 ऽतिदिष्टम्—'गो च हरथा वैश्यवत्' इति । एतच्च त्रैवापिकव्रतप्रत्यागनायभू-  
 तनवतिधेनुभि सार्धं वृषभैकशता गावो नवन्यून द्विशत भवतीति गोसहस्रयु  
 क्तत्रैमासिकव्रतान्म्यूनवात्पूर्वोक्तविषये एव कामतो वधे ; यद्वा तत्रैव विषये  
 गर्भरहिताया कामतो वधे द्रष्टव्यम् । तादृग्विधाया एव गर्भरहितायास्य  
 कामतो हननेऽपि कार्यायनीयमेव त्रैवापिकं कथ्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्—  
 'काष्ठलोष्टारमभिर्गाव जज्ञैर्वा निहता यदि । प्रायश्चित्तं कथं तत्र शस्त्रेऽशस्त्रे  
 विधीयते ॥ काष्ठे सान्तपन कुर्यात्प्राजापत्यं तु लोष्टकं । तस्य कृच्छ्रं तु पापाने  
 क्त्रे चान्यति कृच्छ्रकम् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् । त्रिगद्गा  
 वृषभं चैकं दद्यात्स्यवधं दक्षिणाम् ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तगोसहस्रदानादिवान  
 त्रैवापिकादियतविषयेऽप्येव काष्ठादिमाधनविशेषजनितवधनिमित्तसान्तपनादि  
 पूर्वकायप्रतिपादनपर, नस्तु निरपेक्ष, लघुत्वाद् मतस्य । तथा पशोर्विशेषादपि  
 प्रायश्चित्तविशेष इव—'अतिवृद्धामनिकृतामतिशालां च शोयिणीम् ।  
 हत्या पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विज ॥ ब्राह्मणात्प्राजापत्यं च श्यापा दद्यादेव  
 तिर्णास्तथा ॥' इति । नीशोगादिवधे यद्विहितं तस्यार्थम् । वृहस्पतेतमा-  
 स्यत्र विशेष उक्त—'पुरुषं हते यासे कृच्छ्रादो विधीयते । अमुदिपूर्वं  
 पुंस रयाद् द्विपादस्तु द्विदापने ॥ त्रिहापन त्रिपाद् रयात्प्राजापत्यमन.परम् ॥'  
 इति । तथा गर्भिण्या वधे यदा गर्भाऽपि निहतो भवति तदा 'प्रतिनिमित्त

नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेनाविशेषेण द्विगुणद्वयप्राप्ती षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्त — पाद उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतरा गते । पादोन मत् सुदिष्ट इत्या गभर्ममचेतनम् ॥ अङ्गप्रत्यङ्गसपूर्णे गर्भे चेत समन्विते । त्रिगुण गोमत्त कुर्यादेवा गोमन्स्य निष्कृति ॥' इति । बहुकर्मके तु हनने सवर्तापस्तम्बी विशेषमाह तु — 'एका चेद्बहुभि काचिद्वैवाद्द्वयापादिता क्वचित् । पाद पाद तु हस्यायाश्चरेयुरते पृथक्पृथक् ॥' इति । यादस्त्रिघणोहरयाया यद्मत्तमुपदिष्ट तत्पाद प्रत्येक कुर्युर्वचनात् । 'एका चेत्' इत्युपलक्षणम् । अतो बहुभिर्द्वेषोर्वहना च व्यापावने प्रतिपुरुष पादद्वय पादोन वा कल्पनीयम् । -पनश्चाकामतो वधे प्रष्टव्यम् दैवादिनि विशेषणोपादानात् । कामकारे तु बहूनामपि प्रायेक कृत्स्नदोषसम्बन्धात्कृत्स्नव्रतसम्बन्धो युक्त, सत्रिणामिष प्रति- पुरुष कृत्स्नध्यापारसमवायात्, 'एक व्रता बहूनां तु वयोकाद् द्विगुणो व्रत' इति प्रायेक दण्डे द्वैगुण्यदर्शनाच्च । यद्वा त्वेकेनैव रोधनादिव्यापारेण बहवो गाधो व्यापादितास्तत्र सवर्तापस्तम्बी विशेषमाह तु — व्यापकानां बहूना तु रोधने व-धनेऽपि वा । भिषद्भिर्व्योषचारे च द्विगुण गोमत्त चरेत् ॥' इति । बहुष्वपि व्यापक्षेण न प्रतिनिमित्त नैमित्तिकानुष्ठान, नापि त-त्रेण किञ्च वचनबलाद् द्विगुण मेव । तथा भिषदपि विद्वद्दोषदानेनैकस्या अप्यकामतो व्यापावने द्विगुण गोमन् कुर्यात् । भिषद्व्यतिरिक्तस्य केवलम् उपकारार्थं प्रकृतस्य स्वकामत प्रति- कृतौपघदाने व्यास आह — औपघ लक्षण चैव पुण्यार्थमपि भोजनम् । अति रिक्त न दातव्य काले स्वल्प तु दापयेत् ॥ अतिरिक्ते विपत्तिक्षेपकृष्णवावो विधीयते ॥' इति ॥ व-वापस्तम्बेनाक्तम् — 'पादमेक चरेदोषे द्वौ पादौ वन्धने चरेत् । भोजने पावहीन स्याच्चरेत्सर्व निपातने ॥ इति, -तद्व्यवहित-व्यापारिणो निमित्तकर्तृविज्ञेय, न साक्षात्कर्तुं । साक्षात्कर्तृनिमित्तिनोश्च भेदस्तेनैव दर्शित - 'पापानैर्लङ्घुं टैर्वाऽपि क्षत्रेण-वेन वा बलात् । निपातयन्ति ये गास्तु कृत्स्न कुर्युं र्थं हि ते ॥ तथैव बाहुजहोरुपारर्षग्रीवाद्ग्रिमोदमे ॥' इति । एतदुक्त भवति — पापान्क्षत्रादिभिर्ग्रीवाभोटनादिना वा वेङ्गानि पातयन्ति ते साक्षाद्-तारस्ते ध्येव कृत्स्न प्रायश्चित्तम् । ये ॥ व्यवहितरोधव-यादिव्यापारयोगिनस्ते निमित्त नस्तथा न कृत्स्नव्रतसव-घ किंतु तदत्रयवैरेव पादद्विपादादिभिरिति । तत्र च रोधादिना व्यवहित-व्यापारस्याविशेषेऽपि वचनात्कृत्स्नत्पाद् क्वचिद् द्विपाद, पादोन क्वचिदिति युक्तम् । अत्राह पराशर — 'गवां वन्धनबोधत्रैस्तु मवे-मृत्पुत्रका- मत । अकामकृतपावस्य प्राजापत्य विनिर्दिशेत् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्या द् व्याक्षणभोजनम् । अनङ्गसहितां गौ च दद्याद्द्विभय दक्षिणाम् ॥' इति । अय

१ वन्धनादि । २ व-धने तथा । ३ लघुवैर्वापि । ४ तत्रावरोधा-दिना ।

च प्राजापत्यो यदि रोघादिकं कृत्वा तज्जन्यप्रमादपरिजिहीर्षया प्रत्यवेत्तमाग  
 आस्ते तदा द्रष्टव्यं, 'अकामकृतपापस्य' इति विशेषणोपादानात् । यदा तु न  
 प्रमादसंस्मरणं करोति, तदा 'पादमेकं चरेदोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् । योऽने  
 पादहीनः स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इत्यङ्घ्रिरोट्टे त्रैमासिकपादे किञ्चिदधिकं वा  
 विशालपद्मार्थं प्रकृतं कुर्यात् । आपस्तम्बेनापि विशेष उक्तः—'अतिदोहानि  
 चाहान्या नासिकाच्छेदने तथा । नदीपर्वतसरोधे मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति ।  
 लक्षणमाशेषयोगिनि तु दाहे न दोषः, 'अन्यघ्राङ्गनललाभ्या वाहने मोचने  
 तथा । सार्यं सगोपनार्थं च न दुष्येद्गोधवन्धने ॥' इति पराशरस्मरणात् ।  
 अङ्गनं स्थिरचिह्नकरणम्, लक्षणं संप्रसोपलक्षणम् । वाहने शास्त्रोक्तमार्गेण  
 रक्षणार्थमपि नालिकेरादिभिर्यन्धने सदाप्येव दोषः, 'न नालिकेरेण न क्षाणवा  
 लैर्न चापि मौञ्जेन न घन्धशृङ्खले । एतैस्तु गावो न निबन्धनीया वद्व्या तु  
 तिष्ठेत्परशु गृहीत्वा ॥ कुशौ काशौश्च बध्नीयारभ्याने श्लोपविवर्जिते ॥' इति व्यास-  
 स्मरणात् । तथाऽप्योऽपि विशेषस्तैर्नैवोक्तः—'घण्टाभरणदोषेण त्रिपत्तिर्धर्म  
 गोर्भवेत् । कृष्णार्थं ॥ भवेत्तत्र मूपणार्थं हि तत्संस्मृतम् ॥ अतिदोहेऽतिदमने सपाते  
 च यो जने । वद्व्या द्वाङ्गुलपक्षे मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति । बालनाकरणा  
 दिनोपेक्षायां क्वचिन्प्रायश्चित्तविशेषस्तैर्नैवोक्तः,—'जलीयपवले माना मेघविद्यु-  
 द्भतापि वा । यत्र वा पतिताऽकरमाष्टुपदेनापि भविता ॥ प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्र  
 गोहवामी प्रतमुत्तमम् । शीतवाताहाता वा स्यादुद्गन्धनहर्तापि वा ॥ मृग्यागार  
 उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥' इति । इदं ॥ कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां  
 वेदितव्यम् । कार्यान्तराभ्यप्रतयोपेक्षायां स्वर्धम्—'पक्षवलीघनृगभ्याम्रथापदा-  
 दिनिपातने । अन्नप्रपातसर्पात्तैर्मृते कृष्णार्थमाचरेत् ॥ अपालायास्तु कृष्ण  
 स्यात्कृष्णपागार उपप्लवे ॥' इति विष्णुस्मरणात् । तथा सस्यपि स्यादाहने षचि-  
 दुपकारार्थमपृत्तीं चचनाहोषाभावः । यथाह सवर्त—'यत्रमे गोपिक्रिस्ताधे  
 मूर्धगर्भविमोचने । यदे कृते विपत्तिः स्यात् ॥ वापेन लिप्यते ॥' इति । यत्रमे  
 'स्यात्पादिनिर्घातनार्थं सद्यक्षाष्टुशादिप्रथमम् । तथा—'भौवध स्नेहमाहार  
 दृश्रोमाहणे द्विज । दीयमाने विपत्तिश्चेन्न वापेन लिप्यते ॥ प्रामघाते  
 शरीरेण घेरमभद्राधिपातने । दाहच्छुद्धनिराभेदप्रयोगैरुपकुर्वताम् ॥ द्विजानां  
 गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' अत्र पराशरोऽप्याह—'प्रामघाते  
 शरीरेण घेरमभद्राधिपातने । अतिवृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥'

१. मरणम् । २ इ विनाशः । ३ अविदोहः । ४. मोचनेऽपि वा ।  
 ५ मौञ्जेन च मृगुष्टेभः । ६ माकृष्णार्थं भवत् । ७ अतिदोहादिदमने ।  
 ८ मृगापि वा । ९ मृष्टगर्भः । १० स्यात्पादि ।

इति । तथा—'द्वयगाने च घर्मभिः शूद्रशूदे च वा मृता । प्रामशूदे तथा घरे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति । इदं तु बन्धनरहितस्यैव यज्ञो. कथञ्चिद् शूद्रादिशूदेन मृतविषयम् । इतरथा एतदप्युच्यते—'काम्तारेष्वथ हुगेषु शूद्रशूदे तेषु च । यदि तत्र विपत्ति र्वाप्याद् एको त्रिषोडशे ॥' इति । तथाऽऽध्या दिसष्टे मरणाभावेऽपि ऋषिप्रायश्चित्तमुक्तम्—'अरिषमद्र गरीं कृया एतद्दृष्ट- ५८१२३ तथा । पातन इत्यनुष्ठानां मामार्थं तु यथाविषये ॥' इति । पर्या- ५८१२३ मद्रम्—'शूद्र-गारिषमद्रे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा । दत्तत्र पिवेद्भ्र- ५८१२३ रवर्षापि यदि गीर्भवेत् ॥' इति 'वयं'तद्व्याप्य श्रीरादिवर्तनमुक्तं तद्व्याप- ५८१२३ विषयम् । इदं च प्रायश्चित्त मोरवामिने व्याप्यगं'सदृशीं तां द्वावैव कार्यम् । यथाह पराहार—'प्रमादने प्रागमृते द्वाप्यप्रतिरूपकम् । तस्यानुरूप ५८१२३ मूढय वा द्वाप्यप्रतिरूपकम् ॥' इति । अनुरवि ( ८१२८८ )—'यो यस्य ५८१२३ द्विषवाद् द्वाप्याणि ज्ञानताऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पत्तयेषु द्विषां द्वाप्य च ५८१२३ ताममम् ॥' इति । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तज्ञान प्राप्तिरस्यैव इत्युच्यते—'द्विषा ५८१२३ चप्रियादेसु इत्युच्यते—'विमे तु सकल देवं पादोन ५८१२३ चप्रिये स्मृतम् । घरेष्वर्षे वाद् एकरमु शूद्रानिषु तस्यने ॥' इति । यत्रादि ५८१२३ शीवचनम्—'पदेषां प्राणानां तु सा राज्ञी द्विगुणा मता । वैरयानां त्रिगुणा ५८१२३ भोक्ता पर्वद्वय मत्त स्मृतम् ॥' इति—ताम्रानिलोत्पन्न वाग्द्वयपाप्यादिविषयम् । तथा स्त्रीपालशूद्रादीनां स्वर्धं, अनुपनीतस्य बालस्य वाद् इति च प्रागुक्तमनुसंधे ५८१२३ यम् । स्त्रीणां पराहारेण विदोषऽभिहित—'वपन मैव नारीणां नानुपयवा ५८१२३ म्वादिष्म् । न गोष्ठे ज्ञापन तामां न वसीरग्गशक्तिम् ॥ तवर्धकेतामस्तदुत्पाय ५८१२३ एतद्वद्वृत्तयम् । सर्वश्रेय द्वि नारीणां निरसा मुष्कन स्मृतम् ॥' इति । पुरोरेषु ५८१२३ च विदोष सर्वमेव दर्शित—'वादेऽङ्गरोमवपन द्विषादे शमधुगोऽपि च । त्रिषाद् ५८१२३ तु त्रिषावर्जं सतिग्य तु निषातने ॥' इति । वादप्रायश्चित्ताहंस्य ऋषिप्रायश्चित्तना- ५८१२३ द्रोमगामेव यपनम् । अर्धप्रायश्चित्ताहंस्य तु शमधुनामपि । वादोत्पत्तयेषु ५८१२३ पुन. त्रिषावर्जनामपि त्रिषावर्जितानाम् । पादेषुत्पत्तयेषु तु सतिग्यस्य ५८१२३ सकलकदाजातस्यति । एवमेतद्विगतलम्बनेनान्येषामपि स्मृतिवधसां विषयो ५८१२३ निरूपणीयः ॥ ३२३-२६४ ॥

भाषा—गायत्री हरया करने वाला पञ्चमस्य ( गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत ) पीये और एक मास तक सयम के साथ रहे । वह सोताला में सोना, गाथों के पीछे चलने ( सेवा करने ) और ( मास के अन्त में ) एक गी का दान करने पर शूद्र होता है । अथवा सावधान होकर ( एक मास तक )

१ शूद्रभद्रेश्वरिषमद्रे वा । २ द्वाप्याणि द्विषवाद्यो यस्य ।



८मज्ञोऽहोरात्रमुपवसेदशमेधावमृथ गच्छेद् मास्यस्तोमेन वा थजेत' इति । अत्रेय  
 वयस्या—यैस्योपनेत्राद्यभावेन तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीयव्रतानामन्यतम  
 शत्रुपपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानव त्रैमासिकम् । तत्रैव पञ्चदश  
 वर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रम तूदात्तव्रत मास्यस्तोमो वेति । येषां ॥ पित्राद-  
 योऽप्यनुपनीतास्तेषामापरतम्वोक्तम् ( ध० १११३२, ५, ११२।५।६ )—'यस्य  
 पितापितामहावमुपेतौ स्यातां तस्य सवत्सर त्रैविद्यक ब्रह्मचर्यम् । यस्य प्रपिता-  
 महादेर्नानुस्मर्यत उपनयन तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यक ब्रह्मचर्यम्' इति प्राच्यता ।  
 तथा स्तेयोऽप्युपपत्तकसाधारणप्राप्तव्रतचतुष्टयापवादक प्रायश्चित्त मनुनोक्तम्  
 ( १११६२ )—'धान्यान्नरमचौराणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तम । सजानीयगृहा  
 देव कृत्वा धेनुं विशुद्धयति ॥' इति । द्विजोत्तमस्य सजानीयो ब्राह्मण एवातो  
 विप्रपरिमहे ब्राह्मणस्य हर्तुरिदम् । अत्रियादेरवत्प कल्प्यम् । 'अष्टौपाद्य स्तेय  
 क्रियिष्य शुद्धस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषा प्रतिवर्णं विदुषोऽतिश्रमे दण्डभूयस्त्वम्'  
 ( १११५-१७ ) इति अत्रियादेरपदमुदण्डाद्वत्सवस्य दर्शनात् । तथा—'विप्रे  
 तु सकल देव पादोन अत्रिये स्मृतम्' इति पादपाददान्या प्रायश्चित्तदर्शनात् ।  
 तथा अत्रियादिपरिमहेणापि दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तावप्य कल्प्यम् । अत अत्रि-  
 यपरिमहे चौर्ये पाण्डासिकम् । धैर्यपरिमहे त्रैमासिक गोवधमतम् । शुद्धपरिमहे  
 चान्द्रायण कल्प्यम् । एषमुत्तराभ्यूहनीयम् ।—इदं च दशकुम्भधान्यापहारवि-  
 पयम् । अधिकं तु—'धान्य दशम्ब कुम्भेभ्यो हरतो द्म उत्तम । पलसहस्रा  
 दधिकं च' इति वधदर्शनात् । कुम्भश्च पञ्चसहस्रपलपरिमाण । धान्यसाहच  
 र्यादन्नधने चैतावदान्यपरिमिते वेदितव्ये । 'अन्न शब्देन तन्मुलादिकमभिधीयते ।  
 'धन'शब्देन तान्नरजतादिकम् । इदं तु प्रायश्चित्त कामकारविषयम् । अकामतस्तु  
 त्रैमासिक गोवधमतम् । तथा—मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां चैत्रगृहस्य च ।  
 कूपवापीजलानां च ह्यद्विद्यान्द्रायणेन तु ॥' ( मनु १११६३ ) इति । सार्धंश-  
 सद्द्वयपणलभ्यजलापहार इदं चान्द्रायण प्राप्तमपीतरगोवधमतमिवृत्त्यर्थं विधीयते,  
 'सावन्मूदयजलापहारे पानीयस्य सृणस्य च । तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्ड' इति  
 पञ्चशतदण्डविधानात्तावपरिमाणदण्डचान्द्रायणयोर्गोवधादौ सहचरित्वात् ।  
 तथा 'कृच्छ्रातिकृच्छ्रैन्दवयो पणपञ्चशत ॥ तथा' इति चान्द्रायणविषये पञ्चशतप  
 णदण्डविधानाच्च । एतच्च अत्रियादिद्रव्यापहारे द्रष्टव्यम्, ब्राह्मणस्यन्धिद्रव्या-  
 पहारे तु 'निषेपस्यापहरणे नराश्वरजतरय च । भूमिजन्मणीना च ह्यम-  
 स्तेयसम स्मृतम् ॥' ( मनु ११५७ ) इति द्रष्टव्यम् । तथा—'द्रव्याणामवप

१. पर्योपनयने आपद्भावेन । २ कृच्छ्रान्देन विशुद्धयति । ३ अष्टपादम् ।  
 ४ हरतोऽन्यधिको वध ।

साराणां स्तेयं कृत्वाऽन्येष्वेवमत्तः । अरेस्तान्तपन्नं कुच्छूँ तन्निर्यायाऽमशुद्धये ॥  
 ( मनुः १११६४ ) इत्यनेनारूपप्रयोजनत्रपुत्तीसादिद्रव्यापहारविशेषेण स्तेनसा-  
 मान्योपपातकप्रायश्चित्तापवादः । इदं च चान्द्रायणनिमित्तभूतार्घवृत्तीयदातमू-  
 ल्यस्य पञ्चदशांशार्धत्रपुत्तीसाद्यपहारे प्रायश्चित्तम्, चान्द्रायणपञ्चदशांशत्वात्तस्य ।  
 तथा द्रव्यविशेषेणाप्युपपातकसामान्यप्राप्तवतापवादः—‘अक्षयभोज्यापहरणे  
 यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पद्मगन्धं विशोधनम् ॥’ ( मनुः  
 १११६५ ) इति । एकवारभोजनपर्याप्तमद्यभोज्यापहार इदम् । द्वित्रिवारभोज-  
 नपर्याप्ताहारे त्रिरात्रम् । यथाह पैठीनसिः—‘अक्षयभोज्यान्नस्योदरपुरणमात्रहरणे  
 त्रिरात्रमेकरात्रं वा पञ्चरात्र्याहरता’ इति । यानादीनामप्येतस्माहचर्षादेतावन्मू-  
 ल्यानामेवापहरणे ष्ठावःप्रायश्चित्तम् । सर्वत्रापि ह्यियमाणद्रव्यन्यूनानधिकभावेन  
 प्रायश्चित्तस्यापि लघुगुरुभावः कल्पनीयः । यथा ‘तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्काक्षस्य  
 गुहस्य च । तैलचर्ममिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥’ ( मनुः १११६६ )  
 इति । पूर्वा च तृणादीनां भक्ष्यादित्रिगुणत्रिरात्रप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् तस्त्रिगुण-  
 मूल्यार्थानामेतत्प्रायश्चित्तम् । तथा—‘अणिमुक्त्रप्रवालानां तान्नस्य रजतस्य  
 च । अयस्कांस्योपलानां च द्वादशाह कर्दन्वता ॥’ ( मनुः १११६७ ) इति ।  
 अत्रापि भक्ष्यादिद्वादशगुणप्रायश्चित्तदर्शनात् तन्मूल्यद्वादशगुणमूल्यमणिमुक्त्राद्य-  
 पहार एतत्प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तथा—‘कार्पासकीटमोर्गानां द्विलुरेकलुरस्य च ।  
 पत्तिगन्धोपधीनां च शउज्याक्षैर्यं स्वहं पयः ॥’ ( मनुः १११६८ ) इति ।  
 अत्रापि भक्ष्यादित्रिगुणप्रायश्चित्तदर्शनात्तस्त्रिगुणमूल्यानामपहार एतत्प्रायश्चित्तं  
 ज्ञेयम् । ह्यियमाणद्रव्यन्यूनानधिकभावेन प्रायश्चित्तात्पत्यमहारव कल्पमेव । इदं  
 च स्तेयप्रायश्चित्तमपहतद्रव्यदानोत्तरकालमेव द्रष्टव्यम् । यथाह क्षिप्णुः—  
 ‘इवैवापहतं द्रव्यं स्वामिने प्रतमाचरेत्’ इति । इति स्तेयम् । ऋणापाकरणे  
 च ‘पुत्रपौत्रैर्ज्ञानं देवम्’ ( व्य० ५० ) इति विहितं तस्वानपाकरणे, तथा  
 वैदिकस्य च ‘जावमानो वै ब्राह्मणः’ इत्येतद्वाक्येनर्णसंस्तुतपशादिकरणे च  
 ‘उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्’ ( प्रा० २६५ ) इत्यादिनोपपातकसामान्यविहितं  
 प्रतपनुष्टयं दास्यपेक्षया योज्यम् । प्रायश्चित्तान्तरमप्यत्र मनुनोक्तम् ( ११।  
 २७ )—‘इष्टिं वैधानशीं चैव निर्वपेदद्दर्पयये । सुप्तानां पशुसोमानां तिष्ठृथर्थ-  
 मसंभव ॥’ इति । अद्दर्पयये सवस्मान्ते । इति ऋणानपाकरणम् ।

तथाधिहरत्यानादित्ताग्निवेऽप्येतदेव प्रतपनुष्टयं वत्सरादूर्ध्वमापदि दास्य-  
 पेक्षया योज्यम् । अनापदि तु मानयं त्रैमासिकम् । अर्वाकपुनर्वत्सरात् कार्णा-  
 निनिर्विदोपमाह—‘काले तथावाय कर्माणि कुर्याद्दिनो विधानतः । तदकुर्वीद्विरा-

घ्रेण मासि मासि विशुद्ध्यति ॥ अनाहिताग्नी विप्रादी यथ्यमाण सुनो यदि ।  
स हि प्राय्येन पशुना यजेत्तान्-नष्कयाय तु ॥' इति । एकाम्बेरपि विशेषस्ते  
नैवोक्त - 'कृतदारो बृहे ज्येष्ठो वो नादध्याहुपासनम् । चा द्रायण चरेद्द्वयं  
प्रतिमासमहोऽपि वा ॥' इति । अनाहिताग्निता ।

( विक्रये यद् व्रत प्रोक्त दृशे द्विगुणं हि तद् । सुराविक्रये साम्ये चतुष्टयं  
लाङ्गालवगमासमन्वयनिलहेमानां चा द्रायणत्रयं पय पायसापूदधीष्टुरस  
गुह्यलण्डाद्विस्नेहपक्कादियु पराक । सिद्धान्-नविक्रये प्राजापरवम् । पमसस्य  
त्रिदिनम् । कदलानारिकरजम्बीरबीजपूरकनारङ्गानां पादहृच्छम् । कर्मूरिकाविक्रये  
गन्धामा च कूरुम् । कपूरेऽर्धं दिग्वादिविक्रये दिनमुपवास । शुक्लकृष्णपीतद  
स्रविक्रये त्रिदिनम् । अन्नानामै द्यम् । खराशतरकरभाणां पराक । शुनां द्विगुणम् ।  
एकाहाग्नेदविक्रय चा द्रम । अङ्गानां पराक । स्मृतीनां कूरुम् । इतिहामपुराणानां  
सातपथम् । रहस्यानां हृच्छम् । गायानां शिशिरास्रविद्यानां पादम् । ) तथा  
अपण्यविक्रये च स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तविशेष उक्तः । यथाह हारीत -  
'गुह्यनिलपुष्पमूलकलपका-नविक्रये सोमापान सौम्य कूरु । लाङ्गालवगममुमांस  
सैलशरदधितकघृणग-पचमंशामसाम-पतमविक्रये चा-द्रायणम् । तथा ऊर्गा  
केषकसरिभूधेनुपरमारमशद्यविक्रय च । अथ्यमासस्मात्स्थानशुक्तिवि-  
क्रये तस्रहृच्छः । द्विगुणमुत्तुहरितात्मन शिलाज्जनगैरिकशरलवणमणिमुक्ता  
प्रवालवैणवमृ-नयेषु च तस्रहृच्छः । आरामनडागोदपानपुष्करिणीसुकुणविक्रये  
त्रिपवणस्मात्पथ शायो चतुर्थकालाहारो दशसहस्र अप-सवस्सरेण पूतो भवति ।  
हीनमानो-मानस्तरकरसकीर्णविक्रये चेति । एवम-थैरपि कङ्कविल्ववापुसवचनै-  
र्षथ प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तत्रानापदि मानवमुपपातकसाधारणत प्राप्त  
शैमानिकम् । आपदि तु याज्ञवल्कीय व्रतचतुष्टयं क्षमस्वपेक्षया योग्यम् । इति  
अपण्यविक्रयः । तथा परिवेत्तरि च वसिष्ठेन प्रायश्चित्तविशेष उक्तः (२०१८) -  
'परिविविदानं कूरुति कूरुद्वौ चरित्वा तस्मै द्वावा पुनर्निविशेत् तं चैवो-  
पयच्छेत्' इति । परिविविदानं परिवेत्तो-यते । तस्यैव रूपं च प्राग् व्या-  
पयात्तम् । अस्ती कूरुति कूरुद्वौ चरित्वा तस्मै ज्येष्ठाय तं स्वोढां द्वावा  
महाचर्याद्वतभैदवद्भुतपरिभवपरिहारार्थं निवेद्य पुनरुद्देत् । कामिस्वपेक्षया  
मुक्त 'तामेवोपयच्छेत्' इति । तामेव स्वोढां ज्येष्ठाय निवेदितां तेन चानुशा  
तामुद्देत् । यत्तु हारीतेनोक्तम् - 'ज्येष्ठेऽनिविष्टे कनीयाश्चिद्विशमानं परिवेत्ता  
भवति, परिवित्ति-र्षेष्ट, परिवेदनी क-या, परिदायी दाता परिवेष्टा यानकस्ते  
सर्वे पतिता सवस्सर प्राजापर्येन कूरुतेण पावयेयु' इति । यद्यपि शङ्केनोक्तम् -

१ अधिकमिदम् । २ मानो-नतसकीर्णं ।



‘परिवृत्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं प्राहणमृहेषु भैषं चरेयाताम्’ इति तदुभयमपि  
 कामकारेण कन्याविश्रायनमुज्जतोद्गाहविषयम् । प्रायश्चित्तस्य गुणत्वात् । यदा  
 पुनः कामतः कन्यां विश्रादिदस्तामेव परिणयति तदा मानवं त्रैमासि-  
 कम् । पूर्वोक्तौ कृत्वातिकृच्छ्रौ याज्ञवल्क्ये च प्रतचतुष्टयमज्ञातविषयम् ।  
 यमेनाप्यग विशेष उक्त — ‘कृच्छ्रौ द्वयोः परिवेद्ये कन्यायाः कृच्छ्र एव च ।  
 अतिकृच्छ्रं चरेदाता होता चान्द्रायण चरेत् ॥’ इति । एतच्च पर्याहिताग्ना-  
 दीयामपि समानम् । एकयोगनिर्देशात् । यथाह शौतमः ( १५१८ ) — ‘परिवि-  
 त्तिपरिवेत्तुपर्याहितपर्याधात्रप्रेदिधिपूर्वतीर्णा संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्’ इति ।  
 अत एव यस्मिन्नेवाप्रेदिधिपूर्वत्यादाविदमेव प्रायश्चित्तमुक्तम् ( २०१९, १० )  
 ‘अप्रेदिधिपूर्वतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्र चरित्वा निविशेत् तर्हि चैवोपपद्येत । दिधि-  
 पूर्वतिः कृत्वातिकृच्छ्री चरित्वा तस्मै दत्तां पुनर्निविशेत्’ इति । अप्रेदिधिप्या-  
 द्वैर्लक्षणं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम् — ‘उपेक्षायां यच्चनूढायां कन्यायामुपेतोऽनुजा । या  
 साऽप्रेदिधिपूर्वत्वा पूर्वा तु दिधिः स्मृता ॥’ इति । तत्राऽप्रेदिधिपूर्वतिः  
 प्राजापत्यं कृत्वा तामेव उपेक्षां पश्चादन्वेनोक्तानुद्गरेत् । दिधिपूर्वतिस्तु कृत्वाति-  
 कृच्छ्रौ कृत्वा स्वोढा उपेक्षां कनीयस्याः पूर्वविबोद्धे दत्त्वाऽन्यामुद्गहेदिति परिवे-  
 दनम् । तथा श्रुतकाव्यापकश्रुतकाव्यापितयोश्च पयसा ब्रह्मसुवर्चलां विवेदित्य  
 धिकृत्य विष्णुनोक्तम् — ‘श्रुतकाव्यापन कृत्वा श्रुतकाव्यापितस्तथा । अनुयोग-  
 प्रदानेन श्रीपश्चात्प्रियतः विवेत् ॥’ इति । उक्तपहेतोरधीर्धानस्य किं पठति  
 नाशितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगोऽनुवीतप्रदानम् । अत एव स्मृत्यन्तरे — ‘दत्तानु-  
 योगतानध्येतु. पतितममनुरमवीत्’ इत्युक्तम् । अत्रापि पूर्वोक्तप्रतैः सहास्य  
 शास्त्रपेक्षया विकल्पः ।

इति श्रुतकाव्यापकश्रुतकाव्यापितप्रकरणम् ।

तथा पारदार्येऽप्युपपातकसामान्यप्राप्तमानवत्रैमासिकस्य याज्ञवल्क्यप्रतच-  
 तुष्टयस्यापि गुरुद्वारादावपथात् उक्तः । तथाऽन्यत्रापि शौतमादिभिः पारदार्यविशो-  
 वेणपथात् उक्तः । यथाह शौतमः — ‘द्वे पारदार्ये श्रीणि श्रोत्रियस्य’ इति । तथा  
 वार्तिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं प्रस्तुत्य तेजैवेदमभिहितम् ‘उपपातकेषु चैवम्’ इति ।  
 नयेर्यं व्यवस्था — द्वादशकाले कामतो जातिमात्रमप्यधीमन्ने चरित्वा. प्राकृतं  
 ब्रह्मचर्यम् । तस्मिन्नेव काले कर्मपावनत्वादिगुणशालिन्या ब्राह्मण्या रामने द्वे वर्षं  
 प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तादस्या एव श्रोत्रियभार्याया रामने श्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्म-  
 चर्यम् । यद्वा, श्रोत्रियपत्न्यां गुणवत्यां ब्राह्मण्या त्रैवर्षिकम् । तादृशिव्यायामेव  
 च त्रिपायां द्वैवर्षिकम् । तादस्यामेव वैश्यायां वार्षिकमिति व्यवस्था । एतस्म-

मानदृष्ट्या शूद्राया पाप्माभिरुक्तं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं कल्पनीयम् । अत एव शङ्केन  
 'वैश्यामर्षकीर्णं सवस्तरं ब्रह्मचर्यं त्रिवरणं चानुतिष्ठेत्, चत्रियायां द्वे वर्षे, त्रीणि  
 ब्राह्मण्या वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम्' इति वर्णक्रमेण ह्यसौ दर्शितः ।  
 एव चत्रियस्यापि चत्रियादिषु स्त्रोषु क्रमेण द्विर्वापिकैकवार्षिकैकपाप्मासिकानि  
 पूर्वोक्त एव विषये योजनीयानि । वैश्यस्य च वैश्याशूद्रयोर्वापिकपाप्मासिके ।  
 शूद्रस्य शूद्रा परभार्याया पाप्माभिरुक्तमेव । यथापस्तम्बीयम्—'सवर्णायामनन्ध-  
 पूर्वायां स्मृत्यसन्निपाते पाद् पतस्वेवमभ्यासे पाद्, पाद्अनुर्थे सर्वम्' इति,  
 सद्गीतमीधत्रिवार्षिकेण समानविषयम् । अन्वपूर्विकाया चतुरभ्यासे द्वादशवार्षि-  
 कप्रपञ्चितविधा ऋद्धेकरवासेऽत्र गमनाभ्यासे भेदः प्रायश्चित्तं, किंतु प्रणिगमन  
 पाद्पादभ्यून कल्प्यम् । एतत्सर्वं कामकारविषयम् । अकामतः पुनरेतदेवार्थं  
 बलुप्याः पूर्वोक्तविषये योजनीयम् । अनृतुकाले तु ज्ञानिमात्रब्राह्मण्यां कामतो  
 गमने मानव श्रैमासिकम् । आतिमात्रचत्रियादिस्त्रीषु पुनरस्मिन्नेव विषये तद्दी-  
 या येव द्वैमासिकत्वा द्वायणमासिकानि योजनीयानि । चत्रियादीनां च चत्रिया-  
 दिस्त्रीषु द्वैमासिकादीन्नेव । अकामतः पुनरेतासु चत्रियादिश्रैर्षिकानां याज्ञव-  
 ल्कीयमृपभैकावशागोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासं प्राजापत्यव्यकरणं च क्रमेण  
 द्रष्टव्यम् । शूद्रागमने तु कामतो विहितं मासवतमेवार्थं बलुप्या योजनीयम् ।  
 अत एव सवर्तं—'शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा । गोमूत्रयावका  
 हाररितष्टैर्त्वापमुक्तये ॥' इति । अकामतोऽर्धमासिकमित्यभिप्रेतम् । 'ब्राह्मणश्लेद  
 मेवापूर्वकं ब्राह्मणद्वारानभिगच्छेत्तन्निवृत्तधर्मकर्मणं कृच्छ्रोऽभिवृत्तधर्मकर्मणोऽति  
 कृच्छ्रं' इति तद्ब्राह्मणभौर्वायां शूद्रायां द्रष्टव्यम् । द्विजातिस्त्रीषु च विप्रोदासु  
 द्विस्त्रिभ्यभिचारितसु अद्युद्धिपूर्वगमने वा । तथा च सवर्तं—विप्रामस्वजनानां  
 गत्वा प्राजापत्य समाचरेत्' इति । कामतस्तु—'राज्ञीं प्रयजितां धार्त्रीं सापथीं  
 वर्णोत्तमामपि । कृच्छ्रद्वयं प्रकुर्वीत सगोत्रामभिगम्य च ॥' इति यमोक्तं कृच्छ्रद्वयं  
 द्रष्टव्यम् । चतुराद्यभ्यासे तु 'भ्यभिचारस्य स्वैरिण्यां वृषव्यामवकीर्णं सचैलजात  
 वदङ्गुभं दद्यात् ब्राह्मणाय, वैश्याया च चतुर्थकालाहारो ब्राह्मण-भोजयेद्यवभार  
 च गोमयो दद्यात्, चत्रियायां त्रिरात्रोपोषितो यवावकृत्त दद्यात् । ब्राह्मण्यां  
 त्रिरात्रोपोषितो वा दद्याद्भोजयेद्यवकीर्णं प्राजापत्यं चरेत् । 'अनुदायामवकीर्णं  
 पलाळभारं सीसमाणकं च दद्यात् इति शङ्खोक्तं वेदिसिध्यम् । चतुराद्यभ्यास  
 विषयस्य चास्य 'चतुर्थे स्वैरिणी शोका पञ्चमे बन्धकी मता इति  
 स्मृत्यन्तरादवगम्यते । अत्रैव विषये पटत्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'ब्राह्मणीं बन्धकीं

१. मवकीर्णी । २. द्विर्वापिकैकवार्षिकपाप्मासिकानि । ३. श्रैर्षिकानाम् ।  
 ४. तिष्ठेत्त्वापमुक्त इति । ५. भार्यायां द्रष्टव्यम् ।

गत्या विविद्वाद्द्विजातये । राज्ञ्यां चेदनुर्द्धवाद्द्वैर्यां गत्या तु चैलकम् ॥ शूद्रां  
 गत्या तु वै विप्र उदकुम्भं द्विजातये । दिवसोपोपितो वा स्वाहाद्याद्विप्राय भोज-  
 नम् ॥' इति ( अनुलोमव्याघाये गर्भे द्विगुणं, यदि सा क्षतिवृत्ता न प्रतिलो-  
 मगा भवति तदैव । अन्यजातिगमने द्वैगुण्यं, प्रतिलोमवृत्तासु अन्यथावसा-  
 यित्रीषु च चाण्डालीगर्भे यथा गुरुतत्परत्वं तथा किञ्चिन्मृतं तारतम्यं कल्प्यम् ।  
 चाण्डालीगमने पार्थिकम् । गर्भे गुरुतत्परत्वं तथैव ज्ञेयम् । ) इदं प्रायश्चित्तजातं  
 गर्भानुत्पत्तिविषयम् । तदुत्पत्तौ तु यद्विशेषेण यथाप्रायश्चित्तमुक्तं तदैव तत्र द्विगुणं  
 कृत्यात् ।—'गमने तु घृतं परस्वामिभ्यो तद्द्विगुणं चरेत्' इत्युपनिषत्स्मरणात् ।  
 शूद्रां गर्भमादधतश्चतुर्विंशतिमते विशेष उच्यते—'वृषह्यामभिजातस्तु-  
 धीनि वर्षाणि चतुर्थकालसमये भक्तं शुभ्रीत' इति । यत्तु मनुवचनम्  
 ( ३।१७ )—'शूद्रां जपनमाशेष्ये ब्राह्मणो परस्वामिभ्यः । अनपिषाः सुतं  
 तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥' इति,—तत्पापगौरवव्यपनपरम् । प्रातिलोम्य-  
 व्याघाये तु सर्वत्र गुरुत्वस्य वध एव—'प्रातिलोम्ये वधः पुंसो भार्याः कर्णा-  
 दिकर्तनम्' इति वचनात् ॥ यत्तु वृद्धवृत्तौ वचनम्—'शूद्रस्य ब्राह्मणीं  
 मोहाद्ब्रह्मणः हृदिमिच्छतः । पूर्णमेतद् घृतं देयं माता यस्माद्धि तस्य सा ॥ पा-  
 द्वाभ्याञ्जपवर्णासु गच्छतः सर्वपार्थिकम् ॥' इति । द्वादशवार्षिकातिदेवकं, तत्स-  
 भार्याभ्याम्वा गच्छतो वेदितव्यम् ; मादादिति विशेषणोपादानात् । यत्तु संवत्-  
 वचनम्—'कथञ्चिद् ब्राह्मणीं गच्छेत्पुत्रियो वैश्य एव वा । कृच्छ्रं सान्तपनं वा स्यात्प्रा-  
 यश्चित्तं विद्युद्वयम् ॥ शूद्रस्तु ब्राह्मणीं गच्छेत्कथञ्चिदकाममोहितः । गोमूत्रयावकाहारो  
 मासेनैकेन हृद्यति ॥' इति,—तदव्यक्तव्यमिच्छितब्राह्मणीविषयम् । अन्यजा-  
 तगमनेऽपि प्रायश्चित्तं गृह्यसंवर्तेनोक्तम्—'रजकस्याप्यशौचपनेषु चर्मावजीविनीः ।  
 एतारस्तु ब्राह्मणो गत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । इदं ब्राह्मणस्य कामतः  
 सवृद्धमनविषयम्, पत्रिवादीनां तु पादपादहीनं कल्प्यम् । अत्रैवापस्तम्बे-  
 नोक्तम्—'श्लेष्ठी नदी चर्मकारी रजको बुरेदी तथा । एतारस्तु गमने कृत्वा  
 चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । अन्यजात्र तेनैव दर्शिताः—'रजकधर्मकारश्च  
 नटो बुरेद एव च । कैवर्तमेदमिच्छाश्च ससैते अन्यजाः स्मृताः ॥' इति । ये तु  
 चाण्डालादयोऽन्यथावसायिनस्तस्मिन्गमने गुरुतरं प्रायश्चित्तं गुरुतत्परप्रकरणे दर्श-  
 यम् । एतासां चान्यजत्रीणां मध्ये यदेकस्यां व्यघाये प्रायश्चित्तमभिहितं तत्सर्वासु  
 भवति; सर्वासां सदृशत्वात् । यथाहोशनाः—'बहुवामेकधर्माणामेकस्यापि  
 यदुच्यते । सर्वेषां तद्भवेत्कार्यमेकरूपा हि ते स्मृताः ॥' इति । अकामतरस्तु  
 गमने—'चाण्डालमेदश्चपचकपालघृतचारिणाम् । अकामतः स्त्रियो गत्वा पराक-

अतमाचरेत् ॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यच्च सर्वत्र वचनम्—'रत्नरुपाय शीघ्र-  
 वेणुचर्मोपजीविनाम् । धियो विप्रो यदा गच्छेत्कृच्छ्रं चाग्नायणं चरेत् ॥' इति,—  
 तदप्यकामविषयम् । यत्तु क्षातातपेनोक्तम्—'कैवर्ता रजकीं चैत्रं वेणुचर्मोपजी-  
 विनीम् । प्राजापत्यविधानेन कृच्छ्रेणैकेन शुद्धयति ॥' इति,—तद्वैतं सेकाध्याह्नितृप्ति-  
 विषयम् । यत्तु शान्तोक्तम्—'कापालिकाशमोक्षणां तक्षारीयामिनां तथा । शाना-  
 कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादेन्द्वैवद्वयम् ॥' इति,—तदप्यसविषयम् । यदा तु चाग्ना-  
 यणादिषु गच्छतो गर्भो भवति, तदा 'चाग्नाहया गर्भमारोप्य गुरुरनप्यमत चरेत्'  
 इत्युक्तं सोक्तं द्वादशवारिकं द्रष्टव्यम् । यत्तु—'अग्नयज्ञार्थां प्रसूनरय निःश्रुतिर्गं  
 विधीयते । निर्वासनं कृताङ्कस्य सस्य कार्यमसजयम् ॥' इत्यापस्तम्बवचनं,  
 सरकामकारविषयम् । स्त्रीणामपि सर्वज्ञानुलोमव्यवाये चत्पुरुषस्योक्तं श्रैत्र्यविक्रादि-  
 तवैव भवति । 'वस्तुस परदारेषु तच्छैर्नां चारयेद् वनम् ॥' ( १११७९ )—  
 इति मनुस्मृत्याम् । प्रातिलोम्यन व्यवाये एव परचापुसयो प्रायश्चित्तभेदः ।  
 यथाह बलिष्ठ ( २११२, ३ )—'शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेत्क्षेत्रेणैवेष्टयित्वा दान्ममप्रौ  
 प्रास्येत्, ब्राह्मण्या शिरसि वपनकारविरजा सर्पिणाऽभ्यस्य ममोत्तरमारोप्य महा-  
 पथमनुप्राजयेत्पूता भवतीति शिक्षायते' इति । तथा 'वैश्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेत्क्षेत्रे-  
 हितर्भैवेष्टयित्वा वैश्यमप्रौ प्रास्येत् ब्राह्मण्या शिरसि वपनकारविरजा सर्पिणा-  
 ऽभ्यस्य ममोत्तरमारोप्य महापथमनुप्राजयेत्पूता भवतीति शिक्षायते' इति ।  
 तथा 'राज्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेत्क्षेत्रेणैवेष्टयित्वा राज्यमप्रौ प्रास्येत् ब्राह्मण्या  
 शिरसि वपनकारविरजा सर्पिणाऽभ्यस्य ममोत्तरमारोप्य महापथमनुप्राजये-  
 त्पूता भवतीति शिक्षायते' इति । एव चैरयो राज्यं दान्मम राज-यावैश्ययो रिति ।  
 पूता भवतीति वचनाद्ब्राह्मणीविपरिवाजनमेव दृष्टरूपं प्रायश्चित्तान्तरनिरपक्ष  
 शुद्धिसाधनमिति दर्शयति ।

ब्राह्मण्या प्रातिलोम्येन द्विजातिव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तं सर्वत्र—  
 'ब्राह्मण्यकामा गच्छेत्क्षेत्रेणैवेष्टयित्वा वैश्यमेव वा । गोमूत्रवापकैर्मासात्तर्धाश्च विष्टु-  
 श्ययति ॥' इति । कामतरतु तद्विगुण कर्तव्यम् । 'कामात्तद्विगुणं मवेत्' इति वच-  
 नात् । षट्त्रिंशन्मतेऽपि ब्राह्मणी श्रित्यवैश्यसेवायामतिशुद्धं कृच्छ्रातिशुद्धी  
 चरेत् । श्रित्ययोपितां ब्राह्मणराज्यवैश्यमेवाप्यौ कृच्छ्राद्यं प्राजापत्यमतिशुद्धम् ।  
 वैश्ययोपितां ब्राह्मणराज्यवैश्यमेवाप्यौ कृच्छ्रापाद कृच्छ्राद्यं मानापवम् ।  
 दान्ममः शूद्रसेवने प्राजापत्यम् । ब्राह्मणराज्यवैश्यमेवाप्यौ स्वश्रोत्रप्रतिरात्र  
 कृच्छ्राद्यं इति । शूद्रसेवायां तु विशेषो वृहत्स्येतेत्याह—'विद्या दान्ममेव सपूना न  
 चेतत्तमारप्रसूयते । प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्यां कृच्छ्रं चाग्नायणत्रयम् ॥' एतद्विद्वन्वर्षा  
 रथप्रतिभ्यामप्य वा चेद्विगतव्यम् । 'चाग्नायणे द्वे कृच्छ्राश्च विधाया वैश्यमेवने ।

वृष्ट्यान्द्रायणे स्यातां तस्माः सत्रियसंगमे ॥ सत्रिया शूद्रसंपर्के कृष्टं चान्द्राय-  
 णद्वयम् । चान्द्रायणं सकृच्छ्रं तु चरेद्द्वैरयेन संगता ॥ शूद्रं गत्वा चरेद्द्वैरया वृष्टं  
 चान्द्रायणोत्तरम् । आनुलोम्ये प्रकुर्वीत कृष्टं पादावरोपितम् ॥ इति । प्रजाता-  
 यास्तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—‘विप्रगर्भे पराकः स्यात्सत्रियस्य तथैन्दवम् ।  
 ऐन्दवश्च पराकश्च नैश्यस्याकामकारतः ॥ शूद्रगर्भे भवेत्यागत्याण्डालो जायते  
 यतः । गर्भेऽयाये चातुदोषैश्चरेचान्द्रायणप्रथमम् ॥’ इति । ‘अकामकारतः’ इति  
 विशेषणोपादानात् कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात् । यदा त्वनिःसृतग-  
 र्भेण द्वादशमासं स्थित्वा प्रजायते तदा प्रायश्चित्ताभावः । ‘प्राह्मणसत्रियविशां भार्याः  
 शूद्रेण संगताः । अग्रजाता विशुद्धयन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥’ इति वसिष्ठस्म-  
 रणात् । यदा स्वाहितगर्भेण पश्चाच्छूद्रादिभिर्न्यमिचरति तदा गर्भपातदण्ड्या  
 प्रसन्नोत्तरकालमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् ; ‘अन्तर्वेत्नी तु या नारी समेताकस्य  
 कामिना । प्रायश्चित्तं न कुर्यात्सा चावद्गर्भो न निःसृतः ॥ जाते गर्भे मत्तं पश्चा-  
 त्कुर्यान्मासं तु पावकम् । न गर्भदोषस्तस्यास्ति संस्कार्यं स यथाविधि ॥’  
 इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यदा स्वौद्धस्यात्प्रायश्चित्तं न कुर्वन्ति, तदा नार्याः  
 कर्णाधिकतनमिति द्रष्टव्यम् । अन्वयजादिगमनेऽपि स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तं  
 दत्तितम्—‘रजकस्याश्चैल्लघवेणुचर्मोपजीविनः । द्वादशप्येतान्यदा गच्छेदेकामा-  
 वैन्दवप्रथमम् ॥’ इति । तथा चाण्डालाश्चाप्यन्याश्चासौमिगमनेऽपि—‘चाण्डालं  
 पुत्रकर्मं श्लेष्यं शपाकं पतितं तथा । प्राह्मण्यकामतो गत्वा चान्द्रायणचतुष्ट-  
 यम् ॥’ इति ‘अकामत’ इति वचनाकामतो द्विगुणं कल्प्यम् । तथा—‘चाण्डाल-  
 लेन तु संपर्के यदि गच्छेत्कर्मचन । सश्लेषं वचनं कुर्यात्पुत्रीयाद्यावकीदनम् ॥  
 शिराप्रमुपवामः स्यादेकरात्रं जले वसेत् । आत्मना संमिते कूपे गोमयोदकक-  
 र्दमे ॥ तत्र स्थित्वा निवाहारा सा शिरात्रं ततः क्षिपेत् । शङ्खपुष्पीलता मूले पत्रं  
 वा कुसुमं फलम् । शिरं सुवर्णसंमिश्रं क्षापयित्वा ततः क्षिपेत् ॥ एकभक्तं चरेत्पश्चा-  
 द्वापरपुष्पवती भवेत् । बहिस्तावच्च निवसेद् यावच्चरति तद्यतम् ॥ प्रायश्चित्ते  
 ततश्चीर्णे कुर्याद् द्वादशभोजनम् । गोद्वयं दक्षिणां दद्यात्पुष्टये स्वायंभुवोऽग्रवीत् ॥’  
 इति ।—एतदप्यकामविषयमेव ; ‘यदि गच्छेत्कर्मचन’ इति वचनात् । श्रुत्य-  
 शूद्रेणाप्यन्यस्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम्—‘संपृक्ता स्यादपान्थैर्वा सा  
 वृष्ट्या कृष्टं समाचरेत्’ इति ।—कामतः सकृद्रूपेण द्दम् । यदा स्वाहितगर्भाया  
 एव पश्चाच्छूद्रादिभ्यवापरतदा तेनैव विशेष उक्तः—‘अन्तर्वेत्नी तु युवतिः  
 संपृक्ता चान्द्रायणोनिना । प्रायश्चित्तं न सा कुर्यात्चावद्गर्भो न निःसृतः ॥ न  
 प्रचारं गृहे कुर्यात् चाष्टेषु प्रसाधनम् । न शयीत ममं मर्त्रां न वा भुञ्जीत

यान्धवे ॥ प्रायश्चित्तं गते गर्भे विधिं कृच्छ्रान्दिकं चरेत् । हिरण्यमथवा धेनुं  
दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । यदा तु कामतोऽव्यक्तसर्पकं करोति तदा—  
'अभ्यजेन ॥ सर्पकं भोजने मैथुने कृते । प्रविशेत्सप्रदोप्तेऽग्नीं सृष्ट्युना सा विष्टु-  
द्वयति ॥' इत्युशनसोक्तं द्रष्टव्यम् । यदा तूक्तं प्रायश्चित्तं न करोति तदा  
पुलिन्नेनाङ्गनीया, चक्ष्या वा भवेत् । 'हीनवर्णोपगुच्छा या साऽङ्गवा वष्याऽथवा  
भवेत्' इति पराशरस्मरणात् । इति पारदार्याप्रकरणम् । तथा परिव्रित्तिप्राय-  
श्चित्तानामपि परिव्रित्तप्रायश्चित्तवद्वयवस्था विज्ञेया । हर्षास्तु विशेष—'परिवेत्तु  
पश्चिमन्विपये कृच्छ्रान्तिकृच्छ्रौ तत्र परिव्रित्ते प्राशापर्यमिति । परिव्रित्तिं कृच्छ्र-  
द्वावशारात्र चरिषा पुननिविशेत् ता चैवोपयच्छेत्' इति वसिष्ठस्मरणात् । इति  
परिव्रित्तिप्रकरणम् । वार्युष्यलक्षणकवयोस्तु मनुष्योगीश्वरोक्तसामान्योपपा-  
तकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योग्यानि ॥ २६५ ॥

भाष्या—उपपातकों की भी शुद्धि इसी प्रकार ( गोवध के प्रायश्चित्त से )  
अथवा चाग्नायन क्षत से या एक मास तक केवल दूध पीकर रहने या पराक  
क्षत करने से होती है ॥ २६५ ॥

लक्षणकथानन्तर 'स्त्रीशूद्रविट्पन्नवध' ( भा० १३६ ) इत्युपपातकमध्ये  
पठितं तत्र प्रायश्चित्तान्तरमप्याह—

श्रूयभैकसहस्रा गा दद्यात्सन्नवधे पुमान् ।

ब्रह्महत्यामृतं चापि यत्सरन्नितयं चरेत् ॥ २६६ ॥

वैश्यहाभ्यं चरेदेतद्दद्याद्भैकशतं गयाम् ।

पद्मासाच्छूद्रहाप्येतत्सेनूर्वाद् दशाधवा ॥ २६७ ॥

एकमधिक परिमंसहस्रे तदेकसहस्रं, तस्य पूरण एकसहस्रं, श्रूयभैक-  
सहस्रो यासां गवां ता श्रूयभैकसहस्रास्ता पन्नवधे दद्यात् । अथवा बृहस्प-  
यश्चित्तं ब्रह्महत्यामृतं वर्षत्रयं कुर्यात् । वैश्यघाती पुनरेतत् ब्रह्महत्यामृतमेकवर्षं  
चरेत् । गवामृयभैकशतं वा दद्यात् । शूद्रघाती तु ब्रह्महत्यामृतं षण्मासं चरेत् ।  
पद्मा दशधेनूश्चिरप्रसूताः सवस्था दद्यात् । इदमकामतो जातिमात्रचरित्रादि  
वधविषयम्, 'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य' ( मनु ११।१२७ ) इति  
प्रकृत्यैतेषामेव प्रायश्चित्तानां मानवेऽभिधानात् । दानतपसोश्च शकारपेक्षया अ-  
वस्था । ईषद्भूत्तस्थयोस्तु विट्शूद्रयोः—'तुरीयो ब्रह्महावावा चरित्रस्य वधे  
स्युः । वैश्येऽष्टमांशो धृत्तस्ये शूद्रे ज्ञेयस्तु योऽन्यः ॥' ( ११।१२६ ) इति  
मनूक्तं द्रष्टव्यम् । धृत्तस्ये चरित्रे तु सार्धंचतुर्वार्षिकं कल्प्यम् । 'वृत्त'शब्देन  
चात्र गुणादिकमुच्यते । 'गुरु'जा घृणा शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः । प्रवर्तनं

दितानो च तस्यै वृत्तमुच्यते ॥' इति मनुस्मरणात् । यत्तु वृद्धहारीतवचनम्—  
 'ब्राह्मणं च त्रियं हत्वा षड्वर्षाणि व्रतं चरेत् । वैश्यं हत्वा चरेदेवं व्रतं त्रिवार्षिकं  
 द्विजा' ॥ शूद्रं हत्वा चोद्धरणं षष्ट्यभैकादशाश्च गा ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् ।  
 श्रोत्रियचतुर्विधविषये तु—'तुरीयोऽत्र च त्रियस्य वधे ब्रह्महणि व्रतम् । अर्धं वैश्य-  
 वधे कुर्यात्तुरीयं षष्ट्यस्य तु ॥' इति वृद्धहारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठ-  
 चरम्—'ब्राह्मणो राज्ञ्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेत् . षड् वैश्यं, त्रिणि शूद्रम्'  
 इति,—तदपि हारीतीयेन समाप्तविषयम् । चतुर्विधे स्वीयद्विगुणान्मून हृद्येतावान्  
 विधेयः । यदा तु श्रोत्रियो वृत्तस्यञ्च भवति तदा—'पूर्वोर्ध्वर्णयोर्वैद्याप्यामिन  
 हत्वा' ( ध० १।१४।९ ) इत्यापस्तम्बोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम् । प्राश्निके वागो  
 र्वश्रोत्रियं च त्रिधादौ व्यापादिते 'वागस्य चतुर्विध्यानी चरेद् ब्रह्महणि व्रतम्'  
 इति द्रष्टव्यम् । श्रोत्रिये पुनर्यागस्ये च त्रिधादौ 'ब्राह्मणस्य राज्ञ्यवधे  
 षड्वार्षिकं प्राहृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गा दद्यात् , वैश्यवधे त्रिवार्षि-  
 कमृषभैकशताश्च गा दद्यात् , शूद्रवधे सावसतिरिक्कमृषभैकादशाश्च गा दद्यात्'  
 ( २।१४-१६ ) इति गौतमोक्तो दानतपसो समुच्चयो द्रष्टव्यः । एतच्चामति-  
 पूर्वविषयम् । 'पूर्ववदनतिपूर्वं चतुर्षु षणेषु प्रमा'य द्वादश षट् त्रीन् सवसतिर च  
 प्रमा-पादितोत् , तेषामन्ते मोसहस्रं च तप्तोऽर्घ्यं तस्यार्धमर्धं च दद्यात् , सर्वेषामा-  
 नुपूर्व्येण' इति स्मरणात् । इदं च द्वादशवार्षिकं गौतमीयविषयमेव, किञ्चिन्मूनगु-  
 षो च त्रिये गुणाधिकचोर्वैश्यशूद्रयोश्च द्रष्टव्यम् । 'अथैतद्विद्वत्तत्रयं' इत्युपपात-  
 क्तस्ये विशेषत एव पठितवेनोऽसर्गापवादस्यापगोचरत्वाद्बुधपातकमात्रान्यप्राहा-  
 न्यपि प्रायश्चित्तान्यत्र योजनीयानि । तत्र दुर्बुत्तत्रिधादौ कामतो व्यापादिते  
 मानव त्रैमासिक द्वैमासिक चान्द्रायण च वर्णक्रमेण योज्यम् । अकामतस्तु योगी-  
 श्वरोक्तं त्रिशाशोपवाससहितमृषभैकादशगोदानं मासं षड्गन्ध्याशनं मासिकं च  
 पयोव्रतं यथाक्रमेण योज्यम् । एतच्च प्रागुक्तं व्रतत्रयं याज्ञवल्क्ये च त्रिधादिवधे  
 द्रष्टव्यम् ।—'अकामतस्तु राज्ञ्यं विनिवार्य द्विजोत्तम । तथा ब्राह्मणराज्ञ्यवधे  
 षड्वार्षिकं तथा ॥ ब्राह्मणं च त्रियं हत्वा' ( १।१।२० ) इत्यादिषु मनुगीतम  
 हारीतवसिष्ठवाक्येषु 'ब्राह्मणं ब्रह्मणात् । च त्रिधादिवधे तु च त्रिधादिवधे पादन्मून  
 द्रष्टव्यम् , 'विभ्रे तु सकलं देयं पादोऽत्र च त्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धमेकपादस्तु  
 शूद्रजातिषु सत्यते ॥' इति वृद्धविष्णुस्मरणात् । 'यत्तु पर्यया ब्राह्मणानां  
 ॥ सा राज्ञा द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्यहृच्च व्रतं स्मृतम् ॥'  
 इत्यद्विरोधचन तत्प्रातिलोभ्येन चाध्वष्टवारुण्यविषयमित्युक्तं गोवधप्रकरणे ।  
 मूर्धावसिकादीनां वधे एतत्प्रायश्चित्तं न भवति, तेषां च त्रिधादिवधेऽप्यप्युक्तं ।

अतो दण्डानुसारेणैव तद्वधे पूर्वोक्तव्रतकदम्बस्य वृद्धिहासौ कल्पनीया । दण्डस्य च वृद्धिहासौ दर्शितौ—'दण्डप्रणयन कार्यं वर्णान्तरयुत्तराधरैः' ( ५० २०६ ) इत्यत्र ॥ २६६—२६७ ॥

भाषा—अत्रिय का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता पुरुष एक सौद ( शौद बल्लुवा ) के साथ एक हजार गौओं का दान करे अथवा ब्रह्महत्याप्रत तीन वर्षों तक करे । वैश्य का वध करने वाला एक वर्ष तक ब्रह्महत्याप्रत करे अथवा एक सौद के साथ एक सौ गौओं का दान करे । शूद्र का वध करने वाला छै मास तक ब्रह्महत्याप्रत करे अथवा एक सौद के साथ नई उपाधी दस सवसा गौओं का दान करे ॥ २६६—२६७ ॥

इति अत्रियादिवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

स्त्रीवधे प्रायश्चित्तमाह—

दुष्टुत्तब्रह्मविटक्षत्रशूद्रयोषा प्रमाप्य तु ।  
इति धनुर्वस्तमधि क्रमाद्वाहिशुद्धये ॥ २६८ ॥

ब्राह्मणादिभार्यां दुष्टुता श्वैरिणी प्रमाप्य क्रमेण इति जलाधार चर्मकोश, धनु कार्मुक, वस्त छाग, अग्नि मेप च, विशुद्धये दद्यात् । इद च प्रातिलोभ्येनाभयजातिप्रसूतानां ब्राह्मण्यादीनामकामतो वधविषयम् । कामतस्तु ब्रह्मगर्भ आह—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विपट् ॥' इति । ब्राह्मण्यादिवधे एवमासा अत्रियाद्याश्वायारो वैश्याया द्वाविधेव यथाहृतयान्धव । यदा तु वैश्यकर्मणा जीवन्ती, श्यापादयति तदा किञ्चिदेवम् । 'वैशिकेण किञ्चित्' ( २२।२७ ) इति शौतमस्मरणात् । वैशिकेन वैश्यकर्मणा जीवन्ती श्यापादितायां किञ्चिदेव देय तच्च जलम् । 'कोश शू-पेऽथ विप्रे या ब्राह्मण्या प्रतिपादतेत् । वधे धेनु अत्रियाया वस्तो वैश्यावधे स्मृत ॥ शद्रापामाविक वैश्या हत्वा दद्याज्जल नर ॥' इत्यङ्गिरस्मरणात् । यदा पुन अत्रियादिभि प्रातिलोभ्येन श्यमिचरिता ब्राह्मण्याया श्यापाद्यन्ते तदा गो-वधप्रायश्चित्तानि यथाहं बो-यानि ॥ २६८ ॥

भाषा—ब्राह्मण, अत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को श्यमिचरिणी स्त्री का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता यथाक्रम ( वर्णानुक्रम ) से जल भरने वाला घमदे का मशक, धनुप, बकरा तथा भेड़ का दान करे ॥ २६८ ॥



हंसरयेनकपिकव्याजलस्यलशिष्यण्डिनः ।

भासं च हत्वा दद्याद् गामकव्यादस्तु वत्सिकाम् ॥२७२॥

किंच, ऋष्यमपकं मांसमपीति ऋष्याद् व्याघ्रस्यगालादिर्मृगविशेषः पानर-  
साहचर्यात्, तथा हंसरयेनसमभिव्याहारात् कष्टगृघ्रादिः पशुविशेषश्च गृह्यते;  
'जल'शब्देन जलचरा वक्रादयो गृह्यन्ते; 'स्थल'शब्देन स्थलचरा घंटाकादयः,  
शिलण्डी मयूरः; भासः पशुविशेषा, घोषाः प्रसिद्धाः, एषां प्रत्येकं वधे गामेकां  
दद्यात् । अक्रष्यादस्तु हरिणादिमृगान् खञ्जरीटादिपशुविशेषानहत्वा वत्सतरीं  
दद्यात् । तथा च मनुः ( ११।१३५-१३७ )—'हत्वा हंसं घंटाकां च एकं  
वर्द्धिणमेव च । पानरं रयेनमासौ च स्वर्शवेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ ऋष्यादस्तु  
मृगानहत्वा घेर्हुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रष्यादो वत्सतरीमुर्द्धं हत्वा तु कृष्ण-  
लम् ॥' इति ॥ २७२ ॥

भाषा—हंस, बाज, चन्द्र एषं मांसमोजी—व्याघ्र, श्यार आदि तथा कंक,  
गृध्र, आदि एषं जल-चर पशुला तथा स्थलचर (घंटाका आदि), मयूर, भास आदि  
पशु-पक्षी के वध हो जाने पर एक गौ का दान करे । और मांस नहीं लाने वाले  
हरिण आदि तथा खंजरीट आदि पशुओं के वध हो जाने पर एक बछिया का  
दान करे ॥ २७१ ॥

उरगेष्वायसो पण्डः पण्डके त्रपु सीसकम् ।

कोले घृतघटी देय उष्ट्रे गुञ्जा ह्येऽशुकम् ॥ २७३ ॥

किंच, सरीसृपेषु व्यापादितेषु लबोमयो पण्डस्तीक्ष्णमात्रो देयः । पण्डके  
नरुंसके व्यापादिते त्रपु सीसकं च मापपरिमितं दद्यात्, पलाळमारं वा ।  
'पण्डकं हत्वा पलाळमारं त्रपु सीसकं वा दद्यात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् ।  
यद्यपि 'पण्डको लिङ्गहीनः स्वारसंस्कारार्हश्च नैव सः' इति देशलवचनेन सामा-  
न्येनैव स्त्रीपुंलिङ्गरहितो निर्दिष्टस्तथापि न गोब्राह्मणरूपस्यैव विवक्षितः; गोब्राह्मण-  
वधनिषेधस्य जगद्यज्ञक्षेत्रेण प्रवृत्तेः, लिङ्गविरहिणि च पण्डे जातिसमवायाविशे-  
षात्प्रमित्तमेव लघुपायश्चित्तमुक्तम् । तस्मान्मृगपशिण एव विवक्षिताः । गृग-  
पशिसमभिव्याहाराच्च कोले सूकरे व्यापादिते घृतकुम्भो देयः । उष्ट्रे गुञ्जा  
देया । वाजिनि विनिपातितेऽशुकं वस्त्रं देयम् । तथा च मनुः ( ११।१३ )—  
'अग्निं कर्णाण्यसौ दद्यात्स्वर्पं हत्वा द्विजात्तमः । पलाळमारकं पण्डे सैसकं चैव  
मापकम् ॥' इति ॥ २७३ ॥

भाषा—सौंप मारने पर सुकीली छोटे की छड़ी, पण्डक (नरुंसक पशु-पक्षी)  
को मारने पर पीतल और सोता, सूकर मारने पर एक घड़ा घी, ऊँट मारने  
पर गुञ्जा और घोड़ा मारने पर बख का दान देना चाहिए ॥ २७३ ॥

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं गजादीनामशफनुवन् ।

दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैवस्य विशुद्धये ॥ २७४ ॥

किंच, तित्तिरौ पतत्रिणि व्यापादिते तिलद्रोणं दद्यात् । 'द्रोण'शब्दश्च परिमाणविशेषवचनः । 'अष्टमुष्टि मवैकिंचिरिकचिदष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आठकः परिकीर्तितः ॥ चतुरादको भवेद् द्रोण इत्येतन्मानलक्षणम् ॥' इति स्मरणात् ॥ पूर्वोक्तानां गजादीनां व्यापादने निर्धनत्वेन नीलवृषपञ्चक्रादि-दानं कर्तुमशफनुवन् प्रत्येकं कृच्छ्रं चरेद्विशुद्धयर्थम् । 'कृच्छ्र'शब्दश्चात्र लक्षणया क्लेशसाध्ये तपोमात्रे ऋष्यस्य । तपोमि च गौनमेव दर्शितानि ( १९।१७-१९ )—'संवासरः षण्मासाश्चत्वारस्तयो द्वापेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडह-स्यहोऽष्टोरात्र इति कालः । एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्मेनसि गुरुणि गुरुणि लघुनि लघुनि' इति । यदि 'कृच्छ्र'शब्देन मुद्रयोऽर्थो गृह्यते, तर्हि गजे शुकं वा विशेषेण प्राजापत्य एव रवात् । नच तद्युक्तम्, तपोमात्रपरत्ये तु दान-गुरलघुभावाकलमया तपोसोऽपि गुरलघुभावो युज्यते । तत्र गजे द्विमासिक पाषकाशनं शुके तूपवास इति । एवमभ्यग्रावि दानानुसारेण प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ॥ २७४ ॥

भाषा—तित्तिर पत्नी को मारने पर एक द्रोण तिल का दान करे हाथी का बंध करने पर पाँच नीलवृषों का दान न कर सकने पर शुक के लिए एक कृच्छ्र मत करे ॥ २७४ ॥

विंशद्—

फलपुष्पाघ्नरसजसश्चघाते घृताशनम् ।

उदुम्बराक्षी कले मधूकाक्षी च कुसुमे चिरस्थितमक्कासकवाद्याने च रसे गुडाक्षी च यानि सत्रानि प्राणिनो जायन्ते तेषां घाते घृतप्राशनं शुद्धि-साधनम् । इत्थं च घृतप्राशनं भोजनकार्ये एव विधीयते, प्रायश्चित्तानां तपोरूपात्वात् । दर्शितं च तपोरूपत्वमाद्भिरसे 'प्रायश्चित्त'पदनिर्घणनध्यायेन—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयस्तुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥' इति ॥

प्रतिप्राणिप्रायश्चित्तपरिधानस्यात् घृताकोटेनापि चतुस्रशक्यत्वात्सामान्येन प्राय-श्चित्तमाह—

किंचित्साश्चिद्यद्ये देयं प्राणायामस्त्वनश्चिके ॥ २७५ ॥

अरियमतां कृच्छ्रात्साश्चिद्विनिर्घणनध्यायेन सामान्यत्वात् प्राणायामः । तत्र किंचिदिनि यद्वा हिरण्यं दीयते तदा पणमात्रम् । 'अरियमतां वधे पणो देयः' इति सुमग्न-

स्मरणात् । यदा तु धान्यं देयं तदाऽष्टमुष्टि देयम् ; 'अष्टमुष्टि भवेत्किञ्चित्' इति स्मरणात् ।—एतच्चानुक्तनिष्कृतिप्राणिवधविषयम् । यत्र तु प्रायश्चित्तविशेषः श्रूयते, तत्र स एव भवति; यथाह पराशरः—'हंससारसचक्राह्वक्रीश्चतुर्वकुटघातकः । मयूरमेधौ हत्वा च एकभक्तेन शुद्धयति ॥ मद्गुं च टिट्ठिभं चैव शुक्रं पारायतं तथा । आदिकां च चक्रं हत्वा शुद्धयेद्द्वै नक्तभोजनात् ॥ चापकाक-कपोतानां सारीतित्तिरघातकः । अन्तर्जले उभे संप्ये प्राणावामेन शुद्धयति ॥ पृथग्शयेनविहङ्गानामुलूकस्य च घातकः । अपक्वाणी त्रिनं तिष्ठेद् द्वौ काली माह-तादानः ॥ हत्वा मृषिकनागार्जरसर्पाजगरङ्गुहमान् । प्रस्येकं भोजयेद्विप्रांश्लोह-दण्डश्च दक्षिणा ॥ सेषाकच्छपगोघानां शैशावल्पकघातकः । घृन्ताकफलगुञ्जारी अहोरात्रेण शुद्धयति ॥ मृगरोहिबराहाणामविकावस्तघातने । घृकजम्बूकशृङ्गाणां सरसूणां च घातकः ॥ तिलप्रस्यं स्वसौ हत्वाह्यायुमघो दिनत्रयम् । गजमेपतुर-ज्जोष्ट्रगवधानां निपातने ॥ प्रायश्चित्तमहोरात्रं त्रिसंध्यं चानगाहनम् । एतवा-नरसिंहानां चित्रकम्पाप्रघातकः ॥ शुद्धिमेति त्रिरात्रेण प्राकृणानां च भोजनैः ॥' इति ॥ एवमन्येषामपि स्मृतिवचसां देशकालाद्यपेक्षया विषयव्यवस्था कल्प-नीया ॥ २७५ ॥

भाषा—कल, कूल, अन्न और रस में पके हुए ( उत्पन्न हुए ) शुद्ध जीवों को मारने पर भी जाकर शुद्ध होवे । अस्थिवाले जीवों का ( एक हजार से कम संख्या में ) पच करने पर कुछ धान्य, सोना आदि का दान देना आदि, दिना अस्थिवाले जीवों को मारने पर एक प्राणायाम करे ॥ २७५ ॥

इति हिंसाप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

'हृन्धनार्थं द्रुमच्छेद' ( प्रा० २४० ) इत्युपपातकोद्देशे पठितं, हिंसाप्र-सङ्गलोभेन तद्द्रव्यकमपठितमप्यवकृष्य तत्र प्रायश्चित्तमाह—

घृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृकशतम् ।

स्यादोषधिवृथाच्छेदे क्षीराशी गोऽनुगो दिनम् ॥ २७६ ॥

फलदानां आम्रपनसादीनां च वृक्षाणां शुक्रमादीनां च यज्ञाद्यदार्थं विना छेदने ऋचां गायत्र्यादीनां शतं जप्यम् । श्येषघोनां ॥ प्रायश्चित्तानां वृषैव छेदने दिनं कृत्स्नमहर्गर्वा परिचयमिनुगम्यान्ते क्षीरं पिबेदाहारान्तर-परिष्वागेन । पञ्चपश्यां तु न दोषः । एतच्च फलादिद्वारेणोपयोतिषु द्रष्टव्यम् । (मनुः १११४२)—'फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृकशतम् । शुक्रमवल्ली-

१. कृसर भोजयेत् । २. शशावल्क । ३. वृक्षगुल्मलतानां ॥  
च्छेदने ।

लतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥' इति मनुस्मरणात् । दृष्टार्थैरेवमपि कर्पणा-  
ङ्गमूतद्वलाद्यर्थेष्वेव न दोषः । 'फलपुष्पोपगन्पादवाच हिंस्यारकर्षणकरणार्थं चोपह-  
न्यात्' इति वसिष्ठस्मरणात् । यत्र तु स्थानविशेषाद्गण्डाधिक्यं तत्र प्रायश्चित्ता-  
धिक्यमपि कल्पनीयम् । तदुच्यते—'चैत्यरमज्ञानमीमासु पुण्यस्थाने मुरालये ।  
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृद्धेऽथ विभ्रुते ॥' इति ।—अथ च शकशतत्रयो  
द्विजातिविषयः, न पुनः शूद्रादिविषयः; तेषां जपेऽनधिकारात् । भतस्तेषां  
दण्डानुसारेण द्विरात्रादिकं कल्पनीयम् । उपवातकमध्ये विदोषनः पाठस्थानार्थ-  
क्यपरिहारार्थमुपवातकसाधारणप्रायश्चित्तमप्यत्र भवति । तच्च गुह्यवाङ्म्यास-  
विषयं कल्प्यम् ॥ २०६ ॥

भाषा—( विना यज्ञ कार्यं के ) वृष, गुह्य, लता और विरवा काटने पर  
यापत्री आदि शक्या का सौ बार जप करे । ओषधियों ( वनरपत्तियों )  
को निम्नयोजन काटने पर दिन भर दूध पीकर रहे और याप की सेवा  
करे ॥ २०६ ॥

पुंश्चलीघानरादिष्वप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्तद्वदंशानिमित्तं प्रायश्चित्तमाह—

पुंश्चलीघानरखरैर्दंष्ट्रैश्चोष्ट्रादिवायसैः ।

प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुष्यति ॥ २०७ ॥

पुंश्चलीघावः प्रसिद्धाः, एतैर्दंष्ट्रैः पुमान्स्तर्जके प्राणायामं कृत्वा घृतं  
प्राश्य विशुष्यति । 'आदि'प्रहणाप्लगाकादीनां प्रहणम् । यथाह मनुः (१११-  
१९९)—'श्वसृगालखरैर्दंष्ट्रो प्राण्यैः कृशाङ्गिरेव च । नराथोष्ट्रवराहैश्च प्राणा-  
यामेन शूष्यति ॥' इति । अथ च घृतप्राणो भोजनप्रत्यास्रावो द्रष्टव्याः प्रायश्चि-  
त्तानां तपोरूपत्वेन शरीरसंतापनार्थत्वात् ।—एतदशकविषयम् । 'श्वसृगालमृगम-  
हिपाजादिकरकरभतकुलमार्जारैर्मूषकप्लवककाकपुष्टपद्मानामापोहिष्टेऽवादिभिः  
स्नानं प्राणायामप्रथं च ॥' इति एव मुमन्तुवचनं, तस्माभेरप्यप्रदेश इंपदविषय-  
यम् । यत्रोक्तिरोक्तनम्—'महावारी शुना दष्टस्यहं स्याथं विशेषयः । गुह्यस्थेद्  
द्विरात्रं ॥ एकहं योऽग्निहोत्रवान् ॥ नामेरुष्यं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।  
रपादेतस्त्रिगुणं वक्त्रे मस्तके तु चतुर्गुणम् ॥' इति,—तत्सम्यग्दष्टविषयम् । अत्रि-  
वैश्ययोस्तु पादपादन्यूनं कल्पनीयम् । शूद्रस्य तु—'शूद्राणां चोपवासेन दृदि-  
दानेन वा पुनः । गो वा दद्याद् घृतं चैकं प्राणायाम विशुद्धये ॥' इति दृष्टरि-  
सोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'प्राणायामं शुना दष्टा नदी गत्वा मनु-  
ष्याम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुष्यति ॥' (२३।३।१) इति,—तदुच्यते

१. दण्डानुसारात् । २. साधारणप्राणं प्रायश्चित्तम् । ३. दष्ट-  
रचोष्ट्रादि । ४. मूषिकाप्लव । ५. विशुष्यति ।

दंशगिपयम् ॥ स्त्रीणां तु—'प्राज्ञाणी तु शुना दष्टा अङ्गुकेन घृकेण वा । तदितं  
 प्रहनत्प्रं दष्टा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥' इति पञ्चाशत्तोकं दष्टम् । घृष्टादिमन-  
 स्थायाः पुनस्तेनैव विशेषो दर्शितः—'त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु 'सुमना ।  
 सघृतं यावत्कं भुक्त्वा यतशेषं समापयेत् ॥' इति ॥ रजस्वलायामपि विशेषः  
 पुष्टस्येन दर्शितः—'रजस्वला यदा दष्टा शुना अङ्गुकरामभैः । पञ्चरात्रं  
 निराहारा पञ्चगव्येन शुच्यति ॥ ऊर्ध्वं तु द्विगुणं नाभोर्ध्वग्रे ॥ त्रिगुणं तथा ।  
 चतुर्गुणं स्मृतं मूर्ध्नि दष्टेण्यवधान्नुतिर्भवेत् ॥' इति । अन्यप्राङ्गणवला-  
 धरथायाम् । यस्तु श्वादिभिर्गणादिनोपहृत्यते तस्य क्षान्तयेन विशेष  
 उक्तः—'शुना प्रातावलीहस्य नसैर्विलिखितस्य च । अग्निः प्रकालनं  
 शौचमग्निना शोपकूलनम्' इति । उपकूलनं तापनम् ॥ यदा तु श्वादिदंश-  
 शास्त्रधानादिजनितमणे कृमय उत्पद्यन्ते तदा मनुना विशेष उक्तः—'प्राज्ञास्य  
 प्रणहारे पूयशोणितसंभवे । कृमिरुपपद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥  
 गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंघं स्नानमाचरेत् । त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी रयधोनाभ्या विष्टं-  
 ध्यति ॥ नाभिकण्ठान्तशोद्भूते मणे शोचयते कृमिः । पञ्चरात्रं तु स्पृहं पञ्चगव्या-  
 क्षान्तमिति स्मृतम् ॥' तत्र श्वादिदंशमणे तदंशप्रायश्चित्तानन्तरमिदं कर्तव्यम् ।  
 श्वादिजनितमणे श्वेतदेव, स्पृहं पञ्चगव्याक्षान्तमिति शेषः । अत्रियादिषु तु  
 प्रतिघर्षं पादपादहातः करपनीयः ॥ २७७ ॥

भाष्या—अभिचारिणी स्त्री, बन्दर, बद्धा, ऊँट, घोडा ( सियार आदि ),  
 कौशा द्वारा दौत वा चोच ले काटे खाने पर जल में खदा होकर प्राणायाम  
 करने और घी खाने पर शुद्धि होती है ॥ २७७ ॥

शारीरवश्यातुविष्टेदकदंशप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्प्रारीरचरमघातुविष्टेदकरकन्द-  
 ने प्रायश्चित्तमाह—

यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्रयेत् ।

स्तनान्तरं भ्रुवोर्मध्यं तेनाऽनामिकया स्पृशेत् ॥ २७८ ॥

यदि कथंचिच्छीसंभोगमन्तरेणापि हठाचरमघातुर्विष्टस्तदा तास्करुर्षं रेतो  
 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवी', 'पुनर्मांमैत्विन्द्रियम्' इत्याभ्यां मन्त्राभ्यामभिमन्त्र-  
 येत् । तेन आभिमन्त्रितेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोश्च मध्यमुपकृतिष्ठिकया  
 स्पृशेत् ॥ अन्ते तु स्कन्नस्य रेतसोऽशुचित्त्वेन स्पर्शकर्मण्ययोरयत्वात्तेनेत्य-  
 नामिकासाहचर्यात्तदुदित्याहुष्टपरत्वेन न्याचपत्ते । तेनाहुष्टेनानामिकया चेति

१. सप्रता । २. शोपकूलनं । ३. पञ्चरात्रं च तदा श्लोकं प्राजापत्यं विशेष-  
 धनं । ४. पृताभ्यां स्कन्नं रेतोऽनुमन्त्रयेत् । ५. भ्रुवोर्षांषि तथा नामिकया ।

'अद्भुष्ट'पदग्रहणे वृत्तमद्भुष्टसद्भात्तनेति निदिष्टमिति,—तदमत्, अद्भुष्टस्यावुद्धिस्थ-  
त्वात् । नच अ-दभ्यनिहितपरित्यागोनायाद् बुद्धिस्थस्यान्वयो युक्तः । तदुक्तम्—  
'गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्ट विशेषणम् । शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽथ  
उच्यतेतिवत् ॥' इति । नच रेतसोऽशुचित्वेन स्वर्गाधारणम् । विधानादेव  
प्रायश्चित्तार्थरूपवर्णनं योग्यत्वं प्रगम्यते प्रायश्चित्तरूपवत् इव सुराया । इदं च  
प्रायश्चित्तं गृहस्थस्यैवाकामत रक्षविषयम् । प्रज्ञाचारिण स्वप्ने जागरणा-  
वस्थायां च गुरुप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् । यत्तु यमपञ्चमम्—'गृहस्थ कामन  
कुर्याद्वेतस रक्ष-दन भुवि । सहस्रं तु अपेक्षु देव्य प्राणायामैश्चिभि सह ॥' इति,—  
तत्कामकारविषयम् ॥ २७८ ॥

भाषा—( स्वप्नदोष होने पर ) 'यन्मेऽद्य रेतं गृहिवीमस्वन् पुतमांमै-  
रिवि द्रवम्' इति मन्त्रों से पापों का अभिमन्त्रण कर और उनसे दानों  
छाती, और दानों भौहों के मध्यभाग का कनिष्ठिका अँगुली द्वारा स्पर्श  
करे ॥ २७८ ॥

मयि तेज इति च्छाया स्यां 'दृष्ट्वाऽऽमुपतां जपेत् ।

सावित्रीमण्डुकीं दृष्टे चांपद्ये चाञ्जतेऽपि च ॥ २७९ ॥

किंच, शीघ्रं अनिश्चितमनुगतं दृष्टं चेत् तदा 'मयि तेज इन्द्रियम्' इतीमं  
मन्त्रं जपेत् । अशुचित्त्वम्यदर्शनं पुन सावित्रीं सविन्दैवर्षां 'तामवितु'  
इत्यादिकांमृच जपेत् । तथा वावशागिषादादिचापव्यकरणे तामैव जपेत्, अमृ-  
तवचने च ।—एतत्कामकारे द्रष्टव्यम्, अकामकृते तु 'सुप्त्या भुक्त्वा च क्षुधा  
च निद्रोःशोकावानृतानि च । पीत्वाऽपोऽन्नेऽप्यमागम्य आचामेऽप्रवतोऽपि सन् ॥'  
इति मन्त्रमाचमनं द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु सवतवचनम्—'क्षुणे निद्रोर्वने चैव इ-त-  
रिष्टे तथापुत । पतितानां च सभापे दक्षिण ध्वजं स्पृशेत् ॥' इति,—तद्व्यप-  
पोजने जलाभावे वा द्रष्टव्यम् ॥ कोशुद्विश्चमनप्रधानम्तर 'मिन्दुतायोपनीषत'  
पठित, तत्र च मनुयोगीश्वरप्रोक्ताऽमुपपातकप्रायश्चित्तानि जातिर्वाग्निगुणाद्यपेक्षया  
वेदिनस्यानि । नारितकवेऽपि तानि प्रायश्चित्तानि तथैव प्रयोऽयानि, नारितक-  
वादेन च वेदादिनिन्दनं तेन औषधमुच्यते, तत्रोभयत्रापि यमिष्टेन प्रायश्चित्ता-  
न्तरमप्युक्तम्— नारितकं कृत्वा द्वादशरात्रं चरित्वा विरमेच्छास्तिस्वाद्यास्तिरु-  
च्युत्तिसवति कृत्स्नम् (२१।२९) इति ।—एतच्च सङ्घट्टगविषयम् । उपसनकपाप  
भित्तान्यभ्यामत्रिपयानि । पक्ष्य वाहेनोक्तम्—'नारिको नारिककृत्ति कृत्स्न  
कृत्स्नपहारी मिश्याभिजशी इत्यने पञ्चमत्रातर प्राज्ञगृहे भैच चरेत्' इति ।

१. यथ्यमागात्वात् । २ दृष्ट्वाऽऽमुनि वै जपेत् । ३. चापने वाऽनु-  
तेऽपि च । ४ मिष्टोचिते ।

यस्य हारि तेन-‘नारितको नारितकदृतिः’ इति यत्रय ‘यत्रतपोऽध्यायमानस्य-  
 तपनाभ्यनुतिष्ठेयुर्मास्यवर्षादिमन्त्रेषु’ इति,—तदुभयमख्यन्ताभिवर्षेण यदुसाडा-  
 ऽप्राप्तविषयम् ॥ २७९ ॥

भाषा—अल में पदी हुई अपनी छाया को देख कर ‘अपि तेज इन्द्रियम्’  
 मन्त्र का जप करे; अथवा मनुष्य को देखने पर, (वाणी, हाथ, पैर  
 आदि को) चपलता करने पर और अस्वभाव्य करने पर गावत्री का  
 जप करे ॥ २७९ ॥

नारितकयानन्तर ‘मन्त्रोपद्य’ इत्युक्तं, सत्यावकीर्णं ध्यायन्निद्रावाचल्लक्षण-  
 कथनपूर्वकं प्रायश्चित्तमाह—

अवकीर्णो भवेद् मत्या घृह्णन्तरी तु योषितम् ।  
 गर्दमं पशुमालम्ब्य नैर्हतं स विशुच्यति ॥ २८० ॥

मन्त्रार्थपूर्ववर्णको नैष्ठिकब्रह्मसौ योषित गावाऽवकीर्णो भवति ।  
 अस्मन्मार्तोर्वितर्णोऽवकीर्णं सधरवास्त्र सोऽवकीर्णो, स निर्वृत्तिदेषायेन गर्द-  
 मपशुना वाय हत्वा विशुच्यति । गर्दमस्य पशुस्ये सिद्धेऽपि पुन-‘पशु’ग्रहणं ‘अथ  
 पशुस्ये’ (१।१।११) इत्याद्यजापनादिशुद्धोक्तशुद्धमन्त्रात्पर्यम् । एतद्व्याख्ये  
 चतुष्पथे लौकिकेऽग्नी कार्यम् । ‘मन्त्रासौ चेन्निसवसुषेवाहस्ये चतुष्पथे लौकिक-  
 ऽग्नी रक्षोदेवत गर्दमं पशुमालम्बेन’ (२३।१) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ तदा  
 प्रायश्चित्तविकलेन यष्टव्यम् । तथा च मनु. (१।१।१८)—‘अवकीर्णो तु  
 कालेन हासनेन चतुष्पथे । पशुपशुत्रिधानेन यजेत निर्वृत्तिं निदि ॥’ इति ।  
 पशोरभावे चहृत्वा यष्टव्यम् । ‘निर्वृत्तिं वा चर्दं निर्वपेत् तस्य सुहुवात्-कामाय  
 स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्वृत्त्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा’ (२३।२।३)  
 इति वसिष्ठस्मरणात् ।—यत्तथाऽतकविवयम् । अकल्पे पुनर्गर्दभेनावकीर्णो निर्वृत्तिं  
 चतुष्पथे यजेत् । ‘तस्याग्निमूर्त्तं बाल परिधाय लोहितपात्रः सप्तपृष्टान् भैक्षं  
 अरेकमाचक्षणाः संवासरेण शृण्वति’ (२३।१७-१९) इति गीतमोको वार्षिक-  
 तप-समुच्चिनः पशुयागस्यर्वा इष्टव्यः । तथा त्रिपवनास्तानमेककालभोजनं च  
 इष्टव्यम् । (१।१।२२-१२३)—‘एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते यस्तिवा गर्दमाग्निम् ।  
 सप्तपृष्टान् चरेद्भैक्षं स्वकर्मं परिशीर्तयन् ॥ तेभ्यो लभ्येन भेषेण चतुष्पथेककालि-  
 कम् । तदपशुशत्रिपशुभगसद्देन स विशुच्यति ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ इदं च  
 वार्षिकमथोत्रिपशुभगस्यर्वा वैश्यायां श्रोत्रियपत्न्यां च इष्टव्यम् ॥—यदा तु गुण-  
 ययोर्माह्वणीचत्रिययोः श्रोत्रियनामैषोरवकिरति तदा त्रिवापिकं द्विवापिकं च  
 कमेण योऽयम् ॥ यथाहसुः अहुल्लिखितौ—‘गुहायां वैश्यायामवकीर्णः संवासरं

‘अहान्युद्धन्धनभ्रष्टाः प्रमत्तपानासकच्युताः । विषप्रपतनप्रायज्ञस्रघातश्रुताश्च  
ये ॥ नैव ते प्रत्यदसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः । चाग्नापणेन शुद्धवन्ति तत-  
कृच्छ्रद्वयेन या ॥’ इति ॥ इदं च चाग्नापणं तद्यज्ञकृच्छ्रद्वयामृतं प्रायश्चित्तद्वयं  
शास्त्राद्यपेक्षया स्थवस्थितं विज्ञेयम् । यदा तु ‘सद्यथातदहाश्च’ इति पाठः,  
तदा मर्यागाघशास्त्रीयमरणनिमित्तस्नानपुत्रादेरुपदेशो द्रष्टव्यः ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनो-  
क्तम्—‘जीवन्नामर्यागात् कृच्छ्रं द्वादशारात्रं चरेत् , त्रिरात्रं चोपवसेत्’ (२३।१९)  
इति,—तद्यप्यप्यसिताशास्त्रीयमरणस्यैव कथंचिज्जीवने दास्यदेव्या द्रष्टव्यम् ।  
अथवा—अप्यपत्तावमात्रे त्रिरात्रं, साक्षाद्विज्ञानस्य द्वादशारात्रमिति व्यवस्था । इदं  
चावकीर्णिप्रायश्चित्तं गुरुदारतासमभ्यतिरिक्तानभ्यागमनविषयम् । तत्र गुरुतर-  
प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् । नच छद्मनाश्वकीर्णितेन द्वादशवार्षिकाघपनोद्यमहा-  
पातकशोधनिवर्तनमुचितम् । नच ब्रह्मचारिविधौपाधिकं छद्मप्रायश्चित्तविधानमिति  
युक्तम् ; आश्रमाभ्युत्थानो द्वैगुण्यादिदृष्ट्यैर्ब्रह्मदशवार्षिककरणे दर्शितत्वात् । न चाश्र-  
माभ्यागमनप्रयश्चित्तं पृथक्कृतं भवति ; ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यसंलक्षणस्या-  
भ्यागमनेनाग्तरीयकत्वात् , अतोऽभ्यग्रापि यस्मिन्निमित्ते यस्मिन्नाभ्युत्थं समं  
भूतं वाऽवश्यं भोषितः । तत्र पृथक् नैमित्तिकं प्रयुक्ते । यथा (मनुः १।१।२०८)—  
‘भवगूर्णं चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽश्नस्यते कृच्छ्रोऽभ्यन्तर-  
क्षीणिते ॥’ इत्यत्र क्षीणितोत्पादननिमित्तेऽभ्युत्थनिपातलक्षणं निमित्तद्वयमप-  
र्यंभाविधेन स्वनैमित्तिकं कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं च न प्रयुक्ते, एवमभ्युत्थानप्युद्धनी-  
यम् । यत्र पुनर्निमित्तानामन्तर्भावनिश्चयो भासितः, तत्र पुनर्नैमित्तिकानि  
पृथक्प्रयुज्यन्ते । निमित्तानि यथा—‘यदा पर्वणि परमार्यां रजरवलां तैका-  
भ्यक्तो दिवा कळे गच्छति’ इति ॥ मनु ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यसंलक्ष-  
णागमनाग्तरीयकत्वं नारत्येव; पुत्रिकागमनेऽग्न्यागमनयोपभावात् । तथा  
हि—न तावत्पुत्रिका कन्या; अद्यतयोनित्वात्, नापि परमार्या; प्रदाना-  
भावात्, नापि वेरया; अतद्वृत्तित्वात्, नापि विधवा; मूर्धमरणाभावात् ;  
अतः पुत्रिकायाः कान्धनन्तर्भावादप्रतिपिद्धेति तत्रैव विप्लुतरथ केवलमप-  
क्षीणितम् । अन्यत्र विप्लुतस्य तु निमित्तान्तरसंनिपातादवकीर्णितं नैमि-  
त्तिकान्तरमपि प्रयोक्तव्यमिति,—तदसत् ; पुत्रिकाया अपि परमार्यासं-  
र्भावात् । प्रदानामावेऽपि विवाहसंस्कारेण संस्कृतत्वात् गान्धर्वादिविवाह-  
परिणीतादत् । नच ‘यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता । नोप-  
पद्येत् तां प्राज्ञः पुत्रिकाघर्मसङ्ख्या ॥’ इति प्रतिषेधात्सगोत्रास्त्रिव मार्यात्वं  
नोत्पद्यत इति याच्यम् । दृष्टार्थत्वात् प्रतिषेधस्य व्यङ्ग्यादिप्रतिषेधवत् । दृष्टार्थत्वं



च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति हेतुपादानात् । नच पुत्रार्थमेव परिणयन, अवि ॥ धर्मार्थं मपि, अतश्चोरपादितपुत्रस्य सृतमार्यस्य धर्मार्थं पुत्रिकारिणयने को विरोध ? प्रपञ्चित चैनस्पुस्तस्यैवमतिप्रसङ्गेन । तस्माद् ब्रह्मचारिणो योयिति ब्रह्म-  
चर्यस्यैव लनस्यागम्यगमनान्तरीयकत्वाच्च पृग्द्वैमित्तिक प्रयोक्तव्यमिति सुष्ठु  
क्तम् ॥ २८० ॥

भाषा—ब्रह्मचारी किसी स्त्री का भोग करने पर भवकीर्ण हो जाता है, वह निश्चिन्तित देवता क लिए भवहे द्वारा पशुयज्ञ करने पर शुद्ध होता है ॥ २८० ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद्-यद्व्यनुपासकप्रायश्चित्तमाह—

भैक्षग्निकार्ये त्यक्त्वा तु ससराग्रमनात्तर ।

कामावकीर्ण इत्याभ्यां जुहुयादाहुतिद्वयम् ॥ २८१ ॥

उपस्थानं तत कुर्यात्सं मा सिचन्वनेन तु ।

यस्मिन्नात्तर एव ब्रह्मचारी निर-तर ससराग्र भैक्षग्निकार्ये वा त्यजति भसौ 'कामावकीर्णोऽत्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाव स्वाहा । कामावपन्नोऽत्यव-  
वपन्नऽस्मि कामकामाव स्वाहा' ह्येत्याभ्यां ब्रह्मभ्यामाहुती हुत्वा 'स मा सिचन्तु महन समिन्द्र स वृहस्पति । संभावमग्नि सिचन्तरे यथासा ब्रह्म-  
वर्षमेव ॥' हत्यनेन मन्त्रेगग्निमुपतिष्ठेत् ॥ एतच्च गुरुपरिचर्यादिगुरुकरकार्ये व्यग्रतया अकरणे द्रष्टव्यम् । यदा स्वभ्यग्र एकोभे भैक्षग्निकार्ये त्यजति, तदा 'अहु'वा भैक्षचरणमसमिन्द्र च पावकम् । अनात्तर ससराग्रमवकीर्णितन चरेत् ॥ ( मनु० २।१८७ ) इति मानव द्रष्टव्यम् ॥ यज्ञोपवीतविनाशे तु द्वागतेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—'मनोव्रतपताभिन्नतल आऽवाहुतीर्हुत्वा पुनर्यथार्थं प्रतीयाद्यज्ञैश्चभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्ते वाग्ने दिवा स्वप्ने नग्नस्त्रीदर्शने नग्न स्वाये रमशानमाकाशय ह्येवादीन्नास्व्य पुज्यामिक्रमे चैताभिरेव जुहुयादग्नि-  
समिन्धने स्वावरसरीसृषादीनां वधे 'वद्देवादेवदेवनम्' इति कृ-मःपट्टीभिःअप्य जुहुयात्, मणित्रैःमोमत्रादीनां प्रतिग्रहे सावि-यष्टमहस्र जपेत्' इति । मनो-  
व्रतपतीभिरिति मनोज्योतिरिवादिमनोलिङ्गाभि 'श्मशने व्रतपा अस्मि' इत्यादिब्रह्मलिङ्गाभिरित्यर्थ । यथार्थं प्रतीयादिति, उपनयनोक्तमार्गेण स्वम प्रकृ पृष्ठीयादित्यर्थ । यज्ञोपवीत विना भोजनादिभ्रणे तु—'ब्रह्मसूत्र विना भुङ्क्ते विष्णुत्र कुरुतेऽयवा । गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुष्यति ॥' इति मरीच्युक्त द्रष्टव्यम् ॥ २८१ ॥

१ हुत्वा चाऽऽवाहुतिद्वयम् । उपस्थानद्वय कुर्यात् । २. समायमजि ।

३ हयादीनारस्य । ४ वासोगृहादीनां ।

भाषा—विना अवस्थता के सात दिन तक भिच्छाटन और गदिकर्म छोड़ने पर 'कामायकीर्ण' आदि (कामायकीर्णोऽस्त्वप्यकीर्णोऽस्मि कामकामाय रयाहा । कामायप्रोऽस्त्वप्यप्रोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इन दोनों मन्त्रों से दो आहुति करके 'समा सिचन्तु मरुत समिन्द्र सप्तुष्टरपति । समायगति सिचन्ता यदासा मह्यचर्चमेन ।' मन्त्र से गुणः अग्नि का उपस्थापन करे ॥ २८१३ ॥

मधुमांसाशने कार्यं कृच्छ्र शेषंमृतानि च ॥ २८२ ॥

प्रतिकूलं गुरोः कृत्या प्रसाधैव विशुष्यति ।

किंच, ब्रह्मचारिणा अमत्या मधुमासमपत्तौ पृच्छ वार्यं । तदनन्तरम-  
घदिष्टानि मृतानि समापयेत् ।—एतच्च शिष्टभोजनार्हंरातादिमांसमद्यजविप-  
यम् । 'मद्यजारी चो-मांसमरनीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं द्वादशाश्र चरित्वा  
मत्तरोप समापयेत्' ( २३।११ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'द्वादशाश्रमहणं तु  
मतिपूर्वाभ्यामावेष्टयाऽतिकृच्छ्रपराकादेरपि प्राप्स्यथम् । यदा तु मांसैकाग्रतोऽ-  
भ्याप्यभिभूतस्तदा मांसं गुरोरुचिच्छेत् कृत्या अक्षयीयम् । 'मं चैद्व्याधितं काम  
गुरोरुचिच्छेत् भेषजवार्धं सर्वं पारनीयात्' ( २३।९ ) इति तेनैवोक्तं । 'मर्व'-  
महणं मांसकष्टुनाप्यमप्यमात्रसमदायम् । तज्जलणेन चापगतस्याधिराशियमु-  
पतिष्ठेन । तथा च बीषावन ( २।१।२१-२७ )—'येनेच्छेत्तु विक्रितस्तु तु  
यदाऽगदो भवति तद्वोत्थायाद्विषमुपतिष्ठेत्' 'हसं शुचिपत्' इति । मधुनाऽ-  
प्यजानत प्राधानोपपत्तौ न क्षोप । 'अकामोपनतं मधु वाजाननेवके न दुष्यति'  
( २३।१४ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । अग्यसूतकाजादिभक्षणप्रापश्चित्त स्वभक्ष-  
प्रायश्चित्तप्रकरणे कथयामः । आज्ञाप्रतिषाणादिना गुरोः प्रतिकूलमाचरन् पाद-  
प्रणिपातादिना गुरु प्रमाद्य विशुष्यति ॥ २८२३ ॥

भाषा—मधु और मांस खाने पर कृच्छ्र और अवधिष्ट मृत करे । गुरु के विपरीत कार्य करने पर उन्हें प्रमत्त करने पर ही ( मद्यजारी ) छुट्टा होता है ॥ २८२३ ॥

मद्यचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद् गुरोरपि प्रायश्चित्तमाह—

कृच्छ्रप्रयं गुरु कुर्यान्प्रियते<sup>१</sup> प्रहितो यदि ॥ २८३ ॥

परंतु गुरुश्रीरोरमप्याकादिभवाकृच्छ्रप्रदेने सान्द्रतरान्धकाराकृतितनिशीघा-  
चरते कार्यार्थं शिष्य प्रेरयति, स च गुरुणा प्रेरितो देवान्मृतस्नदा स गुरु  
कृच्छ्राणां प्राजापत्यादीनां त्रयं कुर्यात्, न पुनस्तथ प्राजापत्या, तथा मनि  
पृथङ्निवेशिनी सख्यानुपपत्ता स्यात् । न च 'एकादश प्रयाजान्यजति' इति  
वदायूरयवेचः सत्येति चतुरस्रम्, स्वरूपशुष्यवत्वे समवस्थादृश्यवेत्तया अग्यादय-

१. शेषो कृत्वाणि । २. प्रहितो श्रियते यदि । ३. दृश्यकरनिवेशिनी ।

त्वात् । यदियमुपपन्नगता संख्या स्यात्तदा स्यादपि कथञ्चिदावृत्तपेषा, किंतु-  
पत्तिगतेयम् ; अतः 'तिस्र आञ्ज्याहुतीर्जुहोति' इतिवत् स्वरूपपृथक्त्वापेक्षयैव  
त्रिवसंख्याघटना युक्ता ॥ २८३ ॥

भाषा—किसी कार्य पर भेजे गये ( और उस कार्य के सम्पादन के  
लिये ) शिष्य की मृत्यु होने पर ( हिंसक पशु आदि द्वारा मारे जाने पर )  
गुरु तीन कृच्छ्र मन करे ॥ २८३ ॥

सकलहिंसाप्रायश्चित्तापवादमाह—

क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम् ।

[ विषाके गोभृषाणां तु भेषजाग्निक्वियासु च ॥ ]

भाष्येदोषदेशानुसारेणौषधपट्यान्नप्रदानादिभिस्त्रिक्रिस्तादिना क्रियमाण  
उपकारो यस्य ब्राह्मणादेशनश्मिन्दैवाकथञ्चिन्मृतेऽपि पातक मैव भवति ।  
'विप्र'ग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणार्थम् । अत्र एव 'यन्त्रणे गोविक्विसार्थे गूढगर्भ-  
विमोचने । यस्ने कृते विपत्तिः स्वान्न स पापेन लिप्यते ॥' इत्यादि संवर्तापि-  
रुक्तम् । एतच्च प्रपञ्चितं प्राक् ॥—

भाषा—औषध आदि द्वारा उपकार करते समय ब्राह्मण की मृत्यु हो  
जाने पर पातक नहीं लगना । [ गाय और धूप की चिकित्सा और अग्निकार्य में  
भागनाश ह्वा तो पाप नहीं लगता । ] ॥

मिथ्याभिज्ञानिनः प्रायश्चित्तविषयवा सदुपयोग्यधंवाद तावदाह—

मिथ्याभिज्ञानिनो दोषो द्विः समो भूतवादिमः ॥ २८४ ॥

मिथ्याभिज्ञानदोषं च समादत्ते मृषा यद्न ।

पशु परोक्षधैर्वाजनितरोपकलुपितान्तःकरणो जनसमर्षं मिथ्यैवाभि-  
ज्ञानं 'मल्लहरादिकमनेन कृतम्' इत्यारोपयति, तस्य तदेव द्विगुणं भवति ।  
पशु विद्यमानमेव दोषमलोकविहित जनसमर्षं प्रकाशयति, तस्यापि तस्या-  
त्किसमदोषभास्वम् ; तथा आपस्तम्बः ( १।२।१२० )—'दोषं युद्ध्वा  
न पूर्वं परेण्य. पतितस्य सैमास्यपाता स्यात् परिहरेच्छैवं धर्मेषु' इति न केवलं  
मिथ्याभिज्ञाना द्विगुणदायभाक्, अपि तु मिथ्याभिज्ञानस्य यद्दण्डं दुरितजातं  
तदपि समादत्त इति दण्ड्यमाणप्रायश्चित्तेऽर्थवाद, न पुनः पापद्वैगुण्यवादि-  
प्रतिपादनमत्र विवक्षितम् ; निमित्तस्य लघुत्वात्तदुपप्रायश्चित्तस्योपदेशवमागत्वात्  
कृतदाशाट्टनाश्याशामप्रसङ्गात्च ॥ २८४ ॥

१. इदमर्थं पुस्तक एवाधिकमस्ति । २. गामिक्रिस्ताथ । ३. समा-  
ध्याने ।

भाषा—( ईर्ष्या नादि के कारण ) दूसरे पर झूठे टी ( महाहरया भादि का ) दोष कहने वाला तथा वास्तविक दोष को भी कहता फिरने वाला इन दोनों को दूना दोष लगता है । मिथ्या दोष कहने वाला न केवल दूने दोष से युक्त होता है अपितु जिन पर दोष लगता है उनके सभी पाप भी उसे लग जाते हैं ॥ २८४३ ॥

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

महापापोपपापान्यां योऽभिर्शांसेऽभ्युपा परम् ।

अभ्युपा मासमासीन स जापी नियतेन्द्रियः ॥ २८५ ॥

यस्तु महापापेन ऋषाहंशादिना योक्त्याद्युपपापेन वा मुद्वैव परमभि  
शासति स मास यावज्जलाशनो अपस्नीनो जितेन्द्रियश्च भवेत् । तपश्च  
शुद्धवतीना कार्य । 'ब्राह्मणमनुतेनाभिर्शास्य पतनीयेनोपपातकेन वा मासगम्भश्च  
शुद्धवतीरावर्तयेद्वैश्वमेधावभृथ का ऋष्येत्' ( १४।३९-४० ) इति पविष्टस्मरणात् ।  
'महापापोपपाप'ग्रहणमभ्युपापमप्यनिपातकारीनामुपलक्षणम् । एतच्च ब्राह्मणस्यैव  
ब्राह्मणेनाभिर्शांसेने कृते द्रष्टव्यम् । यथा तु ब्राह्मण चत्रियादेरभिर्शासन करोति,  
चत्रियादिवं ब्राह्मणस्य तथा—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दम । वर्णाना-  
मानुलोभ्येन तस्मादर्धार्धानित ॥' इति दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तस्य वृद्धिहासौ  
कल्पनीयौ । भूताभिर्शासितस्तु पूर्वोक्तार्थवादानुसारेण दण्डानुसारेण च तद्वर्ध  
कल्पनीयम् । तथाऽनिपातकाभिर्शासिन एतदेव मत पादोनम्, पातकाभिर्शासिन  
सद्वर्धम्, उपपातकाभिर्शासिनस्तु पाव, 'पुरोपो महाहरयावा चत्रियस्य पथे  
स्मृत' (मनु १।१।१९६)—इत्युपपातकभूतचत्रियादिवधे महापातकप्रायश्चित्त-  
पुरोपातस्य दर्शनात् । एव प्रकीर्णाभिर्शासिनोऽपि उपपातकाम्भूत कल्पनीयम् ।  
'दत्ति चापेथय पाप च प्रायश्चित्त प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात् । यत्तु शब्दलिखि-  
ताभ्यां 'नास्तिक कृन्धन कृन्धयवहारो ब्राह्मणवृत्तिर्यो मिथ्याभिर्शासो सत्येते  
पडूनर्पाणि ब्राह्मणगृहेषु जैष्ठ चरेषु, सखरहर घौतमेधमरनीयु, पण्मासान्धा  
गा अनुगच्छेयु' इति गुरुप्रायश्चित्तमुक्त,—तदभ्यासतारतम्यापेक्षया योजनी-  
यम् ॥ २८५ ॥

भाषा—जो दूसरे पर झूठा महापातक या पातक लगाता है वह एक  
मास तक लल पीकर रहे, जप करता रहे और इन्द्रियों का नियन्त्रण रूप से  
सयम रखे ॥ २८५ ॥

अभिर्शसिमायश्चित्तप्रसङ्गादभिर्शस्तप्रायश्चित्तमाह—

अभिर्शस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाग्नेयमेव वा ।

निर्वपेत्तु पुरोहारं वायव्यं पशुमेव वा ॥ २८६ ॥

यः पुनर्मिथ्याभिर्शस्तं स कृच्छ्रं प्राप्नापत्यं चरेत् । अग्निदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पशुना । यथा च पक्ष्याणां शक्तिर्मवापेक्षया व्यवस्था । यत्तु वसिष्ठेन 'मासमग्नेय-  
चणमुक्तमेतेनैवाभिर्शस्तो व्याख्यातः' (२४।३७) इति, तदभिर्शस्तस्यैव किंचिदकाल-  
मकृतप्रायश्चित्तस्य सतो द्रष्टव्यम् ; 'संवत्सराभिर्शस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः'  
इति दण्डातिरेकदर्शनात् । यत्तु पैटीनसिनोक्तम्—'अनुनेनाभिर्शस्तमानः कृच्छ्रं  
चरेत्मासं पातकेषु महापातकेषु द्विमासम्' इति,—तदपि वासिष्ठेन समान-  
विषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'पातकाभिर्शसिने कृच्छ्रस्तर्द्धमभिर्शस्तस्य'  
( २।१।६०।१ ) इति,—तदुपपातकाद्विषयं अज्ञातविषयं वा । एवमग्नेयाम-  
रुच्येवायचप्रायश्चित्तानामभिर्शस्तविषयाणां कालक्षरवाधपेक्षया व्यवस्था  
विशेषा । यथाह मनुः (१।१।२००)—'पञ्चकालता मास सहिताजप एव वा ।  
होमाश्च शाकला निर्यमवाहृक्तानां विशोषणम् स' इति । अपाहृक्तानां मध्ये  
अभिर्शस्तादया पठिता । यद्यप्यत्राभिर्शस्तस्य निषिद्धाचरणं नोपलभ्यते तथापि  
मिथ्याभिर्शस्तावलिङ्गानुमितप्रभृतीनिषिद्धाचरणापूर्वनिबन्धनमिदं प्रायश्चित्तं  
कृमिद्वष्टानामिदंति न विशेषः ॥ २८६ ॥

भाषा—जिस पर दृष्टा दोषारोपण किया गया हो वह कृच्छ्र घत करे  
अथवा अग्नि देवता का पुरोडाश से यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से  
यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से या एक पशु से यज्ञ करे ॥ २८६ ॥

अनियुक्तो ज्ञातृजायां गच्छन्क्षान्द्रायणं चरेत् ।

किंच, परतु नियोग विना भ्रगुर्ज्वलस्य कनिष्ठस्य वा भार्या गच्छति  
स क्षान्द्रायणं चरेत् ।—एतच्च सकृदमतिपूर्वविषय द्रष्टव्यम् । यत्तु दण्डप्रच-  
णम्—'परिवसि. परिवेत्ता च मवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भेषं चरेदातां उपेक्षभावा-  
ननियुक्तो गच्छस्तदेव कनिष्ठभार्या च' इति,—तस्मात्कारविषयम् ॥—

भाषा—विना नियोग के ( छेपे जनों की आज्ञा के विना ही ) जेठे या  
छोटे भाई की पत्नी से भोग करने वाला क्षान्द्रायण घन करे ।

किंचाह—

त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदक्यां विशुध्यति ॥ २८७ ॥

यः पुनरुदक्यां रजस्वलां स्वभार्यामपि गच्छति त्रिरात्रमुपोष्यान्ते घृतं

१. निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं चरुमेव वा ।

प्राश्य विशुध्यति ।—इदमकामतः सप्तद्वयमनविषयम् । तत्रैवाभ्यासे 'रजस्वला-  
 गमने मसुराग्रम्' इति ज्ञातात्पेनोक्तं द्रष्टव्यम् । कामत सप्तद्वयमनेऽप्येनदेव ।  
 यत्तु वृहत्सर्वतोक्तम्—'रजस्वला तु यो गच्छेद्भिर्भिर् पतिता तथा । नस्य  
 पापविशुद्धयर्थमतिकृत्वा विशोधनम् ॥' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् ।  
 यत्पुन दाहने शिवायिस्मुक्तम्—'पादस्तु शुद्धइत्याद्यामुदकयागमने तथा' इति,  
 तत्कामतोऽप्यभ्यासविषयम् । रजस्वलायास्तु रजस्वलादिस्पर्शे प्राय-  
 श्चित्त स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तथा च वृहद्भविष्ठ—'स्पृष्टे रजस्वलेऽन्वोन्म सर्वेषु  
 श्वेकमर्गम् । कौमाद्वामयो यावि मद्य द्यानेन शुष्यत ॥' इति । असपत्न्योरतु  
 स्वर्णयोरेकामत ज्ञानमात्रम्—'उदक्यानु मवर्णा वा स्पृष्टा वैश्याद्दुद्वयया ।  
 तस्मिन्नेवाहनि ज्ञानात् शुद्धिमाप्नोत्यसत्तयम् ॥' इति मार्कण्डेयस्मरणत् ॥ यत्तु  
 कश्यपवचनम्—'रजस्वला ॥ स्पृष्टा प्राज्ञण्या प्राज्ञणी यदि । एकस्त्र निरा-  
 हारा पञ्चराशेन शुष्यति ॥' इति,—नत्कामकारत्रिषयम् । नमवर्णास्पर्शे तु वृह-  
 द्भविष्ठेन विशेषेण दर्शितं—'स्पृष्टा रजस्वलाऽन्वोन्म प्राज्ञणी द्वादशापि च ।  
 कृत्त्रेण शुष्यते पूर्वा द्वाद्री ज्ञानेन शुष्यति ॥' इत्येनेति वायुवृत्तप्रायास्त्रायभूत-  
 निकृत्तुर्धातुदानेन शुष्यतीति । 'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्वोन्म प्राज्ञणी वैश्याजापि  
 च । पादहीन चरेपूर्वा पादकृत्तु तथोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्वोन्म प्राज्ञणी  
 चश्रिया तथा । कृत्त्रेण शुष्यते पूर्वा तूत्तरा च तदधत ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्वोन्म  
 चश्रिया द्वादशापि च । उवशासैस्त्रिभि पूर्वा स्वहोरात्रेण चात्तरा ॥ स्पृष्ट्वा  
 रजस्वलाऽन्वोन्म चश्रिया वैश्याजापि च । त्रिरात्रास्तुष्यते पूर्वा स्वहोरात्रेण  
 चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्वोन्म वैश्या द्वादशा तथैव च । त्रिरात्रास्तुष्यते  
 पूर्वा तूत्तरा च दिनद्वयात् ॥ वर्णाना कामत स्पर्शे शुद्धिरेवा पुरातनी ॥' इति ॥  
 अकामतस्तु वृहद्भविष्णोक्तं ज्ञानमात्रम्—'रजस्वला हीनवर्णा रजस्वला स्पृष्ट्वा  
 न तावद्दर्शनीयाद्यावन्न शुद्धा स्यात् । मवर्णा मधिकवर्णा वा स्पृष्ट्वा मद्य ज्ञात्वा  
 विशुध्यति' इति ॥ अण्डालादिस्पर्शे तु वृहद्भविष्ठेन विशेषेण उक्तं—'पतिताभ्य-  
 चपाकेन सस्पृष्टा चेद्भस्वला । तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्त समाचरेत् ॥  
 प्रथमेऽङ्घ्रि त्रिरात्र स्याद् द्वितीये द्वयहमेव तु । अहोरात्र तृतीयेऽङ्घ्रि परतो  
 नक्तमाचरेत् ॥ द्वादशोच्छिष्टया स्पृष्टा शुना चेद् द्वयहमाचरेत् ॥' इति ।  
 तान्यहानि व्यतिक्रम्य अनाशकन नीत्वेनि यावत् ।—एतदकामत स्पर्शविषयम् ।  
 अकामतस्तु—'रजस्वला तु सस्पृष्टा अण्डालान्त्वक्षवायसै । तावत्तिष्ठेत्त्रिराहारा  
 यावत्कालेन शुष्यति ॥' इति बोधायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनस्तेनैवोक्तम्—  
 'रजस्वला तु सस्पृष्टा ग्रामकुक्कुटसूकरै । श्वभि ज्ञात्वा चिपेत्तारथावच्छन्दस्य  
 दर्शनम् ॥' इति,—तदज्ञकविषयम् ॥ यदा ॥ मुजानाया आदिस्पर्शो भवति तदा

स्मृत्यन्तरे विशेष उक्त — 'रजस्वला तु भुञ्जाना आन्वयजादीन्स्पृशेद्यदि । गोमूत्र  
 पावकादारा पद्माश्रेण विशुष्यन्ति ॥ अशक्तौ काञ्चन दद्याद्विभ्रयो वापि  
 भोजनम् ॥' इति ॥ यदा तृच्छिष्टेषु परस्परस्पर्शनं भवति तदा—'तृच्छिष्टो  
 र्च्छिष्टया स्पृष्टा कदाचिस्त्री रजस्वला । कृच्छ्रेण शुष्यते पूर्वा शूद्रा दानैरु-  
 पोपिता ॥' इत्यत्रिणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तृच्छिष्टान्द्विजान् रजस्वला स्पृशति,  
 तदा 'द्विजा-ऋषिदुच्छिष्टान् रजस्वला यदि सस्पृशेत् । अधोच्छिष्टे स्वहोरात्  
 मूर्ध्वोच्छिष्टे श्वहृदिपेत् ॥' इति मार्कण्डेयोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ एवमवकीर्णियाय  
 त्रिष्वपसङ्गाकानिचिदनुपासकप्रायश्चित्तान्यपि व्याख्याय प्रकृतमनुसराम ।  
 तत्रावकीर्णान्तरं 'सुतानां चैत्र विक्रय' ( प्रा० २१६ ) इत्युक्तं तत्र मनुयो-  
 गीश्वरोक्तानि 'शैमौसिकादीनि कामाकामजातिशक्याद्यपेक्षया पूर्ववद् व्यवस्था  
 पनायानि ॥ यस्तु कङ्कबचनम्—'देवगृहप्रतिश्रयोदानारामस्यभाप्रयातदागपुण्य  
 सेतुमुत्तमिक्रय कृत्वा तस्यहृत्-श्वरेत्' इति, यच्च परासरेणोक्तम्—'विक्रीय  
 कामकां गां च कृत्वा सान्त्वयन् श्वरेत्' इति,—तदुभयमप्यावकाशकामतो द्रष्टव्यम् ॥  
 कामतस्तु—'नारीणां विक्रय कृत्वा श्वरेषुचा-द्रायणमतम् । द्विगुणं पुरुषस्यैव  
 मनमाहुर्मनीषिणः ॥' इति चतुर्विंशतितमोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यस्तु वैश्विनसिनोक्तम्—  
 'भारामनङ्गागोश्वानपुच्छरिणीसुहृन्सुनविक्रये शिष्यवशात्तद्व्यथ शायी श्वर्ध  
 फालाहारं सवसरेण पूनो भवति' इति—तदेकपुत्रविषयम् । तदनन्तरं 'घा-य-  
 कुप्यपशुस्तेषु' ( प्रा० २१७ ) इत्युक्तं—नस्त्रापश्वित्तानि च स्तेयप्रकरणे  
 प्रयोजितानि ॥ २८७ ॥

भाषा—( अपनी पत्नी के भी ) रजस्वला होने पर सभोग करे तो  
 तीन दिन उपवास करके और घृत स्नान कर शुद्ध होये ॥ २८७ ॥

अनन्तर 'भयाऽवानो च यानवम्' (प्रा० २३७) इत्युक्तं तत्र प्रायश्चित्तमाह—  
 श्रीऋच्छ्रामाचरेद् वात्ययाजकोऽभिषेकरथपि ।  
 वेदप्लावी यवाश्वन्दं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ २८८ ॥

यस्तु सावित्रीपतितानां याजनं करोति स प्रात्रपरयप्रवृत्तौस्त्री-हृत्-श्राना  
 श्वरेत्, एतेषां च गुरुच्छुभ्रानां कृच्छ्रानां निमित्तगुरुच्छुभावेन कथनीयम् ॥  
 तथा अभिषेकपदीमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतन्नास्मिन्नाद्यातताविष्यतिरेकण  
 'षट्स्वभिचरन्न पतति' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ 'अपि सन्दो हीनयाजकान्-वेदि-  
 याजकयो समहार्य । अन एवोक्तं मनुना ( ११।१९७ )—'आश्वानां याजनं

कृत्वा परेषामन्यकर्म च । अग्निचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्भ्यषोऽति ॥' इति ।  
 'परेषामन्यकर्म' इत्यत्यन्ताभ्यासविषयं शूद्रान्यकर्मविषयं वा; प्रायश्चित्तस्य गुरु-  
 र्वात् । अहीनो द्विराग्निद्विर्दशाहपर्यन्तोऽहर्गणयागाः । यत्तु द्वातातपेनो-  
 क्तम्—'पतितसानित्रीकात्नोपनयेन्नाध्यापयेच्च याजयेत् य एतानुपनयेदभ्यापयेद्या-  
 जयेद्वा न उहालञ्जतं चरेत्' इति,—तत्कामकारविषयम् । उहालकघ्नं च प्राग्-  
 र्जितम् । एतच्च कृच्छ्रप्रयं साधारणोपपातकप्रायश्चित्तस्यापवादकम्, अत उप-  
 पातकसाधारणप्रायश्चित्तं शूद्राद्यप्यजाजने भवतिष्ठते । तत्र कामतल्लैमासिकम् ।  
 अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं मासप्रतादि । यत्तु प्रचेतसा शूद्रयाज्ञकादीन्पठित्वोक्तम्—  
 'पूते पञ्चमोऽस्त्रावकाञ्जलशयनात्पनुतिष्ठेयुः । क्रमेण त्रीन्मवपाहिमन्तेषु मासं  
 गोमूत्रयावकमर्शयुः' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'पुरोधाः  
 शूद्रवर्णस्य ब्राह्मणो यः प्रवर्तते । स्नेहाद्व्यं प्रसन्नाद्वा तस्य कृच्छ्रो विशोधनम् ॥'  
 इति,—तद्दशकविषयम् । यच्च पैठीनसिनोक्तम्—'शूद्रयाज्ञकः सर्वद्वेषपरिध्याता-  
 एतौ भवति प्राणायाममहक्षेपु दण्डकृवीभ्यस्तेषु' इति,—तद्व्यकामतोऽभ्यासविष-  
 यम् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'निषिद्धमभ्यप्रयोगे महद्व्रजानुपतिष्ठेत्' ( ३२:२३ )  
 इति निषिद्धानां पतिताहीनां याजनाभ्यापनारम्भे मन्त्रप्रयोगे बहुषोऽभ्यस्ते प्राकृतं  
 प्रह्वधर्म्यनुपदिष्ट,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यः स्वैवेतं विज्ञावधति यश्च, रक्षण-  
 चणोऽपि तत्करभ्यतिरिक्तं शरणागतमुपेक्षते, सोऽपि संवत्सरं यथोद्वेगं भुञ्जानः  
 शुच्यति । तत्र विप्रवो नाम पर्ववाण्डालधोत्राऽकाशाद्यनप्यायेत्स्वयनम् । तत्कर्त-  
 हेतोरधीयानस्य किं पठति नाश्रितं स्वयेदेवं पर्वयोगदानं वा विज्ञादनमुच्यते । अत  
 एतेनोक्तं इत्युपनतरे—'दत्तानुयोगान्पठेत्तुः पतितान्मनुरमचोत्' इति । यत्तु वसिष्ठेनो-  
 क्तम्—'पतिनवाण्डालशवधान्वाग्ने त्रिशरं वाधत्वा अनरनग्न आसीरन् सहस्र-  
 परमं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते' ( २३:३४-३५ ) इति,  
 'पूतेनैव गृहीताभ्यावकयाज्ञका भ्याद्यथाः दक्षिणात्यागाश्च पूता भवन्तीति  
 विज्ञायते' ( २३:३६ ) इति,—तद्व्युद्धिपूर्वविषयम् । यत्तु पट्टशिशमतेऽभि-  
 दिनम्—'वाण्डालधोत्रावकाशो श्रुतिस्मृतिपाठे य्वरात्रमभोजनम्' इति,—तद्-  
 व्युद्धिपूर्वविषयम् ॥ यदा सर्वाद्यन्तरायमनमात्र भवति न पुनस्तत्राधोते तदापि  
 प्रायश्चित्तं यमेनोक्तम्—'सर्वस्य नलकुस्याज अजमात्ररयोस्तथा ॥ मूपकस्य  
 तथोत्स्य मण्डकस्य च योपितः ॥ पुरुषस्यैटकस्यापि शुभोऽश्वस्य स्तरस्य च ।  
 अन्तरागमनं सद्यः प्रायश्चित्तमिदं शृणु ॥ त्रिरात्रमुपवातश्च त्रिरह्वाभियेचनम् ।  
 ग्रामान्तरं वा गन्तव्यं जानुर्ध्यां नात्र सशयः ॥' इति ॥ पितृमातृसुतरयागत-  
 ङागाराभिविद्धेषु मनुयोगीश्वरोक्तोपपातकसाधारणप्रायश्चित्तानि पूर्ववज्जाति-



व्यवस्था ।—एतच्च नास्तिवयन स्यागविषयम् । तथा च व्याघ्र—‘योऽग्नि  
 स्यजति नास्तिवयासप्राजापश्य श्वरेद् द्विज’ इति । यदा तु प्रमादात्स्यजति  
 तदा भारद्वाजगृह्ये विशेष उक्त—‘प्राण्ययामज्ञतमाग्निप्रादुपयाम स्यादा-  
 विद्वानिरात्रात् अन ऊर्ध्वमापष्टिरात्रात्तिस्रो शश्वीरुपवमेदत ऊर्ध्वमासवस-  
 रात् प्राजापश्य श्वरेत् । अत ऊर्ध्वं कालवहुत्ये दोषगुरुत्वम्’ इति । यदा एतात्  
 स्यादिना स्यजति तदापि तेनैव विज्ञाप उक्त—‘द्वादशाहातिक्रमे ष्यहमुपवास,  
 मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवास’, सवसरातिक्रमे सामोत्सवात् पयोभक्षण वा’  
 इति । सप्तसादूर्ध्वं ॥ बुद्धहारोत्तेन विशेष उक्त—‘सवसरोत्सवनेऽग्निहोत्रे  
 चान्द्रायणं कृत्वा पुनरादध्यात् । द्विर्वोत्सवने चान्द्रायणं सोमायनं च कुर्यात् ।  
 त्रिवर्षोत्सवने सवसरात् वृष्टूत्सवस्य पुनरादध्यात्’ इति । सोमायनं च वृष्टू-  
 काण्डे वक्ष्यते । द्वाङ्ग्रेनापि विशेष उक्त—‘भान्युत्सादीं सवसरात् प्राजापश्य  
 चोत्रा च दद्यात्’ इति ॥ सुतरामेव षण्डुत्सावे च त्रैमासिकं गोवधमतं कान्तम् ।  
 अक्रामतस्तु योगीश्वरोक्तं प्रपञ्चतुष्टयं दास्याद्यवेद्यया योऽयम् । द्रुमच्छेदे  
 प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम् । स्त्रीप्राणिवधयज्ञीकरणादिभिर्जावने तिलेष्टुष्यप्रवर्तने  
 च तान्धनं प्रायश्चित्तानि तथैव योऽयानि । स्वसनेषु च द्यूतमृगयादिषु तान्धनं  
 यतानि तथैव योऽयानि । वस्तु बौधायनेन—‘अथाशुचिकरानि द्यूतमभिधा-  
 रोऽनादित्वात्तदनेष्टमृग्युत्ति समावृत्तस्य च भैक्ष्यवर्षा तस्य च गुरुकुले यात्  
 ऊर्ध्वं चतुर्वर्षो मासेभ्यो यद्य तमथापयति नद्यग्रनिर्देशनं चति द्वादशमा-  
 साद्द्वादशार्धमासान्द्वादशाहाद्द्वादशपञ्चदशद्द्वादशसप्तहोत्रं ष्यहमेकाहमित्यष्टु-  
 करनिर्देश’ इति द्यूते वर्षिकप्रसमुक्तं,—तदभ्यासविषयम् । वस्तु प्रवेतसोक्तम्—  
 ‘अनृनवाक् सस्वरो राजभृश्वो वृषारोपकगृत्तिर्गर्दोऽग्निवोऽश्वरथजरोहण-  
 वृत्तो रङ्गोपजीवी श्यागनिकः शूद्रोवाध्यावो वृषलीपतिर्भाण्डिको वपुत्रोपजीवी  
 श्वृत्तिर्मण्डजीवी चिकित्सकां देवळकं पुरोहितं कितवो मघरं फुटकारोऽप-  
 त्यधिकर्षां मनुष्येषु विक्रानां चेति तानुद्धरेत्समेत्य स्यायनो ब्राह्मणस्यवधया  
 सर्वद्वेष्यत्वात्ते चतुर्ध्वं कालाहारात् सवसरात् त्रियज्ञमुपशृत्सेषुस्तस्यान्ते देवपितृ-  
 तर्पणं गणादिकं चोपयं व्यवहार्या’ इति,—तदपि बौधायनेन समानविष-  
 यम् । श्यागनिका य श्रमणेन जायति । भाण्डिका यन्दिद्व्यनिरिक्षो राज्ञी तूर्वा-  
 द्विरने प्रथोपविता, यन्दिनाः पृथगुपादानात् । श्वृत्ति सेवकः, मण्डजीवा ब्राह्म-  
 णकार्येषु मूषन परिचारकः । मनुकान्यप्यपाङ्क्त्येवप्रायश्चित्तानि ‘पष्टात्रहालना  
 मासम्’ ( ११२०० ) इत्यादीन्वपि जात्याद्यपेक्षया याऽयानि, तदुक्तापाङ्क्त्य  
 मध्यस्यपि क्रितवादिभ्यसनिना पठितस्यात् । आश्रमविक्रमं शूद्रसेवायां च सामा

-यप्रायश्चित्तानि प्रायश्चित्तं योज्यानि ॥ यत्तु बीषायनेनोक्तम्— तमुदयान  
 प्राङ्मुखस्य -यायापहरण सर्वापण्यैर्व्यवहरण भूयन्वृत शूद्रसेवा यत्र शूद्रायाम  
 भिषायत, तदपश्य च भवति तेषां तु निर्दश 'अतुर्थकाल मितभोजिनाः पुरपाऽ-  
 भ्युपेयु सजानुकरूपम् । स्थानासनाभ्या विहरन्त एनैस्त्रिपर्यन्तदपहरन्ति  
 पापम् ॥ इति -तद्दृष्टकालमवाविषयम् ॥ दानजातिभि सकृत् त्वृषातत्रमासा  
 -यप्रायश्चित्ता यत् ॥ यत्तु प्रचेतनोक्तम्— मित्रभेदनकरणादहोरात्रमनश्नत् हुया  
 पय विधेत्' इति -तदहोरात्रसकृदभेदनविषयम् ॥ हीनयोनिनिषेवणेऽप्युपपातक  
 सामान्यप्रायश्चित्तानि योज्यानि ॥ यत्तु ज्ञातातपेनोक्तम्— प्राङ्मुखो राज-  
 क-यापूर्वी कृत्वा द्वादशरात्र चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, वैश्यापूर्वी तु तप्त  
 कृत्वा शूद्रापूर्वा तु कृत्वा नितिकृत्वा राज कश्चेद्द्वैश्यापूर्वा कृत्वा द्वादशरात्र चरित्वा  
 निविशेत्तां चोपयच्छेत् शूद्रापूर्वी स्वतिकृत्वा वैश्यापूर्वी कृत्वा द्वादशरात्र  
 चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, शूद्रापूर्वी स्वतिकृत्वा वैश्यापूर्वी शूद्रापूर्वी स्वति  
 कृत्वा द्वादशरात्र चरित्वा तां चोपयच्छेत् इति, तत्र निविशेत्तां चोपयच्छेदिति  
 कृत्वा तुष्टानात्तरकाल सवर्णापरिणयनापूर्वं तां च राज वादिकासुययच्छेदित्यथ ।  
 -इदं चाज्ञानविषयम् । ज्ञानतस्तूपपानकसामान्यप्रायश्चित्तं यदवधिपतमेव  
 द्रष्टव्यम् । साधारणस्त्रीगमने च हीनयोनिनिषेवणम् ( प्रा० २४३ ) इत्युक्तं,  
 तत्रापि पशुवश्याभिगमन प्राजापाय विधीयते' इति सर्वसौकमकामतो द्रष्टव्यम् ।  
 कामतस्तु यमेनोक्तं द्रष्टव्यम्— वश्य गमनत्र पाप -वपोहन्ति द्विघातया ।  
 पाश्चात्कालकृत्वा सप्तशतं पुण्योदकम् ॥' इति । उपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि  
 च कामाकामतोऽभ्यासावेक्षया योज्यानि । तत्र मथ्याभ्यासे तु 'प्रतिनिमित्त  
 नैमित्तिकमावर्तते' इति -यायाप्रतिनिमित्त नैमित्तिकाशुची प्रसक्ताया लीगाधिना  
 विशेष उक्तं— अभ्यासेऽर्हगुणा वृद्धिर्मासाद्वांग विधीयते । ततो मासगुणा  
 वृद्धिर्मासवत्सर भवेत् ॥ ततः सवत्सरगुणा वावरापा समाचरेत् ॥' इति ।-  
 इदं मतिपूर्वविषयम् । धर्मिर्पूर्वावृत्ती तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तं—  
 'सङ्कृते तु याप्रोक्तं त्रिगुणं तस्त्रिभिर्दिने । मासापञ्चगुणं प्रोक्तं पञ्चासाहस्य  
 भवेत् ॥ सवत्सरापञ्चदशं शब्दाद्द्विशगुणं भवेत् । ततोऽप्येव प्रकल्प्य स्याच्छा-  
 तातपवशा यथा ॥ इति ॥ यत्पुन 'विधे प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं चरेत्'  
 इति प्रतिनिमित्तमसृष्टिविधायकं, -त-महापातकविषयमित्युक्तं प्राक् । यत्तु यमेन  
 साधारणस्त्रीगमनमधिकृत्य गुरुतत्त्वमतमतिदिष्टम् गुरुतत्त्वमतं केचित्केचिन्वा  
 -दायणमतम् । गोप्तस्य-इति केचित्तु कचिदेवावकीर्णम् ॥' इति ।-एतच्च  
 ज मप्रभृतिसानुबन्धानर्थ-तुष्टानाभ्यासविषयम् । अनन्तर 'तथैवानाधमे वास'

१ हीनस्त्रीनिषेवण । २ पूर्वभ्यासे ।

( प्रा० २४१ ) इत्युक्तं तत्र हारीतेन विशेष उक्त—'अनाध्रमी सवस्र  
प्राजापत्य कृच्छ्र चरिस्वाध्रममुपयात् । द्वितोयेऽतिकृच्छ्र तृतीये कृच्छ्रातिकृ-  
च्छ्रमत् ऊर्ध्वं चा-द्रायणम्' इति ।—एतदसभवविषयम् । सभवे ॥ सामा-  
येनोपपातक-  
प्रायश्चित्तानि कामाकामतो व्यवस्थापनीयानि । परपाकठचित्वासच्छास्त्राधिग-  
मनाकराधिकारभार्याविक्रयेषु च मनुयोगीश्वरप्रतिपादितोपपातकसामा-  
न्यप्रा-  
यश्चित्तानि जातिदाकिगुणाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ॥ २८८ ॥

भाषा—प्राय ( पतित सावित्री ) को पञ्च कराने वाला और अभिचार  
कर्म करने वाला तीन कृच्छ्र मत्त करे । अपने वेद का विप्लावन करने वाला  
( षण्ढाक आदि के समस्त और अनव्याप में पड़ने वाला ), तथा शरण में  
भावे हुए व्यक्ति की ( समर्थ होने पर भी ) रक्षा न करवे वाला एक वर्ष तक  
जौ का भात खाने पर शुद्ध होता है ॥ २८८ ॥

'भार्यायाः विकलक्षेणाम्' ( प्रा० २४२ ) इत्यत्र 'ख शक्यो मन्वाद्युक्ता-  
सप्रतिग्रहनिन्दिताश्चावनाहीनामुपलक्षणाथमियुक्तम् । तत्रासप्रतिग्रहे प्रायश्चि-  
त्तविशेषमाह—

गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी मासमेकं पयोमत् ।

गायत्रीजल्पनिरतं शुद्धयतेऽसप्रतिग्रहात् ॥ २८९ ॥

यस्यसप्रतिग्रह निषिद्धप्रतिग्रह करोति स ब्रह्मचर्ययुक्तो गोष्ठे वसन् गायत्री-  
जल्पनिरतो गायत्रीजपशीलो मास पयोमतेन शुद्धयतीति । प्रतिग्रहस्य चासथ  
दातुर्जातिकमनिबन्धन यथा चाण्डाकादे पतितादेश्च । उभा वेदाकाकनिबन्धन  
त यथा कुरुक्षेत्रोपरागादौ तथा प्रतिग्राह्यस्वनिबन्धन च यथा सुरामेयीमृत-  
दास्योभयतोमुख्यादे ॥ यदा तु पतितादेर्मैथ्यादिक प्रतिगृह्णाति, तदैतद्गुरु  
प्रायश्चित्त द्रष्टव्यम्, स्पतिक्रमद्वयदर्शनेन निमित्तस्य गुरुत्वात् । तत्र जपे मनुना  
सपवाविशेष उक्त ( १११९४ )—'जपित्वा त्रीणि सावित्र्या सहस्राणि  
समाहित । मास गोष्ठे यथ पीत्वा मुच्यतेऽसप्रतिग्रहात् ॥' इति प्रत्यह  
त्रिसहस्रजपो द्रष्टव्य, 'मासम्' इति द्वितीयया त्रिसहस्रसंख्याकरणेन जपस्य  
प्रतिदिवस-व्यापित्वावगमात् । यदा तु व्यापयतिप्राणनादे सकाशात्प्रिषिद्ध  
मेपादिक गृह्णाति, पतितादेवां भूग्यादिकमनिषिद्ध तदा षट्षिदा-मतोक्त द्रष्ट-  
व्यम्—पवित्रेष्टया विशुद्धयन्ति सर्वे घोरा प्रतिग्रहा । ऐ-दयेन मृगारेष्टया  
कदाचिन्मिथ्य-दया ॥ देभ्या लक्षजपेनैव शुद्धय ते दुष्प्रतिग्रहात् ॥' इति ।  
यत्तु वृद्धद्वारीतवचनम्—राज्ञ प्रतिग्रह कृत्वा मासमप्यु सदा वसेत् । पष्ट

काले पयोभक्ष पूर्ण मासे विशुद्ध्यति ॥ तर्पयित्वा द्विजा-कामै सतत  
नियतव्रता ॥' इति—तत्पूर्वोक्तविषयेऽभ्यासे द्रष्टव्यम् । अथवा,—पतितादे-  
कुरुक्षेत्रोपरागादौ कृष्णाजिनादिप्रतिग्रहविषयम् । तथा प्रतिघातद्वयारूपतया  
प्रायश्चित्तावस्यम् । यथाह हारीत—'अग्निवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावि-  
सहस्र जपेत्' इति । तथा ऋत्विजस्यतेऽपि—'मिधमात्र गृहीते ॥ पुण्य  
म-प्रमुदोत्तरत् । प्रतिग्रहेषु सर्वेषु पष्टमन प्रकचरेत् ॥' इति च प्रायश्चित्तजात  
द्रव्यस्यागोत्तरकाल द्रष्टव्यम् । ( ११।१९३ )—यद्गृहितेनार्जयन्ति कर्मणा  
प्राज्ञाना धनम् । नस्योत्सगग शुद्धयन्ति जप्येन नपस्येत् च ॥' इति मनु-  
स्मरणात् । पवम-या-यपि स्मृतिवाक्यानि द्रव्यसाराहपरत्वमहर्षाभ्यां विषयेषु  
व्यवस्थापनीयानि ॥

हस्तुपपातकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

आत्याधवादिदोषेण नि-घात्तारेण घा-दत् ।

योगीन्द्रोक्तप्रतयात् सर्वप्रत तु मत-यत्वे ॥

तत्र जातिदुष्टपलाण्ड्यादिभक्षणे कामत सकृत्कृते 'पलाण्डु विद्वराह च'  
( भा० १७६ ) इत्यादिना चान्द्रायणमुक्तम् । कामतोऽभ्यासे तु 'निपिच्छभक्षण  
जैष्ठ्य' ( प्रा० २२९ ) इत्यादिभोक्त सुरापानसमप्रायश्चित्तम् । अकामता सकृत्क्षणे  
सान्त्वयन्म् । तत्रैवाभ्यासे यतिचान्द्रायणम् ।—'अमस्यैतानि पद्विजरावः कषण  
सान्त्वयन् चरेत् । यतिचान्द्रायण वापि शेषेपूपवसेदह' ( ५२० ) इति मनु-  
स्मरणात् । यत्तु बृहस्पतेनोक्तम्—'स्रट्वावार्ताककुम्भीकयश्चनप्रभवानि च । भूतुण  
शिमुक चैव सुखुण्ड कवकानि च ॥ एतेषां भक्षण कृत्वा प्राजापश्य चरेद् द्विजा ॥'  
इति, तत्रकामतोऽभ्यासविषयम् । मस्यैवाश्च कामतो जग्वा सोपवासस्यह क्षिपेत्'  
इति योगाक्षरेण कामत सकृत्क्षणे अहस्योक्तत्वात् । स्रट्वाक्य पक्षी । सुखु-  
म्भमित्यन्ये । कवक रात्रसर्पवाक्य शाकम् । सुखुण्ड तद्विशेषे गोवलीवर्ष-यापेन  
निर्विष्ट । यत्तु पतेनोक्तम्—'त-दुकीवककुम्भीकयश्चनप्रभवारतथा । नाळिका  
नारिकली च शुभ्रमातकफलाणि च ॥ भूतुण शिमुक चैव स्रट्वाक्य कवक तथा ।  
एतया भक्षण कृत्वा प्राजापश्य व्रत चरेत् ॥'इति,—तदपि मतिपूर्वग्यासविषयम् ।  
नाळिका नारिकली च क्षाकविशेषौ । स्रट्वाक्यश्च । अकामत सकृत्क्षणे तु  
'शेषेपूपवसेदह' ( ५२० ) इति मनुक्त द्रष्टव्यम् । तत्रैवाभ्यासे स्वावृत्ति  
कक्ष्या । आद्यस्ताभ्यासे तु—'ससर्गदुष्ट यत्पचाञ्च क्षिषादुष्टमकामतः । भुक्त्वा  
स्वभावदुष्ट च तसकृच्छ्र समाचरेत् ॥' इति प्रचेतोमिहित द्रष्टव्यम् । नीषयास्व-

१ पूर्णमासे प्रमुच्यते । २ मात्रे गृहीत्वा तु ।

३८ या०

कामतः सकृद्वचने चान्द्रायणम्—'अप्येषधि नीलीं तु प्रमादात् मातृगः क्रधित् ।  
चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापरतमोऽप्रतीमुनिः ॥' इति भावस्तःपरमराजम् ।  
कामतोऽम्बासे चार्द्धिः कल्पः ॥ यद्वि पट्त्रिसन्मतेऽभिहितम्—'नगपुपं  
शाहमलं च करनिर्भेषितं दधि । चहिर्वेदिपुरोडासा अस्या नाद्याद्दनिदम् ॥' इति,  
तदप्यकामविषयम् । यत्तु सुमन्नुनोक्तम्—'लघुनपलाण्डुगृह्णात् २४ मण्डलं सावि-  
त्र्यपदसदृशेण मूर्धनि सवाताप्रयेत्, इति,—तद्विहारकारेणानिषद्गो भयगविषयम् ।  
तदेकसाप्यस्याभ्युपशमार्थं वा मण्डले द्रष्टव्यम् । अत एवामन्तरं तेनेत्रोक्तम्—  
'एतामेव स्वाधिनस्य भिषक्तिव्यापामप्रतिपिदानि भयति । यानि चैवंप्रकारानि  
तेत्यपि न स्वापः' इति । संवाताप्रयेदुदकविशुद्धिप्रतिवेत् ॥

अथ जातिदुष्टसंश्लेषादिघोरराने प्रायश्चित्तम् । तत्र काकामतः सकृद्वचने  
( ५१८-१० )—'अनिर्दंताया गोः चोरमोष्ट्रमेकवक्त्रं तथा । आरिक्त सधिनीघोरं  
विवरसापाह गोः वयः ॥ आरण्यानां च सर्वेषां मृताणां महिषीं विना । आघोरं  
चैव वज्रानि सर्वशुक्लानि चैव हि ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्लेषु सर्वं च दधिमंभयम्'  
इत्युक्त्वा 'दोषेष्टुवसेदहः' ( ५२० ) इति मन्त्रं उपवाप्तो द्रष्टव्यः । कामतस्तु  
योगीश्वरोक्तप्रियाशोपवाप्तो द्रष्टव्यः ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अरितरोष्ट्र-  
मानुषीघोरमाशने तसदृष्टः पुनश्चयन च । अनिर्दंताहगोमहिषीघोर-  
माशने पद्मप्रमभोजनम् । सर्वासां द्विरननीशरी घोरवानेऽप्यजावर्जमेतदेव'  
इति । यद्य द्रष्टेन—'घीशानि चान्यभक्ष्यानि तद्विकाराशने घृष्टः । ससराग्रमर्तं  
क्रुषाप्रदानेन समाहितः ॥' इति चावन्मन्त्रमुक्तं, तदुभयमपि कामतोऽम्बासवि-  
षयम् । यत्तु शब्देन—संधिष्यमेधमर्षयोः चोरमाशने पद्मप्रतनुक्तम्—'संधि-  
न्यमेधमर्षयोर्भुशवा पद्मप्रतं चरेत् इति,—तदप्यम्बासविषयम् । 'मङ्गावाने  
गोऽजामहिषीवर्षं सर्वाणि पचांसि प्राशयोवसेत् । अनिर्दंताहं तान्यपि सधि-  
नीवममूरदग्निविषाघोरं चामेधमर्षजम्' इति विष्णुनोपशान्तरोक्तंवात् ।  
तथा घर्णनिबन्धनश्च प्रतिषेधः—'संधिष्यावि घृष्टस्थो वैश्वः शुद्धोऽधवा पुनः ।  
यः विवेकविहासोरं न ततोऽप्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥' इत्येवमादौ च यत्र प्रतिषे-  
धोक्तं प्रायश्चित्तं च द्रष्टव्यम् । कामतोऽम्बासे तु ( १११५२ )—'जापवा मांस-

अथ इवभावदुष्टमासादिमण्डले प्रायश्चित्तमुक्तम् । तत्र कामतः सकृद्वचने 'दोषे-  
ष्टुवसेदहः' इति मन्त्रं साधारणं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । कामतस्तु—'चापांश्च  
रक्तपादांश्च सीनं वद्वारमेव च । मरस्यांश्च कामतो जग्वा सोपवासस्यदहं वसेत् ॥'  
इति योगीश्वरोक्तं द्रष्टव्यम् । कामतोऽम्बासे तु ( १११५२ )—'जापवा मांस-

मभक्ष्यं तु 'सप्तरात्र यज्ञ-विषेत्' इति मनुक द्रष्टव्यम् । इदं च विट्पुत्रादिमा-  
स्यतिरिक्तविषयम् ( ११।१५६ )—'द्विष्याद्विद्वत्सूक्तोप्राणां कुक्षुदानां च भक्षणे  
नरकात्पराश्रानां तस्य हृत्पुत्रं विद्वो धनम् ॥' इति मनुना जातिविशेषेण प्रायश्चि-  
त्तविशेषपक्षोक्तत्वात् । एतन्मूत्रपुरीषमादानेऽप्येतदेव ।—'पराहैकशफानां च  
च कान्तुरतुटयोस्तथा । क्रथवादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः ॥ मांस-  
मूत्रपुरीषाणि प्रारथ गोमासमेव च । श्वतोमायुर्गोमां च तस्य हृत्पुत्रं विधीयते ॥  
उगोप्य वा द्वादशाहं कृत्वा मांसेऽनुद्वयाद्दण्डम् ॥' इति बृहस्पतिसंस्मरणान्तः । तत्र काम-  
तस्तस्य हृत्पुत्रं, अभ्यासे तु कृत्वा मांसमहितः पराक इति व्यवस्था ॥ तथा प्रचेत-  
साप्युक्तम्—'श्वत्पालकाककुक्षुटपापंतवानरचित्रकषापद्विष्यादपरोऽप्यगजशक्तिवि-  
द्वराहगोमानुपमासभक्षणे तस्य हृत्पुत्रमादिनैरेषो मूत्रपुरीषभक्षणे 'वतिहृत्पुत्रम्'  
इति ।—इदं च कामकारविषयम् । यत्तु ननु यद्यनम्—'नरमांसं श्वमांसं वा  
गोमांसं चाश्वमेव च । भुक्त्वा यज्ञनराभां च नहासाम्त्वपनं चरेत् ॥' इति,—  
तदकामविषयम् ॥ यथा द्विषो वचनम्—'बलाकाभासशुभ्रासुरवानरसूकरान् ।  
दृष्ट्वा चैवाममे-पानि र्गृह्णन्त्यप्य विशुद्धयति ॥ इष्टवैपाममे-पानि भक्षयिष्या  
द्विजातयः । कुर्युः साम्त्वपनं हृत्पुत्रं प्राजापरयमनिष्कृष्या ॥' इति—तद्विधोऽत्रा-  
रितविषयम् । 'साम्त्वपनं' इत्येतेन चात्र महासाम्त्वपनमुच्यते । अकामतः प्राजाप-  
त्यविधानात् । यत्तु नरद्विषो वचनम्—'नरकाकलरारराणो ज्ञाप्या मांसं गजस्य  
च । पूर्वं मूत्रपुरीषाणि द्विजस्यान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । यत्तु बृहस्पतेनोक्तम्—  
'शुक्लमासादाने विप्रो यत चाग्नायणं चरेत्' इति । तदुभयमपि कामतोऽप्य-  
सविषयम् । यत्तु नः कर्त्तव्योक्तम्—'भुक्त्वा चोभवतो दृष्टास्तथा चैकशफानवि ।  
भौत्स्व गंध तथा जग्था यन्मासा-प्रनमाचरेत् ॥' इति,—तदकामतोऽप्यन्त्यास-  
विषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरोक्तम्—'जग्था मांसं नरमां च विद्वराहं पर तथा ।  
गवाश्वतु अरोऽप्राणां सर्वं वाज्जनय तथा । क्रथ्याद् कुवकुटं प्रायं कुर्वांसवत्सर-  
प्रनम् ॥' इति,—तदश्वत्थानवत्पिष्ट्याभ्यामविषयम् । अत्र प्रकरणे 'मूत्रपुरीष'ग्रहण  
वत्साशुक्लागृह्यज्ञानानुवर्तनम् । कर्त्तव्यित्-वृत्तिमलपरिके र्थं कथयनीयम् ॥

केनादिपु पुनः पर्युत्थितमते विशेष उक्तः—'अत्रिमहितमृगानां भाममा-  
सभक्षणे केनानरहरधिरमादाने बुद्धिपूर्वं यिसाग्रमज्ञानानुपवास' इति । यत्तु प्रपेय-  
सांक्षम्—'नरकेतमृगोष्टमेषणेऽहाराश्रमभोजनानुत्पुदि' इति,—तदप्यकामतः सत्-  
त्प्रादानविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरवचनम्—'कदाहीटनयं प्रारथ मारयत्पुटकमेव  
च । हेमत्सं पूत पीत्वा तस्यैवाश्वं शुद्धयति ॥' इति,—तन्मुग्यमाश्रयं विषयम् ॥  
यदा तु भाजनस्यमन्त्रं केनादिपुनितं भवति तदा—'धमने भोजनकाले तु सवि-

१. सप्तरात्र पयः विवेक्षितः । २. पराणां च । ३. गंधं मांसम् ।

काकेशदूयिने । अन्तरं स्पृष्टेदापस्तघान्नं भस्मना स्पृष्टेत् ॥' इति प्रचेतसाभि-  
हितं वेदितव्यम् । प्रासन्निकोऽयं रत्नोक्तः ॥ सूक्ष्मतरकृमिकीटास्थिभक्षणे पुनर्हारी-  
तेन विशेष उक्तः—'कृमिकीटपिपोलिकाजलीकःपतङ्गास्थिप्रादाने गोमूत्रगोमया-  
दारस्त्रिरात्रेण विशुद्धवति' इति । जलीको मर्यादादिः । एवं च पशुपतप्रजलघन-  
रमोत्सादिप्रादाने संक्षेपतः प्रायश्चित्तानि प्रदर्शितानि, मन्थगौरवभयाप्रतिष्पत्किर्न  
लियमसे ॥

अथाद्युचितंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तं तत्र तावदुच्छिष्टाभक्षवभक्षणे वक्ष्यते । तत्र  
मनुः । ( ११।१५९ )—'विहालकाकान्च्छिष्टं जगत्या अन्नकुलस्य च । कैशकी-  
टावपन्नं च विवेत् माक्षीं सुपर्णलाम् ॥' इति कालवित्तोपानुपारानादेकरात्रम् । इदं  
च कामतो द्रष्टव्यम् । यत्तु विष्णुनोक्तम्—'पश्चिष्वापदग्धस्व रत्नरपाद्यस्य भूपसः ।  
संस्काररहितस्यापि भोजने कृच्छ्रपादकम् ॥' इति,—तरकामकारविषयम् । संस्कारं  
'देवद्रोण्या'मित्यादिना द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तो द्रष्टव्यः । यत्तु तातातपेनोक्तम्—  
'शकाकाद्यवलीदशुद्रोच्छिष्टभोजने स्वतिकृच्छ्रम्' इति,—तदकामतोऽभ्यासविषयम् ।  
यत्तु चाग्नेन—'शुनामुच्छिष्टकं भुक्त्वा मासमेकं मनी भवेत् । काकोच्छिष्टं गवा  
प्रातं भुक्त्वा पक्षं मनी भवेत् ॥' इति यावत्कर्मतमुक्तं,—तरकामतोऽभ्यासविषयम् ।  
प्राक्षणाद्युच्छिष्टभोजने तु बृहद्विष्णुनोक्तं—'प्राक्षणः शुद्धाच्छिष्टादाने सप्तशतं  
पञ्चगव्यं विधेत्,—वैश्वोच्छिष्टादाने पञ्चशतं राजन्वोच्छिष्टादाने त्रिशतं प्राक्षणो-  
च्छिष्टादाने श्वेकादम्' इति,—तरकामकारविषयम् । यत्तु यमवचनम्—'भुक्त्वा  
सह प्राक्षणेन प्राजापत्येन शुद्धवति । भूभुक्त्वा सह भुक्त्वाभान्नं तसकृच्छ्रेण  
शुद्धवति ॥ वैश्वेण सह भुक्त्वाभान्नमतिकृच्छ्रेण शुद्धवति । शुभ्रेण सह भुक्त्वाभान्नं  
चान्द्रायणमप्यचरेत् ॥' इति, तरकामतोऽभ्यासविषयम् ॥ यत्तुनः सप्तवचनम्—  
'प्राक्षणोच्छिष्टादाने महाभ्याहृतिभिरभिमन्त्र्यापः विधेत्, अत्रिवोच्छिष्टादाने प्राक्षी-  
रसविपक्षेण षडहं क्षीरेण वर्तयेत्, वैश्वोच्छिष्टादाने त्रिशोषोदितो माक्षीं सुवर्षलां  
विधेत्, शुद्रोच्छिष्टभोजने पद्मात्रमभोजनम्' इति,—तदकामविषयम् । तत्राभ्यासे  
द्वैगुण्यादिकं वक्ष्यम् । यत्तच्च विद्यादिस्यतिरेकेणः 'पितृर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरच्छिष्टं  
भोज्यम्'(४।११) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । यत्तुबृहद्द्वयासवचनम्—'माताया भगिनी  
वापि भार्या वाऽन्वाह्यं योषिनः । न तामिः सह भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं  
चरेत् ॥' इति,—तरसहभोजनविषयम् । उच्छिष्टमात्रभोजने तु 'शुद्रोच्छिष्टभोजने  
सप्तशतमभोजनं स्त्रीणां च'(१।२६।४-५) इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तुत्रिरो-  
वचनम्—'प्राक्षण्या सह घोऽरनीवाद्युच्छिष्टं वा कदाचन । तत्र दोषं न मन्वस्ते सर्वं  
एव मनीषिणः ॥' इति,—तद्विवाहविषयमात्रद्विषयं वा । अत्रयोच्छिष्टभोजने तु—

‘अन्त्यानां भुक्तयेषु तु भक्षयिषां त्रिजातयः । चात्र वृष्टं तदर्थं च मलप्र-  
विशं विधिः ॥’ इत्यापस्तम्बेक इष्टव्यम् । अत्र चात्र चात्रापणम् । अन्ते-  
रमाद्युत्तिष्ठभोजने तु—‘चाण्डालपतितादीनामुत्तिष्ठष्टाश्वर्य भक्षणे । चात्रापण  
चरेत्त्रिः । एष मा-तपन चरत् ॥ यद्वा एष त्रिराश च वर्णयोरनुपूर्वतः ॥’  
इत्यङ्गिराभिहित मा-तपनमत्र महापानपन इष्टव्यम् । आपदि तु—‘जापरकाष्ठे  
तु विप्रेण भुक्तं शुद्धशुद्धं यदि । मनस्तापनं शुद्धेषु हुपदानां घतं ज्ञेयं ॥’  
इति पराक्षराक्तं वदितव्यम् ॥ यत्तु वृष्टं चात्रापणोक्तम्—‘पीतघोषं तु परिक्लि-  
प्ताजने सुप्रभिसूत्रम् । भभोज्यं तद्विज्ञानीवाद् भुक्षय्य चात्रापणं चरेत् ॥’  
इति,—तद्व्यपामविषयम् ; निमित्तपरवानिलसुपात् ।—‘पीतोत्तिष्ठत् च पानीय  
पीत्या तु प्राज्ञजाः क्वचित् । त्रिराशं तु मत्तं कुर्याद्भामहस्तेन वा पुनः ॥’ इति,—  
एतद्दुष्टिपूर्वविषयम् । अकामतस्त्वर्थं कथ्यम् । दोषोत्तिष्ठे तु—‘दीपात्तिष्ठे तु  
यत्तैलं रात्रीं रत्नप्राहतं च यत् । अश्वहावयैश्च वदिदुष्टं भुक्षया नक्तनं शुद्धवति ॥’  
इति परद्विज्ञानतोक्तं इष्टव्यम् ॥

अथाशुचिर्नृपसप्तशुद्धभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्राह सवर्तः—‘केतकीटावपनं च  
नालीलाक्षोपयातितम् । घ्रात्यशुचिर्नृपसप्तशुद्धं भुक्षया यूपवसेदहः ॥’ इति ।  
तथाह घ्रातातप —‘केतकीटावपनं च त्रिपरिमांसात्पूरयत्पूरयत्तुभूज्यावेचितपताम्ब-  
वलीदधन्मूकरगवाप्रातस्तुंकर्युं पितृपापघ्नेषां प्रहरिषां भाजने उपवामः पञ्च-  
गवादानं च ॥’ इति,—एतच्चोपवसवि अकामत्रियम् । कामतस्त्वु ‘गृह्णारिक्तमु-  
मादींश्च कञ्चकंश्चुमूकान् । विष्णुमृदुविनाम्भारं वृष्ट्युपात्तं समाचरेत् ॥  
सनिष्ठेष्टेऽर्थमथ स्वामृष्टं स्वामृष्टं चित्ताधनम् ॥’ इति विष्णुवदं वदितव्यम् ।  
अवसमर्गं पादं महासमर्गं स्रुष्टं इति उपवसाः । यत्तु स्वासेनोक्तम्—‘मत्तर्ग-  
नुष्टं पश्चात् नक्रियादुष्टं च कामतः । भुक्षया रत्नप्राहं च तत्तद्गृह्यत् समाचरेत् ॥’  
इति, एतच्च सत्प्रामेय्यादिसोपलक्षणी वदितव्यम् । रत्नप्राहं चित्ताधनं तु सत्प्रा-  
क्तम्—‘अमेवपतिताचाण्डालं पुष्टकतस्त्रयं च पुत्रकृत्स्निकुट्टिरपि नश्यति भुक्षया  
वृष्टं चरेत् ॥’ इति । कुनिर्हंसविकलाः ।—एतच्चामकारविषयम् । अकामतोऽर्थम् ।  
‘भुक्षयात्पूरयैरनघाती चिक्कसकटिश्च दूषितम् । कुण्डोत्तुत्तरविकलाद्यैः पमसागुञ्ज-  
पश्चैः । सत्पुष्पासुचर्वादिषां पीत्वा विशुद्धवति ॥ इति चत्विष्णुवेक,—तद्व्य-  
क्तविषय, रत्नकादिशुद्धविषय वा । गृह्यात्पुष्टं तु द्वासीतोक्तं चिन्त्यम्—‘गृह्येनाप-  
हतं मो-य कोटैर्वाऽमप्यसविभिः । भुञ्जानेषु वा यत्र गृह्ये उपयुक्तं द्वासीतानं पश्ये  
तु भुञ्जानेषु वा यत्रोत्पादोत्तिष्ठत् यत्तद्गृह्यात्पुष्टं कुस्मिन्वा वा यत्र गृह्ये द्वासीतम्

१. तद्विज्ञानतोक्तं । २. शुद्धवपुषि । ३. सुचिभाजनं ।  
४. पुष्टम् ।



प्रायश्चित्तमहोरात्रम्' इति । उच्छिद्यत्पद्भिर्भजनेऽप्येतदेव—'वस्तु भुङ्क्ते द्विज-  
 पद्भ्यामुच्छिद्यतायां कदाचन । महोरात्रोपितो नृवा पञ्चगव्येन शुद्धवति ॥' इति  
 ऋतुस्मरणात् । घामकरनिर्मुक्तपत्रभोजने तु—'समुत्थितास्तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्त  
 मुक्तभाजने । पत्र वैवस्वत प्राद मुवत्त्र सा-तपन चरेत् ॥' इति षट्त्रिंश-  
 शोफ 'वदितभ्यम् ॥ तथा पराजाला-वप्राप्तम्—'एकपलः स्युपरिष्ठाना विप्राणां  
 सहभोजने । वधेकोऽपि त्यजेत्पात्र दोषम-न न भोजयेत् ॥ न्नाद् नु ज्ञोत पराप्र  
 पदः क्वामुच्छिद्यभोजन । प्रायश्चित्त चरेद्विष कृत् सा-तपन तथा ॥' इति ॥  
 दावाहितपुष्पपाण्डुरकपान ॥ विष्णुराह—'मृगपञ्चमदास्तृणादाव-तोषहनाद्वा  
 दक पीत्वा प्राङ्मण्डलस्य हमुवसेत् द्वयद्वा रात्रय एकाद् वैश्य शूद्रो ऽपि तप  
 चा-तं पञ्चमस्य विधेयुः' इति । अथ-तोषहताइति मृगपुराणादिभिर्वैश्वभिमे  
 तम् । यदा तु तत्रैव तपमुच्छिद्यतापोऽज्ञ न भवति तदा हारीता विनापमाह—  
 'त्रिंशत्ते भिन्न दाव तोष तत्रस्थ यदि चरितयेत् । शुद्धवै चा-त्रायण कुर्यात्तप्त-  
 कृत्पुत्रपापि वा ॥ यदि कश्चित्ततः स्नावात्प्रमादन द्विजोत्तम । जपद्विपवणस्नापी  
 महोरात्रेण शुद्धवति ॥' इति । इदं चा-त्रायण कामगो मानुषदावापहतपूरतल-  
 पानविषयम् । अकामतस्तु पद्भ्याम्—'बिल-न भिन्न दा ३ व कृत्स्थ यदि  
 द्यतते' । पत्र विधेयिशात्रेण मानुषे द्विगुण स्मृतम् ॥' इति त्वल्लस्मरणात् ।  
 यदा चाण्डालकृपाद्विगत जल विषति तदापरस्तम्बोक्त व्रष्टव्यम्—'चाण्डाल-  
 कृपभाण्डस्थ नराः कामाज्जल विधेत् । प्रायश्चित्त कथं तत्र प्रण वर्णं विनिर्दिशेत् ॥  
 चरेत्सा-तपन विष प्राजापश्य च भूमिषः । तर्धं तु चरेद्वैश्य शूद्रे पापं विनिर्दि-  
 शेत् ॥' ( १३५ ) इति । इदं च कामकारविषयम् । अकामतस्तु—  
 'चाण्डालकृपभाण्डस्थमजानाद्दुदक विधेत् । न तु स्वहेन शुद्धयेत् शूद्रस्त्वकन  
 शुद्धवति ॥' इति देवलोचन व्रष्टव्यम् ॥ चाण्डालाद्विसृज्यद्वा राजलापायश्चपि कृत्-  
 पश्चुद्धि—'जलास्येष्वाशयेषु स्थापयेत् महीतले । कृत्वाकथिता द्वादिर्महास्तु  
 तु न दूषणम् ॥' इति विष्णुस्मरणात् । पुष्करिण्यादिषु तु—'स्त्रेष्वादीनां  
 जल पीत्वा पुष्करिण्यां हवेऽपि वा । जानुद्धन शुचि जेवमधस्ताद्गृचि स्मृतम् ॥  
 सप्तोय यः विधेद्विषः कामतोऽकमतोऽपि वा । अकामावक्तभोजी स्वाद्दहोरात्र  
 तु कामत ॥' इत्यापस्तम्बोक्त व्रष्टव्यम् ॥ रजकादिभाण्डगतताये तु—'भाण्ड  
 स्थमन्यजानी नु जल दधि पय विधेत् । ब्राह्मण चरियो वैश्य शूद्रश्चैव  
 प्रमादत ॥ मल्लकूर्चोपनासेन द्विजातीनां तु निष्कृति ॥ शूद्रस्य चोपवासेन  
 तथा दानेन शक्ति ॥' इति पराजरोक्त वेदितभ्यम् । कामतस्तु द्विगुणम्—

१. व्रष्टव्यम् । २. तस्मृष्ट । ३. निर्वैश्वमिहितम् । ४. उच्छिद्यतपाभिन्न ।  
 ५. जायते ।

‘अभयज्ञे खानिता कृपास्तदागा चाप्य एव वा । एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापयेन शुद्धयति ॥’ इति आपस्तम्बोक्तमभ्यासविषय वेदितव्यम् ॥ यथा-परतन्त्रेण चण्डालकृपादिजलपाने पञ्चगव्यमात्रमुक्तम्—‘प्रपाश्वरण्ये घटके च सौरे द्रोण्या जल कोशविनिर्गतं च । श्वपाकचण्डालपरिमहेषु योत्वा जल पञ्चगव्येन शुद्धयेत् ॥’ इति, तदशक्तविषयम् । ‘प्रपां गतो विना तोय शरीर यो निषिञ्चति । यथाहृद्यण कृत्वा सचैत स्नानमाचरेत् ॥ सुराघटपवातोय पीत्वा नाभ्य जल तथा । अहोरात्रोपिनो भूषा पञ्चगव्यं जल पिबेत् ॥’ इति ॥

अथ भावदुष्भङ्गे प्रायश्चित्तम्—भावदुष्टं च यद्वृणत भाकारतो वा विन दशतया द्रुगुप्सितशाशिरमलाद्विजासनां जनयति तदुच्यते । अग्निप्रयुक्तगारलादि-दाह्यायां वा । तत्र च पराशर — वायुदुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते । भुशवा-न प्राह्मण पश्चात्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥ इति ।—एतत्कामकारविषयम् । यत्तु गौतमेन भावदुष्टं केवल इत्यादि प्राक्पञ्चनखेभ्यः पक्षिणा प्रायश्चित्तमुक्तम्—‘प्राक् पञ्चनखेभ्यश्च दनं घृतप्राशनं च’ इति, तदकामविषयम् ॥ दाह्यायां तु—‘दाह्यास्थाने मनुस्नाने नभोज्याभ्यवसज्जिते । आहारशुद्धिं वक्ष्यामि त-मे निगदत शृणु ॥ अक्षारलवणा रूपां विवेदुमाहो सुखचंलाम् । त्रिरात्रं शङ्खपुष्पां वा प्राह्मण पयसा सह ॥ पलाशबिल्वत्रयानि कुशा पद्ममुद्गरम् । अथ विवे क्वापविवा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥’ इति पक्षिणोक्तं द्रष्टव्यम् । मनुनाप्यभो-वभोजनदाह्या-यामुक्तम् ( ५।११ )—‘सत्राभ्यस्यैकमपि चरेत्-तु द्विजोत्तम । शशातभुक्-शुद्धयर्थं शातस्य तु विज्ञेयत ॥’ इति ॥

अथ कालदुष्टभङ्गे प्रायश्चित्तम्—कालदुष्टं च पर्युषितानिर्दंशगोक्षीरादि । तत्र चाकामत ‘शेषयूरववेदह’ इति मनुक्तं वेदितव्यम् । कामतस्तु—केर काशि च शुक्रानि तथा पर्युषितं च यत् । श्रद्धापयकं भुशवा च त्रिरात्रं तु मती भवेत् ॥’ इति प्रादुोक्तं वेदितव्यम् । कवला-वस्नेहोक्तानि । अनिर्दंशगोक्षीरा दिषु प्रायश्चित्तं प्राक् प्रदर्शितम् । नवोदकपाने तु पञ्चगव्यप्राशनम्—‘शृङ्गास्थिद-स्तत्रै पात्रे शङ्खशुक्रिकरपर्दकैः । पीत्वा नवोदकं श्वेत् पञ्चगव्येन शुद्धयति ॥’ इति वृहदाश्विनवस्नेहस्मरणात् ॥ कामतस्नूरवास कर्तव्यं—‘काले नवोदकं दृढं न विवेच्य स्पृहं हि तत् । अकाले तु दद्याह स्यात्पीत्वा नाद्यादहनिशम् ॥’ इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । ग्रहणकाले भोजने तु या द्रायणम्—नवभ्राद्ग्रामपञ्जका-द्यमग्रहभोजने । नारीणां प्रथमे गर्भं भुशवा या द्रायणं चरेत् ॥’ इति द्वातातप स्मरणात् ॥ यदा तु सप्रहादन्पत्र निषिद्धकाले मुह्यते, तदाह माकण्डेय—‘चन्द्रस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भागं च । ग्रहणं तु भवेत्तस्मिन् पूर्वं भोजन

क्रियाम् ॥ नापरेऽसंग्रहे चैव तथैवास्तमुपागते । यावत्स्यान्नोदयरतस्य नारनीपा-  
त्तावदेव तु ॥' तथा—'ग्रहणं तु नरदि-न्नो प्रथमादधियामत । भुञ्जीतावर्तना-  
पूर्वं प्रथमे प्रथमादध ॥' तथा—'अपराह्णे न मपराह्णे मायाह्णे न तु स्रष्टव ।  
भुञ्जीत सद्भवे चेस्यान्न पूर्वं भोजनक्रिया ॥' (४।५५) इति । यस्व मनुनो-  
क्तम्—'नारनीपासधिवत्तार्था नातिप्रगे नाति सायमित्यरमादि' । यस्व गृह-  
पद्यातातपेनोक्तम्—'धाना दधि च सत्सूक्ष्म धीकामा यज्वं वज्जिज्ञ । भाजन  
तिलसपद्य स्नाम चैव विषयण ॥' इत्यथमादिष्वनादिप्रयश्चित्तपु— प्राणा-  
यामशत कार्यं सर्वं पापपुत्रये । उपपातकप्रानानामनादिष्टस्य धव हि ॥'  
इति योगीशरोक्त प्राणायामशत द्रष्टव्यम् ॥ अकामतस्तु शवेपूषसेदह'  
(५।२०) इति मनुभोपवासो द्रष्टव्य ॥

अथ गुणदुष्टशुकादिभणने प्रायश्चित्तम् । तत्र मनु ( १।१।५३ )—  
शुकानि च कपामांश्च पीरवाऽमेप्या-वपि द्विज । तावन्नशयप्रयता यावत्तन्न  
प्रजापथ ॥' इति अप्राकामत 'शेपेपूषसेदह' इत्युपवासो द्रष्टव्य । काम  
तस्तु—'कवलानि च शुक्तानि तथा पर्युपित च यत् । श्वजीपपक भुक्त्वा च  
त्रिरात्र तु प्रती भवत् ॥' इति शक्यलोक द्रष्टव्यम् । पृतन्यामलकादिकलयुक्त-  
काञ्जिकादिभ्यतिरेकण द्रष्टव्यम् । 'कुण्डिका सफला येषु गृहेषु स्थापिता भवत् ।  
तस्यास्तु काञ्जिका प्राद्या नेतरस्या कदाचन ॥' इति स्मरणात् ॥ उद्वृत्तस्ने-  
हादिषु तु 'उद्वृत्तस्नेहविलयनविषयाकमपितमभृवीनि चात्तवीर्यानि नारनी-  
यात्' इत्युक्त्वा 'माकपञ्चनखम्परखर्दने पृतमासन च' इति गीतमोक्त द्रष्ट-  
व्यम् । विलयन पृतादिमलम् । अनाहुताद्यन्नभोजने तु लिखित आह— तस्य  
चाग्नी न 'क्रियते यस्य चा-न्न न दीयते । न तज्जास्य द्विजातीनां भुक्त्वा चोप-  
वसेदह ॥ यथा कृसरसयात्रवावसापूषशकुली । आहितानिर्द्धिमो भुक्त्वा  
प्राजापत्य समाचरेत् ॥' इति ॥ अनाहिताप्रस्तु 'शेपेपूषसेदह' इत्युपवासो  
द्रष्टव्यः ॥ भिन्नभाजन्यादिषु तु भोजने सरतमोक्तम्— सूत्राणां भाजन भुक्त्वा  
भुक्त्वा वा भिन्नभाजने । अहारात्पितो भुक्त्वा पञ्चमभ्येन शुद्धयति ॥' इति ।  
तथा स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम् वटार्कभस्वपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयो । कोविदारकर-  
श्रेषु भुक्त्वा चा-न्नायण चरेत् ॥' इति तथा—'पलाशपत्रपत्रेषु गृही भुक्त्वा-दव  
चरेत् । वागप्रस्थो यतिश्चैव लभते चान्द्रिक फलम् ॥' इति ॥

अथ हस्तदानादिक्रियादुष्टामो-न्यमणने प्रायश्चित्तम् । तत्र परादार —  
'मादिक फणित चाक गोसस लवण धृतम् । हस्तदत्तानि भुक्त्वा ॥ दिनमेकम  
भोजनम् ॥' इति । कामतस्तु—'हस्तदत्तमोचने नद्याह्णसमापे भोजने दुष्ट-

पङ्क्तिभोजने पञ्चवप्रतो भोजनेऽभ्यक्तमूत्रपुरीषकरणे मृतसूनकशूद्राद्यभोजने  
 शूद्रे सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्' इति हारीतोक्त विशेषम् । पर्यायाजदानदुष्टे  
 तु—माह्वानान ददन्तु शूदानान द्राक्षणी ददत् । द्वयमेतदभोज्य एवाज्जुवत्या-  
 नृपवसेदह ॥' इति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तमवगन्तव्यम् । शूद्रहस्तेन भोजने तु—  
 शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्त पानीय वा पिबे छिद्यत् । अहोरात्रोपितो भूत्वा पञ्च  
 गण्डेभ्यः शूद्रयति' इति ऋक् विशेषम् । धम्मदुष्टऽपि—'आसनाऋषादो वा  
 यस्त्वाप्रातःपि वा । मुखेन धमित भुक्त्वा कृच्छ्रं स्यात्पन चरेत् ॥' इति  
 तेनैवोक्तम् । पित्राद्युरेतेन स्वच्छाद्यभोजने तु 'भुष्टे चैरपार्थव्यथादे प्राणायामा-  
 न्पहाचरेत् । उपवासस्त्रिमासादिवरसरान्तं प्रकीर्तित ॥ प्राणायामत्रयं वृद्धाद्य  
 होरात्रं सविण्डने । असंख्ये स्मृतं नक्तं नक्तं पारणके तथा ॥ द्विगुणं चतुस्रस्यै  
 तत्रिगुणं वैश्यभोजने । साक्षाच्चतुगुणं ह्यतस्मृतं शूद्रस्य भोजने ॥ अनिधौ  
 निष्ठति द्वारि ह्यपि प्रारनन्ति ये द्विजा । रुचिरं तद्भवेद्द्वारि भुक्त्वा चा-  
 द्रावणं चरेत् ॥' इति भारद्वाजोक्तमवगन्तव्यम् । हारीतेनाप्युक्तम्—'एकादशदि  
 भुक्त्वा न भुक्त्वा सवधने तथा । उपोष्य विधिवत्स्नानात्वा कृष्माण्डैर्जुष्याद्-  
 घृतम् ॥' इति । विष्णुनाप्युक्तम्—'प्राजापत्यं नवधाद् वारोऽन चाद्यमासिकं ।  
 त्रैपक्षिके तदर्धं तु पञ्चगव्यं द्विमासिके ॥' इति ।—इदं चापद्विपद्यम् । अनापदि  
 तु—'चा-  
 द्रावणं नवधादे प्राजापत्यं तु मिथके । एकाहस्तु पुराणेषु प्राजापत्यं  
 विधीयते ॥' इति हारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । प्राजापत्यं तु मिथके' इत्येतद्व्यासमासि-  
 कविषयं द्रष्टव्यम् । द्वितीयादिषु तु— प्राजापत्यं नवधादे वारोऽन चाद्यमासिकं ।  
 त्रैपक्षिके तदर्धं स्यात्पादो द्वैमासिकं तथा । पादोऽनकृष्णमुद्दिष्टं पण्मासे च तथा  
 ऋके । त्रिरात्रं चा-  
 यमासेषु प्रत्यहं वेदहं स्मृतम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं  
 द्रष्टव्यम् ॥ अत्रियादिधाद्यभोजने त्वनापदि तत्रैव विशेषं उक्तं—'चा-  
 द्रावणं नवधादे पराको मासिके स्मृतं । त्रैपक्षिके सा-  
 तपनं कृच्छ्रं मासद्वये स्मृतम् ॥ अत्रियास्य नवधादे प्रतमेतदुदाहृतम् । वैश्वस्याध्याधिकं प्रोक्तं अत्रियास्तु  
 मनीषिभिः ॥ शूद्रस्य तु नवधादे चरेत्वा द्रावणद्वयम् । सार्धं चा-  
 द्रावणं मासे त्रिरात्रे त्वै-  
 देव स्मृतम् ॥ मासद्वये पराकं स्यात्पूर्वं सा-  
 तपनं स्मृतम् ॥' इति । पञ्च शस्त्रवचनम्— चा-  
 द्रावणं नवधादे पराको मासिके स्मृतं । पञ्चमयेऽ-  
 तिष्ठन्तु स्यात्पण्मासे कृच्छ्रं एव तु ॥ आन्दिके पादकृच्छ्रं स्यादेकाहः पुन  
 रान्दिकं ॥ अत्र ऊर्ध्वं न दोषं स्यात्कृच्छ्रस्य वचनं यथा ॥' इति, तत्रसर्पादिद्वि-  
 विषयम् ये स्तेनाः पतितः। छुत्वा' इत्याद्यपारुकेष्वपि वा ॥ 'चा-  
 द्रावणं कासर्पाद् माह्वानाद्द्वैपुतादपि । दष्टिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम् ॥ पतना

१ मासिके । २ प्रायश्चित्त । ३ द्विराद्यम् ।

नाशकैश्चैव विपोद्धन्धनकैस्तथा । भुक्त्वैषां षोडशध्यादे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः ॥  
 इति, तथा—‘अपाङ्क्तैषान्यदुद्दिश्य द्याद्धनेकादशेऽहनि । ब्राह्मणस्तत्र भुक्त्वायं  
 शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति, ‘भामध्यादे तथा भुक्त्वा तद्यज्ञेण शुद्धयति ।  
 सकल्पिते तथा भुक्त्वा त्रिरात्र क्षपण भवेत् ॥’ इति भरद्वाजेन गुरुपायश्चि  
 त्ताभिधानात् ॥

प्रह्लाचारिणस्तु बृहद्यमो विशेषमाह—‘मासिकादिषु योऽशनीयादसमाप्तव्रतो  
 द्विजः । त्रिरात्रमुपवासोऽस्य प्रायश्चित्त विधीयते ॥ प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं  
 प्राश्य विशुद्धयति ॥’ इति ।—इदमज्ञानविषयम् । कामतोऽपि तत्र एवाह—  
 ‘मधु मांसं च योऽशनीयाच्छ्राद्धे सूनरु एव वा । प्राजापत्यं चरेत्कृत्वा व्रतक्षेपं  
 समापयेत् ॥’ इति । भामध्यादे तु सर्वत्रार्थम्—‘भामध्यादे तद्यज्ञं तु प्रायश्चित्तं  
 तु सर्वदा’ इति षट्त्रिंशत्तमेऽभिधानात् । यत्तु नसोक्तम्—‘दशहृद्वे पिवेच्चापो  
 गायत्र्या ध्यात्तु द्विजः । ततः सध्यामुपासीत शुद्धयत्तु तदनन्तरम् ॥’ इति,—  
 तन्ननुक्तप्रायश्चित्तध्याद्विषयम् ॥ सरकाराङ्गनूतध्याद्व्यभोजने तु व्यासेन विशेष  
 उक्तं—‘निर्घृत्तवृद्धाहोमे तु प्राङ्नामकरणात्तथा । चरेत्साम्प्रतपन भुक्त्वा जात-  
 कर्मणि चैव हि ॥ अतोऽन्येषु तु भुक्त्वान्न सरकारेषु द्विजोत्तमः । नियोगादुप-  
 वासेन शुद्धयते निन्द्यमोजने ॥’ इति ॥ सीमन्तोन्नयनादिषु पुनर्धर्म्यो विशेष-  
 माह—‘प्रह्लादने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा । जातध्यादे नव ध्यादे द्विजश्चा-  
 न्द्रायण चरेत् ॥’ इति । अत्र प्रह्लादनाद्य कर्माधानाद्भूत, सोमसाहचर्यात् ॥

अथ परिग्रहाभोजने प्रायश्चित्तम्—‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ इति विरिह्य  
 पुरुषस्वामिकृतयाऽभोज्य भण्यते तत्परिग्रहाद्युचि । तत्र योगेश्वरेण—‘अदत्ता-  
 न्यग्रहीनस्य नाह्नमयादनापदि’ इत्यारभ्य सार्धपञ्चभिः रत्नैर्भोज्यान्नाः  
 प्रतिपादिताः । मनुनापि त एव किञ्चिदधिकं प्रतिपादिताः । ( ५।२०५-  
 २१७ )—‘नाधोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाज्ञिहूते तथा । स्त्रियां ह्येन च हुते  
 भुञ्जीत ब्राह्मणः ऊचित् ॥ मत्तक्रुद्धात्पुत्राणां च न भुञ्जीत कदाचन । गगान-  
 गणिकान्न च विदुषां च शुगुप्सितम् ॥ स्तेनगायकयोध्यान्न तद्यज्ञो वार्धुषिकस्य  
 च । दीचिउस्य कद्वंस्य वदस्य निदगस्य च ॥ अभिज्ञस्तस्य पण्डस्य पुत्रस्य  
 दाम्भिकस्य च । विक्रिसकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उपान्ने  
 सुनिकान्न च पर्यायाह्नमनिर्दशम् । अनर्चितं वृथामांसमशीरायाश्च योपितः ॥  
 द्विपदन्न नगर्यन्न पतिताह्नमवपुतम् । पिशुनानृतिनोश्चैव क्रुद्विक्रपिणस्तथा ॥  
 शैत्यतन्तुवायान्न कृतप्रस्थाह्नमेव च । कर्मारस्य निपादस्य रत्नवतरणस्य  
 च । सुर्यकर्तुर्येणस्य सोमविकविणस्तथा । श्वरतां शौण्डिकानां च चैत्यनिर्ण-

मासव्रती भवेत् ॥' इति ।—इदमभ्यासविषयम् । एतच्च प्रायश्चित्तमाशौचानन्तरं वेदितव्यम् । 'प्राज्ञाद्यादीनामाशौचे यः सकृदेवाद्यमरणात् तस्य तावदाशौचं यावत् तेषामाशौचम् , न्यपगमे तु प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इति विष्णुस्मरणात् ॥

अपुत्राद्यभोजने तु लिखित आह—'भुक्त्वा वार्धुषिकस्याद्यमप्रतस्या-  
सुतस्य च । शूद्रस्य च तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥' तथा—'परपा-  
कनिवृत्तरप परपाकरतस्य च । अपचस्य च भुक्त्वान्नं द्विजखान्द्रायणं चरेत् ॥'  
इति ।—एतच्चाभ्यासविषयम् ॥ परपाकेन निवृत्तादेर्लक्षणं च तेनैवोक्तम्—'गृही-  
त्वाग्निं समाहोष्य पञ्चयज्ञाद्य निर्वपेत् । परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकी-  
र्तितः ॥ पञ्चयज्ञांस्तु यः कृत्वा पराक्षाहुपजीयति । सततं मातृशुधाय परपाकर-  
तस्तु सः ॥ गृहस्थधर्मवृत्तौ यो ददाति परिवर्जितः । ऋषिभिर्धर्मतश्चैरपचः  
सप्रकीर्तितः ॥' इति । यत्तु ब्रह्मचर्याद्यभोजने, 'वृद्धवाज्यवस्य आह—'यद्विष्णु ब्रह्म-  
चारी च पक्वाद्यस्वामिनावुभौ । तयोरेभ्यं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥'  
इति, यच्च पार्वणभाद्रपदपूर्वरात्रभोजने भरद्वाज आह—'पक्षे वा यदि वा मासे  
यस्य नाशनन्ति देवताः ॥ भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजखान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—  
तदुभयमप्यभ्यासविषयम् ॥ पूर्वपरिगणितानि विद्याये निविद्याचरणशीलास्तद्व्य-  
भोजने तु—'मिश्राचारस्य विप्रस्य निविद्याचरणस्य च । भक्षं भुक्त्वा द्विज-  
कुर्याद्दिनमेकमभोजनम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् । अथैव संवत्सराभ्यासे  
षट्त्रिंशन्मत एवोक्तम्—'उपपातकपुच्छस्य अक्षमेकं निरन्तरम् । भक्षं भुक्त्वा  
द्विजः कुर्यात्पाराकं तु विशोधनम् ॥' इति ।—इदं चाभ्यस्यभक्षणप्रायश्चित्तकाण्ड-  
गतमविशेषोदितमतकदाचकं द्विद्वाप्रवरवैव । अत्रियश्रीनो तु पादपादहाभ्या  
भवति; 'द्विषे तु सकल देवं पादोभं एत्रिये स्मृतम् । घोरयोऽर्धं पाद एकस्तु  
शूद्रजातिषु चरयते ॥' इति विष्णुस्मरणात् ॥

इत्यभ्यस्यभक्षणप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तपरिगणनवेद्यायामुपपातकानन्तरं जातिध्नंसकरादीनि परिगणितानि,  
सत्र प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते । सत्र मनुः ( ११११२४-१२५ )—'जातिध्नंसकरं कर्म  
कृत्वाऽन्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृत्वां प्राजापत्यमनिरुद्धया ॥ संकरा-  
पात्रकृत्यामु मासं घोघनमैन्द्रवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तं स्याद्यावत्कस्यहम् ॥'  
इति । अन्यतममिति सर्वत्र संबध्यते । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'संकराकरणं  
कृत्वा मासमरणात् यावत्कम् । कृत्वात्किं कृत्वा मयत्र प्रायश्चित्तं समापरेत् ॥  
अपायीकरणं कृत्वा तप्तकृत्वेण शूद्रवति ॥ घातकृत्वेण वा शूद्रिमहासान्तपनेन

च । मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रविशोधनम् ॥' इति ॥ बृहस्पतिनापि जातिभ्रष्टा करे विशेष उक्त — 'ब्राह्मणस्य रुद्र कृत्वा रासभादिप्रमाणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं कृच्छ्रार्थं व्रतमाचरेत् ॥' इति । एतेषां च जातिभ्रष्टकरादिप्रायश्चित्तानां मन्वाद्युक्तानां जातिशत्रुत्याद्यपेक्षया विषयो विभजनीयः । एव योगोद्दहन्त मन्त्रयभक्षणादिप्रायश्चित्तसंघेऽतो दर्शितम् ॥ २८९ ॥

भाषा—निषिद्धं वान् छेने परं ब्रह्मचारी होकर, कयल दूध पीते हुए, गोशाला में निवास करते हुए और गायत्री क जप में रत्न हीकर एक मास स्थलीत करने पर शुद्ध होता है ॥ २८९ ॥

अधुना प्रकृतमनुसराम — 'महापातकमतिपातकमनुपातकमुपपातकं प्रकीर्णं कमिति पञ्चविधं पापजातमुक्तम् । तत्र चतुर्विधं प्रायश्चित्तमभिधाय क्रममाप्तं प्रकीर्णकं प्रायश्चित्तमाह—

१ प्राणायामी जले स्नात्वा स्नानानुष्ठानम् ।

तत्र स्नात्वा च भुक्त्या च वस्त्वा चैव दिना स्थियम् ॥२९०॥

स्नानयुक्तं वान् स्नानम्, उपद्रुयुक्तं वान्मुद्रुयुक्तं, रथगन्ध्यादि सेनाभ्र-  
गमनं कृत्वा द्विगन्धरं स्नात्वाऽभ्यवहृत्य दिवा वासरे च निजाङ्गनासभोगं  
कृत्वा च तद्वागतरङ्गिण्याद्वावगच्छ कृतप्राणायामं शुद्धयति ।—इदं च  
कामकारविषयम् । 'उद्रुयुक्तं समाहृत्य स्नानं तु कामनः संवासा जलमाप्तुम्य  
प्राणायामेन शुद्धयति ॥' ( १११२०१ ) इति मनुस्मृत्यात् अकामतं ज्ञानमात्रं  
कल्पयम् । साक्षात्स्नानरोहणे तु द्विगुणावृत्तिं कल्पनीया, तस्य गुरुत्वात् ॥२९०॥

भाषा—गह्वरे ले छाँची जाने वाली सवारी भयवा ऊँट गाड़ी पर चढ़ने,  
नगे होकर नहाने और खाने तथा दिन से ( भयनी ही स्त्री से ) स्त्रीसभोग  
करने पर जल में प्रवेश कर प्राणायाम करने एवं स्नान करने से शुद्धि  
होती है ॥ २९० ॥

२ गुरुं हुंकरत्य र्वंकृत्य विप्रं निजित्य धादतः ।

वद्भवा चा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेदिनम् ॥ २९१ ॥

किंच, गुरु जनकादिकं त्यहृत्य स्वमेवमाथ स्वयैव कृन्मित्येकवचनात्तद्युष्म-  
त्पुत्रोच्चारणेन निर्भरस्य विप्रं वा ज्यावासं समं कनीयास वा सक्थो हुं कृत्वा  
मास्व, हुं मा बहुवादी, इत्येवमादिप्य जल्पवितण्डाभ्यां जयकलाभ्यां विप्रं  
निजित्य कण्ठे वाससा मृदुरस्पर्शनापि वद्भवा विप्रं पादप्रणिपातादिना प्रसाद्य

१ प्राणायाम जले । २ स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासा । ३ गुरुं त्यहृत्य  
इत्यर्थे विप्रः ।

क्रोधं त्याज्यिवा दिनमुपवसेत् । अनश्नन्कृत्स्नं वासरं नयेत् ॥ यत्तु यमेनोक्तम् -  
'पादेन ब्राह्मणं शिरसा प्रायश्चित्तविधिरसया । त्रिरात्रोपोषितः स्यात्वा प्रणिपत्य  
प्रसादयेत् ॥' इति, -तदभ्यासविषयम् ॥ २९१ ॥

भाषा—गुरु ( पिता आदि श्रेष्ठ जनों ) को 'तू' कहने पर ( भार्यना  
करने पर ) अथवा क्रोध से ब्राह्मण को झटने पर, उसके गले में पल्ल पौधने  
पर शीघ्र उनके पैरों पर गिर कर उन्हें प्रणम्य करे ॥ २९१ ॥

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्वतिकृच्छ्रो निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽस्तृषपाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २९२ ॥

विप्रजिघांसया दण्डायुद्यमे कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः, निपातने तादने  
अतिकृच्छ्रः, अस्तृषपाते दधिरप्रायणे पुनः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः, अभ्यन्तरशोणितेऽपि  
कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः ॥ वृहस्पतिनाप्यत्र विशेष उक्तः—'काष्ठादिना ताददिरा  
श्वभेदे कृच्छ्रमाचरेत् । अरिषभेदेऽतिकृच्छ्रः स्यात्पराकस्यङ्गकर्तने ॥' इति ।  
पादप्रहारे तु यम आह—'पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तविधिरसया । दिव-  
सोपोषितः स्यात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति ॥ मनुना स्वभ्यानि  
प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि दर्शितानि ( १११२०२ )—'विनाज्जिरास्तु वाप्यातः  
चारिरं संनिवेश्य तु । सचेष्टो यहिराप्स्तुय गामालभ्य विशुद्धयति ॥' इति ।  
विनाज्जिरिपसंनिहितास्वपीशयः । चारिरं मूत्रपुरीषादि । इदमकामविष-  
यम् । कामतस्तु—'नापद्रुतो विना तोयं चारिरं यो निवेशते । पृकाहं कपर्णं  
कृत्वा सचेष्टो जलमाविशेत् ॥' इति यमोक्त वेदितव्यम् ॥ यत्तु सुमन्तुवचनम्—  
'अप्यश्वी वा भेदतस्तत्कृच्छ्रम्' इति, -तदनातंविषयमभ्यासविषयं वा ॥ निष्य-  
थ्रीतादिकर्मलोपे तु मन्त्राह ( १११२०३ )—'वेदोदितानां निस्थानां कर्मणां समति-  
क्रमे । स्नातकमतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥' इति । श्रौतेषु दर्शपीर्णमानादि-  
कर्मसु स्नातंषु च निष्यहोमादिषु प्रतिश्लोकेष्टयादिप्रायश्चित्तैरुपपत्तयः समुत्थवा ।  
स्नातकमतानि च—'न जीर्णमलवद्भासा अवेच्य विभवे सति' इत्येवमादीनि प्राशु-  
क्तानि । स्नातकमतमधिकृत्य मनुनाप्युक्तम्—'पतेपामाचाराणामेकैस्स्य स्यति-  
क्रमे गायत्र्यष्टयां जप्यं कृत्वा पूतो भवति' इति ॥ पञ्चमहायज्ञाकरणे ॥ वृह-  
स्पतिराह—'अनिर्वायं महायज्ञान् यो भुङ्क्ते प्रत्यहं गृही । अनातुरः सति धने  
कृच्छ्राधेन विशुद्धयति ॥ अहिताग्निस्थानेन न कुर्यात्तु पर्वणि । श्रुती न  
गन्धेज्ञायां वा सोऽपि कृच्छ्राधेमाचरेत् ॥' इति । द्वितीयादिभार्योपरमे तु देवळ  
आह—'मृतां द्वितीयां यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्यां प्रथमायां तु



सुरापानममं हि तत् ॥' इति । स्वभार्याभिर्शंसने तु यम आह—'स्वभार्यां तु यदा क्रोधाद्गम्येति नरो वदेत् । प्राजापत्य चरेद्भिः चरित्रो दिवसाप्रव ॥ पद्मात्रं तु चरेद्द्वैश्वधिराश्रं शूद्र आचरेत् ॥' इति ॥

अस्नानभोजनादौ हारीत आह—'यह्नकमण्डलु रिक्तमस्नातोऽशनंश्च भोजनम् । अहोरात्रेण शुद्धिः स्याद्दिनजप्येन चैव हि ॥' इति । एकपङ्क्त्युपविष्टानां स्नेहादिना वैषम्येण दानादौ यम आह—'न पङ्क्त्यां विषमं दत्त्वा न वाचेत न दापयेत् । ( याचते दापको दाता न वै स्वर्गस्य गामिनः ॥ ) प्राजापत्येन कृष्येण मुच्यते कर्मणस्ततः ॥ नदीसङ्गमदन्तुश्च कन्याविप्रकरस्य च ॥ समे विषमस्तुंश्च निष्कृतिर्नोऽपद्यते ॥ अयाणामपि चैतेषां प्रत्यापत्तिं च मार्गताम् । अण्डलक्षणेन श्वान्नेन द्विजश्वाम्नायण चरेत् ॥' इति । संक्रम उद्कावनरणमार्गः । समे विषमकर्ता पूजादौ ॥ इन्द्रधनुर्दर्शनादाद्युपयुक्त आह—'इन्द्रचार्यं पलाशाग्निं यद्यस्यस्य प्रदर्शयेत् । प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा ॥' पतितादिसभापणे तु गौतम आह—'न श्लेष्ठाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत । संभाष्य पुण्यकृतो मनसा श्वायेत् । प्राज्ञेन सह वा सभाषेत तद्व्याघ्रधनलाभयुधे पृथग्दर्शनि' इति । भार्याग्निधमनां लाभस्य यथे विप्रकरणे प्रत्येक संवत्सरं प्राकृतं प्रह्वयं च ॥ तथा—ब्रह्मसूत्रं विना विष्णुत्रोस्तर्गादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तम्—'विना यज्ञोपवीतेन यद्युत्तिष्ठतो भवेद् द्विजः । प्रायश्चित्तमहोरात्रं गायत्र्युपसृतं तु वा ॥' तत्र ऊर्ध्वोत्तिष्ठे उपवासात्, अधरोत्तिष्ठेऽप्युत्तिष्ठेऽप्युपवासात् । अकामतस्तु—'पियेत् मेहतश्चैव भुङ्क्तोऽनुपवीतितः । प्राणायामत्रिकं पङ्क्तं नक्तं च त्रितयं क्रमात् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ भुक्त्वा शौचाश्वमनमहस्वोत्थाने तु—'यद्युत्तिष्ठत्यनाचात्मनो भुक्त्वा चाऽनशानात्ततः । सप्त स्नानं प्रकूर्वात सोऽन्यथा पतिता भवेत् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ श्रीराष्ट्रसर्गादौ वसिष्ठ आह—'दण्ड्योऽसौ राजैररात्रमुच्यतेऽत्रिरात्रं पुरोहितं कृष्णमण्डपदण्डने पुरोहितद्विरात्रं राजा कुनजो श्यावदन्तश्च कृष्णं द्वादशरात्रं चरित्वोद्धरेथात्ताम्' इति । उद्धरेथात्तां कुरिततानां दन्तानां नखानां चोद्धरणं कुर्यातामिरवर्धः । स्तेनपतितादिपङ्क्तभोजने तु मार्कण्डेय आह—'अपाङ्क्त्यस्य यः कश्चिदपङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः । सहोरात्रोपितो भूत्वा पद्मगन्धेन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

नीलीविषये स्नापस्तत्र आह—'नीलीरक्तं यदा चर्षं माक्षणोऽग्नेषु धारयेत् । अहोरात्रोपितो भूत्वा पद्मगन्धेन शुद्ध्यति ॥ रोमकूपैर्यदा गच्छेद्भक्तो नीरवास्तु

कहिंचित् । त्रिषु वर्णेषु सामान्य तसकृच्छ्र विशेषनम् ॥ पालन विष्णुमथैव  
 तद्दुस्या चोपजीवनम् । पातन च भवेद्विप्रैस्त्रिभि कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ नीलीदारु  
 यदा भिन्नाद् ब्राह्मणस्य शरीरत । शोणित दृश्यते यत्र द्विप्रधान्द्रायण चरेत् ॥  
 खोणा म्नीदार्धसभोगे शयनाये च दुष्यति ॥' इति । भृगुणाप्युक्तम्—'खीष्टता  
 शयने नीली ब्राह्मणस्य न दुष्यति । नृपस्य वृद्धौ वैश्यस्य पर्ववर्ज्ये विधारणम्'  
 इति ॥ तथा चसविरोपकृतश्च प्रतिप्रसव—'कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागौ  
 न दुष्यति ॥' इति स्मरणात् ॥ महत्तरुनिर्मितजट्ट्याधारोदने कञ्चु आह—  
 'अधस्य शयन शानमामन पादकं तथा । द्विज पलाशवृक्षस्य त्रिरात्र तु वस्ती  
 भवेत् ॥ अत्रिपस्तु रणे पुष्ट दत्त्वा प्राणपरायण । सवत्सर मत्त कुर्याच्छ्रित्वा  
 वृक्ष फलप्रदम् ॥ द्वी विप्रौ ब्राह्मणानी वा वृषती गोद्विजोत्तमौ । अ तरेण यदा  
 गच्छेत्कृच्छ्र साम्प्रपन चरेत् ॥ होमकाले तथा दोहे स्वाभ्याये दारसमदे । अ-त-  
 रेण यदा गच्छेद् द्विप्रमान्द्रायण चरेत् ॥' इति । दोहे साम्प्रमाद्राभूते ।-एत-  
 द्वाभ्यासविषयम् । सच्छिद्रादित्याचारिष्टदर्शनाद्गी कञ्चु आह—'दु स्वप्नारिष्ट-  
 दर्शनादौ पृत सुवर्णं च दद्यात् ॥' इति ।

कश्चिद् देवविशेषगमनेऽपि देवक आह—'सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्य  
 स्तवासिन । अङ्गवङ्गकलिङ्गाभ्यान् गत्वा सस्कारमर्हति ॥' एत-च तार्थपात्रा-  
 न्पतिरेकं द्रष्टव्यम् ॥ स्वपुराणदर्शनादौ यम आह—'प्रस्थादित्य न मेहेत न  
 पर्यदात्मन ककृत । इष्ट्वा सूर्य निरीक्षेत गामर्गिन ब्राह्मण तथा ॥' इति ।  
 कञ्चुाऽप्याह—'पादप्रतपन कृत्वा कृत्वा वह्निमधस्तथा । कुक्षी प्रमृज्य पादौ  
 तु दिनमेक मती भवेत् ॥' इति ॥ अत्रियाप्युपसमदे हारीत आह—'अत्रिया  
 भिवादानेऽहोरात्रमुपवसीत्, वैरयाभिवादाने द्विरात्रम्, दूदस्याभिवादाने त्रिरा-  
 त्रमुपवास' इति ॥ तथा 'सद्यःकृत्वादुकोषामहारेपितपादोच्छिष्टा-धकारस्थ-  
 धादकृत्वापदेवपूजानिरसाभिवादाने त्रिरात्रमुपवास स्यादग्यत्र निमन्त्रितेना-  
 न्यत्र भोक्तव्येऽपि त्रिरात्रम्' इति ॥

समिपुष्पादिहस्तस्याभिवादानेऽप्येतदेव—'समिपुष्पकुशा-पागुमृदप्राञ्जल-  
 पाणिकम्, जप होम च कुर्वाण नाभिवादेत वै द्विप्रम् ॥' इत्यापस्तम्बीये जपा-  
 दिभि समभिष्याहारात् । अभिवादकरयापीदमेव प्राचक्षितम्—'गोदकुम्भ-  
 हस्तोऽभिवादयेत् न भैक्ष चर-न पुष्पाज्यादिहस्तो नाशुचिर्न जप-न देवपितृहार्यं  
 कुर्व-न शयान' इति तस्यापि शब्दधेन प्रतिषेधात् । एवम-या-यपि च्यासि  
 स्मृत्य तरतोऽ-व्याणि, प्र-ययौरवययादत्र न लिख्य-ते ॥ २९२ ॥

१ त्रिवर्णं च सामान्यम् । २ भवेद्विप्रे त्रिभि । ३ अङ्गवङ्ग-  
 कलिङ्गाश्च ।

भाषा—किसी ब्राह्मण को मारने की ह्छ्वा से डडा उठाने पर कृच्छ्र मत से और डडा मार देने पर अतिकृच्छ्र मत से, मारकर रुधिर निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र मत से और उसके चोट के स्थान पर रुधिर आ जाने पर कृच्छ्र मत से शुद्धि होती है ॥ २९२ ॥

इति प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तानामाज्ञानव्याप्यप्रतिभ्यक्तिप्रायश्चित्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्सामान्यतपोपदिष्टानुपदिष्टविषये प्रायश्चित्तविशेषज्ञानार्थमिदमाह—

देशं कालं च य शक्तिं पापं चापेक्ष्य यत्नत ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चात्कां न निश्च्युति ॥२९३॥

यद्युक्त प्रायश्चित्तज्ञात वक्ष्यमाण वा तद्देशादिकमपेक्ष्य यथा कर्तुः प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयम्, इतरथा प्रधाननिवृत्तिप्रसङ्गात् । तथा च वक्ष्यति—'वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीरवाण्डु सूर्यरक्' इति, तत्र यदि हिमवद्विरिभिकटवर्तिनामुर्दकवास उपदिरयते अतिशीताकुण्ठिते वा शिशिरादिकाले तदा प्राणविद्योगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोर्दकवास कल्पनीय । तथा घटोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकाद्रेःपूर्णद्वादशवापिकस्य वा द्वादशान्दिक प्रायश्चित्तमुपदिश्यते तदा प्राणा विषयेण' इति ततोऽन्यत्रयस्के तप्रायश्चित्त कल्प्यम् । अत एव स्मृत्यन्तरे क्वचिर्धर्मं क्वचित्पाद' इति वृद्धादिविषु प्रायश्चित्तस्य हासोऽभिहित, तच्च प्रायश्चित्तम् । तथा धनदानतपश्चरणादिशक्तपरेष्वपि च महि निर्धनस्य पात्रे धन वा पर्याप्तमित्याद्युपपद्यते । तथात्रिक्रियत्वादेवां पराकादिक नापि स्त्रीशूद्रार्जजपादिकम् । अत एव गजादीनामशक्नुवन् । दान दातु श्रेःकृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये' इत्युक्तम् । तथा 'प्रायश्चित्तार्थमहन्ति क्षियो रोगिण एव च' इति तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक् प्रायश्चित्तस्य हासोऽभिहित । तथा पाप च महापातकारिरूपेण सप्रत्ययाप्रत्ययसकृदम्बान्सादिरूपेण चापेक्ष्य यज्ञतकलधर्मशास्त्रपर्यालोचनया प्रायश्चित्त कल्पनीयम् । तत्राकामतो यद्विहित तदेव कामकृते द्विगुण, कामतोऽम्बाले चतुर्गुणमित्येव स्मृत्यन्तरानुसारेण कल्पनीयम् । तथा—'महापापोपपापाम्भ्यां योऽभिज्ञसेन्मृषा परम् । अन्धको मातमानोत' इत्युक्त, तत्र महापापोपपापयोस्तुल्यप्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वात्-महापापापेष्वोपपातके मासिकघतस्य द्वाह कल्पनीय । यत्र च हसितजृम्भिताकन्दितास्फालनादिनाकरमारकुर्पात्तथा । 'नोद्भवतोऽमति ख्यायश्च च रमभ्वादि कर्तव्ये । अन्तर्व-

१ प्रायश्चित्तनिमित्तस्य । २ चापेक्ष्य । ३ नोक्ता च । ४ उदवात् ।

५ द्वादशवापिकादिकम् । ६ जृम्भितास्फोटनानि ।

र-या पति कुर्वन्नप्रज्ञा भवति भ्रुवम् ॥' इत्यादौ प्रायश्चित्त नोपदिष्ट, तत्रापि देशाद्यपेक्षया प्रायश्चित्त कल्पयम् । ननु किञ्चिदपि निमित्तजातमनुक्तनिष्कृतिकमुपलभ्यते; 'प्राणाशामशत कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥' इत्यनुक्तनिष्कृतिपत्रपि प्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । गौतमेनाप्येतान्येषानादेश विकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाहाद्य प्रतिपादिताः । उच्यते,—सत्यमस्येष सामान्यत प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनामपेक्षितत्वात्सर्वेषु कल्पनावसर । नच हसितादिषु सर्वत्र प्राणाशामशत शुक्तम्, निमित्तस्य लघुत्वात् । अतः पापापेक्षया हास कल्पनीय प्रायश्चित्तान्तरं वा । ननु कथं पापस्य लघुत्व ? येन प्रायश्चित्तस्य हासकल्पना स्यात् । नच प्रायश्चित्तावस्थादिति याच्यम् । अनुक्तनिष्कृतिर्यादेव । सत्यम्,—किंतु अर्थावस्य कर्तनाद्'बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वानुबन्धाद्यपेक्षया च सुबोध एव होपस्य गुरुलघुभावः । तथा वण्डहासपृष्ठवपेक्षया च प्रायश्चित्तगुरुलघुभावः । यथा माह्यणावगोरणादौ सजातीयविषये प्राजापत्यादिकमुक्तम्, तत्र यदा धानुलोभ्येन प्रातिलोभ्येन वावगोरणादि क्रियते, यदा वा मूर्धावसिकादिभिस्तदा वण्डस्य तारतम्यदर्शनादेव होपावपवमहश्वावगमाप्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः । इति तत्र वण्डस्य गुरुलघुभावः प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दस' इत्यादिना ॥

भाषा—देश, समय, आयु, शक्ति और पाप का सावधानी से निरीक्षण करके ही अन्य प्रायश्चित्तों की कल्पना कर लेनी चाहिए जिसका विधान नहीं किया गया है ॥ २९३ ॥

इति पतितस्यागविधिः ।

एव महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं, यस्वीदृश्यादेतन्न चिकीर्षति तस्य किं कार्यमित्यत आह—

दासीकुम्भं यद्विप्रामाग्निनयेरभ्युपगन्धया ।

पतितस्य यद्वि कुर्वु सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९४ ॥

जीवत एव पतितस्य ये स्वा ज्ञातयो बान्धवा पितृमातृपचारस्ते सर्वे सनिपत्य दासी प्रेष्या तथा सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमर्षा पूर्णं कुम्भ घट प्रामाद्विनिनयेयुः । पतच्चतुर्थादिरिकातिषिष्यद्ध पञ्चमे भागे गुर्वादिसनिधी कार्यम् । ( १११८३ )—'पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्यान्धैर्वह्नि । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञातृद्विवगुरुस्तजिधी ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ अथवा दास्येव सपिण्डादिप्रयुक्ता निनयेत् । यथाह मनु ( १११८३ )—'दासी घटमर्षा पूर्णपर्य-

स्येऽप्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नाशौच वा-वचै सह ॥' इति । प्रेतवदिति दक्षिणामुखापसव्ययो प्राप्त्वर्थम् ।—एतच्च निनयनमुदकविण्ढदानादिप्रेतकियो-त्तरकाल द्रष्टव्यम् । 'तस्य विद्यागुरुबोनिखव धाश्च सनिपाख्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्मणि कुर्युं, पात्र चास्य विपर्यस्यस्यु । दास कर्मकरो वाऽवकरात् पात्रमानीय दासीघटान् पूरयित्वा दक्षिणाभिमुख पदा विपर्यस्येदिदम् । अमुमनुदक करोमि इति नामप्राह त सर्वेऽ-वालभेरन् प्राचीनावीतिनो मुक्तसिद्धा विद्यागुरवो योनि सव-धाश्च बोधेरन् अप उपस्पृश्य ग्राम प्रविसेयु' ( ११।५।७ ) इति गौतम-स्मरणात् । अप च एवामो यदि च-धुभि प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्त न करोति तदा द्रष्टव्य । तस्य गुरोर्वा-भवाना राक्षरच समच दोषानमिषयाप्यानुभाष्य पुन पुनराचार लभस्वेति स यद्येवमप्यनयस्वित्तमति स्यात्ततोऽस्य पात्र विपर्यस्येदिति शङ्कस्मरणात् । तत्रस्त लभ्योदक पतित सर्वकार्येषु सभाष्यसहासनादिषु यदि कुर्युर्बजयेषु । तथा च मनु ( ११।१८४ )— निवर्तेरश्नतस्तस्मात्सभाषणस-हासने । दायापस्य प्रदान च यात्रामेव च लौकिकीम् ॥' इति । यदि स्नेहादिना सभाष्य करोति तदा प्रायश्चित्त कार्यम् । 'अत ऊर्ध्वं तेन सभाष्य तिष्ठरेकरात्र जप-सावित्रीमन्त्राभपूर्वं शेरित्ररात्रम्' इति ॥ २९४ ॥

भाषा—एतित इयक्ति के जाति वाले और वाग्धव सभी दासी क द्वारा ( उसके नाम से ) जल से भरा हुआ घटा गाँव से बाहर निकलवा दें और सभा कार्यों से उसका बहिष्कार करें ॥ २९४ ॥

यदा तु बन्धुत्यागाद-वया वा जातयैराभ्य प्रायश्चित्त च कृत,तदा किं कार्यं मिषयत भाह—

चरितप्रत आयाते निनयेरन्नवर्षं घटम् ।

जुगुप्सेरन्न चोध्येन संवसेयुश्च सर्वश ॥ २९५ ॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीप पुनरायाते तस्यविण्ढापास्तेन सहिता नवम् अनु पहत घटम् उदकपूर्णं निनयेयुः ।—एतच्च निनयनपुण्यद्वदादिस्नानोत्तरकाल द्रष्ट-व्यम् । ( ११।१८६ )—'प्रायश्चित्तं तु चरिते पूर्णं कुम्भमपा नवम् । तेनैव सार्धं प्राशयेयु स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥' इति मनुस्मरणात् । गौतमेन तु विशेष उक्त —'यस्तु प्रायश्चित्तन शुद्धयचस्मिन् शुद्धे ज्ञातकुम्भमय पात्र पुण्यठमाद् इदापूरयित्वा खव-तीम्नो वा, तत पुनमप उपस्पृशयेयु, अथास्मै तत्पात्र द्युस्तस्प्रतिगृह्य जपेत् ज्ञा-ता घौ ज्ञा-ता शुधिवी ज्ञान्त शिवम तरिच यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' इत्येतैर्यजुभि पावमानीभिस्वरस्यम-दीभि कृत्वापण्डै-

रचाज्यं जुहुयाद्विरण्यं दद्यात्तां चाचाद्याय । यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स  
 मृतः शुद्धयेदेतदेव दान्युदकं सर्वेषूपपातकेषु' ( गी० १९।१०।१७ ) इति । तत  
 एनं कृतप्रायश्चित्तं ते नैव कुरस्येयुः । तथा सर्वकार्ये ऋषविक्रपादिषु तेन सह  
 संभ्यवदरेयुः ॥ २९५ ॥

भाषा—प्रायश्चित्त का घत करके यदि बन्धु यान्धवों में मिलने के लिये भावे  
 तो सपिण्ड उसके साथ दूसरा जल से पूर्ण नया घड़ा ( किसी ताछाप में  
 स्नान करके वहाँ से ) मँगवावें । तब उसको घृणित न समझें और उसे सब  
 प्रकार से अपने साथ सम्मिलित कर लें ॥ २९५ ॥

पूर्वोक्तस्य पतितपरित्यागादिविधेरतिदेतन्माह—

पतितानामेव एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः ।

घासो गृहान्तिके देयमन्नं घासः सरक्षणम् ॥ २९६ ॥

य एव पुरुषाणां परित्यागे विण्ढोदकदानविधिः कृतप्रायश्चित्तानां परिग्रह-  
 विधिश्च स एव पतितानां स्त्रीणामपि वेदितव्या । इयंस्तु विशेषः—पति-  
 ताभ्योऽपि ताभ्यः स्त्रीभ्यः कृतोदकादिकर्मण्यो वासस्त्वण्णस्यं कुटीगृहकं प्रधान-  
 गृहसमीपे देयम् । तथा प्राणधारणमाश्रमन्नं मलिनं च वस्त्रं पुनः पुरुषान्त-  
 रोपभोगनिधारणसहितं सतिरस्कारं देयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—वही विधि पतित स्त्रियों के लिए भी है; उन्हें घर के निकट  
 दूसरा निवासस्थान दे देना चाहिए और केवल जीवन बचाने भर भक्ष और  
 वस्त्र देना चाहिए और उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ २९६ ॥

ननु काः पतितास्ता घासामयं परित्यागविधिरित्यत आह—

नीचामिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।

विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि भ्रुवम् ॥ २९७ ॥

हीनवर्गमनं गर्भपातनमनाह्नव्या अपि भर्तुः अमाह्नणस्यापि हिंसन-  
 मित्येतानि स्त्रीणामसाधारणानि पतननिमित्तानि । 'अपि'शब्दात्पुरुषस्य  
 यानि पतननिमित्तानि महापातकातिपातकानुपपातकान्यभ्यस्तानि चोपपा-  
 तकादीनि तान्यपि स्त्रीणां भ्रुवं निश्चितं पतनकारणानि भवन्ति । अत एव  
 शौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ब्राह्मणी हीन-  
 वर्णसेवायामधिकं पतति' इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—( २८।७ ) 'श्रीणि  
 स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः । भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य  
 पातनम् ॥' इति 'भ्रूणहत्या' ग्रहणं कृत तत् दृष्टान्तार्थं न पुनरितरेषां महा-  
 पातकादीनां पतनहेतुत्वनिरासार्थम् । यदपि तेनैव—( २१।१० ) 'वतश्चरतु

परित्याज्या शिष्यया गुरुणा च या । पतिव्रती च विशेषेण जुङ्गितोपगता च  
या ॥' इति । 'चतसृणामेव परिषयाग' इत्युक्त तस्यापि तासां प्रायश्चित्तमधि-  
कीर्षन्तीनां मध्ये चतसृणामेव शिष्ययादीनां चैकान्नगृहवासादिजीवनहेतु-  
त्वाद्युच्चैरेव श्याग कुर्यान्-नान्यासामित्यभिप्रायः । अतश्चान्यासां पतितानां  
प्रायश्चित्तमकुर्वतीनामपि 'वासो गृहान्तिके देव मिश्यादिक कर्तव्यमित्यध-  
गम्यते ॥ २९७ ॥

भाषा—निम्नवर्ण के पुत्र के पास जाना, गर्भपात करना, पति की  
हिंसा इन सब कर्मों से स्त्रियों विशेष रूप से पतित होते हैं ॥ २९७ ॥

'जुगुप्सेरश्न चाप्येन सविशेष्युरथ सर्वज्ञ' (मा० २९५) इत्यस्यापवादमाह—

शरणागतयालस्रीर्हिसकान् संवसेन्न तु ।

चीर्णप्रतानपि संतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९८ ॥

शरणागतादिभ्यापादनकारिण कृतघ्नसहितान्प्रायश्चित्तेन धीगदोषानपि  
न संप्रवहरेदिति वाचनिकोऽय प्रतिषेध, किमिति वचन न कुर्यात्? नहि  
वचनस्यातिभासोऽस्ति, अतश्च वद्यपि स्वभित्तिवारिणीनां चोपेक्षणीय एव प्राय-  
श्चित्त, तथापि वाचनिकोऽय संप्रवहारप्रतिषेध ॥ २९८ ॥

भाषा—शरण में जाये हुए बालक और स्त्री की हिंसा करने वाले और  
कृतघ्नों के प्रायश्चित्त द्वारा दोष हीन होने पर भी इनके साथ कोई व्यवहार  
नहीं रखना चाहिये ॥ २९८ ॥

एव प्रसङ्गेन स्त्रीषु विशेषमभिधाय प्रकृत एव चरितव्रतविधौ विशेषमाह—

घटेऽपवर्जिते स्नातिमध्यस्थो यवसं गयाम् ।

सं दद्यात्प्रथमं गोभ्यो सत्कृतस्य हिं सत्क्रिया ॥ २९९ ॥

घटेऽपवर्जिते हृदादुद्धृत्य पूर्णं कुम्भेऽवनिनीतेऽसौ चरितव्रत सपिण्वादिम  
ध्यस्थो गोभ्यो यवसं दद्यात् । स्नाभिः प्रथमं सत्कृतस्य पूजितस्य परचा-ज्ञातिभिः  
ज्ञात्वादिभिः सत्क्रिया कार्या । गोभिरथ तस्य सरकारस्तद्व्यथसमक्षणमेव ।  
यदि गावस्तद्व्यथसं गृह्येयुस्तर्हि पुनः प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यदाह हारीत -  
'स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि ताः प्रतिगृह्येयुरथैन प्रवर्तयेयुः' इति  
इतरथा नैत्यभिप्रेतम् ॥ २९९ ॥

महापातकादिपञ्चविधेषु विशेषेण दोषमणे प्रातिस्विकव्रतसदोहमभिधायाधुना सकल-  
मतसाधारण धर्ममाह—

दिख्यातदोषः कुर्वीत पर्यदोऽनुमर्तं व्रतम् ।

यो दोषो यावत्कर्तुंसपाद्यस्ततोऽयैर्विद्ययातो विज्ञातो दोषो यस्यासौ  
 परंपदुपदिष्ट प्रत कुर्यात् । यद्यपि स्वय सकलशास्त्रार्थविचारचतुरस्तथापि  
 परंपसमीपमुपगम्य तथा सह विचार्य तदनुमतमेव कुर्यात् । तदुपगमने चाङ्गि-  
 रसा विशेष उक्त — कृते नि सद्ये पापे न मुञ्जीतानुपस्थित । मुञ्जानो वर्षये-  
 त्पाप यावन्नाशयति परंपदि ॥ सचैल वाग्यत स्नात्वा विद्वन्नवासा समाहित ।  
 परंपदानुमतस्तथ सर्वं विवशापयेन्नरः । प्रतमादाय भूयोऽपि तथा स्नात्वा मत  
 चरेत् ॥' इति । विवशापन च परंपहृष्टिणादानानन्तर कार्यम् । यथाह पराशरः—  
 'पाप विवशापयेत्पापी द्वावा धेनु तथा घृणम्' इति । -एतत्तपोपपातकविषयम् ।  
 महापातकादिष्वधिक कल्प्यम् । यत्तुक्तम्—'तस्माद् द्विज प्राप्ताप सृदा-  
 प्लुत्य शरिणि । विवशोऽप्य पाप परंपन्नय किंचिद्वासा मत चरेत् ॥' इति तत्प्रकी-  
 र्णकविषयम् । परंपस्वरूप च मनुना दर्शितम्—'श्रैषिणो हेतुकस्तर्कौ नैरुक्तौ'  
 धर्मपाठक । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वं परंपदेया दशाधरा ॥' हेतुको मामासार्थादि-  
 तस्वज्ञ, तर्को न्यायज्ञाच्छकुल, तथाऽन्यदपि पपद्द्वय तेषैव दर्शितम्—  
 (मनु० १२।१।२) एतवेदविद्युर्विद्वत् सामनेद्विवेच च । अपरा परंपद्विज्ञया  
 धर्मसंशयनिर्णये ॥' इति । तथा—(मनु० १२।१।३) 'पैकोऽपि यद्विद्वर्मं य  
 स्ववस्तेःसमाहित । ॥ श्रेय परमो धर्मो माज्ञानामुदितोऽयुतै ॥' इति । आसौ  
 च परंपदा क्षमवापेक्षया न्यवस्था महापातकाद्यपेक्षया । यत्तु सृष्टय-तरेऽभिहि  
 तम्—'पातकेषु शत परंपसदस महदादिषु । उपपापेषु पञ्चाशास्ववप स्ववपे  
 तथा भवेत् ॥' इति,—तदपि महापातकादिदोषानुसारेण परंपदो गुरुलघुभावमति  
 पादनपर न पुन सखयानियमाधर्मम्, म-वादिमहास्मृतिविशेषमसङ्गात् । तथा  
 दबलेन चात्र विशेषा दर्शित —'स्वय तु ब्राह्मणा ध्रुयुरवरदोषेषु निष्कृतिम् ।  
 राजा च ब्राह्मणारचैव महस्तु च परीक्षितम् ॥' इति तथै च परंपदा अवश्य  
 मतमुपदेष्टव्यम्—'भार्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजा । जानन्तो न  
 प्रय-वृन्ति ते यान्ति समतो तु तै ॥' इत्यङ्गिर स्मरणात् । तेषा परंपदा  
 ज्ञारचैव प्रवमुपदेष्ट-वम्—'अज्ञात्या धर्मसाध्याणि प्रायश्चित्त ददाति य । प्राय  
 श्चित्त भवेत्पुत' किंविषय परंपद त्रजेत् ॥' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ अत्रिवादीना  
 तु कृतैनसां धर्मापदेष्टो विशेषोऽङ्गिरसा दर्शित -'न्यायतो ब्राह्मण चिम अत्रि  
 यादे कृतैनस । अन्तरा ब्राह्मण कृत्य मत् सर्वं समाविशेत् । तथा शूद्र समा-  
 साद्य सदा धर्मपुर सरम् । प्रायश्चित्त प्रदात-व्य जपहोमविवर्जितम् ॥' इति ।  
 तत्र च यागाद्यनुष्ठानशीलानां अपादिरु वाप्यम्, इतरेषां तु तप । 'कर्मनि-

१. विवशापन च परंपहृष्टिणादानानन्तर कार्यम् । २ निरुक्तो । ३ पैकोऽपि धर्मविद्वर्मम् ।  
 ४-५. तथा च परंपदा ।



छास्तपोनिष्ठा कदाचित्पापमायता । जपहोमादिक तेभ्यो विशेषेण प्रदीयते ॥  
ये नामधारका विप्रा मूर्खा धनविवर्जिता । कृच्छ्रचा द्रायणादीनि तेभ्यो दद्या  
द्विदोषत ॥ २९९ ॥

भाषा—जलाक्षय से जल से भरा हुआ घड़ा लेकर धाने पर सपिण्ड  
आदि जाति के लोगों के बीच गायों को कोमल दूध खिलाव । गौर् यदि  
उसका सत्कार करती हैं ( उसकी दी हुई घास खाती हैं ) तभी जाति के  
लोग उसका सत्कार करें ( जाति में सम्मिलित करें ) ॥ २९९ ॥

इति प्रकाशप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

### अथ रहस्यप्रायश्चित्तम् ।

'व्याख्याय व्यातदुरितशातर्षी प्रतसततिम् ।

रह कृतापसदोहहारिणी व्याहरन्मुनि ॥'

तत्र प्रथम सकलरहस्यप्रतलाधारण धर्ममाह—

अनभिव्यातदोषस्तु रहस्यं यतमाचरेत् ॥ ३०० ॥

कर्तुं-यतिरिचैरनभिव्यातो दोषो यस्यासौ रहस्यमप्रकाश प्रायश्चित्तमनु-  
तिष्ठेत् । अत स्त्रीसभोगादी तस्या अपि कारकात्वात् तदितरैरविज्ञातदोषस्य  
रहस्यप्रतमिति मन्तव्यम् । तत्र यदि कर्ता स्वय धर्मशास्त्रकुशलस्तदा परस्मिन्-  
विभाव्य स्वनिमित्तोचित प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यस्तु स्वयमनभिज्ञोऽसौ केन-  
चिद्ब्रह्मो ब्रह्महत्यादिक कृत तत्र किं रहस्यप्रायश्चित्तमित्य-  
न्यस्याजेनावगम्य रहो  
प्रतमनुतिष्ठेत् । अत एव स्त्रीशूद्रयोश्चमुनैव मार्गेण रहस्यप्रतज्ञानसिद्धेरधि-  
कारसिद्धि । नञ् वाक्य रहस्यप्रतानां जपादिप्रधानत्वाद्बिद्यदोष स्त्रीशूद्रयो-  
स्तदनुपपत्तेरनधिकार इति । यतोऽसौकान्ततो रहस्यप्रतानां जपादिप्रधानत्वम् ।  
दानादेरप्युपदेशाद् गौतमोक्तप्राणायामादेरपि सम्भवाच्च । इतरेषामपि मन्त्रद्वै-  
षतपि-छन्द परिज्ञानमात्रमेवाधिकारोपयोगि, न स्व-वविषयम् । नहि तदाप  
निर्माणादी ज्योतिष्टोमादिविषयिणी प्रतिपत्तिरुपयुज्यते । देवतादिपरिज्ञानं  
स्ववश्यमपेक्षणीयम्, 'अविदिवा ऋषि छन्दो दैवत योगमेव च । योऽव्यापये-  
षमपेक्षापि पापीयाक्षापते तु स ॥' इति व्यासस्मरणात् । अत्राव्याहारविशे  
पानुक्ती पय प्रभृतय, कालविशेषानुक्ती सवस्तरादय, देशविशेषानुक्ती शिलो-  
पचयादयो गौतमसमिहित्वा प्रकाशप्रायश्चित्तवद-  
वेचनीया ॥ ३०० ॥

१ अनभिव्यापितदोषस्तु रहस्यप्रतमाचरेत् ।

। भाषा—असका दोष सयको ज्ञात हो गया हो वह पर्यंर की क्षाशा से (जैसा पर्यंद द्वारा विहित हो वैसा) मृत करे और जिसका पाप लोगों को ज्ञात न हो यह गुप्त रूप से मृत करे ॥ ३०० ॥

पयं सकलरहस्यसाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रायश्चित्तवद् ब्रह्महत्यादिष्-  
मेणैव रहस्यप्रायश्चित्तान्याह—

त्रिरात्रोपोपितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वधमर्षणम् ।

अन्तर्जले विशुभ्येत दंस्वा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०१ ॥

त्रिरात्रमुपोपितोऽन्तर्जलेऽधमर्षणेन महर्षिणा द्रष्टुं सूक्तं अधमर्षणं 'मृतं च सस्यं च' इति श्युचमानुष्टुभं भाववृत्तदेवताकं जप्त्वा त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां द्वावा ब्रह्महा विशुभ्यति । जपश्चान्तर्जले निमग्नेन त्रिरावर्तनीयः । यथाह सुमन्तुः—'देवद्विजगुरुदहन्ताप्सु निमग्नोऽधमर्षणं सूक्तं त्रिरावर्तयेत् । मातरं भगिनीं गावा मातृत्वसारं स्तुपां सखीं चाऽन्यद्वाऽसाध्यागमनं कृत्वाऽधमर्षणमे-  
वाऽन्तर्जले त्रिरावस्यं तदेतस्मात्पूतो भवति' इति ।—एतच्चऽकामकारविषयम् । यत्तु मनुजोक्तम् ( १११४८ )—'सन्वाहतिप्रणयकाः प्राणावासास्तु पोडवा । नपि भ्रूणहणं मासाःऽदुमन्वहरहः कृताः ॥' इति,—तदप्यस्मिन्नेव विषये गोदानाश-  
क्तस्य वैदित्त्यम् । यत्तु गीतमेव षट्त्रिंशद्वात्रप्रतमुवशोक्तं 'तदुमत एव ब्रह्मह-  
त्यासुरापानमुवर्णस्तेषुशुक्तवेषु प्राणावामैः स्नातोऽधमर्षणं जपेत्' ( २४।१० ) इति,—तदकामतः सकृद्बधविषयम् । यत्तु बीधायनेनोक्तम्—'ग्रामाःप्राचीं चोदीचीं दिक्षमुपनिष्कम्य स्नातः शुचिः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्कृत्वा-  
वासाः सकृत्पूतेन पाणिनादिस्याभिमुत्तोऽधमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । मातः घृतं मध्याह्ने घृतमपराह्णे घृतं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु पशुतिघातकं प्राभीषात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्ताराप्राप्सुष्यते द्वादशाराप्राप्सुमहापात-  
केभ्यो ब्रह्महत्यासुरापानमुवर्णस्तेषानि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण तान्यपि तरति' ( ३।१।४ ) इति—तत्कामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवन-  
स्वधविषयं वा । यत्तु मनुजोक्तम् ( ११।२५८ )—'अरण्ये वा विरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुष्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोषितस्त्रिभिः ॥' इति,—  
तत्कामतः श्रोत्रियादिवधविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । बृहद्वि-  
ष्णुजोक्तम्—'ब्रह्महत्यां कृत्वा ग्रामाःप्राचीमुदीचीं वा दिक्षमुपनिष्कम्य प्रभूते-  
न्धनेनाग्निं प्रन्वाध्याधमर्षणेनष्टसहस्रमाध्याहुतीं जुहुयात्तत एतस्मात्पूतो भवति'

१. विशुद्धयेत्तु । २. गां द्वावा च पयः । ३. न्यह्ना गमनम् । ४. कामतो  
वध । ५. वासाः सकृत् ।

इति, - तद्विगुणवधविषयमनुग्राहकविषयं वा । यत्तु यमेनोक्तम्—'ग्रहं तूपवसे-  
द्युक्तस्त्रिहोऽभ्युपयस्यः । मुख्यते पातकैः सर्वैश्चिर्जपित्वाऽधमर्षणम् ॥' इति, -  
तद्गुणवदो हन्तुर्निगुणवधविषय प्रयोजकानुमन्तुविषयं वा । यत्तु हारीतेनोक्तम्—  
'महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव संनिपाते चाधमर्षणमेव त्रिर्जपेत्'  
इति, - तद्विमित्तकर्तृविषयम् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यान्वन्वित्यैवमेव विषयेषु  
विभजनीयानि ग्रन्थयौत्वनभाषा लक्ष्यन्ते । एतदेव मतजातं यागस्योपि-  
त्रविद्स्वाप्नेयामाहितान्निपान्थी गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे श्यापादिते तुरीया-  
त्तन्मूलमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

भाषा—महापातकी हर्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल  
में खड़ा होकर अधमर्षण ऋषि के सूक्त ( 'श्रुत च सत्य च' आदि ) का जप  
करके एक दूध देने वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । ( यह  
नक्षत्रहर्या का रहस्य प्रायश्चित्त जुभा ) ॥ ३०१ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा द्विषसं मावताशनः ।

जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुतीः ॥ ३०२ ॥

अधवासहोरात्रमुपोषितो राज्ञाशुद्धके वासं कृत्वा प्रातर्जलाहुतीर्यं 'लोमभ्यः  
स्वाहा' इत्याद्यैरष्टभिर्मन्त्रैरेकैकेन पञ्चपञ्चाहुतय इत्येवं चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जु-  
हुयात् १-इत्वं च पूर्वोक्तसमानविषयम् ; उद्वासस्य बलेशबाहुव्यात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—अथवा एक दिन-रात उपवास करके, रात्रि भर जल में रहकर  
प्रातःकाल जल से निकल कर 'लोमभ्यः स्वाहा' आदि आठ मंत्रों से प्रत्येक  
मंत्र के साथ पाँच-पाँच आहुति देकर चालीस बार आहुति करे ॥ ३०२ ॥

क्रममासं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कृष्माण्डीभिर्वृतं शुचिः ।

सुरापानश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरित्यनुवर्तते । त्रिरात्रमुपोषितः कृष्माण्डीभिः 'यद्देवा  
देवदेवतम्' इत्याद्याभिः कृष्माण्डीभिर्गुह्यमिर्गन्त्रिन्देवताभिर्द्विभिरावा-  
रिंशद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत् । तथा बौधायनेनाप्युक्तम्—'अथ कृष्माण्डी-  
भिर्जुहुयाद्योऽपूत पवाग्मानं मन्येत यावद्वाचीनमेनो भ्रूणहरयायास्तरमा-  
न्युत्पते । अपोनौ वा रेतः सिकत्याऽन्यत्र स्वप्नात् ॥' इति । यत्तु मनुना  
( ११।२४९ )—'कौरसं जप्याप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्युच्यम् । माहिघ्नं शुद्ध-

१. स्वाहेति हि वा । २. मासं जप्याप इत्येतद्वासिष्ठं च ऋच प्रति ।  
माहिभ्य शुद्ध ।

भाषा—जितका दोष सयको ज्ञात हो गया हो वह परंपर की भांजा मे  
( जैसा परंपर द्वारा विहित हो वैसा ) मत करे और जिसका पाप ठोगों को  
ज्ञात न हो वह गुप्त रूप से मन करे ॥ ३०० ॥

एवं तदुत्तरहरणमाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रापयित्वा च प्रह्लादाद्यादिक-  
मेतैव रहरणमापयिष्यान्वाह—

शिरान्नोपोषितो जपया प्रह्लादा त्यद्यमर्षणम् ।

अन्तर्जले विद्युत्प्येत वृक्षा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०१ ॥

शिरान्नोपोषितोऽन्तर्जलेऽद्यमर्षणेन महर्षिणा इष्टं सुखं भवमर्षणं 'द्वयं च  
सायं च' इति श्वेषमानुष्टुभं भावयुक्तदेवताकं जपया शिरान्नोपोषितो पयस्विनीं गां  
वृक्षा प्रह्लादा विद्युत्प्यति । जपयान्तर्जले निमग्नेन शिरायर्षणीया । यथाह  
सुमन्तुः—'देवद्विजगुरुदृष्ट्याप्सु निमग्नोऽद्यमर्षणं सुखं शिरायर्षणे । मातरं  
मगिनीं गावा मातृपुत्रारं स्तुषां सर्वां वाऽभ्यर्द्धाऽगम्यावमनं कृत्वाऽद्यमर्षणने-  
पान्तर्जले शिरायर्षणं तदेतस्मात्पूजो भवति' इति ।—एतच्छाकामकारविषयम् ।  
यत्तु मनुनोक्तम् ( ११।२४८ )—'सभ्याद्वृत्तिमणवकाः प्राणायामास्तु पोषण । भवि  
भूणहणं मासाऽनुमन्त्यहरदः कृताः ॥' इति,—तद्व्यतिरेकनेव विषये गोदानादा-  
च्छस्य वेदितव्यम् । यत्तु गीतमेव यद्विशत्राश्रयतमुपरयोक्तं 'तद्युत एव प्रह्लाद-  
स्यासुरापापमुवर्णस्तेषु कृतवेषु प्राणायामैः स्नातोऽद्यमर्षणं जपेत्' ( २४।१० )  
इति,—तदर्थकामतः सकृद्विषयम् । यत्तु वीधायनेनोक्तम्—'प्राणायामाचीं चोदीचीं  
द्विदामुपनिष्कस्य स्नातः शुधिः शुधिवासा उदकाग्ने स्वष्टिद्वमुपलिप्य सकृद्विष-  
यासाः सकृद्वृत्तेन पाणिनादियाभिगुस्तोऽद्यमर्षणं स्नात्वायमधीयते । प्रातः दत्तं  
मध्याह्ने दत्तमपराह्णे दत्तं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु यत्तुतिपावकं प्राधीयात् ।  
ज्ञानकृतेऽथोऽज्ञानकृतेऽथश्रोत्रपातकेभ्यः सतराप्राथम्यमुच्यते द्वादशरात्राग्मदापात-  
केभ्यो प्रह्लादस्याः सुशयानमुवर्णस्तेषामि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण ताम्रपि  
तरति' ( ३।६।४ ) इति—सकामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसधन-  
स्थयविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् ( ११।२५८ )—'अरण्ये वा शिरस्यस्य  
प्रयतो वेदसहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥' इति,—  
सकामतः श्रोत्रियादिविषयविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । वृद्धि-  
प्युनोक्तम्—'प्रह्लादवां कृत्वा प्राणायामाचीमुदीचीं वा द्विदामुपनिष्कस्य प्रभूते-  
न्धनेनाग्निं प्रज्वालयाद्यमर्षणेनाष्टसहस्रमास्याहुतीर्जुह्यात्तत एतस्मात्पूजो भवति'

१. विद्युत्प्येतु । २. गां वृक्षा च पयः । ३. न्यह्ला यमनम् । ४. कामतो  
वध । ५. वासाः सकृत् ।

इति,—तद्विगुणवधविषयमनुप्राहकविषय वा । यत्तु यमेनोक्तम्—‘यह तूपवसे-  
 शुक्लस्त्रिहोऽभ्युपयस्य । मुच्यते पातकै सर्वैस्त्रिजपित्वाऽघमर्षणम् ॥’ इति,—  
 तद्गुणवतो ह-नुर्निगुणवधविषय प्रयोजकानुम-वृविषय वा । यत्तु हारीतेनोक्तम्—  
 महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव सनिपाते चाघमर्षणमेव त्रिजपेत्’  
 इति,—तन्निमित्तकर्तृविषयम् । एवम-या-यपि स्मृतिवाक्या-यन्विषयैवमेव विषयेषु  
 विभजनीयानि प्र-धगौरवभयाच्च लिखन्ते । एतदेव व्रतजास यागस्थयोपि-  
 त्रविट्स्वाश्रेयसामाहिताग्निप-र्वा गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे स्यापादिते तुरीया  
 दाम्यूनमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

भाषा—प्राहण की हत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल  
 में लषा होकर अघमर्षण ऋषि के सूक्त ( ‘ऋत च सत्य च भादि ) का जप  
 करके एक दूध देने वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । ( यह  
 ब्रह्महत्या का रहस्य प्रायश्चित्त हुआ ) ॥ ३०१ ॥

प्रायश्चित्त-तरमाह—

लोमभ्य स्वाहेत्यथवा दिवसं मायताशन ।

जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुती ॥ ३०२ ॥

अथयाऽहोरात्रमुपोषितो रात्राबुदके वास कृत्वा प्रातर्जलाहुतीर्यं लोमभ्य  
 स्वाहा’ इत्याद्यैरष्टभिर्मन्त्रैरेकैकन पत्रपञ्चाहुतय इत्येव चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जु  
 हुयात् ।—इदं च पूर्वोक्तसमानविषयम् , उद्वापस्य क्लेशबाहुत्यात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—अथवा एक दिन रात उपवास करके, रात्रि भर जल में रहकर  
 प्रातःकाल जल से निकल कर ‘लोमभ्यः स्वाहा’ भादि भाठ मंत्रों से प्रायश्च  
 मत्र के साथ पौंच पौंच आहुति देकर बालीस बार आहुति करे ॥ ३०२ ॥

कर्ममास सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कृष्माण्डीभिर्घृतं शुचि ।

सुरापश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरित्यनुवर्तते । त्रिरात्रमुपोषितः कृष्माण्डीभिः ‘यदेवा  
 वैवहेलनम्’ इत्याद्याभिः कृष्माण्डीभिर्घृताभिः कृष्माण्डीभिः कृष्माण्डीभिः कृष्माण्डीभिः  
 रिंशद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत् । तथा घौघायनेनाप्युक्तम्—‘अथ कृष्माण्डी-  
 भिर्जुहुयाद्योऽपूत एवात्मानं मयेत यावद्वाचीनमेनो भूणहस्यायास्तस्मा-  
 न्मुच्यते । अयोनी वा रेतं सिक्त्वाऽ-धत्रं स्वप्नात् ।’ इति । यत्तु मनुना  
 ( ११२४९ )—‘क्रीसं जप्त्वाप ह्येतद्वासिष्ठं च प्रतीक्ष्य चम् । माहिप्र शुद्ध

१ स्वाहेति हि वा । २ मास जप्त्वाप ह्येतद्वासिष्ठं च ऋच प्रति ।  
 माहिभ्य शुद्ध ।

वश्यश्च सुरापोऽपि विशुद्धवति ॥' इति । मास प्रत्यह षोडशकृत्वोऽप्यशौ  
 शुचदय प्रतिशतोमेभिर्ह्यस वासिष्ठम् । महिषीणामघोरश्वेतोऽविन्दश्चतवामेऽप्यते-  
 पामन्यतमस्य नप उक्त, स त्रिरात्रापवासवृष्माण्डहोमाश्चक्षस्य वेदितव्य ।  
 एतच्छाकामत पेष्टया सङ्कल्पाने, गौडीमाभ्योस्तु पानावृत्तौ च वेदितव्यम् ।  
 यश्च मनुना ( १११२५९ )—'म-त्रै चाकलहोमीपैरब्द हुत्वा घृत द्विव ।  
 स गुर्वप्यपह-न्यनो जपवा वा नम इत्युच्यम् ॥' इति । सवासर प्रत्यह 'देवकृ  
 तस्यैतस' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमो 'नम इदुग्र नम भाविवास' इत्यतस्या  
 ऋचो वा जप उक्त, स कामकारविषयः । यत्तु महापातकसमुक्तोऽनुगच्छेत्  
 समाहित । अस्यस्वाब्द पात्रमानीर्भेषाहारो विशुद्धवति ॥' इति,—तदस्यास  
 विषयम्, समुचितमहापातकविषय वा ।

सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

प्राज्ञणस्वर्णहारी तु रुद्रजापी जले स्थित ॥ ३०३ ॥

प्राज्ञण स्वर्णहारी पुनस्त्रिरात्रोपोधित जलमध्यस्थो नमस्त रुद्र मन्यव'  
 इति शतत्रिंशजपयुक्तः शुद्ध्यताति । प्रातावपेनात्र विशेष उक्त—'मय  
 पाया गुरुदाराश्च गरवा स्तेय कृत्वा प्रसहस्यार्थं च कृत्या । अस्मात्सुभ्रो भरम-  
 दात्वां जयानो रुद्राभ्यापी मुच्यते सर्वपापैः ॥' इति । जपस्यैकादशकृत्वप कार्य ।  
 'एकादशगुणा-वापि रुद्राणांश्वर्थं धमवित् । महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र  
 सशय ॥' इत्यादिस्मरणात् । यत्तु मनुना ( १११२५० )—'सकृजपवाऽ  
 स्थवामोष शिपसत्रशमेत्र च । सुवर्णमपहृत्यापि घणाङ्गवति निर्मल ॥' इति  
 द्विपञ्चानाकसकयाकरव अस्य वामस्य पठितस्य होतु' इति सूक्तस्य तथा  
 'यजामतो हूरमुदैति देवम्' इति शिवसकृत्पठस्य पठश्चक्षस्य वा सहजप  
 उक्त सोऽश्व-तनिर्गुणस्वामिकस्वर्णहारी गुणवतोऽपहर्तृर्दृष्टव्य । सुवर्ण-यून  
 परिमाणविषयोऽनुप्राहकप्रयोजकविषयो वा । भावृत्तौ तु 'महापातकसमुक्तोऽ-  
 नुगच्छेत्' इत्यादिनोक्त द्रष्टव्यम् ॥ ३०३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाला तीन दिन शत उपवास करके कृष्माण्ड  
 ऋषि क ( यद्देवा देवहेदनम् आदि ) मन्त्र से चालीस बार भातुति करने  
 पर शुद्ध होता है और ( प्राज्ञण ) का स्वर्ण सुराने वाला जल में खड़ा होकर  
 रुद्र का ( 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' ) जप करने पर दोषमुक्त होता है ॥ ३०३ ॥

क्रमप्राप्त गुरुतत्पगप्रायश्चित्तमाह—

सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतल्पग ।

गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभि पयस्विनी ॥ ३०४ ॥

गुरुतद्वपगस्तु 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशार्चसूक्तं नारायणदष्ट पुरुषदैवस्यमानु-  
 पुम त्रिष्टुभन्त जपस्तस्मात्पापान्मुच्यते । सहस्रशीर्षाजपीति ताच्छ्रीवपप्रत्यया-  
 दावृत्तिर्गम्यते । अत एव यमेनोक्तम्—'पौरुष सूक्तमावर्त्यं मुच्यते सर्वकि  
 विषयात्' इति । भावुत्तौ च सख्यापेक्षायामधस्तनश्लोकगत चत्वारिंशत्सख्याऽ-  
 नुमीयते । अत्रापि प्राक्तनश्लोकगत 'त्रिरात्रोपोषित' इति सबध्यते । अत एव  
 शूद्रद्विष्ट्यु —'त्रिरात्रोपोषित पुरुसूक्तजपहोमाभ्या गुरुतद्वपग शुद्धयेत्' इति ।  
 पृथक् सुरापमुषणस्तेनगुरुतद्वपगौक्तिभिः पृथक्पृथगस्य त्रिरात्रप्रत्ययाग्ते  
 बहुशीरा गौर्द्वेषा ।—इदमकामविषयम् । यत्तु मनुना ( ११६२५१ )—'हवि-  
 स्वाग्तीवमभ्यस्य मतमह इतीति च । अप्पवा तु पौरुष सूक्त मुच्यते गुरुतद्वपग ॥'  
 इति । 'हविस्वान्तमजर रश्मिद्', 'नतमहोनदुरित', 'इति वा इति मे मन',  
 'सहस्रशीर्षे'येषाम-व्यतमस्य मास मस्यह षोडशषोडशकुरुषो जप उक्त, सोऽप्य-  
 कामविषय एव । कामतरतु 'मन्त्रैः साकलहोमीये' इति मनुक्त द्रष्टव्यम् । यत्तु  
 पट्टञ्जामतेऽभिहितम्—'महाप्याहृतिभिर्होमरितलैः कार्षीं द्विज-मना । उपवा  
 तकष्टद्वयर्थं सहस्रपरितक्यवा ॥ महापातकसयुक्ते लघुहोमेन शुद्धयति ॥' इति,  
 तदावृत्तिविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'जपेद्वाप्यस्यवामीव पावमानोरधापि वा ।  
 कुम्ताप षालजिष्वांश्च निविष्टेषा-दुपाकपिम् । हातुंरुद्रा-सकृजपवा मुच्यते  
 सर्वपातकैः ॥' इति,—तद्व्यभिचारिणीगमनविषयम् । यानि पुन गुरुतद्वपातिदेश  
 विषयाणि तस्मानि पाऽतिपातकोपपातक्यदाभिधेया'नि, सेतुपुरीवांशन्वृत्तमर्धान  
 च क्रमेण वेदितव्यम् । पातकातिपातकोपपातकमहापातकानामेकतमे सनिपाते वा  
 अघमर्षगमेव त्रिर्जपेदिति हारीतोक्तं वा द्रष्टव्यम् । महापातकससर्गिणश्च 'स त  
 स्यैव द्यत कुर्वात्'इति कथनाद्यन सह ससर्गस्तदीकमेव प्रायश्चित्तम् । न च वा-प्यम्  
 अत्राप्यापनादिससर्गस्यानेककर्तृकसपाद्यत्वाद्गहस्यस्यानुपपत्तिरिति । यत सत्यप्य-  
 नेककर्तृकत्वे परदारगमनवत् कर्तृव्यतिरिक्ततृतीयाद्यपरिज्ञानमात्रेणैव रहस्यत्वम् ।  
 अतो भवत्येव रहस्यप्रायश्चित्तम् । एवमतिपातकादिमसर्गिणोऽपि तदीयमेव  
 प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् ॥ ३०४ ॥

भाषा—गुरुपार्षी का भोग करने वाला 'सहस्रशीर्षा' भादि सोडह  
 षाशाओं के सूक्त का जप करने से पापमुक्त होता है । इन सबको ( सुरापी,  
 सुवर्णहारी और गुरुतद्वपग को ) त्रिरात्रवत के अन्त में एक दूध देने वाली  
 गाय का दान करना चाहिये ॥ ३०४ ॥

इति महापातकरहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

क्रममाह गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तमाह—

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ।

उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०५ ॥

गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकजातानामनादिष्टरहस्यव्रतानां च जाति-  
भ्रशकरादीनां सर्वेषामपनुत्तये प्राणायामानां शतं कार्यम् । तथा सर्वेषां  
महापातकादीनां प्रकीर्णकान्तानामप्यपनुत्तये प्राणायामा कार्याः । तत्र च महा-  
पातकेषु चतुःशतम्, अतिपातकेषु त्रिंशत्तम्, अनुपातकेषु द्विशतमिति सव्या-  
विष्टि कल्पनीया । प्रकाशप्रायश्चित्तेषु महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्योपपातकेषु  
विधानदर्शनात् प्रकीर्णकेषु च द्वास कल्प्य । अत एवोक्तं यमैः—‘इदमणव-  
सयुक्तं प्राणायामैश्चतुःशतैः । मुच्यते महाहस्याया किंपुन शेषपातकैः ॥’ इति ।  
बौधायनेनाप्यत्र विशेष उक्त—‘अपि वाक्चक्षुःश्रोत्रत्वक्प्राणमनोऽप्यतिक्रमेषु  
त्रिभिः प्राणायामैः शुद्ध्यति । शुद्धस्त्रोगमनाहभोजनेषु पृथक्पृथक् सप्ताह सप्त-  
प्राणायामान्धारयेत् । अभक्ष्याभोज्यामभ्यप्राप्तनेषु तथा चाऽप्यविक्रमेषु मधु-  
मांसपृततैलछायाउपणशलाघ्नप्रजितेषु यच्चा-यद्यप्ययं युक्तं स्यात् द्वादशाह द्वादश-  
द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अथ पातकोपपातकवर्ज्यं यच्चा-यद्यप्येव युक्तं  
स्यावर्धमास द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् उपपातकपतनीयवर्जं यच्चाप्य-  
न्यवेव युक्तं स्या-नास द्वादशार्धमासान् द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् ।  
अ-यपातकवर्ज्यं यच्चाप्य-यद्यप्येव युक्तं द्वादश अर्धमासान् द्वादश प्राणायामान्  
धारयेत् । अथ पातकेषु सवसर द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेदिति । तत्र  
वाक्चक्षुरित्यादिप्राणायामत्रय प्रकीर्णकाभिप्रायम् । ‘शुद्धस्त्रोगमनाहभोजने’त्यादि-  
नोक्ता एकोनपञ्चाशत्प्राणायामा उपपातकविशेषाभिप्रायाः । तथा ‘अभक्ष्याभोज्ये’-  
त्यादिनोक्ताश्चतुश्चत्वारिंशत्तदधिकशतप्राणायामा अत्युपपातकविशेषाभिप्राया एव ।  
अथ ‘पातकोपपातकवर्ज्य’मित्यादिनोक्ता साक्षीतिशतप्राणायामा जातिभ्रशकरा-  
द्यभिप्रायाः । अथ ‘पातकवर्ज्य’मित्यादिनोक्ता षष्ट्यधिकशतत्रयप्राणायामा  
गोवधाद्युपपातकाभिप्रायाः । अथ ‘पातकवर्ज्य’मित्यादिनोक्ता षष्ट्यधिकद्विशत-  
सहितद्विसहस्रसख्याका प्राणायामाः अतिपातकानुपपातकाभिप्रायाः । अथ  
पातकेष्वित्यादिनोक्ता विंशत्यधिकशतत्रययुक्ताश्चतुःसहस्रप्राणायामा महापातक-  
विषयाः । इदं चामध्यमोऽप्येत्यादिनोक्तं प्रायश्चित्तपञ्चकमस्य-तस्ययासविषय,  
समुच्चित्तविषय वा । यत्तु मनुना । ( ११२५२ )—‘एनसां स्थूलसूत्रमाणां  
चिकार्षघ्नपनोदनम् । अवेत्यृच जपेन्दुं यदिकचेदमितीति वा ॥’ इत्ये-  
त्यावप्रत्यहमर्धांतराविरुद्धेषु कालेषु ‘अवतेहेज्जोवरुण’ इत्यस्या ऋचो ‘यदिक-



चेदम्' इत्यस्या, 'इति वा इति मे मन' इत्यस्याञ्च जप उक्तः सोऽप्यभ्यास-  
विषय ॥ ३०५ ॥

भाषा—तत्र उपपातकों की और अन्य सभी पापों की, जिनका विधान  
नहीं किया गया है, शुद्धि के लिये सौ बार प्राणायाम करना चाहिए ॥ ३०५ ॥

उपपातकसामान्यप्राप्तस्य प्राणायामसप्ततस्यापवादमाह—

ओङ्काराभिप्लुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत् ।

कृत्वा हि' रेतोविण्मूत्रप्राशनं तु द्विजोत्तम ॥ ३०६ ॥

द्विजो रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा सोमलसारसमोङ्कारेणाभिमन्त्रितं शुद्धि-  
साधनं पिबेत् १-प्लुतश्चाकामकारविषयम् । कामतस्तु सुमन्प्लुतम्—रेतो  
विण्मूत्रप्राशनं कृत्वा कश्चनपलाण्डुगृज्जन्कुम्भिकाशीमाम-येषां चोभयदाणा भक्षणं  
कृत्वा हसप्रामकुक्कुटश्लेष्मालादिमांसभक्षणं च कृत्वा ततः कण्ठमांसमुद्दकमवतीर्णं  
शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा महा-वाहनिभिरांगमुद्दकं पीत्वा तदैतश्मारप्लुतो  
भवतीति । मनुनापि सप्तविधामन्त्रभक्षणे प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् (११।२५३)—  
'प्रसिगृह्याप्रसिगृह्या शुभावा चान्निगिर्हितम् । यपस्तरस्सम-दोषं पूवते मान-  
यस्यहात् ॥' इति । अभितिग्राह्यं विपन्नसुखादि पतितादिभ्यश्च । यदा त्वप्लु-  
रेतोविण्मूत्रादिशरीरं मलं विसृजति तदापि तेनैवोक्तम्—'अप्रशस्तं तु  
कृत्वाऽप्लु मासमासीत् भैष्यभुक्' ( ११।२५५ ) इति ॥ ३०६ ॥

भाषा—वीर्य, विद्या या मूत्र ( मूत्र से ) मुख में डालने पर द्विज ओङ्कार  
मन्त्र से अभिमन्त्रित सोमलता का पवित्र रस पीए ॥ ३०६ ॥

अज्ञानकृते प्रकीर्णके मानसे चोपपातके प्रायश्चित्तमाह—

मिथ्याया वा दिवा वापि यद्द्वानकृतं भवेत् ।

त्रैकाल्यसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥ ३०७ ॥

रज-यां वामरे वा यद्यमादादिकृतं प्रकीर्णकं मानसे वाचिकं चोपपातकं  
तत्सर्वं प्रातर्मध्याह्नादिकालत्रयविहितनित्यसंध्योपासनया प्रणश्यति । तथा च  
यमः—'यद्द्वानकुरते पापं कर्मणा मनसा गिरा । आसीत् पश्चिमां संध्यां  
प्राणायामैर्निहन्ति तत् ॥ इति । अज्ञानकृतेनाप्लुतम्—'अनूतं मघाभं च  
दिवा मैथुनमेव च । पुनाति वृषलाजं च संध्यां यद्विकृषासिता ॥' इति ॥३०७॥

भाषा—रात्रि या दिन में जो कुछ भी पापकर्म अज्ञानवश हुआ रहता  
है वह तीनों काल की सन्ध्या करने से नष्ट हो जाता है ॥ ३०७ ॥

अथ सकलमहापातकादिसाधारणान्पवित्रमन्त्रानाह—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।

सर्वपापहरा ह्येते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०८ ॥

शुक्रिय नाम आरण्यकविशेष 'विश्वानि देव सवित' इत्यादिपातकनेपके पठ्यते, आरण्यक च यजु ऋच वाच प्रपद्ये मनो यजु प्रपद्ये' इत्यादि तत्रैव पठ्यते, तयोर्जपः सकलमहापातकादिहर । तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लक्ष्मतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्रमुपपातकेषु सहस्र प्रकार्णकेषु क्षतमित्यथ विशेषतो जप सर्वपापहर । तथा च गायत्रोमधिकृत्य श्लोक शङ्खेनोक्त —'क्षत जप्ता तु सौविश्री महापातकनाशिनी । महस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्य प्रमोचिनी ॥ दशसाहस्रजप्येन सर्वैकिक्रियपनाशिनी । लक्ष जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥ सुवर्णस्तेयकृद्धिमो महस्रजः गुरुतरपग । सुरापञ्च विष्टुद्वयपति लक्ष जपवा न सन्नय ॥' इति । यद्यु चतुर्विंशतिमते उक्तम्—'गायत्र्यास्तु जपेःकोटिं ब्रह्महत्यां न्यषेदिति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्तति । गायत्र्या लक्षपष्टपा तु मुच्यते गुरुतरपग ॥' इति,—तद्रुद्रैकादशविषयम् । तथा रुद्रैकादशिनी एकादशानां रुद्रानुवाकानां समाहारो रुद्रैकादशिनी । सा च विशेषतो जप्ता सर्वपापहरा । 'एकादशगुणा-चापि रुद्रानावर्त्य चमयिष्य । महस्रज स तु पापेभ्यो मुच्यते नात्र सन्नय ॥' इति महापातकेष्वेकादशगुणानुत्तिदर्शनात् भतिपातकादिषु चतुर्थं चतुर्थांशहासो योजनीय । 'च'क्षत्रोऽध्वमर्पणादिसमुच्चयार्थं । यथाह वसिष्ठ —'संपदेशपवित्राणि वक्ष्याम्यहमल परम् । यथा जपैश्च होमैश्च पूज्यन्ते नात्र सन्नय ॥ अध्वमर्पणं देवजुतं शुद्धवश्यस्तरसमा । कृष्माह्वयं पावमान-यश्च दुर्गा सावित्र्यधैय च ॥ अभियज्ञा पदस्तोमा सामानि श्वाद्धसीस्तथा । भारदण्डानि सामानि गावश्च रैवत तथा ॥ पुरुषवत् च भास च तथा देवमतानि च । आर्विग चार्हस्यश्च वावसूक्त मध्वुचस्तथा ॥ क्षतकृत्रियाथर्वनिराशिमुपार्णं महामतम् । गोसूक्त चाशसूक्त च इन्द्रहृदये च सामनी ॥ श्रोण्याज्यशोहानि रथन्तर च भस्मेर्धत यामदेश्यं वृहस्पि । एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तुभ्रातिस्मराव लभते यदीष्टेय ॥' इति ॥ ३०८ ॥

भाषा—शुक्रिय नाम क आरण्यक का, गायत्री का विशेष ( महापातक में एक लाख, उपपातक में दस हजार ) जप तथा रुद्रैकादशिनी ( रुद्रों के ग्यारह अनुवाकों ) का जप—ये सभी पापों को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ३०८ ॥

१ पते । २ सा देवी । ३ रुद्रमपनाशिनी । ४. सर्वदेवपवित्राणि ।

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विज ।

तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वाचनं तथा ॥ ३०९ ॥

किंच, यत्र यत्र च ब्रह्मवधादी तज्जनितैकैकमपजातेनात्मानं संकीर्णमभिभूतं द्विजो मन्यते तत्र तत्र गायत्र्या तिलैर्होमं कार्यं । तत्र महापातकेषु लक्ष्येण त्रयया होमं कार्यं । गायत्र्या लक्ष्यहोमेन मुच्यते सर्वपातकैः इति यमरमरणम् । अतिपातकादिषु पादपादद्वासं कल्पनीयं । तथा तिलैर्वाचनं दानं कार्यम् । तथा च रहस्याधिकारे वसिष्ठ - 'वैशाख्यां पौर्णमास्यां ब्राह्मणान्संसं पञ्च वा । क्षौद्रयुक्तैस्तिलैः कृष्णैर्वाचयेत्पवेतरैः ॥ प्रोवतां धर्मराजेति वद्वा मनसि वर्तते । यादभीषकृतं पापं तच्छणादेव नश्यति ॥' इति । तथा अनियतकालादि दानं तेनैवोक्तम्— कृष्णाग्निने तिलान्कृत्वा हिरण्यं मधुसर्विधिं । ददाति वस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' इति । तथा श्यासेनाप्युक्तम्— 'तिलधैनु च घो वद्यास्यतारमा द्विज-ममे । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते तात्र समय ॥' इति । एवमादि दानं ज्ञानं रहस्यकाण्डोक्तमविदुषां द्विजातीनां श्लोशूद्रयोश्च वेदितव्यम् । यस्तु यमेनोक्तम्— तिलान्ददाति याः प्रातस्तिळान्-इष्टमिति खादति । तिलरनाथी तिलान्बुद्धं सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' तथा— द्वाष्टम्प्रीं तु मासस्य षतुर्वरपी तथैव च । अमावास्या पौर्णमासी सप्तमी द्वाष्ट्यादिभ्यम् ॥ सवसरमनुज्ञानं सततं विजितेन्द्रियं । मुच्यते पातकैः सर्वैः स्वर्गलोकश्च गच्छति ॥' इति । यथाग्निोक्तम्— 'क्षीरा-धौ शेषपयंश्चेत्वापादया सविशेद्धरि । निर्द्धां त्यजति कार्तिभया तयोः सपूजयेद्धरिम् ॥ ब्रह्महत्यादिकं पापं क्षिप्रमेव व्यपोहति ॥' इत्येवमादि तासर्वं विद्याविरहिणा कामाकामसकृदसकृदभ्यासविषयतया व्यवस्थापनीयम् ॥ ३०९ ॥

भाषा—जहाँ जहाँ द्विज ( ब्रह्महत्यादि ) कर्मों के पाप से अपने को मुक्त समझे वहाँ वहाँ गायत्री का जप करते हुए तिल का होम करे ॥ ३०९ ॥

वेदाभ्यासरतं क्षाम्तं पञ्चपञ्चक्रियापरम् ।

न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३१० ॥

किंच, वेदश्रीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसन् जपः । तदानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥' इत्युक्त्यमेव वेदाभ्यासनिरतं त्रितिद्यायुक्तं पञ्च महायज्ञानुष्ठाननिरतं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति । किमुत प्रकीर्णकानि बाह्यमनसज-योपपातकानि चेत्तत्र तात्पर्यमपि न द्वादल्लभ्यते ।—पुत्र-

१ गायत्र्याचर्तनं । २ दोषजातेन । ३ गायत्र्या लक्ष्यहोम । ४ पञ्चसप्त च । ५ किञ्चिदपि ।

पचाकामकारविषयम् । अत एव नसिष्टेन—‘यद्यकार्यशतं सामं कृतं वेदश्च धार्यते । सर्वं तत्तस्य वेदान्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥’ इति प्रकीर्णकाद्यभिप्रायेणाभिधायाभिहितम्—‘न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् । अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥’ इति ॥ ३१० ॥

भाषा—वेदाभ्यास ॥ रत रहने वाले और पंचयज्ञ क्रिया में तत्पर व्यक्ति को महापातक से उत्पन्न पाप नहीं छूते हैं ॥ ३१० ॥

वायुमक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रि नीत्वाऽप्सु सूर्यदृक् ।

जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुद्धयेद् ब्रह्मवघाहते ॥ ३११ ॥

किञ्च, श्लोकासौ वासरमुपविशन् उपित्वा सलिले वसत्रिंशत् नीत्वादिस्थो-  
दयानन्तरं सावित्र्याः सहस्रं जप्त्वा ब्रह्मवघस्यतिरिक्तसकलमहापातकादिपाप-  
जायान्मुच्यते । अतश्चोपपातकादिभ्यश्चासौऽनेकदोषसमुच्चये वा वेदितव्यम् ।  
विषमविषयसमीकरणस्यान्यादप्येवात् । अत एव बुद्धवसिष्टेन महापातको-  
पपातकयोः कालविशेषेण प्रवक्षितेऽपि उक्तः । यथाह—‘यवानां प्रसृतिमञ्जलिं  
वा श्रप्यमाणं शृतं चाभिमन्त्रयेत् । यवोऽसि धान्यराजस्व वारुणो मधुसंयुतः ।  
निर्गोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृताः ॥’ इत्यनेन । ‘घृतं पवा मधुयवाः  
पवित्रममृतं यवाः । सर्वं पुनन्तु मे पापं वाद्मनःकायसंभवम् ॥’ इत्यनेन वा ।  
‘अग्निंकार्यं तु कुर्वीत तेन भूतबलिं तथा । नामं न भिक्षां नातिथ्यं न चोच्छ्रष्टं  
परिव्रजेत् ॥’ ‘ये देवा मनोजाता मनोयुजाः सुवचा दक्षपितरस्ते नः पान्तु ते  
नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा’ इत्यामनि जुहुयात्त्रिराश्रं मेधाभिवृद्धये  
पापघ्नाय त्रिराश्रं ब्रह्महस्यादिषु द्वादशराश्रं पतितोत्पन्नश्चेत्येतद्दिगबलम्भने-  
नान्याभ्यपि स्मृतिवचनानि विवेचनीयानि ॥ ३११ ॥

भाषा—दिन में उपवास करके रात्रि भर जल में रहकर सूर्योदय के  
हो जाने पर एक सहस्र बार गायत्री का जप करने पर ब्रह्महत्या के अतिरिक्त  
अभ्य सभी महापातकों से शुद्धि हो जाती है ॥ ३११ ॥

इति रहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

विनियुक्तमतघातरूपभेदे बुभुसिते ।

कीदृशमिति संशेषाच्छरणं वक्ष्यतेऽधुना ॥

तत्र तावत्सकलप्रकाशरहस्यवताद्भूतान्धमानाह—

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकरकता ।

अहिंसा स्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ ३१२ ॥

स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाभ्यायोपस्यनिग्रहाः ।

नियमा गुरुशुधुषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ ३१३ ॥

ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसंयमः, उपस्यनिग्रहो लिङ्गनिग्रहः शोचनीवर्द्धन्यायेन निर्दिष्टः, अक्वकृता अकुटिलता । शेषं प्रसिद्धम् । यत्पुनर्मनुनोक्तम्—'अहिंसा सत्यमक्रोधमाजैवं च समाचरेत्' इति,—तदप्येतेषामुपलक्षणं न परिगणनात् । अत्र च दयादानाद्यादीनां पुरुषार्थतया प्राप्तानामपि पुनर्विधानं प्रायश्चित्ताङ्गावार्थम् । क्वचिद्द्विशेषोऽप्यस्ति । यथा विवाहादिष्वभ्यनुज्ञात्स्यात्पनृतवचनस्य निवृत्तपर्यं सत्यसर्वविधानम् । पुत्रशिल्प्यादिकमपि न तादृशीयमित्येवमर्थमहिंसा-विधानमित्येवमादि ॥ ३१३-३१६ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्यं ( सभी इन्द्रियों का संयम ), दया, दान, सत्य भाषण, सरलता, अहिंसा, खोरो न करना, माधुर्यं ( मधुर बचन बोलना ) और दम ( ज्ञानेन्द्रियों का दमन )—ये धर्म कहे गये हैं ॥

स्नान, मौन रहना, उपवास, वैचरजन, स्वाभ्यास, लिङ्ग का निग्रह ( कामुकता का त्याग ), गुरु की सेवा, पवित्रता, अक्रोध और प्रमाद का त्याग—ये सभी नियम कहलाते हैं ॥ ३१३-३१६ ॥

तत्र साम्प्रतपनाख्यं व्रतं तावदाह—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिं कुशोदकम् ।

जग्म्या परेऽहद्युषवसेत्कृच्छ्रं साम्प्रतपनं चरन् ॥ ३१४ ॥

पूर्वेष्टुराहारा-तरपरित्यागेन गोमूत्रादीनि वज्रगम्यानि पञ्चदश्याणि कुशो-दकसहितानि सयुज्य पीत्वा अवरेष्टुषुषवसेदिति द्वैरात्रिकं सा-तपनं कुर्यात् । सयोजनं चोत्तरशुक्रं युध्मिध्वानादवगम्यते । 'कृच्छ्र' इति चान्वयसंज्ञेयम् ; तपोरूपत्वात् वल्लभासाभ्यस्तान् । गोमूत्रादीनां परिमाणं वक्ष्यते । यदा पुनः पूर्वे-ष्टुषुषवोऽप्यवरेष्टु सम-त्रकं सयुज्यं सम-त्रकमेव पञ्चगम्यं पीयते तदा ब्रह्मकृच्छ्रं इत्याख्यायते । यथाह पराशरः—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिं कुशोदकम् । निर्दिष्टं पञ्चगम्यं तु ग्रंथेकं कायशोधनम् ॥ गोमूत्रं चाश्रवणायां श्वेतायाश्चापि गोमयम् । पयः काञ्चनवर्णायां श्रीलायाश्च तथा दधि ॥ घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव च । अन्तमे सर्ववर्णायां पञ्चगम्येऽवश्यं विधिः ॥ गोमूत्रं मापकारस्यष्टौ गोमयस्य तु षोडशः । क्षीरस्य द्वावन्नं प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीतिता ॥ गोमूत्रवददृष्टस्याष्टौ तदर्धं तु कुशोदकम् । मायस्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् । आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिकल्प्येति च दधि ॥ तेजोऽ

१. परम् । २ द्वैरात्र । ३ सातपन । ४ पवित्र कायशोधनमिति ।

सिष्टुऋमिरयाज्य देवस्य स्वा कुशोदकम् । पञ्चगव्यमृचा पूत होमयेदग्निनिधी ॥  
 सप्तपत्राश्च ये दर्भा अग्निध्यामा शुचिस्त्रिप । एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं  
 यथाविधि ॥ इति वती इद्विष्णुर्मानस्तोके च दावती । एताभिश्चैव होतव्यं  
 हुतदोषं विवेद् द्विज ॥ प्रणवेन समाबोध्य प्रणवनाभिर्मन्त्रं च । प्रणवनं  
 समुद्धृत्य विवेत्प्रणवेन तु ॥ मध्यमेन पलाशस्य पत्रपत्रेण वा विवेत् ।  
 स्वर्णपात्रेण शीघ्रेण प्राङ्मूर्त्तयेन वा पुनः ॥ यन्व्यस्त्यगतं पापं दहेतिष्ठति  
 मानवे । मन्त्रानुर्वासास्तु ब्रह्मयज्ञिर्विवेचनम् ॥' इति । यदा श्वेतदेव मिथितं  
 पञ्चगव्यं त्रिसप्तमध्यस्थते तदा यत्तिसान्तपनसङ्गां लभते—'एतदेव चहाभ्यस्तं  
 यत्तिसान्तपनं स्मृतम्' इति शङ्करस्मरणात् ॥ जाबालेन तु सप्ताहसाध्यं सान्तपनं  
 नमुक्तम्—'गोमूत्रं गोमयं घृणं दधि सर्पिं कुशोदकम् । एकैकं प्रत्यहं पीत्वा  
 स्वहोरात्रमभोजनम् । कृत्वा सान्तपनं नाम सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । एषां च  
 गृहलघुकृच्छ्राणां कारण्याद्येषु च व्यवस्था विज्ञेया । एवंमुत्तरत्रापि व्यवस्था  
 बोद्धव्या ॥ ३१४ ॥

भाषा—एक दिन गाप का मूत्र, गोबर, घृण, दही, घी और कुशा का  
 जल पीकर दूसरे दिन उपवास करने पर दो दिन का सान्तपन कृच्छ्रप्रप्त  
 होता है ॥ ३१४ ॥

महासान्तपनाख्यं कृच्छ्रमाह—

पृथक्सान्तपनद्रव्यैः पट्टहं चोपवासकम् ।

सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनं स्मृतम् ॥ ३१५ ॥

सप्ताहेनापवर्जितो महासान्तपनाख्यं कृच्छ्रे विज्ञेय । कथमित्येषेष्वापानुक्तं  
 पृथग्भूते पञ्चभिर्गाम्भ्यादिभिरेकैत्रैकैकमहरतिवाहयेत् सप्तमं चोपवासनेति ।  
 यत्नेन तु पञ्चदशाहसपाद्यो महासान्तपनाऽभिहित—'प्रत्यहं विवेत्तु गोमूत्रं  
 मय्यहं वै गोमयं विवेत् । मय्यहं दधि मय्यहं घृणं सर्पिरस्तु शुचि ॥ महासान्तपनं  
 होतव्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । जाबालेन श्वेतदेवितिरात्रिनिर्वाणो महा  
 सान्तपनं उक्तं—'पण्णामेकैकमेतेषां त्रिसप्तमुपयोजयत् । प्रत्यहं चोपवसेत्प्रत्यहं  
 महासान्तपनं विदुः ॥' इति । यदा तु पण्णां सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य द्वयहं-  
 मुपयोगस्तदा अतिसान्तपनम् । यथाह यम—'एतां येव तथा येवात्येकैकं  
 तु प्रत्यहं द्वयहम् । अतिसान्तपनं नाम अपाकमपि शोधयत् ॥' इति ।  
 'अपाकमपि शोधयेत्' इत्यर्थवाद् ॥ ३१५ ॥

भाषा—साम्बान के ( गोमूत्र आदि च ) द्रव्यों से पृथक् पृथक् ( अर्थात् एक एक दिन एक एक को पीकर ) ॥ दिन बिताकर एक दिन उपवास करने पर एक सप्ताह का महासातपन कृच्छ्र मत बताया गया है ॥ ३१५ ॥

इति महासातपनातिसानपने ।

पर्णकृच्छ्राख्य षतमाह—

पर्णादुम्बरराजोवचिस्त्रपत्रकुशोदकै ।

प्रत्येक प्रत्यहं पीते पर्णकृच्छ्र उदाहृत ॥ ३१६ ॥

पलाशोदुम्बरारविन्दशीघ्रपर्णानामेकैकेन कथितमुदक प्रत्यहं पिवेत् । कुशोदकं चैकस्मिन्नहनाति पञ्चाहसाध्यं पर्णकृच्छ्रं । यदा तु पर्णादीनामेकी कृतानां कायस्त्रिरात्रान्ते पीयत तदा पर्णकृच्छ्रं । यथाह यम — एतान्येव समस्तानि त्रिरात्रोपीयते द्युधि । कायस्त्रिणा पिवेदत्रिं पर्णकृच्छ्रोऽभिधीयते ॥' इति । यदा तु विह्वलादिफलानि प्राणैक कथितानि मासं पीयन्ते तदा फलकृच्छ्रा-विष्यपदेशं लभन्ते । यथाह मार्कण्डेय — 'फलैर्मासेन कथिताः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः । श्रीकृच्छ्रं श्रीफले षोडशं चैरपरस्तथा ॥ मासेभामलकैरेव श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम् । पत्रैर्मत पत्रकृच्छ्रं पुष्पैस्ताकृच्छ्र उच्यते ॥ मूलकृच्छ्रं स्मृतो मूलस्तोपकृच्छ्रो जलेन तु ॥' इति ॥ ३१६ ॥

भाषा—पलाश उदुम्बर ( गूलर ) कमल, विष्वपत्र में से एक एक को एक एक दिन पानी में उबालकर वही जल पीये और फिर एक दिन ( पाँचवे दिन ) कुशा का जल पीये तो पर्णकृच्छ्र मत कहलाता है ॥ ३१६ ॥

इति पर्णकृच्छ्रपञ्चादशविधः ।

तप्तकृच्छ्रमाह—

तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिवेत् ।

पकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृत ॥ ३१७ ॥

दुग्धसपिशदकानां तप्तानामेकैकं प्रतिदिवसं प्राश्यापरेषुस्वपसेत् । एव दिवसश्चतुष्टयसपाद्यो महातप्तकृच्छ्रः । एभिरेव समस्तैः सोपवासैर्द्विरात्रसपाद्यं सातपनवत्तप्तकृच्छ्रः । मनुना तु द्वादशरात्रनिर्वर्त्योऽभिहित ( ११२१४ )— तप्तकृच्छ्रं चरन्विभ्यो जलचैरघृतानिलान् । प्रतिभ्यहं पिवेदुष्णान्सहस्रानापी समाहित ॥' इति । क्षीरादिपरिमाणं तु पराशरेणोक्तं द्रष्टव्यम् ।— अर्थां पिवेत्

त्रिपल द्विपल एवमपि पिवेत् । पलमेकं पिवेत्सर्विस्त्रिरात्र शोष्णमारुतम् ॥  
इति । त्रिरात्रमारुतस्य पूरणे उप्योदकवाप्य पिवेदित्यर्थः । यदा तु शीत  
शीरादि पीयते तदा शीतकृच्छ्रः, 'स्यह शीतं पिवेत्तोयं स्यह शीतं पयं पिवेत् ।  
स्यह शीतं घृतं पीत्वा वायुमच्छ परं स्यहम् ॥' इति यमस्मरणात् ॥ ३१७ ॥

भाषा— दूध, घी और जल में से प्रत्येक को गर्म करके एक एक दिन  
पीकर और फिर एक दिन रात ( चौथे दिन ) उपवास रखने पर तसकृच्छ्र  
प्रप्त होता है ॥ ३१७ ॥

इति तसकृच्छ्रशुर्विषः ।

पादकृच्छ्रमाह—

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।

उपवासेन चैवायं पादकृच्छ्रं प्रकीर्तितं ॥ ३१८ ॥

एकभक्तेन सहज्जोनेन दिवैष, नक्तेनेति पृथगुपादानात् । अतश्च दिवैवैक  
वारमव भोजनेनैकमहोरात्रमसिवाहयदिति । तत्र दिवसि रात्रिःपुदासः । एक-  
वारमिति द्विवारादिपुदासः । भोजनेनेभ्यभोजनपुदासः । एतच्च वृच्छादीनां प्रत-  
रूपत्वात् पुरुषार्थभोजनपदंदासेन वृच्छाद्भूय भोजनं विधीयते । तथा चापरसः  
॥ — स्यहमनकार्यदिवाशी च ततःस्यह । स्यहमयाचितप्रतरे यह नारनाति  
किंचन' इति । अत्र च 'अनच्छादा' इत्यनेन प्रतविहितं न निमित्तं पदेन नक्तंरुं  
दासेन द्विवाभोजनविषयं दर्शयति । गौतमनादीदमेव स्पष्टाकृतम्— 'द्विप्या-प्रातः  
रात्र्याभ्युक्त्वा तिस्रो रात्रिर्नारनीयात्' इति । एव नक्तभोजनविधावपि । न विद्यते  
याचितं परस्मिन्-भोजने तदयाचितम् । तत्र काठविशेषानुपादानाद्दिवा रात्रौ वा  
सहृदियेव, तपोरूपं वाहृत्प्राणा द्वितीयभोजने तदनुपपत्तेः । अयाचितमिति  
न केवलं परकीवाश्रयाचनप्रतिषेधोऽपि तु स्वकीयमपि परिचारकभार्यादिभ्यो न  
याचितं-यम् । प्रेषणाध्येपणयो साधारणवाया-नायाः । अतः स्वगृहोऽपि श्रुत्य  
भार्याभ्योऽनाश्रया एव यदि भोजनमुपहरन्ति तर्हि भोक्तव्यं, ना यथा । अमुनै  
वाभिप्रायेणोक्तं गौतमेन— 'अथापरं स्यहं न कश्चन याचेत्' इति । अत्र च  
प्राससक्यानियमं पराशरेण दर्शितं— सायं तु द्वावन्नप्रासाः प्रातः पञ्चदश  
स्मृताः । चतुर्विंशतिराया-या परं निरशनं स्मृतम् ॥ इति । अत्रस्तभ्येन  
त्व यथोक्तम्— सायं द्वाविंशतिप्रासाः प्रातः पञ्चदशति स्मृताः । चतुर्विंशति-  
राया-या परं निरशनं स्मृतम् । कुक्कुटाण्डप्रमाणास्तु यथा वास्यं विशेषस्तु ॥'  
इति ॥ अनयोः कल्पयोः शक्यपेक्षया विकल्पः । आपस्तम्बेन तु प्राजापत्य



प्रायश्चित्त चतुर्धा विभज्य चतुर पादकृच्छ्रान्कृत्वा वर्णानुरूपेण स्ववस्था दर्शिता— अथह निरघ्नन पाद पादध्यायाचित्-अथहम् । साय अथह तथा पाद् पाद् प्रातस्तथा अथहम् ॥ प्रात पाद अथेच्छूद्र साय वैरये तु दापयेत् । ध्यायाचित् तु राज-ये त्रिरात्र ग्राह्ये स्मृतम् ॥' इति । यदा स्वयाचितोपवासात्मक-अथहद्वयानुष्ठान तदाऽर्धकृच्छ्र । सायभ्यतिरिक्तापर-अथहयवानुष्ठान तु पादोनमिति विज्ञेयम् । 'सायप्रातर्विनार्थं स्यात्पादोन नक्तवर्जितम्' इति तेनैवोक्तवात् ॥ अर्धकृच्छ्रस्य प्रकारान्तरमपि तेनैव दर्शितम्—'साय प्रातस्तथैकैक दिनद्वयमयाचितम् । दिनद्वय च नारनीयाकृच्छ्राच्च तद्विधीयता ॥' इति ॥ ३१८ ॥

भाषा—एक दिन दिन में केवल एक बार और दूसरे दिन केवल रात्रि को एक बार भोजन करे तीसरे दिन बिना मागे ही मिला हुआ भोजन करे और चौथे दिन उपवास करे तो पादकृच्छ्र मन होता है ॥ ३१८ ॥

प्राजापत्य कृच्छ्रमाह—

यथाकथंचित्त्रिगुण प्राजापत्योऽयमुच्यते ।

अपमेव पादकृच्छ्र यथाकथंचिद्वदकलितवदावृष्या स्वस्थानविपृद्धया वा, तत्राप्यानुलोम्बन प्रातिलोम्बेन वा तथा वषवमागजवाशित्युक्त तद्रहित वा त्रिर अथस्त प्राजापत्योऽभिधीयते । तत्र द्वावकलितवदावृषिष्वचो वसिष्ठेन प्रदर्शित—'अह प्रातरहर्नैकमहरेकमयाचितम् । अह. पराक तत्रैकमेव चतुर र्हा परो ॥ अनुग्रहार्थं विमार्णा अनुर्धर्मभृतां वरः । बाळदृढातुरेभेव सिद्धकृच्छ्र-सुवाच ह ॥' इति । आनुलोम्बन स्वस्थानविरुद्धिद्वयस्तु मनुना दर्शित (१११-२११)—'अथ प्रातश्चयह साय अथहमघादयाचितम् । पर अथ च नारनीया-प्राजापत्य चरिन्द्रज ॥'इति प्रातिलोम्ब्यावृत्तिस्तु वसिष्ठेन दर्शिता—'प्रातिलोम्ब्य अरेद्विष कृच्छ्र च-द्रायणोत्तरम्' इति । जवादिरहितवदस्तु शीशुदादिनिष्ये उक्तिरसा दर्शित—'तस्माच्छूद्र समासात् सदा धर्मवथे स्थितम् । प्रायश्चित्त मदातम्य अपहोमादिचर्जितम् ॥' इति । जवादिमुक्तवदस्तु पारिशेष्याद्योगवतया च शैवर्णिकविषयः स च गौतमादिभिर्दर्शित—'अथातः कृच्छ्र-भ्यावयास्यामो हविष्या-प्रातराशा-भुक्त्वा तिष्ठा रात्रौनारिनीयादथापर अथ नक्त भुञ्ज तायापर अथ न कचन याचेतायापर अथहमुपवसस्तिष्ठेद्दहनि रात्रात्रासोत् चिप्रकाम सरय वदेद्वनार्थं सह न प्रापेत रौरवयोर्धा जपे नित्य प्रयुञ्जीतानुसवनमुद्कोपस्पर्शन-मापोद्विष्टेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्ज्योत् हरिष्यवर्णा शुचया पावका ह्यष्टा-भिरधोदकतर्पणम् । 'नमोहमाथ मोहमाथ महमाथ ध-वने तापसाव पुनर्वसवे नम मीच्याय भीर्षाय वसुविन्दाय सर्वविन्दाय नम । शाराय सुपाराय महापाराय पारदाय परपाराय पारिष्यवे नमः । रुद्राय पशुपतये महत् द्वाय अग्निका-

यैकचरायाधिपतये हराय शर्मायेशानायोग्याय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः सूर्या-  
यादिस्याय नमः । नीलम्रीवाय शितिकण्ठाय नमः । कृष्णाय विङ्गलाय नमः ।  
ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः । सत्याय पावकाय पावक-  
वर्णायैकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः । दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः । तीक्ष्णाय  
तीक्ष्णरूपिणे नमः । सौम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषाय उत्तमपुरुषाय  
ब्रह्मचारिणे नमः । चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमः इति । एतदेवादिद्योप-  
स्थानमेता एवाऽप्याहुतयो द्वादशरात्रस्थान्ते चरुं भ्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो  
जुहुयाद् 'अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो  
देवेभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्वितृकृते' इति अन्ते ब्राह्मणभोजनम् इति ।  
तत्र तिष्ठेद्दहनि रात्रावासीत् चिप्रकाम इत्यस्यार्थः—यस्तु महतोऽप्येनस्य  
चिप्रमेकैनेन कृत्त्रेण चिप्रं मुष्येयमिषेयं' कामयते असावहनि कर्माविरुद्धेषु  
कालेषु तिष्ठेद्वात्रावासीत् । एवं रौरवयोधाययसामजपो नमोहमायेत्यादिभिस्त-  
र्पणमादिद्योपस्थानादिकं चरुभ्रपणादिकं च योगीश्वराद्यनुक्त चिप्रकामः कुर्वीत ।  
अतश्च योगीश्वराद्युक्तमात्रापायद्वयस्थाने गौतमीयमनेकेतिकर्तव्यतासहितं ब्रह्म-  
स्यम् । एयमन्याप्यपि स्मृत्यन्तरोक्तानि विशेषेणान्येषणीयानि ॥

अतिकृच्छ्रमाह—

अयमेधातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूराभ्रभोजनः ॥ ३१९ ॥

एतद्धर्मक एव एकभक्षादिप्राजापत्यधर्मयुक्तोऽतिकृच्छ्रः स्यात् । इयास्तु  
विशेषः—आद्ये ष्यहप्रये पाणिपूरणमात्रमग्नं मुष्येयं च पुनर्द्वाविंशत्यादिमा-  
सान् । अत्र च प्राणभोजनानुवादेन पाणिपूराप्रविधानादन्वयव्यवहृत्तिदेवमास  
उपरातोऽप्रतिपद्य एव । अत्रापि पादसो व्यवस्था पूर्ववदेव द्रष्टव्या । यत्तु  
मनुनोक्तम् । ( ११।२।३ )—'एकैकं मातमरनीवाभ्यहाणि ग्रीणि पूर्ववत् ।  
एवहं सोपवमेदममनिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥' इति,—तत्पाणिपूराभ्ररिमितांश्चर-  
त्वात्तद्वर्कं विदयम् ॥ ३१९ ॥

भाषा—इसी पादकृच्छ्र मत का जिस किमी प्रकार तिगुना करके मत  
करने पर पाजापत्य कृच्छ्र कहा जाता है और यदि तीन दिनों में केवल एक  
हाय में भाने भर भोजन करके बिताके तो उपरोक्त मत ही अतिकृच्छ्र मत  
होता है ॥ ३१९ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रमाह—

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम् ।

एकविंशतिरात्र पयसा वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्राख्यं मतं विज्ञेयम् । गीतमेन  
तु द्वादशरात्रमुदकेन वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्रं उक्तं 'अन्मघस्तृतीयः स कृच्छ्राति-  
कृच्छ्रः' इति । अतश्च अन्मघपेक्षयाऽन्यान्यैर्वस्था ॥

पराकमाह—

द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३२० ॥

ऋग्वर्थोऽयमर्धरलोक ॥ ३२० ॥

भाषा—केवल दूध पीकर इक्कीस दिन बिताने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र  
मत होता है । बारह दिन के उपवास को पराकमत कहा गया है ॥ ३२० ॥

सौम्यकृच्छ्रमाह—

विषयाकाचामतक्राम्युसक्तानां प्रतिवासरम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः सौम्योऽयमुच्यते ॥ ३२१ ॥

विषयाकोचननिष्ठाबोधविदुदकसक्तानां पञ्चानामेकैकं प्रतिदिवसंमुपभुज्य-  
पष्टेऽङ्घ्रि उपवसेदेव सौम्याख्य कृच्छ्रोऽभिधीयते । इव्यपरिमाणं तु प्राणयात्रा-  
मात्रनिष-धनमधिगन्तव्यम् । जावालेन तु अतुरहर्ष्यापी सौम्यकृच्छ्र उक्त —  
'विषयाक सक्तवस्तक अतुर्येऽहम्यभोजनम् । वासो वै दक्षिणा इधाराक्षीमोऽयं  
कृच्छ्र उच्यते ॥' इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—विषयाक ( निष्ठ की खली ) आचाम ( भात का माँड ), तक्र  
( मट्ठा ) जल और सक्तु में से एक एक से क्रमशः पाँच दिन घटतीत करके  
फिर एक दिन उपवास करने पर सौम्यकृच्छ्र मत होता है ॥ ३२१ ॥

तुलापुरुषाख्य कृच्छ्रमाह—

एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।

तुलापुरुष इत्येष ज्ञेय पञ्चदशाहिकः ॥ ३२२ ॥

एषां विषयाकादीनां पञ्चानां क्रमेणैकैकस्य त्रिरात्राभ्यासेन पञ्चदशाहभ्यापी  
तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो वेदितव्यः । अत्र च पञ्चदशाहिकस्वविधानादुपवासस्य  
निवृत्ति ॥ यमेन एकैकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुष उक्त —आचाममथ विषयाकं  
तक्र चोदकसक्तुकान् । अह अहं प्रयुजानो चासुमची भवद्दयम् ॥ एकविंश-  
तिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यते ॥' इति । अत्र हारीताशुक्तेतिकर्तव्यता प्रथगीरव-  
भयान्न लिख्यते ॥ ३२२ ॥

भाषा—इन विषयाक आदि में क्रमशः एक-एक का तीन-तीन दिन तक  
सेवन करने पर पन्द्रह दिन का तुलापुरुष मत होता है ॥ ३२२ ॥

१. तिकृच्छ्रमित्युक्तं । २ सौम्या. कृच्छ्रोऽयमुच्यते । ३ उपयुज्य ।  
३. यथाविधि ।

चान्द्रायणमाह—

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले सिध्यण्डसंमितान् ।

एकैकं द्वासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन् ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणाय व्रतं कुर्वन् मयूराण्डपरिमितान् पिण्डान् शुक्ले भाष्य-  
माणपक्षे तिथिवृद्ध्या चरेत् भक्षयेत् । यथा प्रतिपद्यमृतिषु चन्द्रकलानामेकैकशो  
वृद्धिरर्धमासे तद्वत्पिण्डानपि प्रतिपद्येको द्वितीयायां द्वात्रिंशद्वयमेकैकशो वर्ध-  
यन् भक्षयेद्यत्पूर्वमासी । ततः पञ्चदश्यां पञ्चदश प्रासान्भुक्त्वा वा ततः  
कृष्णपक्षे चतुर्दश प्रतिपदि द्वितीयायां त्रयोदशेऽथमेकैकशो प्रासान् द्वासयन्त-  
नीयाद्यावत्तुर्दशी । ततश्चतुर्दश्यामेकं प्राप्तं प्रसिद्ध्या इन्दुष्वपेऽर्धाहुपवसेत् ।  
तथा च वसिष्ठः—‘एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च द्वासयेत् । इन्दुष्वपे न  
भुञ्जीत पप चान्द्रायणो विधिः ॥’ इति । चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं पश्चि-  
मकर्मणि द्वासवृद्धिर्वा तच्छान्द्रायणम् । संज्ञायां शोर्धः । इदं च पववत् प्रान्त-  
शोऽणीयो मध्ये स्थवीय इति यवमभ्यमिति कथ्यते । एतदेव व्रतं यदा कृष्ण-  
पक्षप्रतिपदि प्रकृत्य पूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठीयते तदा पिपीलिकारमभ्ये इतिष्ठं भव-  
तीति पिपीलिकामभ्यमिति कथ्यते । तथा हि—पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णप्रतिपदि  
चतुर्दश प्रासान् भुक्त्वा एकैकप्रासापक्षयेन चतुर्दशीं यावत् भुञ्जीत । तत-  
श्चतुर्दश्यामेकं प्राप्तं प्रसिद्ध्याऽमावास्यायामुच्यते शुक्लप्रतिपद्येकमेव प्राप्तं  
प्रारनीयाद् । तत एकैकोपक्षयभोजनेन पक्षोपे विधेर्व्यमाने पूर्णमास्यां पञ्चदश  
प्रासाः संपद्यन्त इति युक्तैव पिपीलिकामभ्यमिति । तथा च वसिष्ठः—‘मासस्य  
कृष्णपक्षादीं प्रासान्द्यत्तुर्दश । प्रासापक्षयभोजी सन् पक्षोपे समापयेत् ।  
सथैव शुक्लपक्षादीं प्राप्तं भुञ्जीत चापरम् । प्रासापक्षयभोजी संपक्षोपे  
समापयेत् ॥’ इति । यदा श्वेकस्मिन्पक्षे तिथिवृद्धिद्वासवशात् षोडश दिनानि  
भवन्ति चतुर्दश वा तदा प्रासानामपि वृद्धिर्हासी वेदितव्या । ‘तिथिवृद्ध्या  
पिण्डांश्चरेत्’ इति नियमात् । गौतमेनात्र विशेषो दक्षितः—‘अथातश्चान्द्रायणं  
तस्योक्तो विधिः कृष्णे वपनं च व्रतं चरेत् शोभूतां पूर्णमासीमुपवसेत् भाष्या-  
यस्व संतेपयांसि नचोनव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चाशुमन्त्रणमु-  
पस्थानं च चन्द्रमसः यद्देवादेवहेहनमिति चतस्रभिराज्यं तुहुयादेवकृतस्येति चान्ते  
समिन्निविभिः ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं यज्ञः  
धीः ऊर्कू इत् भोजः तेजः पुरुषः भगः शिवः इत्येतेऽप्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं  
मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वानेतैरेव प्रासान्भुञ्जीत । तद्प्रासप्रमाणमास्याधि-  
कारेण पक्षमैत्रसकुक्कणयावकशाकपयोदविघ्नृतमूलफलोदकानि हवींभुचरोत्तरं

प्रशस्यानि । पौर्णमास्यां पञ्चदश प्रासान् भुक्त्वा एकैकापचयेनापरपक्षम-  
रनीयात् । अमादास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्ष विपरीतमेकेषामेव चा-द्रायणो  
मास' इति । अत्र प्रासप्रमाणमास्याधिकारोनेति यदुक्तं,—तद्बालाभिप्रायम् ।  
तेषां शिष्यवृद्धपरिमितपञ्चदशप्रासभोजनाशक्ते । पौरादिहविषु शिष्यवृद्धपरि-  
मितश्च तु पर्णपुटकादिना सपादनीयम् । तथा कुक्कुटाण्डाद्गामलकादीनि तु  
प्रासपरिमणानि स्मृत्यन्तरोच्छानि शक्तिविषयाणि शिष्यवृद्धपरिमाणावुपुत्वा  
सेषाम् । यत्पुनरत्र शोभूर्तां पौर्णमासीमुपचसेत्' इत्यत्र चतुर्दशामुपवासम  
भिधाय 'पौर्णमास्या पञ्चदशप्रासान्भुक्त्वा' इत्यादिना द्वत्रिंशद्दहरात्मकस्य  
चान्द्रायणस्योक्त तस्यचा-तरप्रदर्शनार्थं न सार्वत्रिकम् । योगीश्वरवचनानुरोधेन  
द्विंशद्दहरात्मकस्य दक्षितत्वात् । यद्यत्सार्वत्रिकं स्यात्तदा नैर-तर्पणं सवसरे  
चान्द्रायणानुष्ठानानुपपत्तिरुच्यते । चन्द्रगणन्यनुवर्तनानुपपत्तिश्च ॥ ३२३ ॥

भाषा—एकपक्ष में त्रिंशत् की वृद्धि के साथ मयूर के अण्डे के बराबर  
एक एक प्रास बढ़ाते हुए फिर कृष्णपक्ष में एक एक प्रास घटाते हुए भोजन  
करने पर चा-द्रायण मत्त होता है ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायण-तरमाह—

यथाकर्णविरिण्डानां चरवारिंशच्छतद्वयम् ।

मासेनेषांपभुंक्षीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२४ ॥

विण्डानां चरवारिंशदधिकं शतद्वयं मासत्रयं भुञ्जीत । यथाकर्णविरिण्डानां  
मन्वाद्धेऽष्टौ प्रासान्, अथवा नक्षत्रदिनयोश्चतुरस्रपुरो या, अथपैकैरिमन्वापुरोऽ  
परिमन्वाद्दश वा तथैकरात्रमुपोष्यापरिमन्वोदश वेत्यादिप्रकाराणां  
मन्वयतमेन दशवाचपेषणं भुञ्जीतेत्येतत्पूर्वोक्तचान्द्रायणद्वयात्परं चान्द्रायणम् ।  
अतस्तयोर्नाथं प्राससक्यानिवयम्, किंतु पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयसक्यैव । मनुवा  
चैते प्रकारा दक्षिता (११।२१८-२२०)—'अष्टावष्टौ समरनीयाविरिण्डान-मन्वय  
म्दिने स्थिते । नियतात्मा हविष्यस्य पतिचा-द्रायणं चरेत् ॥ चतुरः प्रातररनी-  
याविरिण्डानि-वयं समाहितः । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥ यथा-  
कर्णविरिण्डानां तिस्रोऽंशतीति समाहितः । मासेवारनन्दहविष्यस्य च-द्रायैति  
सलोकताम् ॥' इति । तथा चरवारिंशच्छतद्वयमन्युनसक्याप्राससपादस्यपारि  
सप्रहार्थं 'अपर' ग्रहणम् । यथाह वसु — यींक्षीरिण्डान-समरनीयाविरिण्डानात्मा  
रुदमत । हविष्यास्यस्य वै मासमृद्विचा-द्रायणं स्मृतम् ॥' इति । एतच्च  
पतिचा-द्रायणप्रभृतिषु च-द्रायणानुसरणमपेक्षितम् । अतस्त्रिंशद्दहरात्मकमासा-

रणेन मासेन नैरन्तर्येण चान्द्रायणानुष्ठाने यदि कथंचित्पिबृद्धि-  
हासवशात् पञ्चम्यादिपवारम्भो भवति तथापि न दोषः । यदपि सोमायनाख्यं  
मासप्रतं मार्कण्डेयेनोक्तम्—'गोक्षरं सप्तरात्रं तु विवेश्तेनचतुष्टयात् । स्तनत्र-  
याप्यसप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात् ॥ स्तनेनैकेन पञ्चात्रं त्रिरात्रं वायुभुग्भवेत् ।  
पृतसोमायनं नाम प्रतं कक्षमथनाशवम् ॥' इति । स्मृत्यन्तरे 'सप्ताहं चेयेत-  
द्गोस्तनमखिलमथ त्रींस्तनान्द्वौ तथैकं कुर्यात्त्रींश्चोपवासान्यदि भवति सदा  
मासि सोमायनं तत्' इति,—तदपि चान्द्रायणकर्मकमेव । हारीतेनापि 'अथात्-  
श्चान्द्रायणमनुक्रमिष्ये' इत्यादिना सेतिकर्तव्यताकं चान्द्रायणमभिधापैवमेव  
सोमायनमित्यतिदेशाभिधानात् । यत्पुनस्तेन कृष्णचतुर्थीमारभ्य शुक्लद्वादशी-  
पर्यन्तं सोमायनमुक्तम् । चतुर्थीप्रभृतिचतुःस्तनेन त्रिरात्रं त्रिस्तनेन त्रिरात्रं  
द्विस्तनेन त्रिरात्रं एकस्तनेन त्रिरात्रमेवमेकस्तनप्रभृति पुनश्चतुःस्तनान्तं  
'या ते सोम चतुर्धा तनूस्तया नः पाहि तस्यै नमः स्वाहा, या ते सोम पञ्चमी  
पष्टीष्येवं याग,र्थास्तिधिहोमा एयं स्तुत्वा एनोभ्यः पूतश्चन्द्रमसः समानतां  
मायुउयं च गच्छति' इति चतुर्विंशतिदिनात्मकं सोमायनमुक्तं,—तदक्षकविप-  
यम् ॥ ३२४ ॥

भाषा—अथवा जिस किसी प्रकार एक मास में दो सौ चालीस ब्राह्म  
भोजन करे तो चान्द्रायण ब्रत होता है ॥ ३२४ ॥

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह—

कुर्यात्त्रिपवणस्नायी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ।

पवित्राणि जपेरिपण्डाभ्यायत्रया चाभिमन्त्रयेत् ॥ ३२५ ॥

कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणं वा त्रिपवणस्नानमुक्ताः कुर्यात् १—  
पृतस्य तत्कृच्छ्रस्यतिरेकेण । तत्र 'सकृत्स्नायी समाहितः' इति मनुना विशेषाभि-  
धानात् ॥ यत्पुनः शङ्खेन कृच्छ्रेषु त्रिपवणस्नानमभिहितम्—'श्रिद्धिं त्रिर्नि-  
शायां तु सवासा जलमाविशेत्' इति,—तदक्षकविषयम् । यत्पुनर्वैशम्पायनेन द्वैका-  
लिकं स्नानमुक्तम्—'स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मनः' इति,—तत्रिपव-  
णस्नानाशक्तस्य वेदितव्यम् ॥ यत्पुनर्गार्गीयोक्तम्—'एकवासाश्वरेक्षेचं स्नात्वा  
वासो न पीडयेत्' इति,—तदपि शक्तस्यैव, 'एकवासा आर्द्रवासा वा लम्बाशी स्थ-  
ण्डिलेशयः' इत्येकवसताया अपि शङ्खेन पांचिकस्येनाभिधानात् । स्नाने च हारी-  
तेन विशेष उक्त—'श्ववरं शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणमन्तर्जले जपित्वा धौत-  
महत्तं वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत्' इति । स्नानानन्तरं च

मन सत्तापन तीप्रमुद्गद्वेषोक्तमस्ततः ॥' इति । पहिरिति धामाद्दहिर्निष्कस्य । द्विषाद्येवमेव मतपरिमहः कार्यः । देहरमधुलोमनस्यवपनं तु नास्ति, 'चान्द्रा-  
वणादिव्येतदेव द्विषा देहावपनवर्षम्' इति शीघ्रायनरमरणात् ॥

वपनानिष्कस्यु हारीतेन वितेष उच्य—'राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा  
बहुश्रुतः । वेदानां ध्वनं कृत्वा प्रायश्चित्त समाचरेत् ॥ देवानां रक्षणार्थं तु  
द्विगुण मनमाचरेत् । त्रिगुणे तु यो चीर्णे दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥' इति । एतच्च  
महापातकादिशेषविशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्—'विद्वद्विप्रनृपयूतीनां नैष्यते देहा-  
वापनम् । मते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णनाः ॥' इति अनुस्मरणात् ।  
ज्जाहालेनाप्यत्र विशेष उच्य—'भारभ्ये सर्वकृद्गणां समाप्ती च वितेषनः ।  
अंधेनैव च साहासौ जुहुयाद् स्वाहृतीः पूषक् ॥ धातु कृपात् प्रतान्ते तु गोहिरण्यदि  
दक्षिणा' इति । यमेनाप्यत्र विशेषाभिहितः—'पश्चात्तापो निवृत्तिश्च स्नान  
चाङ्गतयोदितम् । नैमित्तिकानां सर्वेषां तथा पैवानुकीर्तनम् ॥' तथा—'गात्रा-  
भ्यङ्गशिरोभ्यङ्गौ तागूकमनुष्ठेपनम् । मतरयो वर्जयेत्सर्वं यद्यान्वद्वकरागकृत् ॥'  
इति । एवमादिकर्तव्यतायात् स्मृत्यन्तराद्-पेष्टव्यम् । एवमनेन पिपिना मत  
गृहीत्वाऽऽरय परिसनापनीयम् , अथवा तु प्रायवाया, 'पूर्वं मत गृहीत्वा तु  
नाचरेत्कामनोहितः । जीवन्भवति चाण्डालो मृतः वा चैव आपते ॥' इति  
दागलेयस्मरणात् । इत्येष्ट प्रपञ्चेन ॥ ३२५ ॥

भाषा—प्राजापत्य भादि कृत्स्नं मत और चा-द्रायण मत तीनों सवन  
में ( प्रातः, मध्याह्न, एवं साय ) स्नान करते हुए करे । पवित्र मंत्रों का जप  
करे और भोजन के प्रायेक प्रास को गायत्री मंत्र से अभिमन्त्रित करे ॥३२५॥

इत्यमुक्तविनियोगस्य चा-द्रायणारेः स्वरूपमभिधाय एवमसङ्गकापान्ति  
रेऽपि विनियोगमाह—

अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चाभ्यायणेन च ।  
धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ ३२६ ॥

आशिरयत इत्यादिष्ट प्रायश्चित्त न विद्यते आदिष्ट वेपु पापेषु तेषु चान्द्रा-  
यणेन शुद्धिः । 'च'शब्दात्प्राजापत्यादिभिः कृत्स्नैरेन्दुवसहितैस्तद्विषयेषु च शुद्धिः ।  
तथा च परब्रह्मन्मतेऽभिहितम्—'यानि कानि च पापानि गुरोर्गुहतराणि च ।  
कृच्छ्रातिकृच्छ्रैश्चान्द्रैः शोष्यन्ते मनुरप्रवीत् ॥' इति श्रयाणां समुच्चयः प्रति-  
पादित । उदानसा तु द्वयो समुच्चय उक्त—'दुरितानां दुरिष्टानां पापानां  
महतामपि । कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । दुरितमुप-

१ द्विगुणे मत आचर्णे । २ दोषभ्यतिरेकेण । ३ भाष्येनैवेति ।  
४ तु । ५. चाञ्चैस्त्विति ।

पातकम् , दुरिष्ट पातकम् । गौतमेन तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चा-द्रायणमिति सर्वप्रा-  
यश्चित्तमिति विसमासकरणेनैन्दवनिरपेक्षता कृच्छ्रातिकृच्छ्रयो स्थिता । चा-द्रा-  
यणस्य निरपेक्षता 'इति'शब्देन च त्रयाणां समुच्चयः । केवलप्राजापत्यस्य तु  
निरपेक्ष चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'उद्युद्धोपे स्वनादिष्टे प्राजापत्य समाचरेत्'  
इति । गौतमेनापि प्राजापत्यादेर्निरपेक्षत्वमुक्तम्—'प्रथमं चरित्वा द्विचिं पृन  
कर्मण्यो भवति, द्वितीयं चरित्वा यद्-य-महापातकेभ्य पापं कुर्वते तस्मात्प्र-  
मुच्यते, तृतीयं चरित्वा सर्वैरमादेनसो मुच्यते' इति महापातकादपीर्यभिप्रेतम् ।  
मनुनाप्युक्तम् ( ११।२।१ )—'पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापानोदन'  
इति । हारीतेनाप्युक्तम्—'चा-द्रायणं यावत्कञ्च तुलापुरुष एव च । यदा चैवा  
नुपमन सर्वपापप्रणाशनम् ॥' तथा—'भोमूय गोमयं चौर इधि सर्पिं कुशोद्-  
कम् । पुररात्रोपवासञ्च श्वाङ्गमपि शोधयेत् ॥' तथा तप्तकृच्छ्रमधिष्ठायापि  
तेनैवोक्तम्—'एवं कृच्छ्रो द्विरभ्यस्त पातकेभ्य प्रमोचयत् । त्रिरभ्यस्तो यथा-  
-पापं रूद्रहत्यां व्यपोहति ॥' इति । उक्तमसौ चोक्तम्—'यत्रोक्तं यत्र वा  
नोक्तं महार्पातकनाशनम् । प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शोधयञ्चान्न सक्षय ॥' इति ।  
एतानि प्राजापत्यादी-यनादिष्टेषु महापातकादिषु सकृद्भ्यासावेक्षया भ्यस्तानि वा  
योजनीयानि । तथा आदिष्टमतेऽपि महापातकादिषु अर्थासावेक्षया योजनी-  
यानि । अत एव यमेनोक्तम्—'यत्रोक्तं मिरयादिः । गौतमेनाप्युक्तनिष्कृतीनां  
सप्रहार्पं सर्वप्रायश्चित्तग्रहणं कृतम् । तथा यद्यपि तेनैवोक्तम्—'द्वितीयं चरित्वा  
यद्-य-महापातकेभ्य पापं कुर्वते तस्मात्प्रमुच्यते' इत्युक्त्वा 'तृतीयं चरित्वा  
सर्वैरमादेनसो मुच्यते' इति,—तदपि महापातकाभिप्रायं नतु सुद्रपातकाभि-  
प्रायम् । नच महापातकमनुक्तनिष्कृतिकं सम्भवति, तस्मादनुक्तनिष्कृतिङ्ख्वरि  
प्राजापत्यादयो योजनीयः । तत्र द्वादशवार्षिकमते द्वादशवार्षिकविना-वेकैक  
प्राजापत्यं परिकल्प्य गण्यमाने प्राजापत्यानां पष्टपधिकसनत्रयं द्वादशवार्षिकं  
वैकल्पिकमनुष्ठेयं भवति । तदशक्तौ तावतो वा धेनवो दातव्याः । तद्वसभवे  
निष्काणां पष्टपधिकसनत्रयं दातव्यम् । तथा स्मृत्य-तरम्—'प्राजापत्यं क्रिदाऽ  
शक्तो धेनुं दद्याद्विष्वज्ज । धेनोरभावे दातव्यं मूष्यं तुष्यमसक्षयम् ॥ मूष्या  
र्धमपि निष्कं वा तदर्थं शक्यपेक्षया । यत्नामभावे निष्कः स्यात्तदर्थं वाद्  
एव वा' इति स्मरणात् । मूष्यदानस्याप्यशक्तौ ताव-तो चोदगासाः कार्याः ।  
तत्राप्यशक्तौ गायत्राञ्जप पञ्चिंशत्सप्तशत्याकं कार्यं, कृच्छ्रोऽप्युत ॥ गाय-  
त्या उद्वासास्तथैव च । धेनुपदानं विषयं सममेतच्चतुष्टयम् ॥' इति परा-  
शरस्मरणात् । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'गायत्र्यास्तु उप-क्रोष्टिं मद्य

१ सर्वपातकनाशनम् । २ त-मूष्यं वा न सक्षयम् ।



इत्या इत्येवमिति । लघुश्रीति जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमह  
 तारि गात्राया लघुमसति । मायया पष्टिभिर्लघुर्मुच्यते गुरुतत्पग ॥  
 इति,—तद्य द्वादशवार्षिकस्तुल्यविधानतयोक्तः न पुनरक्षविषयमिति न  
 विराध, । एवम-वद्वि—'कृ-कृ' इत्युक्त चैव प्राजायामसतद्वयम् । तिष्ठ-  
 होमसदस्र तु वदपारायण तथा ॥' इत्यादय प्रयाग्नायाश्चतुर्विंशतिमतादि  
 शास्त्राभिहित्वा पष्ट्यधिकत्रिंशत्तमुणिता महापातकपु योद्धव्या । नति-  
 पातकपु सप्तपष्टिंशत्तद्वयं प्राजापत्याना कर्तव्यम् । ताव-ता न  
 य वाद्य प्रयाग्नाया । पातकपु साश्रितित्तत प्राजापत्या प्रयाग्नाया  
 धे-वादपस्ताव-त एव वा । यथा चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—ज-मप्रभृति  
 पापानि बहूनि विविधानि च । कृत्वाऽर्वांग मल्लहस्यायाः पद-द प्रतमाचरेत् ॥  
 प्रयाग्नाय गवां देय साश्रिति धनिना शतम् । तथाऽष्टादशलक्षानि गावसा  
 वा जपद् बुध ॥' इति । इदमव द्वादशवार्षिकं प्रते द्वादशद्वादशदिनेरैकैकप्राजा-  
 पत्यकल्पनाया क्रियम् । एवमुपपातकपु त्रैवार्षिकप्रापक्षिष्यविषयभूतेषु त्वति  
 प्राजापत्यास्ताव-त प्रयाग्नाया । त्रैवार्षिकविषयेषु पुन सार्धमस्रप्राजापत्या  
 प्रयाग्नायाश्च धनुर्दशात्तादयस्तावन्त एव । मासिकमत्तविषयेषु तु सार्धं प्राजा  
 पत्यद्वयं तावानेव वा प्रयाग्नाया । आ द्वादशविषयभूतेषु पुनरुपपातकपु  
 प्राजापत्यप्रयम् । तदक्षकस्य प्रयाग्नापस्तावनेव । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतेऽ  
 मिहितम्—'नष्टौ चा द्वावने देया प्रयाग्नायविधौ सदा' इति,—तद्वि  
 धनिः पिपीलिकामध्यादिषान्त्रावणप्रयाग्नायविषयम् । मासातिकृच्छ्रविषय  
 भूतेषु पुनरुपपातकपु साधसप्तप्राजापत्या प्रयाग्नायाश्च धे-वादपस्ताव-त  
 एव । प्राजापत्ये ॥ गामेका दद्यात्सा तपने द्वयम् ; पराकतसातिकृच्छ्रे तिस्र  
 स्तिस्रस्तु गास्तथा ॥' इति चतुर्विंशतिमतेऽभिधानात् । एतच्च 'एकैकं प्रास  
 मरनीयादिः पामलकपरिमितैकैकप्रापपद्ये वेदितव्यम् । पाणिपूरा-नभोजनपद्ये  
 पुनर्धेनुद्वयमेव । प्राजापत्यास्य पशुपत्रासतुव्य-र्वात् तद्विगुणत्वा-च्चातिकृच्छ्रस्य ।  
 अद्यपि नक्तु दिनेषु पाणिपूरा-नहन भोजन, तथापि नैर-तर्षेण द्वादशदिव  
 सानुष्ठाने श्लेशातिशयात्पट्टोपवाससमानप्राजापत्याद्वयतु-व्यवमेव । प्राजाप  
 त्यास्य च पशुपवामतु-व्यस्य युक्तमेव । तथा हि प्रथमे -पद्ये सायत्नभोजनत्रय  
 निवृत्तावेकोपवामसपत्तिः । द्वितीये इयह प्रातःकालभोजनत्रयनिवृत्तिपरस्य ।  
 तथा च भयापित-यहेऽपि सायत्नभोजनत्रयवजनेऽपरस्येत्येव नवभिदिनेरुप

१ प्राजापत्यानां प्रयाग्नायधे वाद्य । २ तद्विधनिन । ३ पराक  
 तसातिकृच्छ्रे तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा । ४ तुव्यत्वाद् द्विगुणत्वा-च । ५ त्रय  
 वर्जनपरस्य । ६ भोजनवर्जनेऽन्यस्यति ।

न्द्रायणस्यापि तत्रैव प्रस्थाभ्यायापुक्तम्—'चान्द्रायण मृगारेष्टि पवित्रेष्टिस्तथैव च । मित्रत्रिन्दापशुधैव कृच्छ्र मासत्रय तथा ॥ नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम् । इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरव स्मृता ॥' इति,—तदपि चान्द्रायणाशकस्य । यत्तु 'कृच्छ्र' मासत्रय तथा' इति कृच्छ्राष्टकं प्रस्थाभ्यातं,— तदपि जरठमूर्खविषयम् । चान्द्रायण त्रिभिः कृच्छ्रैरिति दर्शितत्वादिशक्यं प्रपञ्चेन । प्रकृतमनुसराम—यस्त्वभ्युदयकामो धर्मार्थकाम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थ-नेतृश्चाग्नापणमनुतिष्ठति न पुनः प्रायश्चित्तार्थमसौ चन्द्रसाधोक्त्य स्वर्गविशेषं प्राप्नोति । एतच्च सवत्सराष्ट्रायभिप्रायेण । 'एकमापत्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति, द्वितीयमापत्वा दशपूर्वांश्चापराणामानां शैकविंश पङ्क्तिं च पुनाति, सवत्सरे चापत्वा चाग्नेमसः सलोकतामाप्नोती'ति गौतमस्मरणात् ॥ ३२६ ॥

भाषा—जिन पापों के प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है उनकी शुद्धि चान्द्रायणव्रत से होती है । जो धर्म के लिये यह व्रत करता है वह चन्द्रलोक को जाता है ॥ ३२६ ॥

कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ।

यथा गुरुकृतफलं प्राप्नोति सुसमाहितः ॥ ३२७ ॥

किंच, यस्त्वभ्युदयकाम प्राजापत्यादिकृष्णाननुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणां श्रियं त्रिभूतिमनुभवति । यथा गुरुकृतं राजसूयादीनां कर्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते, तथायमपि सुसमाहितः सकलाङ्गकलाप-मविकलमनुतिष्ठन्निति फलमहिमप्रकाशनार्थं अनुष्ठान्तकर्तव्यम् । 'सुसमाहित' इत्यनेनाधिककलापानुष्ठानं चन्द्रकाम्यकर्मतयाद्भवेत्कस्ये फलासिद्धिं द्योतयति । भते नात्र प्रायश्चित्तेष्वेव यावत्सभवाङ्गानुष्ठानमङ्गीकरणीयमिति दूरो-त्सारितं प्रस्थाभ्यायोपादानम् । कृच्छ्राद्यनुष्ठानावृत्तौ तु 'अधिकारिण फलावृत्ति-कर्मव्यारम्भभा-वत्वाद्'िति न्यायकर्मणा स्थितेवेति नेदमविवक्षितम् ॥ ३२७ ॥

भाषा—जो धर्म (अभ्युदय) की इच्छा से कृच्छ्र व्रत करता है वह उसी प्रकार अत्यन्त प्रचुर (राज्य आदि) विभूति प्राप्त करता है जिस प्रकार पढ़े पढ़ों (राजसूय आदि) का कर्ता उत्कृष्ट फल प्राप्त है ॥ ३२७ ॥

प्रागुदितास्त्रिंशद्विंशत्यारभ्यात्रेण धर्मज्ञानाद्यारणाद्विधोन् सार्थवादान् प्राधनावरदानरूपेण प्रतिपादयितुमाह—

श्रुत्वैतानृपयो धर्मान्याश्रवण्येन भाषितान् ।

इदमूर्चमह्मात्मानं योगीन्द्रममितौजसम् ॥ ३२८ ॥

अथ हि वर्णाश्रमादि-यानुत्ता धर्मा षट्प्रकारा प्रतिपादिता तानखिलान् योगीश्वरभाषितान् श्रुत्वा प्रहर्षो फुल्ललोचनास्त महिमगुणशालिनमचिन्तनीयशक्तिविभवमिदमभिधास्यमानमूचिवाच ॥ ३२८ ॥

भाषा—श्रुतियों ने याज्ञवल्क्य द्वारा बताये गये इन धर्मों को सुनकर महारामा, योगिराज और अत्यन्त तजस्वी ( याज्ञवल्क्य ) से कहा ॥ ३२८ ॥

य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिता ।

इह लोके यश्च प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥३२९॥

यिद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्या धनकामो धनं तथा ।

आयुष्कामस्तथैवायु धीकामो महतीं धियम् ॥ ३३० ॥

इलोकधयमपि ह्यस्माद्य श्राद्धे श्रावयिष्यति ।

पितृणा तस्य वृत्ति स्यावक्षय्या नात्र सशय ॥३३१॥

ब्राह्मण पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।

वैश्यश्च धान्यधनधानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३३२ ॥

इत्यमृतवर्षे श्लोकै सामश्रव प्रभृतयोऽमेकधा प्रार्थयन्ते स्म ॥३२९-३३२॥

भाषा—जो आलस्य का त्याग करके इस धर्मशास्त्र को धारण करते हैं वे इस ससार में यश प्राप्त करके मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग पाते हैं । विद्यार्थी हो तो उसे विद्या मिले धन की इच्छा रखने वाले को धन मिले, आयु ( दीर्घजीवन ) की इच्छा वाला दीर्घजीवन और शोभा या सम्पत्ति की इच्छा वाला समृद्धि प्राप्त करे ॥ ३२९-३३० ॥

भाषा—जो श्राद्ध के समय इसके तीन श्लोकों को ही सुनावेगा उसके पितरों को अचय वृत्ति प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं ॥ ३३१ ॥

भाषा—इस शास्त्र के अध्ययन से ब्राह्मण योग्य होता है, क्षत्रिय विजयी होवे, वैश्य धन धान्य से समृद्ध होवे ॥ ३३२ ॥

अपरामपि प्रार्थनामाह—

य इदं ध्रावयेद्विद्वान्-द्विजा-पर्वसु पर्वसु ।

अश्रमेधफलं तस्य उद्भयाननुम-यताम् ॥ ३३३ ॥

यश्चिद्वद धर्मज्ञास्य प्रतिपदे द्विजान् श्रावयेत् तस्याश्रमेधफल भवेदिति श्रवणविश्ववर्षवाद । तदेतदरममार्थितमर्थ सर्वत्र भवाननुम-यताम् ॥ ३३३ ॥

भाषा—जो विद्वान् प्रायेक पर्व में हमे द्विजो को मुनावे वह अवरप ही अवरनेध पच का पञ्च पावे ऐसी अनुनति भी भाष दें ॥ ३३३ ॥

वरदानमाह—

धृत्येनद्याज्ञवल्क्योऽपि प्रीतारमा मुनिभाषितम् ।

एषमस्त्विति द्वायाच नमस्कृत्य स्वयंभुवे ॥ ३३४ ॥

एतदपिभिर्भाषितं श्रुत्वा योगेन्द्रोऽपि स्वनिमित्तधर्मशास्त्रधारणादिषु उपार्थ-  
नीम्नीहितमुत्तरद्वयः स्वयंभुवे मङ्गले नमस्कृत्य प्रणम्य 'भवाप्रार्थितं सकलमित्यं  
भवतु' इत्येषं किल भगवाण्ब्रुवावे ॥ ३३४ ॥

भाषा—मुनिषों के इन वचनों को सुनकर प्रसन्नचित्त योगिराज याज्ञ-  
वल्क्य ने स्वयंभू मङ्गल को नमस्कार करके कदा 'भवमस्तु' ( देना ही ही ) ॥

इति धीनारदाज्ञानानमदाशास्त्राचार्यस्य धीमत्परमहंसपरिमात्रक-

विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृती ऋतुमिताचरार्था याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्र-

त्रिवृती प्रायश्चित्ताध्यायवृत्तीया समाप्ता ॥

## टिप्पणी (नोट्स)

### आचाराध्यायः

वन्दे निर्द्वन्द्वमानन्दममन्दानन्द-मन्दिरम् ।  
 वन्दारु-वृन्दार-वृन्द-वन्दितं नन्द-नन्दनम् ॥ १ ॥  
 नमामि-विधिवल्लक्ष्मीनाथ धीर महागुरुम् ।  
 याज्ञवल्क्यं महपि च सज्जानोद्धृत-कल्मषम् ॥ २ ॥  
 यद्यप्युच्छिष्टमाचार्यैः न विशिष्टमिदम्भवेत् ।  
 तथाऽपि शिष्टोपदिष्ट परिशिष्ट प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

श्लो० १—योगीश्वरम्—अत्र कर्मचारयः, पङ्गी-तत्पुरुषे पद्यवर्धं कृष्णा-  
 प्रसङ्गात्—अपराकं ।

वर्णाश्रमेतराणाम्—यह तो स्मृति का विषय बतलाया गया है ।  
 धर्मान्—यहाँ बहुवचन से निष्प, मैमितिक तथा काश्य का परिग्रह  
 हुआ है ।

श्लो० २—मृग. कृष्ण.—कृष्णशब्दो हरिण-वचन, मृगपदं च तारपर्य-  
 ग्राहकम्—अपराकं । कृष्ण-मृग-युक्त देश के विषय में मनु का वचन है—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

स जेषो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥

श्लो० ४—५—इनके विषय में प्रस्तावना दृश्य है ।

श्लो० ७—श्रुति तथा स्मृति में परस्पर विरोध होने पर श्रुति प्रबल  
 होती है—

श्रुति-स्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । ( जायाल-स्मृति )

जैमिनि का भी यही मत है—

विरोधे त्वनपेक्ष स्यात् असति ह्यनुमानम् ।

सदाचार.—सदाचार की परिभाषा मनु ने की है—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यकमागतः ।

वर्णानां सान्तराङ्गानां स सदाचार उच्यते ॥

विष्णु पुराण में सदाचार शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप में की गई है —

साधन चीजकोया स्यु सख्दु-द साधुवाचक ।  
तेषामाचरण यस्यात् सदाचार स उच्यते ॥

श्री शूद्र भादि क वदाऽविरुद्ध आचार भी सदाचार हैं । अत एव क्षापस्तम्भ का कथन है —

श्रीभ्यश्चापरवर्णभ्यो धर्मशेषाम् प्रतीयात् इत्यक इत्येके ॥

दियमात्मन — यदि श्रुतिद्वैष हो । अत एव मनु का कथन है —

श्रुतिद्वैष तु पत्र स्यात् तत्र धर्मायुभौ स्मृतौ ।  
उभाच्चपि हि तौ धर्मो सम्यगुक्ती मनीषिभि ॥

गीतम का भी बचन है:—

तुषयथल विरोधे विकल्प ॥

विकल्प होने पर आत्म-तुष्टि प्रमाण है । यही बात गर्ग के द्वारा भी बतलाई गई है:—

विकल्पे त्वात्म-तुष्टि प्रमाणम् ॥

श्लो० ८—आत्मवर्तनम्—इस प्रसङ्ग में स्मृति-मुष्कःफलोक्त बृहस्पति-वचन भी ब्रह्म्य है —

भोगेष्वसक्ति सतत तथैवात्मावलोकयम् ।  
श्रेय पर मनुष्याणाम् प्राह पद्मसिन्धो मुनि ॥

श्लो० ९—वीरमिन्द्रोदय में यम का भी कथन है —

एको द्वी वा त्रयो चापि यद् व्युर्धर्मपाठका ।  
स धर्म इति विश्लेषो नेतरेषा सहस्रशः ॥

वहीं धर्म पाठक का लक्षण भी दिया गया है —

वेदविद्यामृतस्नात सत्यसन्धो जितेन्द्रिय ।  
धनेकधर्म-शास्त्रज्ञ प्रोच्यते धर्मपाठक ॥

अध्यात्मवित्तम = कृतात्मसाधारकार —ऐसी व्याख्या शूलपाणि ने की है ।

श्लो० ११—ऋतुकाल क विषय में बृहस्पति का बचन प्रयोगपारिजात में लिखित है —

निदाणोदशक नारी सञ्चितर्तुमती तु सा ।  
तावद्योग्या प्रजास्थाने विनाऽऽद्याहब्रतुष्टयम् ॥

इसमें भी कुछ विशेषता भाचारादर्श में बनलाई गई है —

श्रुतकालाभिगमनं पुसा कार्यं विशेषतः ।  
सदैव पर्यवर्जं तु खीणामभिमतं हि तत् ॥

सीमन्त-काल के विषय में वीरमिश्रोदय में बृहस्पति का वचन इस प्रकार है—

रोहिण्यैन्दवमादित्यपुष्यहस्तोचराश्रवम् ।  
पौष्ण वैष्णवभ वैव सोमन्ते दश सस्मृता ॥

जातकर्म—समय का निर्देश मनुस्मृति में इस तरह है —

प्राङ्नामिवर्धनापुसो जातकर्म विधीयते ।  
मन्त्रवत्प्राधान्यं च हिरेण्यमनुसर्षिवाम् ॥

नामिवर्धन का अर्थ है नाभिच्छेदन ।

श्लो० १२—नामकरण के विषय में मनु का कथन है —

नामधेय दशम्यान्तु द्वादश्यां चाऽस्य कारयेत् ।  
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणाम्बिते ॥

इस प्रसङ्ग में विशेष बात वीरमिश्रोदय में उद्धृत बृहस्पति के वचन में मिलती है :—

दशाहे द्वादशाहे वा जन्मतोऽपि प्रयोदसे ।  
षोडशीकोनविते वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात् ॥

गोभिल ने "जननाद्दशरात्रे श्युष्टे (= ध्यतीते) षत्तरात्रे सवासरे वा नाम-धेयकरणम्" ऐसा कहा है ।

नाम-करण स्वरूप के विषय में विष्णुपुराण में निम्नलिखित श्लोक हैं .—

दार्मिकद् द्वाष्टनस्थोक्तं धर्मति पञ्चसयुतम् ।  
गुप्तदासात्मकं नाम प्रसस्तं वैश्वशुद्धयोः ॥

रत्री के नाम क स्वरूप के विषय में विशेष बात मनुस्मृति में है .—

रत्रोणां सुभोद्यमश्रू विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।  
मङ्गल्यं वीर्यवर्णा-न्तमाद्यार्वाभिधानवत् ॥

चतुर्थे मासि निष्कम —"पुत्रपुत्र पुत्रदोग्धतिरिक्तपरम्" ऐसा श्लोकादि का मत है । मनु का विशेष मत इस प्रकार है :—

'यद्वेष्ट मङ्गलं शुभे ॥ इतीळिप् यम ने कहा है :—'ततस्त्वृतीये कर्त्तव्यं मानि सूर्यस्य दर्शनम् ॥' गोभिल ने तो और भी विशेष बतलाया है :—

‘जननात्तरतृतीयो ज्योत्सनः तस्य तृतीयायाम् ।’ इति ॥

बृहस्पति ने इस विषय में विशेष बात कही है :—

स्वस्तिवाच्य समाकृष्टवाहनं निर्ययेद् गृह्णात् ।

मातुलो वा वहेत्तत्र निर्वाहनशिशुं स्वयम् ।

शिशुना सह मित्राणि निर्ययुध्वा गृह्णात्स्वयम् ॥

इत्यादि ।

पष्ठेऽन्नप्राशनमिति—छीगादि का मत है :—

‘पष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् , जातेषु दन्तेषु वा ।’

जातेषु दन्तेषु के द्वारा अष्टम मास अभिप्रेत है, कारण अष्टम मास ही दन्तोत्पत्ति की उचित अन्तिम अवधि है। अत एव संस्कार-कौस्तुभ में बृहस्पति की स्मृति है :—

याजानामष्टमे मामि पष्ठे मासि सप्तः पुनः ।

दन्तः पश्य न जायन्ते माता वा स्त्रियते पिता ॥

शूद्रा कार्ष्णि—इस विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

शूद्राकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽन्दे तृतीये वा कर्णेषु भ्रुतिषोदनात् ॥

तत्र तृतीयाब्द एव भौतर्गिकरपूजाकरवकालः कुलाचारनिषमस्तु तस्या-  
पवादा” यह श्लोकानि का मत है। अत एव आर्यशास्त्र ने भी कहा है :—

‘तृतीये वर्षे शौर्ल, यथा कुलधर्म वा ।’ तृतीय वर्ष में भी छीगादि ने विशेष  
बतलाया है :—‘तृतीये भूयिष्ठे पते शूद्रा ।’ इति ।

यहाँ कर्णवेध भी प्रशस्त है। कर्णवेध का काल बृहस्पति ने बत-  
लाया है :—

कात्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽपि वा ।

कर्ण-वेधप्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥

द्वितीया दशमी पष्टौ सप्तमी च त्रयोदशी ।

द्वादशी षड्दमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ॥

सूची ( वेधनी ) के विषय में वीरमिश्रोदय में बृहस्पति का कथन  
उद्धृत है :—

सौवर्णा राजपुत्रस्य राज्ञी विप्रवैरयथोः ।

शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टाहुलाधिक्या ॥

आयसी—अर्थात् लोहे की बनी हुई ।



पूढाकरण में प्रतिबन्धक तत्र संस्कारमयूय में यथाया गया है :—

गर्भे मातुः कुमारस्य न कुर्वाच्यौलकर्म तु ।

पञ्चमासादधः कुर्यादित ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥

श्लो० १४—'उपनायनमित्यत्र ष्वन्तप्रयोगादुपनयनमन्यद्वारा भक्ति-  
कर्त्तव्यम्' यह शूलपाणि का मत है ।

गृहस्पति ने विशेषता बतलाई है :—

द्वितीयजन्मनः पूर्वमारभेतापरान् सुधीः ।

मौज्जीयम्भरतस्य पश्चाद्देदारम्भो विधीयते ॥

इस प्रसङ्ग में गौतम का मत मिश्रलिखित है :—

उपनयनं प्राङ्गणस्य भट्टमे नवमे पञ्चमे वा कारयेत् ।

राशाम्—राशन् वाक् च त्रिव्रजं जातिं का वाचक ई ।

श्लो० १५—महाभ्याहृतिं कं विषयं मनु का कथन है :—

भोष्टारपूर्विकास्तिस्रो महाभ्याहृतयोऽभ्ययाः ॥

त्रिपदा चैव सापित्रो विशेषं प्रक्षणो मुखम् ॥

गौतम तथा हरदत्त के अनुसार—मू, शुभ, स्व, पुदप तथा तस्यगु-  
ये पाँच महाभ्याहृतियाँ हैं । मूल में महाभ्याहृति-पद प्रणव का भी उल्लेख  
है । अत एव मनु का वचन है :—

प्रक्षणः प्रणवं कुर्यादादाग्नेते च सर्वदा ।

परस्वमोहृत सर्वं परस्ताच्च विधीयति ॥

श्लो० १६—कर्णस्थः = इच्छिण कर्णं पर स्थित । अत एव कहा गया  
है—पवित्रं इच्छिणे कर्णे कृत्वा विष्मूयमाचरेत् ॥ यह नियम भी एक-परप्र-  
युक्त होने पर पालनीय है । अभ्यया मिश्रलिखित वम-वचन के अनुसार  
कार्य करना चाहिये :—

कृत्वा यज्ञोपधीतन्तु वृद्धतः कण्ठमिधनम् ॥

मुद्र-नियम भी सम्भव होने पर अनुसरणीय है । अभ्यया मिश्र निर्दिष्ट  
वम-वचन का आश्रय करना चाहिये—

छायायाम्भकारे वा राश्रावहनि वा द्वित्रः ।

यथासुखमुद्रं कुर्यात् प्राण-वायु भगेषु च ॥

श्लो० १७—मूर्तिः—सव्या नियम मनुस्मृति में बतलाया गया है :—

पृका छिन्ने गुदे तिष्ठः तथैकत्र चरे वृत्त ।

उभयोः सप्त शतभ्या मूद्रः छरिन्मभीक्ष्णता ॥

एक्य करे = वाम कर में । किन्तु यदि उपर्युक्त सख्या से शुद्धि नहीं हो सके तो सख्याधिक्य का भी अवलम्बन करना ही चाहिए । यदि तु उक्त संख्या से भद्रप सख्या के द्वारा भी शुद्धि हो जाय तब भी उपर्युक्त सख्या-नियम को अदृष्टार्थ मानना चाहिए ।

शौच के विषय में आश्रम का नियम मनु ने बतलाया है :—

पतच्छुचि गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।

त्रिगुणं स्वाह्वनस्थानां यतीनान्तु चतुर्गुणम् ॥

यह नियम विवा-शौच-विषयक है । रात्रि शौच आदि के विषय में दश का कथन निम्नलिखित है .—

यज्जोदितं दिवाशौचमर्धं रात्रौ विधीयते ।

आतुरस्य तद्वर्धं स्यात् तद्वर्धन्तु पठि स्मृतम् ॥

आतुर पद आयातुर का अभिप्रायक है । अत एव आपस्तम्ब का भी कथन है.—

आप्तं कुर्वाद् यथावलम्बम् ॥

रात्री गृह आदि के शौच में सख्या नियम नहीं है । अत एव देवक का वचन है—

यापता मन्यते शुद्धिं शौचं कुर्वति तावता ।

प्रमाणं द्रष्टव्यं सख्या च न सिद्धैरुदिरवये ॥

श्लो० १८—अभ्यर्जानु—देवक का मत इस विषय में यह है.—“सिद्धा वक्ष्या वसिष्ठा” इति । प्राज्ञेण—यह प्रधान पक्ष है । मनु ने पश्चात्तर भी बतलाये हैं:—

प्राज्ञेण विप्रस्तीर्थेन निःश्व-कालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैक्षिकाभ्यां वा न विद्येण कदाचन ॥

त्रैक्षिक = दैव तीर्थ ।

श्लो० २०—दानि = शिर रिपत इन्द्रियों को । अत एव शौतम का वचन है—“दानि चोपस्पृशेत् शीर्षण्यानि ।” मनु ने कुछ विशेष बतलाया है :—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्वि प्रमृज्यात्ततो मुञ्चम् ।

आनि चैव स्पृशेदन्निरात्मानं शिर एव च ॥

आत्मानम् = हृदय को, क्योंकि श्रुति में हृदय को आत्मा का स्थान बतलाया गया है .—

“हृदयन्तर्गोति पुरुष ।”

श्लो० २५—सन्ध्यामिति—अविद्यमानार्थाधिकमात्तन्मण्डल स्पष्टलक्ष्य-  
ननुप्रगण कालविशेष सन्ध्या—चोरमित्रोदय । सन्ध्या का लक्षण योगि याज्ञ-  
वल्क्य ने बतलाया है —

प्रयाणा चैव देवानां ब्रह्मादीनां समागतम् ।  
सन्धिं सर्वसुरार्णां च सन्ध्या तेन प्रकीर्तितम् ॥

सन्ध्या फल का निर्देश मनु ने किया है —  
पूर्वा सन्ध्यां जपन्तिष्टे-नैशमेनो व्यजोदति ।  
परिचमान्तु समाप्तीनो मल इन्ति दिवाकृतम् ॥

यहा अनध्यापादिप्रतिबन्ध नहीं है । अत एव मनु का कथन है —  
वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैशके ।  
नानुरोधोऽस्वध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

अग्निकार्यम्—यह उपलक्षण है —  
अग्नी-धन भैरवधामघ इत्यो गुरोर्हितम् ।  
आसमावर्त्तनात् कुर्वात् कुतोपययनो द्विज ॥

अथ शय्याम् = अज्ञदूषाशयनम् , न तु स्वच्छिन्नज्ञाविश्वमेव—कुर्वन्क-  
मह ।

श्लो० २६—अभिवाद्येव इति । अभिवादन का प्रकार मनु ने  
बतलाया है —

ध्यायन्नतपाणिना कार्यमुपसमहण गुरो ।  
सन्धेन सद्य शपथ्यो दक्षिणेन च दक्षिण ॥

अभिवादन-वाक्य प्रयोग के विषय में मनु का कथन है —

अभिवादात्पर विप्रो ज्यार्वात्समभिवाद्यन् ।  
असौ नामाहमस्मीति स्व नाम परिकीर्त्तयेत् ॥  
नामधेयस्य य क चिदभिवाद न जानते ।  
ता-प्राशाऽहमिति प्रधात् मित्रयः सर्वास्तथैव च ॥  
भो शब्द कीर्त्तयेद्-ते स्वस्थ नाम्नोऽभिवादन ।

और प्रत्यभिवादन-प्रकार भी मनु ने ही बतलाया है —

आयुष्मान् भव सौम्येति वाक्यो विप्रोऽभिवाद्यने ।  
अकारध्यास्य नाम्नोऽन्ते वाक्य पूवापर प्तुना प्र

पहों अकार स्वरमात्र का उपलक्षण है, क्योंकि नाम में अकारान्तर  
का नियम नहीं है ।

‘गुदं चैवाप्युपासीत’ में उपासन का अर्थ प्रणाम से भतिरिक्त उपासना के लिए है, क्योंकि प्रणाम कृत् प्रणाम पूर्वक ही मनु के द्वारा बतलाया गया है :—

लौकिकं वैदिकं चाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा ।  
भादशोत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवाद्येत् ॥

श्लो० २९—दण्ड के विषय में मनु का वचन है :—

प्राज्ञो वैश्य पाशासी चत्रियो घाट—प्राज्ञी ।  
पैलधौद्रुम्भरी वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥

दण्ड का प्रमाण भी मनु ने ही बतलाया है :—

देशान्तिको प्राज्ञस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।  
ललाट-सन्निभो राज्ञः स्यात्तु नास्मान्तिको विना ॥

भजिन के विषय में बृहस्पति का वचन है :—

कृष्णाजिनमप्राज्ञस्य रीरवं चत्रियस्य तु ।  
परताजिनन्तु वैश्यस्य सर्वेषां वा महाजिनम् ॥

परताजिनम् = पामावर्तित । इस के अनुसार “सर्वेषां रौरवाजिनम्” का सिद्धान्त है । परन्तु दोनों ही मत उचित भजिन के अभाव में प्राज्ञ हैं ।

उपवीत के विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्वं तृतं त्रिवृत् ।  
षण्मूर्त्तमयं राज्ञो वैश्यस्यैवैकसूत्रम् ॥

त्रिवृत् = तीन गुण करके । ऊर्ध्ववृत्तम् = दक्षिणावर्तित । यहाँ धन्वोरा-परिशिष्ट में निम्नलिखित विशेष है :—

ऊर्ध्वन्तु त्रिवृत्तं कार्यं तन्तुप्रवमधोवृत्तम् ।  
त्रिवृत्तं षोडशीतं स्यात् तत्रैको मन्थिरिष्यते ॥

अधोवृत्तम् = वामावर्तित । पश्चात् तीन सूत्रों को वामावर्तित करने के पश्चात् पुनः तीन बार दक्षिणावर्तित करने पर सङ्कलन में नौ सूत्र हो जाते हैं । उसके प्रत्येक त्रिक में एक मन्थि होनी चाहिये ।

मेखलाम्—इस विषय में मनु का वचन निम्न-निर्दिष्ट है :—

मौक्षो त्रिवृत् समा रत्नवता कार्या विप्रस्य मेखला ।  
चत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य घण-तान्तयो ॥

मूर्वा = एक प्रकार की लता । ज्या-पद के निर्देश से चत्रिय की मेखला में त्रिवृत्त का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वैसा होने पर ज्यास्य का ही

अपहार हो जायगा—ऐसा मेघातिथि तथा गोवि-द्वाराज का मत है । अनुकषण का भी निर्देश मनु ने किया है —

सुखालाभे तु कर्त्तव्या बुधाऽश्रमन्तक-बन्धनैः ।

त्रिवृता मन्थिनैकन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥

अश्रमन्तक = कुल सदस्य गुणविशेष । बन्धन = 'सख्य' । मेखला आदि के नष्ट होने पर क्या करना चाहिये इसका नियम मनु ने ही बतलाया है ।—

मेखलामजिन वृण्णमुपवीत कमण्डलुम् ।

अपसु प्रारथ विनष्टानि गृह्णीताभ्यानि मन्त्रवत् ॥

माङ्गणेषु चरेद् भैक्षम्—यह मन्त्र का उपलक्षण है —

मातर वा स्वसार वा मातुर्वा भगिनीं निभाम् ।

भिषेत् भिक्षाम्प्रथम वा चैन नावमानयेत् ॥

एवं एवं के अभाव में उत्तरोत्तर पक्ष प्राण्य है ।

श्लो० ३१—

सःकृष्यान्नम्—अत एव आदिश्व पुराण में कहा गया है :—

अन्न इष्ट्वा प्रश्यादीं प्राञ्जलिं कथयेत्ततः ।

अरमाकं निर्यमस्वेतदिति भक्ष्या स्तुवन्ममेत् ॥

मनु ने भी कहा है —

पूजितं द्वाशनं निर्यं बलमूर्जं च वषट्कृति ।

अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेद्विद्वम् ॥

श्लो० ३२—मनु का मन कुछ भिन्न है —

पट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरीं त्रैवेदिकं मतम् ।

तदधर्मव्यवहिकं वाऽपि ग्रहणात्तदमेव वा ॥

प्रतिवेद चारह चारह वर्ष, अथवा छ छ वर्ष, अथवा, तीन तीन वर्ष किंवा अथपयन-समाप्ति पर्यन्त ॥

श्लो० ३३—केशान्तरचेव षोडशे—यहाँ वर्ष की गणना गर्भ वर्ष से ही करनी चाहिये ऐसा बौधायन ने कहा है —

“म गर्भपोडशे वर्षे कर्त्तव्यः स्यान्नकेन, गर्भादिः सख्या चर्षणाम्”

श्लो० ३४-३८—उपनयन की चरमावधि के विषय में मनु का भी यही मत है—

आषोदसाद् माङ्गणस्य सावित्रीं नातिवर्तते ।

आद्वाविंशत् च न बन्धोराचतुर्विंशतेर्विनः ॥

यद्यपि पैठीनसि का मत है—“द्वादश पोटश विंशतिश्चोपतीताः विद्द-  
काला भवन्ति” तथापि यह वचन इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि बार-  
हवें वर्ष के चोग जाने पर अनुपनीत ग्राहण, सोलहवें वर्ष के समाप्त हो जाने  
पर अनुपनीत पप्रिय तथा सोसवें वर्ष के अतिष्ठान्त हो जाने पर अनुपनीत  
पैरथ कुक्ष पाप का भागी हो जाता है—यह धीरमित्रोदयकार का मत है।  
याज्ञवल्क्य ने अन्तिम अवधि का निर्देश किया है, अतः उपर्युक्त पैठीनसि से  
कोई विरोध नहीं पकता है।

मातृवो की निम्न मनु के द्वारा निम्न-लिखित श्लोक में की गई है—

नैतैरपूतैर्पिधिषण्णपद्यपि हि कश्चिद् ।

माहान् धीर्नारथ सम्बन्धानाचरेद् ग्राहणः सह ॥

यहाँ ग्राहणपद द्विजातिमात्र का उपलक्ष्य है।

श्लो० ३९—मौञ्जी-वन्धन रूप द्वितीय जन्म के विषय में मनु का  
कथन है :—

तत्र यद्महाजन्मास्य मौञ्जी-वन्धवचिद्धितम् ।

तप्रास्य माता सावित्रा पिता स्वाचार्य उच्यते ॥

मनु ने द्वितीय जन्म के अतिरिक्ति तृतीय जन्म का भी निर्देश किया  
है—‘तृतीयं यज्ञ-दीषायाम्’। यहाँ यज्ञदीषा का अर्थ उद्योतिष्ठोमादि-यज्ञ-दीषा  
है। इस तृतीय जन्म के विषय में कुक्षरुमठ की व्याख्या है—प्रथम-  
द्वितीय-तृतीयजन्मकथनरूपेद् द्वितीयजन्म स्तुत्यर्थम्, द्विअस्यैव यज्ञ दीषाया-  
मधिकारात् ।

श्लो० ४४—अथर्वाङ्गिरसः—इसकी व्याख्या शूलपाणि ने निम्न-  
लिखित शब्दों में की है :—“अङ्गिरसा वृषवकृतं सामवेदैकदेशम् अभिचार-  
मधानकम्” ।

श्लो० ४५—नारायणी :—इसका अर्थ शूलपाणि ने “नारायणस्तुति-  
प्रकाशक ऋक्” किया है। “इदं जरा उपस्कृता” इत्यादि तीन ऋक् जो  
ऋग्वेद के त्रिंशत् भाग में निर्दिष्ट हैं, नारायणी कहलाये हैं—ऐसा धीर-  
मित्रोदय का मत है। विद्या शब्द का अर्थ शूलपाणि के अनुसार, उपनिषद् है।

श्लो० ४६—एनूयाम् का अर्थ सवर्ण वरणी है, ऐसा पूसपाणि तथा  
धीरमित्रोदय-कार का कथन है। चैरवानरेपि वा—अग्निशूभ्र्या का निरूपण  
यालम्भट्टी ने निम्नलिखित श्लोक, अथ लिखित तथा यम के वचन के  
अनुसार किया गया है :—

“यज्ञियाः समिध आहृत्य सम्मार्जनोपलेपनोद्धोघनसमूहनेग्धनपर्यगिन-  
करणपरिष्कमणोपस्थानहोमस्तोत्रनमस्कारादिभिरग्नि परिचरेन्नाग्निमधितिष्टेत्  
पद्भ्यां कर्पेन्न मुखेनोषधमेव नापद्य अग्निं च युगपत् धारयेत् नाजीर्णभुक्तो  
नोच्छिद्यो वा अभ्यादुष्याद्विविधैर्हविर्विशेषैर्यज्ञियैः अहरहरग्निमिन्धेदामग्न्य  
गच्छेत् आगत्य निषेदयेत् तन्मना शरीरोपरमान्ते प्रक्षणा सायुज्य गच्छति” ।

श्लो० ५०—इस कथन से यह सङ्केत किया जाता है कि चातुराध्वय  
का विधान नित्य नहीं है अपितु ऐच्छिक । तात्पर्य यह है कि चातुराध्वय में  
इतिक्रम की सम्भावना नहीं है अतिक्रम तो सर्वथा सम्भव है ।

श्लो० ५१—वर शब्द का अर्थ गुरु का अभिमत पदार्थ ही है । अतः  
एव मनु का भी कथन है :—

चेन्न हिरण्यं गामश्च क्षुप्रोपानहमासनम् ।

धाम्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥

यह उपलक्षण-मात्र है, क्यासम्भव अभ्यास्य पदार्थ का भी समर्पण  
करना चाहिए । वही बात लघुहारीय के वचन में भी कही गई है :—

एकमप्यथर वस्तु गुरुः क्षिप्ये निवेदयेत् ।

पृथिवी मासि तद्द्रव्यं यद्वा चानुषी भवेत् ॥

इससे स्पष्ट है कि केवल गुरु-प्रसन्नता ही गुरु-दक्षिणा है । यहाँ वेदा-  
ध्वयन का तात्पर्य अर्थज्ञान-पूर्वक वेदाध्ययन से है । अतएव पूर्व पुराण में  
कहा गया है :—

वेद वेदी तथा वेदान् वेदान् वा चतुरो द्विजः ।

अधीत्य चाधियमवार्थं ततः स्नावाद्यथाविधि ॥

अतएव प्रकृत याज्ञवल्क्य-श्लोक में ‘वेदम्’ इम एकवचन को भी जाति-  
विवक्षा से ही उपयुक्त मानना चाहिए ।

मतानि—इस प्रसङ्ग में बालःश्री का परिष्कार निम्नलिखित है :—

“प्रतपसेवि आरभ्यकमधीरथैव तत् ।

वेद मतानि वा पारं जीवत द्युभयमेव वा ।

प्रतपसेऽपि सन्धार्यमारभ्याप्यथने कृते ॥

इति कार्तिकोक्तेः । सन्धार्यमपरमहणार्थम् न त्वयंज्ञानाऽपेक्षाऽपि,  
अनुष्ठानानुपयोगात् । विरानुत्तरकालं साधनचतुष्टयसम्पन्नं प्रयुत्तरमीमांसा-  
प्रवृत्तेः । प्रागुक्तकौर्मन्नु कर्मकाण्डार्थज्ञानवामिति भावः ।”

श्लो० ५२—लघुण्याम्—बाह्य लघुण के विषय में मनु का कथन है :—

अथद्वाह्नीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।

तनुष्ठीमकेशदधानां सृष्टङ्गीमुदहेच्छियम् ॥

आम्यन्तर लघुणों का वर्णन आरुलक्षण ने इस प्रकार किया है :—

दुर्घिज्ञेयानि लघुणान्यथै पिण्डान् कृत्वा 'श्रुतमग्रे प्रथमं जज्ञे श्रुते सत्य-  
मतिष्ठितं यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत्सत्यं तद् दृश्यताम्'  
इति पिण्डानभिमतञ्च कुमारीं मूयादेवामेक गृह्णाणेति। ऐशाचेदुभयतः सस्याद्-  
शृङ्गीपात् अम्यन्तरस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्यात्, गण्डात् पशुमती,  
येदि-पुरीपात् प्रह्वार्घसिनी, भविदासिनो हृदात् सर्वसम्पन्ना, वैवनात्  
कितविनी, ईरिगादधम्वा, रमज्ञानात् पतिम्नो" ( भा० श्रु० सू० १।५।८-६ )

उभयतः सत्य ऐश भादि वाक्योक्त आठ स्थानों से मिट्टी लेकर आठ ही  
पिण्ड बनाना चाहिये। उन पिण्डों को 'श्रुतमग्रे प्रथमम्' भादि मन्त्र से  
अभिमन्त्रित कर कन्या को यथेष्ट किसी पिण्ड का स्पर्श करने के लिए  
कहना चाहिये। प्रत्येक पिण्ड के स्पर्श का फल उपर्युक्त समझना चाहिये।  
उभयतः सत्य ऐश का अर्थ है जित्त क्षेत्र में वर्ष में दो बार उपज होती है।  
येदिपुरीपम् = अपकर्म में बनाई हुई येदी। भविदासी हृद = मन्दा अलघुक्त  
हृद; वैवना = सुभा खेलने का स्थान; द्विप्रमाग्निना = अनेक पुरुष से सम्पर्क  
करने वाली; ईरिग = जहाँ शीघ्र में अक्षुर न होता हो वेतो नमकीन भूमि।

यह परीचा कुल-परीचा के बाद करनी चाहिये। कुल-परीचा के विषय में  
मनु का कथन है :—

महामपि समृद्धानि गोऽन्नाविधनधान्यतः ।

स्त्रीसम्बन्धे हरीतानि कुळानि परिवर्जयेत् ॥

हीनक्रियं निष्पुरुष निष्कन्दो रोमशाशंसम् ।

पुत्रामयाभ्यपरमारिभित्तुकुण्डिकुळानि च ॥

हीनक्रिय = जातकर्मादि संस्कारशून्य; निष्पुरुष = पुरुषहीन, स्त्रीमात्रा-  
वशेष; निष्कन्दः = वेदाध्ययनशून्य, रोमश = दीर्घरोम सम्पन्न; अशंस =  
'अशंस' रोगग्रस्त; पुत्र = राजपुत्रमात्र आमवादि = मन्दाग्निरोग; अपस्मार = रोग  
विशेष ( Epilepsy ); भित्त = रनेत-कुण्ड ।

स्वयं याज्ञवल्क्य भी इसका वर्णन आये—“स्त्रीतादृषि न सद्धारि-रोग-  
दोषसमन्वितात्” ( श्लो० ५४ ) में करेंगे।

श्लो० ५३—अरोमिणीम्—यह मनुक्त दोषों का उपलक्षण है। मनुस्मृति  
में निम्नलिखित प्रकार की कन्या स्थाज्य मानी गई है :—



नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाद्रीं न रोगिणीम् ।  
नालोमिका नातिलोमा न वाचालां न पङ्किलाम् ॥  
न संवृचनदीनाङ्गीं नान्यपर्वतनामिकाम् ।  
न पद्महृद्रेष्वनाङ्गीं न च भीषणनामिकाम् ॥

एष च प्रतिषेध न भार्यात्वाभावफलक किन्तु शास्त्रातिष्कमात्प्रापरिचर-  
मात्रम्—देवा कुल्लूक भद्र का मत है । आवृमतीम्—इसकी व्याख्या  
मनुस्मृति में ही मिलती है —

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।  
नोपपद्येत ताम्राज्ञ पुत्रिकाधर्मज्ञया ॥

यह कन्या जिसके भावी पुत्र को उस कन्या का पिता तत्र पुत्राभाव होने  
के कारण अपने श्राद्धाधिकारी के रूप में मनोर्भात कर लेता है—पुत्रिका  
कहलाती है —

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्यात् पुत्रिकाम् ।  
यदपरय भवेदस्यां तन्मम स्वास्वधाकरम् ॥

असमानार्पणोन्नयाम्—यहा कुछ विशेष विवरण शूलपाणि ने दिया है—  
पितृ पितृ स्वसु पुत्राः पितृमातृ स्वसु सुता ।  
पितृमातृलपुत्राश्च विज्ञेया पितृशान्धवाः ॥  
मातृ मातृ स्वसु पुत्रा मातृ मातृ स्वसु ( पितृस्वसु ) सुता ॥  
मातृमातृलपुत्राश्च विज्ञेया मातृ शान्धवाः ।

श्लो० ५५—परीक्षित पुस्तके—इस विषय में शूलपाणि ने देवल क दो  
वचन उद्धृत किए हैं :—

रेतोऽस्य प्लवते नाप्सु ह्लादि मूत्र च फेनिलम् ।  
पुमान् स्यादल्लघ्नैरेतैर्विपरीत नपुसकम् ॥  
न मूत्रं फेनिल यस्य विष्टा चाप्सु निमग्नाति ।  
मेदुक्षो-मादशुकाम्बां हीना बलीवः स उच्यते ॥

परन्तु प्रथम श्लोक के प्रथम पाद में जो वर्णन है वह निम्नलिखित भारद्-  
वचन से विपरीत है—

“यस्याप्सु प्लवते दीर्यं ह्लादि मूत्र च फेनिलम् ।  
पुमान् स्यादल्लघ्नैरेतैर्विपरीतस्तु पण्डकः ॥

श्लो० ५८—एकविंशतित्म—इस प्रसङ्ग में मनु का वचन यह है —  
दत्त पूर्वान्परान् वरयान्भारामान चैकविंशतित्म ॥

प्राज्ञविवाह का परिष्कृत लक्षण नीरमिन्द्रोव्य में इस प्रकार दिया गया है—  
 “निरुपाधिककन्यादानपूर्वकः सवर्णापरिणयो ब्राह्मो विवाहः । उपाधयश्च  
 ऋत्विक्वरवद्रथप्रहणसमयबन्धादयः” ।

श्लो० ५९—ऋत्विजे—दक्षिणासु दीयमानासु कन्यादानम्—ऐसा शूल-  
 पाणि का परिष्कार है । गोद्वयम्—यह उपलक्षण है । अत एव मनु ने  
 कहा है—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।

कन्याप्रदानं विधिवद्दार्पो धर्मः स उच्यते ॥

श्लो० ६०—धर्ममिति—अत्र धर्मशब्दः अर्थकामयोरप्युपलक्षणम् स्मृ-  
 त्पन्तरानुरोधत्—ग्रह बालभट्टीकार का मत है ।

श्लो० ६१—बुद्धहरणात्—अत एव मनु का कथन है—

हृषा क्षिप्वा च भिरजा च क्रोदान्ती रुदती शृहात् ।

प्रसह्य कन्याहरणं राष्ट्रसो विधिरुच्यते ॥

कन्यकाच्छ्रुत्वात्—इसका स्पष्टीकरण मनु में हुआ है—

सुप्तं मत्तं प्रमत्तं वा रहो यत्रोपगतवृत्ति ।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाच्यचाष्टमोऽधमः ॥

इन अष्टविध विवाहों के विषय में जात्यनुकूल व्यवस्था का निर्देश  
 मनु ने इस प्रकार किया है—

पदानुपूर्व्यां विप्रस्य चप्रस्य चतुरोऽवरान् ।

विद्वान्दूयोस्तु तानेव विद्याद्वर्मानराचसान् ॥

प्राज्ञण के लिए प्राज्ञ, वैश, भार्य, प्राजापत्य, भ्रातुर एवं गान्धर्व, चत्रिय के  
 लिए, भ्रातुर, गान्धर्व, राष्ट्रस तथा पैशाच; वैश्य एवं शूद्र के लिए भ्रातुर,  
 गान्धर्व और पैशाच विवाह धर्म्य हैं । विशेष विवरण के लिए निम्न-लिखित  
 मनु-वचन द्रष्टव्य है—

चतुरो प्राज्ञणस्थाधान् प्रशस्तान् कवचो विदुः ।

राष्ट्रसं चत्रियस्यैकभ्रातुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ इत्यादि ॥

श्लो० ६२—चत्रिया क्षरम् = प्राज्ञणवराहस्तपत क्षर । प्रतोद = वर-  
 हस्तस्थ यष्टि । शूद्रा के विषय में मनु का कथन है—

वसनस्य दशा प्राज्ञा शूद्रयोःकृष्ट-वेदने ॥

किन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य ने शूद्रा के विषय में कुछ नहीं कहा है, कारण  
 शूद्रा प्रहण प्राज्ञण के लिए याज्ञवल्क्य का कथनपि ममत्त नहीं है—

घटुच्यते द्विजादीनां शूद्राहारोपसमहः ।

नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रार्यं जायते स्वयम् ॥ या० स्मृ० १।५६॥

श्लो० ६४—कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्—यह अधिकार तीन शतुकाळ के अतिक्रमण के बाद ही होता, ऐसा विष्णु का कथन है—

शतुत्रयमतोरयैव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम् ।

शतुत्रये व्यतीते तु प्रभु कन्या स्वयंवरे ॥

परन्तु यदि पिता आदि के जीवित रहने पर भी कन्या का अभिभावक प्रमादादि के कारण उचित समय पर कन्यादान नहीं करे, वैसी स्थिति में बौधायन का सिद्धांत निम्न-लिखित है—

श्रीणि वर्षाण्यनुमती कारेत पितृजासनम् ।

ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सहस्र पतिम् ॥

अविद्यमाने सहस्रे गुणहीनमपि भवेत् ॥

इस प्रसङ्ग में नारद का निम्न निर्दिष्ट वचन भी ध्येय है—

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाश्रयेत् ।

अनुश्रवा वर सत्य परीक्ष्य वरयेत् स्वयम् ॥

श्लो० ६५—सहस्रदायते कन्या—यही मनु का भी मत है—

सहस्रदायो निवर्तति सहस्रकन्या प्रदीयते ।

सहस्राह ददानीति शोषयेतानि सतां सहस्र ॥

श्लो० ६६—यदि वर भी भवना शेष पहले स्पष्ट नहीं कर देता है तो उसे भी दण्ड मिलना चाहिए । वर दण्ड की व्यवस्था नारद के अनुसार निम्न-लिखित है—

गृहयित्वाऽऽश्रमो दोषान् विन्दन्स्वयमर्हति ।

वरस्य दत्त माश्रम भवेत् स्त्री च निवर्तते ॥

अस्य = दण्ड । कहीं-कहीं द्वितीय पाद में “विन्दते द्विगुणो दमः” पाठान्तर है ।

श्लो० ६८-६९—यहाँ मनुस्मृति में विधवा के लिए विशेष बातकाया गया है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताका वास्यतो निवि ।

एकमुखाद्वेष्टुं न द्वितीय कथञ्चन ॥

श्लो० ७०—याज्ञवल्क्य का यह कथन सर्वत्र स्वभित्तिरिणी के लिए है । हीनवर्ण-स्वभित्तिरिणी के लिए युद्धस्थिति ने निम्नलिखित व्यवस्था की है—

हीनवर्णोपभुक्ता या त्यागया वप्या च सा भवेत् ॥

श्लो० ७१—इस प्रसङ्ग में घृहरपति का वचन अवधेय है—

रोमोद्भवे सती शुद्धके गन्धर्वं कुचदर्शने ।

अनलस्तु रज्जोयोगे स्त्रियो शुद्धके तु ना-यथा ॥

श्लो० ७२—यहाँ द्वितीय विवाह की अवधि का निरूपण मनु ने इस प्रकार किया है—

बन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याच्छेदने तु मृत मजा ।

एकादशे स्त्रोऽगनी सद्यस्वमियवादिनी ॥

अमियवादिनी के साथ अपुत्रा का अध्याहार करना आवश्यक है ।

श्लो० ७३—युग्मासु सविशेष—युग्मरात्रिगमन से पुत्र होता है—ऐसा मनु का कथन है —

युग्मासु पुत्रा जायन्ते त्रिषोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थं सविशेषार्थे स्त्रियम् ॥

भाषाश्रतक्षरतु नर्जयत्—यद्यपि क्षर ने पति के छिपे चतुर्थ दिन में ही पत्नी की शुद्धि मानी है—

शुद्धा भर्तुद्यतुर्थऽद्वि अशुद्धा वैवर्षिययो ।

तथापि यह शुद्धि सेवा के छिपे न कि सम्भोग के छिपे भी । अतएव मनु का भी कथन है—

“तासामाचारषतक्षरतु निम्बिता ” ।

श्लो० ८९—यह नियम सवर्णा स्त्री के विषय में है । अत एव मनु का कथन है—

एव घृतां सवर्णा स्त्रीं द्विजाति पूर्वमारिणीम् ।

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ।

अत एव निम्नलिखित वचन को असवर्णा स्त्री के विषय में समझना चाहिए—

यो दहेदग्निहोत्रेण स्त्रेण भार्या कथञ्चन ।

स स्त्री सम्पद्यते तेन भार्या चास्य पुमान् भवेत् ॥

श्लो० ९१—पारशवोऽपि वा—पारशव की श्रुत्यपि मनु न निम्न निर्दिष्ट पद्य में को है—

य माह्वणस्तु दात्रार्या कामाहुत्पादयेत् सुतम् ।

स पारशव-नेव क्षव-नस्मात् पारशवा स्मृत ॥

पारमन् = जीवन् । यद्यप्यय विजुपकारार्थं ध्यादादि करोत्येव तथाप्य-  
सम्पूर्णोपकारकत्वात् 'ज्ञव' व्यपदेशः—कुण्डक भट्ट ।

इन सबों की जीविका का निर्देश मनु ने दशवें अध्याय में विशदरूप में  
किया है ।

श्लो० ९५—रथकारः प्रजायते—गौधायन क कथनानुसार वैश्य से शुद्रा  
में उत्पन्न सुत रथकार कहलाना है—“वैश्यान्तुद्रायां रथकारः” । अतः रथ-  
कार शब्द को अनेकार्थक मानना चाहिए—देसा शूद्रपाणि का मत है ।

श्लो० ९८—इस कार्य के समय के विषय में द्रुच का कथन है—  
उपः काले तु सम्प्राप्ते दौर्घं कृत्वा यथार्थवत्  
ततः रत्नान् प्रकुर्वीत द्रुतधावन-पूर्वकम् ।

श्लो० १०१—विद्या चाध्यात्मिकीम् = उपनिषदम् ।

श्लो० १०२—पञ्चमहायज्ञ के जलुधान का कल भी मनु ने बत-  
लाया है—

पञ्च सूना गृहस्थरथ सुवली पेपण्युपशकरः ।  
कण्ठनी खोदकुम्भश्च वष्यते यास्तु बाहयन् ॥  
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।  
पञ्च बलुता महापञ्चाः प्रत्यह गृहमेधिनाम् ॥

पहों कुण्डकभट्ट की टिप्पणी है—प्रत्यहमिष्यभिधानात् प्रतिदिनं तस्या-  
पचयस्यावेक्षितावात् सन्ध्यावन्दनादिविहितैर्यवमणि न विदुष्यते ।

पञ्च महापञ्चों के नामान्तर भी मनुस्मृति में दिये गये हैं—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।  
प्राक्ष्यं हुतं प्राक्षितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते ऽ  
अपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।  
प्राक्ष्यं हुतं द्विवाप्रवाचं प्राक्षितं पितृतर्पणम् ॥

श्लो० १०५—सम्भोजय—इससे याक भादि का भोजन अतिथि से पूर्व  
ही कराना चाहिए—देसा सिद्ध होता है । अत एव मनु ने कहा है :—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोमिणो गर्भिणीः क्षियः ।  
अतिथिम्योऽग्र एवैतान् भोजयेद्विचारयन् ऽ

श्लो० १०६—उपनिषत् = पूर्वम् , अधस्तात् = परत्वात् ।

श्लो० १०७—अतिथि की परिभाषा मनु ने की है—

एकरात्रं तु नियसन्नतिथिर्माहाणः स्मृतः ।

अनिश्चं हि स्थितो यस्मात्प्रमादतिथिरुच्यते ॥

सायमपि—अतिथि को सायंकाल में भोजन नहीं देने पर पाप का निदर्शन विष्णुपुराण में किया गया है—

दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यथातकं नृप ।

तदेवाष्ट-गुणं प्रोक्तं सूर्योऽदि विमुखे गते ॥

यदि प्राह्मण के गृह में चन्द्रिय आदि उपस्थित हों तो उनके विषय में मनु के निम्नलिखित वचन ध्येय हैं—

न प्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा वैज ज्ञातयो गुरुस्य च ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण चन्द्रियो गृहमावजेत् ।

भुक्तवासु च विभ्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्सौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणी ।

भोजयेत्सह भूयैस्तानानृत्संस्थं प्रयोजयन् ॥

इतरानपि सख्यादीन् समीच्या गृहमागतान् ।

मकूयान्नं यमादात्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥

श्लो० ११०—अर्थाः—अर्घ्यपद मनुष्य का उपलवक है। अत एव मनु का कथन है—

राजर्षिर्ह-स्नातक-गुरुन् त्रियरवशुमातुलान् ।

अर्घ्येऽमनुषकेण परिसम्भस्तरापुनः ॥

परिसम्भस्तरात् = सम्भस्तर बीतने के बाद। अर्थवचन—यह पद दूज्यमात्र का उपलवण है। एवञ्च तात्पर्य यह है कि एक वर्ष के बीतने के बाद स्नातक आदि का मनुष्य से पूजन करना चाहिये। यदि सम्भस्तर-मध्य में ही यज्ञ उपस्थित हो तो सम्भस्तर-मध्य में भी ये सम्मानार्ह हैं। परन्तु यदि सम्भस्तर के बीच कोई यज्ञ नहीं उपस्थित हो तो सम्भस्तर के बीत जाने के बाद यज्ञ उपस्थित हो या नहीं हो, उनका समान भवश्य ही करना चाहिये। यहाँ मनु ने राजा तथा स्नातक के पूजन में विशेष धरलया है कि यदि सम्भस्तर-मध्य में यज्ञ की उपस्थिति नहीं होती है, तो सम्भस्तर के बीत जाने पर भी राजा तथा स्नातक की पूजा यज्ञ में ही करनी चाहिये न कि केवल सम्भस्तर के अतिक्रमण से ही—

राजा च ओत्रिवक्षैव यज्ञकर्मण्युपरिधत्तौ ।

मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥

अतः राजा तथा स्नातक का यज्ञ में और शेष का सम्भस्तर-मध्य में यज्ञ-काल में, सम्भस्तर के बीतने पर यज्ञाऽयज्ञा-साधारण पूजन करना चाहिये।

श्लो० ११२—अति-भोजनम्—अत एव मनु ने कहा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति-भोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥

श्लो० ११३—भासीमान्तम्—यहाँ अपराध-व्याख्या में तीन प्रकार की सीमा पतलाई गई है—सीमा त्रिविधा—वास्तु सीमा, ग्राम सीमा, चैत्र-सीमा च; सा चानुपजनीयशुभापेक्षया स्ववस्थापनीया ।

श्लो० ११६—वार्षिक—मनु का कथन है—द्यूतोपि दत्तमो गतः । ९० वर्ष की अवस्था के बाद द्यूत भी प्रतिष्ठित होता है। परन्तु गौतम ने ८० वर्ष को ही परमावधि मानी है ।

श्लो० १२७—कुशुलेति—द्वादशदिनोचित-धाम्नाधारा कोपी कुशूलः, पद्मिनोचित-धाम्नाधारा कुशुभी—कुशुपाणिः ।

श्लो० १३९—प्रेतधूमम्—वाल्महृदोक्तार ने 'प्रेतधूम का अर्थ बालातप किया है। इन्होंने अपने मत के समर्थन में निम्न लिखित मनु के वचन को पान में रखा था—ऐसा प्रतीत होता है—

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।

परन्तु यहाँ बालातप पृथक् प्रेतधूम से उद्देश्य-विधेय-भाव की कल्पना करना भ्रममूलक है। यहाँ तो बालातप पुरं प्रेतधूम दोनों ही स्वतन्त्र पदार्थ हैं जिनको मनु ने वर्ज्य माना है। अतः प्रेतधूम का अर्थ दहमान-दाप-धूम ही करना चाहिए।

श्लो० १४०—न राज्ञः प्रतिगृह्णोवात्—इस प्रसङ्ग में मनु के निम्न-लिखित वचनों को देखना चाहिए—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योऽपु। रघ्नश्चित्तनः ।

॥ पदापेण बासीमान् नरकानेक-विघतिम् ॥

तामिष्टमन्धतामिष्ट महारीरवरीरवो ।

नरकं काटस्य च महानरकमेव च ॥

संजीवन महापीचि तपनं मन्धतापनम् ।

संपात च मकाश्लेडुदमलं प्रतिमूर्खम् ॥

छोहृष्टदुग्धुपीथं च पयान दादमलिनदीम् ।

अतिप्रवचन चैत्र कोहृदारकमेव च ॥

पुतद्विद्वन्तो विद्वंसो ब्राह्मणा मल्लवारिवः ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति मेव धेवोऽभिकांक्षिन्व ॥

दत्तो० १४१—इस प्रसङ्ग में मनु का कथन अधिक स्पष्ट है—

म राज्ञः प्रतिगृहीयात् अराजन्त्यप्रसूतितः ।  
 सूनाचक्रप्रजवर्ता वेशेनैव च जीवनाम् ॥  
 दत्तासूनासमं चकं दत्तचक्रमसौ प्वजः ।  
 दत्ताप्वजसमो वेशो दत्तावेशसमो नृपः ॥  
 दत्तासूनासदधानि यो याद्वयनि मौनिकः ।  
 तेन तुदयः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥

दत्तो० १४६—अमावास्या आदि में अष्यवन के दुष्परिणाम का वर्णन मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है :

अमावास्या गुरुं हन्ति सिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।  
 प्रद्याष्टकापूर्वमास्यां तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥

प्रद्य = घेह को ।

दत्तो० १५४—आचारमाचरेत्—इस प्रसङ्ग में मनु के वचन को ध्यान में रखता चादिष्ट—

आचारावलभतेद्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।  
 आचारात्तममपठममाचरो दुष्पल्लवणम् ॥  
 दुराचरो हि पुण्यं लोके भवति निन्दितः ।  
 दुष्टभागी च सततं स्वाधितोऽवरागुरेव च ॥  
 सर्षलपुत्रहीनोऽपि चा सदाचारवाचरः ।  
 अहशानोऽनसुपन्नं वर्गं वर्षाणि ज्ञोवति ॥

दत्तो० १५५—पुत्रं सिष्यं च तादयेत्—बट ताउन केवल अनुशासन के लिए काना चादिष्ट । अत एव मनु ने कहा है—

दित्त्वर्षं तादयेत् सौ ॥

प्राज्ञन की निन्दा का कुछ मनुस्मृति में बतलाया गया है—

प्राज्ञनायाप्यस्यैव विजातिर्वध-काम्यया ।  
 द्यतं वर्षाणि तादिये नरके परिवर्तने ॥  
 ताद्विषया दुष्पेनपि संरम्भात्मविपूर्वकम् ।  
 एवञ्चित्तमिमांशः पावदोनिषु जायते ॥ इत्यादि ।

दत्तो० १५७ ५८—इन लोगों ने विनाइ नहीं करने पर इन लोगों के अधीनरूप लोगों पर विजय मिलती है । इन लोगों के वशीभूत लोगों का विवरण मनु ने निम्नलिखित प्रकार से पाया गाया है—

आचार्यो मद्रथोकंशः प्राज्ञावाये रिता प्रभुः ।



अतिथिरिव-द्रुलोकेशो देवलोकरय चरिज ॥  
 जामयोऽप्सरसां लोक वैश्वदेवस्य चानधवाः ।  
 सम्बन्धिनो ज्ञवां लोके पृथिव्यां मातृमातुल्ये ॥  
 आकाशेनास्तुविज्ञेया बालवृद्धकृशातुरा ।  
 भ्राता ज्येष्ठ सम पित्रा भार्या पुत्र स्वका तनु ॥  
 ह्याया स्यो दासवर्गाश्च दुहिता कृपण परम् ।  
 तस्मादेतैरधिष्ठित सहेताऽसम्भवर सदा ॥

जामयाः = विद्यमानभर्तृका भगिनीस्तुपाद्या, चानधवाः = पितृमातृपत्न्याः  
 जना, सम्बन्धिनः = जामातृरपालकादयः; कृण = कृणधन; सधित = आधित  
 इत्यर्थः ।

श्लो० १५९—गुनि ने परकीय अलास्य भादि में स्नान का प्रतिषेध  
 किया है—

परकीय—निवानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।  
 निवान कर्तुं स्नायात् तु दुष्कृत्वासेन लिप्यते ॥

अशेष = चतुर्थांशेन । इसका प्राथमिक मी म्यासने बतलाया है—

अन्यजै त्वामिता कृपा तद्वागा चाप्य एव च ।  
 एषु स्नायात् च पीत्वा च प्राजापश्येन श्रुषति ॥

इसी में विशेष व्यवस्था बतलाने के लिए याज्ञवल्क्य ने—एव्य विष्णान्  
 शुद्ध्य न स्नायात् पर वारिणि—कहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि  
 स्नानार्थं अकृत्रिम नदी भादि की उपलब्धि नहीं होती हो तो परकीय निवान  
 में भी पाँच विण्ड का उद्धरण कर स्नान करना चाहिए । अत एव विष्णु का  
 वचन है— वा—निवानेषु ७ स्नानमाचरेत् आचरेद्वा एव्य विष्णान् शुद्ध्य  
 आपदि” इति । सर्वार्थमुत्सृष्टेषु परकीयस्वाभावाद्गुदराणोऽपि न दोष—देसा  
 हेमादि का मत है । स्नायानन्दी देव०—अत एव मनु का भी मत है—

ऋषिषु देवत्वात्तपु तद्वागेषु नर सु च ।  
 स्नान समाचरेत्तस्य गर्तं—प्रधवणेषु च ॥

श्लो० १६०—इस विषय में मनु ने पाप का निर्देश किया है—

श्राद्धश्राद्धसना-शुद्ध कृणोष्ठान-गृहानि च ।  
 अदत्ता युवभर्ता एतसः स्यात्पुत्रीयभाक् ॥

अदत्तानीनि स्वाश्वभाव अनुमात्यभावश्च विवक्षित—देवा गृहपाणि का  
 मत है ।

अग्निहीनस्य—धीत—स्मार्त्ताभ्यधिकारहीनस्य शूद्रस्य भविधिनोऽसृष्टा-  
ग्नेद्विजस्यापि ।

श्लो० १६१—कथ्येति—कथ्यं की परिभाषा नारद ने इस तरह  
की है—

आमानं चर्मकृपयश्च पुत्रदारांश्च पीडयन् ।

लोभाद्यः प्रधिनोऽप्यर्धान् स कथ्य इति स्मृतः ॥

यद्—निगद्यच्छब्दः । अत एव मनु का कथन है—यद्स्य निगदस्य  
च । निगदस्येति तृतीयाथे पठ्या—कुल्लूकभट्ट । रङ्गायतारी—नटगायकस्यति-  
रिक्तस्य रङ्गावतरणजोपिन —कुल्लूकभट्ट, मेधातिथि ।

वार्षुण्य — वरतु निन्वेत् पर जाच प्रक्षसत्यात्मनो गुणान् ।

स वै वार्षुणिको माम् —विष्णु

समर्घं पण्यमुद्गृह्य महाघ व द्रयच्छति ।

स वै वार्षुणिको माम् यश्च वृश्या प्रयोजयेत्—यम ।

श्लो० १६२—एषामन्नं च भोक्तव्यम्—इन सबों के अन्न-भक्षण से दोष  
मनुस्मृति में बतलाया गया है—

य एतेऽप्ये स्वभोज्यान्ना क्रमशः परिकीर्त्तिताः ।

तेषां स्वगश्चिधरोमाणि परम्पद्य मनीषिणः ॥

तेषां स्वगश्चिधरोमाणि भक्षणेन चः दोष एतेषामन्नभक्षणजेऽपि—कुल्लूकभट्ट ।

श्लो० १६६—अर्धशीरिण—कारिका । ये शब्द सापेक्ष शब्द हैं । अत  
एव जो जिसकी कृपि करता हो उसी का अन्न उस व्यक्ति मात्र के लिए भोज्य  
है । इसी तरह दास गोपाल आदि के विषय में भी समझना चाहिए ।  
यथाऽमान निवेदयेत्—निवेदन का प्रकार मनु ने बतलाया है—

पादतोऽस्य भवेदात्मा पाददां च चिन्वीपितम् ।

यथा चोपचरेदेन तथाऽऽमान निवेदयेत् ॥

श्लो० १७०—सन्धिनी—अनुमतौ नृपमिच्छती शौ । या रमिगी सति  
दुग्धे सा सन्धिनी—हरदत्त । अनिर्दशा—यह अजा तथा महिषी का भी  
उपलक्षण है । अत एव यम का कथन है—

अनिर्दशाह शौलीरमाज माहिषमेव च ॥

श्लो० १७५—मरस्याश्च कामत—मरस्य भक्षण को निन्दा मनुस्मृति में  
की गई है—

यो यदय मासमश्नाति स तन्मासाद् उच्यते ।

मरस्याद् सर्वमासाद् तस्मान्मरस्यान् विवर्जयेत् ॥

मरत्य के सर्वमांसमत्तक होने के कारण मरत्यादा (सर्वमांसाद) कहा गया है ।

श्लो० १७६—इस श्लोक में कथित लघुन तथा गृह्यन पलाण्डु के ही भेद हैं—

लघुनो दीर्घपत्रश्च विष्णुगन्धो महौपधम् ।

तरुण्डम पलाण्डुश्च नरलष्ट पराकिता ।

गृह्यनो ववनेष्टश्च पलाण्डोर्दंश जातय ॥

श्लो० १७७—अथवा पञ्चनखा —यहाँ मनु ने यद्यपि खड्ग का भी निर्देश किया है तथापि यह धातुविषयक है—ऐसा शूलफणि का मत है ।  
सेषा = स च रवमसुको इवाग्रविशेष —अपराकं । गोघा = वश्टीसदृश प्राणि—विशेष —अपराकं ।

श्लो० २१२—सर्वधर्मसय प्रह्ला—अतएव मनु का भी मत है—

सर्वेषामेव दानानां प्रह्लादानं विभिध्यते ।

श्लो० २१५—अथाचिताहुतम्—मनु का भी निर्देश है—

आहुताभ्युचिताभिश्चाम् पुरस्तात्प्रचोदिताम् ।

मेमे प्रजापतिर्माह्वाम् अपि दुष्कृतकर्मण ॥

श्लो० २१६—सर्वत —देव आदि के अर्चन के लिए ही न कि भ्राम-पाठन के निमित्त भी । अतएव मनुस्मृति में कहा गया है —

गृह्यन् श्रुत्याश्रोत्रिर्जहीर्षन् अर्चिभ्य-देवतातिथीन् ।

सर्वत प्रतिगृह्णीयात् न तु नृप्येत् स्वयं तत ।

भ्रामवृत्तयर्थमेव च—मनुस्मृति में भ्रामवृत्ति के लिए केवल साधुजन के अ न का ही प्रतिग्रह विहित माना गया है—

गुरुषु (वस्यतीतेषु) विना वा तैर्गृहे षसम् ।

भ्रामनो वृत्तिमन्विद्धन् गृह्णीयात्साधुत सदा ॥

श्लो० २१७—१८ = ध्यतीपात —

ध्वनाम्बिपनिष्ठऽऽर्जानामदैवतमस्तके ।

यद्यमा रविवारेण ध्यतीपात स उच्यते ॥

गज-ह्याया—

योगो मघात्रयोदर्यां कुक्षर-ज्ञायसञ्चित ।

अथे मघार्यां सस्ये च दाशि यकं करे स्थिते ॥ ( ब्रह्मपुराण )

करे = हस्तनक्षत्र मे । आद्यम्—“अथैत-मनु आद्य कर्म भोवाच मजानि श्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणा ब्राह्मणीयार्ये” इस आपस्तम्ब के वचन के

अनुसार विवृणक्त के उद्देश्य से द्रव्य के उत्तम से माहण के द्वारा उक्त द्रव्य के स्वीकार तक का कर्म धातु-एद्-धात्व्य है । रेवधातु भादि पदों में धातु शब्द गौण है—एह कल्पतरु का मत है ।

श्लो० २२१—पश्चाग्नि—शेष अग्निपदों के नाम ये हैं :—

पवनः पावनरोता मस्य पञ्चाम्नसो गृध्रे ।

सायं प्रातः प्रदीप्यन्ते ॥ विप्रः पंक्ति-पावनः ॥ ( हारीठ )

पवनः = भावसत्त्वाग्निः; पावनः = सभ्याग्निः । ग्रंता = आहवनीय गार्हपत्य तथा यजिष्ठाग्निः ।

श्लो० २२२—रोगी = दीर्घरोगी—अपराकं ।

श्लो० २२४—इत्यमे अतिरिक्त निम्न पुरुषों का विवरण मनुस्मृति के तुतीयाध्याय में देयता आदिपु ।

श्लो० २२५—निमन्त्रणम् = अग्रयादयेषो नियोगः निमन्त्रणम्—अपराकं । सप्तैर्भक्ष्यम्—इत्यत्र विषय में मनु का कथन यह है—

निमन्त्रितो द्विजः विभ्ये नियताग्रमा भवेत्सदा ।

न च एन्द्रास्यधीवित्त वरस्य धातु च तज्जवेत् ॥

निमन्त्रिताग्निं पितराः उपतिष्ठन्ति ताम्बिदुजान् ।

यानुस्त्वानुमन्त्रिते तथास्तीवानुपासते ॥ इत्यादि ।

श्लो० २३६—अभ्यनुज्ञातः—माहणों के द्वारा अभ्यनुज्ञात । अतएव मनु का कथन है—

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ।

अनुज्ञातामर्घ्यान्च प्रार्थनाऽपि पूर्वं कर्त्तव्या, सा च स्वगृह्यानुसारेण करवाणि, करिष्ये इत्यादिका । अनुज्ञा अवि 'ओन्' इत्येवं रूपा 'कुरुन्व' इति वा—( कुल्लुक भट्ट ) ।

यदि अग्नि का अभाव हो ( अग्न्यभावश्च अनुपनीतरस्य सभभवति, उपनीतरस्य सम्राट्तरस्य च पाणिप्रहणात्पूर्वम्, मृतसार्धस्य च ) तो ब्राह्मण के हाथ में ही समर्पण करना चाहिये—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पात्रावेनोपपादयेत् ।

यो ह्यग्निः स द्विजा विप्रैर्मन्त्रवृत्तिभिरुच्यते ॥ ( मनु )

तथा फाट्यायन का भी कथन है :—

विभ्ये यः पत्तिमूर्धन्यः तस्य पाणावनग्निःकः ।

इत्या मन्त्रवदन्येषां तूष्णीं मन्त्रेषुनि विषेत् ॥

श्लो० २३९—वाग्वा — मनु का कथन निम्न लिखित है—

आयुष्म सवमन स्यात् सुजीरस्ते च वाग्वा ।

न च द्विजातयो ब्रूयु दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥

दात्रा भ-नादिगुणान् पृष्टा चक्राद्यभिनयेनाऽपि न ब्रूयु वाग्वात्सर्वस्य  
अत्रैव विधानात्—कुपलूक मट ।

श्लो० २४५—इद जपेत्—यह पितृ प्रार्थना है । अतएव मनु का  
कथन है —

दक्षिणां शिक्षमाकांश्चन् वाचेतेमान् वरान् पितॄन् ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्ता वेदा सन्तसिरेव च ।

अहा च नो मा स्वगमत् समुदेय च नोऽस्त्विति ॥

अत दातारो नोऽभि० आदि की भूमिका में 'ब्राह्मणप्रार्थना'—का  
बिज्ञानेश्वरकृत निर्देश उचित नहीं प्रतीत होता है ।

श्लो० २४६—स्त्रिया भवि—स्त्री के सपिण्डीकरण के विषय में द्वाहीत  
का कथन निम्नलिखित है —

स्वैभ भर्त्रा सदैवाराय सपिण्डीकरण स्त्रिया ।

एकस्व सा गता यस्मात् चरुम प्राहुतिवतै ॥

तस्मिन् सति सुता कुर्यु पितामहा सदैव तु ।

तस्या चैक तु स्त्रीष-त्यां तस्या श्रवेति निर्णयः ॥

तस्या स्वभवा = प्रपितामही के साथ ।

श्लो० २४७—बृद्धवाद्यपकपनिमित्त सपिण्डन मध्येऽपि कर्त्तव्यम् । कृते  
तस्मिन् आशुघटभाङ्ग वर्षपर्यन्त कर्त्तव्यमेव । किं तु श्रेतपद्मश्लेषो न कार्यं —  
शूलपाणि ।

श्लो० २४८—प्रतिसम्बरसम्—एतच्च निरग्निविषयम्—ऐसा शूल  
पाणि का मत है ।

श्लो० २४९—पिण्ड प्रलेप क विषय में मनु का मत निम्नलिखित है—

एव निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।

गो विप्रमन्मसि च प्राज्ञयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥

पिण्डनिर्वपणं कच्चि पुरस्तादेव कुर्वत ।

वयोभि स्त्रादय स्य ये प्रक्षिप स्यन्तेऽप्सु वा ॥

पतिवता धर्मपत्नी पितृपूजनत्परा ।

मध्यमन्तु ततः पिण्डमदारसम्यक् सुताग्निनी ॥

आयुष्मन्त सुत सूते यज्ञोमेधामग्नि-उत्तम् ।

धनवन्त प्रजावन्त साम्बिक धामिक तथा ॥

मध्यम पिण्डम् = पितामहपिण्डम् । सप्तु विप्रेषु०—मनु का भी वही मत है—उच्छेषण तु तत्तिष्ठेद् यावद् विप्रा- विसञ्जिताः ॥

परन्तु यत्तिष्ठ ने दिनपर्यन्त रखने को कहा है—

धादुभे नोद्वासनीयानि उच्छिष्टान्पादिनक्षयात् ।

घोतन्ति हि स्वधाहारा ताः पिवन् सकृतोदकाः ॥

श्लो० २५९—वाराहपद् माहिय का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन हैः—

वशमासास्तु वृष्यन्ति वराहमहिषाभिपैः ॥

इसी प्रकार दापा पद् भी कौर्ममास का उपलक्षण है ।

श्लो० २६०—महाशक्क = दास्यक.—मेधातिथि । महाशक्क = मास्य-विशेषा. इति युज्यन्ते, महाशक्कलिना मत्स्याः इति वचनात्—विज्ञानेश्वर-प्रमृति । मनु ने महाशक्क प्रमृति के मास को अक्षय तथा वार्ध्निगस के मास को द्वादशवार्षिक वृत्ति का सम्पादक माना है —

वार्ध्निगसस्य मासेन वृत्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥

कालशाक महाशक्का चण्डोहामिष मधु ।

आमभवायैव कल्पन्ते सुम्यवानि च सर्वश ॥

श्लो० २६१—तथा अर्पात्रयोर्वशाम्—अत्र च प्रोष्ठपक्षपरपक्षे वा प्रयोदशी याश्च मघा\* ता एव गृह्यन्ते—अपरार्क । प्रोष्ठपक्षा. धावणपूर्णिमायाः अपरे भाद्रकृष्णे—ऐसा अर्थ करना चाहिए । अत एव शक्क का वचन है.—

प्रोष्ठपक्षामतीतायां मघायुक्ता त्रयोदशीम् ।

प्राप्य ध्याद् हि कर्त्तव्यं मधुरा पायसेन च ॥

श्लो० २६४—शस्त्रेण—वहाँ शस्त्र पद् उपलक्षण है । अत एव मरोचि का कथन हैः—

विपसर्पशवापदादितिर्यग्भ्राह्मणघातिनाम् ।

चतुर्दश क्रियाः कार्या अन्येषान्तु विगर्हिता\* ॥

श्लो० २६९—चमुक्त्वादितिसुता —अत एव पैठीनसि का वचन हैः—  
य एवं विद्वान् पितृन् यजते वसवो रुद्रा आदित्याद्यास्य प्रीता. भवन्ति ।

श्लो० २७८—सर्वोपपै.—

मुरामासीवचाकृष्ट शैलेय इजनीद्वयम् ।

शुष्टचण्डमुस्त च सर्वोपधिगण. स्मृत. ॥

अथवा—श्रीहय शालयो मुक्ता गोधूमा सर्पपास्तिका ।  
यवाक्षोपधय सप्त विपदो धनन्ति धारिता ॥

श्लो० २९५—गृहयज्ञ समाचरेत्—इस यज्ञ के छिपे उत्तरायण नादि  
काल नियम धनपेक्षित है । अत एव दक्ष का वचन है —  
नैमित्तिकानि काम्यानि निपतन्ति यथा यथा ।  
तथा तथैव कार्याणि न कालस्तु विधीयते ॥

श्लो० ३१८—निवन्धम्—आवस्थान प्रतिनियतवस्तुदानम्—शूल-  
पाणि । अस्मिन् ग्रामे प्रतिचेत्र चेन्नस्वामिना एतद्दानमस्मै प्रत्यब्द प्रतिमास  
वा दैवम् ह्यवादिनियम —अपरार्क ।

श्लो० ३२४—अष्टै—

न कूटैरायुधैर्हन्त्यात् युध्यमानो रणे रिपून् ।  
न कर्णभिरापि दिग्धैर्नाग्निश्वलिततेजसै ॥

श्लो० ३२७—स्नातः—स्नानग्रहण सक्रमणावाहिकोत्सवणम्—  
येसा अपराक का मत है ।

श्लो० ३४४—सुरचितम्—अत एव मनु का वचन है—  
यस्य मन्त्र न जानन्ति समागत्य पृथग्ब्रवा ।  
स कृत्स्नां पृथिवीम् मुक्ते कोदाहीनोऽपि पथिव ॥

श्लो० ३४९—द्वैवे पुरुषकारे च—द्वैव = पूर्वज-मकृत-कर्म-फल, पुरुष  
कार = वैदिकपुरुष प्रवचन । अत एव व्यासने कहा है—  
द्वैवमात्मकत विद्यात् कर्म यत्पौर्वदेहिकम् ।  
स्मृत पुरुषकारश्च कियते पदिहापरम् ॥

श्लो० ३५०—सद्यो = साहित्ये । अत एव भरुषपुराण में कहा  
गया है —

द्वैव पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम ।  
प्रयमेत-मनुष्यस्य विण्णित स्यात् शक्य वै ॥

श्लो० ३५२—मित्रलब्धि—मित्र का लक्षण निम्नलिखित है —  
धर्मज्ञ च कृतज्ञ च तुष्टप्रकृतिमेव च ।  
अनुपक रिचरारम्भ लघु मित्र मत्तस्यते ॥

श्लो० ३५८—धर्माद्धिचकित—अत एव दक्ष का वचन है —  
पारिमात्र्य श्रुतीत्वा तु यः स्वधर्मं न तिष्ठति ।  
श्रवादेनाद्भुचिश्वा त राजा क्षीम विवासयेत् ॥

श्लो० ३६७—दण्ड-स्थान का निर्देश मनुस्मृति में मिलता है—

दश स्थानानि दण्डस्थ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षते ग्राह्यणो वजेत् ॥

वपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।

चक्षुर्नासा च कर्णौ च घनं देहस्तथैव च ॥

श्लो० ३६८—कालम् = दिवारात्रिसन्धारमकम्—शूलपाणि ।

कालम् = सुभिषदुर्भिक्षादियुक्तम्—वीरमित्रोदय ।

कर्म = भविष्योत्रादि तथा सूताषिष्टानादि ॥

यथाचार्यमपाचारे याज्ञवल्क्यमिरूपिते ।

नारायणेन मिथेण टिप्पणीयं समापिता ॥





## व्यवहाराध्याय

श्लो० १—व्यवहारपदार्थस्वरूपनिरूपण कं छिप्य अपरार्कमे कार्यायन का वचन है —

प्रयत्न-साध्ये विचिद्र-ने धर्मस्थये -याय विस्तरे ।

साध्य मूलोऽग्र यो वाद् -व्यवहार स उपपत्ते ॥

व्यायविस्तरे = -यायप्रपञ्च मे ।

श्रुणादानादिनानाविवादपद-विषय-पक्षय निराक्रियते धनेनाति नाना सहायद्वारी विचारो व्यवहार यह शूलपाणि का मत है ।

“लोभश्च उशोचादिरूपेण परविच्छलिप्सा टोभ । अज्ञान-प्रमादावप्यप्र वर्जनीयतया दृष्टव्यौ” ( अपरार्क )

व्यवहार काल के विषय में पराक्षर-साधवीय में बृहस्पति का वचन है —

द्विसप्तत्वाष्टम भाग मुक्ताया काल मुसविशेत् ।

■ कालो व्यवहारार्णो द्वात्रिंशद्विंश पर स्मृतः ॥

अपरार्क में उद्धृत कार्यायन का मत है —

आद्याद्विद्वोऽष्टभागाद्यत् ऊर्ध्वभागत्रय भवेत् ।

स कालो व्यवहारस्य द्वात्रिंशद्विंशो मनीषिभिः ॥

व्यवहार दर्शन की विधि मनु में कही गई है —

तत्रास्तीन स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।

विनीत-वेपामरण पर्यत् कार्याणि कार्पिणाम् ॥

श्लो० २—समासदाश्च बहु द्वात्रिंशत् प्राकृत्या तद्वलाभे चतुर्याः तद्वलाभे तादृशा एव वैश्या शूद्रस्तु न कथमपीति कार्यायनमनुप्रामाण्यात्—(अपरार्क)

श्लो० ३—कार्यवशात् = व्यवहारदर्शनार्थिः कुर्यात् कार्यवशात् रोगादि-पक्षाद्—( अपरार्क )

श्लो० ४—स्मृत्यपेतादीश्वप्रादिपदात् व्यवहारापेतस्य प्रदहनम्—शूलपाणि एतच्च दण्डविधानं धन-विषय रिवादे, यादृश-तरं तु पादुपादिरिषय दण्डा-तर वेदितव्यम्” ( अपरार्क )

श्लो० ६—जायादि—यहाँ आदि पद से कार्यायनोक्त द्रव्यसवया भादि परिग्राह्य हैं ।

अपराधैर्मे कारवायनं कं वचनं चेद्देः—

साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च संख्या नाम तयारमनः ।

राज्ञां च क्रमज्ञो नाम निवासं साध्यनाम च ॥

धर्मादिपतृणां नामानि पीढामाहर्तृदायकौ ।

सुमालिङ्गानि चान्धानि पक्षे संकीर्त्यं कथयेत् ॥

देशादि के अनुच्छेद होने पर पञ्च-स्वीकार नहीं होता है । अत एव जी-  
मृत-वाहनकृत व्यवहार मातृका बृहस्पति का वचन है :—

देश काल-विहीनश्च द्रव्य-संख्या-विवर्जितः ।

साध्य-प्रमाण-हीनश्च पक्षोऽनादेय इष्यते ॥

( अनादेयः = अग्राह्य-राज्ञा इत्यर्थः ) ॥

श्लो० ७—( पूर्वार्ध ) उत्तर-छेद से पूर्वकालिक कृष्य के विषय में  
परादार-माधवीय में बृहस्पति का वचन है :—

विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्य-विशेषिते ।

प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते क्षेत्र्येदुत्तरभूतताः ॥

उत्तरदान में अर्वाचि का परिमाण स्मृति-कथनरूप में बृहस्पति ने  
बतलाया है :—

घाहीनस्वाप्तवाप्तद्वय प्रत्यर्थी स्मृति-विभ्रमात् ।

कालप्रार्थयते यत्र तत्रेमे लभ्युमर्हति ॥

एकहभ्यहपञ्चाहसप्तार्हं पक्षमेव वा ।

मासं शत्रुप्रयं वर्षं लभते शक्यपेक्षया ॥

कारवायनीय ने तो कुछ विशेष बतलाया गया है :—

सद्यो वैकाह-पञ्चाही अथं वा शुद्धाचनान् ।

लभेतासी त्रिपञ्चम्वा सप्ताहम्वा श्रणादिषु ॥

कालं घाधिकं विदित्वा तु कार्वाणां च यथाशक्तम्

अक्षयं वा बहु या कालं दद्यात्पर्यर्षिणे प्रभुः ॥

उत्तयोर्लिखिते वाच्ये प्रारब्धे कार्यनिर्णये ।

अनुक्तं तत्र यो मूयात् तस्मादर्थारस हीयते ॥

श्लो० ७—( उत्तरार्ध ) सद्य इति । यहाँ कारवायन का निम्न लिखित  
वचन द्रष्टव्य है :—

सद्यः कृतेषु कार्येषु सद्य एव विधीयते ।

कालातीतेषु वा कालं दद्यात्पर्यर्षिणे प्रभुः ॥

श्लो० १०—कलहो वाक्यारूप्यम् , साहसो दण्डवारूप्यम्—( अपराकं. )

श्लो० ११—प्रत्यर्थी के द्वारा निह्वन करने पर अर्थी के कृत्य के विषय में मनु का कथन है :—

अपह्वयेऽपमर्णस्य देहीत्युक्तस्य ससदि ।

अभियोक्ता दिशेद् देस्य करणं यान्यदुद्दिशेत् ॥

( देस्यम् = धनप्रयोगदेशवर्तिसाधिणम् , अ-यद्वा करणं पत्रादि इति । एव निह्वये प्रत्यर्थिना कृते यदि साध्यादि-प्रमाणेन अर्थी प्रत्यर्थिनोऽपराधं भावयति तदा प्रत्यर्थी भावित इत्युच्यते, स च अर्थिना अभियुक्त धन दत्त्वा राज्ञे च स्वापह्वय-भाषणजन्य-दोषप्रयुक्तदण्डरूपेण तस्मिन्मन्दापयेदिति तात्पर्यम् । )

श्लो० १२—सहसा इडेन जनसमूह चत्परद्विसादि क्रियते तस्मात्सम्—  
( अपराकं. )

श्लो० १३—१५—अत एव मनु ने भी कहा है —

वाद्यै विभावयेच्छिष्टै भावमस्तर्गतं नृणाम् ।

स्वर-वर्णैरङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥

आकारैरिङ्गितैर्गन्था चेष्टया भाषितेन च ।

नेत्र ध्वज विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ( ८।१५-१६ )

श्लो० १३-१५—आहुति से मनोभाव का अभिव्यञ्जन रामायण में भी बतलाया गया है .—

आकाररक्षाद्यमानोऽपि निमग्नोऽपि न ज्ञायते ।

बलाद्धि विद्युजोऽप्येव भावमस्तर्गतं नृणाम् ॥

श्लो० १६—नारद ने पाँच प्रकार के हीम का निर्देश किया है .—

अन्वयादी क्रियाद्वेषी नोपस्थावी निरुत्तरः ।

आहृतप्रपलायी च हीम पञ्चविधः स्मृतः ॥

श्लो० १८—सपण —त्रितेन मया एतावदेवम् हृत्स्वयुपेत धनं पणः  
( अपराकं. )

श्लो० २०—एतत्तु यत्नमपह्वयवादिनः ग्रावष्टग्ने प्रतिवचने स्मृत्यम् ।  
यथा—एतेषामर्थानां मध्ये यत्नेकमप्यर्थमर्थी साधयति तत्र सर्वानेतानह ददा-  
मीति । कुत एतत् ? दुःखोदाहरणपरत्वात्स्य चावयस्य । अन्वया—

अनेकादीनिशोभेऽपि यावत्सप्तपयेत्तु ।

साधिमिस्तावदेवासी लभते साधितं धनम् ॥

इति कार्यायनतत्पनविरोधः स्यात् ( अपराकं )

श्लो० २२—प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिः अर्थशास्त्रम् ।

वेदैकसमधिगम्यार्थविषया तु धर्मशास्त्रम् ॥ ( अपराकं )

दोनों के विरोध होने पर धर्मशास्त्र प्रबल माना जाता है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।

अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ॥

श्लो० २३—घनस्य दत्तवार्धिनी—यहाँ विरोध द्रष्टव्य है :—

सम्प्रीत्या भुञ्जमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।

धेनुरुद्रो बहन्नरवो यश्च दम्बः प्रयुञ्जते ॥ ( मनुस्मृतिः )

श्लो० २५—इनसे भतिरिक्त पदार्थों का भी निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

विवाह्य भोगिषेभुंक्त राजामात्यैस्तथैव च ।

सुवीर्धिणापि कालेन तेषां सिष्यति तद्यु न ॥

असक्ताः सस्रो गार्त्तवाः सभोतप्रवातिनाम् ।

शासनाकृतमभ्येन मुक्तं भुञ्ज्या न हीयते ॥

शासनाकृतम् = ताम्रपट्टादिद्विधितम् ।

श्लो० २७—पूर्वकमागतत् = पूर्व शब्द का अर्थ है—पिता, पितामह तथा प्रपितामह । इससे स्पष्ट है कि पूर्वकमागत भाप भावम से यद्वत्तर होता है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

अनुमानाद् गुरुः साधु साधिभ्यो लिखितं गुरु ।

अस्पाहतः त्रिपुरुषी भुक्तिरेभ्यो गरीयसी ॥

त्रिपुरुषी भुक्ति का अर्थ व्यास ने निम्नोक्त प्रकार से किया है :—

प्रपितामहेन बद्धभुक्त तत्पुत्रेण विना च तम् ।

तौ विना तस्य पुत्रा च तस्य भोगस्त्रिपुरुषः ॥

तीनों पूर्वजों के जीवित रहने पर किया गया भोग त्रिपुरुषभोग नहीं होता है । अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

पिता पितामहो यस्य जीवेच्च प्रपितामहः ।

स्रयाणां जीवतां भोगो विज्ञेयस्तवेकपौरुषः ॥

श्लो० ३४—विद्वानशेषमादद्यात्—परन्तु ब्राह्मण भी निधि को प्राप्त कर पहले राजा को निवेदित करे, परचात् राजा की अनुमति पाकर उसका उपभोग करे । अत एव नारद का कथन है :—

माह्नणोऽपि निधिं लब्ध्वा विप्र राज्ञे निवेदयेत् ।

तेन दत्तं तु भुञ्जोत स्तेनः स्यादनिवेदपन् ॥

श्लो० ३७—अक्षीतिमाय —सपादरूप्यक प्रतिशतम् ।

यह वृद्धि प्रकार वसिष्ठ निदिष्ट है । अत एव मनुस्मृति में कहा गया है—

वसिष्ठनिहितौ वृद्धिं सूत्रेद्विचविवर्धिनीम् ।

अक्षीतिभागं गृह्णीया-मासाद्गार्धुपिकः पाते ॥ इत्यादि ।

यहाँ व्यास ने कुछ विशेष बतलाया है —

सक्ये भागं भाक्षीत पशुभागं सलम्नके ।

निराधारे त्वेकस्यत मासकाम उदाहृतः ॥

श्लो० ४०—न वाप्यो नृपते —अत एव मनु का भी कथन है —

यः स्वयं साधयेद्धर्ममुत्तमर्णोऽधर्मनिकात् ।

न स राज्ञाऽभियोक्तव्यं स्वकं ससाधयन्धनम् ॥

परन्तु यह ससाधन कथे-ए विधि से नहीं होना चाहिये । उसकी विधि भी मनु ने ही बतलायी है—

धर्मेण व्यवहारेण क्षुत्तेनाचरितेन च ।

प्रयुक्तं साधयेद्धर्मं पद्ममेव यत्नेन च ॥

धर्म की व्याख्या गृहस्पति ने की है —

सुहृत्सम्बन्धिसन्दिष्टैः साम्ना चानुगमेन च ।

प्रायेण वा श्रमो द्वाप्यो धर्म एव उदाहृतः ॥

व्यवहारेण = लिखित भादि प्रमाण के आधार पर । मेधातिथि ने तो दूसरी व्याख्या की है —

“नि रथो य स व्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यैकमपि कारणं धनं दाया कृपिवागिण्यादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्पन्नं धनं तस्माद् गृह्णीयात् ।”

कुल, आचरित तथा बल की व्याख्या गृहस्पति ने भिन्नलिखित प्रकार से की है —

क्षुद्रमा वाचितं चार्थमानोष श्रमिकान् यत्नी ।

अ-याहतादि वाऽऽहृत्य द्वाप्यते तत्र सोपधिः ॥

दारपुत्रपशुन् हत्वा कृत्वा द्वारोपवेदानम् ।

यत्रार्थो द्वाप्यतेऽर्थं स्व तदाचरितमुच्यते ॥

( विज्ञानेश्वर ने तो ‘अचरितेन’ शब्द को अभिप्रेत मान कर ‘अभोजनेन’ अर्थ किया है । अपराधकं च अनुसार आचरितेन = देसाचारेण’ अर्थ है । )

यद्दत्त्वा स्वगृहमानीय तादनाद्यैरुपक्रमैः ।

ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः ॥

( बलं = भोजननिषेधादिना पोदनम् —अपराधः )

पूर्व-पूर्व उपाय के अभाव में उत्तरोत्तर का अनुसरण करना चाहिए ।

श्लो० ४३—अत एव गृहस्पति का भी मत है :—

ऋणिनं निर्धनं कर्म गृहमानीय कारयेत् ।

शौण्डिकाद्यम् , द्राक्ष्यणस्तु द्वापनीयः शनैः शनैः ॥

किन्तु यदि उत्तमों अधमों से पूर्वानुक्त अनुचितकर्म करवाता है तो अधमों ऋणमुक्त हो जाता है और उत्तमों दण्ड्य हो जाता है । अत एव कार्यायन का कथन है :—

यदि द्वादशनादिष्टमशुभं कर्म कारयेत् ।

प्राप्नुयात्साहसं पूर्वसृणाम्भुष्येत ऋणिकः ॥

श्लो० ४४—वर्धते न ततः परम्—अत एव संवर्ष का वचन है :—

न वृद्धिः शीघ्रने लाभे निक्षेपे च तथा स्थिते ।

सम्पिन्धे प्रातिभाष्ये च यदि न स्यात् स्वपङ्कता ॥

स्थिते = मध्यस्थ के यहाँ जमा किये हुए धन की । यदि न स्यात् स्वपङ्कता का तात्पर्य है कि यदि अधमों वृद्धि की प्रतिज्ञा नहीं की हो तो वृद्धि नहीं होती, अन्यथा उपर्युक्त धन में भी वृद्धि होती है ।

श्लो० ४५—अत एव नारद का भी वचन है :—

वितुष्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यद्वर्णं कृतम् ।

मात्रा वा यश्कुटुम्बार्थे दत्तः तस्मैर्वसुविधनः ॥

श्लो० ४६—न पुत्रेण कृतं पिता—इमका अपवाद गृहस्पति ने यत-  
लाया है :—

ऋणं पुत्रकृतं पित्रा शोष्यं यदनुमोदितम् ।

सुतरस्नेहेन वा दद्याद् नान्यथा वानुमर्हति ॥

यहाँ पुत्र पद उपलक्षण है योपिदादि का भी । अतः भार्या आदि के द्वारा कृत ऋण भी स्वानुमोदित होने पर समाधेय है ।

श्लो० ४७—तथैव—यह प्रातिभाष्य तथा श्लेषकृत ऋण का भी उपलक्षण है । प्रातिभाष्य का निर्देश मनु ने किया है :—

प्रातिभाष्यं नृणां दानमाधिकं सौरिकं च यत् ।

दण्डशुक्लावरोध च न पुत्रो दातुमर्हति ॥

वर्शनं प्रातिभाष्ये तु विधिः स्यात् पूर्वोक्तैः ।

क्रोधकृत श्रम का निर्देश नारद ने किया है :—

न पुत्रो विना दद्याद् दद्यात् पुत्रस्तु वैतृकम् ।

काम-क्रोध-सुरा-शूल-प्रातिभाष्यकृतं विना ॥

क्रोधकृत श्रम को परिभाषा कारणादन ने की है :—

यत्र हिसो समुत्पाद्य क्रोधाद् द्रव्यं विनश्यत् वा ।

उक्तं तुष्टिकरं यत्तु विद्यात् क्रोधकृतं हि तत् ॥

परस्य हिसो धनविनाश वा क्रोधात् कृत्वा तत्तुष्टये यद्द्रव्यं दातव्य-  
स्येन अङ्गीकृतं तत् क्रोधकृतम्—( अपराकः )

श्लो० ४९—प्रतिपन्नम्—कभी कभी अप्रतिपन्न श्रम को भी बुझाना  
पड़ता है, जैसा कारणादन ने कहा है :—

मर्तुकामेन वा भर्त्रा प्रोक्ता देवमृणं त्यथा ।

अप्रपन्नाऽपि सा दाप्या श्रम पर्याभित्तं स्त्रियाः ॥

श्लो० ५२—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षिणं प्रातिभाष्य वा दानं प्रहणमेव च ।

विभक्तः भ्रातरः कुर्युः नाविभक्तः परस्परम् ॥

परन्तु यदि सर्वानुमन हो तो अविभक्त को भी साक्षिण भादि का  
अधिकार हो सकता है ।

श्लो० ५३—बृहस्पति ने चार प्रकार का प्रतिभू बतलाया है :—

दर्शने प्रथमे दाने श्रमद्रव्यार्पणे तथा ।

चतुप्रकारः प्रतिभूः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥

प्राईको दर्शयिष्यामि सापुरेणोऽपरोऽवदीत् ।

दाता तवैतद् द्रविणमर्पयाभ्यपरोऽवधीत् ॥

भाषी तु वितथे दाप्यौ ताकात्वावेदितं धनम् ।

उत्तरौ तु विसवादे तौ विना तामुतौ पुनः ॥

सुता अपि—सुत शब्द के प्रयोग से मनु के वचन में प्रयुक्त 'दायाद'  
( दान-प्रतिभुवि प्रेते दायादानवि दापयेत् ) शब्द से पुत्र-पौत्रादि-संप्र-  
विषयक भ्रम का निवारण हो जाता है । तात्पर्य यह है कि पुत्रमात्र  
ही प्रातिभाष्य का समर्पण करे पौत्र आदि नहीं । अत एव कारणादन का  
मत है :—

प्रातिभाष्यागतं पौत्रैर्दातव्यं न तु तत् कश्चित् ॥

पुत्रेणापि समं देयम् श्रद्धं सर्वत्र पैतृकम् ॥

समम् = वृद्धिरहितम् ।

श्लो० ५५—एकच्छावाधिताः = प्रत्येकं विकल्पेन सकलधनदापकाय-  
माधिताः—( अपराकं )

श्लो० ५६—द्विगुणम्—यदि धनिक के द्वारा प्रतिभू श्रणिक-गृहीत  
धन देने के लिए पीड़ित हुआ हो तब की स्थिति है । साधारणतः अपने धन  
का समान रूप ही प्रतिभू श्रणिक से प्राप्त करने का अधिकारी है । अत एव  
कार्यायन का कथन है—

यस्यार्थं येन यद् दत्तं विधिनाऽभ्यर्षितेन तु ।

साक्षिभिर्भावितेनैव प्रतिभूस्तस्मात्पुनरात् ॥

द्वैगुण्य की' भवति' गृह्यसूत्रि ने बतलायी है :—

त्रिपञ्चापरतः सोऽर्धं द्विगुणं लब्धुमर्हति ॥

श्लो० ५७—स्त्रीपशुषु = गोमहिष्यादिषु—( अपराकं : ) स्त्री च पशुश्च...  
दास्यादि क्षायादि च—( शूलपाणिः )

श्लो० ६०—स्वीकरणात् = परिग्रहात्...स्वीकरणं च भोग्याधौ  
भोगपर्यन्तं गोव्याधौ भाष्यागारमवेक्षणपर्यन्तम्—( अपराकं : )

श्लो० ६१—प्रयोजके = सम्पकप्रहीतरि । असति = मृते प्रोषिते वा  
( अपराकं )

श्लो० ६६—राजवैविकनस्करैः—अत एव मनु का भी मत है :—

चौरैर्हृतं जलेनोद्धमनिना दाधमेव च ।

न दद्याद् यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥

श्लो० ६९—साक्षिणः—साक्षी शब्द का विवेचन मनु ने किया है :—

समचदर्शनात् साक्षयं अनणाश्चैव सिष्यति ।

यवात्राति यथावर्णम्—अत एव मनु का कथन है :—

स्त्रीणां साक्षयं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सरदा द्विजाः ।

शूद्राश्च सन्तः शूद्राणां सन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥

श्लो० ७२—एकोऽपि—अत एव मनु का कथन है :—

एकोऽप्युभयस्तु साक्षी स्यात्... ।

स्यात् का भी मत है :—

शुचिकिमश्च घर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् ।

प्रमाणमेकोऽपि भवेत् साहस्रेषुः विदोषताः ॥



साहसंम् = "इयासाहसं खन्वयवत् प्रसर्भ कर्म यस्कृतम्" ( मनुस्मृतिः )

श्लो० ७८—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षिविप्रतिपक्षौ तु प्रमाणं बहवो मताः ।

तस्माभ्ये शुचयो ब्राह्मणस्तस्माभ्ये शुचिर्मतरः ॥

श्लो० ८१—विवाहो ब्राह्मणः—अतएव मनु ने कहा है :—

न जानु ब्राह्मणं हन्वात् सर्वपापेष्ववस्थितम् ।

राभ्रादेन बहि कुर्यात् समप्रघनमघतम् ।

कौटसाद्य तु कुर्वाणास्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः ।

प्रवासयेद्दण्डविरथा ब्राह्मणस्तु विवासयेत् ॥

मौण्डवं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधायते ।

इतरेषाम्नु वर्णानां दण्ड प्राणान्तिको भवेत् ॥ इत्यादि ।

श्लो० ८३—अतः सारस्वतः—हसका विकल्प मनु ने बतलाया है :—

कूपमाण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नी यथादिधि ।

उदियाया वा गोरुषया सुषेनान्दैवतेन तु ॥

द्वावृषारात्र पयः पिबन् पूष्णाश्चैजुहुयात् ( र्वाभावनाः )

शुद्धरचैकदिनकं गोदण्डकस्य प्राप्तं दद्यात् ( विष्णुः )

श्लो० ८६—स्वहस्तेन—यह अक्षराभिज्ञ श्रणी के विषय में है । अक्षराभिज्ञ श्रणी को अग्न्य सत्पुरुष द्वारा क्लिप्तवाना चाहिए । अत एव श्यास का कथन है :—

अक्षिपिञ्ज श्रणी यः स्वाश्लेसयेत् स्वमर्तं तु सः ।

श्लो० ९५—दिव्य का विषय नारद ने बतलाया है :—

यदा साक्षी न विद्येत विवाहे यदतां नृणाम् ।

तदा दिव्यैः परीक्षेत सापथैश्च विभावयेत् ॥

शीर्षकरथे = यदि अभियोक्ता साभिमान ऐसा उद्घोष करे कि यदि अभि-  
पुष्क अपराधी नहीं सिद्ध होगा तो वह अभियोक्ता स्वयं दण्डभागी बनेगा—  
तो ( तुला आदि दिव्य का प्रयोग होना चाहिए ) ।

श्लो० ९८—यहाँ कात्यायन का वचन द्रष्टव्य है :—

राजन्येऽग्निं घट विप्रे वैश्ये तोयं निघापयेत् ।

सर्वेषु सर्वं दिव्यं वा विपवर्जं द्विजोत्तमे ॥

गोरक्षकान् वाग्विजकान् तथा काककुशीलवान् ।

प्रेष्यान् चार्धुषिकारचैव ग्राहयेत् शुद्धवद् द्विजान् ॥

श्लो० ९९—इय मसङ्ग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन, अव-  
धेय हैं :—

संख्या रश्मिभ्रजोमूला भुजुना समुदाहृता ।  
कार्याणाम्ना सा द्विषे नियोग्या विनचेत्तथा ॥  
विषं सहस्रेऽपहृते पादोने तु हुताशनः ।  
प्रिपादोने च सलिलमर्धे देयो घटः सदा ॥  
चतुःशताभियोगे च दातव्यस्तप्तमापका ।  
विदासे तण्डुला देयाः कोदारचैव तदर्धके ॥  
शते हृतेऽपहृते च दातव्यं धर्मशोधनम् ।  
गोचौरस्य प्रदातव्यः सम्यैः फाला प्रथमतः ॥  
पुका संख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता ।  
चतुर्गुणोत्तमानां च करपयोया परीचकैः ॥

निकृष्टानां = आदि, गुण तथा कर्म से निकृष्ट ।

श्लो० १००—१०१—प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः । इसका  
साधन है कि दिव्यकर्ता के तौलने के समय तुला की रज्जु की लम्बाई  
जितनी रहे उसको परीचा के समय यथावत् समझने के लिए रज्जु की उस  
बिन्दु ( जहाँ तुला संलग्न रहे ) पर रेखा डाल देनी चाहिए । यह विधि  
अधियास के दिन की है । अधियास के दिन एक बार दिव्यकर्ता को तौलना  
चाहिए । और तौलने के बाद दिव्यकर्ता तुला से उतर कर तुला को  
अभिमन्त्रित करे । अतः 'रेखांकृत्वाऽवतारितः' से लेकर 'तुलानियमितमन्त्रयेत्'  
तक का कार्य अधियास के दिन का है—यह ध्यान रखना चाहिए । इसके  
बाद पर दिन में अभिमन्त्रित तुला पर दिव्यकर्ता को तौलना चाहिए ।  
तौलने के बाद निर्णय के प्रकार का निर्देश निम्न-लिखित श्लोक में किया  
गया है :—

तुलितो यदि वर्धेत विशुद्धः श्यान्न संशयः ।

समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः ॥

यद्यपि मिताचरा में यह श्लोक पितामह के नाम से उद्धृत है तथापि  
धीरमिश्रोदयकार के अनुसार यह मूल वाञ्छवच्य मृति का ही माना  
जाता है । विचार करने पर यही उचित भी लगता है कि यह मूल-ग्रन्थ  
का है । यदि इसे मूल श्लोक नहीं माना जाय तो मूल-में न्यूनता रह  
जाती है, क्योंकि तुला परीचा के निर्णय का प्रकार अस्पष्ट ही रह जाता है ।  
अतः इस श्लोक को मूल-ग्रन्थ का ही अङ्ग मानना उचित है । भूमिकान्तर्गत

रकोक सख्या विवरण के प्रसङ्ग में इस का सङ्केत नहीं हो सका । अतः पाठक से क्षमा-माचना अपेक्षित है ।

श्लो० १०३—अश्वत्थपत्राणि—यहाँ अपरार्क में उद्धृत निम्न-लिखित स्मृति पर ध्यान देना अपेक्षित है :—

पितामह.—

सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाशतान् ।

हस्तयोर्निचिपेक्षत्र तन्तुसुप्रत्य सप्त वै ॥

धीरमित्रोद्यम में कुछ और भी विशेष बात बतलाई गई है :—

“अत्र, “साम्यकतन्तुषा दूर्वा इत्या पत्रेषु विन्ध्यसेत्” इति विशेष” स्मृत्यप-  
स्तरेऽभिहित ” ।

श्लो० १०६—मण्डलानि—गोमय के द्वारा निर्मित होना चाहिये ।

श्लो० १०७—मुषरवाग्निम्—यहाँ शूलपाणि का कथन अपरप-  
थ्येय है :—

“गत्वा तप्तु तृणे चिपेत्” इति कालिकापुराणवचनात् ।

अग्निवर्णं लोहविण्डं तुण्यवे चिप्यता “ ॥

अवश — करभिन्ने अह्ने द्वाचोऽपि शुद्ध एव ( धीरमित्रोद्यम. )

श्लो० ११४—इच्छया—यह केवल पिता के द्वारा अर्जित धन में ही, यदि पितामह आदि का अर्जित हो तो पिता को अनिच्छा से भी विभाग हो सकता है । अतएव बृहस्पति का कथन है.—

क्रमान्ते शुद्धेषु पितापुत्राः समांशिनः ॥

श्लो० ११५—पशवः = पुत्रयुव्या — शूलपाणि. ।

श्लो० ११६—अग्नीहमानस्य—यः पुत्रः धनार्जनसमर्थात्तया पितृधन  
नेच्छति, यो वा धनार्जनसमर्थोऽपि शठतया धनस्वार्जनरक्षणानुकूलो चेष्टो न  
कुर्वते तस्मै किञ्चिदसारं दत्त्वा पित्रा पृथक् किया कार्या—(अपरार्क) यह नियम  
पिता की सम्पत्ति के विभाजन में नहीं होता अपि तु सभी भाई जो कृषि  
आदि के द्वारा धनार्जन करते हैं उस धन में आलस्यवशात् कार्यविमुख  
भ्राता असाधर नहीं हो सकता है । इसी प्रकार विद्या आदि से स्वतन्त्र धन को  
अर्जित करने की शक्ति से सम्पन्न भ्राता को भी पहले ही पृथक् कर देना  
चाहिये । इसका कारण यह है कि जो विद्या से अर्जित धन होता है उसमें  
दूसरे का अंश नहीं होता है । एवञ्च यदि सभी साथ रहें तो विद्या से अर्जन  
करने वाले को समूह में कृषि के द्वारा अर्जित धन में अंश मिल जाता है ।

और विद्या से भी अतः विद्या-शक्त व्यक्ति को अनुचित लाभ से रोकने के लिए यह नियम बतलाया गया है । धर्मः—अत एव बृहस्पति का वचन है :—

समन्यूनानाधिकं भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः ।

तथैव ते पाठनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा ॥

श्लो० ११७—अन्वयः—बुद्धिब्रमावे बुद्धिबन्धवः, तद्भावे पुत्रादिव—  
(अपराकः)

श्लो० ११९—विद्यया लब्धम्—विद्यालब्ध धन की स्थापना का पापकर्म ने निम्नलिखित वचनों द्वारा की है :—

परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदाऽन्यतः ।

तथा च प्राप्तं विधिना विद्या-प्राप्तं तदुच्यते ॥

उच्यते च यत्कथं विद्यया पणपूर्वकम् ।

विद्यापत्तं तु तद्विद्याद् विभागे न विभज्यते ॥

द्विभ्यादाद्विज्यतः प्ररनात् सन्निधयश्चननिर्णयात् ।

एवज्ञानशंसनात् वादाद् लब्धं प्राज्यधनात् च यत् ॥

विद्याधनम् तु ताम्राहुर्विभागे न विभज्यते ॥

श्लो० १२०—समः स्मृतः—“एतद्विद्यानाम्” इत्याह मनुः—

अविद्यानां च सर्वेषामीहातरपेद्रुनं भवेत् ।

समस्तत्र विभागतः स्याद्विभ्य इति धारणा ॥ (शुलवाणिः)

श्लो० १२१—निघन्धः = भाकरादौ राजादिवचं निघतग्रन्थम्—  
(शुलवाणिः)

सर्वं स्थाप्यम्—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

ग्रन्थे पितामहोपासे स्थावरे ऋद्धिर्न तथा ।

समसंतिथिमासयाते पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

श्लो० १२२—विभागभाक् = पिता के धन का भागी होता है । यह नियम विभाग के उत्तर काल में यदि सवर्णा में गर्भाधान हुआ हो, तब उपयुक्त है । विभाग से पूर्व ही गर्भाधान होने पर तो सर्व-भारु-सम भंश का भागी होता है :—

पितृविभक्तविभागानन्वरोत्पद्यस्य भाग इच्छुः (विष्णुः)

उपयुक्तं मतं शुलवाणि का है ।

श्लो० १२३—माता—इस पक्ष में कुछ विशेष बात स्थापित ने बतलाई है :—

अमुतास्तु पितुः परम्यः समानांदाः प्रकीर्त्तिताः ।

पितामहश्च सर्वास्ता मातृतुस्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

श्लो० १२६—द्रव्यं समैरंशैः—यह अन्न का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

अग्ने धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविवि ।

पश्चाद् दृश्येत यत् किञ्चित् तासर्वं समतां नयेत् ॥

श्लो० १२०—पौनर्भवः—इसका लक्षण कात्यायन ने बतलाया है :—

बलीष विहाय पतितं वा पुनर्लभते पतिम् ।

तस्यां पौनर्भवो जातो व्यक्तमुत्पादकस्य साः ॥

श्लो० १३१—गर्भे विष्णुः सहोदजः—

इसका स्पष्ट लक्षण मनुस्मृति में किया गया है :—

वा गर्भिणी संरिक्तयते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।

बोहुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥

श्लो० १३२—पुत्र प्रतिभिर्धोर्नां मध्ये दत्तक एव कल्पियुगे प्राह्य । अत एव कलौ निवर्त्तन्ते ह्यनुवृत्तौ सौनकेनोक्तम्—

दत्तोरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहाः । ( अपराकं. )

श्लो० १३५—वितर्ही—पक्षि निम्न आश्रय में ( माता च पिता च = पितरौ ) मातृ का प्रथम प्रयोग होता है; अतः पत्नी के बाद दुहिता तथा दुहिता के बाद माता, पिता इत्यादि क्रम प्रतीत होता है और विज्ञानेश्वर ने यही माना भी है तथापि यहाँ विग्रहगत वीर्यापत्त्यं विषयित नहीं है । एवञ्च पत्नी, दुहिता, पिता, माता इत्यादि क्रम समझना चाहिये । अतएव विष्णु का वचन है :—

अपुत्रधनं परम्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहित्रगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि; तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे सकुल्यगामि ।

अत एव कात्यायन का भी मत है :—

अपुत्रस्याप्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा ।

तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः प्रकीर्त्तिताः ।

पुत्राः = भ्रातृपुत्राः । किन्तु शूद्रपाणि ने अपुत्रधनं परम्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे पितृगामि.....येना ही उपर्युक्त विष्णु वचन का स्वरूप माना है ।

कुण्डूभट्ट का मत कुछ और ही है ।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितृमाता हरेद्वनम् ॥

इस श्लोक की व्याख्या में कुण्डूभट्ट का कथन निम्नलिखित है :—

“अनपत्यस्य पुत्रस्य भगं माता गृह्णीयात्, पूर्वं “पिता हरेदपुत्रस्य रिश्यम्” इत्युक्त्वात् इह ‘माता हरेदि’त्यादि । याज्ञवल्क्येन ‘पितरौ’ इत्येकशेषकरणात्, विष्णुना च—अपुत्रस्य धनं पत्यभिगामि, तद्भावे हुदितृगामि, तद्भावे पितृगामि इत्येकशेषस्यैव कृतत्वात् मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम् ॥”

यहाँ परनी का अर्थ पतिवता परनी है । अत एव बृह मनु का कथन है—

अपुत्रा जयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।

पान्येव ह्यात् तद्विण्ढं कृत्स्नमसं लभेत च ॥

अन्यथा तो सोदा को अधिकार होता है । इस पक्ष में निम्न लिखित शंख-लिखित वचन प्रमाण है :—

अथापुत्रस्य स्वर्गात्तस्य भ्रातृगामि इष्यं तद्भावे मातापितरौ लभेतां परनी वा उपेष्टा ।

श्लो० १५०—जडः = स्वधर्मकृत्ये निरुत्साहः—( शूलपाणिः )

श्लो० १५१—विभागमप्लक तर्वां का उक्तेः नारद ने किया है :—

पुषपावम्बपथनाः कुलीवं च परस्परम् ।

वगिरपथं च ये कुर्युर्विभक्तास्ते न संशयः ॥

श्लो० १६०—विवीतः = वृण आदि के निमित्त सुरचित भूमि ।

श्लो० १६१—गोमी = गोस्वामी । गो के द्वारा भक्षित धान्य की याचना में उदाना ने दोष बतलाना है :—

गोमिर्विनाशित धान्यं यो नरः प्रतिपाचते ।

पितरस्तस्य नारनन्ति न चारनन्ति द्विवीकसः ॥

( तस्य धान्यम् न भरनन्ति ) ।

श्लो० ११७—धनुः = चतुर्हस्तो धनुः । सर्वट = ग्रामादधिकः नगरान्गमनः गृहसमूह—( अपराकः )

श्लो० १—स्व लभेत—अस्यानिर्विकीर्य पदार्थ में स्वामी का स्वयं नष्ट नहीं होता है :—

अस्यामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।

अकृतः स तु विज्ञेयो भववहारे यथास्थितिः ॥

श्लो० १७१—यहाँ मनु ने विशेषता बतलाई है —

सम्भोगो हरयते यत्र न हरयेतामम क्वचित् ।

भागम कारण सत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥

श्लो० १७२—अर्थात् मकरसात्—मनु के द्वारा “शास्त्रा शब्द निधा-  
पयेत् ।” जो कहा गया है यह सुवर्णादि स्थिर वस्तुओं के विषय में है, ऐसा  
शूलपाणि का मत है ।

श्लो० १७५—ना-वये सति सर्वस्वम्—एतच्च माग्दायविभागात्,  
विमक्तदायेषु तु पुत्रेषु सर्वस्वदानमविपिद्धम्—( अपराधं )

श्लो० १७६—दावा नापहरेत्—अपहरण करने पर दोग का निर्दोष  
हारीत ने किया है ।—

प्रतिधृताऽप्रदानेन दत्तसंश्लेषेण च ।

विविधाभरणकान्याति तिर्यग्भोगो च जायते प्र

श्लो० १७७—परीक्षण के पहले दोग निकलने पर कृत्य का निर्दोष  
बृहस्पति ने किया है —

अतोऽर्थात् पण्यदोषस्तु यदि सजायते क्वचित् ।

विक्रेतु प्रतिदोष तत् क्रेता मूल्यमवाप्नुयात् ॥

मूल्य का तारपत्र है कि बिना छद्म का ही मूल्यवत्मात्र अपूर्वणीय  
होता है ।

श्लो० १८३—आमरणान्तिकम्—अत एव नारद का कथन है —

राज्ञ एव तु दास स्यात् प्रमत्तयाऽभिमितो नर ।

न तस्य प्रतिमोक्षोऽस्ति न विशुद्धि कथञ्चन ॥

द्वायेव कर्मपाण्डाली लोके दूरबहिष्कृतौ ।

प्रमत्तयोपनिवृत्तश्च वृथा प्रमज्जितश्च य ॥

‘वृथा प्रमज्जित’ का अर्थ है प्रमत्तया का अनधिकारी शूद्र यदि प्रमत्तया का  
ग्रहण करे तो उससे भी आमरण दास्य करवाना चाहिये । परन्तु प्राज्ञ के  
प्रमत्तयाव्युत्त होने पर भी दास्य विहित नहीं है । प्राज्ञ के दण्ड का निरूपण  
वृत्त ने किया है —

वारिद्या-य गृहीत्वा तु यः स्वधर्मं न तिष्ठति ।

स्वपादेनाङ्कित स-तु राज्ञः शीघ्रं विनामयेत् ॥

कारमायन कथित प्रकार भी निम्नलिखित है —

प्रमत्तयाऽवसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

निर्वास कारयेद्विप्र दासस्य चत्रविन्दुषा ॥

श्लो० १८५—इस प्रसंग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन अवधान योग्य हैं :—

राजा वेदविदो विप्रान् श्रोत्रियानग्निहोत्रिणः ।  
आकृष्य रथापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।  
निरयं नैमित्तिकं कार्यं शान्तिकं पौष्टिकस्तथा ।  
पौराणां कर्म कुर्युंस्ते सन्दिग्धौ निर्णयस्तथा ॥

श्लो० १८६—कर्म त्यक्तम् = समर्थ होकर भी कर्म नहीं करने वाला भूय ।

श्लो० १८७—दशमं भागम्—यह नियम अष्टपधमकारी भूयों के विषय में है । यदि धर्माधिक्य हो तो निम्नलिखित बृहस्पति-वचनों के आधार पर विधान करना चाहिए :—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात्सीरवाहकः ।  
भक्ताच्छादभृतः सीराज्ञागं गृह्णीत पञ्चमम् ।  
जातसस्यात् त्रिभागान्तु प्रगृह्णीयादथाऽभृतः ॥

भक्त = भोजन, आच्छाद = वस्त्र, आवास आदि, अभृतः = भोजनादि-रहित भूय ।

श्लो० १९७—भाण्डम् = यमिधनम् कुङ्कुमादिकम् ।

श्लो० २००—जेत्रे दद्यात्—यहाँ निम्न निर्दिष्ट बृहस्पति-वचन अवधान-योग्य है :—

रहो-जितोऽनभिज्ञश्च कृशाक्षैः कपटेन वा ।  
सोऽयोऽभिज्ञोऽपि सर्वस्वं जितः सर्वं न दाप्यते ॥

श्लो० २०२—सचिद् निर्वास्वाः—नारद के अनुसार चिद् का अर्थ है :—

यूटाश्चवेदिनः पावान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् ।  
कण्ठेऽप्यमाळामासज्य स क्षेपां विनयः स्मृतः ॥

यहाँ द्वितीय पाद में शूळपाणि के अनुसार “विहरेद् घृतमण्डलात्” पाठ है, न कि “राष्ट्राद्विवासयेत्” ( यह पाठ मिताचरा में है ) । विनयः = दण्ड । विष्णु के अनुसार चिद् का अर्थ निम्नलिखित है :—

यूते च कपटाश्चवेदिनां कण्ठेदः, उपधिदेविनां संदंशच्छेदः ।

उपधिः = हस्तपादों से यथेष्ट रूप में अक्ष का देवन-प्रकार । संदंश = अङ्गुष्ठ ।



यद्यपि मनु जे कहा है कि—

घृतं समाह्वयं चैव यः कुर्याद् यस्तु ऋारयेत् ।

तान्मन्त्रान् घातयेद्वाजा शुद्रांश्च द्विजकिङ्किनः ॥

तथापि यह नियम राजपुरुषानधिष्ठित घृत आदि के विषय में है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

घृतं निषिद्धमनुना सत्यशौचघनापहम् ।

सप्रवर्तितमन्यैश्च राजभागसमन्वितम् ॥

श्लो० २११—वाक्पाठप्रकरणोक्त दण्ड में हाम का कारण उद्योग ने बतलाया है :—

मोहस्य प्रमादात् संहर्षात् प्रीत्या चोक्तं मयेति यः ।

साहमेवं पुनर्घण्ये दण्डार्थं तस्य कल्पयेत् ॥

श्लो० २१२—यह दण्ड-पाठ्य का प्रकरण है । दण्ड-पाठ्य का लक्षण बृहस्पति ने बतलाया है :—

दण्ड-पाठ्येण कृणुतेर्मन्त्र-कर्म्म-पांशुभिः ।

आयुषैश्च प्रहरणं दण्ड-पाठ्यमुच्यते ॥

श्लो० १२२—समुत्थानार्थं ध्वयम्—तत्पर्यं यह है कि उस व्यक्ति का घण आदि निवृत्त जब तक होता है तब तक का सारा लक्ष्य धनकर्मी को देना होता है । अत एव कारवायन का कथन है :—

समुत्थानम्ययं चासौ दद्यादात्मनरोपमात् ॥

हस नियम के अपवाद नारद के द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं :—

अनुशास्यो गुरुणा तु न चेदनुविधीयते ।

अवधेनाथ वा हन्याद् राज्या वेणुखलेन वा ॥

भृशं न सादयेदेन नोत्तमाद्रे न चोरसि ।

अनुशास्य च विश्वात्म्यः शास्यो राज्ञाऽन्यथा गुरुः ॥

पुत्राऽपराधे न पिता स्ववान्न शुनि दण्डभाक् ।

न मर्कटे च तस्त्वामी तेनैव प्रहृतो नु चेत् ॥

अवधेन = अहिंसया ।

श्लो० २२८—चैत्यः = मनोहर स्थान—( अपराकः ) चैत्यः उद्देशवृत्तः—

( शूलपाणिः )

श्लो० २२९—यहाँ विष्णु का वचन अवधान देने योग्य है :—फलोपभोग-द्रुमच्छेदी तूतमसाहस दण्डवः । पुष्पोपभोगच्छेदी मन्वयम् । चण्डीगुल्मल-ताच्छेदी कार्पाण-धतम् । पुणच्छेद्येकम् ॥

श्लो० २३९.—साक्षिणाम्—जो व्यक्ति विरोध का समाधान करने में समर्थ होकर भी ईर्ष्या द्वेषादि के कारण समाधान नहीं करता है अपि तु पिता-पुत्र के विवाद में साक्षित्व को स्वीकार करता है, उस वर्ग के लोगों के लिए 'त्रिपलो दमः' कहा गया है। यह नियम भी मध्यम अपराध के लिए है। यदि अपराध अधिक हो तो निम्न-लिखित विष्णु के वचन के अनुसार दण्ड करना चाहिए :—

पितृ-पुत्र-विरोधसाक्षिणां दण्डपलो दण्डः ।

पस्तथोरन्तरे तस्योत्तमसाहसो दण्डः ॥

श्लो० २४१—नाणकपरीक्षो = टटक-परीक्षक । यहाँ निम्न-निर्दिष्ट गृहस्पति-वचन को देखना चाहिए :—

अदपमूर्ख्यं तु संस्कृत्य नयन्ति बहुमूढयताम् ।

स्त्रीबालकान् वञ्चयन्ति दण्डयास्तेऽर्धानुरूपता ॥

हेम-मुक्ता प्रबालाद्यं कृत्रिमं कुर्वते तु ये ।

केत्रे मूर्ख्यं प्रदाप्यास्ते राजा तद्विद्विगुणं दमम् ॥

श्लो० २४२—तिर्धनु = गो आवि पशुओं के विषय में :

श्लो० २४९—कारुः = तन्तुवाय । सम्भूय = राजा की अनुमति के बिना ही अपने वर्ग में मिलकर ।

श्लो० २५२—सद्यः—इससे यह स्पष्ट है कि बिलम्ब होने पर यह नियम नहीं है। इसी का प्रपञ्च अप्रिम श्लोक में किया गया है, जिससे अभयस्या नहीं हो जाय ।

श्लो० २५४—विष्णु के अनुसार विक्रीयासम्प्रदान में दण्ड भी निर्दिष्ट है :—

गृहीतमूर्ख्यं या पण्यं मेतुर्नैव दद्यात् तस्यासौ

सोदयं दाप्यः राजा च पण्यतं दण्डयः ॥

श्लो० २५५—अत एव नारद का भी कथन है :—

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः कथी ।

स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छतः ॥

श्लो० २५९—यहाँ समवाय में प्रतिपिद् सथा विहित व्यक्तियों का निर्देश गृहस्पति ने किया है :—

अशकालमरोगार्चमन्वभाम्य-निराश्रयैः ।

वागिज्यायाः सहैतैस्तुः न कर्षन्था उपैः क्रियाः ॥

कुलीनदधानलसै प्राज्ञैर्नाणकवेदिभि ।

भायव्ययज्ञै शुचिभि शूरै कुर्यात् सह क्रिया ॥

निराधर्यै = मूलधनहीन व्यक्तियों के साथ ( नहीं करना चाहिए )  
 खाभाऽलाभी यथाद्भवम्—अत एव नारद का कथन है —

फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम् ।

भाधारभूता प्रपेया उत्तिष्टेरस्ततोऽशत ॥

समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्राज्ञो यस्य पादश ।

स्योऽस्यौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधा ॥

उभ सभों में परस्पर विवाद उपस्थित होने पर निर्णय का प्रकार  
 बृहस्पति ने बतलाया है —

परीक्षका साधिणञ्च त एवोक्ता परस्परम् ।

सन्दिग्धेऽर्षेऽपञ्चनीया न चेद्बिद्वपसयुता ॥

य कश्चिद्ब्रह्मकस्तेषां विज्ञात मय विक्रये ।

सपथै स विज्ञोभ्य स्यात् सर्ववादेभ्य विधि ॥

श्लो० २६०—इक्ष्माशभाक्—इक्ष्म अन्न तो रक्षा कार्य के पुरस्कार के  
 रूप में देकर शेष में यथोचित भक्षण का भागी होता है । अत एव बृहस्पति का  
 कथन है :—

द्वैवराजभयाद् यस्तु स्वज्ञस्या परिपालयेत् ।

तस्यांश इक्ष्म दद्यात् शूरीयुस्तेऽशतोऽपरम् ॥

श्लो० २७७—प्रमापणम् = हत्या ।

श्लो० २७९—गोभि प्रमापयत् = तापणश्रुत बलीवर्द्ध के द्वारा मरवाना  
 चाहिए । अपराङ्ग न तो गोभि प्रवासयेत् पाठ मान कर 'बलीवर्द्धनाशोप्य  
 देसाद्वि कुर्यात्'—ऐसा अर्थ किया है ।

श्लो० २८४—समहण के तीन भेद का निर्देश बृहस्पति ने किया है —

बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम् ।

तत्पुनस्त्रिचिद्यग्रोक्त प्रथम मप्यमोचमम् ॥

अनिश्चयनया यत् क्रियते सुतो-मत्त प्रमत्तया ।

रदसि प्रलपन्त्या वा बलाकारकृत तु तत् ॥

सुध्रनः शूह्रमानीय दद्यात् वा मद्यकार्मणम् ।

सयोग क्रियते यस्या तदुपाधिकृत विदु ॥

अ-यो य चक्षुराग्रेण सूतीसग्रपणेन च ।

कृतं रूपार्थलोभेन ज्ञेयं तदनुरागजम् ॥  
 धपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दृतीसंग्रेषणन्तथा ।  
 स्पर्शो भूषण वस्त्राणां प्रथमः संग्रहः स्मृतः ॥  
 प्रेषणं गन्धमाद्यानां फलमत्यल्लवाससाम् ।  
 सम्भाषणं च रहसि मन्व्यमं संग्रहं विदुः ॥  
 एकदाद्यासनं क्रीडा जुग्धनालिङ्गने तथा ।  
 एतसंग्रहणमप्रोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः ॥

श्लो० २९१—प्रसङ्ग दास्यभिगमे—परदासी हठादमित्यल्लतो वक्षपणी  
 दण्डः—( अपराकः )

श्लो० २९४—कुबन्धेन—यहाँ अपराकं तथा शूलपाणि ने 'कबन्धेन' पाठ  
 साता है और इसका चिरोरहित पुष्प के आकार का ध्वज अर्थ किया है ।

अर्नशास्त्रानुसारेण प्रयित्तेयं ययामति ।

दिव्यणी याज्ञवल्क्योक्त-व्यवहारे समापिता ॥



## प्रायश्चित्ताध्याय

श्लो० १—ऊनद्विवायिकम्—यह नियम चूदाकरणहीन शिशु के छिद्र है। यदि तु प्रथम वर्ष में ही चूदाकरण हो जाता है, अथवा शिशु की मृत्यु होती है तो यहाँ बिना मन्त्र से ही अग्नि संस्कार तथा उदक-दान करना ही चाहिए। अत एव औगापि का कथन है :—

तूष्णीमेवोदकं कुर्यात् तूष्णीं संस्कारमेव च।  
सर्वेषां कृतचूदानामन्दप्रापीच्छ्रया द्वयम् ॥

अधिक विवरण तो मिताक्षरा में ही दिया गया है।

प्रेत-निर्हरण में दिता का नियम भादिपुराण में बतलाया गया है :—

पूर्वामुत्तस्तु भेतभ्यो द्राक्षणो बन्धवैर्गृहात्।  
उत्तराम्भिसुखो राजा वैश्यः पश्चाम्मुत्तस्तथा।  
दक्षिणाऽभिसुखः शूद्रो निर्हर्त्तव्यः स्वबन्धवैः ॥

श्लो० २—वमसूक्तम्—‘परेषिवांसम्’ इत्यादि सूक्त ( ऋग्वेद ७।१।१४ )। वम-भाषा—नाके सुपर्णम् इत्यादि मन्त्र ( ऋग्वेद ७।३।११ )।

श्लो० ३—कामोदकम्—अत एव पारस्कर का भी कथन है :—‘कामो-  
दकम् ऋग्विष्णु-रक्ष्य-ससि-मातुल भागिनेवानाम्’।

श्लो० ५—सकृत्प्रसिद्धमित—यह उदक प्रेत को प्राप्त होता है। अत एव रामायण में कहा गया है :—

इदं पुरुषशार्दूल विमलं दिव्यमक्षयम्।  
दितुल्लोकेषु पानीय महत्तमुपतिष्ठताम् ॥

सकृत्—शिशु का भी विधान शास्त्र में है :—

प्रेतं मनसा ध्यायन् दक्षिणाऽभिसुखः प्रीन् उदकाश्रुत्कीन् निनयेत्—( वैदो-  
नसि।

अतः विकल्प मानना चाहिए। न ब्रह्मचारिणः—यह उपलक्षण है।  
अत एव बृहस्पति ने कहा है—

वैदिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।  
नाऽऽशीर्षं सूतके प्रोक्तं क्षावे वाऽपि तथैव च ॥

श्लो० ८—मानुष्ये कदली—यह उपलक्षण है। यथासमय उपरेण  
देकर संस्कर्ता को शान्त करना चाहिए।

श्लो० १६—श्रीत-लब्धाशना—यहाँ निम्नलिखित बृहस्पति-वचन दृश्य है —

अथ घटपासना दीना मलिना भोगवर्जिता ।

अपार लवणाग्ना स्यु लब्धक्रीताशनास्तथा ॥

श्लो० १८—शिरात्र दक्षरात्र वा—ये दोनों पक्ष क्रमशः सकुश्व अथवा समानोदक एवं सपिण्ड के लिए हैं । अतः एव बृहस्पति का वचन है —

दक्षादेन सपिण्डास्तु शुष्यन्ति प्रेत सूतके ।

शिरात्रेण सकुश्यास्तु रनात्वा शुष्यन्ति गोत्रजा ॥

इसका सम्बन्ध केवल ब्राह्मण से है । अग्निवादि के लिए अन्नस्य द्वावशा-  
हानि भावि श्लोक में बतलाया जावना ।

श्लो० २०—शेषाहोमि—अतः एव बृहस्पति का भी मत है —

आशौचे वर्तमाने तु पुनर्दाहक्रिया यवि । तच्छेषेणैव शुद्धिं स्यात् \* ॥

अधिक विवेचन के लिए धर्मशास्त्र नियन्ध दृश्य हैं ।

श्लो० २७—नाशौचम्—परन्तु मनु आदि ने सद्यः शौच माना है —

राज्ञो माहारिमके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।

प्रमाना परिरक्षार्धमासन चात्र कारणम् ॥

द्विभाहवहतानाञ्च विधुता पार्थिवेन च ।

गो ब्राह्मणस्य चैवार्थं यस्य चेच्छुक्तिं पार्थिव ॥

बृहस्पति का भी यही मत है —

राजान् श्रोत्रियाञ्चैव सद्यः शौचाः प्रकीर्तिता ।

द्विभाहवे विधुता च राज्ञा गोविप्रपालने ।

सद्यः शौचं हतस्माद् उपहृत्वा-ये महर्षेण ॥

श्लो० ३५—आपत्काल में भी ब्राह्मण को शूद्र वृत्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिए । अतः एव बृहस्पति का कथन है —

अशौचं कर्मणा रक्तं विप्रं च यत्र समाधयेत् ।

वैश्यकर्मार्थवा कुर्यात् वापलं परिवर्जयेत् ॥

पाषाणिका—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति का मत भी निम्नलिखित है —

लब्धं कामं पितृन् देवान् ब्राह्मणाञ्चैव भोजयेत् ।

तं सुष्टास्वस्य तं बोधं धामयन्ति न सद्यः ॥

श्लो० ४८—दान्त = द्योतातपादिदुःखसिद्धिषु —( शूलपाणि )

अनिषिद्धोद्यम, सृष्टावादादिरूप उच्यते —( भवराजः )

श्लो० ५४—वानप्रस्थगृहेषु—यदि सम्भव हो तब । अथवा निम्नलिखित मनुस्मृति के अनुसार भिषाहरण करना चाहिये :—

तापसेध्वेव विप्रेषु याधिकं भैषमाहरेत् ।  
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥

श्लो० ५५—मुञ्जीत चाग्यताः—यहाँ भी निम्न निर्दिष्ट मनु-वचन ग्रहण है :—

प्राग्गदाहाय वाऽऽरणीयावष्टी प्रासात् वने वसन् ।  
प्रतिगृह्य पुरेमेव पाणिना शकलेन वा ॥

वायु-भक्षः—वायुपद जल का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

आनिपाताच्छरीरस्य युक्ते वार्यनिकाशनाः ॥

श्लो० ५६—नश्यदा—अत एव मनु ने कहा है :—

अनधीत्य द्विजो वेदानुत्पाद्य तथा सुतान् ।  
भगिष्ठा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् मज्जयन् ॥

श्लो० ५८—शिक्षणी—इसका विशेष विवरण भरसिंहपुराण के निम्न-लिखित श्लोकों में देखना चाहिये :—

शिक्षणं वैभव सौम्यं सत्त्वचं समपूर्वकम् ।  
वेदितं कृष्णगोवाकरज्जवा च चतुरङ्गुलम् ॥  
प्रन्धिभिर्वा विभिर्युक्तं अकृपूतेन चोपरि ।  
गृह्णीयात् दक्षिणे हस्ते मन्त्रेणैव तु मन्त्रवित् ॥

श्लो० ६०—संबसवस्य-विनिर्मित-भिषा-पात्र की विन्दा पत्र के की है :—

मुवर्णरीप्यपात्रेषु तास्रकास्यामसेषु च ।  
भिषादातुर्न धर्मोस्ति ग्रहीता नरकं व्रजेत् ॥

विशेष विवरण के लिए भरसिंहपुराण के निम्नलिखित श्लोक ग्रहण हैं :—

ततो निवृत्त्य तत्पात्रं संस्थाप्याचम्य संयमी ।  
चतुरङ्गुलैः प्रपाद्य प्रासमात्रं समाहितः ॥  
सर्वभ्यङ्गनसंबुक्तं पृथक्पात्रे निवेदयेत् ।  
सूर्यादिवेवभूतेभ्योऽप्य द्वाऽङ्गं प्रोक्ष्यवारिणा ॥  
अञ्जीत पर्णपुटके पात्रे वा चाग्यतो यतिः ।

वटाकाचर्यपर्णेषु कुम्भी तिन्दुकपर्णयोः ।  
 कोविदारकरञ्जेषु न मुञ्जीत कदाचन ॥  
 समलाः सर्वे उत्पन्ते यतयः कांस्य-भोजिनः ।  
 कांस्यकस्य तु यस्यापं गृहस्यस्य तथैव च ॥  
 कांस्य-भोजी यतिः सर्वं प्राप्नुयात् किविपं तयोः ।  
 भुवश्वा पात्रं यतिर्नित्यं चालयेन्नन्त्रपूर्वकम् ॥  
 न बुभ्येतास्य तस्यायं यज्ञेषु चमसा इव ॥ इत्यादि ।

श्लो० ६७—महा-पुराण में भी कहा गया हैः—

एकस्मादेव चैतन्याऽजातः चैत्रज्जातयः ।  
 लौहज्जलनसंदीप्ता मरीचय इवोद्भूताः ॥

इसके अतिरिक्त भृतिसदस्य इसका समर्थक है ।

श्लो० ७०—“तस्मादेतरमाद्वा भामन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः”  
इत्यादि धृति इसके प्रमाण है ।

श्लो० ७४—भादिमिच्छतः—अत एव धृति भी कहती है :—“तदैषत  
पद्भुवो प्रजापेय” इत्यादि ।

श्लो० ७५—मास्यर्तुदं द्वितीये तु—यहाँ सुधुतसंहिता की उक्ति  
प्रष्टव्य है :—

“द्वितीये मास एव हि गर्भस्य सम्भवतः पूर्वं शिरः  
 समवतीत्याह सौनकः, शिरोमूलत्वाद् देहेन्द्रियाणाम् ।  
 पाणि-पादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वात्पेक्षायाः गर्भस्य ।  
 नाभिरिति वाराहमिहः, सप्तो हि वर्धते येहो येहिनः ।  
 हृदयमिति कृतधीर्यः, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् ।  
 मध्य-शरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात् ।  
 सर्व-गात्रस्य सर्वाङ्गानि युगपरसम्भवन्ति” इति ( धन्वन्तरिः । )

श्लो० ७९—क्षोपम्—अत एव धृति भी है :—

“दीर्घदाऽशानात् काणं कुम्बं धाममं वा जनयति, तस्मात्सा पश्चिच्छेत्-  
चरथै मक्षपयेत्, वीर्यवन्तं पिरायुषं जनयति” ।

श्लो० ८४—पट् त्वचो धारयन्ति—सुधुतसंहिता आदि में तो सात  
वेषाभो का निर्देश है । उनके नाम हैं—भवभासिनो, रोहिता, रथेता, ताम्रा,  
वेदिनी, रोहिणी, वंसपरा ।

श्लो० ११७—भामनस्तु जगत्सर्वम्—इसमें निम्न-लिखित धृति  
प्रमाण है :—



“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति \* \* \* \* \* आनन्दा-  
दवेव सखिमामि भूतानि जायन्ते ” इत्यादि ॥

श्लो० १२६—१२८—इन श्लोकों में पुरुषसूक्त के अर्थ का ही समग्रण  
किया गया है ।

श्लो० २१५—मित्री = सखेत्कुलवान् ।

श्लो० २१८—कर्म विचार का विवरण मनुस्मृति के आहरणें अध्याप  
में भी देखना चाहिए ।

श्लो० २२६—भ्यवहार्यस्तु—यहाँ मनु का मत निम्न लिखित है —

अकामस कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्मुखा ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिर्देशनात् ॥

श्लो० २२८—इनमें से वेदनिम्वा, मुद्गद्वध तथा अधीतनाशन को  
मनु ने सुरापान सम माना है —

ब्रह्मोऽस्तस्य वेदनिम्वा कौटसाचय मुद्गद्वध ।

गर्हितानाद्ययोर्जनिषु सुरापानस्यमानि षट् ॥

श्लो० २२९—जैह्वम्यसुकर्षे च वचोऽमृतम्—इन दोनों को मनु ने  
ब्रह्महाया सम माना है —

अमृतं च समसुकर्षे राशगामि च पैशुनम् ।

गुरोर्ब्राह्मीकनिर्बन्ध समानि ब्रह्महायया ॥

श्लो० २३४—२४२—इनका निर्देश मनुस्मृति के अध्याय-३१, श्लोक-  
५९—६६ तक किया गया है ।

श्लो० २५३—यह प्रायश्चित्त कामकार कृत सुरापान के लिए है । अत  
एव बृहस्पति का कथन है —

सुरापाने कामकृते ष्वल-तीं तां विमि क्षिपेत् ।

मुखे तथा स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

श्लो० २५४—यह प्रायश्चित्त अमुद्धिपूर्वक सुरापान के लिए है, एवं  
प्रायश्चित्त का विकल्प नहीं है । इसका कारण यह है कि सुश्रुता रहने पर  
ही विकल्प हो सकता है । यहाँ पर पूर्वोक्त प्रायश्चित्त तथा इस प्रायश्चित्त में  
सुश्रुता नहीं है अतः विषय-भेद मानना आवश्यक है ।

श्लो० २५५—पुनः संस्कारम्—इसका मूल निम्न लिखित मनु-वचन में  
देखना चाहिए —

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।

तस्य भ्यपैति ब्रह्मण्यं क्रूदस्य च स गच्छति ॥

श्लो० २२६—आयस्या योपिता—इसे भी सन्तुष्ट ही होना चाहिए ।  
अत एव मनु का कथन है —

सूर्मां ऽवलम्बोँ स्वाशिल्येत् मृशुना स विशुद्वयति ।

श्लो० २२१—अत एव मनु ने भी कहा है :—

हुष्टार प्राक्षणयोक्त्वा स्वकारं च शरीयसः ।

स्नात्वाऽनश्नञ्च ह शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥

साद्यपित्वा तृणेनापि कण्ठे चावस्थ वाससा ।

विवादे वा विनिर्झिय प्रणिपाद्य प्रसादयेत् ॥

श्लो० २२८—कृतप्रसहितान्—

इस प्रसन्न में स्कन्ध-वमाण के वचन द्रष्टव्य हैं —

प्रहृष्टे च सुराये च शौरे च गुरुतक्षणे ।

निष्कृतिर्विहिता सन्नि कृतप्ने नास्ति निष्कृति ॥

कृतप्र का विवरण भी यहीं दिया गया है :—

भर्तृपिण्डोपहर्ता च पितृपिण्डोपहारकः ।

गुरोर्गृहीत्वा पिता च दक्षिणा यो न पश्यति ॥

न पश्यति = गुरु के द्वारा दक्षिणा की याचना करने पर भी जो दक्षिणा नहीं देता है ।

पुत्रान् स्त्रियञ्च यो द्वेष्टि पञ्च तान् घातयेच्चरः ।

कृतस्य शोष पश्यति स्वयं कामात् करोति न ॥

न स्मरेच्च कृत यस्तु भाक्षमाभ्यञ्ज दूषयेत् ।

सर्वास्तानुपिभि सार्धं कृतज्ञानम्वरीभ्यनु ॥

ह्यपमाचार्यवचन विभास्य विविधोदितम् ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ लक्ष्मी टिप्पणी रचिता मया ॥

गुलपाण्यपराकीं च वीरमित्रोद्यस्तथा ।

याळम्हीदा च विपुला व्याख्या अस्याः स्मृते स्थिताः ॥

ताभ्यः तथाऽन्वतः प्राप्त सार मानवमेव च ।

निबद्धयत्र विधेदाराधनापैव केषलम् ॥ ३ ॥

सिन्धुर्तुप्रहृच्चन्द्राक्षये स्त्रिस्तान्दे यापिता स्वियम् ।

नारायणेन मिथेज कार्या विश्वेऽसन्निधौ ॥ ४ ॥

इति धीनारायणमिथ संप्रयिता याज्ञवल्क्यस्मृतिटिप्पणी समाप्ता ।

## पद्यार्थानुक्रमणिका

श्लोका	श्रुतम्	श्लोका	पृष्ठम्
अ		अतीतायामप्रजसि	३०२
अकामतं कामचारे	३१५	अतीतार्थस्मृतिः कस्य	४०६
अकारणे च विक्रोष्टा	३५७	अतो न रोदितम्य हि	४०१
अकार्यकारिणां दान	४-९	अतो यतैत तत्प्रापयै	१५५
अकूटैरादुर्धैर्यान्ति ते	१४५	अतो यदामनोऽप्यय	४४८
अकूट कूटक मूले	३५६	अग्राहममुक साची	२३७
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च	४४०	अथवाप्यभ्यसम्बेद	४९१
अक्षता कता चैव	९७	अश्वादाननिरत	४३१
अक्षतायां क्षतायां वा	२८६	अश्वाभ्यग्निहीनस्य	७०
अक्षताख्यकक्षोणी	४५७	अश्वद्वि समाप्नोति	१५८
अक्षयोऽथ विधी राज्ञां	१४२	अदीर्घसूत्र स्मृतिनात्	१३९
अक्षिकर्णचतुष्क च	४६०	अदुष्टा तु त्यजन्वन्द्यो	२६
अगृहीते सम दाप्य तु	३८३	अदेशकालसभाप	३७०
अगृहीते सम दाप्यो भू	३३४	अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभि	९
अग्निकार्यं तत कुर्यात्	११	अधर्मवन्दन स्वर्ग	१५७
अग्निदानां च वे लोका	२२७	अधिविघ्नश्चैव दद्यात्	३०५
अग्निजलं वा युद्धस्य	२४५	अधिविघ्ना तु भर्तृभ्या	२९
अग्निवर्णं -यसेरिण्ड	२५४	अधीतवेदो जपकृत्	४४२
अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा	४४१	अध्याप्याधर्मत साधु	३१
अग्ने सकाशाद्भिर्माग्नौ	१४२	अध्यापानामुपाकर्म	६३
अग्नी करिष्यन्नादाय	१०६	अध्वनीनोऽतिविर्ष्य	५०
अग्नी सुवर्णमचीण	३२६	अमग्नममृत चैव	४८
अम्य सर्वेषु वेदेषु	९८	अनन्ता रमयस्तस्य	४८१
अज शरीरमहणात्	४५०	अनन्ताश्च यया भवा	४३०
अजाती जातिकरणे	३५८	अनन्यपूर्विकां कान्तां	१९
अजाधयोर्मुख मेध्य	८८	अनन्यविषय कृत्वा	४६४
अज्ञानात्तु सुरां पोरवा	५३२	अनभिक्षातदोपरतु	६१५
अत शृणुष्व मांसस्य	७८	अनचितं नृयामास	७२
अत ऊर्ध्वं पतत्येते	१५	अनाख्याय दूदरोप	२६
अतिधिं श्रोत्रिय वृक्ष	५०	अनादिराप्ता कथित	४६६
अतिधित्वेन वर्णानां	४८	अनादिराप्ता सभृति	४६८

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अनादिरादिमाक्षैव	४८५	अन्यत्र जुष्टराज्ये	९६
अनादिष्टेषु पापेषु	६३६	अ-यथावादिनो यस्य	१२२
अनाशकानलापात्	४०३	अन्यदस्ते च विधीय	३६२
अनादितामिता पन्थ	५०९	अ-यायेन नृपो राष्ट्रात्	१५१
अनिप्रदाश्चन्द्रियाणां	४९३	अन्येऽपि तद्व्या प्राज्ञा	३९८
अनिन्देषु विवाहेषु	३९	अन्धोद्वर्गस्तु तपुश्चो	३९८
अनिपद्यप्रलापी च	४३१	अन्धो-चापहत इत्य	२८२
अनियुक्तो भाद्रजाप	५८५	अ-विता याम्यथरित	५०७
अनिपेक्षितविज्ञातो	१९८	अपनः सांशुषुदपम्	३९४
अनिपेक्ष नृपे दण्ड्य	३२१	अपरान्तःकमुद्रोप्य	४६४
अनिपेक्ष नृपे दण्डयेत्	५३०	अपराक्षे समभ्यर्ष्य	१०३
अनिधित्य भूति यस्तु	३३५	अपक्षात्पिनः कथान्	४९२
अनुगम्याभसि स्त्राज्ञा	४२२	अपश्यता कायवन्नात्	१६५
अनुपाकृतमास्तानि	७५	अपस्य ततः कृत्वा	१०४
अनृत तु पृथग्दण्डया.	३०९	अपहृता इति तिलान्	१०५
अनेकपितृकाणां तु	१७६	अपि भाता सुताऽप्यो वा	१५७
अनेन विधिना ज्ञाता	१०	अपुत्रां गुर्वनुज्ञाता	९७
अनेन विधिना दद	१८	अपुत्रा योपितक्षैर्षा	३०१
अनेन विधिरावयात्.	३६६	अपुत्रय परचद	२८३
अनीरक्षेपु पुत्रेषु	४२१	अपजयीधन भर्तु	३०२
अन्तरा जन्ममरणे	४०९	अप्रणोद्योऽतिथि साय	४८
अन्तरा पतिते पिच्छे	२५६	अप्रनुक्षं शिष्य हत्वा	५३०
अन्तरे च तपोर्षाः स्यात्	३५५	अप्रमत्तक्षरेक्षे	४४५
अन्तर्जले विद्युद्वत्	६३६	अप्रयच्छन्समान्जोति	५५
अन्तर्जानु शुची वैश	८	अप्राप्त्यवहार च	३९७
अन्तर्धान स्मृति कान्ति	४९०	अक्षालदृष्टेनासीत्	४३०
अन्तर्धानी पुष्ट्रास्त	३३०	अवन्त्य यश्च यज्जाति	३५७
अभ्यजैगर्वभेकश्चे	१२७	अवभषो मासमासीत्	५८४
अन्यपरिधिरधापरता	४००	अयुषि-ह नर सायय	३२८
अन्याभिगमने त्वद्व्य	३८४	अन्दित्रानि जवेऽचय	४२६
अन्धोऽचिकित्सयरीगाद्या	३००	अमभ्येण द्विज दृष्य	३८५
अथ पपुषित भोज्य	७३	अमातं ज्ञातयस्तेषा	३२
अ-न भूमौ असाण्डाल	३६	अमावे ज्ञातुचिदानां	३१०
अन्य पितृमनुष्येभ्यो	१४७	अभिगमतास्ति भूमिर्नी	३४१
अप्रमादात् तृष्ठा रथ	१०९	अभिधाते तथा पुत्रे	३४९
अप्रमिष्ट इविष्य च	१०८	अभियुक्त च नान्वेन	१७५
अथहर्तामयायी स्यात्	४९४	अभियोगमनिस्तोर्व	१७४

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अभियोगोऽथ साद्ये वा	१०८	अर्घोऽधमेषु द्विगुणः	३४१
अभिरम्यतामिति वदेत्	११४	अर्वाक् चतुर्दशादहो	२६२
अभिलेख्यात्मनो वश्यान्	१४३	अर्वाक्संयत्सरास्वामी	३२१
अभिशास्तो मृपा कृच्छ्रं	५८५	अर्वाक्सपिण्डीकरणं	११८
अभ्रातृको हरेत्सर्वं	२८९	अलकृतां हरन्कन्यां	३५९
अमावास्याऽष्टका वृद्धिः	९७	अलम्भर्माहेद्भ्रमं	१४२
अमेध्यपारिणिनिष्टयुत	३४५	अयङ्कीर्णां कुण्डगोलौ	९९
अमेध्य शयशूद्रान्पथ	६६	अयकीर्णा भवेद्गोष्वा	५७८
अमेध्यात्तस्य मृचोयैः	८६	अयटश्चैवमेतानि	४५८
अम्बुदः शूद्राणां निपादो	४०	अवरुद्रासु दासीषु	३८१
अय तु परमो धर्मः	५	अविज्ञातहतस्यःशु	३७५
अयं मे वज्र इत्येवं	६१	अविष्णुतद्रह्यर्चयः	१९
अयमेवातिकृच्छ्रः क्वाव	६३०	अविष्णुतमतिः सम्यक्	४७९
अयनं देवलोक च	४८८	अविभक्तैः कुटुम्बार्थं	२०४
अयाचितादृत प्राणम्	९६	अवीचिमन्धतामिच्छ	५००
अयाचिताशी मित्तभुक्	४९१	अर्वांराष्ट्रीस्वर्णकार	७१
अयुक्तं द्वापथं कुर्वन्	३५४	अवेपथ्य गर्भवासाश्च	४४७
अयोनी गच्छतो योर्षा	३८४	अस्यक्तमात्सा चेत्तुः	४८४
अरथ्यमाणाः कुर्वन्ति	१५०	अदास्तस्तु वदन्नेव	६४३
अरण्ये निर्जले देशे	४५४	अक्षीतिभागो वृद्धिः क्वात्	१९९
अरण्ये नियतो अप्वा	५२३	अक्षमेधफलं तस्य	६४१
अराजदैविक नष्ट	३३६	अक्षररत्नमनुष्यस्त्री	५०६
अरिर्मित्रमुदासीनो	१५२	अक्षस्थानाद्गजस्थानात्	१२९
अरोगामपरिविहृष्टा	९४	अक्षानायुश्च विधिवत्	१२४
अरोगिणीं आतृमतीं	९०	अष्टमे मास्यतो गर्भो	४५५
अरोगित्वं यशो वीत	१२४	अष्टौ अणुणि सीत्से च	३२६
अर्कः पलाशाः खदिरः	१३६	असच्छास्त्राधिगमन	५०९
अर्घप्रक्षेपणाद्द्विदश	३६४	असत्कार्यरतोऽधीरः	४७२
अर्घस्य द्वासं वृद्धि वा	३५९	असत्स-तस्तु विज्ञेयः	४२
अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यं	३६०	असंयद्कृतश्रं	१९५
अर्यान्नेपातिप्रमकृत्	३५३	असष्टष्टपि वाऽऽद्यात्	१९८
अर्याश्चं विदुषाश्चैपु	११४	अससृतास्तु सत्कार्याः	२०९
अर्थशास्त्रात्तु बलवत्	१८३	असाधिकहते चिद्धैः	३४५
अर्थस्य सचयं कुर्यात्	४३८	असिपत्रजनं चैव	५००
अर्थानां छन्दतः सृष्टिः	४९१	अस्कृष्टमभ्ययं चैव	११२
अर्धत्रयोदशपणः	३१७	अस्थिमतां सहस्रं तु	५००

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अग्नेहा अपि गोधूम	७३	आत्मा गृह्णात्यजः सर्वे	४५३
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं	६८	आ दन्तजन्मनः सद्यः	४१७
अहंकारः स्मृतिर्मेधा	४८३	आदातुश्च विशुद्धपथं	५२३
अहंकारश्च बुद्धिश्च	४८४	आदित्यस्य सदा पूजां	१३४
अहंकारेण मनसा	४८०	आदिमप्यावसानेषु	१२
अहःशेषं सहासीत	५०	आद्यौ तु वितथे दाप्या	२११
अहस्येकादशे नाम	६	आधयो व्याधयः नलेशाः	४४७
अहस्वत्तकन्यासु	४१८	आधानं विक्रयं यापि	३५८
अहिंसा सत्यमस्तेयं	५४	आधिः प्रणखेदद्विगुणे	२१५
अहित्ता स्तेयमाधुयं	१२४	आधिवेदनिकायं च	३०१
अहो मासस्य पञ्चा वा	४३८	आपिसीमोपनिषेप	१८९
		आधिस्तु भुज्यते तावत्	२३९
आ		आधेः स्वीकरणासिद्धिः	२१७
आकाशपवनऽप्योतिः	४८२	आधौ प्रतिग्रहे क्वीते	१८६
आकाशमेकं हि यथा	४७४	आप्यादीनां विद्वत्तरि.	१८९
आकाशात्प्राथम्यं स्त्रीष्वयं	४५३	आत्मीय विमसर्वस्यं	५१०
आकृष्येन इमं देवाः	१३९	आपन्नतः संप्रगृह्णन्	४३४
आगमस्तु कृतो येन	१५३	आपद्यपि हि कदाप्या	४२३
आगमेनोपमोगेन	३९०	आपोशनेनोपरिहाय	४८
आगमेऽपि ब्रह्मं वैव	१९२	आपोशानकियापूर्वं	१३
आगमोऽभ्यधिको भोगात्	१९०	आमानयोऽथ हृदयं	४५९
आ गर्भसंभवाद्गृह्येत्	२७	आ मृतयोः श्रियमाकाङ्क्षन्	९७
आगामिभद्रनृपति	१४३	आयुः प्रजां धनं विद्यां	१५५
आचम्यान्वादि सलिलं	४०१	आयुष्कामस्तथैवायुः	५२७
आचरेत्सदृशीं वृत्तिम्	५४	आशमायतनप्राप्त	२११
आचान्तः पुनराचम्य	८९	आरोग्यबलसंपन्नो	१३८
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च	१२०	आश्रयां गत्या तयाऽगत्या	४८२
आचार्यपत्नी स्नानुतां	५००	आर्द्धवासास्तु हेमन्ते	४४७
आचार्यपिशुपाध्याया	४०३	आवाहनाप्रोक्षण	११३
आचार्योपासनं वेद	४७८	आवाहयेदनुज्ञातो	१०३
आर्द्धीचःश्चेच्छया दुण्ड्यः	२२२	आवाह्य सद्नुज्ञातो	१०४
आज्ञासंपादिनीं वृषां	३०	अग्नेदयति पेट्याये	१६६
आ वृत्तेस्तु पवित्राणि	१०८	आशुदेः संप्रतीक्ष्यो हि	३०
आत्मज्ञः शौचवादान्तः	४७२	आत्मज्ञानात्तुल्य	३९२
आत्मतुल्यं सुवर्णं वा	४०५	आपोऽज्ञादा द्वाविंशत्	१५
आत्मनस्तु जगत्सर्वं	४९६	आसुरो द्विगणाद्यनात्	२५
आत्मनोऽर्थं कियारम्भो	५०५		

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
वास्तिक ध्रुवधानञ्च	१२४	उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु	२८७
भाहरेद्विधिवद्द्वारान्	२९	उदकयाशुचिभि स्नायात्	४२६
भाहुःप्याप्यायते सूर्यं	४५१	उदकयास्पृष्टसमुष्ट	७३
बाहुतश्चाप्यधीयीत	११	उदर च गुदौ कोष्ठयौ	४५९
इ		उदुम्बर समी दूर्वा	१३६
इच्छता त क्षणाच्छुद्धि	४०२	उद्गूर्णे प्रथमो दण्ड	३४७
इज्याचारदमाहिसा	५	उद्गूर्णे हस्तपादे तु	३४६
इज्याभ्ययनवानानि	५२	उदन्नूप्यस्वति च श्लेषो	१३६
इक्षरेण निधौ लब्धे	१९८	उपबिद्धारिक्वौ बाहु	४५९
इति सच्चिन्म नृपति	१५८	उपजीभ्यदुमाणा च	३५१
इति सध्याय गच्छेद्यु	४०१	उपजीभ्य धन मुह्यन्	३८८
इतिहासास्तथा विद्या	१७	उपतिष्ठतामप्यस्थाने	११४
इत्युक्तबोक्त्वा प्रिया वाच	१११	उपनीय गुरु क्षिप्य	७
इत्युक्त्वा चरता धर्म	२४	उपनीय द्रवद्रव	१४
इत्येतद्विधेर वप्सं	४६२	उपपातकजातानाम्	६२०
इदमूचुर्महाभान	६४०	उपपातकयुक्ते तु	३४३
इन्द्रियाणि मन प्राणो	४५२	उपपातकशुद्धि स्यात्	५५८
इन्द्रियान्तरसंचार	४८३	उपवासेन चैवाय	६२८
इन्धनार्थं द्रुमच्छेद	५०९	उपस्थान तत कुर्यात्	५८१
इमे लोका एव च मा	४०४	उपस्थितस्य मोक्षताम्य	२१९
इष्ट स्यात्कृत्विस्तेन	१५८	उपाकमणि चोत्सर्गो	६४
इह कर्मोपभोगाय	४८१	उपाया साम दान च	१५३
इह लोके एव प्राप्य	६४१	उपासते द्विजा सख	४८८
इह यामुत्र वैकेपा	४००	उपास्य पश्चिमां सभ्या	५१
इहैव सा शुनी गृभी	५३४	उपेयादीश्वर चय	४५
ईश्वर स कथ भावै	४६९	उभयात्तुमत साक्षी	३२६
ईश्वर सर्वभूतस्थ	४८४	उभयाभ्यधितेनेतत्	२३७
उ		उभया प्रतिभूर्मांदा	१७६
उक्तेऽपि साधिभि साध्ये	२३०	उभयोरप्यसाभ्य चेत	३३६
उच्छिद्यसनिधौ पिण्डान्	१०९	उभयोरप्यसौ रिचधी	२८३
उत्कोचजीविनो द्रव्य	१५०	उरगेध्वायसो दृष्ट	५०२
उत्प्रेषकप्रन्धिभेदी	३०२	उर नक्षत्रशास्त्रीनि	४५८
उत्तमो वाऽधमो वापि	३०४	ऊ	
उत्तान किंचिदु-नाम्ब	४८९	ऊनद्विवर्षं निसनेत्	३९२
उत्पन्ने स्वामिनो भोग	३१२	ऊनद्विवर्षं उभयो	४००
		ऊन वाऽभ्यधिक वापि	३८५

श्लोका	शृङ्खलम् ।	श्लोका	शृङ्खलम्
ऊरुस्थोत्तानचरण	४८९	एव गच्छन् क्रिय चामां	३२
ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषा	४८१	एव पुरुषकारेण	१५५
		एव प्रदक्षिणावृत्तो	११२
		एव मातामहाचार्य	३९५
		एव विनायक पूज्य	१३३
श्रद्धाया पाणिका दृष्ट	४६४	एवमस्त्विति होवाच	६४२
श्रद्धयन्तु सामविहित	४६७	एववृत्तोऽविनीतात्मना	४७७
श्रद्धा दद्यात्पतिस्तासा	२०६	एवमस्यान्तरात्मना च	५९७
श्रद्धा ऐष्यकृत देव	२३८	एवमुक्त्वा विप दाज्ञं	५९७
श्रद्धासधिषु भुक्त्वा वा	६९	एवमेतद्वनाद्य त	५६७
श्रद्धाविनपुरोहिताचार्ये	१४८	एवमेव शम याति	६
श्रद्धाविनपुरोहितापत्ये	६९	एव एव विधिर्ज्ञेय प्रा	३८०
श्रद्धाविजा दीक्षितानां च	४२३	एव एव विधिर्ज्ञेयो व	६११
श्रद्धाभैकतद्व्या गा	५६७	एवा त्रिशतमभ्यासात्	६३१
		एवाभ्यन्त व भोवत्य	७१
		एवाभ्यन्तमाभावे	
एक प्लता धहृता च	३४८	एवामपनितान्योन्य	३५४
एकश्वायाधितेभ्येषु	२१३	एवामभावे पूर्वस्य	२९०
एकदेशानुपाध्याय	१४	एवामसभवे कुर्यात्	५६
एकमशतेन नशतेन	६२८	ए	
एकराशेपवासश्च कृ	६३१	ए	
एकराशेपवासश्च त	६२७	ए	
एकादशगुण दान्यो	२३३	ए	
एकाराम परिग्रह्य	४४४	ए	
एकैकस्य स्वष्ट्यातम्	१३७	ए	
एकैक हासयेत्कृष्णे	६३९	ए	
एकोद्विष्ट देवहीनम्	११३	ए	
एकोनशिशुपाणि	४६१	ए	
एतद्यो न विजानाति	४८९	ए	
एतसपिण्डीकरणम्	११४	ए	
एतासर्वा सनाह्वय	१३१	ए	
एते महापातक्रिनो	५०२	ए	
एते माया यथापूर्व	१४	ए	
एते प्रभूतै युत्रोऽपि	५१	ए	
एतेरुपायै सद्यद्	५३८	ए	
एतेरेव गुणेषु च	२२	ए	
एभिश्च भयवहतां च	३५६	ए	
एभिस्तु सबसद्यो वै	५४६	ए	
		कटवेर्वापौ यथाऽपके	४७३
		कथमेतद्विमुहाम	४६६
		कद्वयं यदधोरागा	७०
		कविद्यादेति मद्युष्ट	९
		कनीनिक चापिष्टे	४५९
		कन्धरावाहृतवर्णां च	३४८



श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
कन्या कन्यावेदिनश्च	१२३	कारणान्येवमादाय	४७५
कन्याप्रद पूर्वमाने	२५	कारये सर्वदिभ्यानि	२१४
क याप्रदान तस्यैव	५०५	कारुहस्तः शुचि पण्य	८३
कन्यासदृषण चैव	५०९	कारिके रोमवदे च	३२७
कन्यां समुद्बहेदेषा	५४९	कार्यो द्वितीयापराधे	३०२
कपिला चेतारयति	९३	कार्षिन्स्वाधिक पण	१६१
करणैरन्वितस्यापि	४६९	कालकर्माग्नीजानां	४८०
करपाददनो भङ्गे	३४८	काले कालकृतो नरयेत्	२१५
करोति किञ्चिद्भ्यासात्	४४९	कालोऽग्नि कर्म सृष्टायु	४२९
करोति घृणमुक्तायै	४७५	कापायवाससश्रव	१२०
करोति गृप्ति कुर्वाञ्च	१७	काष्ठलोटेपुषापाण	२०६
करोति पुनरावृत्ति	४८८	किञ्चिन्नास्त्यकथे देय	५६३
करोति य स समूहो	४००	कुमारी च न भर्तार	१९०
कौ विवृदितमीहे	२५२	कुम्भेष्वेवभ्यनुज्ञातो	१०३
कर्णौ शखौ भ्रुवौ दन्त	४५९	कुर्वाण्युशुरयो पाद	३५
कर्तव्य वचन तेषा	३३३	कुर्वाण्यपराजज्ञायी	३३४
कर्तव्य वचन सर्व	३३९	कुर्वाण्यभियोग च	१७६
कर्तव्याप्रयगेष्टिश्च	५५	कुर्वाण्यदक्षिण देवम्	६०
कर्तव्या मन्त्रव-तश्च	१३६	कुर्वाण्यधस्य न विदुः	१५२
कर्तव्याशयष्टदिरुत्	४४७	कुर्वा-मृगपुरीषे च	८
कर्तव्यप्राप्तजायन्ते	४९२	कुलाभि जाती श्रेणीश्च	१५९
कर्माणा द्वेषमोहाभ्यां	४००	कुशा शाक पयो मरुत्या	९६
कर्माणा मनसा वाचा	६८	कुसूलकुम्भीधाम्यो वा	५६
कर्माणा फलमाप्नोति	१३३	कुसीदकृषिवाणिभ्य	५३
कर्माणा सनिकर्षाञ्च	४०९	कुटस्वर्णभ्यवहारी	३८६
कर्मानिष्ठास्तपोनिष्ठा	९९	कृष्माण्डो राजपुत्रश्च	१३१
कर्माभि स्वशरीरोन्मै	४००	कृष्णकृष्णकामस्तु	६४०
कर्म रमातं विवाहाभौ	४४	कृष्ण चैवातिकृष्ण च	५५१
कर्मेन्द्रियाणि जानीयात्	४५८	कृष्णत्रय गुरु कुर्वात्	५८२
कलविद्वा सकाकोल	७६	कृष्णातिकृष्ण पयसा	६३०
कलहापद्धत देय	३४९	कृष्णाति कृष्णोऽयक्थाते	६०६
कानीन कन्यकाजातो	२८५	कृतशाद्रोहिमेधावि	११
कान्तारगास्तु दशक	२००	कृतरश्च समुत्पाय	१४६
कामतो व्यवहार्यस्तु	५००	कृतशिल्पोऽपि निवमेत्	३३०
कामावकीर्ण हरदाभ्यां	५८१	कृत्वाकृतास्त दुर्लाभ	१३१
कामोदक सखिप्रसा	३९५	कृत्वाग्निद्वार्यो भुञ्जीत	१३
		कृतेऽन्तरे त्वहोरात्र	६५

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
वृत्तोदका समुत्थोर्णान्	४००	पेशवेरमवनग्राम	३७१
कृत्तिकारिभारण्यन्त	१२४	पेशस्य हरणे दण्डा	३११
वृत्वा हि रेतोविण्मूत्र	६२१	पेष करोति चेरुण्ड्य	३४०
रूपेद विष्णुरिरयन्ने	१०७		
वृमिक्कीटयतद्द्वार	४९२	रा	
वृपि शिव्य मृतिविंशा	४३४	खट्वागिष महाशक्क	१२२
वृष्णल पत्र ते माप	१५९	रामण्डलादतो सूर्य	४६७
वृष्णा गौरायस घाग	१३८	परपुष्कसवेणानां	४९२
केचिद्देवास्वभावाद्वा	१५५	रराजमेपेषु वृषो	५०१
कक्षमस्मत्तुपाङ्गार	६२	खरोद्दयानहरवध	३७
कोऽ यथैकेन नेत्रेण	५७५	रा	
कोपट्टिलवचक्राद्ध	७५	गजे नीलवृषा पत्र	५०१
कोळे घृतघटो देय	५७२	गणराय हरेद्यस्तु	३३२
कीशेयनीललवण	४३२	गणानामाधिपत्य च	१९१
क्रमतो मण्डल चिन्त्य	१५२	गते तस्मिन्निमग्राङ्ग	२५७
क्रमात्ते सभय तीह	४८९	गन्त्री यमुमती नाक्षत्र	४०१
क्रमात्ते स्रभवम्बधि	४८८	गम्भरूपरसस्पर्श	४५८
क्रमाद्भ्यागत द्रव्य	३७३	गन्धलपचयकर	८
क्रमेणाचार्यसखिद्रुष्य	२९७	गन्धाश्च बलयश्चैव	१३६
क्रम्यादपधिदास्युह	७५	गम्भोवकतिलं युक्त	११४
क्रियमाणोपकारे तु	५८३	गम्य स्वभावे दातव्यां	९५
क्रीडां शरीरसंस्कार	३५	गम्यास्वपि पुमां दाप्या	३८१
क्रीतलन्धाघना भूमौ	४०३	गर्दभ पशुमालग्य	५०८
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीत	२८६	गर्भभर्तृवधादी च	९८
क्रीत्वा तानुदाय काय	३६३	गर्भस्य वैकृत दृष्टम्	४८०
क्रूरोमपतितमाय	७१	गर्भलावे मासतुल्या	४१०
कृता मूत्र्यमवाप्नोति	३२०	गर्भहा च यथावर्णं	५२५
क्रीवांस्य पतितस्तज्ज	३००	गर्भाधानमृती पुस	६
क्षत्रजास्त्रिद्वेषेकभागा	२८१	गर्भाष्टमेऽष्टम वाऽब्दे	७
क्षत्रस्य द्वादशाहानि	४१६	गायत्रीजाप्यनिरत	५९२
क्षत्रिया भागध वैश्यात्	४२	गायत्रीं क्षिरसा स्था	१०
क्षयं वृद्धिं च वणिजा	३६३	गीतज्ञो यदि योमेन	४६५
क्षत्रेण कर्मणा जीवेत्	४३१	गीतनृष्यैश्च सुशीत	१४७
क्षुद्रमप्यमहाद्रव्य	३७२	गुर्बोदन पावस च	१३७
क्षुदान्त्र वृक्षकी यस्ति	४५९	गुणित्वैधे तु वचन	२२९
क्षेत्रज क्षेत्रजास्तु	२८५	गुरवे सुवर दत्त्वा	१८
क्षेत्रज्ञस्वेदतरश्चानत्र	४३०	गुरु चैवाप्युपासीत	११

श्लोका.	शुद्धम्	श्लोका*	पद्यम्
गुहं हुकृत्य ररुह्य	६०५	ग्रामादाहृत्य वा ग्रासान्	४४१
गुम्गा।मप्यधिवेषो	५०५	ग्राम्येच्छया गोप्रचारो	३१०
गुपन्तेवाश्यन्धान	४२०	ग्राहकैर्गृह्यते धीरो	३६८
गुरुमगुप्यशुफलता	३५१	ग्रीवा पञ्चदशस्थिः स्यात्	१५०
गृहधान्याभषोपानत्	९५	ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो	४४०
गृहीतमूषय य पण्य	३६१	गृहे दतिकृद्देशु	३३८
गृहीतयेतन. कर्म	३३४		घ
गृहीतयेतना वेरया	३१३	घटेऽपवर्जिते ज्ञाति	६१६
गृहीत चाट्टया धीर्ये	३६९	पातितेऽपहृते दीपो	३७०
गृहीतदिभक्षोधाद्य	८		घ
गृहीत स्त्रीधन भर्ता	३०४	चतुर्दश प्रथमज	९४
गृहीतानुक्रमाहाप्यो	२०३	चतुर्विंशतिरो दण्ड.	३८४
गृहीतोऽह्नाय युवगी	५३९	चतुष्पादृष्टो दोषः	३६८
गृहेऽपि निवसन्निप्रो	७९	चतुष्पाद्व्यवहारोऽर्थ	१०४
गृहे मच्छन्न उपन्नो	२८५	चतुस्त्रिंशद्वेकमायाः स्युः.	२८१
गृहप्रवातारमधो	९२	चत्वारो वेदधर्मज्ञा	५
गृहीयादूर्ध्वकितवात्	३३८	चत्वार्यरिणिकास्थानि	४५६
गेषमेतत्तदभ्यास	४६४	चरितप्रत आयावे	६११
गोप्रातेऽग्ने तथा केश	८४	चरित्रवधककृत	२१८
गोप्रात शङ्खोश्चिदृष्ट	८४	चदधुस्त्वयसस्नेह	८०
गोपशीष्टिकरीदृष्ट	२०६	चरेद्द्वयतमहाद्यापि	५२०
गोपस्ताड्यश्च गोमी तु	३१५	चर्मभ्यानद्धहे रक्ते	१२९
गोप : सीमाहृषाणा ये	३०६	चाटवस्वरदुर्वृत्त	१५०
गोप्याधिभंगो नो वृद्धिः	२१६	चाण्डालो जायते चत्	५६
गोप्राज्ञगानलाग्नानि	६८	चान्द्रायण चरेत्सर्वान्	५४९
गोप्राज्ञगार्थ सप्राम	४२२	चान्द्रायण वा त्रीन्मासान्	५४२
गोभूतिलहिरश्यादि	९१	चान्द्रायणैर्नयेत्काल	४३९
गोमूत्र गोमय क्षीर	६२५	चापाश्च गृहपादाश्च	७१
गोवधो ग्रास्यता स्तेय	५०८	चिकित्सकानुस्कृद्	७१
गोष्ठे वसन्प्रज्ञाचारी	४९२	चौर्गमत्तानपि सत	६१३
गोष्ठेशयो गोऽनुग्रामी	५५१	चेष्टाभोजनवाप्रोधे	३४८
गौरसर्पकलक्रेन	१२८	चैत्यरत्नज्ञानमीमासु	३५१
गौरस्तु ते त्रय. पट् ते	१५९	चैलघावसुराजीव	७१
गौदया कर्मणोऽश्यान्ते	६१८	चौर प्रदाप्यापहृत	३१९
ग्रहणान्तिवमित्तेके	१४		ङ
ग्रहणामिदमातिष्यं	१३८		
ग्रहाधीना नरेन्द्राणां	१३८	ङ्गल निरस्य भूतेन	१८१

श्लोकाः	शृष्टम्	श्लोकाः	शृष्टम्
द्विन्ननस्येन यानेन	३८७	श्रेयं चारुष्यकमहं	४६३
ज		श्रेयसे प्रकृती च	४७७
जगदानन्दयस्यंम्	१५७	त	
जगदुद्भूतमात्मा च	४६६	तद्युजं वाक्यश्लाघां	८१
जग्न्वा परेऽद्रुषुपवसेषु	६२५	तज्जः पुनायुभयतः	२४
जघनादन्तरिक्षं च	४६८	ततः शुक्लाभ्ररधरः	१३३
जपन्नामीत मारिधी	१०	ततः स्वैरनिहारी स्यात्	१४७
जपः प्रवृत्तनपापानां	४२९	ततस्ताम्बुरुषोऽभ्येत्य	४८८
जपयज्ञः सिद्धयर्थं	८६	ततो भ्येयः सिधतो योऽसी	४९०
जपवा यथानुरं वाप्य	१०८	ततो निष्केशपीभूताः	४९७
जपवा सहस्रं गापभ्याः	१२४	ततोऽभिवादनं दृष्ट्वा	११
जलमेकाहमाकाशे	४०४	ततोऽर्वां लेखयेत्ततः	१७३
जल विरेम्ना जलिमा	६२	तत्कर्णणामनुष्ठानं	४७८
जल प्लवः पयः काको	४९५	तत्कालकृतमूलयो वा	२१९
जलान्ते घृन्दसा कुर्वात्	१४	तत्पापनाय निर्वप्यः	२८५
जले विश्वासांभुदुष्यात्	६१०	तत्पुनस्ते समैरतोः	२८२
जातहुमाणां त्रिगुणो	३५१	तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्य	१३८
जातिरूपवयोवृत्त	४०६	तत्र गत्याऽयतिष्ठन्ते	४८७
जातोऽपि दास्यां शूद्रेण	२८९	तत्र तत्र च निष्पाताः	१४५
जातुष्कर्षो युगे ज्ञेयः	४३	तत्र तत्र तिलैर्होमो	६२३
जायन्ते कृषणभ्रष्टा-	४९७	तत्र दुर्गाणि कुर्वीत	१४४
जायन्ते विद्यमोपेताः	४९७	तत्र देवमभिन्यक्त	१५४
जारं चौरैर्यभिजदन्	३८८	तत्र स्यात्सहस्रं स्वाभ्यं	२७६
जालपारात्मजरीटान्	४६	तत्र स्यात्स्वामिनरदो	६३५
जालसूर्यमरीचिस्थं	१५९	तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित्	४४९
जितमुद्रं प्राहयञ्जेत्रे	३३८	तत्राशांतिसाहयाः	४८६
जितं सप्तभिर्के स्थाने	३३८	तत्र स्मृतेरुपस्थानात्	४०९
जिह्वं व्यजेत्तर्लाभ	३९६	तत्र स्थव्यं वदं कर्ष्याणि	२४८
जीवेद्वापि शिलोन्द्रेण	५६	तत्रैव तस्य जाभीहि	२२७
जुगुप्सरन्त चाप्येन	६११	तस्मिन्ने सिद्धिमाप्नोति	१७४
जुहुयात्सूर्धनि दुषान्	१३०	तस्मिन्ना गोत्रजा वन्धुः	२८९
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठमाग्निं	२६९	तथाऽद्वादनदानं च	१०४
ज्ञातयो वा हरैर्युस्तत्	३६६	तथाऽग्नेः ज्ञानेकश्च	४६४
ज्ञातिश्रेष्ठं सर्वकामान्	१३४	तथा पाठीनराजीव	८७
ज्ञात्वाऽपराधं दैव च	१६२	तथा मांसं श्वचण्डाल	८७
ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च	४३५	तथा वर्षात्रयोदरया	१२२
ज्ञानोपेत्तिमिच्छत्वात्	४४७	तथाऽप्रियकरुणः	४६३

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोक	पृष्ठम्
तथा शक्त प्रतिभुव	३४३	ताम्रकास्फटिकादृक्	१३५
तथाभ्रमेभावभृश	५१८	तामिस्र छोहशङ्कु च	५००
तथैव परिपाक्योऽसौ	१५१	तारानघप्रसचारै	४८२
तथैवानाभ्रमे वाच	५०९	तालशशाप्रयासेन	४६५
तथोपनिधिराञ्छी	१८९	तालुस्थाचलजिह्वश्च	४८९
तद्द समवाप्नोति	९९	तालुद्वर वस्तिद्वीपं	४५९
तद्दृष्ट रसरूपेण	४५१	तायन्त पृथ मुनय	४८७
तद्दग्ध विमोहमौ	१०९	ताजत्रौ पृथिवी श्रेया	९३
तद्भावेऽस्य तनये	१८	तिसिरी तु तिलद्रोण	५०३
तद्धर्म मध्यम प्रोक्त	१६१	तिथिदृष्ट्या चरेत्पिण्डान्	६३३
तद्वाप्य नृपो दण्ड	१५६	तिट्टीदनरसञ्चारान्	४२२
तद्दहनं प्रदुष्येत	४०८	तिष्ठो वर्णानुपूर्व्येण	२३
तन्निमित्तं चत शक्यै	५२०	तुलाभ्यापो विप कोसो	२४२
तन्मन्त्रस्य च भेत्तार	३८८	तुलाधारणविद्वन्नि	२४८
तन्मात्रादीन्बहकारान्	४८४	तुलापुष्प इत्येव	६३१
तन्मूले द्व ललाटाङ्घ्रि	४५७	तुलाशासनमानाना	३५६
तन्मूल्याद् द्विगुणो बृष्टो	३५३	तुला स्त्रीवालवृद्धाध	२४५
तपसश्च परस्येह	१७	तूर्णमिता क्रिया स्त्रीणा	७
तपसा प्रकचयेण	४८०	तृणगुल्मलताव च	५९९
तपस्तपसाऽमृजद्ग्रहा	९०	तृप्यर्थं पितृदेवानां	९०
तपस्विनो दानशीला	२२३	ते वृक्षास्तर्पयन्त्येव	१७
तपो वेदविद्या चात्ति	४२९	तेन स्वामभिरिन्द्रामि	१२९
तप्तधीरघृतामृताम्	६२०	तेन देवसरीराणि	४८१
तप्ते च चायने सार्धं	५३९	तेनाग्निहोत्रिणो याति	४८३
तमायान्त पुनर्जिवा	३९०	तेनोपसृष्टो यस्तस्य	१२७
तमेव कृत्स्नमाप्नोति	१५१	तेनोपसृष्टो लभते	१२७
तरिक स्थलज शुक्क	३६५	तेऽपि तेनैव मार्गेण	४८६
तथाहवादिन वलीत्र	१४६	तेभ्य क्रियापरा श्रेष्ठा	९०
तस्मात्तु नृपतेरर्थं	१५०	तेऽष्टौ लिपा तु तारिष्यो	१५९
तस्मात्तमेह वर्तस्य	४९७	तैलदृष्टैलपायी स्यात्	४९४
तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञ	४६७	तैत्र्यापि मयतेर्भाष्य	१०१
तस्मादस्ति परो देहात्	४८३	तै सार्धं चिन्तयेत्प्रलय	१४१
तस्य वृत्त कुल शील	४३५	स्फञ्जन्दाप्यस्तृतीयशम्भु	३०
तस्य पोटा शरीराणि	४५५	त्याग परिग्रहागं च	४०८
तस्याप्यग्नि सोदकुम्भ	११८	त्रपुसीसक्ताग्राणा	८५
तस्यैत्युक्तवतो लौह	२५३	त्रयो लघ्वास्तु विज्ञेया	४६१
तस्यैतदा मज सर्वम्	४५२	त्रायस्वात्मादभीशापात्	२५९

श्लोका	शृष्टम्	श्लोका	शृष्टम्
त्रिणाचिकेतदौहित्र	९९	दावा तु माह्वणायैव	२०३
त्रि प्रारवापो द्विरुन्मृज्य	९	दत्त्वाऽन्न पृथिवीपात्र	१०७
त्रिराग्रमा मतादशात्	४१७	दावा भूमि निवन्ध वा	१४३
त्रिरात्र दशरात्र वा	४०७	दत्त्वाऽऽयं सध्रवास्तेषां	१०५
त्रिरात्रान्ते शृत प्राश्य	५८५	दत्त्वोदक गन्धमात्य	१०४
त्रिरात्रोपोपितो जपवा	६१६	दद्याच्चतुष्पथे मूपं	१३१
त्रिरात्रोपोपितो हुत्वा	६१७	दद्यात्त्रिरात्र चोपोष्य	५५१
त्रिविजपूर्णपृथिवी	१०	दद्याद्ग्रहक्रमान्व	१३७
त्रिनदिनानि शृङ्गस्य	४१६	दद्यादपहराऽपाशं	२९८
त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्दवात्य	५८७	दद्यात्ते कुट्टुम्यार्थान्	२०५
त्रैकावयसध्वाकरणात्	६११	दद्यान्माता पिता वा य	२८६
त्रैकापिकाधिकान्नो य	५५	इष्टुर्वा स्वकृता वृद्धि	२००
त्रैविद्यनुपदवानां	३४४	दष्टुस्तद्विश्विन प्रेते	२०४
त्रैविद्य वृष्टिसद्वमयात्	३३१	इष्य-नपायस चैत्र	१३३
त्र्यङ्गहीनस्तु कर्ताव्यो	३८६	इष्योवन हविभूर्ण	१३७
न्यवरा साहिगो शेषा	२२४	इन्तोदस्यलिक काल	४३९
स्यह प्रेतेऽधनध्याय	६४	इन्दयूक पतङ्गा वा	४८९
स्य तुळे सत्यधामासि	२४८	इग्निर्हर्तुःकपायुग्भि	५८
खमग्ने सर्वभूतानाम्	२५३	इक्षक पारदस्य तु	३६०
स्य विष मन्त्रग पुत्र	२५९	इक्षपूरुपविष्वातात्	५२
		इक्षानप्रतिभूर्सत्र	२१२
		इक्षाने प्रस्यय दाने	२११
		इक्षकपञ्चससाह	३९५
दण्ड छुद्रपयुता तु	३५०	दाघायणी बद्धमूर्षी	६०
दण्ड च तप्तम राक्षे	१८९	दातव्य म-यह पात्रे	९२
दण्ड च स्वपण चैव	१८०	दातारो नोऽभिवर्धन्ता	१११
दण्ड दद्यात्सवर्णान्	३०९	दाताऽस्या स्वर्गमाप्नोति पू	९६
दण्डनीत्या च कुडालम्	१४१	दाताऽस्या स्वर्गमाप्नोति ष	९३
दण्डनीत्या तदूर्ध्वं तु	३१३	दान दसो इया चान्ति	५४
दण्डप्रणयन कार्य	३४१	दान दातु चरेत्कृत्तु	५३३
दण्ड ॥ दाप्यो द्विसत	३५७	दाने विवाहे यज्ञ च	४१३
दण्डाग्निनापयीतानि	१२	दा तस्त्रिपवणस्नाथी	२३९
दत्तात्मा तु स्वयदत्तो	२८६	दापवि चा हत द्रव्य	३६९
दत्तामपि हरेत्पूजात्	२६	दाप्य सर्वं नृपेणार्थ	१८१
दक्ष्णं पाटयेत्तुभ्य	२४१	दाप्यस्तु दक्षम भाग	३३५
दत्ता कन्या हरन्दण्डवी	३०२	दाप्यस्त्वष्टुण यत्र	३६५
दत्ता चौरस्य वा ह-तु	३६४	दाप्यो दण्ड च यो यस्मिन्	३४९
दत्ता तु दक्षिणा शसत्या	१११		

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	अपृष्ठम्
दायकालाहते वापि	४४	देशान्तरगते प्रेते	३६६
दायादेभ्यो न तदणत्	२०३	देशा तरस्थे दुर्लभ्ये	२३९
दासीकुम्भ बहिर्मात्	६१०	देशेऽशुचावात्मनि च	६६
दाहयिध्वाऽग्निहोत्रेण	३९	देशे काल उपायेन	४
दिवा सव्यासु कर्मस्थ	८	दैवे पुरुषकारे च	१५४
दीपमान न गृह्णाति	२०४	दौषे प्रयाति जीवोऽय	४००
दीपतीग्रामयप्रस्त	५२०	दौर्हृदस्याप्रदानेन	४५३
दुःसमुत्पादयेद्यस्तु	३४९	दुस्तृपि वणिभ्या च	१९३
दुःखे च सौमित्रापात्रे	३५०	दुस्तमेकमुख कार्यं	३३९
दुःखापादि गृह द्रव्य	२५०	दुस्तप्रीपानसप्ताश्र	३६८
दुर्घटास्तु पुनरंष्ट्रवा	३८९	द्रव्य तदीपनिधिक	२२१
दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च	३०४	द्रव्य द्राघणसपत्ति	९०
दुष्टममविद्वेषप्रद	५६९	द्रव्यप्रकारा हि यथा	४९५
दुष्टा दशगुण पूर्वात्	६३	द्रव्याणां कुतला म्रुयु	३२७
दुहितृणा प्रसूता वेत्	३०९	द्रष्टव्यस्यथ मन्तव्य	४८८
दूरादुच्छिद्यविन्मूत्र	६८	द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु	३५५
दूरान्पर्यपपुष्पाणां	१३२	द्रष्टारो व्यवहाराग	३३९
दूपने तु करऽदेव	३८०	द्रष्टिमत पगाऽदण्डयो	३४८
इति धनुर्वस्तमविं	५६९	द्रादराहोपवासेन	६३१
इरपाद्वा तद्विभाग स्यात्	२०८	द्रासप्ततिसहस्राणि	४६३
इष्ट्या उद्योतिर्विदो वैद्यान्	१४८	द्विगुण त्रिगुण वापि	४८९
इष्ट्वा पथि निरातङ्ग	५२०	द्विगुण प्रतिदातव्य	२१३
इयं चौरहत द्रव्य	१९८	द्विगुण सबनस्थे तु	५२०
इयं प्रतिधृत चैव	३२३	द्विगुणा वाऽऽयथा म्रुयु	२३०
इयं तार्थं इयि क्षिप्रु	७५	द्विगुणास्तु कुशान्दत्त्वा	१०४
इयं त्विषसातकाचार्य	६७	द्विजस्तुयैध पुष्पाणि	३१०
इयानिष्यर्चनकृते	९०	द्विनेत्रभेदिनो रात्र	३८९
इयानुप्राऽसमभ्यर्च्य	२६१	द्विपणे द्विसतो दण्डो	३५८
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	७८	द्विकृष्णले रूप्यमापो	१६०
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	४६०	द्वे द्व जानुकपोलोऽ	४५७
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	४६	द्वे शते खर्वटस्य स्यात्	३१८
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	३२७	द्वेषीभान गुणनेतात्	१५४
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	३२०	द्वेषे बहूना वचन	२२९
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	६०९	द्वौ द्वे प्राक् त्रयं पितृ	१०२
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	३७२	द्वौ क्षत्रकी कपालानि	४५८
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	३१९	ध	
इयानिपतृऽसमभ्यर्च्य	१०८	धन वेदानिभपरिसिद्धि	१२४

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
धनी घोषगत दद्यात्	२४१	न प्रत्यग-यकंगोसोम	६०
धनु शत परीणाहो	३१०	न ब्रह्मचारिणं कुर्युं	३०६
धमनीना शत द्वे तु	४६०	न भार्यादर्शनेऽग्नीयात्	५९
धर्मकृद्ददविद्यावित्	४७२	नमस्कारेण मन्त्रेण	५४
धर्मज्ञा शुचयोऽद्भुधा	३३३	भयेयुरेते सीमान	३०६
धर्मप्रधाना श्रजव	२२३	न योषित्पतिपुत्राभ्या	२०५
धर्मशास्त्रानुसारेण	१६३	न राज्ञ प्रतिगृह्णायात्	६३
धर्मार्थकामान्स्व काले	५१	न लिप्येतैनसा विप्रो	४३४
धर्मार्थं यश्चरेदत्तत्	६३६	नव-विद्वानि ता-यव	४६०
धर्मार्थं विक्रय नेया	४३३	नवमे दशम वाऽपि	४५५
धर्मा हि वृण्वरूपेण	१५६	न विद्याया केवलया	९१
धान्यकुण्डपशुस्तप	५०९	न विरुद्धप्रसङ्गन	५७
धान्यमिश्रोऽतिरिक्त्वा	४९४	नष्टापकृतमासाव	३१९
धारणा प्रेरण तु ल	४५२	नष्टो देवो विनष्टश्च	२१६
धारवेत्तत्र चात्मान	४९०	न सत्तप प्रपद्येत	५९
धार्मिकोऽभ्यसनश्रैव	१३९	नस्त प्राणा दिता धात्रात्	४६०
धावत पूतिगभ्ये च	६६	न शृस-डीह पापानि	६२३
धिदण्डसवध वाग्दण्डो	१६२	न स्वाभ्यायविरोधपर्यं	५७
धूम निशा कृष्णपच	४८९	न हन्याद्भिनिवृत्त च	१४६
धेनुं शङ्खस्तथानवधान्	१३८	नाक्रानेदकविष्मूत्र	६७
ध्यानयोगेन सपरयेत्	४४८	नाउं क्रीडेच्च धर्मज्ञै	६२
ध्येय आत्मा स्थितो योऽस्ती	४६४	नाबध्नीत धयन्तीं गां	६३
न		नात परतरो धर्मा	१४५
न चयो न च कृद्विश्च	३२७	नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति	१५७
नम्रं ज्ञाया च भुक्त्वा च	६०५	नाथारूपाणि कुर्याण	४७९
न च मूत्र पुरीष वा	६१	नान्बये सति सर्वस्व	३२३
न चाहूतो यदकिञ्चित्	१७९	नापात्र विदुषा किञ्चिद्	९१
न तशुभ्रा श्रम दष्टु	२१२	नाभिदग्धोदकस्थस्य	२५६
न तत्र कारण मुक्ति	१९४	नाभिरोजो युद् शुक्क	४५८
न तस्सुतस्तस्सुतो वा	१९३	नामभिरलिमन्त्रैश्च	१३१
न तु महद्भदीदाया	६०	नाश्रम कारण धर्म	४४८
न दक्ष स्त्रीधन अस्मै	३०५	नासहस्राद्दूरेऽप्यल	५४७
न दक्ष स्त्रीधन धारा	२७०	नासिका लोचन जिह्वा	४५८
न ददाति हि य साध्य	२२९	नास्तिवय मत्तलोपथ	५०९
न दाप्योऽपदत्त त्तु	२२१	नाहित नातृत्त पप	५९
न निन्दाताडने कुर्यात्	६८	निचेपस्य च सर्वं हि	५०६
न निपध्योऽल्पराधस्तु	३१२	नित्रधमात्रिरोपन	३३२



श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
निजलासमाधोगान्	४७५	पञ्च ऋ षत वाप्य	२०३
निज शरीरमुत्सृज्य	४९०	पञ्चगव्य विवेदोद्गो	५५१
निद्रालु क्रूरकृषुधो	४७२	पञ्चप्रामी वहि क्रोशात्	३७१
निमग्नयेत पूर्वेषु	१०१	पञ्चदश्या चतुदश्यां	६५
निमित्तमघ्न कर्ता	४५०	पञ्चधातू स्वध पष्ट	४५१
निमित्तशाकुनज्ञान	४८२	पञ्चधा समृत कायो	४००
निमीलिताश्च सखरूपो	४८९	पञ्च विषदाननुद्धय	६९
निमेषव्रतना चक्र	४८३	पञ्च धो दमस्तस्य	३२०
नियमा गुरुशुभ्रुषा	६२५	पञ्चमाससमादूर्ध्व	२१
निरामा व्ययव तश्च	३६८	पञ्चाक्षर्यजिज्ञो दण्ड	३५३
निरपनु पुरोडाश	५८५	पटे वा ताम्रपटे वा	१४३
निर्वास्या व्यभिचारिण्य	३०१	पणानेकशके दद्यात्	३२१
निवासराजनि प्रेते	४११	पणा द्वाप्य पञ्च वृत्त	३४९
निवेद्य दद्याद्विभ्रैभ्य	३९१	पण्यस्योपरि सस्याप्य	३६०
निशायां वा दिवा चाऽपि	६२१	पण्यपु प्रविष हीन	३५०
निषिद्धभक्षणं जैह्य	५०५	पतनीयकृते सेवे	३४३
निषेकाद्या रमसानाम्ना	५	पतितस्य वहि कुर्युं	६१०
निष्क सुवर्णाश्वादार	१६०	पनिशानामेव एव	६१२
नि सरन्ति यथा लोह	४४९	पतितासाधंसयधि	१२४
नि सावते थाण इव	४५५	पनिप्रियहिते युक्ता	३८
निस्तीर्य तामयास्मान	४३१	पतिलोक न सा याति	५३४
निह्वये भावितो दद्यात्	१७७	परनी हुदितरभैव	२८९
निह्वते क्लिप्त नैक	१८१	परशाक सिखी इन्वा	४९४
नीचाभिगमन गभ	६१२	पदानि क्रतुतुष्यानि	७४६
नीरजस्तमसा सख	४०८	पधि ग्रामविवातान्ते	३१५
नीवीस्तनप्रावरण	३७७	पन्था देवो नृपस्तेषा	५२
नृपार्येव्यभिशापे च	२४७	प धानश्च विशुभ्यति	८८
नृपणाधिकृता पूगा	१९४	पयसा चाऽपि मासेन	५५८
नृशसराजरजक	७१	पयो दधि च मघ च	४३४
नक्षतार्कं न नमा स्त्रीं	६१	परदृष्यगृहाणां च	३६८
नैत मम मत यस्मात्	२३	परद्रव्याप्यभिप्यायन्	४७१
नैवशिक स्वर्णधुर्यं	९४	परपाककृच्चिन स्यात्	५०
नैवशिकानि च तत	१४८	परपूर्वापति स्तेन	१००
नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु	१८	परमूर्भि हरन्प	३१२
न्यायागतधनस्तत्त्व	४९१	परशय्यासन्नेद्यान	७०
न्यूनधिक्विभक्त्याना	२७१	परश दीन आत्मा च	१५०
प		परस्पर तु सर्वेषां	३४७
पञ्चे गते वाप्यरनीयात्	४३९		

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
परस्व योपित ह्रत्वा	३९४	पिण्डास्तु गोऽजविभ्रेभ्यो	१२१
पराशरव्यासशङ्ख	३	पिण्याक वा कणान्वापि	५३०
परिभूतामथ शय्या	२८	पिण्याकाचामतक्राम्यु	६३१
परिशुभ्यास्त्रलद्वावयो	१७८	पितरि प्रोपिते प्रेते	२०७
परिस्तृते शुचौ देशे	१०२	पिता पितामहो भ्राता	२५
परेण भुञ्जमानाया	१८६	पितृपुत्रविरोधे तु	३५५
पर्जादुग्धरराजीव	६२६	पितुरुर्ध्वं विभजता	५७९
पल सुवर्णाश्चत्वार	१५९	पितृ स्वसार मातृश्च	५०७
पलाण्डु रिड्वराह च	७७	पितृद्रव्याविरोधेन	२७३
पवित्रपाणिराचान्त	१०१	पितृपात्र तदुचान	१११
पवित्राग्नि जपैरिपण्डान्	६३४	पितृपुत्रस्वस्रभ्रातृ	३५४
पशुमण्डूकगकुल	६५	पितृभ्य श्यामसीति	१०५
पशुनाच्छन्दात दाप्यो	३८१	पितृभ्या यस्य यद्वत्	२७९
पश्चाच्चयापसरता	३८७	पितृमातृपतिभ्रातृ	३०१
पश्चात्तापो निराहार	४२९	पितृमातृपरारचैव	९९
पश्यतोऽभ्रुवतो भ्रूमे	१८६	पितृमातृसुतत्याग	५०९
परयेच्चास्ततो दूतान्	१२७	पितृमातृसुतभ्रातृ	३६
पाण्डुण्यनाश्रिता स्तेना	३९६	पितृयानाऽज्यवीष्याश्च	४८६
पाणिपादशलाकाश्च	४५६	पितृश्लोक चन्द्रमस	४८९
पाणिप्रच्छालन द्रवा	१०३	पितृश्च मनुसर्पिभ्यां	४४
पाणिप्रार्द्ध सपर्णासु	२५	पितृणा तस्य तृप्ति स्यात्	६४१
पात्राणा चमत्तानी च	८०	पितृन्मनुष्यताभ्यां च	१६
पात्रे धन वा पर्याप्त	५२३	पितृणां दर्शन पक्तिं	४५३
पात्रे मवीयते यथासकल	४	पितृोस्तु सूतक मातृ	४०८
पादकेशाशुककरो	३४७	पिशुनानृतिनोश्चैव	७१
पादकौच द्विजाण्डिदृष्ट	९७	पीदाकर्पाशुकावष्ट	३४७
पादौ प्रतापयेद्याग्नी	६२	पीड्यमाना प्रजा रवेत्	१५०
पारदारिकचौर वा	३५५	पुण्याऽपद्रुभागमादृचे	१४९
पारदार्यं पारिविद्य	५०९	पुत्रपौत्रैश्च देय	२०७
पार्षका श्पाळकै साधं	७१७	पुत्र शौण्य च सौभाग्य	१२४
पालश्रीपविनाशे तु	३१७	पुत्रान्दहि धन दहि	१३२
पाठित वर्धयेन्नीरया	१४२	पुत्रोऽन याधितदध्यः	२०८
पालो येषां न ते मोक्ष्या	३१६	पुनरापत्तिनो पीज	२८६
पावक सर्वमेध्याव	२८	पुत्रार्थी पुनर्गर्भ	४५५
पांसुप्रतर्प दिग्दाह	११	पुन सत्कारमर्हति	५३२
पिण्डदोऽशहरश्चैषा	२८७	पुमान्सग्रहणे प्राह्य	३७७
पिण्डयज्ञावृता देव	४०३	पुराणन्यायमीमासा	३

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
पुरुषोऽनृतवादी च	४०१	प्रथमे मासि सक्लेद्	४५२
पुरोहित प्रकुर्वत	१४१	प्रथम साहस द्याव्	३८०
पुष्पलीवानरखरै	५०५	प्रदक्षिणमनुप्रज्य	११२
पुष्प चित्र सुगन्ध च	१३१	प्रदर्शनायमेतच्च	४९५
पूर्वकर्मापराधी च	३६८	प्रधान चक्षिये कर्म	५३
पूर्वपक्षेऽधरीभूते	११०	प्रनष्टाधिगत देय	१९०
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेय	१९४	प्रप न साध्यघर्षं	२०२
पूर्वःश्रुतार्धवर्णह	३५१	प्रमाण छिद्रित भुक्ति	१८६
पृथक्पृथक्दण्डनीया	२३२	प्रमादश्रुतनष्टाश्च	३१६
पृथक्सा तपनद्वय	६२६	प्रमादवाग्भिन्नवृत्तो	४०२
पृथिवी पादुतस्तस्य	४१८	प्रयच्छन्ति तथा राज्ञ्य	११५
पीपनास्तस्य रोहिण्यां	६४	प्रयत्न नाट्टिर्वर्णः	८५२
प्राकुर्याद्यायकर्मान्त	१४५	प्रयोजकेऽस्ति धन	२१९
प्रक्रा ते सप्तम भाग	३२६	प्ररोहिष्ठाखिना क्षात्रा	३५१
प्रक्षिपेत्सन्तु विप्रेषु	१२१	प्रवित्तोयु समाह्वय	४०१
प्रत्रापतिपितृमह्य	९	प्रवेशनादिक कर्म	४०२
प्रजापीडनसतापात्	१५१	प्रवृत्तचक्रता चैव	१२४
प्रतिहूल गुरां ह्यबा	५८२	प्रमथ्यावसितो राज्ञो	३३०
प्रतिगृह्य तदाप्ययम्	४२५	प्रष्टव्या योषितव्यास्य	३७५
प्रतिग्रहपरीमाण	१४३	प्रसद्य घातिनरचैव	३०१
प्रतिग्रह प्रकाश स्वात्	३१३	प्रसद्य दास्यभिगमे	३८३
प्रतिग्रहसमर्थाऽपि	९६	प्रस्थानविनष्टचैव	३३६
प्रतिग्रहे स्तुतिघक्ति	६३	प्राप्तसौमिकी क्रिया कुर्वीत्	७५
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे	५२	प्राग्वा मास्त्रेण तीर्थेन	८
प्रतिग्रहप्रभृतिप्येकां	१२३	प्राजापत्य चरेत्कृत्वा	५४२
प्रतिप न क्षिया देय	२०६	प्राजापत्यां तद् ते तान्	४४२
प्रतिप्रणवसयुक्ता	१०	प्राग्वयय तथा धात्रे	७८
प्रतिभूर्दापितो यत्तु	२१३	प्राणानामग्य रामोऽय	१०
प्रतिमानसमीभूतो	२४८	प्राणायामश्च कार्य	६२०
प्रतिवेद प्रह्वचर्यं	१४	प्राणायाम जले कृत्वा	७४५
प्रतिपिबन्मनादिष्ट	३६४	प्राणायामो जले स्नात्वा	६०५
प्रतिपेधे तमोर्दण्डो	३०८	प्रात सप्यामुपार्सीत	४४
प्रतिसवासर चैवम्	११९	प्रातिभाष्यमृण साप्य	२१०
प्रतिसवासर त्वर्ष्या	४९	प्रातिष्ठोभ्यापयादपु	३४२
प्रतिसवासर सोम	५५	प्रातिष्ठोभ्ये यद्य पुस्तो	३०८
प्रत्यर्धिनोऽप्रतो लेख्य	१६८	प्राप्ये सुपतिना भागे	३३८
प्रत्येक प्रत्यह पीतै	६२०	प्राप्यते ह्यग्नि तथा	४०३

## श्लोका

प्रायश्चित्तमकुर्वाणा  
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो  
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्  
प्रियो विवाहाश्च तथा  
प्रीणयन्ति मनुष्याणां  
प्रीणाति देवानाज्यन  
प्रेषयच्च ततश्चरान्  
प्राच्यग सहतानां च  
प्रोपिते कालशेषे स्यात्

## फ

फलपुष्पाक्षरमञ्ज  
फलोपलक्ष्मीमसौम  
फालाहतमपि चैत्र  
फेनप्रपय कथं नाश

## श

वध्या वा वातसा छिप्र  
वन्दिग्राहास्तथा बाजि  
य-उदत्त तथा शुक्क  
रन्धुमिक्ष क्षिय पूज्या  
वलादालीकृतक्षौरैः  
वलानां दर्शनं वृत्वा  
बलिकर्मस्वधाहोम  
बलोपाधिविनिर्वृत्तान्  
बहव स्युर्यदि स्वामी  
बहूना यद्यकामास्ती  
बालस्ववासिनीवृद्ध  
बाहुमीवानेऽसन्निध  
धीजायोवाह्य रत्नखी  
बुद्धोन्द्रियाणि सार्थानि  
बुद्धेरुपपिरव्यक्तात्  
बुभुक्षितस्यैव स्थिरवा  
बुद्धस्पते अतियदर्ध  
ब्रह्मक्षत्रविद्या काल  
ब्रह्मक्षत्रियवितृश्रुदा  
ब्रह्मक्षानिल्लतेजासि  
ब्रह्मचर्यं दया चार्ति

पृष्ठम्	श्लोका.	पृष्ठम्
४९९	ब्रह्मचर्ये स्थितो नैक	१३
५००	ब्रह्मचारी भवेत्ता तु	११२
६०९	ब्रह्मचार्यस्य पर्वणि	२१
४९	ब्रह्मणैषां वरो दत्त.	१३८
१२५	ब्रह्मलोकमतिक्रम्य	४८१
१६	ब्रह्मलोकमवाप्नोति	१८
१४८	ब्रह्मवर्चस्विन पुत्रान्	१२३
८१	ब्रह्महत्याधत्त वापि	५६७
३१४	ब्रह्महत्यासम ज्ञेयम्	५०५
	ब्रह्महा ह्ययरोमी स्यात्	४९३
	ब्रह्महा द्वादशान्दानि	५१३
५७३	ब्रह्महा मद्यप स्तेन	५०२
४३२	ब्राह्मण काममरनीयात्	१५
३१३	ब्राह्मणप्रत्रियविदा	१५
४०१	ब्राह्मणप्रत्रियविदा भार्या	२३
	ब्राह्मणप्रत्रियविदा भैष	१२
६०५	ब्राह्मण पात्रता याति	६४१
६७१	ब्राह्मणप्रतिवेश्यानाम्	३६५
३०२	ब्राह्मणस्तु परिचीण	२०४
३५	ब्राह्मणस्य परित्राजात्	५१८
३२९	ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे	५३४
१४०	ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्र	६१८
४६	ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्यात्	१३३
१९५	ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो	४२२
९१३	ब्राह्मणेषु क्षमी स्तिगधे	१४९
३८३	ब्राह्मणेषु चरञ्जैश्च	१२
४७	ब्राह्मण्या चत्रियात्सूतो	४१
३४३	ब्राह्मे मुहूर्ते चोस्थाय	५१
६२५	ब्राह्मो विवाह जाहूय	२४
४८४	ब्रह्मपुरस्तु स्वधेर्युक्ते	११०
४८४		
४३५	भ	
१३६	भक्तवकाशान्युदक	३७४
१५	भक्तयित्त्वोपविष्टाना	३१४
५	भक्त्या पञ्चनखां सेधा	७७
१७४	भगते बहूणो राजा	१३०
६२४	भगमिन्द्रश्च वायुश्च	१३०
	भगास्थेक तथा पृष्ठे	४५७

श्लोका	शृङ्ख	श्लोका	शृङ्ख
भगिन्यक्ष निजादघात्	२७९	म	
भद्रासनोपविष्टस्य	१२८	मञ्जा तौ लुह्याद्वापि	५२१
भय द्विरा च भूतानां	४४६	मण्डल तस्य मध्यस्थ	२६३
भर्तृभ्रातृपितृज्ञाति	६५	मत मेऽमुत्पुत्रस्य	२३७
भवो जातिसहस्रेषु	४४७	मत्तोन्मत्तार्तव्यसनि	१९५
भस्मपट्टरज स्वर्ग	३७५	भस्त्र्यान्पट्टारतयैवामात्	१३१
भस्माज्जि कस्यटोहानां	८५	भस्त्र्याश्च कामतो जग्धाः	७६
भाषाया विद्वयभ्रंषां	५०९	भु दुक्ष पल गृधां	४९५
भाषारति शुचिभ्रंष	५४	भधुना पयसा चय	१६
भावावादी ॥ जगत	१३८	मधुमासाऽनर्नादिष्ट	१३
भावेरनिष्ट सधुक्त	४७२	मधुमासाशने कार्य	५८२
भास च ह्रया दघाद्	५७२	मध्यम परित्रय पैरय	२८५
भास्करालोकभारलील	१३	मध्यमो जातिपूजाना	३४४
भिन्ने दग्धऽथवा द्वि-ने	२३९	मध्यस्थस्थापित चास्यात्	२०४
भि-ने पने च पद्माहात्	३५८	मध्ये पञ्चपला वृद्धि	३२६
भिषग्भिष्याचरन्दण्डय	३५६	मध्यो दण्डो वृणोऽद्दे	३४८
भुनक्तार्द्रपाणिर्भ्रमोऽन्त	३६	भनरक्षैतन्यदुष्कोऽस्ती	४५४
भूतपिशमरद्रक्ष	४६	भनसक्ष-द्रमा जात	४६८
भूतमप्यनुप यस्त	१८१	भ-ग्रमूल यतो राज्य	१५२
भूताभमनस्तपोविद्ये	४३०	भ-वत्रिविष्णुहारीत	३
भूद्वीपाक्षाप्रवद्याम्भ	९४	भम्बन्तरेयुगप्राप्या	४८२
भूमेर्गन्ध तथा प्राण	४५३	भम दारा सुतामात्या	४७७
भूर्वा वितामहोपाचा	२०६	भयि तेज इति वृद्ध्या	५७७
भूदुद्धिर्मार्जनाहाहात्	८४	भर्वादाया प्रभेदे च	३११
भृतराध्यापक क्लीय	१००	भठिनो हि वधादर्शो	४७३
भृतादधयनादान	५०९	महायणपतेऽश्व	१३४
भृतिमधपथे सर्वा	३३६	महानरककाकोल	५००
भृश्याश्च तपये-छमधु	४३७	महापशूनामतेषु	३५०
भृश्वै परिरुतो सुश्रवा	५१	महापातकजान्पोरान्	४९२
भेद चैपा नृपो रक्षेत्	३३४	महापातकजेषोरै	५०५
भेपजस्नेहलवण	३५७	महापापोपपापाम्या	५८४
भक्षान्निकार्यं स्वर्वा तु	५८१	महाभियोमेन्वेतानि	२४२
भोगाश्च दद्याद्विभ्रेभ्यो	१४२	महाभूतानि सायानि	४७५
भोजयेत्स्वागतान्काले	४८	महिषोपूगवां द्वी द्वी	३२२
भोज्या ना नापितश्चैव	७२	महीपतीना नाशीच	४२२
भ्रातृणामथ दम्पत्यो	२१०	महोच वा महाज वा	४९
भ्रपश्चैन्मागितेऽदत्ते	२२१	महोचोस्वष्टपशव	३१६

## श्लोका

प्रायश्चित्तमकुर्वाणा  
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो  
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्  
प्रियो विवाहश्च तथा  
प्रीणयन्ति मनुष्याणां  
प्रीणाति देवानाञ्जन  
प्रेषयच्च ततश्चरान्  
प्राञ्जग सहताना च  
प्रापिते कालशेष स्यात्

फ

फलपुष्पाङ्गरक्षज  
फलोपलघीमसोम  
फालाहतमपि क्षेत्र  
फेनप्रपय कथं नाश

ब

बभ्रा या वाससा क्षिप्र  
बन्दिप्राहास्तथा ब्राह्मि  
बभ्रुवत् तथा शुक्क  
बभ्रुभिश्च क्षियं पृथ्या  
बलाहासीकृतश्रीरैः  
बलानां दर्शनं ध्रुवा  
बलिकर्मस्यधाहोम  
बलोपाधिभिर्निर्वृत्तान्  
बहव ह्युर्यदि स्वादी  
बहुना यद्यज्ञमास्ती  
बालस्ववासिनीवृद्ध  
बाहुमीयानेप्रसन्धि  
बीजायोवाह्य रत्नस्त्री  
बुरोन्निप्रयाणि सार्थानि  
बुद्धेरपत्तिरभ्यघात्  
बुभुक्षितश्चह स्थिग्या  
बृहस्पते नतियद्वर्ष  
नक्षत्रविशा काल  
ब्रह्मक्षत्रियद्विदृशुवा  
ब्रह्मक्षानिलतेजासि  
ब्रह्मक्षर्यं दया चाग्निः

पृष्ठम्

४९९

५००

६०९

४९

१२५

१६

१४८

८१

२१४

५०३

४३२

३१३

४०१

६०५

३७१

३०२

३५

३२९

१४०

४६

१९५

२१३

३८३

४७

३४३

३२५

४८४

४८४

४२५

१३६

१५

५

६७४

६२४

श्लोका

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैक

ब्रह्मचारी भवेत्ता तु

ब्रह्मचार्यं पर्वणि

ब्रह्मणैषा वरो दत्त

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य

ब्रह्मलोकमवाप्नोति

ब्रह्मवचस्त्विन पुत्रान्

ब्रह्महत्याप्रत वापि

ब्रह्महत्यासम ज्ञेयम्

ब्रह्महा च्यरोगी स्यात्

ब्रह्महा द्वादशाब्दानि

ब्रह्महा मद्यप स्तेन

ब्राह्मण काममरनीयात्

ब्राह्मणक्षत्रियविश्व

ब्राह्मणक्षत्रियविशा भार्या

ब्राह्मणक्षत्रियविशा भेष

ब्राह्मण पात्रता याति

ब्राह्मणप्रतियेरयानाम्

ब्राह्मणस्तु परिशीण

ब्राह्मणस्य परित्राणात्

ब्राह्मणस्वर्गहारी तु राष्ट्रे

ब्राह्मणस्वर्गहारी तु वृद्ध

ब्राह्मणानभोजयेत्प्रात्

ब्राह्मणेनानुगम्यो

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्ध

ब्राह्मणेषु चरन्नेष

ब्राह्मण्या क्षत्रियात्सूतो

ब्राह्मे मुहूर्त्तं पारथाप

ब्राह्मो विवाह आहूय

ब्रूपुरस्तु स्वधेयुक्ते

भ

भक्तावकाशाभ्युदक

भक्षयित्वोपनिहाना

भक्षया पञ्चनपा सधा

भगते यदणो रागा

भगमिन्द्रश्च वायुश्च

भगास्येक तथा पृष्ठ

पृष्ठम्

१३

११२

२१

१३८

४८१

१८

१२३

५६७

५०५

४९३

५१३

५०२

१५

१५

२३

१२

६४१

३६५

२०४

५१८

५३४

६१८

१३३

४२२

१४९

१२

४१

५१

२४

११०

३७४

३१४

७७

१३०

१३०

४५७

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
भगिन्वक्ष निजादशात्	२७९	म	
भद्रासनोपविष्टस्य	१२८	मञ्जा ता जुहुयाद्वापि	५२१
भयं हिवा च भूताना	४४६	मण्डल तस्य मध्यस्थ	४६३
भर्वन्नातृपितृजाति	२५	मत मेऽमुकपुत्रस्य	२१७
भवो जातिसहस्रेषु	४४७	मत्तो मत्तार्तव्यसति	१९५
भस्मपङ्कज रपदो	३४५	मत्स्यान्पक्षास्तर्पयामात्	१३१
भस्माद्भि कारयलोहाना	८५	मत्स्याश्च कामतो जम्भा	७६
भावाया विद्रव्यशैषा	५०९	मत्तु दक्ष पत् गृध्रो	४९५
भावांरति शुचिभुरथ	५४	मधुना पयसा चव	१६
भावावावौ च जगत	१३८	मधुमांसा ज्ञनोच्छिष्ट	१३
भायैरनिष्टं सयुक्त	४७२	मधुसामादान कार्य	५८२
भास च हत्वा दद्याद्	५७२	मध्यम चत्रिय वैश्य	३८१
भास्करालोकनारलील	१३	मध्यमो जातिपूगना	३४४
भिन्ने दग्धऽथवा द्विन्ने	२३९	मध्यस्थस्थापित चेत्स्यात्	२०४
भिन्ने पण च पञ्चाशत्	३५८	मध्ये पञ्चपला वृद्धि	३९६
भिषक्तिप्याचर दण्ड्य	३५६	मध्यो दण्डो ज्ञनोत्तेव	५८८
भुक्त्वाऽर्वागिरमोऽन्त	६६	मनश्चेत-ययुक्तोऽसौ	४५४
भूतपित्रम रमद्वा	४६	मनसश्चन्द्रमा जात	४६८
भूतमप्यनुप यस्त	१८१	मन्-ग्रन्थ यतो राज्य	१५२
भूतारमनस्तपोविद्ये	४३०	मन्-वत्रिपिण्डुहारत	६
भूहीपाश्चाद्यद्याग्भ	९७	मन्वन्तरं सुंगप्राप्या	४८२
भूमेर्गन्ध तथा प्राण	४५३	मम दारः सुत्तामाया	१७७
भूयां पितृमहोपाक्षा	२७६	मयि तेज इति श्रुत्वा	५८७
भूशुद्धिर्मान्नाहाहात्	८४	मयादाया प्रभेद च	३११
भूतकाध्यापक क्लीष	१००	मलिनो हि यथादर्श	४७३
भूतादध्ययनादान	५०९	महागमपतेश्चैव	१३४
भृतिमधपथे सर्वा	३३६	महानरककाकोट	५००
भृश्याश्च तपवेऽदमधु	४३७	महापशूनामतपु	३५०
भृशै परिश्रुतो भुक्त्वा	५१	महापातकजान्धारान्	४९२
भेद चैषां नृपो रचेत्	३३४	महापातकत्रैषोर	५०५
भेदजनहलवण	३५७	महापापापशापाभ्या	५८४
भेषाग्निकाय रथवापा सु	५८१	महाभिषागेष्वतानि	२४२
भोगाश्च दद्याद्भिषयो	१४२	महाभूतानि सध्यानि	८७५
भाज्यपश्चागतान्काले	४८	महिषोच्छ्रमवा दूरी ह्री	३९२
भाज्याग्ना नापितश्चैव	७२	महीपतीनां नानीष	४९२
भानुणामथ दग्धयो	२१०	महाष्ट वा महाज वा	४९
भेषधैम्मार्गितेऽदत्ते	२२१	महोपोत्सृष्टपदाव	६१६

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
महोत्साहः शूद्रलघु-	१३९	सृग ( गा ) असूकरोष्णां	४९१
मातापितृगुरुयात्री	१००	सृच्यमेषुष्पकुतप	३५८
मातामहानामप्येयं	११०	सृच्यममंगिसूत्रायः	४३२
म तामहानामप्येव	१०२	सृतकवपः प्रहारातो	५२२
मातुर्दुहितरः शोष	२७२	सृताद्गल्गनविश्रेतुः	३८९
मातृपदमे जायन्ते	१५	सृताया दत्तमादद्यात्	३०४
मातु सपत्नी भगिनी	५१७	सृते जीवति वा पार्थी	३०
मातृपित्रतिथिभ्रातृ	६९	सृते पितरि कुर्युस्त	५८९
मात्स्यहारिणकौरत्र	१२१	सृतेऽहनि प्रकृतस्य	११९
मातृपे सप्यन राज	३५६	सृत्तिका रोचनां गन्धान्	१२९
मातृप्ये कदलीस्तम्भ	४००	सृत्युदेशसमासम्न	३७६
मानेन तुलया घापि	६५७	सृष्ट्वेष्टचक्रसंयोगात्	४७५
मान्वापेतौ पृष्टस्य	५०	मेदसा तर्पयेद्देवान्	१७
मास्तेनैव शुद्धपन्ति	८९	मैत्रमौद्गाहिकं चैव	१७३
मार्जन यज्ञपाराणा	८१	मोस्य आधिस्तदुत्पन्ने	२२०
मार्जारगोधानकुल	५७१	मोहजालमपास्येह	४६६
मापानघो तु महिषी	३३३	य	
मासचीरौवनमधु	१७	य व क्रतुमधीते च	१७
माससुद्धवाभिवृष्यन्ति	१२२	यः कष्टकैर्वितु दति	४४०
मासं शर्यासन धानाः	९६	यः कश्चिदर्थो निष्पात.	२३६
मासेनैवोपधुञ्जीत	६३३	यः सास्य आचितोऽभ्येभ्यो	१३४
मास्यर्षुद् द्वितीये	४५२	यः साहस कारयति	३५३
माहिष्येण करग्या तु	४२	य आहवेपु सप्यन्ते	१४५
नितश्च समितश्चैव	१३१	य इद् धारयिष्यन्ति	६४१
मित्रधुक् विशुनः सोम	१००	य इद् धावयेद्विद्वान्	११
मित्राण्येता प्रकृतयो	१५६	य एनमेव विन्दन्ति	४८८
मिथिलाधः स योगीन्द्रः	२	य एव नृपतेर्धर्मः	१५१
मिष्याभियोगी द्विगुण	१७७	यजूषि शक्तितोऽधीते	१६
मिष्याभिदास्ताद्योप च	५८३	यजेत दधिककन्धू	११२
मिष्याभिदासिनो दोष	५८३	यजन्न्म सचंभूतानाम्	४६७
मिष्यावदन्परीमाण	३६५	यज्ञस्थश्चित्रो देवः	२४
मुनयानि सृष्टित्वाहि	२५६	यज्ञानां तपसा चैव	१९
मुखजा विप्रुपो मेष्याः	८८	यज्ञार्थं लब्धसद्दत्त	५६
मुखजाहृरपमा स्युः	४६८	यज्ञाश्चैव प्रकुर्वीत	१४१
मूर्धां सकण्ठहृदय	४५८	यज्ञेन तपसा दानैः	४८९
मूलक प्रिकापूपात्	१३१	यत प्तानि हर्यन्ते	४८३
मूपको धान्यदारी स्यात्	४९५	यतिपात्राणि सृष्टेणु	४४६



रचेरुभ्यां पिता रिद्धां	३६	श्लोकाः	पृष्टम्
रक्षावतारिपाखण्डि	२२५	रीरवं कुटुम्बलं पूति	५००
रजसा तमसा चैव	४०२	ल	
रजस्तमोभ्यामाविष्टः	४८५	ललाटं सिद्धवते चास्थ	१०८
रजस्वलासुरास्वाद्:	५०५	ललाटे कर्णयोरक्ष्णोः	१३०
रम्याऊर्द्धमतोयानि	८५	लशुनं गृजनं चैव	७७
रम्य पशव्यमाज्ञोव्य	१४२	लाघालवगर्मांसानि	४३४
रश्मिरग्नौ रजस्त्रापा	८७	लामालाभौ यथाद्रव्यं	३६३
रसस्य न्य विज्ञेयाः	४६२	लिखितं ह्यमुञ्चेति	२३७
रसस्याष्टगुणा परा	२०१	लिङ्गं क्षिप्वा पथस्तस्य	५०७
रसाल रसनं शौचं	४५३	लिङ्गस्य छेदने मृद्वी	३५०
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे	४४५	लिङ्गेन्द्रियप्राणरूपः	४८१
राक्षसो युद्धहरणात्	२५	लेख्यं तु साविमरकार्यं	२३६
रागोहोभाज्याद्वापि	१६५	लेखस्य पृष्टेऽभिष्टितेत्	२७१
राजताश्वपलः सीसात्	१३५	लोकानभ्यं दिवः प्राप्तिः	३१
राजद्वेषोपघातेन	३६२	लोमभ्यः स्वाहेरपयवा	६१७
राजनि स्याप्यते योऽर्घ्यः	३५९	लोमभ्याः स्वाहेर्येवं हि	५२१
राजपश्याभिगामी च	३७६	लौहामिपं महाशक्तं	१२२
राजपामासमारोनुः	३८९	य	
राजा कृत्वा पुरे स्थानं	३३१	वज्रुणी वृषगौ वृद्धी	४५९
राजान्तेवासियाभ्येभ्यः	५८	वणिग्भाभं न चाप्तोति	१२०
राजा लज्ज्वा निर्धि दद्यात्	१९८	यनाद्व्यूहाद्वा कृत्वेष्टिं	४४२
राजा सुकृतमादत्ते	१४६	यपावसापहननं	४५९
राज्ञः कुलं धियं प्राणान्	१५१	ययः कर्म च विसं च	१६२
राज्ञोऽयमर्जिरो द्वाभ्यः	२०३	ययोयुद्धवर्षवारशेष	५७
राज्ञोऽन्यापेन यो दुग्धो	३९१	वर्णकमाप्युतं द्वित्रि	१९९
राज्ञामेकादशे मेजे	७	वर्णानामानुलोम्येन त	३४२
राज्ञा स्वचिह्नं निर्यास्याः	३३९	वर्णानामानुलोम्येन दा	३३०
राज्ञा सभासदः कार्याः	१६४	वर्षाधमेतराणां नो	१
राज्ञा सर्वं प्रवृत्त्यः स्यात्	२२८	वर्णिनां हि वधो यत्र	२३४
राज्ञोऽनित्प्रवक्तारं	३८८	वर्षाधारस्नेहयोमात्	४८०
रिद्धिप्रमाहश्चणं द्वाप्यो	६०८	वर्षावप्राप्तो गच्छेत्	६३
रुष्या वाऽन्यतरैः युयोत्	२४३	जसा प्रथो द्वी तु मेदो	४६२
रुद्रस्यानुषरो भूत्वा	४६५	यसानघ्रीन्पणान्दण्डजः	३५१
रूपं देहि यदो देहि	१३२	यसुरद्रादितिमुताः	१२५
रुपाय्यपि तर्पटे ह	४७०	यमोस नरके घोरे	७९
रोमी हीनातिरिच्छाद्वा	९९	यद्यं चतुर्गुणं प्रोक्त	२१४
रोमर्गा कोट्यनु पद्मानत्	४६१		

श्लोका	शृङ्खानि	श्लोका	शृङ्खानि
चक्षुषा-यद्विरण्याना	२०१	विनायरस्य जननी	१३१
वाक्योवाचय पुराण च	१०	विनीत सत्प्रसपद्य	१२९
वाचचक्षु पूजयति नो	१०८	विनीतस्यथ वार्तायां	१३९
वाचपाणिपादुचापस्य	५०	विपाक क्रमणां प्राय	४७०
वाचशस्तमशुनिर्णित	८६	विपाकात्प्रकाराणां	४८१
वाच वा को विजायति	४७५	विपाके शोच्यमाणं ॥	५८३
वाच्यतामिष्यनुज्ञात	११०	विप्रस्यन च शूद्रस्य	३८९
वाजेवान इति प्रीत	१११	विप्रदण्डाद्यमे कृ पू	६०६
वानप्रस्थगृहेष्वत्र	४२१	विप्रदुष्टो विव चैत्र	३७५
वानप्रस्थयतिप्रस	२९७	विप्रयोवाजर धृष्यम्	३४६
वाचप्रस्था प्रद्वारा	४३६	विप्रा-मूधावसिक्तो हि	४०
वायवीर्यविगन्ध-ले	४६१	विप्रा हि चत्रिषामानो	६७
वायुभक्ष प्रागुदीर्घा	४४१	विप्रुषो नक्षिमा स्वर्गो	८७
वायुभक्षो विषा तिष्ठन्	६२४	विप्रेभ्यो हीयते द्रव्य	१४५
वायो-व-प-ग-न-क-ष्टं	४-३	विश्रुत सिद्धमात्मान	४७६
वालवासा ऋषी वापि	५३०	विभक्तपु मुनो जात	२७७
वासनस्थमनाख्याय	२२१	विभत्ररमुता पित्रा	२०१
वासो गृहात्तिके द्वय	६६२	विभाग वेष्टिता कुर्यात्	२६९
विकर्णकरनासौर्ध्वं	३७५	विभयनिष्ठये ज्ञानि	३०५
विक्रयायप्रयाधान	३५५	विभागभारना ज्ञया	३०५
विक्रियावि च दृष्टेव	४८०	विभारये न चष्टिर्गै	१९७
विक्रीगतां वा विहितो	३५९	विमना विकलारभ	१२७
विक्रीणीते दमस्तत्र	३६२	विरात्र माञ्जनकृपा	४६६
विक्रीतमपि विक्रय	३६१	विरद्व-उदरकर्म	६२
विक्रेतुर्द्वानाप्नुवित्	३२०	विगाद्वस्तस्य पत्र	१०८
विद्ययातदोष कुर्वति	६१३	विवाद्य यत्रविरया मु	६९
वितथानिनिवर्ती च	४७१	विरदारुद्रिगुण दण्ड	५३२
विस्तारमान दण्डमान	४८२	विबीतभनुस्तु पपि	३००
विदश्य निम्बपत्राणि	४०१	विगपयतनीयानि	६१२
विषाक्रमवपाद्य पु	५१	विरदव्याज प्रीयन्तां	११०
विषा-प-भ्यां हीनन	९२	विषयभिद्यसराध	३०८
विषार्धां प्राप्नुवात्त्रिधां	६५१	विषामिदो परिगुह	३०५
विद्वानपमादध्यात्	३९८	विहितस्थाननुष्ठानात्	४९३
विनापि धापकापुर्णत्	२६३	वाक्योवाचनस्यप्र	४६५
विना धारगकाशापि	२१९	पुष्पगुणलता-र-स्य	५७६
विनापि साक्षिभिलक्ष्यं	२३८	वृषाट्परसयाव	७५
विनायक-कमविधन	१२६	वृषादान तर्पणद	१०५

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
वृद्धबालातुराधार्यं	६१	शक्तोऽप्यमोघयन्स्यामी	२८७
वृद्धभारिनृपस्नात	५२	सक्त्या च यज्ञकृन्मोघे	४४२
वृपशुद्रपशुनां च	३५४	शतमानं तु दशभिः	१६०
वृष्टपायुःपुष्टिकामो वा	१३४	शते दशपला वृद्धिः	३२६
वेत्ति सर्वगतं कस्मात्	४६९	शतं स्त्रीदूपणे दद्यात्	३८१
वेद एव द्विजातीनां	१६	शस्यस्तदर्थिकः पाद	३४२
वेदप्लाची यथारयन्वं	५८७	शं नो देवीस्तथा काण्ढात्	१३६
वेदमभ्यापयेदेनं	७	शं नो वेत्या पयः क्षिपवा	१०३
वेदं ब्रह्मनि वा पारं	१८	शपन्तं दापयेद्वाजा	३४१
वेदाधरंरुराणानि	४६	शब्दः स्पर्शश्च रूपं च	४८५
वेदानुवचनं यज्ञो	४८७	शब्दाद्विविपयोद्योगं	४७६
वेदान्वाससतं ज्ञातं	६२३	शरणागतबालस्त्री	६१३
वेदार्थविज्येष्टसामा	९८	शरीरचिन्तां निर्वर्त्य	४४
वेदार्थानधिगच्छेच्च	४५	शरीरपरिसंशयानं	४७८
वेदाः स्थानानि विद्यानां	३	शरीरसंशये धस्य	४०९
वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैः	४८२	शरीरेण च नात्मायं	४८०
पैणाभिश्चस्तवार्युष्य	७०	शशश्च मरुत्येव्वपि हि	७७
पैतानोपासनः कार्याः	४०५	शस्त्रविक्रयिकर्मार	७१
पैरूप्यं मरणं चापि	४५३	शस्त्रावपाते गर्भस्य	३७४
पैरयद्व्यापि जीवन्नो	४३२	शस्त्रासवमपृच्छिद्धं	४३२
पैरयश्च धान्यधनवान्	६४१	शस्त्रेण तु हता ये वै	१२३
पैरयद्वाण्डं चरेवेत्तत्	५६७	शाकरज्जुमूलफल	८०
पैरयान्तु करणः युद्धां	४१	शाकाद्रूपिषिण्याक	७३२
पैरया प्रतोदमादद्यात्	२५	शातातपो वसिष्ठश्च	३
पैरयाशुद्धोस्तु राजन्यात्	४१	शास्त्राणि चिन्तयेद्गुरुदया	१४८
प्यतीपातो गजवद्धाया	९७	शिरःकपाली ध्वजवान्	५१३
व्यस्यये कर्मणां साम्यं	४३	शिराः शतानि सप्तैव	४६०
व्यभिचारादती शुद्धिः	२८	शिक्षपैर्वा विविधैर्जीवेत्	५३
व्यवहारान्पुः पश्येत्	१६३	शुभं पर्युषितोऽक्लिष्टं	७२
व्यवहारान्स्वयं पश्येत्	१५८	शुकः शनैश्चरो राहुः	१३५
व्यवहारान्स्ततो दृष्ट्वा	१४६	शुक्रियारण्यकनपो	६२२
व्यसनं जायते घोरे	२६२	शुक्लाम्बरधरो नीच	५९
व्यासिद्धं राजयोग्यं च	३६८	शुचि गोवृत्तिकृतोयं	८७
व्रजन्नपि तथात्मानं	१२७	शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां	२४८
श		शुद्धयेत् वा मित्तानित्वात्	५१३
शक्तस्यानीहमानस्य	२७०	शुद्धयेरन्त्री च शुद्धश्च	९
शक्तितो वा यथालाभं	१३७	शुद्धः प्रव्रजितानां च	३५४

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
शूद्रमेव हीनसकथ	५०९	पन्मासापुत्रहाप्येतत्	५६७
शूद्रस्नधानय एव स्यात्	३८४	पष्टवस्तुलीना द्वे पाण्ड्यां	४५६
शूद्रस्य द्विजशुभ्रुषा	५३	पष्टेऽष्टप्राशन मासि	६
शूद्राज्जातस्तु चण्डाल	४१	पष्टे यत्स्य वर्णस्य	४५४
शूद्रादायोगव पर्याय	४२	पष्टेऽष्टमे वा सोम-त	६
शूद्रेषु दासगोपाल	७१	पोढस्तुनिशा स्त्रीणां	३१
शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि	५५०	पोढशाहुलक ज्ञय	२५४
शोभितेन विना हु स	३४८	पोढनाघ पशान्दा यो	३५०
दोषस्य गृह्य तोय च	४२९	घोवनागृह्णतकृ-मूत्र	६२
शौद्रिके स्नानपाठैर्पा	३२१	स आत्मा चैव यज्ञश्च	४६६
समधु चास्यगत दु-त	८८	सकटान्न च नाधीयात्	४०३
श्रद्धा च नो मा ध्यगमत्	१११	सकामास्यनुलीमासु	३८०
श्रद्धोपवास स्वातन्त्र्य	४८७	सकाय पाववेत्तज	२४
भाद्रकृसरयवादी च	४९१	सकाशादात्मनस्तद्भूत्	४४९
श्राद्ध प्रति दधिश्चैव	९७	सकास्यपात्रा दातव्या	९२
श्राद्धसपाहन रोतो	९४	स कूटसाविणां पापै	२२९
श्रीकाम शान्तिकामो वा	१३४	सकृत् प्रदीयते कन्या	६५
धृताप्ययनसपन्न	१६५	सकृत्प्रसिद्धन्गुदक	३९६
धृतार्थश्चोत्तर लेख्य	१७०	सखिभार्वाकुमारीपु	५०६
धृति स्मृति सदाचार	४	स गुह्यं क्रिया कृत्वा	१४
धृतिस्मृत्युदित सम्यक्	१८	सगोत्रासु सुतस्त्रीपु	५०६
धृष्टैतद्याज्ञवस्त्रयोऽपि	६४२	सगौरसर्पैः श्रीम	८३
धृष्टैतानृषयो धर्मान्	६४०	सग्रामे वा हतो लक्ष्य	५२२
धृष्टिर्नैगमपातण्डि	३३४	संघात लोहितोद् च	५०८
धृष्टसा सुखदु खान्या	४८२	सच्चिद् ब्राह्मण कृत्वा	३७०
धृति स्मार्त फलशनेहै	४३९	सचैल ज्ञातमाहूय	२४४
धृतिस्मार्तक्रियगहेतो	१४१	सजातापुत्रमो दण्ड	३७८
श्लेष्माध्रु बा-ध्वैर्मुर्वन	४०१	सजातीयेष्वप प्रोक्त	२८८
श्लेष्मीजसस्तावदेव	४६२	स ज्ञेयस्तं विदित्वेह	४६३
श्लोकत्रयमपि शस्माद्य	६४१	सतति स्त्रीपशुष्वेव	२१४
श्लोका सूत्राणि भाष्याणि	४८७	स तद्दद्याद्विप्लवाश्च	३६४
श्वक्रोष्टगर्दभोल्लक	६६	स तमादाय सन्तैव	२५४
श्वित्री वस्त्र श्वा रस तु	४९५	स तान्सर्वानवाप्नोति	२२७
प		स तु सोमघृतैर्देवान्	१६
पट् पञ्चाशच्च आनीत	४६१	सकृत्य मिलवे भिक्षां	४८
पट् श्लेष्मा पद्म पित च	४६२	सक्रियाऽन्वासन स्वाहु	४९
पदज्ञानि तथास्पर्शा च	४५५	सत्यकारकृत द्रव्य	२१८

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
सत्यमस्ते यमक्रोधो	२४८	समद्वचारिकात्मीय	२३६
सत्यसधेन शुचिना	१५६	सभूय कुर्वतामर्षं	३५९
सत्यामन्या सर्वर्षाया	३८	सभूय वणिजा पण्य	३५९
सत्यासत्यान्यथास्तोत्रै	३४०	सभोज्यातिथिभृश्याश्च	४७
सत्येन माऽभिरक्ष त्व	२५६	सभ्या पृथक्पृथक्दण्ड्या	१६५
सत्रिमतिद्वन्द्ववारि	४२३	सभ्या सजयिनो दण्ड्या	३८९
सःव रचस्तमश्चैव	४८५	सभ्यै सह नियोक्तयो	१६५
स दग्धव्य उपेतश्चेत्	३९२	समकालमिषु मुक्त	२०७
स दद्यात्प्रथम गोभि	६१३	स मन्त्रिजन प्रकुर्वात्	१४१
स दानमानसकारै	३३३	सममेपा विधीतेऽपि	३१४
स दाप्योऽष्टगुण दण्ड	२३४	समवायी तु पुरुषो	४६८
सदिग्धलेख्यशुद्धि र्यात्	२४०	समवायेन वणिजा	२६३
सदिग्धार्थं स्वतन्त्रो य	१७९	समाप्तेऽर्धं ऋणी नाम	२३७
सदिष्टस्यामवाता च	३५३	समाप्य वेदं छुनिन्न	६४
सदानमानसकारान्	१५०	समामासतदर्धाहर्नामजाति	२३६
सधो वा कामर्जक्षिद्वै	३७७	समामासतदर्धाहर्नामजात्या	१६८
सधि च विप्रह यानम्	१५४	समितानि बुराचारो	७९
सधि-यनिर्दशा वत्सा	७५	समुद्रपरिवर्तं च	३५८
सन्ध्यागर्जितजनिर्घात	६४	समूहकार्यं आयातान्	३३३
सन्ध्यामुपास्य शृणुयात्	१४७	समूहकार्यं प्रहितो	३३३
सन्ध्या प्राक्प्रातरेष हि	१०	समेत्येव परस्त्रीषु	३४६
स नाणकपरीषो तु	३५६	सम्यक्कुबण्डन राज्ञ	१५७
सनिरुध्यन्दिद्यग्राम	४४६	सम्यक्प्रयुक्ता सिध्वेषु	१५३
सनिरुध्येन्दिद्यग्राम	४८९	सम्यक्सकल्पन कामो	४
स नेतु-यायतोऽश्वयो	१५६	सयसेन्द्रियता विद्या	४४८
सन्ततिरुतु पशुस्त्रीणा	२०१	सयतोपस्करा दद्या	३५
सपणश्चोद्घाद र्यात्	१८०	सयोगे केचिदिष्कृति	१५५
सपिण्डो वा सगोत्रो वा	२७	सयोग्य वायुना सोम	४६३
सप्तत्रिंशदनध्याया	६७	स राजसो मनुष्येषु	४७२
सप्तमाहसमाद्वापि	३९४	सर्गादौ स यथाकाश	४५०
सप्तमे चाष्टमे चैव	२५४	सर्वत प्रतिगृहीयात्	९७
सप्तपिनागजध्व-त	४८७	सर्वदानाधिक यस्मात्	१४९
सप्तपष्टिस्तथा रथा	४६१	सर्वधर्मप्रथ मल्ल	९५
सप्ताधाधस्य पत्राणि	२५२	सर्वपापदरा खेते	६१९
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽय	६२६	सर्वभूतहितं ज्ञा त	४४४
सप्तय तु पुरांपर्य	४६२	सर्वमन्त्रमुपादाय	१०९
सप्तोत्तर ममशत	४६१	सर्वं साक्षी समग्रणे	२२६
स प्रदाप्य कृष्टफल	३१३	सर्वस्य प्रभवो विप्रा	९०

## श्लोका

श्रीशूद्रविच्छत्रवधो  
 स्रयालोकात्मविगम  
 स्थानासनविहारैर्वा  
 स्थालै राह चतु पष्टि  
 स्थैर्यं चतुर्थं त्वद्धाना  
 स्नपन तस्य कर्तव्य  
 स्नातस्य सार्पं तैल  
 स्नातानपवदेयुस्तान्  
 त्वास्ना देवान्पितृ श्रैव  
 स्नात्वा पीत्वा पुते सुप्ते  
 स्नानमन्दैवतैर्मन्त्रै  
 स्नान मौनोपवासेभ्य  
 स्नायान्नदीदेवपात  
 स्फीतादपि न सचारि  
 स्नय यूपांसजिनधानाना  
 स्नृत्याचारस्यपेतेन  
 स्मृत्योविरोधे न्यायस्तु  
 स्यादौपधिबृधाच्छेदे  
 स्याद्वाजा भूयवर्गेषु  
 स्वं कुटुम्बाविरोधेन  
 स्व लभेतान्यधिकीत  
 स्वकर्म यथापयस्तेन  
 स्वच्छन्दविधवागामी  
 स्वदारनिरतरचैव स्त्रियो  
 स्ववेशापप्य तु शत  
 स्वधर्माच्चलितान्नाजा विनीय  
 स्वध्नेऽग्नाहतेऽप्यथं  
 स्वप्याद् भूमौ शुची रात्रौ  
 स्वभावाद्द्विष्टति गच्छेत्  
 स्वयकृत वा यरण  
 स्वर-ध्रगोष्ठाऽऽ-वीचिवया  
 स्वर्गं स्वप्नश्च भावाना  
 स्वर्गं ह्यपरथमोजश्च शौर्यं  
 स्वर्गात्तस्य ह्यपुत्रस्य  
 स्ववर्णर्वा पठे लेण्या  
 स्वसीग्नि दद्याद् प्रामस्तु  
 स्वस्तिवाच्य तत कुर्यात्  
 स्वस्ती यश्चात्विजामाव  
 स्वहस्तकालसपन्न

## श्लोक

श्लोक	श्लोक
५०९	स्वाध्यायाग्निमुत्तयागो
४७८	स्वाध्यायवान्दानशील
४४०	स्वाध्याय ततत कुर्यात्
४५६	साम्यमात्या जनो दुर्ग
४५४	स्वामिने योऽनिवेद्यैः श्रेत्रे
१२८	स्वानिप्राणप्रदो भक्त
१३०	स्वैरिणी या पति
४००	ह
४५	हसस्येनकपिऋग्याजल०
८९	हताना नृपगोत्रिमैरन्यत्त
१०	हत्वा स्यह पिवेत्क्षीर
६१५	हविष्यान्नेन वै मास
१९	हस्तेनौपधिभावे वा
२२	हस्तौ पायुरुपस्थ च
८१	हानिविप्रेतुरेवासी
१६६	हानिरचेत्केतुदोषेण
१८३	हास्य परगृहे यान
५७४	हित तस्याचरेन्निय
१४९	हिताहिता नाम नाड्यस्तासा
३२२	हिताहितेषु भावेषु
३१८	हिरण्यभूमिडाभेभ्यो
५३४	विरण्य व्यापृतानीत
३५४	दिसकश्चाविधानेन
३२	दिसयन्त्रविधानं च
३६०	हीनकरप न कुर्वीत
१७८	हीनजातिं परिशीण
१२७	हीनजातौ प्रचापेत
४४०	हीनादहो हीनमूल्ये
१७८	हीना न स्याद्धिना भर्ता
२०६	हीनेष्वर्धदमो मोह
१२९	हुतशेष प्रदद्यात्
४८३	हुवाग्नी-सूर्यदैवत्यान्
१२४	हत भ्रनष्ट यो द्रव्य
२०९	हुताधिकारां मलिना
१३५	हुत्कण्ठतालुगाभिस्तु
३७१	हेमशक्ती शकै रोष्यै
११०	हेमभात्रमुपादाय रूप
९९	हेमहारी तु कुवली
१४३	हीतव्या मधुसपिण्यां